श्रीमद्रूपगोस्वामि-विरचित

श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु

ब्रजविभूति श्रीश्यामदास

श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु

ब्रजविभूति श्रीश्यामदास

• श्रीश्रीकृष्णचैतन्यनित्यानन्दौ जयतः •

श्रीमद्रूपगोस्वामि प्रभुपाद प्रणीत

श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु

श्रीपाद जीवगोस्वामि कृत–'दुर्गमसंगमनी संस्कृत टीका'

तथा

श्रीमन्नित्यानन्दवंशावतंस परमाराध्य
श्रीप्रभुपाद श्रीदेवकीनन्दनगोस्वामि–पादाश्रित व्रजविभूति

श्रीश्यामदास

कृत

'हरिकृपा–बोधिनी' हिन्दी टीका समन्वित

एवं तत्कृपानुभूति पूर्वक

दासाभास डॉ गिरिराज

द्वारा प्रस्तुत नवीन चतुर्थ संस्करण

50 वर्षों से वैष्णव साहित्य प्रचार में संलग्न अव्यावसायिक संस्थान

श्रीहरिनाम संकीर्तन मण्डल • वृन्दावन

• व्रजविभूति श्रीश्याम स्मृति •

ISBN - 978-81-927887-8-4

CODE : M053

मित्र सम्पादक :
डॉ. भागवतकृष्ण नांगिया
सम्पादक शिरोमणि

प्रकाशक :
श्रीहरिनाम संकीर्तन मण्डल
बाग बुन्देला, हरिनाम पथ
वृन्दावन-281121 (उ.प्र.) भारत

संस्करण :
प्रथम, संवत् 2038/1981
द्वितीय, संवत् 2047/1990
तृतीय, संवत् 2063/2006
चतुर्थ, संवत् 2071/2014

₹ 500.00

मुद्रण संयोजन : श्रीहरिनाम प्रेस
बाग बुन्देला, लोई बाजार, वृन्दावन-281121
© 7500987654, 0565-2442415
email: harinampress@gmail.com • www.harinampress.com

सम्पादकीय : द्वितीय संस्करण

परमकरुणामय सच्चिदानन्दघन निखिल–रसामृतमूर्ति स्वयं–भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण की अपार कृपा से 'श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु' का द्वितीय संस्करण भक्तिरस–पिपासु सुधी महानुभावों के कर कमलों में समर्पण करते हुए अतीव हर्ष का अनुभव कर रहा हूँ।

लोकातीत भक्तिरसामृतसिन्धु के गहन–गाम्भीर्य, मधुरातिमधुर–माधुर्य तथा सर्वांगीण शैत्य–शुचिता का सम्यक् अवगाहन, आस्वादन तथा अनुभव करने में एकमात्र भक्तिरसरसिक–समुदाय ही सक्षम है या महत्–पदरजाभिषिक्त व्यक्ति ही इसके सारस्य आस्वादन करने का सौभाग्य प्राप्त कर सकता है।

ग्रन्थ-गौरव, प्रतिपाद्यविषय-वैभव, रसपरिवेषण-पटुता आदि का परिचय विस्तृत विषय-सूची से सुधी पाठकवृन्द प्राप्त करेंगे, किन्तु यहाँ रस-चिन्तन परम्परा या रसनिष्पत्ति के सम्बन्ध में दो-चार शब्दों का उल्लेख करना मैं आवश्यक समझता हूँ।

रसचिन्तन–परम्परा प्राचीन काल से चली आ रही मानी जाती है, फिर भी उपलब्ध साहित्य में इसका प्रवर्त्तन श्रीभरतमुनि से समझा जाता है। उन्होंने रसनिष्पत्ति का सूत्ररूप में निर्देश किया और अपने नाट्यशास्त्र में कहा है कि विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों के संयोग से रसनिष्पत्ति होती है। सात्त्विक–भावों के अनुभावत्व के सम्बन्ध में भरतमुनि ने कुछ भी उल्लेख नहीं किया। विशेषतः जीव की कल्याण–प्राप्ति के श्रवणादि साधनों पर विचार करते हुए और समस्त अनर्थों के मूल कारण अज्ञान के उन्मूलन पर ध्यान देते हुए उनका लक्ष्य जीवगत आनन्दांश का आस्वादन करना था। उनके बाद भरत–मुनि कथित 'विभावानुभाव–व्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः'– इस वाक्य के अन्तर्गत 'संयोग' तथा 'निष्पत्ति', इन शब्दों के भिन्न–भिन्न अर्थ करके विभिन्न आचार्यों ने अपने–अपने अभिमतों का प्रचार किया।

श्रीलोल्लटभट्ट ने 'उत्पत्तिवाद' की स्थापना की, जिसमें इन्होंने अनुकार्य (श्रीराम) में रस–निष्पत्ति मानी है, अनुकर्त्ता (श्रीराम का अभिनय करने वाले) में रस की उत्पत्ति नहीं मानी। इनका मत है कि सामाजिक (रामलीला देखने वाले) के अनुकर्त्ता को अनुकार्य से अभिन्न मानने के कारण अनुकार्य में जो रस की उत्पत्ति है, उसकी अवस्थिति अनुकर्त्ता में भी है। किन्तु सामाजिक को कैसे रसास्वादन होता है–इसका उन्होंने कुछ उल्लेख नहीं किया। वास्तव में इनके मन्तव्यानुसार सामाजिक को रसास्वादन हो भी नहीं सकता। किसी एक स्थान पर स्वादिष्ट आम रखा है, यह जान लेने वाले को आम के रस का आस्वादन नहीं हो सकता।

श्रीशंकुक ने 'अनुमिति या अनुमानवाद' को चलाया। इनका मन्तव्य है कि विभावादि अनुकार्य में रहते हैं, अनुकर्त्ता में नहीं, तथापि अनुकर्त्ता शिक्षा पाकर उन विभावादि का अनुकरण करता है जिससे सामाजिक अनुमान करते हैं कि अनुकर्त्ता में विभावादि और रस विद्यमान है। सामाजिक अपनी वासना या पूर्व संस्कारों के

कारण उस रस का आस्वादन करते हैं। किन्तु जिस वस्तु के अस्तित्व का अनुमान मात्र ही किया जाता है, वह भी किसी दूसरे स्थान पर, अपने में नहीं, उसका आस्वादन कैसे सम्भव है ? आम के वृक्ष को देखकर यह अनुमान लगा लेना कि इसमें पक्का आम है—इस अनुमान मात्र से क्या आम के पूर्व आस्वादन संस्कारयुक्त व्यक्ति को उस आम का रसास्वादन हो सकता है ?—कभी नहीं।

श्रीभट्टनायक ने निष्पत्ति का अर्थ 'भुक्ति' लगा कर 'भुक्तिवाद' स्थापन किया। इनका मत है भावकत्व व्यापार के प्रभाव से रति विभावादि साधारणीकृत हो जाते हैं अर्थात् सामाजिक रंग—मंच पर सुसज्जित रामवेशधारी को श्रीराम न समझ कर एक साधारण पुरुष मान लेते हैं और श्रीसीता का अभिनय करने वाले को साधारण नारी मान लेते हैं। उनके परस्पर विभावादि सामाजिक के चित्त में उद्रेक उत्पन्न करते हैं एवं भुक्ति या साक्षात्कार जन्मा देते हैं, जिससे सामाजिक रस आस्वादन करते हैं। किन्तु साधारणीकृत रति सर्वतोभाव से प्राकृत ही रहती है। प्राकृत वस्तु अल्प और सीमाबद्ध होने से उसमें सुख कहाँ ? प्राकृत रति वस्तुतः आस्वाद्य ही नहीं हो सकती, आस्वाद्य न होने से उसमें रसत्व ही नहीं हो सकता।

श्रीअभिनव गुप्त ने निष्पत्ति का अर्थ लिया है 'अभिव्यक्ति'। इन्होंने अपने अभिव्यक्तिवाद में यह कहा कि सामाजिक में रति अनभिव्यक्त—रूप में अवस्थान करती है। रति व स्थायी भाव में रसत्व विद्यमान रहता है। विभावादि उस अनभिव्यक्त रसत्व को अभिव्यक्त कर देते हैं। इन्होंने भी साधारणीकरण को स्वीकार किया है। साधारणीकृत विभावादि सामाजिक की चित्तस्थित साधारणीकृत रति को अभिव्यक्त करते हैं, तब सामाजिक उसका आस्वादन करते हैं। भट्टनायक तथा अभिनव गुप्त के मत में पार्थक्य इतना है कि भट्टनायक के मत में सामाजिक में रति नहीं है, अभिनव गुप्त के मत में सामाजिक में रति है। भट्टनायक के मत में साधारणीकृत विभावादि साधारणी—कृता रति का भोग रति—हीन सामाजिक को कराते हैं। गुप्त के साधारणीकृत विभावादि सामाजिक के चित्त में रहने वाली साधारणकृता रति को अभिव्यक्त करते हैं। जैसे भट्टनायक के मत की आलोचना में देखा गया है। इन दोनों के मत में वस्तुतः रसत्व है ही नहीं। प्राकृत रति में रसत्व कहाँ ?

उपर्युक्त संक्षिप्त आलोचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि लोल्लट, शंकुक भट्ट और गुप्त चारों ने रसनिष्पत्ति के सम्बन्ध में भरतमुनि के सूत्र का आधार लेकर अपने—अपने मतों के स्थापन करने की चेष्टा की है, किन्तु कोई भी भरत—मुनि के सूत्र के तात्पर्य का अनुसरण नहीं कर पाया, यदि अनुसरण किया तो केवल प्राकृत रस—निष्पत्ति का ही विवेचन किया। उनका लक्ष्य मनोवृत्तियों के प्राकृत रस—विवेचन तक सीमित रहा। भक्ति को भाव कोटि में ही गणना कर पाये। अधिक से अधिक समस्त चित्त—वासनाओं के प्रशमनकारी होने के कारण शान्तरस को भरतमुनि ने स्वीकार किया और उसमें विषय—वैराग्य के साथ भगवदुन्मुखता को उन्होंने प्रयोजनीय तत्त्व जानकर उसे 'भक्ति—तत्त्व' नाम से अभिहित किया।

श्रीपाद मधुसूदन सरस्वती ने भक्ति के रसत्व को स्वीकार किया परन्तु साथ ही लौकिकी रति के रसत्व को भी स्वीकार किया। परन्तु चैतन्य—सम्प्रदायी गौड़ीय

वैष्णवाचार्यों ने किसी रूप में भी प्राकृत या लौकिकी रति में रसत्व स्वीकार नहीं किया, शास्त्र–वचनों से लौकिकी रति के रसत्व का निराकरण किया है।

प्राचीन आचार्यों में श्रीधरस्वामि, बोपदेव, हेमाद्रि, सुदेव, भगवन्नाम–कौमुदीकार आदि ने भक्ति की रसतापत्ति की बात अवश्य कही, किन्तु किसी ने भी भक्तिरस के सम्बन्ध में विस्तृत आलोचना नहीं की। एकमात्र श्रीमन्महाप्रभु शिक्षानुसार श्रीरूपगोस्वामी ने श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु तथा श्रीउज्ज्वलनीलमणि में और श्रीजीवगोस्वामी ने उक्त दोनों ग्रन्थों की टीकाओं में तथा अपने प्रीति–सन्दर्भ में भक्तिरस के सम्बन्ध में विज्ञान–सम्मत भाव से विस्तृत आलोचना कर भक्ति को रस रूप में प्रतिष्ठित किया। इसलिए समस्त वैष्णवाचार्यों में वे भक्तिरस के ''आदि या मूल प्रस्थानाचार्य'' कहलाते हैं।

श्रीचैतन्यानुगत गौड़ीय वैष्णवाचार्यों द्वारा प्रतिष्ठित भक्तिरस का अलौकिकत्व है अप्राकृतत्व, मायातीतत्व। कृष्णरति या भक्ति परब्रह्म स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण की स्वरूपशक्ति की वृत्ति–विशेष होने से मायातीत है, विषयालम्बन–विभाव श्रीकृष्ण हैं, आश्रयालम्बन–विभाव श्रीकृष्ण के परिकरगण हैं। सब ही अप्राकृत एवं मायातीत हैं। अनुभाव–व्यभिचारिभाव भी चिद्रूपता प्राप्त हैं। इन सबके संयोग से कृष्णभक्ति रसरूपता को प्राप्त करती है, वह रस भी अप्राकृत, चिद्वस्तु है। वास्तव में यह वस्तु–विचार ही अलौकिक है।

श्रीचैतन्यानुगत गौड़ीय वैष्णववृन्द के भक्तिरस की दार्शनिक भित्ति तथा पारमार्थिकता है परब्रह्म का रसस्वरूपत्व। श्रुति परब्रह्म स्वयं भगवान् को रसस्वरूप कहकर वर्णन करती है–''रसो वै सः'' रसरूप में वे परमतम आस्वाद्य हैं एवं रसिक–रूप में परमतम आस्वादक भी। वे निज स्वरूपानन्द का और भक्तों के चित्तस्थित प्रेमरस–निर्यास तथा भक्तिरस निर्यास का आस्वादन करते हैं। इसी से ही उनका रसस्वरूपत्व सिद्ध है।

अतः भक्तगण रसस्वरूप श्रीभगवान् के माधुर्यरस तथा लीलारस का आस्वादन कर परमानन्द में परिलुप्त हो उठते हैं। वस्तुतः जीव की चिरन्तनी सुखवासना की चरम तृप्ति इसी में है। श्रुति का स्पष्ट उद्घोष है–'रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽनन्दी भवति।' शुद्धाभक्ति मार्ग के साधन द्वारा ही जीव रस को प्राप्त कर कृतार्थ हो सकता है। प्रियरूप परब्रह्म की उपासना ही है शुद्धाभक्ति का साधन।' आत्मानमेव प्रियमुपासीत इति।।–बृहदारण्यक श्रुति।।१।४।८।।

भक्ति परब्रह्म की ह्लादिनी–प्रधाना स्वरूप–शक्ति की वृत्ति विशेष है। वह परब्रह्म शक्तिमान् से अभिन्न होने के कारण सुखस्वरूपा है। स्वतः सुखस्वरूप होने से सुख प्राचुर्यमय रस में परिणत होने योग्य है। भक्ति की स्थायीभाव योग्यता है। श्रीमन्महाप्रभु ने कहा है–

प्रेमादिक स्थायिभाव सामग्री मिलने।
कृष्णभक्तिरस–स्वरूप पाय परिणामे।।

विभाव, अनुभाव, सात्त्विक, व्यभिचारी।
स्थायिभाव, 'रस' हय एइ चारि मिलि।।

(श्रीचैतन्यचरितामृत २।२३।२७–२८)

शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुर– यह पाँच प्रकार की रति स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव, सात्त्विक तथा व्यभिचारी भावों के मिलने पर शान्त–दास्यादि रसों में परिणत हो जाती है। कृष्णरति जब रस में परिणत हो जाती है, उसका आस्वादन कर भक्त अतिशय आनन्द का अनुभव करता है। साथ ही श्रीकृष्ण भी इतने सुखी होते हैं कि भक्त के वशीभूत हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि कृष्णरतिरूप स्थायीभाव ही भक्तिरस में परिणत होकर अति आस्वाद्यत्व को प्राप्त करते हैं। प्रस्तुत श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु में यही वर्णित है।

श्रीचैतन्यानुयायी गोस्वामिवृन्द ने साहित्य शास्त्र की भी अवहेलना नहीं की, बल्कि साहित्यशास्त्र में स्वीकृत समस्त रसों को भक्ति में पर्यवसित किया है। भक्ति को एकमात्र मुख्य रसरूप में प्रतिष्ठित कर अन्यान्य समस्त रसों को उसके अंग रूप में निरूपण किया। फिर उसमें भी साहित्य–शास्त्र की समस्त परम्पराओं की संगति एवं सम्यक् सुरक्षा करते हुए भक्तिरस को शास्त्रीय तुला पर खरा उतार दिया। भगवद् रति रूप स्थायी–भावत्व तथा भक्तिरसों में भी मधुररसात्मक–भक्ति का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन कर श्रीगोस्वामिवृन्द ने उसे सर्वोत्कृष्ट साध्यरूप में प्रतिष्ठित किया है। चारों प्रकार के भक्तिरसों का मधुररसों में समावेश प्रदर्शित कर श्रीश्रीराधाकृष्ण की परिपूर्ण सेवा–प्राप्ति मधुर–रति में ही निरूपण की है। इस प्रकार का मधुर–भक्ति का सर्वोत्कर्ष और किसी वैष्णवाचार्य ने न तो अनुभव ही किया और न निरूपण। चैतन्य सम्प्रदाय के रससिद्धान्त ग्रन्थों का परवर्ती हित हरिवंश, बल्लभ तथा सखी आदि अन्यान्य वैष्णव सम्प्रदायाचार्यों पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा और हर एक ने किसी न किसी रूप में मधुरभक्ति–रस को ग्रहण किया।

इसी प्रकार जीव के पक्ष में जो एकमात्र सम्भव है और जीव का जिस भक्ति में अधिकार है, उस रागानुगा–भक्ति का सर्वप्रथम परिचय श्रीचैतन्यानुयायी गोस्वामिवृन्द ने वैष्णव जगत् को दिया। नित्यसिद्ध रागानुगा–परिकरों की आनुगत्यमयी सेवा का प्रवर्त्तन, श्रीश्रीराधागोविन्द की निभृत–निकुंज सेवा में मंजरीरूप से प्रवेश एवं मंजरी स्वरूप का परिचय, इसी सन्दर्भ में श्रीचैतन्यसम्प्रदायी भक्तिरससिद्धान्ताचार्यों की ही अनुपम देन है।

सारांश यह है कि भक्ति का सर्वांगीण रसानुवर्ती विवेचन एवं व्रज की माधुर्य–रसमयी भक्ति का सर्वोत्कर्ष तथा जीव की स्वरूपानबन्धि रागानुगा–भक्ति का अभिधेयत्व इस ग्रन्थ–रत्न का अनुपम वैशिष्ट्य है।

ग्रन्थ में सर्वत्र कारिका–श्लोक मोटे अक्षरों में हैं एवं उदाहरण स्थानीय श्लोक बारीक अक्षरों में पृथक् दीखते हैं। कारिका श्लोकों की क्रम संख्या उदाहरण स्थानीय श्लोकों से भिन्न है, किन्तु दोनों प्रकार के श्लोकों के अन्त में धारावाहिक रूप में

एक ही संख्या कर दी गयी। हर विभाग की हर लहरी के श्लोकों की क्रम संख्या १ से ही आरम्भ होती है।

मुझ भजन–साधन विहीन, अनभिज्ञ, दीन–हीन की इस भक्तिरस–सिद्धान्तशिरोमणि ग्रन्थ को सम्पादन करने में नितान्त अनधिकार चेष्टा को वैष्णवाचार्य, विद्वद् सन्त–समुदाय क्षमा करेंगे। मेरी अल्पज्ञतावश सम्पादन, मुद्रण, प्रूफ संशोधन में अनेक अशुद्धियों का एवं त्रुटि–विच्युतियों का रहना स्वाभाविक है, परमोदार सुधी पाठकजन उन्हें सुधार कर मुझे अनुगृहीत करेंगे।

सम्पादकीय : तृतीय संस्करण

श्रीअखिलरसामृतमूर्ति स्वयंभगवान् श्रीकृष्ण की अपार करुणा से श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु ग्रन्थरत्न का तृतीय संस्करण सहर्ष प्रस्तुत है।

श्रीमन्महाप्रभु भगवत् श्रीकृष्णचैतन्य देव के प्रियतम पार्षदवरेण्य श्रीरूपगोस्वामी की यह अद्वितीय रचना है। "रसो वै सः" रसस्वरूप परब्रह्म की प्राप्ति के सर्वोत्कृष्ट अभिधेय–तत्त्व भक्ति को रसरूप में प्रतिष्ठित कर उन्होंने असाधारण प्रौढ़तम प्रतिभा का परिचय देकर पूर्ववर्ती उन सब रस–शास्त्रकारों को बहुत पीछे छोड़ दिया है जो प्राकृत रस–गर्त के मिटयाले जल में प्यास बुझा पाये। काव्यशास्त्रीय रसों का कृष्णभक्ति में पर्यवसान करने वाले एकमात्र मूर्धन्य रसशास्त्रकार हैं श्रीपाद रूप गोस्वामी। पूर्ववर्ती रसालोचक भक्ति को भाव–कोटि तक ग्रहण कर पाये, वे भक्ति का सर्वोत्कृष्ट चिन्मय रस–कोटि में अनुभव ही न कर पाये एवं स्वीकार भी न कर सके।

अलौकिक भक्तिरससिन्धु की लहरियों में समकालीन तथा परवर्ती समस्त वैष्णव रसिकाचार्यों ने अपने को अभिषिक्त कर परम कृतार्थ माना है। रस–शब्द की सम्यक् परिभाषा, पराकाष्ठा एवं चमत्कारी–आस्वादन वैचित्री ने भक्तिपथ के साधक–सिद्ध तथा शीर्षस्थ वैष्णव–मनीषियों के लिये भी रसस्वरूप परतत्व की साक्षात् अनुभूति का अवलम्बनीय पथ प्रशस्त कर सबको चिरकृतार्थ कर दिया है।

तृतीय संस्करण सर्वथा परिशोधित एवं परिवर्धित रूप में प्रकाशित करने का पूर्ण प्रयास किया गया है। श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु के परिशिष्ट श्रीउज्ज्वलनीलमणि ग्रन्थरत्न के भी दो संस्करण हो चुके हैं। उसमें मधुर भावोपासना की परम चरमतम सीमा की छबि प्रदर्शित की गयी है।

सुधी पाठकजन त्रुटि–विच्युति को मेरा ही प्रमाद समझें तथा जो परमानन्द इसके अध्ययन–मनन में प्राप्त हो उसे भगवत्–प्रसादरूप में ग्रहण करें।

श्रीगौरांग पूर्णिमा
संवत् २०६१
श्रीवृन्दावनधाम

वैष्णवकृपाकांक्षी
श्रीश्यामदास
(श्यामलाल हकीम)

प्राक्कथन

श्रीमद्रूप गोस्वामिपाद–प्रणीत श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु यथानाम एक ऐसा ग्रन्थ रत्न है, जिसे सर्व सम्प्रदायों के विद्वानों में पूर्ण आदर प्राप्त है। भक्तिविषयक शायद ही ऐसा कोई प्रसंग या प्रवचन होगा– जिसमें श्रीभक्ति–रसामृतसिन्धु का उल्लेख या आश्रय न लिया जाता हो।

यही कारण है कि इसके तीन संस्करण अपेक्षाकृत शीघ्रता से समाप्त हो गये। प्रस्तुत चतुर्थ संस्करण आपके कर कमलों में सश्रद्ध समर्पित है।

दिनांक ६ नवम्बर २००५, श्रीगोपाष्टमी के दिन श्रीश्यामदासजी ने लीला में प्रवेश किया, किन्तु इससे पूर्व ही आपने इसके तृतीय संस्करण के अन्तिम प्रूफ को देखा, उसकी भूमिका भी लिखी एवं मुद्रण सम्बन्धी विशेष निर्देशों को स्पष्ट लिखकर मुझे सौंप दिया था। उस अन्तिम प्रूफ के अनुसार शुद्ध कराकर पुनः अनेक सावधानियों को ध्यान में रखते हुए तृतीय संस्करण को प्रकाशित किया गया था और अब पुनः चतुर्थ संस्करण और अधिक श्रेष्ठता के साथ प्रस्तुत हो रहा है।

अतीव हर्ष है कि आज पूज्य पिताश्री के समस्त ग्रन्थ उच्चकोटि के मुद्रण एवं आधुनिक साज–सज्जा के साथ उपलब्ध हैं एवं 'श्रीहरिनाम' मासिक पत्र की बढ़ती लोकप्रियता एवं निरन्तर प्रकाशन उनकी कृपा का प्रमाण है। लगभग १५–२० नवीन ग्रन्थों का प्रकाशन भी हुआ है, जो कि साधकों को सम्बल, और मुझे उनकी कृपा प्रदान कर रहे हैं।

हमारा संकल्प है कि पूज्य पिताश्री 'श्रीश्यामदास' जी द्वारा सम्पादित शताधिक ग्रन्थ सब समय पाठकों को पूर्ववत् उपलब्ध रहें– लेकिन यह संकल्प आप जैसे सज्जन, कृपालु वैष्णव एवं गुरु गोविन्द की कृपा से ही पूर्ण होना सम्भव है। अतः कृपा बनाये रखें। त्रुटियाँ तो अवश्य होंगी ही, कृपया इंगित करायें जिससे अगले संस्करण में परिमार्जित की जा सकें एवं त्रुटियों हेतु क्षमादान की विनम्र प्रार्थना स्वीकार करें। जय श्री राधे!

दासाभास डॉ गिरिराज नांगिया
एम. ए., पी–एच. डी., साहित्यरत्न
सम्पादक शिरोमणि
dasabhas@gmail.com

विषय सूची

तृतीय लहरी : भाव–भक्ति

चतुर्थ लहरी : प्रेम–भक्ति

२–दक्षिण–विभाग

प्रथम लहरी : विभावाख्या

द्वितीय लहरी : अनुभावाख्या

तृतीय लहरी : सात्त्विक–भावाख्या

चतुर्थ लहरी : व्यभिचारि–भावाख्या

पञ्चम लहरी : स्थायिभावाख्या

३. पश्चिम–विभाग

प्रथम लहरी : शान्त–भक्तिरसाख्या

द्वितीय लहरी : प्रीतभक्तिरसाख्या

तृतीय लहरी : प्रेयोभक्तिरसाख्या

चतुर्थ लहरी : वत्सलभक्तिरसाख्या

पञ्चम लहरी : मधुर–भक्तिरसाख्या

४–उत्तर–विभाग गौणभक्तिरसनिरूपकः

प्रथम लहरी : भक्तिरसाख्या

द्वितीय लहरी : अद्भुत भक्तिरसाख्या

तृतीय लहरी : वीर–भक्तिरसाख्या

चतुर्थ लहरी : करुण–भक्तिरसाख्या

पञ्चम लहरी : रौद्र–भक्तिरसाख्या

षष्ठ लहरी : भयानक–भक्तिरसाख्या

सप्तम लहरी : वीभत्स–भक्तिरसाख्या

अष्टम लहरी : रसों की मैत्री–वैर की स्थिति

नवम लहरी : रसाभासाख्या

श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु–कारिका–श्लोकानुक्रमणिका

(अ)

(द)

॥ श्रीहरि ॥

व्रजविभूति श्रीश्यामदास

श्रीश्यामलाल हकीम

● प्राक्कथन

सन्त भगवद्–शक्ति का ही एक स्वरूप होते हैं। सन्तों का हृदय कोमल होता है। जैसे जल का सहज स्वभाव हर–एक को शीतलता प्रदान करना होता है, वैसे ही सन्तों का सहज स्वभाव होता है–दुःखी एवं सन्तप्त जीवों पर करुणा करके उनके दुःखों को, उनके संकटों को दूर करने का उपाय बताकर उन्हें कल्याणकारी मार्ग पर अग्रसर करना। यदि किसी जीव में यह गुण है तो किसी भी वेश में हो, वह सन्त है और किसी सन्तवेशधारी में यह गुण–लक्षण नहीं है, तो वह सन्त नहीं है–यह परम सत्य है।

सन्त इस संसार में, इस पृथ्वी पर जीवों का कल्याण करने आते हैं और जीवन मृत्यु से परे होते हुए भी निश्चित समय पर अपने इस भौतिक शरीर का त्याग कर प्रयाण कर जाते हैं। लेकिन अमर हो जाते हैं – उनके आचरण, उनकी शिक्षा और विशेषकर उनके द्वारा साक्षात् किये गये अनुभव और उनके उपदेश, जिनका अनुसरण करके जीवमात्र अपने कल्याण का पथ प्रशस्त करता है। वेद, उपनिषद्, पुराण, महापुराण अथवा अन्य जितने भी श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत, श्रीरामायण आदि ग्रन्थ आज हमारे समक्ष हैं–वे सब निश्चित ही किन्हीं न किन्हीं सन्त–महापुरुषों के वचनामृत ही हैं, अथवा अपौरुषेय हैं, जिनके द्वारा जीवमात्र का यथायोग्य कल्याण हो रहा है।

● परिचय

नाम– श्रीश्यामलाल हकीम (श्रीश्यामदास), जन्म– 3 फरवरी सन् 1921, जन्मस्थान– डेरागाजीखान, वर्ण– क्षत्रिय। उपजाति– अरोड़ा (नांगिया), भाषाज्ञान– हिन्दी, उर्दू, अंग्रेजी, बंगला, संस्कृत, फारसी। व्यवसाय– हकीम हाजिक की डिग्री प्राप्त करने के बाद अपने पैतृक सेवा–व्यवसाय यूनानी चिकित्सक के रूप में अपने पिता के साथ अपने जन्म नगर में चिकित्सा कार्य किया एवं ख्याति प्राप्त की। आप उस चिकित्सक परिवार से हैं, जिसमें रोगी के मूत्र या रोगी के कपड़े को देखकर ही रोग का निदान किया जाता था।

आज से एक शताब्दी पूर्व अखण्ड भारत के पंजाब प्रान्त के डेरागाजीखान नगर में स्वामी श्री इन्द्रभानुजी (श्रीललित लड़ैतीजी) के नाम से एक भक्त कवि हुए हैं, जो भक्ति–ज्ञान–वैराग्य के साक्षात् मूर्तिमन्त एवं परमसिद्ध सन्त थे। श्रीचैतन्य सम्प्रदाय के व्रजभाषी–कवियों में उनका नाम पर्याप्त आदर एवं सम्मान के साथ लिया जाता है। आपने श्रीराधा–दासी भाव में अनेक पद्यात्मक रचनाऐं कीं। आपके लीलापरक ग्रन्थ श्रीकिशोरीकरुणाकटाक्ष, श्रीदम्पतिविलास एवं श्रीरासपञ्चाध्यायी आपकी

श्रीवृन्दा ठकुरानी   श्रीश्रीराधागोविन्द देव जी   श्रीगौरांग महाप्रभु । श्रीजगन्नाथजी । श्रीनित्यानन्द प्रभु

जयपुर में विराजमान ठाकुर श्रीश्रीराधागोविन्द देव जी जब श्रीधाम वृन्दावन से वहाँ पधारे तो कुछ समय भरतपुर के समीप काम्यवन में विश्राम किया – सेवित पूजित हुए। प्रतिभू विग्रह आज भी काम्यवन के मन्दिर में विराजमान हैं।

श्रीराधारासविहारी भगवान्

श्रीश्रीनिताई-गौर

संकीर्तन वृक्ष

श्रीरूपगोस्वामीपाद की समाधि
श्रीराधादामोदर मन्दिर, वृन्दावन
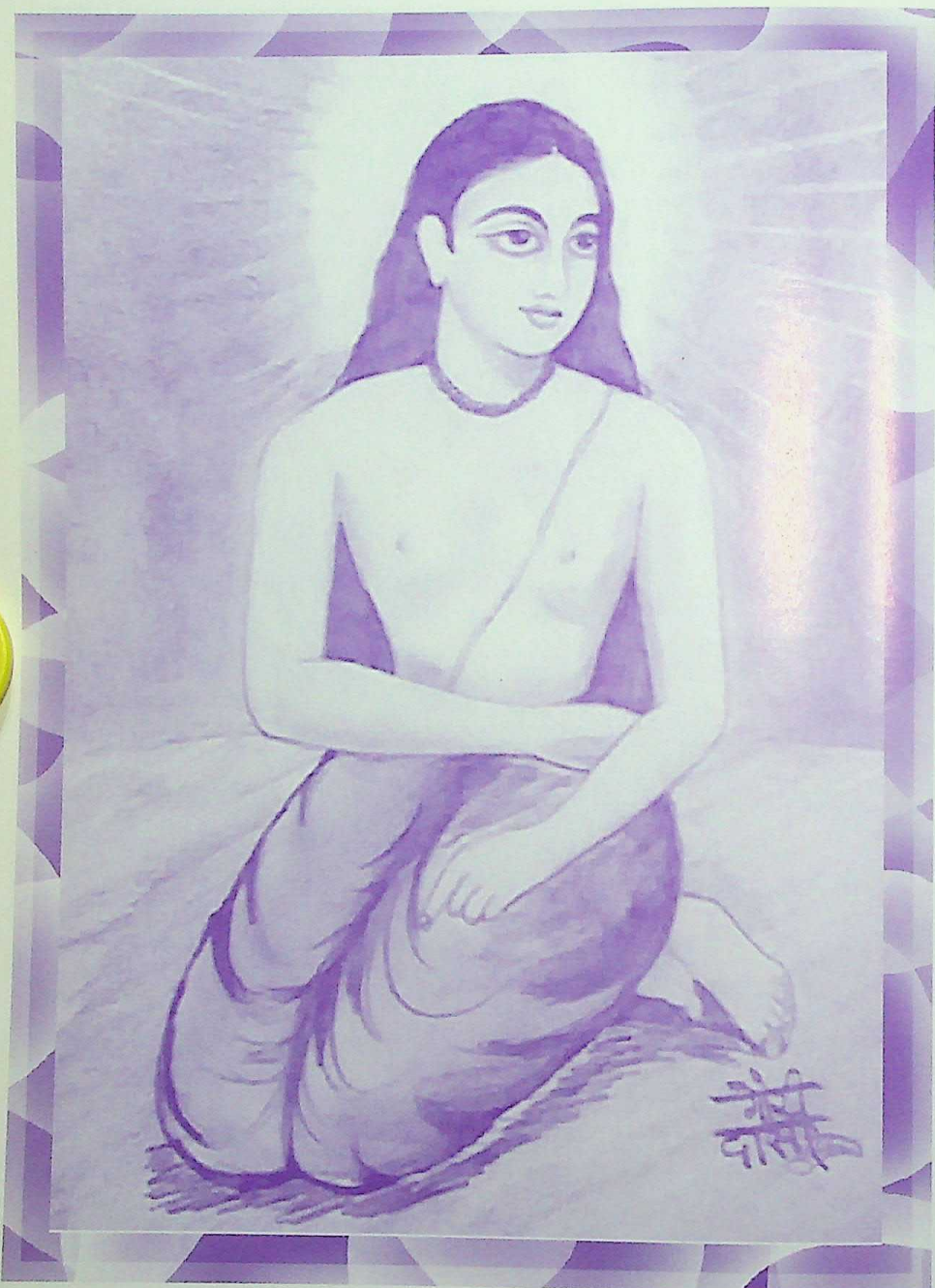
श्रीनित्यानन्द प्रभु
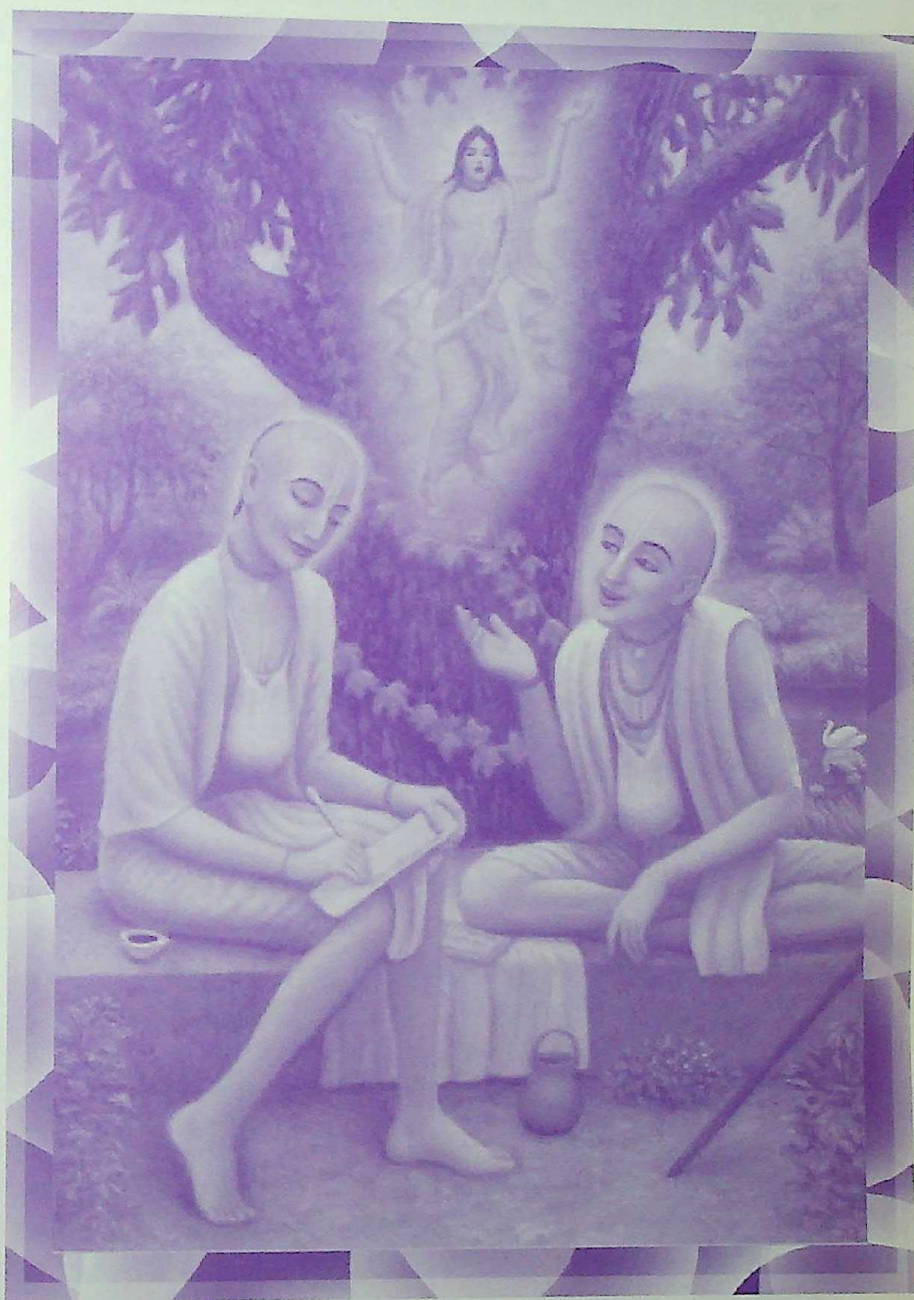
श्रीरूप एवं श्रीसनातन गोस्वामीपाद

लीलाप्रविष्ट व्रजविभूति 'श्रीश्यामदास'
श्रीश्यामलालजी हकीम

ब्रजनिष्ठा, श्रीराधाकृष्णदास्य एवं काव्य–प्रतिभा के परिचायक हैं। आपके जीवन–काल में अनेक लोगों ने आपके भक्ति–चमत्कार, सरल स्वभाव, विनम्रता एवं सहिष्णुता का साक्षात् दर्शन किया है।

आपके ही वंश में राय साहब श्रीरघुनाथदास जी हकीम एक ब्रजनिष्ठ परमभक्त थे, श्रीरघुनाथदास जी एवं माता सीता देवी के घर में सन् 1921 में जन्मे एक मात्र सुपुत्र थे श्रीश्यामलाल जी हकीम 'श्रीश्यामदास'। श्रीधाम वृन्दावन से आपके परिवार का पुराना सम्बन्ध था और आना–जाना था। आपके मन में भी श्रीधाम वृन्दावन के दर्शन और निवास की लालसा बाल्यकाल से थी। अतः समय पाकर आप श्रीवृन्दावन चले आते। यहाँ रहकर आप प्रिया–प्रीतम की लीलाओं का आस्वादन करते और महापुरुषों से कथा–श्रवण कर भजन की शिक्षा ग्रहण करते।

चिकित्सा के क्षेत्र में ख्याति प्राप्त करने के साथ–साथ धार्मिक आचरण एवं धार्मिक गतिविधियों में भी आप विशेष रुचि रखते थे। वहाँ होने वाले परस्पर दैनिक सत्संग, संकीर्तन एवं प्रवचन में आप सदैव प्रमुख रूप से भूमिका निर्वाह करते थे। प्रवचन भी करते थे।

● नाम-मन्त्र-दीक्षा

श्रृंगारवट में विराजमान श्रीचैतन्य सम्प्रदाय की महान् विभूति श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु–वंशावतंस परमभागवत पूज्यचरण श्रीदेवकीनन्दनजी गोस्वामी महाराज से कृपाशक्ति–दीक्षा प्राप्त कर श्रीचैतन्य–सिद्धान्त साहित्य का आपको परिचय हुआ तो आप चमत्कृत हो उठे। श्रीगुरुदेव एवं विद्वद्जन की कृपा प्राप्त कर आपने श्रीचैतन्यानुयायी गोस्वामिगण के साहित्य का गहन अध्ययन–आस्वादन कर उसे हिन्दी भाषा–भाषी साधकों के हित उपलब्ध कराने का बीड़ा उठाया। कलियुग में जबकि असत्य आचरण, दूषित वातावरण, भयंकर असभ्य, संस्कृति–नाशक टेलीविजन कार्यक्रमों का बोलबाला है, ऐसे में सच्चे सन्तों तक पहुँचना बहुत मुश्किल है– अतः सत्शास्त्र–सन्तवचनामृत ही जीवमात्र का सहज कल्याण करने का एकमात्र अनुकूल साधन है।

दीक्षा ग्रहण के तुरन्त पश्चात् श्रीगुरुकृपा से आपमें कवित्व शक्ति जागृत हो उठी और श्रीप्रियाप्रियतम की प्रेरणा से आप श्रीभगवन्नाम–गुण–लीलापरक काव्य–रचनाएँ करने लगे। श्रीभक्तभाव संग्रह नामक ग्रन्थ में 'ललितविहारिणि', 'श्याम' एवं 'श्यामदास' उपनाम से आपकी बहुत सी रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं।

● परिवार

धार्मिक परिवेश में रहते हुए आपने अपने गृहस्थ के दायित्वों को भी अच्छी प्रकार से निर्वाह किया। आपके तीन पुत्र थे–सबसे बड़े सुपुत्र को आपने दिल्ली से चिकित्सक की डिग्री दिलायी और उन्हें एक सफल चिकित्सक के रूप में स्थापित किया। दैवयोग से सन् 2002से वे भी हमारे मध्य नहीं रहे। शेष दोनों पुत्रों को उच्च शिक्षा दिलाकर श्रीहरिनाम प्रेस में स्थापित किया। अपनी पुत्रियों को भी उच्च कुल में विवाहित कर अपने दायित्वों का निर्वाह किया। इस समय अनेक दौहित्र–पौत्रादिकों से भरा पूरा आपका विशाल परिवार है। सभी धनधान्य, सम्पत्ति से परिपूर्ण हैं और भगवद्भक्ति में यथाशक्ति संलग्न हैं।

आपके जन्म से लेकर आज तक अनेक चमत्कारिक घटनाओं एवं संस्मरणों का एक विशाल प्रसंग है, जिन्हें संकलित किया गया है। 'व्रजविभूति श्रीश्यामस्मृति' नाम से यह ग्रन्थ उपलब्ध है। समादृत है।

सन् 1947 में जब भारत विभाजित हुआ तो आपका परिवार श्रीधाम वृन्दावन आ गया। पिता की वयसाधिक्य के कारण परिवार के समस्त दायित्व आप पर ही थे। कठिन परिश्रम से समस्त परिवार का पालन करते हुए आप वृन्दावन में रहने लगे। और 'चल मन वृन्दावन चल रहिए' की आपकी साधना यहाँ पूर्ण हुई।

आप सपरिवार वृन्दावन आकर बस गये और लोई बाजार में दुकान लेकर चिकित्सा कार्य प्रारम्भ किया। प्रारम्भ में सामान्य रोगी तो आता ही नहीं था, प्रायः ऐसे रोगी आते थे, जिन्हें सब ओर से निराश होकर जवाब मिल जाता था। ईश्वर में विश्वास और दृढ़ कार्य–निष्ठा से यूनानी पद्धति से ऐसे मरणासन्न रोगियों की चिकित्सा कर अनेक रोगियों को स्वस्थ कर नगर एवं आसपास के क्षेत्र में 'खानदानी' के नाम से सुविख्यात चिकित्सक के रूप में ख्याति एवं सम्मान अर्जित किया। प्रारम्भ में ब्राह्मण, वैष्णव एवं हरिजन को निःशुल्क दवा दिया करते थे। दोपहर में खाली समय मिलने पर ग्रन्थों का अध्ययन, आस्वादन एवं सम्पादन में अपना समय सार्थक करते थे। बंगला साहित्य को पढ़कर आप सदैव चमत्कृत होते रहे। अध्ययन एवं साहित्य में रुचि एवं सत्संग–कथा–प्रवचन में लगातार लगे रहने एवं सन्तों के संग में सदैव रहने से विशेषतः श्रीगुरुदेव की अन्तिम अवस्था में शारीरिक सेवा करने के कारण इनमें दिव्य शक्ति पुंजीभूत होती रही।

वृन्दावन में इनके युवा सुपुत्र एवं युवा पत्नी की असामयिक गोलोक–प्राप्ति एवं अन्य भीषण विपत्तियों के कारण इनके परिवारीजनों ने इन्हें वृन्दावन छोड़कर अन्य नगर में बसने की सलाह दी। लेकिन वृन्दावन में अगाध निष्ठा के कारण वृन्दावन छोड़कर जाना तो दूर अपने परिवार–रिश्तेदारों को प्रारब्ध एवं इन सब घटनाओं की दार्शनिक पृष्ठभूमि को समझा कर अपनी साधना सेवा में संलग्न रहे।

● ब्रजनिष्ठा – ग्रन्थ सम्पादन

धार्मिक एवं ब्रजनिष्ठापूर्ण परिवार होने के कारण आपका व्रज–वृन्दावन से सदैव ही सम्बन्ध तो रहता ही था। विभाजन से पूर्व भी आप प्रायः अपने श्रीगुरुस्थान शृंगारवट में आया–जाया करते थे एवं अनेक समय तक वृन्दावन में निवास कर सन्तों के संग रहते हुए भजन की शिक्षा प्राप्त करते थे। वृन्दावन आने–जाने से व्रजभाषा एवं संस्कृत भाषा पर आपका सम्यक् अधिकार हो गया। व्यवसाय से हकीम होने के कारण आपका अधिकार उर्दू, फारसी एवं अंग्रेजी और हिन्दी आदि भाषाओं पर पहले से ही था। इसी क्रम में आपने संस्कृत एवं बंगला भाषा में प्रकाशित गौड़ीय–गोस्वामिग्रन्थों का अध्ययन किया। उस समय यह ग्रन्थ केवल बंगला लिपि में संस्कृत–बंगला भाषा में उपलब्ध थे। आपके मानस में यह प्रेरणा हुई कि ये ग्रन्थरत्न यदि हिन्दी में उपलब्ध और प्रकाशित होते तो हिन्दी–भाषा–भाषी साधक–भक्त भी इसका अध्ययन सुगमता से कर पाते। आपने भगवत् कृपा का सम्बल लेकर निश्चय किया कि इस कार्य को वे करेंगे और तब से 'श्रीश्यामदास' की लेखनी का प्रवाह आरम्भ हुआ जो आजीवन नहीं रुका।

आपने बंगला भाषा में उपलब्ध गोस्वामिग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद और सम्पादन प्रारम्भ किया उन पर अपनी टीकाएँ भी लिखीं जो श्रीहरिनाम संकीर्तन मण्डल और ब्रजगौरव प्रकाशन वृन्दावन द्वारा प्रकाशित होने लगे। प्रभु प्रेरणा से धीरे–धीरे छोटे–बड़े लगभग 100 ग्रन्थों का सम्पादन एवं उनके प्रकाशन की व्यवस्था हुई। यह निश्चित ही एक महत् कार्य है जो श्रीश्यामदास जी द्वारा लगभग 60 वर्षों से अनवरत किया जा रहा था। अधिकतर सभी ग्रन्थों के 2–3 या 4 बार तक पुनर्मुद्रण हो चुके हैं। समय के अनुसार आधुनिकतम पद्धति से मुद्रित ग्रन्थ सुरुचिपूर्ण साज–सज्जा से युक्त हैं, जिनके दर्शन मात्र से पाठक का अध्ययन की ओर सहज आकर्षण हो जाता है।

● बंगला भाषा : श्रीचैतन्य साहित्य

श्रीराधाकृष्ण मिलित विग्रह महाप्रभु श्रीचैतन्य का अवतार बंगाल में हुआ था। उनके अनुयायी समस्त गोस्वामिवृन्द प्रायः बंगाल प्रान्त के ही थे। इसी कारण श्रीचैतन्य–सम्प्रदाय का जो भी सिद्धान्त व साहित्य है–वह सभी बंगला व संस्कृत भाषा में ही है– उसकी लिपि बंगला ही है। उस बंगला साहित्य का हिन्दी में प्रस्तुतिकरण, उन पर हिन्दी टीकाओं से ही हिन्दी भाषी समाज आज उसका लाभ ले रहा है। आज भी श्रीचैतन्यचरितामृत आदि ऐसे अनेक ग्रन्थ हैं जो भारत ही नहीं पूरे विश्व में हिन्दी भाषा में श्रीश्यामदास जी द्वारा ही उपलब्ध कराये गये हैं। उनकी यह देन हिन्दी चैतन्य साहित्य में स्वर्णाक्षरों में अंकित करने योग्य है।

आज यदि उसे हिन्दी में उपलब्ध न कराया गया होता तो हिन्दी समाज एक बहुत बड़े आनन्द एवं कल्याणकारी निधि से वंचित ही रह गया होता। कहना न होगा कि इतना बड़ा दुर्लभ कार्य प्रभुकृपा से अकेले एक व्यक्ति ने ही किया। इस सत्कार्य में अनेक सहयोगी सदैव उनसे जुड़ते रहे। आज भी देश–विदेश के कोने–कोने से सन्त हृदय सज्जन येन–केन–प्रकारेण इस सत्शास्त्र के संरक्षण एवं प्रकाशन यज्ञ में अपना योगदान कर रहे हैं।

लुप्त हो जाने वाले लगभग 100 छोटे–बड़े ग्रन्थों का संरक्षण, प्रकाशन, प्रबन्धन, जन साधारण के लिए इन सत्शास्त्र रूपी सन्त–वचनामृत की उपलब्धि कोई सामान्य–छोटा या सरल कार्य नहीं है। लेकिन प्रभु–गुरु–प्रदत्त दिव्य कृपा–प्रेरणा–शक्ति एवं सन्त सज्जन पुरुषों के यथायोग्य योगदान से ही यह सब संभव हो सका है।

'ग्रन्थ प्रभु के विग्रह हैं' – इनकी सेवा प्रभु की साक्षात् सेवा है। सत्शास्त्र की सेवा साक्षात् स्थायी सन्त–सेवा है। जिस प्रकार भोजन पेट की खुराक है–उसी प्रकार ग्रन्थ आत्मा की खुराक हैं। ग्रन्थ–अध्ययन सदैव के लिए एक दिव्य आनन्द की अनुभूति प्रदान करता है।

● श्रीहरिनाम प्रेस की स्थापना

उस समय वृन्दावन में प्रेस नहीं के बराबर थीं। आपने मन ही मन निर्णय कर लिया कि अब अगला ग्रन्थ अपनी ही प्रेस में छापूँगा। और यह सोचकर कि मैं चिकित्सा–कार्य करता रहूँगा और प्रेस में मेरे ग्रन्थ छपते रहेंगे, आपने सन् 1969 में श्रीहरिनाम प्रेस की स्थापना की। और हुआ भी यही कि 2–3 वर्ष तक आप चिकित्सा

करते रहे और प्रेस में अपने ही ग्रन्थ छपते रहे। बाद में अन्य प्रेसों के अभाव, अव्यवस्था के कारण दूसरे ग्रन्थों का मुद्रण–कार्य भी होने लगा। आपके ग्रन्थों के मुद्रण के साथ–साथ अन्य मुद्रण कार्य भी चलते रहे, और श्रीहरिनाम प्रेस ने अपनी एक अलग पहचान स्थापित की। सन्1978–79 में प्रेस का कार्य अपने पुत्रद्वय डॉ. गिरिराजकृष्ण एवं डॉ. भागवतकृष्ण नांगिया को धीरे–धीरे सौंपते हुए आपने व्यावसायिक व्यस्तता से विदा ली।

● **मासिक पत्र श्रीहरिनाम**

सन्तवचनामृत स्वरूप इन ग्रन्थों के साथ–साथ सन्1969 से आज तक अनवरत रूप से 'श्रीहरिनाम' नामक मासिक–पत्र का प्रकाशन भी किया जा रहा है–यह पत्रिका व्यावहारिक रूप से लागत से भी कम मूल्य पर देश–विदेश के हजारों पाठकों को घर बैठे प्रेषित की जाती है। देश के अनेक विद्वानों को यह पत्रिका निःशुल्क प्रेषित की जाती है। विद्वान् सज्जनों में 'श्रीहरिनाम' का अपना एक विशेष आदर एवं स्नेह है।

इस मासिक पत्र में ब्रजभक्ति, वैष्णव दर्शन आदि विषयों पर मनीषियों के निबन्ध प्रकाशित किये जाते हैं। ब्रज में आयोजित होने वाले विशेष समारोहों के समाचार व सूचनाएँ इसमें प्रकाशित की जाती हैं। प्रत्येक अंक में उस मास में आने वाले व्रत एवं उत्सवों की सूची रहती है। पत्रिका की विषय वस्तु अत्यधिक गंभीर, सिद्धान्त एवं शास्त्र प्रतिपादित होती है। इधर–उधर के मिर्च मसाले का उसमें कोई स्थान नहीं हैं। और सबसे बड़ी बात यह है कि 1969 से आज तक जितने भी अंक प्रकाशित हुए उनमें से एक भी अंक विलम्ब से प्रकाशित नहीं हुआ। इसके प्रमुख सम्पादक श्रीश्यामदास ही थे। सहायक सम्पादक श्री गणेशदास चुघ, दासाभास डॉ गिरिराज व डॉ भागवतकृष्ण थे। यह पत्रिका समाचार पत्रों के निबन्धक से पंजीकृत भी है। और आज भी नियमित प्रकाशित हो रही है।

● **ग्रन्थ प्रकाशन कोष का उपक्रम**

अपने जन्म स्थान डेरागाजीखान् में प्रतिवर्ष एक श्रीहरिनाम सम्मेलन का आयोजन आप करते थे। जब विभाजन हुआ तो आक्रान्ताओं के भय से उस वर्ष वह सम्मेलन नहीं हुआ– लेकिन उस सम्मेलन के निमित्त कुछ धनराशि एकत्र हो चुकी थी, वह धनराशि सम्मेलन के कैशियर श्रीदेवीदासजी कथूरिया ने विभाजन के पश्चात् आपके बहुत न–नुकर करने पर भी आपको दे दी। वह राशि आपके पास काफी समय तक सुरक्षित रही– समस्या थी कि इस धनराशि का क्या किया जाय? एक सन्त की प्रेरणा से उस राशि से सर्वप्रथम 'श्रीमद्वैष्णव सिद्धान्त रत्न संग्रह' ग्रन्थ का प्रकाशन करके उस राशि को ग्रन्थ सेवा में निवेशित किया गया।

निःशुल्क ग्रन्थ वितरण की सन्तों द्वारा मनाही करने पर उसकी कीमत रखी गयी– परिणाम फिर वही कि वह राशि बढ़कर पुनः एकत्र हो गयी। और यहीं से ग्रन्थ प्रकाशन के एक पृथक् कोष की स्थापना हो गयी। ग्रन्थ विक्रय राशि से अगला ग्रन्थ, आगामी की बिक्री से आगामी ग्रन्थ प्रकाशित होते गये और आज पर्यंत होते जा रहे हैं।

● **ग्रन्थ विक्रय राशि**

पर्याप्त ग्रन्थ प्रकाशन कोष एवं स्टॉक होने पर भी यह कोष अपर्याप्त ही रहता है। क्योंकि नवीन प्रकाशन हेतु एक विपुल राशि एक साथ चाहिये होती है। ब्रिकी तो 1–1 ग्रन्थ की होती है। अतः सामंजस्य में व्यवधान बना रहता है। ग्रन्थ विक्रय द्वारा प्राप्त होने वाली राशि से न किसी का व्यवसाय चलता है, न यह राशि किसी की आजीविका का साधन है, न कोई वेतन दिया या लिया जाता है, न कोई किराया, बिजली और व्यवस्था सम्बन्धी व्यय किया जाता है। **ग्रन्थ विक्रय से प्राप्त होने वाली राशि का एक–एक पैसा पुनः केवल ग्रन्थ प्रकाशन में ही व्यय किया जाता है।** यही कारण है कि आज छोटे–बड़े एवं विशाल ग्रन्थ हर समय पाठकों हेतु उपलब्ध हैं और भविष्य में भी होते रहेंगे। यह सब प्रभु–गुरु–वैष्णववृन्दकी कृपा का साक्षात् फल है जिसके परिणामस्वरूप श्रीमहाप्रभु के साहित्य का प्रसार–प्रचार अबाध गति से हो रहा है। प्रतिवर्ष आय व्यय विवरण एवं एकाउण्ट्स तैयार होते हैं। व्यवस्थादि सम्बन्धित अन्य सभी कार्य श्रीश्यामदास जी के परिवारीजनों द्वारा सेवा भाव से किये जाते हैं।

● **श्रीहरिनाम संकीर्तन सम्मेलन**

सन् 1959 से 1984 तक लगातार 25 वर्षों तक प्रतिवर्ष होली के अवसर पर आपने विशाल श्रीहरिनाम संकीर्तन सम्मेलन का आयोजन स्थानीय बसन्तीबाई धर्मशाला में किया, जिसमें देश एवं ब्रज के सुप्रसिद्ध विद्वानों के प्रवचन, स्वामी श्रीरामस्वरूपजी की मण्डली की रासलीला एवं स्वामी श्रीहरिगोविन्द जी की मण्डली की श्रीगौरांग लीला का त्रिदिवसीय भव्य आयोजन होता था। अन्तिम दिन विशाल शोभायात्रा से यह उत्सव समाप्त होता था। यही एक मात्र ऐसा उत्सव था जो वृन्दावन में होली के अवसर पर होता था, बाद में ऐसे उत्सव अनेक होने लगे और ऐसे उत्सवों का व्यवसायीकरण हो जाने के कारण यह सम्मेलन1985 से स्थगित कर दिया गया।

● **श्रीगिरिराज कृपा**

एक बार आपके मन में इच्छा हुई कि घर में पूजित श्रीप्रिया–प्रियतम एवं गोपालजी के श्रीविग्रहों के साथ–साथ श्रीगोविन्द 'श्रीगिरिराज' रूप में विराजित हों और मैं उनकी सेवा–पूजा करूँ। श्रीगिरिराज शिला खण्ड की निज मंदिर में सेवापूजा का सामान्यतः सन्तों द्वारा निषेध है। श्रीगिरिराज निजधाम छोड़कर कहीं नहीं जाते–ऐसी मान्यता है।

आप शीघ्र ही तत्कालीन सन्तप्रवर पं. श्रीगयाप्रसादजी के पास गोवर्धन गये और अपनी भावना प्रकट की। पूज्य पंडित जी आपकी सेवा भावना निष्ठा से परिचित थे। तुरन्त उन्होंने कागज के दो छोटे टुकड़े लिये। एक पर लिखा–'यहीं विराजौ'। दूसरे पर लिखा 'आज्ञा होय तौ चलौ श्रीवृन्दावन।' दोनों कागज पुड़िया बनाकर अपने एक सेवक को दिये और कहा कि 'श्रीगिरिराज के समक्ष इन दोनों पर्चीं को डालकर किसी व्रजवासी बालक से एक पर्ची उठवाकर ले आओ।' शीघ्र ही सेवक कागज का एक टुकड़ा ले आया। उस पर लिखा था 'आज्ञा होय तौ चलौ श्रीवृन्दावन।' भक्त एवं भगवान् दोनों की साक्षात् स्वीकृति से आगामी दिन ब्रह्ममुहूर्त्त में श्रीगिरिराजजी को स्वगृह में पधराया गया–सात्विक अभिषेक उत्सवादि से प्रभु प्रतिष्ठित हुए–जो आज पर्यन्त पूजित व सेवित हैं।

● सन्त-सज्जन-सत्कृपा

प्रारम्भ से ही संतों से सत्संग, भगवच्चर्चा, आदि की आपमें विशेष रुचि थी। भागवत निवास के पूज्य बाबा श्रीकृपासिंधुदासजी, श्रीतीनकौड़ीमहाराज, गोस्वामी श्रीरासविहारीलालजी, गो. श्रीविजयकृष्णजी, श्रीअखण्डानन्द सरस्वतीजी, श्री गो. नृसिंहवल्लभ जी, श्रीनित्यानंदजी भट्ट, श्रीरामदासजी शास्त्री, श्रीबिन्दुजी महाराज, श्रीकृष्णदासबाबा कुसुमसरोवर, स्वामी श्रीभक्तिहृदय बनमहाराज जैसे अनेक सन्त एवं विद्वानों की आप पर सदैव स्नेहपूर्ण कृपा रही। गोस्वामी श्रीअतुलकृष्ण जी, गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमजी, गोस्वामी श्रीचैतन्यजी, श्रीअच्युतलालजी भट्ट, श्रीश्रीवत्सजी गोस्वामी, श्रीवैरागी बाबा, श्रीचन्द्रशेखरदास बाबा जी आदि से समय समय पर भगवत् चर्चा आदि का क्रम बना रहता था इनके अतिरिक्त प्रायः प्रतिदिन अनेक वैष्णव–जिज्ञासु भक्त–सज्जन भगवत् चर्चा हेतु आते रहते थे।

● व्रजविभूति सम्मान

हर्ष एवं गौरव का विषय है कि मथुरा एवं ब्रज की प्राचीन संस्था ब्रज कला केन्द्र द्वारा आपकी विशाल साहित्य सेवा का मूल्यांकन करते हुए सन् 2004 में श्रीकृष्ण जन्मभूमि के विशाल सभागार में आपको व्रज विभूति सम्मान से अलंकृत किया गया। यह सम्मान ब्रज कला केन्द्र द्वारा दिये जाने वाले सम्मानों में सर्वोच्च स्थान रखता है। इसके अतिरिक्त वृन्दावन की अनेक सामाजिक धार्मिक संस्थाओं द्वारा समय–समय पर आपका सम्मान किया गया। आकाशवाणी के मथुरा–वृन्दावन केन्द्र से आपकी अनेकों ब्रजवार्ताएँ एवं कार्यक्रम समय–समय पर प्रसारित होते रहे हैं।

● विविध

इस्कॉन के संस्थापक स्वामी ए. सी. भक्तिवेदान्त प्रभुपाद से आपका मित्र भाव था। श्री राधादामोदर में निवास करते समय जब उन्होंने अपने प्रथम ग्रन्थ श्रीमद्भागवत का प्रकाशन करवाया, तब आपने उनका पूर्ण सहयोग किया एवं इस ग्रन्थ के विक्रय, प्रसार–प्रचार में सर्वाधिक योगदान दिया। वृन्दावन में श्रीकृष्णबलराम मंदिर की स्थापना के सन्दर्भ में प्रायः प्रभुपाद से आपकी चर्चा व सम्बन्ध रहा। मंदिर की स्थापना के समय आयोजित विशाल समारोह का मंच संचालन श्रीश्यामदास जी ने किया था। वृन्दावन शोध संस्थान की हाथरस धर्मशाला में स्थापना में आपका विशेष योगदान रहा। अन्त तक आप शोध संस्थान के आजीवन सदस्य थे एवं बहुत समय तक आप संस्थान के संयुक्त सचिव रहे। आपने सपरिवार पुरी, नवद्वीप, मायापुर आदि भारत के प्रमुख तीर्थों के तीर्थाटन के अतिरिक्त40 दिवसीय पैदल ब्रज चौरासी कोस यात्रा कर मानव–जीवन धन्य किया।

● श्रीमन्नित्यानंदप्रभु कृपा-करुणा

जैसा कि पूर्व में वर्णित है श्रीश्यामदासजी की जन्मतिथि ईसवीय सन् अनुसार 3 फरवरी सन् 1921 है। पुराने पंचांग में जब यह तिथि देखी गयी तो यह तिथि है–माघशुक्ला भैमी एकादशी। इस तिथि के ठीक एक दिन बाद माघ शुक्ला त्रयोदशी को श्रीमन्नित्यानन्द प्रभुपाद की जयन्ती तिथि होती है। श्रीनित्यानन्द जयंती तिथि के आस–पास जन्म लेने वाले 'व्रजविभूति श्रीश्यामदास' जी की श्रीनित्यानन्द–परिवार

में दीक्षा, यज्ञोपवीत, मुण्डन आदि संस्कार हुए। जीवन पर्यन्त श्रीनिताई चांद की करुणा कृपा बरसती रही। न जाने कबसे आजीवन श्रीनित्यानन्द प्रभु के सिद्ध स्थान श्रीशृंगारवट के ही एक मकान में रहे। आपके ज्येष्ठ पुत्र का नाम भी आपने रखा – नित्यानन्द। आपके तीनों सुपुत्र भी श्रीनित्यानन्द परिवार में ही दीक्षित हैं और यह भी श्रीमन्नित्यानन्द प्रभु की कृपा का ही साक्षात् फल है कि इस शरीर की अन्तिम श्वांस भी आपने श्रीनित्यानन्द प्रभु के सिद्ध स्थान श्री शृंगारवट से लायी हुई व्रजरज पर ली और अपना पार्थिव शरीर श्रीशृंगारवट की व्रजरज को समर्पित किया। धन्य है निताई चांद तेरी अपार करुणा। सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो आपका सम्पूर्ण जीवन–चक्र 'श्रीनित्यानन्द प्रभुपाद' की करुणामयी कृपा से ओत–प्रोत रहा।

श्रीश्यामदास जी से जब उनकी विपुल सेवा की चर्चा की जाती तो इसका श्रेय सदैव वे गुरुशास्त्र कृपा एवं श्री श्रीनिताई–गौर की दिव्य शक्ति को ही देते थे। वह कहते थे कि मैं तो उनके हाथ की कठपुतली हूँ, जैसा वे मुझे नचा रहे हैं, वैसा ही मैं नाच रहा हूँ। 'नाचेंगे हम तो नटवर जैसा हमें नचा लें।'

● **लीलाप्रवेश**

सन् 1985 से व्यवहार–व्यवसाय सभी लौकिक कार्यों से अनासक्त होकर आप बाग बुन्देला स्थित अपने निवास पर ही एक छोटे से कमरे में अपने सात्विक साधनयुक्त कार्यालय में मुख्य रूप से साहित्य सेवा एवं श्रीविग्रह ठाकुर सेवा में विधिवत् व्यस्त रहते थे। लगभग 85 वर्ष की आयु में भी अति सक्रिय जीवन यापन करने वाले श्रीश्यामदासजी की कभी अस्तव्यस्त न होने वाली दिनचर्या अचानक थोड़ी अव्यवस्थित हो गयी थी।

धनतेरस दिनांक 30 अक्टूबर 2005 को उन्हें अत्यधिक ठंड लगी। जाँच में मलेरिया पाया गया और उचित चिकित्सा दी गयी। दीपावली वाले दिन लगभग स्वस्थ हो गये। अपने अधिकारी एवं कर्मचारियों को दीपावली की शुभकामनाऐं दीं आशीष दिया। दूसरे दिन अन्नकूट महोत्सव का आयोजन था, जो घर में ही प्रतिवर्ष की भांति इस वर्ष भी मनाया गया। लगभग3 घंटे कैसियो बजाते हुए सस्वर संकीर्तन किया। प्रसाद पाया। रात्रि को बेचैन हुए और स्वास्थ्य बिगड़ता गया। नगर के प्रसिद्ध फिजीशियन एवं सर्जन चिकित्सकों के साथ–साथ उनके पौत्र डॉ. नीलकृष्ण ने घर पर ही एक अच्छे अस्पताल से अधिक सेवा–निष्ठाभाव से चिकित्सा सेवाऐं प्रदान कीं। स्वास्थ्य में गिरावट होती रही। दिनांक 5 नवम्बर दोपहर को शान्त भाव में विश्राम कर रहे थे, उन्हें देखने आये अपने एक मित्र से मैंने कहा कि सो रहे हैं।5–6 मिनट बाद बोले, "मैं सो नहीं रहा हूँ, तुम्हारे पास कलम–कागज है–मैं बोलता हूँ – लिखो तो" – उन्होंने पद रचना की और उसे मैंने लिपिबद्ध किया। रात्रि में शैया पर ही वृन्दावन दिग्दर्शिका का विमोचन किया। उसके पश्चात्6, 7, 8 नवम्बर को लगभग शांत रहे जैसे लीला–चिन्तन में एकाग्रचित्त हों।9 नवम्बर 2005 को सायं 4 बजे शरीर के संकेत को देखते हुए सारी कृत्रिम नलियां हटा दी गयीं और परिवारीजनों ने भगवन्नाम संकीर्तन प्रारंभ किया।4 से 7 बजे तक उच्च संकीर्तन चलता रहा। उस समय शरीर लगभग समाप्त हो गया। चित्त तो पहले से ही शांत था। केवल शांत श्वास चलते रहे। धीरे–धीरे संकीर्तन चलता रहा। दूर–पास से आपके सभी बेटियाँ–दामाद,

पुत्र–बहुएँ, नाती–पोते लगभग30–35 परिवारीजन उनके समीप उपस्थित थे। रात्रि लगभग 11:20 पर उनके श्वास की गति धीमी हो गयी, उन्हें शृंगारवट से लायी हुई ब्रजरज बिछाकर उनके निजीकक्ष में भूमि पर लिटाया गया। गंगाजल से शरीर शुद्धि की गयी। उनके अंगों पर वैष्णव–पद्धति अनुसार 'द्वादश तिलक' लगाया गया। अति उच्चस्वर से 'महामन्त्र' का संकीर्तन, निताई गौर हरिबोल, जय श्रीराधे की नाम ध्वनि 12 बजे तक चली। रात्रि लगभग11:50 पर उन्होंने अन्तिम श्वांस ली और गोपाष्टमी के दिन9 नवम्बर2005 को प्रियाप्रियतम की निकुंजलीला में प्रविष्ट हो गये। अक्षय नवमी, 10 नवम्बर2005 को श्रीधाम वृन्दावन में यमुनातट पर उनका पार्थिव शरीर अग्नि को समर्पित कर दिया गया।

उनके श्रीचरणों में हमारी एवं आपकी सच्ची श्रद्धांजलि यही है कि हम एवं आप धर्म–प्रचार हेतु उनके ग्रन्थ प्रकाशन के क्रम को अबाध गति से संचालित रखें एवं श्रीहरिनाम मासिक पत्र का प्रकाशन नियमित रूप से चलता रहे। हमारा दृढ़ विश्वास है कि ऐसा ही होगा।

सन्त–सज्जन–गुरु–गोविन्द की कृपा से गौड़ीयदर्शन में पी-एच. डी. उपाधि प्राप्त उनके पुत्रद्वय डॉ. गिरिराजकृष्ण एवं डॉ. भागवतकृष्ण, उनके साहित्य–सेवा कार्य को इस विश्वास के साथ वर्तमान में संचालित कर रहे हैं कि गुरुशास्त्र–सज्जन संतजन कृपा से ही ग्रन्थ सेवा प्रचार–प्रसार अबाधित रूप से अवश्य ही चलता रहेगा।

श्रीश्यामदासजी द्वारा दिनांक5 नवम्बर2005 को रचित अन्तिम पद–

पार्थ सारथि! परम निस्वार्थी, किन्तु स्वार्थी जमाने में।
अपनौ सेवाकार्य तुच्छन से निकाल लेत, आप रहे मस्त बंसी बजाने में।
विकट आपदा कष्ट सब टाले, निजी स्वारथ बनाने में।
जागत जागत निद्रा भागी, देह क्रिया भई भंग।
सेवा सिमरन, सिमरन छूट्यौ, छूट्यौ ग्रन्थन कौ संग।
'श्यामदास' प्रारब्ध की महिमा, निज विपाक कौ रंग।

●

ग्रन्थ विक्रय से प्राप्त होने वाली राशि का
एक-एक पैसा पुनः केवल ग्रन्थ प्रकाशन
में ही व्यय किया जाता है
यह किसी की आजीविका नहीं है.

• श्रीश्रीकृष्णचैतन्यनित्यानन्दौ जयतः •

श्रील रूपगोस्वामि प्रभुपाद प्रणीत

श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुः

—— भगवद्भक्तिभेद—निरूपक पूर्वविभाग ——

प्रथम-लहरी : सामान्यभक्तिः

श्रीश्रीराधागोविन्ददेवो विजयते

१—अखिलरसामृतमूर्तिः प्रसृमररुचिरुद्धतारकापालिः।
कलितश्यामा—ललितो राधाप्रेयान् विधुर्जयति।।१।।

श्रील जीवगोस्वामिप्रभुपाद—कृता

■ दुर्गमसंगमनी टीका—

• श्रीश्रीराधादामोदरौ जयतः •

सनातनसमो यस्य ज्यायान् श्रीमान् सनातनः।
श्रीवल्लभोऽनुजः सोऽसौ श्रीरूपो जीवसद्गतिः।।

अथ श्रीमान् सोऽयं ग्रन्थकारः सकलभागवत—लोकहिताभिलाषपरवशतया प्रकाशितैः स्वहृदयदिव्यकमलकोषविलासिभिः श्रीमद्भागवतरसैरेव भक्तिरसामृत—सिन्धुनामानं ग्रन्थमपूर्वरचनमाचिन्वानस्तद्वर्णयितव्यस्यैव च सर्वोत्तमतां निश्चिन्वानस्तद्व्यञ्जनयैव मंगलमासञ्जयति; एवं सर्व ग्रन्थोऽयं मंगलरूप इति च विज्ञापयति,—अखिलेति। विधुः श्रीकृष्णो जयति सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते; यद्यपि विधुः श्रीवत्सलाञ्छन इति सामान्य भगवदाविर्भावपर्य्यायस्तथापि विधुनोति खण्डयति सर्वदुःखमतिक्रामति सर्वं चेति, यद्वा, विदधाति करोति सर्वसुखम् सर्वं चेति निरुक्तेः पर्य्यवसाने विचार्यमाणे तत्रैव विश्रान्तेः, असुराणामपि मुक्तिप्रदत्वेन स्ववैभवातिक्रान्तसर्वत्वेन परमापूर्वस्वप्रेम—महासुखपर्य्यन्त सुखविस्तारकत्वेन स्वयं भगवत्त्वेन च तस्यैव प्रसिद्धेः, अतएवामरेणापि तत्प्राधान्यनैव तानि नामानि प्रोक्तानि,—'वसुदेवोऽस्य जनकः' इत्याद्युक्तेः।

एतदेव सर्वं जयत्यर्थेन स्पष्टीकृतं; सर्वोत्कर्षेण वृत्तिर्नाम तत्तदेवेति; अतएव प्राकट्यसमयमात्रदृष्ट्या या लोकस्याप्रतितिस्तस्या निवासको वर्तमानप्रयोगः; तथा च प्रमाणानि (श्रीभा० १—६—३६) 'विजयरथकुटुम्ब' इत्यादौ—'यमिह निरीक्ष्य हता

गताः स्वरूपम्' इति; (श्रीभा० ३—२—२७) 'स्वयं त्वसाम्यातिशयस्त्रयधीशः स्वाराज्यलक्ष्म्याप्तसमस्तकामः। बलिं हरद्भिश्चिरलोकपालैः किरीटकोट्येडितपादपीठः, इति। (श्रीभा० ६—२४—६५), 'यस्याननं मकरकुण्डलचारुकर्ण भ्राजत्कपोलसुभगं सविलासहासम्। नित्योत्सवं न ततृपुर्दृशिभिः पिबन्त्यो, नार्यो नराश्च मुदिताः कुपिता निमेश्च''।। इति (श्रीभा० १०—२९—४०) 'का स्त्र्यंग ! ते कलपदा—मृतवेणुगीत—संमोहिताऽर्य्यचरितान्न चलेत्त्रिलोक्याम्त्रैलोक्यसौभगमिदं च निरीक्ष्य रूपं, यद्गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन् इति (श्रीभा० ३—२—१२) यन्मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोग माया—बलं दर्शयता गृहीतम्। विस्मापनं स्वस्य च सोभगर्द्धेः परं पदं भूषणभूषणांगम्। इति, (श्रीभा० १—३—२८) 'एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' इति (श्रीभा० १०—९०—४८) ''जयति जननिवासो देवकीजन्मवादः'' इत्यादीनि श्रीभागवते। अथ तत्तदुत्कर्षहेतुं स्वरूपलक्षणमाह,—अखिलरसा वक्ष्यमाणः शान्ताद्या द्वादश यस्मिन् तादृशममृतं परमानन्द एव मूर्तिर्यस्य सः (श्रीभा० १०—४१—१८)—आनन्दमूर्तिमुपगुह्य इतिः (श्रीभा० १०—१४—२२) 'त्वय्येव नित्यसुखबोधतनावनन्ते' इति, (श्रीभा० १०—४३—१७) 'मल्लानामशनिः' इत्यादि—श्रीभागवतात्, 'तस्मात् कृष्ण एव परो देवस्तं ध्यायेत्तं रसयेत् 'इति श्रीगोपालतापनीभ्यश्च, तत्रापि रसविशेष—विशिष्ट परिकरवैशिष्ट्ये— नाविर्भाववैशिष्ट्यं दृश्यते, अतएवादिरसविशेषविशिष्ट—सम्बन्धेन नितराम्; यथा (श्रीभा० १०—४४—१४) 'गोप्यस्तपः किमचरन् यदमुष्य रूपं, लावण्यसारमसमो— द्‌र्ध्वमनन्यसिद्धम्। दृग्भिः पिबन्त्यनुसवाभिनवं दुरापमेकान्तधाम यशसः श्रिय ऐश्वरस्य।।'' (श्रीभा० १०—३२—१४) त्रैलोक्यलक्ष्येकपदं वपुर्दधद् इति, (श्रीभा० १०—३३—६) ''तत्राभिशुशुभे ताभिः' इत्यादि श्रीभागवते तासु च गोपीषु मुख्या दश भविष्योत्तरे श्रूयन्ते, तथा—'गोपाली पालिका धन्या विशाखाऽन्या धनिष्ठिका। राधाऽनुराधा सोमाभा तारका दशमी तथा।' इति विशाखा ध्याननिष्ठिकेति पाठान्तरं, तथेति दशम्यपि तारका—नाम्न्येवेत्यर्थः, दशमीत्यप्येकं नाम वा, स्कान्दप्रह्लादसंहिता—द्वारकामाहात्म्ये च—'ललितोवाच' इत्यादौ मुख्यास्वष्टासु पूर्वोक्ताभ्योऽन्या ललिता—श्यामला—शैब्या—पद्मा—भद्राश्च श्रूयन्ते, पूर्वोक्तास्तु राधा—धन्या—विशाखाश्च। तदेतदभिप्रेत्य तत्रापि मुख्यमुख्याभिरुत्तरोत्तरवैशिष्ट्यं दर्शयितुम् अवरमुख्ये द्वे तावन्निष्कृष्य ताभ्यां वैशिष्ट्यमाह; प्रसृमराभिः प्रसरणशीलाभिः रुचिभिः कान्तिभिः रुद्धे वशीकृते, तारकापालिर्येन सः, पालिकेति तु संज्ञायात् कन्विधानात्' पालीतिदीर्घान्तोऽपि क्वचिद्दृश्यते। अथ मध्यममुख्याभ्यामाह,—कलिते आत्मसात्कृते श्यामा श्यामला ललिता च येन सः। अथ परममुख्ययाह राधायां (राधायाः) प्रेयानतिशयेन प्रीतिकर्त्ता,—'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः, इति कर्त्तरि क—प्रत्ययविधेः। अतऐवास्या एवासाधारण्यमालोक्य पूर्ववदयुग्मत्वेनापि नेयं निर्दिष्टा। अतस्तस्या एव प्राधान्यं कार्तिकमाहात्म्ये तत्कुण्डप्रसंगे—'यथा राधा प्रिया विष्णोस्तस्याः कुण्डं प्रियं तथा। सर्वगोपीषु सैवेका विष्णोरत्यन्तवल्लभा, इति। अतएव मात्स्यस्कान्दादौ शक्तित्व—साधारण्येनाभिन्नतया गणनायामपि तस्या एव वृन्दावने प्राधान्याभिप्रायेणाह— 'रुक्मिणी द्वारवत्यां तु राधा वृन्दावने वने' इति, तथा च बृहद्गौतमीये तस्या एव मन्त्रकथने—देवी

कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका परदेवता। सर्वलक्ष्मीमयी सर्वकान्तिः सम्मोहिनी परा, इति, ऋक्परिशिष्टश्रुतावपि–राधया माधवो देवो माधवेनैव राधिका। विभ्राजते जनेष्वा इति। अतएवाहु–(श्रीभा० १०–३०–२८) अनयाराधितो नूनम्' इत्यादि।

अथ श्लेषार्थव्याख्या–तत्रैक श्लेषेणोपमां सूचयंस्तस्यार्थविशेषं पुष्णाति सर्वलौकिकालौकिकातीतेऽपि तस्मिन् लौकिकार्थविशेषोपमाद्वारा लोकानां बुद्धि–प्रवेशः स्यादिति केनाप्यंशेनोपमेयं सर्वतमस्तापजदुःखशमकत्वेन सर्वसुखदत्वेन च तत्र पूर्ववन्निरुक्तिपर्य्यवसाने विचार्य्यमाणे राकापतेरेव विधुत्वं मुख्यं पर्यवस्यतीति सर्वतः प्रभावात् पूर्णतांशेन च। एवं सूर्यादीनां तापशमनत्वादि नास्तीति नोपमानयोग्यता, ततो विधुः सर्वत उत्कर्षेण वर्त्तत इति लभ्यते, वर्त्तमान–प्रयोगांशस्तु प्रत्युतुराजमेव तत्तद्रूपतयानुवृत्तेः। एवं विशेष्यसाम्यं दर्शयित्वा विशेषणेऽपि साम्यं दर्शयति–अखिलेत्यादिभिः, अखिलः–अखण्डो रस आस्वादो यत्र तादृशममृतं पीयूषं, तदात्मिकैव मूर्तिर्मण्डलं यस्य, अत्र शब्देन साम्यं रसनीयत्वांशेनार्थेनापि योज्यं,–प्रसृमराभी रुचिभिः कान्तिभिः रुद्धावृता तारकाणां पालिः श्रेणी येनेति पूर्ववन्निजकान्तिवशीकृत कान्तिमतीगणविराजमानत्वांशेनापि ज्ञेयम्। तथा–'श्यामा तु बागुलौ अप्रसूतांगनायां च तथा सोमलतोषधौ। त्रिवृता शारिवा गुन्द्रा निशा कृष्णा प्रियङ्गुषु इति।।

विश्व–प्रकाशात्, कलितमूरिकृतं श्यामाया रात्रेर्ललितं विलासो येनेति रात्रिविलासत्वेनापि ज्ञेयम्, तथा राधायां विशाखानाम्न्यां तारायां प्रेयानधिक प्रीतिमान् ऋतुराज पूर्णिमायां तदनुगमित्वाद् इति तदनुगति–मात्र साध्यस्य वैभवविज्ञत्वांशेनापि ज्ञेयम्। उपमानस्य चैतानि विशेषणान्युत्कर्षवाचकानि– सूर्यादेस्तादृशमूर्त्तित्वाभावात् तारानाशनक्रियत्वेन तत्साहित्य शोभित्वाभावात् सुखविशेषकर रात्रिविलासाभावात् तादृशविज्ञत्वानभिव्यक्तेश्चेति। सिद्धान्तरसभावानां ध्वन्यलंकारयोरपि। अनन्तत्वात् स्फुटत्वाच्च व्यज्यते दुर्गमं त्विह।। लिखनं सर्वमेवास्मिन्नाशंकानाशगर्भितम्। वृथात्वशंकया तत्र नावध्येयमबुद्धिभिः।। ग्रन्थकृतां स्वारस्यात् कतिचित् पाठास्तु ये त्यक्ताः। नात्रानिष्टं चिन्त्यं, तेषामभीष्टं हि।।१।।

मंगलाचरण (इष्टवन्दना)–

● *अनुवाद*–जो अखण्डित रसामृत–मूर्ति है, अपनी चारों ओर फैली हुई कान्ति से तारागण की पंक्ति को जो निष्प्रभ कर देने वाला है तथा जो रात्रि की सुन्दरता विधान करने वाला है, वैशाखी–पूर्णिमा के उस चन्द्र की जय हो।।१।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–

वन्देऽहं श्रीगुरोः श्रीयुत्पदकमलं श्रीगुरून् वैष्णवांश्च
श्रीरूपं साग्रजातं सहगण रघुनाथान्वितं तं सजीवम्
साद्वैतं सावधूतं परिजनसहितं कृष्णचैतन्यदेवं
श्रीराधाकृष्णपादान् सहगणललिताश्रीविशाखान्वितांश्च।।क।।

दुर्गमं सुगमं तत्त्वं भवेद–यस्य प्रसादतः।
राधाकृष्णरसे मग्नं श्रीमद्रूपं नमामि तम्।।ख।।

परम करुणामय कलियुग–पावनावतार भगवान् श्रीकृष्णचैतन्यदेव के नित्य पार्षद श्रीमद्रूपगोस्वामिपाद भारतीय परम्परा के अनुसार स्वरचित ग्रन्थ के आरम्भ में अपने इष्टदेव भगवान् श्रीकृष्ण की वन्दना करते हैं। उन्होंने इस श्लोक में श्लिष्ट विशेषणों द्वारा श्रीकृष्ण की चन्द्र के साथ सदृशता दिखलाते हुए इनका जय–गान या सर्वोत्कर्ष स्थापन किया है।

श्लोक का जो अक्षरार्थ ऊपर कहा गया है, वह चन्द्र के पक्ष में है, किन्तु ग्रन्थकार का अभिप्राय वास्तव में श्रीकृष्ण के पक्ष में है। उन्होंने इस श्लोक में श्रीकृष्णचन्द्र की वन्दना की है–

''शान्तादि समस्त द्वादश रसों से परिपूर्ण परमानन्द स्वरूप श्रीकृष्णचन्द्र की जय हो, जो अपने सौन्दर्यमाधुर्य से तारिका और पाली नाम की गोपियों को तथा श्यामा एवं ललिता नाम की सखियों को अपने वशीभूत करने वाले हैं, तथा जो श्रीराधा से अतिशय प्रेम करने वाले हैं अथवा श्रीराधा जिनको अतिशय प्रेम करती हैं।''

रसशास्त्र में १२ रस वर्णन किए गए हैं। जिनमें शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा मधुर–ये पाँच मुख्य हैं और हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स तथा अद्भुत–ये सात गौण माने गए हैं। श्रीकृष्ण इन समस्त रसों की परमानन्दमयी मूर्ति हैं। उनका यहाँ जय–गान किया गया है।

श्रीराधा–प्राणवल्लभ व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण ही अखिल रसामृत–मूर्ति अर्थात् परमानन्द–मूर्ति हैं, क्योंकि वे समस्त रसों के विषय एवं आश्रय हैं। श्रुति इनको ही ''रसो वै सः'' कहकर वर्णन करती है। वे ही रस हैं। ग्रन्थ में आगे चलकर श्रीगोस्वामिपाद ने इस विषय को विस्तृत रूप में निरूपण किया है। उनका सर्वोत्कर्ष है। अनेक प्रकार से उनका सर्वोत्कर्ष श्रुति–स्मृति–पुराणों में प्रतिपादित किया गया है। उनका परिकर आद्यरस–विशिष्ट है। वे समस्त दुःखों को नष्ट करने वाले हैं, समस्त सुखों के देने वाले हैं। असुरों को भी मुक्ति देने वाले हैं। समस्त माधुर्य–ऐश्वर्ययुक्त हैं, परम अपूर्व निज विशुद्ध प्रेमानन्द का विस्तार करने वाले हैं एवं सर्वकारण–कारण, सर्वावतारी स्वयं–भगवान् हैं–इत्यादि अनन्त विशेषताओं के कारण श्रीकृष्ण सर्वोत्कृष्ट हैं। अतः उनका ही जयगान या सर्वोत्कर्ष स्थापन किया गया है।

''राधाप्रेयान् विधुर्जयति'' की बजाय 'राधाप्रेयान हरिर्जयति' पद भी दिया जा सकता था किन्तु 'हरि' या 'कृष्ण' शब्द न देकर श्लोक में 'विधु'–शब्द दिया गया है। विधु–शब्द का सामान्य अर्थ है चन्द्र, किन्तु अमरकोशादि में विधु शब्द का अर्थ विष्णु, कृष्ण भी वर्णित है। श्रीमुकुन्ददास गोस्वामिपाद ने इस पद की व्याख्या करते हुए अपनी टीका–''अर्थरत्नाल्प–दीपिका'' में लिखा है–जो अपनी बहिरंगा–मायाशक्ति के द्वारा अनन्तकोटि–ब्रह्माण्डों को प्रकाशित करते हैं, अपनी स्वरूप–शक्ति के द्वारा वैकुण्ठादि–महालीला को तथा स्वांशविलासरूप अनन्त भगवत्स्वरूपों को और शक्ति–आवेशादि अनन्त अवतारों को प्रकाशित करते

हैं–वे हैं विधु। अतः विधु–शब्द से एकमात्र अद्वयज्ञानतत्त्व स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण ही अभिप्रेत हैं।

श्रीकृष्ण की प्रिय गोपरमणियों में श्रीराधा, श्यामा, ललितादि गोपीगण तो प्रसिद्ध हैं, किन्तु तारका, पाली ये दो नाम उतने प्रसिद्ध नहीं हैं। इनके नामों का उल्लेख भविष्योत्तर पुराण में स्पष्ट मिलता है–

गोपाली पालिका धन्या विशाखान्या धनिष्ठिका।
राधानुराधा सोमाभा तारका दशमी तथा।।

पालिका को ही यहाँ 'पाली' नाम से कहा गया है, तारका तो स्पष्ट है ही। श्रीकृष्ण की प्रसिद्ध प्रिय गोपीजन श्रीराधा–ललितादि के साथ इस श्लोक में अप्रसिद्ध गोपीजन पाली–तारका का नाम उल्लेख करने में भी श्रीगोस्वामिपाद का विशेष प्रयोजन है। श्रीराधाजी की विपक्षा एवं तटस्थ गोपियों के उपलक्षण–स्वरूप इन दोनों का नाम दिया गया है और श्रीराधा के साथ स्वच्छन्द विहार करने के लिए रसपुष्टि निमित्त इन दोनों यूथेश्वरियों के वशीभूत करने की बात भी कही गयी है। इस प्रकार श्यामा का नाम श्रीराधाजी की सुहृत्पक्षा सखियों के उपलक्षण स्वरूप उल्लेख किया गया है। श्रीललिता उनकी स्वपेक्षा सखियों की उपलक्षण–स्वरूपा हैं। अतः यहाँ इन सबके वशीभूत करने की बात का उल्लेख कर यही निरूपण किया गया है कि एकमात्र श्रीराधा श्रीकृष्ण की अतिशय प्रियतमा हैं। इससे श्रीराधा का भी सर्वोत्कर्ष स्थापन किया गया है।

इस श्लोक का चन्द्रपक्ष में अर्थ करते समय 'राधा–प्रेयान्' पद की संगति के लिए श्रीजीव गोस्वामिपाद ने कहा है कि यहाँ 'राधा' से विशाखा–नक्षत्र अभिप्रेत है। विशाखा–नक्षत्र वाली पूर्णिमायुक्त जो वैशाख मास का पूर्णचन्द्र है अर्थात् वसन्तपूर्णिमा का चन्द्र है, जिसका विशेष महत्व है, इसके साथ श्रीकृष्णचन्द्र की सदृशता प्रतिपादित की गई है।।१।।

इस प्रकार प्रथम श्लोक में इष्ट–वन्दना के बाद अगले श्लोक में श्रीगोस्वामिपाद गुरुवन्दनात्मक मंगलाचरण करते हैं–

२–हृदि यस्य प्रेरणया प्रवर्त्तितोऽहं वराकरूपोऽपि।
तस्य हरेः पदकमलं वन्दे चैतन्यदेवस्य।।२।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*अथ निजभक्तिप्रवर्तनेन कलियुगपावनावतारं विशेषतः स्वाश्रयचरणकमलं श्रीश्रीकृष्णचैतन्यदेवं भगवन्तं नमस्करोति, हृदीति–हृदि यस्य प्रेरणया प्रवर्तितोऽस्मिन् सन्दर्भ इति शेषः। वराकेति स्वयं दैन्येनोक्तं सरस्वती तु तदसहमाना 'वरं श्रेष्ठम् आ सम्यक् कायति शब्दायत इति' तमेव स्तावयति मत्कवितायामपि तत्प्रेरणयैवात्र प्रवृत्तिः स्यान्नात्यथेत्यपेरर्थः।।२।।*

गुरु–वन्दना–

● ***अनुवाद*–हृदय में जिनकी प्रेरणा पाकर मैं अति अल्पबुद्धि होकर भी इस ग्रन्थ की रचना में प्रवृत्त हो रहा हूँ, उन श्रीकृष्ण–स्वरूप श्रीकृष्णचैतन्यदेव के चरणकमलों की मैं वन्दना करता हूँ।।२।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—इस श्लोक में श्रीगोस्वामिपाद ने निज—भक्ति के प्रवर्त्तक कलियुग—पावनावतार श्रीकृष्णचैतन्यदेव की वदना की है। भक्तिरस का निरूपण अति दुर्गम है और अपने को अति अल्प—बुद्धि मानकर श्रीग्रन्थकार लिखते हैं कि हृदय में श्रीकृष्णचैतन्यदेव की ही प्रेरणा—कृपाशक्ति पाकर मैं इस ग्रन्थ की रचना में प्रवृत्त हो रहा हूँ।

यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि अति दुर्गम होने के कारण श्रीरूपगोस्वामिपाद से पहले कोई भी आचार्य काव्य—शास्त्र में भक्ति को रस रूप में प्रतिष्ठित नहीं कर सका। इसलिए इन्हें ''आदि भक्तिरस—प्रतिष्ठाचार्य'' माना गया है। राधाप्रेयान् महाकरुणामय स्वयं श्रीकृष्ण ही स्वभक्ति—सम्पति को भजन—गन्धहीन त्रितापतप्त जीवों को प्रदान करने के लिए श्रीकृष्णचैतन्यरूप में अवतीर्ण हुए। उन्होंने स्वयं भक्ति का आचरण करके जीवों को भक्तिरस का आस्वादन कराया एवं स्वयं भी महाभावमयी श्रीराधा की कान्ति एवं भाव को अंगीकार कर राधाप्रणय—माधुरी का आस्वादन किया। उन्होंने श्रीरूपगोस्वामी में अपनी कृपा—शक्ति का सञ्चार कर इन्हें भक्ति को रसरूप में प्रतिष्ठित करने की सामर्थ्य प्रदान की। इसीलिए यह महाकाव्य यद्यपि श्रीरूपगोस्वामिपाद की रचना है, किन्तु इसकी स्फूर्ति प्रदान करने वाले हैं राधाभावद्युति—सुवलित स्वयं व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचैतन्यदेव।

श्रीगोस्वामिपाद ने दीनतावश अपने को वराक—अति अल्पबुद्धि कहा है, परन्तु सरस्वतीदेवी यह बात सहन नहीं करती हैं। वह कहती हैं—***वरं श्रेष्ठम् आ सम्यक् कायते शब्दायते इति वराकः।।***—जो सर्वश्रेष्ठ वस्तु को सम्यक् प्रकार से शब्द—शास्त्र में ग्रथित कर सकता है, वह 'वराक' है। श्रीगोस्वामिपाद ने सर्वश्रेष्ठतम कृष्णभक्तिरस को शब्द—काव्यशास्त्र में ग्रथित कर अपूर्व कार्य सम्पन्न किया है। अतः वे सरस्वतीदेवी के द्वारा इस प्रकार स्तुति योग्य हैं।।२।।

३—विश्राममन्दिरतया तस्य सनातनतनोर्मदीशस्य।
भक्तिरसामृतसिन्धुर्भवतु सदाऽयं प्रमोदाय।।३।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*अथ निजेष्टदेवावतारत्वेन निजगुरुं स्तुवन् प्रार्थयते, विश्रामेति। भक्तिरसरूपस्यामृतस्य सिन्धुरिवेति तन्नामायं ग्रन्थस्तस्य श्रीकृष्णाख्यस्य मदीशस्य सदा स्वेनैव रूपेण स्थितस्यैव प्रकाशित—नानारूप—तनोर्षा सनातननाम्नी तनुस्तस्या विश्राममन्दिरतया तत्तुल्यतयाकारेणेत्यर्थः अन्यस्या अपि नारायणाख्यायाः सदा—प्रसिद्ध—समानार्थ—सनातनतनोः सिन्धुर्विश्राममन्दिरं भवतीति।।३।।*

● ***अनुवाद*—उन सनातन—स्वरूप मेरे प्रभु (श्रीकृष्ण अथवा श्रीकृष्ण—चैतन्यदेव) का विश्राम—मन्दिर होने से यह भक्तिरसामृतसिन्धु ग्रन्थ उनको सदा आनन्द प्रदान करने वाला हो।।३।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—इस श्लोक के द्वारा भी श्रीगोस्वामिपाद ने गुरु—वन्दना की है। किन्तु गुरु—शब्द अथवा उनके नाम का यहाँ स्पष्ट उल्लेख नहीं प्रतीत होता। 'मदीश'—शब्द से मेरे प्रभु अर्थात् श्रीकृष्ण ज्ञात होते हैं, जो सनातन रूप अर्थात् नित्य—स्वरूप हैं। श्रीकृष्ण (श्रीविष्णु) का विश्राम—मन्दिर है क्षीर—समुद्र; वे उसमें सदा शयन करते हैं। यह ग्रन्थ भी भक्तिरस—अमृतसिन्धु है,

अतः उनका विश्राम–स्थल होने के कारण उनको आनन्द प्रदान करने वाला हो।

परन्तु श्रीकृष्ण के अभिन्न–स्वरूप श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु ही श्रीरूपगोस्वामि के 'मदीश'–शब्द के वाच्य हैं और इसी अर्थ में विशेष महत्त्व भी है। उसी प्रकार 'सनातनतनोः'–शब्द का नित्यस्वरूप अर्थ ही अभिप्रेत है जो महत्त्वपूर्ण है। अतः उपर्युक्त साधारण अर्थ से निम्नलिखित अर्थ अधिक महत्त्वपूर्ण है एवं ग्रन्थकार का हार्द्द भी–

मेरे प्रभु श्रीकृष्ण अनेक विग्रहों में प्रकाशित हैं, उनमें जो सनातन–नामक तनु है अर्थात् जो श्रीसनातन गोस्वामिपाद हैं, उनके विश्राम–धाम के रूप में यह श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु सदा आनन्द प्रदान करने वाला हो।

इस प्रकार ग्रन्थकार ने श्रीकृष्ण के अभिन्न–स्वरूप श्रीकृष्णचैतन्यदेव की वन्दना के साथ–साथ गुरु–स्थानीय अपने बड़े भाई श्रीसनातन गोस्वामी की भी वन्दना की है। प्रथम श्लोक में जैसे ग्रन्थकार ने 'श्रीकृष्ण'–शब्द का उल्लेख न कर 'विधु'–शब्द का प्रयोग किया, उसी प्रकार इस श्लोक में अपने गुरुदेव श्रीकृष्णचैतन्यदेव को 'मदीश' और अपने बड़े भाई श्रीसनातन को 'सनातन–तनु' कहकर श्लिष्ट–रूपक से गुरुवन्दनात्मक मंगलाचरण किया है।।३।।

अगले श्लोक में भी पूर्ववत् श्लिष्ट–रूपक में ग्रन्थकार भक्तों की वन्दना करते हैं–

४–भक्तिरसामृतसिन्धौ चरतः परिभूतकालजालभियः।
भक्तमकरानशीलितमुक्ति–नदीकान्नमस्यामि।।४।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*तदेवं नामग्राहं तं वन्दित्वा स्वाभीष्टनन्यानपि सामान्यतः सद्भक्तान् वन्दते–भक्तिरसेति। भक्ता एव मकरा मीनराजाख्या जलचरास्तान्नमस्यामि, मकरत्वेन रूपके सादृश्यत्रयमाह–भक्तिरस एवामृतसिन्धु–र्नानाविधमुक्तिनदीनामाश्रयः परमपरमानन्दतस्मिन् चरतो विहरतोऽतो न शीलिता नादृता मुक्तिरेव नदी तद्रूपतया निरूपितं जन्ममरणादिबन्धच्छेदकमप्यन–वच्छिन्नप्रवाहमपि ब्रह्मकैवल्यादिसुखं यैस्तान्; अनादृत्येत्येव वा पाठः। अतएव परिभूतं जन्ममरणादिबन्धदुःख–परम्पराहेतोः कालरूपाज्जालाद्भयं यैस्तान्, सालोक्य–सार्ष्टि–सारूप्येत्यादेः मत्सेवया प्रतीतन्तु इत्यादेश्च।।४।।*

भक्त-वन्दना–

● *अनुवाद*–भक्तिरस रूप अमृत के सिन्धु में जो विहार करने वाले हैं, मृत्यु–पाश के भय से जो निवृत्त हो चुके हैं तथा मुक्तिरूप नदियों का भी जिन्होंने अनादर कर दिया है, उन भक्तरूप–मकरों की मैं वन्दना करता हूँ।।४।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–सागर में मगरमच्छ विचरण करते हैं, जिन्हें जाल में फँसने का कोई भय नहीं रहता। उसी तरह इस भक्तिरसामृतसिन्धु में सदा भक्तजन विचरण करते हैं और उन्हें जन्म–मरण रूप संसार–जाल में फँसने का कोई भय नहीं रहता। सागर में अनेक नदियाँ आकर मिलती हैं परन्तु मगर किसी भी नदी की ओर आकृष्ट नहीं होता। इसी प्रकार भक्तिरसामृतसिन्धु में

आकर मिलने वाली सालोक्य, सार्ष्टि, सारूप्य, सामीप्य एवं सायुज्य मुक्तियों में भक्तजन कभी आकृष्ट नहीं होते, उनका सदा निरादर करते हैं। जैसाकि श्रीमद्भागवत (९–४–६७) का कथन है–

मत्सेवया प्रतीतं ते सालोक्यादिचतुष्टयम्।
नेच्छन्ति सेवयापूर्णाः कुतोऽन्यत् कालविप्लुतम्।।

मेरे भक्त मेरी सेवा के सुख से पूर्ण होते हैं, उन्हें कोई भी कामना नहीं होती। वे सालोक्यादि चार प्रकार की मुक्तियों को भी नहीं चाहते, फिर काल के गाल में पड़कर नष्ट होने वाली वस्तुओं की तो बात ही क्या है ?

यहाँ पाँच प्रकार की मुक्तियों में से केवल चार की बात कही है। सायुज्य मुक्ति को नहीं गिनाया गया, क्योंकि कोई–कोई भक्त सालोक्य, सार्ष्टि, सारूप्य एवं सामीप्य–इन चार प्रकार की मुक्तियों को सेवा–द्वाररूप में ग्रहण कर भी लेते हैं, परन्तु सायुज्य को तो भक्त कभी भी नहीं ग्रहण करते। अतः सायुज्य का नाम नहीं गिनाया है।

इस प्रकार जन्म–मरण के भय से अभय एवं मुक्ति–कामना रहित भक्तों की यहाँ वन्दना की गई है, जो भक्तिरसामृतसिन्धु में सदा विचरण करते हैं।

अब अगले श्लोक में श्रीरूपगोस्वामी कर्म एवं ज्ञान मार्गों का निराकरण कर भक्तिमार्ग की स्थापना के लिए सनातन–स्वरूप श्रीकृष्ण से अथवा श्रीसनातन गोस्वामिपाद से प्रार्थना करते हैं।।४।।

५–मीमांसकवडवाऽग्नेः कठिनामपि कुण्ठयन्नसौ जिह्वाम्।
स्फुरतु सनातन ! सुचिरं तव भक्तिरसामृताम्भोधिः।।५।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*अथ निजग्रन्थस्य विरोधिकृतपराभवाभावकरीं सदा स्फूर्तिं श्रीगुरुचरणान् प्रार्थयते–मीमांसकेति। मीमांसको द्विविधः कर्मज्ञानविचारभेदेन, वडवाऽग्नेर्जिह्वा ज्वाला तद्भेदेनैवाग्नेः सप्तजिह्वत्वेन प्रसिद्धेः। तां यथा कुण्ठयन्नम्भो–धिर्वर्त्तते तथाऽयमपि मीमांसकानां वचनशक्तिमित्यर्थः। तत्कुण्ठनातिशयविवक्षायामेव तात्पर्यात्। उभयत्रापि तदीयरसस्वाभाव्यादिति भावः। अथवाऽन्याम्भोधितो विलक्षणत्वमत्रोक्तं। तदेवमेतत्पद्यत्रयेण सिन्धुरूपकत्वं त्रिधापि स्थापितं। सिन्धावन्यत्र वडवाऽग्नेः स्वाभाविकी स्थितिरत्र तु मीमांसकस्य यथा कथंचिदागन्तुकी स्यादित्याशंक्य तदेव प्रार्थितम्।।५।।*

कर्म–ज्ञान साधन का निराकरण–

● *अनुवाद*–**हे सनातन ! मीमांसक रूप वडवाग्नि की प्रखर जिह्वा को कुण्ठित करने वाला आपका यह भक्तिरसामृतसिन्धु सदा स्फुरित-प्रकाशित होता रहे।।५।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–इस श्लोक में श्रीगोस्वामीजी ने अपने ग्रन्थ श्रीश्रीभक्तिरसामृतसिन्धु के विरोधियों को पराभूत करने वाली नित्य स्फूर्ति के लिए गुरुवर्ग से प्रार्थना की है।

समुद्र में वडवा अग्नि रहता है, किन्तु समुद्र उसे सदैव शमन करता रहता

है—उसके प्रभाव को नष्ट कर देता है। यहाँ श्रीग्रंथकार मीमांसकों में वडवाग्नि का आरोप कर उनको सदा भक्तिरसामृतसिन्धु द्वारा पराभूत—निरस्त करने की प्रार्थना करते हैं श्रीसनातन गोस्वामी के चरणों में।

मीमांसा, सांख्य, न्याय, वैशेषिक, पातञ्जल, योग एवं वेदान्त, इन छः दर्शनों में मीमांसा दर्शन के दो भाग हैं। पूर्व मीमांसा और उत्तर—मीमांसा। पूर्व मीमांसा में कर्मकाण्ड का मुख्य रूप से प्रतिपादन किया गया है। उत्तर मीमांसा मुख्य रूप से ज्ञान मार्ग का प्रतिपादन करता है। पूर्वमीमांसा कर्म को और उत्तर मीमांसा ज्ञान को मुक्ति का मुख्य साधन मानता है।

श्रीरूपगोस्वामी ने भक्ति—पद के द्वारा कर्म और ज्ञान दोनों मार्गों का निराकरण किया है। भारतीय संस्कृति एवं धर्म विषयक साहित्य में सदा से श्रीमद्भगवद्गीता, उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र—इस प्रस्थानत्रयी का तथा इतिहास (श्रीमहाभारत) एवं पुराणों का प्रामाणिक स्थान रहा है। ग्रन्थकार ने इन शास्त्रों के आधार पर भक्ति की सर्वोत्कर्षता, सर्व साधन—वरीयता अपने ग्रन्थ में प्रतिपादन कर कर्म एवं ज्ञान मार्गों की तर्क—वितर्कों को निर्मूल कर दिया है, अर्थात् सागर जैसे वडवानल को निरस्त कर देता है, उसी प्रकार भक्तिरसामृतसिन्धु कर्म एवं ज्ञान मार्ग के प्रतिपादक मीमांसकों को निरुत्तर कर देता है।।५।।

यद्यपि भारतीय साहित्य में भक्तिसिद्धान्तों का चिरकाल से प्रतिपादन होता चला आ रहा था, किन्तु भक्ति के जिस उज्ज्वल स्वरूप का श्रीरूप ने प्रतिष्ठापन किया है और जैसे भक्ति को रसरूप में प्रतिष्ठित किया है, इनसे पूर्व कोई भी धर्माचार्य वैसा नहीं कर पाया। इस तथ्य को अति नम्रता पूर्वक श्रीरूप गोस्वामी अगले श्लोक में प्रदर्शित करते हैं—

६—भक्तिरसस्य प्रस्तुतिरखिल—जगन्मंगलप्रसंगस्य।
अज्ञेनापि मयाऽस्य क्रियते सुहृदां प्रमोदाय।।६।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*मम पुनरनुकूलानां प्रतिकूलानाञ्च पण्डितानां समाधाने न शक्तिः, किंत्वेतदर्थमेवेदं क्रियत इत्याह—भक्तिरसस्येति। अज्ञेनेति। पूर्ववद्दैन्येऽपि न विद्यते ज्ञो यस्मात्तेनेति ज्ञेयम्। अपिरत्र स्वतः प्रयोजनाभावं व्यञ्जयति।।६।।*

ग्रन्थ—प्रस्तावना—

● ***अनुवाद*—अल्पज्ञ होते हुए भी सुहृदजनों—भक्तिमार्ग के अनुयायी सज्जन पुरुषों के प्रमोद के लिए, समस्त जगत् का मंगल विधान करने वाले श्रीकृष्ण—विषयक भक्तिरस को मैं (भक्तिरसामृतसिन्धु में) प्रस्तुत करता हूँ।।६।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—श्रीग्रन्थकार का कहना है कि अनुकूल और प्रतिकूल मतावलम्बी विद्वानों के वाद—विवाद या सब प्रश्नों के समाधान के लिए इस ग्रन्थ की मैं रचना नहीं कर रहा हूँ। निखिलविश्व के मंगल स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण का प्रसंग इसमें वर्णित है एवं उनकी प्राप्ति के मुख्यतम उपाय भक्तिरस का विवेचन इसमें मैं प्रस्तुत कर रहा हूँ। केवल सुहृदय, सुधीजनों की प्रसन्नता के लिए ही मेरा यह प्रयास है।

ग्रन्थकार ने अपने को 'अज्ञ', कुछ न जानने वाला कहकर यहाँ अपनी दीनता प्रकट की है किन्तु श्रीजीवगोस्वामी 'अज्ञ' शब्द का अर्थ इस प्रकार करते हैं–जानातीति ज्ञः, न विद्यते ज्ञो यस्मात् सो अज्ञः।। विद्वान को 'ज्ञ' कहते हैं और जिससे अधिक कोई विद्वान न हो वह 'अज्ञ' है। उक्त अर्थ ही युक्त है क्योंकि वास्तव में भक्तिरस के प्रस्थापन में श्रीरूप गोस्वामी से बढ़कर और कोई विद्वान् नहीं हुआ, न होगा।।६।।

अगले श्लोकों में ग्रन्थ के विभागों का उल्लेख करते हैं–

७–एतस्य भगवद्भक्तिरसामृतपयोनिधेः।
चत्वारः खलु वक्ष्यन्ते भागाः पूर्वादयः क्रमात्।।७।।
८–तत्र पूर्वे विभागेऽस्मिन् भक्तिभेदनिरूपके।
अनुक्रमेण वक्तव्यं लहरीणां चतुष्टयम्।।८।।
९–आद्या सामान्यभक्त्याढ्या द्वितीया साधनांकिता।
भावाश्रिता तृतीया चतुर्था प्रेमनिरूपिका।।९।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*अथ ग्रन्थमारब्धुं तत्परिटीं दर्शयति–एतस्येति चतुर्भिः।।७।।*

● ***अनुवाद*–इस भगवद्–भक्तिरसामृतसिन्धु के क्रम से १. पूर्व, २. दक्षिण, ३. पश्चिम एवं ४. उत्तर–ये चार विभाग किए जायेंगे।।७।। उन चारों विभागों में से भक्ति के भेदों का निरूपण करने वाले इस 'पूर्व–विभाग' में क्रम से निम्नलिखित चार 'लहरियाँ' वर्णन की जाएँगी।।८।। पहली लहरी "सामान्य–भक्ति" युक्त होगी। दूसरी 'साधन–नामक या साधनभक्तियुक्त' तीसरी 'भावाश्रित या भाव–भक्ति' युक्त और चौथी "प्रेमनिरूपिका" या प्रेम–भक्तियुक्त होगी।।९।।**

१०–तत्रादौ सुष्ठु वैशिष्ट्यमस्याः कथयितुं स्फुटम्।
लक्षणं क्रियते भक्तेरुत्तमायाः सतां मतम्।।१०।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*तत्रादाविति। तत्र पूर्वविभागगतप्रथमलहर्य्याम्, आदौ प्रथमत, एवोत्तमायाः भक्तेर्लक्षणं क्रियते, प्रतिपाद्यत्वेन विधीयते, न तु सर्वात्मिकायाः। तत्र हेतुः–सुष्ठु वैशिष्ट्यं कथयितुमिति। अन्यत्रान्याभिलाषज्ञानकर्माद्यावृतत्वेना–पूर्णबलत्वात्, एतदंशत एवास्यास्तादृशत्वव्यक्तेः, (भा० ५–१८–१२) 'यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिंचने' त्यादेश्च।।१०।।*

● ***अनुवाद*–उनमें सर्वप्रथम इस भक्ति की विशेषताओं को अच्छी तरह से प्रतिपादन करने के लिए भक्तितत्त्वज्ञ पुरुषों के मतानुसार उत्तमा–भक्ति का लक्षण वर्णन किया जाता है।।१०।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–ग्रन्थकार जिस भक्ति का निरूपण करना चाहते हैं, वह अपना एक वैशिष्ट्य रखती है, श्रीमद्भागवत (५–१८–१२) में उसका निरूपण किया गया है–

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिंचना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा मनोरथेनासति धावतो बहिः।।

श्रीभगवान् में जिसकी अकिंचना भक्ति होती है, उसमें समस्त गुणों सहित

आकर देवता (गरुड़, नारद, हनुमान) निवास करते हैं। भगवान् के अभक्त में भला महद्गुण कैसे आ सकते हैं, वह मनोकामनाओं के पीछे–पीछे बहिर्मुख होकर भटकता रहता है। वह भक्ति अकिंचना है, उसमें कृष्ण–प्रीति सम्पादन की ही एकमात्र उत्कट इच्छा है। अपने सुख के लिए अथवा अपने दुःख की निवृत्ति के लिए कोई भी मनोरथ नहीं है। कर्म, ज्ञान एवं योग का उसमें मिश्रण नहीं है। उसके लक्षण अगले श्लोक में वर्णन करते हैं।।१०।।

११–अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा।।११।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*अथ तस्या लक्षणं वदन्नेव ग्रन्थमारभते–अन्येति। अनुशीलनमत्र क्रियाशब्दबद्धात्वर्थमात्रमुच्यते, धात्वर्थश्च द्विविधः, प्रवृत्ति–निवृत्त्यात्मकः कायवाङ्मानसीयस्तत्तच्चेष्टारूपः, प्रीतिविषादात्मको मानसस्तत्तद्भावरूपश्च। सत्त्वासत्त्वे तु परस्परमुपमर्दितत्वाच्चेष्टान्तर्गते एव। तदेवं सति कृष्णसम्बन्धि कृष्णार्थंवाऽनुशीलनं कृष्णानुशील नमिति। तत्सम्बन्धमात्रस्य तादर्थ्य वा विवक्षितत्वाद्गुरुपादाश्रयादौ, भावरूपस्यापि क्रोडीकृतत्वात् स्थायिनि व्यभिचारिषु च भावेषु नाव्याप्तिः, एतच्च कृष्णतद्भक्तकृपयैव लभ्यं, श्रीभगवतः स्वरूपशक्तिवृत्ति–रूपमतोऽप्राकृतमपि कायादिवृत्तितादात्म्येनैवाविर्भूतमिति ज्ञेयम्। अग्रेतु स्पष्टीकरिष्यते (१।३।१)। कृष्णशब्दश्चात्र स्वयं भगवतः श्रीकृष्णस्य तद्रूपाणां चान्येषामपि ग्राहकः। तारतम्यञ्चाग्रे विवेचनीयं (२।१।२२०–२२४)। तत्र भक्तिमात्रत्वसिद्ध्यर्थं विशेषणमानु–कूल्येनेति, प्रातिकूल्ये भक्तित्वाप्रसिद्धेः, आनुकूल्यं चास्मिन्नुद्देश्याय श्रीकृष्णाय रोचमाना प्रवृत्तिः, प्रातिकूल्यं तु तद्विपरीतं ज्ञेयम्, तृतीया चेयं विशेषण एव, नतूपलक्षणे, ततश्च यथा शस्त्रिणः समानयेत्युक्ते शस्त्राणामपि समानयनं प्रसज्यते, तथानुकूल्यस्यापि भक्तित्वविधानं, नतु शस्त्रिणो भोजयेत्यत्र शस्त्राणामभोजन–वत्तदविधानम्।*

नन्वानुकूल्यं भक्तिरित्येवास्तां, ततश्च राजाऽयं गच्छतीत्यत्र राजपदेन तत्परिकराणां ग्रहणं स्यात् ? सत्यं, तथापि धात्वर्थभेदानां स्पष्टा प्रतिपत्तिर्न स्यादिति धात्वर्थमात्रग्रहणायानुशीलनपदमुपादीयते, अन्विति पदं चानुकूल्ये जाते मुहुरेव शीलनं स्यादित्यभिप्रायेण कृतं, तदेतत् स्वरूपलक्षणम्, उत्तमात्वसिद्ध्यर्थ–न्तु तटस्थलक्षणेन विशेषणद्वयम्, अन्याभिलाषिताशून्यमित्यादि। अत्रान्येति भकत्येकाभिलाषेण युक्तमित्यर्थः ज्ञानमत्र निर्भेद–ब्रह्मानुसन्धानं, न तु भजनीय–त्वानुसन्धानमपि, तस्यावश्यापेक्षणीयत्वात्, कर्म स्मृत्याद्युक्तं नित्यनैमित्तिकादि न तु भजनीयपरिचर्यादि तस्य तदनुशीलनरूपत्वात्, आदि–शब्देन वैराग्ययोग–संख्याभ्यासादयः। अत्र श्रीकृष्णानुशीलनं कृष्णभक्तिरिति वक्तव्ये भगवच्छास्त्रेषु केवलस्य च भक्तिशब्दस्य तत्रैव विश्रान्तिरित्यभिप्रायात्तथोक्तं, तथैव ह्यग्रिमवाक्यमिति।।११।।

भक्ति का लक्षण–

● ***अनुवाद*–अन्य कामनाओं से रहित, ज्ञान–कर्मादि से अनावृत तथा अनुकूल–भाव से श्रीकृष्ण का जो अनुशीलन है, वह 'उत्तमा–भक्ति' है।।११।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–उपर्युक्त श्लोक में उत्तमा–भक्ति के लक्षणों का वर्णन किया गया है। लक्षण दो प्रकार के होते हैं। एक–स्वरूप–लक्षण, दूसरा तटस्थ लक्षण। **'आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा'**–यह उत्तमा–भक्ति का स्वरूप–लक्षण है, क्योंकि इस अंश में भक्ति के स्वरूप का परिचय मिलता है, और **'अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्'**–यह उसका 'तटस्थ–लक्षण' है, क्योंकि इस अंश द्वारा भोग–मोक्षादि अभिलाषाओं से तथा ज्ञान–कर्मादि से भक्ति की पृथकता बताई गयी है। यह लक्षण भक्ति के स्वरूप के अन्तर्गत नहीं है।

अनुकूल–भाव से श्रीकृष्ण का अनुशीलन ही उत्तमा–भक्ति' है। अनुशीलन शब्द का साधारण अर्थ होता है–निरन्तर गम्भीररूप से अभ्यास करना। यहाँ अनुशीलन शब्द का अर्थ क्रिय–शब्द की भाँति धातु के अर्थ का प्रकाशक है। धातु का अर्थ 'चेष्टा' एवं 'भाव' भेद से दो प्रकार का होता है। चेष्टारूप अर्थ 'प्रवृत्ति' और 'निवृत्ति' भेद से दो प्रकार का है, फिर प्रवृत्तिरूप चेष्टा तथा निवृत्तिरूप चेष्टा–'कायिक' 'वाचिक' तथा 'मानसिक' तीन प्रकार की होती है। इस प्रकार भावरूप अर्थ भी 'प्रीति' और 'विषाद' भेद से दो प्रकार का होता है। प्रवृत्तिरूप चेष्टा का अर्थ है–किसी चेष्टा को शरीर, वाणी एवं मन से ग्रहण करना तथा निवृत्तिस्वरूप चेष्टा का अर्थ है–किसी चेष्टा को शरीर, वाणी एवं मन से त्याग करना। उदाहरण के रूप में, जैसे गच्छ (जाना) क्रिया का प्रयोग करने से किसी पहले स्थान को त्याग कर किसी दूसरे स्थान को ग्रहण करना समझा जाता है और उस जाने की क्रिया में प्रीति और विषादरूप भावों का उदय भी हुआ करता है। इसी प्रकार कृष्णानुशीलन का चेष्टारूप अर्थ यह होता है कि शरीर, वाणी एवं मन से होने वाली समस्त चेष्टाओं को श्रीकृष्ण के निमित्त ही ग्रहण करना एवं श्रीकृष्ण के सम्बन्ध से रहित समस्त कायिक, वाचिक एवं मानसिक चेष्टाओं का त्याग करना। कृष्णानुशीलन का भावरूप अर्थ है कृष्णानुशीलन में प्रीति–लक्षण विशिष्ट रति–प्रेमादि स्थायि–भावों का उदय होना तथा विषाद–उपलक्षण विशिष्ट निर्वेद–विषाद–दैन्यादि तैंतीस संचारी भावों का उदय होना।

कृष्णानुशीलन से श्रीकृष्ण सम्बन्धी वस्तु मात्र के अनुशीलन का तात्पर्य है अर्थात् उनके परिकर, धामादि समस्त का अनुशीलन ही अभिप्रेत है।

यह स्मरणीय है कि इस प्रकार का अनुशीलन श्रीकृष्ण तथा उनके भक्तों की कृपा से ही प्राप्त हो सकता है, क्योंकि यह अनुशीलन श्रीकृष्ण की स्वरूप शक्ति की वृत्ति–विशेष ही है। यही देहादि की वृत्तिरूप में साधकों में आविर्भूत हुआ करती है।

मूल श्लोक में कृष्ण–शब्द भगवत्स्वरूपमात्र का सूचक होते हुए भी यहाँ कृष्ण–शब्द स्वयं–भगवान् श्रीगोविन्द का वाचक है। ब्रह्मसंहिता (५–१) में कहा गया है–

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्।।

श्रीकृष्ण परम ईश्वर हैं, सच्चिदानन्द–विग्रह हैं, अनादि हैं, अथच सबके आदि हैं। वे गोविन्द हैं एवं सब कारणों के कारण हैं।

प्रतिकूल भावमय आचरण से भक्तित्व सिद्ध नहीं होता, इसलिए भक्ति के स्वरूप का निर्णय करते हुए श्रीरूप गोस्वामी ने 'कृष्णानुशीलन' को आनुकूल्यमय विशेषण दिया है। आनुकूल्य का तात्पर्य–**'आनुकूल्यञ्चास्मिन्नुद्देश्याय श्रीकृष्णाय रोचमाना प्रवृत्तिः।'** अर्थात् उद्देश्य–श्रीकृष्ण को प्रिय लगने वाली प्रवृत्ति से है, तथापि केवल ऐसा मान लेने पर अति व्याप्ति–दोष (लक्षण में लक्ष्य के अतिरिक्त अन्य वस्तु का भी समावेश) तथा अव्याप्ति–दोष (लक्षण का लक्ष्य पर घटित न होना) आ जाते हैं। क्योंकि असुरों के साथ युद्ध–रसास्वादन करना श्रीकृष्ण को रुचिकर होते हुए भी, असुरों में श्रीकृष्ण के प्रति द्वेषरूप प्रतिकूल भाव रहने के कारण उसे "भक्तिरस" नहीं माना जा सकता। और दूसरी ओर दामबन्धन लीला के आरम्भ में श्रीकृष्ण को त्याग कर उस समय उफनते हुए दूध को फैलने से बचाने के लिए माता–यशोदा का भागना श्रीकृष्ण का रुचिकर न होते हुए भी उसमें माता–यशोदा में प्रतिकूल भाव के न रहने के कारण भक्तिरस की पुष्टि मानी गई है। इसलिए आनुकूल्य–शब्द से प्रतिकूल भाव की अविद्यमानता का ही तात्पर्य है, अर्थात् जिसमें किंचित् भी प्रतिकूलभाव विद्यमान नहीं है, ऐसा कृष्ण–अनुशीलन ही 'उत्तमा–भक्ति' है।

इस 'उत्तमा–भक्ति' को दो गौण विशेषण दिये गये हैं–पहला अन्याभिलाषिता–शून्यं अर्थात् वह भक्ति उत्तम है जिसमें श्रीकृष्ण–सेवाकामना को छोड़कर और कोई भी कामना नहीं है, यहाँ तक कि श्रीकृष्ण–सेवा से उत्पन्न होने वाले अपने सुख की भी जहाँ गन्धमात्र नहीं है। मूल श्लोक में 'अभिलाष' शब्द का प्रयोग न कर 'अभिलाषिता'–शब्द का प्रयोग किया गया है। स्वभावार्थ प्रकाशित करने के लिए व्याकरण में 'इन्'–प्रत्यय का प्रयोग होता है। इसलिए अभिलाषा पद में अभिलाषयुक्त व्यक्ति के स्वभाव को लक्ष्य किया गया है अर्थात् भक्त में श्रीकृष्ण–अनुशीलन की जहाँ नित्य स्वाभाविक अभिलाषा है, जहाँ कभी भी उससे तृप्ति नहीं, और आलस्य नहीं है, वह 'उत्तमा–भक्ति' है। उत्तमा–भक्ति के आचरण में किसी समय यदि कोई भक्त अन्य प्रार्थना करता भी है, तो वह अस्वाभाविक ही होती है। जैसे यदि कोई भक्त मृत्यु का संकट उपस्थित होने पर श्रीकृष्ण से उस संकट से बचाने की प्रार्थना करता है तो वह उसकी स्वाभाविक नहीं होती अर्थात् स्वभावविपर्यय के कारण ही होती है। तात्पर्य यह है कि 'उत्तमा–भक्ति' में श्रीकृष्ण एवं श्रीकृष्णसेवा–कामना को छोड़ कर दूसरी कोई भी कामना नहीं रहती।

दूसरा विशेषण दिया गया है–'ज्ञानकर्माद्यनावृतम्' अर्थात् जो भक्ति ज्ञान–कर्म आदि से आवृत–ढकी हुई या मिश्रित नहीं है, वही 'उत्तमा–भक्ति' है।

ज्ञान के तीन अंग माने गये हैं। १–तत्पदार्थ का ज्ञान; अर्थात् परतत्व या भगवत् तत्त्व का ज्ञान अर्थात् श्रीकृष्ण परतत्त्व वस्तु हैं। वे अद्वयज्ञान परब्रह्म तत्त्व हैं, सर्वकारण, समस्त ऐश्वर्य–माधुर्यगुणों के निधान हैं, सविशेष, सगुण

सच्चिदानन्दमय–विग्रह परम करुणामय हैं, समस्त वेदशास्त्रों के प्रतिपाद्य हैं, सबके नियन्ता सर्वाश्रय, सर्वप्रभु, सर्वदर्शी स्वयं भगवान् एवं उपास्य–तत्त्व हैं इत्यादि–इस प्रकार का ज्ञान।

२–त्वं पदार्थ का ज्ञान;–जीव के स्वरूप का ज्ञान और जीव एवं ब्रह्म के सम्बन्ध का ज्ञान। जीव स्वरूप के ज्ञान का तात्पर्य है कि जीव परतत्त्व–श्रीकृष्ण की चित्‌रूपा तटस्था–शक्ति है, उनका विभिन्नांश, भेदाभेद प्रकाशरूप है। जीव ज्ञान–स्वरूप एवं ज्ञाता है। उसमें कर्तृत्व है, वह अणुचित है, उसमें अणुस्वातन्त्र्य है। वह स्वरूपतः परतत्त्व श्रीकृष्ण का नित्यदास है, उनके द्वारा नियन्त्रित है एवं उसका नित्य पृथक् अस्तित्व है, इत्यादि।

जीव का परतत्त्व श्रीकृष्ण के साथ शक्ति एवं शक्तिमान के सम्बन्ध की भाँति नित्य अचिंत्य भेदाभेद सम्बन्ध है। उनका अंश होने के कारण अथच उनकी सेवा उसका स्वरूपानुबन्धि धर्म होने के कारण श्रीकृष्ण के साथ जीव का नित्य सेव्य–सेवक सम्बन्ध है, इस प्रकार का ज्ञान।

३–जीव ब्रह्म का ऐक्य;–ज्ञान; जीव और ब्रह्म में कोई भेद नहीं है, जीव ब्रह्म ही है। जीव का कुछ पृथक् अस्तित्व नहीं है, ऐसा ज्ञान।

उपर्युक्त ज्ञान के तीन अंगों में मूल श्लोक में प्रयोग किये गये 'ज्ञान' शब्द का तात्पर्य पहले दो अंगों से नहीं है, क्योंकि भजनीय वस्तु परतत्त्व का स्वरूप–ज्ञान तथा जीव को अपने स्वरूप का ज्ञान तथा परतत्त्व से अपने सम्बन्ध (सेव्य–सेवक) का ज्ञान होना या अनुसन्धान होना आवश्यक है। यह ठीक है कि इस प्रकार के ज्ञान की आवश्यकता भक्ति में प्रवेश करने की पूर्व अवस्था में ही रहती है। भक्ति में प्रवेश हो जाने पर या सेव्य–सेवक सम्बन्ध की सम्यक् स्फूर्ति हो उठने पर जीव, ब्रह्म आदि की तत्त्वालोचना का कुछ प्रयोजन नहीं रह जाता। अतः इस प्रकार की ज्ञानमिश्रा–भक्ति को भी बाह्य कहकर प्रतिपादन किया गया है। यहाँ ज्ञान शब्द के तीसरे अंग अर्थात् जीव–ब्रह्मैक्य ज्ञान से ही तात्पर्य है, क्योंकि यह ज्ञान भक्ति का नितान्त विरोधी है। जीव–ब्रह्म के ऐक्य–ज्ञान में जीव–ब्रह्म के स्वरूपगत सन्बन्ध अर्थात् सेवक–सेव्य सम्बन्ध की स्फूर्ति नहीं हो सकती, सेवक–सेव्य भाव ही भक्ति का प्राण है। अतः इस ज्ञान से अनावृत विशुद्ध भक्ति को ही 'उत्तमा–भक्ति' कहा गया है।

'कर्म' से यहाँ स्मार्त्त नित्य–नैमित्तिक अर्थात् स्मृतियों में वर्णित यज्ञ हवन, दान–व्रतादि कर्मों का तात्पर्य है। इन कर्मों के द्वारा इस लोक में अथवा परलोक स्वर्गादि में जाकर अनित्य भोग–सुखों की प्राप्ति हो सकती है, इनसे संसार–बन्धन की निवृत्ति नहीं होती, भक्ति की प्राप्ति की बात तो दूर रही। विशेषतः अपने मन–इन्द्रियों के सुखभोगों को प्राप्त करने की इच्छा मात्र ही कर्मों की प्रवर्तक है। अतः कर्मों में भक्ति का स्वरूपलक्षण श्रीकृष्णानुशीलन कहाँ रह जाता है ? उसका आभास मात्र ही नहीं। परन्तु श्रीकृष्णसेवा–सम्बन्धी जो परिचर्यादि हैं, उनकी गणना कर्मों में नहीं की जा सकती। उन्हें शास्त्रों में भक्ति के अंग या

साधनरूप में ही ग्रहण किया गया है। उनका पालन करना तो भक्तों के लिए अपरिहार्य—परम कर्तव्य ही है। जैसा कि—श्रीनारदपंचरात्र में कहा गया है—

देवर्षे विहिता शास्त्रैर्हरिमुद्दिश्य या क्रिया।
सैव भक्तिरिति प्रोक्ता तया भक्तिः पराभवेत्।।

हे देवर्षि ! शास्त्रों में श्रीकृष्ण के उद्देश्य से जो क्रिया विधान की गई है, वह भक्ति ही है, उसके आचरण करने से परा—भक्ति की प्राप्ति होती है।

मूल श्लोक में श्रीरूपगोस्वामी ने ज्ञान तथा कर्म के साथ आदि शब्द और जोड़ दिया है। आदि शब्द का तात्पर्य यहाँ विषय—वैराग्य, आत्म—अनात्म—विचाररूप सांख्य एवं पातंजलि के अष्टांग योग—अभ्यास से है, क्योंकि वे सब भक्ति से बाहर की वस्तुएँ हैं। अवश्य युक्त—वैराग्य अर्थात् अनात्म पदार्थों से वैराग्य भक्ति अनुसन्धान में सहायक होता है किन्तु भगवत् सेवा की उपयुक्त वस्तुओं से वैराग्य का होना सेवा या भक्ति में बाधक ही हुआ करता है।

अनावृत्त शब्द का तात्पर्य यह है कि जिस भक्ति में ज्ञान—कर्म—योगादि का मिश्रण नहीं है, वही उत्तमा—भक्ति या स्वरूप—सिद्धाभक्ति है। शास्त्रों में कहे हुए 'नित्य—कर्म' ज्ञानादि के किए बिना पाप होगा'—इस भय से श्रद्धापूर्वक जो कर्म—ज्ञानादिक में प्रवृत्ति है, अथवा उन्हें भक्ति का साधन—स्वरूप जानकर उनमें श्रद्धापूर्वक जो प्रवृत्ति है, यह एक आवरण है। इन दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों से रहित होकर जो भक्ति का आचरण है, वह भक्ति ही अनावृत कही गई है।

सारांश यह है कि भुक्ति, मुक्ति इत्यादि अन्य समस्त अभिलाषाओं से रहित होकर ज्ञान या निर्भेद—ब्रह्मानुसंधान और स्मृति—शास्त्रोक्त नित्य—नैमित्तिक कर्मों तथा वैराग्य—योग, सांख्यादि के अभ्यास से रहित होकर प्रतिकूल भावों का परित्याग करते हुए स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण की रुचि अनुसार या उनकी प्रसन्नता विधान करते हुए मन से, वाणी से एवं शरीर से होने वाली समस्त चेष्टाओं या क्रियाओं का करना ही "उत्तमा या विशुद्ध भक्ति" कहलाती है।

भक्ति के उक्त लक्षण के समर्थन में श्रीनारदपंचरात्र का एक श्लोक उद्धृत करते हैं—

यथा नारदपंचरात्रे—

१—सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।
हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते।।१२।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*तत्परत्वेनानुकूल्येन, सर्वेत्यन्याभिलाषिताशून्यं, सेवनमनुशीलनं, निर्मलं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्। अत उत्तमत्वं स्वत एवोक्तम्।।१२।।*

● **_अनुवाद_—सब प्रकार की उपाधियों (फल—कामनाओं) से रहित, तन्मयता से अनुकूल—भाव से, निर्मल (ज्ञान—कर्म आदि के मिश्रण से रहित) सब इन्द्रियों (देह एवं अन्तःकरण) से श्रीकृष्ण का जो सेवन (अनुशीलन) है, उसे 'भक्ति' कहते हैं।।१२।।**

श्रीभागवतस्य तृतीयस्कन्धे च (३।२९।१२–१४)–

२–अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे।।१३।।
३–सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः।।१४।।
४–स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः।।१५।।इति।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*अहैतुकीति अत्राहैतुकीति अन्याभिलाषिताशून्या, अव्यवहिता ज्ञानकर्माद्यनावृता, भक्तिः भावरूपा, तथाप्येतदव्यभिचारिणी क्रियारूपोऽपि लक्ष्यते।।१३।।*

अहैतुकीत्वमेव विशेषेण दर्शयति–सालोक्येति। यस्यामिति शेषः। आत्यन्तिकः परमपुरुषार्थः।।१४–१५।।

● ***अनुवाद*–श्रीभागवत (३।२९।१२–१४) में भी कहा गया है–भगवान् श्रीकृष्ण में अहैतुकी (अन्याभिलाषिताशून्य) एवं अव्यवहिता (ज्ञान–कर्म आदि से अनावृत) जो भक्ति है, उसको प्राप्त करने वाले भक्तजन सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य सारूप्य, तथा एकत्व (सायुज्य)–इन पाँच प्रकार की मुक्तियों को देने पर भी स्वीकार नहीं करते। वे केवल मेरी सेवा ही चाहते हैं।''–ऐसा भगवान् श्रीकपिलदेव ने कहा है। ऐसे भक्तियोग को ही निर्गुण या सर्वोत्कृष्ट कहा गया है।।१३–१५।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण में अहैतुकी एवं अव्यवहिता भक्ति को निर्गुण भक्ति–योग कहा गया है, जो सर्वोत्कृष्ट है। इस प्रकार की भक्ति के साधक केवल श्रीभगवान् की सर्वतोभाव से सेवा ही चाहते हैं। श्रीभगवान् के द्वारा पाँच प्रकार की मुक्तियाँ देने पर भी वे उनको ग्रहण नहीं करते। वे भगवत्–सेवा रूप परम पुरुषार्थ को प्राप्त कर पूर्णकाम होते हैं।

पाँच प्रकार की मुक्तियाँ इस प्रकार हैं–

सालोक्य–इस मुक्ति में भक्त एक अप्राकृत चिन्मय नित्यपार्षद देह प्राप्त कर श्रीभगवान् के लोक में निवास करता है। सार्ष्टि–श्रीभगवान् के समान ऐश्वर्य या गति को पार्षद्देह पूर्वक प्राप्त करता है। वस्तुतः श्रीभगवान् के समान ऐश्वर्य की प्राप्ति नहीं होती, हो भी नहीं सकती। किन्तु अणिमादि ऐश्वर्य की प्राप्ति, स्वच्छन्द गति, भगवदंश रूप ब्रह्मादि देवताओं का आधिपत्य, वह भी आंशिकरूप में प्राप्त होता है। सामीप्य–इसमें भक्त नित्यपार्षद देह से सदा श्रीभगवान् के समीप रहता है। सारूप्य–इसमें भक्त को अपने उपास्य भगवत् स्वरूप के समान रूप प्राप्त होता है। द्विभुज अथवा चतुर्भुज, श्याम वर्ण अथवा गौर वर्ण, उपास्य–स्वरूप का जैसा वर्ण एवं आकृति होती है, उसी प्रकार कर –चरणादि की संख्या और वर्ण आदि की समानता को प्राप्त करता है। परन्तु भगवत्–स्वरूप के समान सौन्दर्य–माधुर्यादि या सर्वजनचित्ताकर्षकता आदि को प्राप्त नहीं करता, न ही श्रीवत्स, कौस्तुभादि चिह्नों को। एकत्व या *सायुज्य*–परब्रह्म के किसी एक गुणातीत स्वरूप में प्रवेश कर जाने का नाम सायुज्य–मुक्ति है। किन्तु प्रवेश करने पर भी जीव का सूक्ष्म चित्कण रूप में नित्य पृथक् अस्तित्व रहता

है, जिससे वह ब्रह्मानन्द का उपभोग करता रहता है। किन्तु उस आनन्द आस्वादन में वह इतना विभोर या तन्मय हो जाता है कि उसे अपने अस्तित्व का अनुसन्धान तक नहीं रहता।

ये पाँच प्रकार की मुक्तियाँ हैं, जिन्हें अहैतुकी एवं अव्यवहिता भक्ति का साधक कभी ग्रहण नहीं करता क्योंकि उसका परम पुरुषार्थ या चरमतम साध्य वस्तु है श्रीकृष्ण–सेवा।।१३–१५।।

१२–सालोक्येत्यादिपद्यस्थभक्तोत्कर्षनिरूपणम्।
भक्तेर्विशुद्धताव्यक्त्या लक्षणे पर्यवस्यति।।१६।।

● *अनुवाद*–**उपर्युक्त सालोक्यादि श्लोक में भक्तों के उत्कर्ष का निरूपण किया गया है। (फिर भक्ति के लक्षणों में इसे क्यों उद्‌धृत किया गया है ?) इसमें भक्त की विशुद्ध (ज्ञान–कर्माद्यनावृता) भक्ति ही प्रकाशित हो रही है। अतः यह भी भक्ति के लक्षणरूप में पर्यवसित होता है।।१६।।**

१३–क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा।।१७।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*अथ वैशिष्ट्यं कथयितुमिति यदुक्तं तदेव संक्षिप्य दर्शयति–क्लेशघ्नीति।।१७।।*

● *अनुवाद*–**पूर्वोक्त भक्ति क्लेशों के नाश करने वाली तथा कल्याणों को प्रदान करने वाली है, मुक्ति को तुच्छ बना देने वाली एवं अतिशय कठिनता से प्राप्त होने वाली है, वह सान्द्रानन्द विशेषात्मा है अर्थात् असमोर्ध्व आनन्द से परिपूर्ण है और श्रीकृष्ण को अपनी ओर आकृष्ट करने वाली है।।१७।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–उत्तमा भक्ति की विशेषता को इस श्लोक में संक्षेप से वर्णन किया गया है। भक्ति को तीन प्रकारों में विभक्त किया जाता है। १–साधन–भक्ति, २–भाव–भक्ति एवं ३–प्रेम–भक्ति। ऊपर जो छः विशेषण कहे गये हैं, उनमें पहले दो विशेषण अर्थात् 'क्लेशघ्नी' तथा 'शुभदा' साधन–भक्ति के हैं। 'मोक्षलघुताकृत्' तथा 'सुदुर्लभा'–ये दो विशेषण भाव–भक्ति के हैं तथा 'सान्द्रानन्दविशेषात्मा' और 'श्रीकृष्णाकर्षिणी'–ये दो विशेषण प्रेम–भक्ति के हैं। साधन–भक्ति के द्वारा भाव–भक्ति उदित होती है और भाव–भक्ति गाढ़ होने पर प्रेम–भक्ति नाम धारण करती है। जैसे वायु के गुण 'शब्द' एवं स्पर्श अग्नि में भी रहते हैं एवं उसका अपना गुण 'रूप' भी उसमें रहता है। फिर अग्नि के गुण शब्द, स्पर्श एवं रूप–ये तीनों जल में रहते हैं तथा उसका अपना गुण 'रस' भी उसमें रहता है। जल के चारों गुण शब्द, स्पर्श, रूप एवं रस पृथ्वी में रहते हैं और पृथ्वी का अपना गुण 'गन्ध' भी उसमें रहता है। उसी प्रकार साधन–भक्ति के गुण 'क्लेशों को नाश करना' तथा 'कल्याणों को प्रदान करना' भाव–भक्ति में भी रहते हैं। इस प्रकार भाव–भक्ति में क्लशों का नाश करना, कल्याणों को प्रदान करना इन दो गुणों के साथ उसके अपने भी दो गुण–'अपने आनन्द से मुक्ति को तुच्छ करना' तथा 'अत्यन्त कठिनता से प्राप्त होना' ये चार गुण रहते हैं। फिर

भाव–भक्ति के चारों गुण प्रेम–भक्ति में रहते हैं और उसके अपने भी दो गुण–'सान्द्रानन्द विशेषात्मा' तथा 'श्रीकृष्णाकर्षिणी' उसमें रहते हैं। इस प्रकार उत्तरोत्तर पूर्व–पूर्व गुणों का आविर्भाव रहने से प्रेम–भक्ति में उपर्युक्त छओं गुण विद्यमान रहते हैं। इन गुणों का विशेष विवरण आगे सविस्तार किया जायेगा।।१७।।

तत्रास्याः क्लेशघ्नत्वम्–

१४–क्लेशास्तु पापं तद्बीजमविद्या चेति ते त्रिधा।।१८।।

तत्र पापम्–

१५–अप्रारब्धं भवेत् पापं प्रारब्धं चेति तद् द्विधा।।१६।।

क्लेशहारिणी–

***अनुवाद*–अब भक्ति के क्लेश–निवारकत्व का वर्णन करते हैं–क्लेश तीन प्रकार के होते हैं–१–पाप, २–पाप का बीज, ३–अविद्या। इनमें पाप दो प्रकार के हैं–१–अप्रारब्ध तथा २–प्रारब्ध।।१८–१६।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–पाप, पाप का बीज तथा अविद्या ये तीन प्रकार के 'क्लेश' है; पातंजल योग दर्शन में अविद्या, अस्मिता, राग द्वेष एवं अभिनिवेश इन पांचों को 'क्लेश' माना गया है। किन्तु श्रीगोस्वामीजी ने उपर्युक्त तीन ही माने हैं।

पाप–किसी जीव की हत्या चोरी, पर–स्त्रीगमन, झूँठ बोलना, दूसरे की अनिष्ट–चिन्ता, शराब पीना, माँस–अण्डे खाना आदि असत् कर्मों को, जो अपने शरीर और इन्द्रियों के लिए शरीर, मन तथा वाणी द्वारा किए जाते हैं, उन्हें शास्त्र में 'पाप' कहा गया है।

पाप का बीज–पाप करने की वासनाएँ जो चित्त में गुप्त रूप से रहती हैं, उन्हें 'पाप का बीज' कहते हैं।

अविद्या–अनित्य वस्तुओं को नित्य जानना, दुःख को सुख तथा देह इन्द्रियादि अनात्म वस्तुओं में आत्म–बुद्धि होने का नाम 'अविद्या' है।

पाप दो प्रकार के हैं–अप्रारब्ध तथा प्रारब्ध। **अप्रारब्ध पाप**–वे हैं जो अनेक जन्मों में किये हुए संचित रूप में जमा हैं और अप्रकाशित हैं अर्थात् जिनका फल भुगतना अभी आरम्भ नहीं हुआ।

प्रारब्ध–पाप–वे हैं, जो अनेक जन्मों के संचित पापों में से कुछ हैं और जिनका फल वर्तमान शरीर में भुगतना आरम्भ हो जाता है।।१८–१६।।

तत्र अप्रारब्धहरत्वं यथा एकादशे (११।१४।१६)

५–यथाग्निः सुसमृद्धार्चिःकरोत्येधांसि भस्मसात्।
तथा मद्विषया भक्तिरुद्धवैनांसि कृत्स्नशः।।२०।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*पाकाद्यर्थं प्रज्वालितोऽग्निर्यथा काष्ठानि भस्मीकरोति, तथा मद्विषया भक्तिर्यथात कथंचित् श्रवणादिलक्षणा समस्तानि पापानि दहतीति।।२०।।*

● *अनुवाद*–भक्ति अप्रारब्ध पापों को नाश करती है, इस विषय में श्रीभागवत (११।१४।१६) में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है–हे उद्धव ! जैसे प्रज्वलित अग्नि लकड़ियों को जलाकर राख कर देता है, उसी प्रकार मेरी (कृष्ण) भक्ति समस्त पापों को अर्थात् संचित पाप समुदाय को भी जला कर भस्म कर देती है। भक्ति से यहाँ श्रवण–कीर्तनादि लक्षणाभक्ति अभिप्रेत है।।२०।।

प्रारब्धहरत्वं यथा तृतीये (३।३३।६)–

६–यन्नामधेयश्रवणानुकीर्तनाद्यप्रह्वणाद्यत्स्मरणादपि क्वचित्।
श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते कुतः पुनस्ते भगवन्नु दर्शनात्।।२१।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*यन्नामेति। श्वादत्वमत्र श्वभक्षकजातिविशेषत्वमेव, श्वानमत्तीति निरुक्तौ वर्तमान–प्रयोगात् क्रव्यादवत्ताच्छीलत्वप्राप्तेः। कादाचित्कश्व–भक्षणप्रायश्चित्तविवक्षायां त्वतीतप्रयोगः क्रियेत, 'रूढिर्योगमपहरतीति' न्यायेन च तद्विरुध्येत। अतएव श्वपच इति तैः स्वामिचरणैर्व्याख्यातं, ततश्चास्य भगवन्नाम श्रवणाद्येकतरात् सद्य एव सवनयोग्यतायाः प्रतिकूलदुर्जातित्व – प्रारम्भ प्रारब्धपापनाशपूर्वकसवनयोग्यजातित्वजनकपुण्यलाभः प्रतिपद्यते। ब्राह्मणानां शौक्रे जन्मनिदुर्जातित्वाभावेऽपि सवनाय सुजातित्वजनकसावित्रजन्मापेक्षावत्, तस्माद् "भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवादि' इति (भा० ११।१४।२१) तु कैमुत्यार्थमेव प्रोक्तमित्यायाति।।२१।।*

● *अनुवाद*–भगवद् भक्ति प्रारब्ध पापों का भी नाश करती है–इस विषय में श्रीभागवत (३।३३।६) में देवहूति ने भगवान् श्रीकपिलदेव के प्रति कहा है–

हे भगवन् ! आपके नाम का श्रवण, कीर्तन करने से तथा कभी–कभी आपको नमस्कार करने या स्मरण करने से कुत्ते का मांस खाने वाला चाण्डाल भी जब तुरन्त सोम–यज्ञ करने वाले ब्राह्मण के समान पूजनीय हो सकता है, फिर आपके दर्शन करने वाला व्यक्ति कृतकृत्य हो जाता है, इसमें कहना ही क्या है ?।।२१।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–इस श्लोक में भगवद्भक्ति का प्रारब्ध–पाप नाशकत्व निरूपण किया गया है, अर्थात् जिस पाप का फल भुगतना आरम्भ हो गया है, उस पाप को भी भक्ति नाश कर देती है।

"श्वादत्व"से यहाँ कुत्ते के मांस खाने वाली एक जाति विशेष ही अभिप्रेत है; क्योंकि यहाँ वर्तमान काल का प्रयोग किया गया है। कुत्ते के मांस खाने के पाप का प्रायश्चित्त यदि यहाँ अभिप्रेत होता तो भूतकाल प्रयोग किया जाता। रूढ़ि योग का हरण करती है–इस न्यायानुसार प्रायश्चित की बात यहाँ कट जाती है। उस जाति का कोई व्यक्ति श्रीभगवान् के नाम श्रवण रूपी भक्ति से सोम–यज्ञ करने वाले ब्राह्मण के समान पूज्य बन जाता है; अर्थात् दुर्जाति–चाण्डाल जाति में उसका जो जन्म है, वह प्रारब्ध–पाप का ही फल है, वह दुर्जाति दोष नष्ट हो जाता है। चाण्डालता प्राप्त कराने वाला जो उसका प्रारब्ध–पाप है, उसका नष्ट होना ही सोमयज्ञ की योग्यता कही गई है न कि सवन–यज्ञ में

प्रवृत्ति की योग्यता, क्योंकि उसके लिए अन्यगुणों के साथ ब्राह्मण–शौक्रजन्म और सावित्र–दैक्ष जन्म की अपेक्षा रहती है। अतः सवनयाजी ब्राह्मण के समान पूज्यत्व ही यहाँ लक्षित है, न कि सावित्र–जन्म। (जन्मान्तर में ऐसा होना स्वीकार किया जा सकता है।) और दुर्जाति दोष रूप प्रारब्ध–पाप की निवृत्ति ही इस श्लोक द्वारा प्रतिपादित होती है।।२१।।

१६–दुर्जातिरेव सवनायोग्यत्वे कारणं मतम्।
दुर्जात्यारम्भकं पापं यत्स्यात्प्रारब्धमेव तत्।।२२।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*तस्माद् दुर्जातिरेवेत्यत्र सवनायोग्यत्वे कारणमिति तद्योग्यता प्रतिकूलपापमपीत्यर्थः, नतु तद्योग्यत्वाभावमात्रमपीति, ब्राह्मण–कुमाराणां शौक्रे जन्मानि दुर्जातित्वाभावेऽपि सवनयोग्यत्वाय पुण्यविशेषमयसावित्रजन्म–सापेक्षत्वात्, ततश्च सवनयोग्यत्वप्रतिकूलदुर्जात्यारम्भकं प्रारब्धमपि गतमेव, किन्तु शिष्टाचाराभावात् सावित्रं जन्म नास्तोति ब्राह्मणकुमाराणां सवनयोग्यत्वभावच्छेद–कपुण्यविशेषमयसावित्रजन्मापेक्षावदस्य जन्मान्तरापेक्षा वर्त्तत इति भावः। अतः प्रमाणवाक्येऽपि 'सवनाय कल्पते' सम्भावितो भवति, नतु तदैवाधिकारी स्यादित्याभिप्रेतं, व्याख्यातञ्च तैः सद्यः सवनाय सोमयागाय कल्पते। अनेन पूज्यत्वं लक्ष्यत इति, तदेवं दुर्जात्यारम्भकस्य पापस्य सद्योनाशे वचनादवगते दुःखारम्भकस्यापि नाशस्तु भक्त्यावृत्त्या सम्भावित इति सर्वप्रारब्धपाप– हारितायामिदमुदाहरणं युक्तमेव। यथोक्तं–*

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–ब्राह्मण–कुमारों का दुर्जातित्व न रहने पर भी जैसे जब तक वे सावित्र ग्रहण नहीं करते और उनका सावित्र–जन्म नहीं होता, वे भी सवन यज्ञ के अधिकारी नहीं बनते, उसी प्रकार चाण्डाल का सवनयोग्यता प्राप्त करने में जो बाधक है, वह दुर्जाति दोषरूप प्रारब्ध–पाप हरिनाम ग्रहण से तो दूर हो जाता है, फिर भी शिष्टाचार के अभाव के कारण उसका सावित्र–जन्म नहीं होता। इसलिए उस जन्म में वह हवन यज्ञ नहीं कर सकता। अवश्य अगले जन्म में उसे इस प्रकार का अधिकार भी संभव हो सकता है–ऐसा श्रीजीव गोस्वामी ने लिखा है।

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्ती का कहना है–भगवन्नाम ग्रहण करने से सवनयाग का अधिकार प्राप्त हो जाता है,, परन्तु यह आवश्यक नहीं कि वह सवन याग रूप कर्मकाण्ड में प्रवृत्त हो। शुद्ध भक्त भी तो कर्मकाण्ड में श्रद्धा नहीं रखते, प्रवृत्त नहीं होते। शुद्ध भक्त सदगृहस्थ लोक–संग्रह के लिए श्रद्धारहित होते हुए भी कर्म करते हैं, परन्तु शुद्धभक्त चाण्डाल यदि यज्ञ करने लगे तो भक्ति शास्त्र को न जानने वाले लोग उसकी निन्दा करेंगे एवं पाप के भागी होंगे। "सोमयज्ञकर्ता के समान वह चाण्डाल पूज्य हो जाता है"–यह अर्थ भी कष्ट कल्पना है और ग्रन्थ में भी असंगति आना आवश्यक है, क्योंकि सवन योग्यता ही तो प्रारब्ध का नाश होना है, पूज्य होना नहीं। चाण्डाल पूज्य होते हुए भी तो सोमयाग की योग्यता प्राप्त नहीं करते, ऐसा देखा जाता है।

भक्तगण जो नित्य भगवन्नाम ग्रहण करते हैं, उनका तो प्रारब्ध नाश हो जाता है, फिर उनको दुःख–सुख–क्यों होता है? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि

जो सुख उनको होता है, वह भक्ति का आनुषंगिक फल है, प्रारब्ध वश नहीं। और जो दुःख होता है, वह या तो वैष्णवापराधों के कारण होता है या फिर कहीं–कहीं श्रीभगवान् का ही दिया हुआ होता है। क्योंकि श्रीभागवत (१० ।८८ ।८) में श्रीभगवान् ने कहा है कि "जिसको मैं अपनाता हूँ, उसकी धीरे–धीरे धन–सम्पत्ति हरण कर लेता हूँ, जिससे उस अधनी को बन्धु–बान्धव त्याग कर देते हैं और फिर वह मेरे एकान्त आश्रित हो जाता है।"

एक प्रश्न और भी उठता है–प्रारब्ध के आधार पर तो शरीर रहता है। जब प्रारब्ध नाश हो जाता है तो भक्तों का शरीर–पात क्यों नहीं हो जाता ?–उसका उत्तर यह है कि भक्ति के सहायक अन्यान्य कर्म रहने के कारण शरीर पात नहीं होता।।२२।।

पाद्मे च–

७–अप्रारब्धफलं पापं कूटं बीजं फलोन्मुखम्।
क्रमेणैव प्रलीयन्ते विष्णुभक्तिरतात्मनाम्।।२३।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*पूर्वार्थमेव स्पष्टयति–पाद्मे चेति। पापमिति विशेष्यं तत्र फलोन्मुखं प्रारब्धं, बीजं वासनामयं प्रारब्धत्वोन्मुखमिति यावत्, कूटं बीजत्वोन्मुखम्, अप्रारब्धफलं न प्रारब्धं कूटत्वादिरूपकार्यावस्थत्वं येन तत्। तच्चानादिसिद्धमनन्तमेव। कारिकायां त्वेतदेवाप्रारब्धमित्युक्तं। बीजप्रारब्धे तु पूर्वं गणिते। तत्तू कूटमवशिष्टं तदप्यप्रारब्ध एवान्तर्भाव्यं। क्रमेण पूर्वपूर्वानुक्रमेण, तथापि पूर्वोक्तं सद्यः सवनायेति "कमलपत्रशतवेधन्यायेन" किंचित्कालविलम्बो ज्ञेय इति।।२३।।*

● ***अनुवाद***–**भक्ति प्रारब्ध–पाप का नाश करती है, इस विषय में पद्मपुराण का प्रमाण उद्धृत करते हैं–जिनका आत्मा श्रीकृष्ण में लीन या समर्पित है, उनके अप्रारब्धफल, कूट, (बीज) एवं फलोन्मुख पाप क्रमशः विनष्ट हो जाते हैं।।२३।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–पद्मपुराण में कहा गया है, जिन्होंने अपनी देह, मन, प्राण एवं समस्त चेष्टाएँ श्रीकृष्ण को समर्पित कर दी हैं, उनके अप्रारब्ध फल प्राप्त अर्थात् प्रारब्ध के अतिरिक्त, अनन्त अनादिसिद्ध कूटत्वादि (अचल) रूप जो पाप अप्रकाशित विद्यमान हैं, वे नष्ट हो जाते हैं। कूट पाप अर्थात् जो बीजत्व के उन्मुख हैं या अप्रारब्धफल के समष्टि रूप में अवस्थान कर रहे हैं, वे भी नाश हो जाते हैं, बीज अर्थात् जो वासनामय हैं या प्रारब्ध के उन्मुख हो चुके हैं, वे भी नाश हो जाते हैं तथा फलोन्मुख अर्थात् प्रारब्ध पाप या जिनका फल भुगतना आरम्भ हो गया है, वे भी विनष्ट हो जाते हैं। तो क्या ये सब प्रकार के पाप एक साथ विनष्ट हो जाते हैं ?–श्लोक सं० २१ में "सद्यः सवनाय कल्पते"–ऐसा पद है अर्थात् तुरन्त नाश हो जाते हैं। परन्तु ये क्रमशः ही नष्ट होते हैं। अप्रारब्ध फल; फिर कूट, फिर बीज, उसके बाद प्रारब्ध–इस क्रम से नष्ट होते हैं। 'सद्यः' का अर्थ है तुरन्त किन्तु सौ कमल फूल की पत्तियाँ एक दूसरे के ऊपर रखी हों, यद्यपि उनको सुई से बेधने से एकक्षण में सुई पार हो जाती है और सब बिंध जाते

हैं। आपात दृष्टि से वे एक क्षण में—तुरन्त ही बिंध जाते दीखते हैं, परन्तु सूक्ष्मतर दृष्टि से देखने—विचारने पर यह मानना होगा कि सर्वप्रथम पहली पत्ती, फिर दूसरी—इस क्रम से सब बेधित होती हैं—उनमें बेधने के समय में अवश्य काल की भिन्नता है। उसी प्रकार प्रारब्धादि जितने पाप हैं, उनका विनाश इतनी द्रुतगति से होता है कि उसमें काल का व्यवधान न के बराबर होता है। अतः 'सद्य' शब्द का अर्थ तुरन्त सब पाप नष्ट हो जाते हैं"—ऐसा कहा गया है।।२३।।

बीजहरत्वं यथा षष्ठे (६।२।१७)—

८—तैस्तान्यघानि पूयन्ते तपोदानव्रतादिभिः।
नाधर्मजं तद्धृदयं तदपीशाङ्घ्रिसेवया।।२४।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*बीजहरत्वं विशेषतो दर्शयतीत्याह बीजेति।।२४।।*

● *अनुवाद*—भगवत्—भक्ति बीज अर्थात् पापों के सूक्ष्म संस्कारों की या वासनामय पापों की भी नाशक है। इस विषय में श्रीभागवत (६।२।१७) में श्रीविष्णुदूतों के प्रति कहा है—

तप, दान, व्रतादि अन्यान्य सब कर्मों से उन—उन पापों का नाश हो जाता है, किन्तु उनके हृदय का अर्थात् बीजों का नाश नहीं होता। भगवान् के चरणकमलों की सेवा से, भक्ति से उन बीजों का, सूक्ष्म पाप—वासनाओं का भी नाश हो जाता है।।२४।।

अविद्याहरत्वं यथा चतुर्थे (४।२२।३६)—

यत्पादपंकजपलाशविलासभक्त्या।
कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्तः।
तद्वन्नरिक्तमतयो यतयोऽपि रुद्ध।
श्रोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम्।।२५।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*नैष्ठिक्यास्तु तस्या अविद्याहरत्वमपि प्रतिज्ञाय द्वाभ्यां दर्शयति—यत्पादेति। रिक्तमतयो भगवद्ध्यानादिविनाभूतमतयः। अरणं शरणं। क्रमश्चात्र श्रीसूतेन श्रवणोपलक्षणतया प्रोक्तः—*

शृण्वतां स्वकथाः कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तनः।
हृद्यन्तस्थो ह्यभद्राणि विधुनोतिसुहृत्सताम्।।
नष्टप्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भागवतसेवया।
भगवत्युत्तमश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी।।
तदा रजस्तमोभावाः कामलोभादयश्च ये।
चेत एतैरनाविद्धं स्थितं सत्त्वे प्रसीदति।।
एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः।
भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसंगस्य जायते।।
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे।।इति।।
(भा० १।२।१७—२१) नैष्ठिकी निश्चलेति टीकाकाराः।।२५।।

भक्ति का अविद्याहरत्व–

● *अनुवाद*–श्रीभागवत (४।२२।२६) में श्रीसनत् कुमार ने राजा पृथुजी के प्रति इस प्रकार वर्णन किया है–

सन्तजन जिनके चरणकमलों के पत्रों की अर्थात् अंगुलियों की कान्ति का भजन–स्मरण कर उलझे हुए कर्माशयों की गांठों को तोड़ डालते हैं किन्तु भगवद् भक्ति से रहित बुद्धि वाले अपनी इन्द्रियों के दमन करने में लगे हुए योगी संन्यासी उस गाँठ का छेदन नहीं कर पाते, उन सुख स्वरूप अथवा सर्वशरण भगवान् श्रीकृष्ण का भजन करो।।२५।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–सन्तजन अर्थात् वैष्णव–भक्तजन श्रीभगवान् की चरणकमलों की प्रतिक्षण वर्द्धनशील कान्ति–विशिष्ट साधन–साध्यरूपा भक्ति का अनुष्ठान करते हुए कर्मों के सूत्र में गुथे हुए कर्माशय को अर्थात् कर्मवासनामय अहंकार को नष्ट कर देते हैं। कर्मवासनाओं में बँध कर जो अहंकार का होना है, वही अविद्या है। भक्ति से वैष्णवजनों की वह अहंकारमय कर्मवासनाओं की ग्रन्थि अर्थात् अविद्या दूर हो जाती है। इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति करने का विधान है। परन्तु जो रिक्तमति हैं अर्थात् जिनकी बुद्धि निर्विशेष ब्रह्म में लगी हुई है, अथवा जैसे रिक्त धन का अर्थ होता है धनहीन, उसी प्रकार जो रिक्तमति हैं अर्थात् बुद्धिहीन हैं, ऐसे योगी या मायावादी संन्यासी उस कर्माशय की ग्रन्थि का मोचन नहीं कर सकते हैं, क्योंकि नदियों के प्रवाह को वह निरोध करने में समर्थ नहीं होते। उनके सब प्रयास वृथा अथवा बुद्धिहीनता के प्रकाशक हैं। किन्तु भक्तजनों की समस्त इन्द्रियाँ अपने आप भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमलों की नित्यवर्द्धनशील कान्ति के सौन्दर्य–माधुर्य में आकर्षित हो जाती हैं एवं अविद्या का अनायास नाश हो जाता है।।२५।।

पाद्मे च–

१०–कृतानुयात्रा विद्याभिर्हरिभक्तिरनुत्तमा।
अविद्यां निर्दहत्याशु दावज्वालेव पन्नगीम्।।२६।।

● *अनुवाद*–पद्मपुराण में भक्ति के अविद्याहरत्व के प्रमाण का इस प्रकार उल्लेख है–

दावानल जैसे साँपनी को जला देती है, वैसे अति उत्कृष्ट हरिभक्ति भी अपने पीछे गमन करने वाली विद्या के द्वारा अविद्या को नाश कर देती है।।२६।।

शुभदत्वम्–

१७–शुभानि प्रीणनं सर्वजगतामनुरक्तता।
सद्गुणाः सुखमित्यादीन्याख्यातानि मनीषिभिः।।२७।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*सर्वजगतामिति। सर्वजगत्कर्मकं प्रीणनं तत्कर्तृकानुरक्तता च। अनयोः सद्गुण्यान्तर्भावेऽपि पृथगुक्तिः सर्वोत्तमतापेक्षया। किं*

वा ते एते यद्यपि सद्गुण्यकृते अति तत्र सम्भवतः, तथाप्यन्यत्रेन तन्मात्रकृते न स्यातां, किन्तु स्वरूपकृते अपीति पृथगुक्तिः कृता। यथोक्तं चतुर्थे (६।४७)–

यस्य प्रसन्नो भगवान् गुणैर्मैत्र्यादिभिर्हरिः।
तस्मै नमन्ति भूतानि निम्नमाप इव स्वयम्।।इति।।

आदि ग्रहणात्सर्ववशीकारित्वमंगलकारित्वादीनि ज्ञेयानि।।२७।।

शुभदायिनी–

● *अनुवाद*–जगत् के समस्त प्राणियों को सन्तुष्ट करना, समस्त प्राणियों का अनुराग प्राप्त करना, दया–दाक्षिण्यादि सद्गुणों से युक्त होना तथा सुख–इन चारों को विद्वान् लोग 'शुभ' नाम से पुकारते हैं।।२७।।

भगवद् भक्ति इन चारों प्रकार के शुभों को प्रदान करने वाली है–इसका प्रतिपादन प्रमाणों सहित करते हैं–

तत्र जगत्प्रीणनादिद्वयप्रदत्वं यथा पाद्मे–

११–येनार्चितो हरिस्तेन तर्पितानि जगन्त्यपि।
रज्यन्ति जन्तवस्तत्र जंगमाः स्थावरा अपि।।२८।।

● *अनुवाद*–जिसने अपनी सेवा द्वारा श्रीभगवान् को सन्तुष्ट कर लिया, उसने सारे जगत् के प्राणियों को तृप्त कर लिया है। उसके प्रति जगत् के समस्त प्राणी तथा स्थावर भी प्रेम करने लगते हैं।।२८।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–उपर्युक्त श्लोक में सब प्राणियों को सन्तुष्ट करना तथा समस्त प्राणियों का अनुराग प्राप्त करना–इन दोनों शुभों की बात कही गयी है। इन दोनों का कारण है भगवद्भक्ति। श्लोक सं० २७ में 'आदि' शब्द से 'सबको वशीभूत करना' एवं सबका मंगल करना–ये दो विशेष शुभ हैं जो भक्ति प्रदान करती है।।२८।।

सद्गुणादिप्रदत्वं यथा पंचमे (५।१८।१२)–

१२–यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा मनोरथेनासति धावतो बहिः।।२९।।

■ **दुर्गमसंगमनीटीका**–*सद्गुण्यादित्यत्रादिग्रहणात्सर्ववशीकारित्वोपलक्षक–सुरवशीकारित्वं गृह्यते। सद्गुणादिप्रदत्वमित्यत्र सद्गुणादिवशीकारयितृत्वमित्यर्थः। सुराः भगवदादयः। स च तथा तत्परिकरा देवा मुनयश्चेत्यर्थः। समासते वशीभूत्य तिष्ठन्तीत्यर्थः।।२९।।*

● *अनुवाद*–जिसकी श्रीभगवान् के प्रति विशुद्ध भक्ति है उसमें समस्त सद्गुणों के सहित देवतागण आकर निवास करते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण का जो भक्त नहीं है और जिसका मन सदा सांसारिक विषयों की तरफ दौड़ता रहता है, उस व्यक्ति में महान्गुण कहाँ से आ सकते हैं ?।।२९।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–श्रीभगवान् की भक्ति समस्त सद्गुणों को प्रदान करती है, इसके प्रमाण में उक्त श्लोक उद्धृत किया गया है। जैसा कि ऊपर कह आए हैं भक्ति के शुभप्रदानत्व में सर्ववशीकारिता है, उससे समस्त सुखों को

वह वशीभूत करने वाली है, ऐसा अभिप्राय है। वह सद्‌गुणों को भी वशीभूत करके रखती है; सद्‌गुण से भी प्राकृत इन्द्रियगुण नहीं, जो दोषयुक्त होते हैं, यहाँ दोषरहित गुण अभिप्रेत हैं। 'देवता'–शब्द से श्रीभगवान्, उनके परिकर तथा मुनि आदि भगवद्भक्त अभिप्रेत हैं जिनके वशीभूत होकर श्रीभगवान् उनके पास रहते हैं। जो भगवद्भक्ति रहित है उसमें कोई भी महान् गुण अर्थात् दोष रहित गुण नहीं आ सकता। इन वचनों से भक्ति का सद्‌गुण प्रदत्व प्रमाणित होता है।।२६।।

सुखप्रदत्वम्–

१८–सुखं वैषयिकं ब्राह्ममैश्वरं चेति तत्त्रिधा।।३०।।

यथा तन्त्रे–

१३–सिद्धयः परमाश्चर्या भुक्तिर्मुक्तिश्च शाश्वती।
नित्यं च परमानन्दो भवेद् गोविन्दभक्तितः।।३१।।

यथा हरिर्भक्तिसुधोदये च–

१४–भूयोऽपि याचे देवेश ! त्वयि भक्तिर्दृढास्तु मे।
या मोक्षान्तचतुर्वर्गफलदा सुखदा लता।।इति।।३२।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*सिद्धयोऽणिमादयो, भक्तिश्च विषयमयसुखं, मुक्तिः ब्रह्मसुखं, पारिशेष्यान्नित्यं परमानन्दमैश्वरसुखं तत्तश्च तत्तदनुभवमयम्।।३१।। सुखदा ईश्वरानुभवानन्ददात्री।।३२।।*

भक्ति का सुखप्रदत्व–

● *अनुवाद*–**सुख तीन प्रकार का है–१–वैषयिक–सुख (विषयों से प्राप्त होने वाला सुख) २– ब्राह्म–सुख (ब्रह्मानुभव या मुक्तिजनक सुख) तथा ३–ऐश्वर्य–सुख (नित्य परमानन्द)।।३०।।**

जैसा कि तन्त्रशास्त्र में कहा गया है–परम आश्चर्यजनक अणिमादि सिद्धि, भुक्ति, मुक्ति तथा शाश्वत परमानन्द ये चारों प्रकार के सुख भगवान् श्रीगोविन्द की भक्ति से प्राप्त होते हैं।।३१।।

और "हरिभक्तिसुधोदय" में भी कहा गया है–हे देवेश ! मैं आपसे बार–बार यही याचना करता हूँ कि आप में मेरी दृढ़ भक्ति हो। आपकी भक्ति एक सुख–प्रदानकारी लता के समान है जो मुक्ति पर्यन्त धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष–चारों पुरुषार्थ रूप फल को देने वाली है।।३२।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–योग मार्ग के साधक अणिमा आदि सिद्धियों के सुख को प्राप्त करते हैं। वे सिद्धियाँ सांसारिक लोगों को आश्चर्य में डाल देने वाली होती है। कर्म मार्ग के साधक इस लोक के तथा स्वर्गादि परलोकों के विषय भोगों को प्राप्त कर जिस सुख का उपभोग करते हैं, उसे वैषयिक–सुख कहते हैं। ज्ञान–मार्ग के साधक सायुज्य मुक्ति को प्राप्त करते हैं और ब्रह्म की अनुभूति का ऐसा एक अनिर्वचनीय सुख प्राप्त करते हैं, जिसमें वे नित्य पृथक् अस्तित्व रखते हुए भी अपने अनुसन्धान से रहित हो जाते हैं, उनके सुख का नाम

वा ते एते यद्यपि सद्गुण्यकृते अति तत्र सम्भवतः, तथाप्यन्यत्रेन तन्मात्रकृते न स्यातां, किन्तु स्वरूपकृते अपीति पृथगुक्तिः कृता। यथोक्तं चतुर्थे (६।४७)–

यस्य प्रसन्नो भगवान् गुणैर्मैत्र्यादिभिर्हरिः।
तस्मै नमन्ति भूतानि निम्नमाप इव स्वयम्।।इति।।
आदि ग्रहणात्सर्ववशीकारित्वमंगलकारित्वादीनि ज्ञेयानि।।२७।।

शुभदायिनी–

● *अनुवाद*–जगत् के समस्त प्राणियों को सन्तुष्ट करना, समस्त प्राणियों का अनुराग प्राप्त करना, दया–दाक्षिण्यादि सद्गुणों से युक्त होना तथा सुख–इन चारों को विद्वान् लोग 'शुभ' नाम से पुकारते हैं।।२७।।

भगवद् भक्ति इन चारों प्रकार के शुभों को प्रदान करने वाली है–इसका प्रतिपादन प्रमाणों सहित करते हैं–

तत्र जगत्प्रीणनादिद्वयप्रदत्वं यथा पाद्मे–

११–येनार्चितो हरिस्तेन तर्पितानि जगन्त्यपि।
रज्यन्ति जन्तवस्तत्र जंगमाः स्थावरा अपि।।२८।।

● *अनुवाद*–जिसने अपनी सेवा द्वारा श्रीभगवान् को सन्तुष्ट कर लिया, उसने सारे जगत् के प्राणियों को तृप्त कर लिया है। उसके प्रति जगत् के समस्त प्राणी तथा स्थावर भी प्रेम करने लगते हैं।।२८।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–उपर्युक्त श्लोक में सब प्राणियों को सन्तुष्ट करना तथा समस्त प्राणियों का अनुराग प्राप्त करना–इन दोनों शुभों की बात कही गयी है। इन दोनों का कारण है भगवद्भक्ति। श्लोक सं० २७ में 'आदि' शब्द से 'सबको वशीभूत करना' एवं सबका मंगल करना–ये दो विशेष शुभ हैं जो भक्ति प्रदान करती है।।२८।।

सद्गुणादिप्रदत्वं यथा पंचमे (५।१८।१२)–

१२–यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा मनोरथेनासति धावतो बहिः।।२६।।

■ दुर्गमसंगमनीटीका–*सद्गुण्यादित्यत्रादिग्रहणात्सर्ववशीकारित्वोपलक्षक–सुरवशीकारित्वं गृह्यते। सद्गुणादिप्रदत्वमित्यत्र सद्गुणादिवशीकारयितृत्वमित्यर्थः। सुराः भगवदादयः। स च तथा तत्परिकरा देवा मुनयश्चेत्यर्थः। समासते वशीभूत्य तिष्ठन्तीत्यर्थः।।२६।।*

● *अनुवाद*–जिसकी श्रीभगवान् के प्रति विशुद्ध भक्ति है उसमें समस्त सद्गुणों के सहित देवतागण आकर निवास करते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण का जो भक्त नहीं है और जिसका मन सदा सांसारिक विषयों की तरफ दौड़ता रहता है, उस व्यक्ति में महान्गुण कहाँ से आ सकते हैं ?।।२६।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–श्रीभगवान् की भक्ति समस्त सद्गुणों को प्रदान करती है, इसके प्रमाण में उक्त श्लोक उद्धृत किया गया है। जैसा कि ऊपर कह आए हैं भक्ति के शुभप्रदानत्व में सर्ववशीकारिता, उससे समस्त सुखों को

वह वशीभूत करने वाली है, ऐसा अभिप्राय है। वह सद्‌गुणों को भी वशीभूत करके रखती है; सद्‌गुण से भी प्राकृत इन्द्रियगुण नहीं, जो दोषयुक्त होते हैं, यहाँ दोषरहित गुण अभिप्रेत हैं। 'देवता'—शब्द से श्रीभगवान्, उनके परिकर तथा मुनि आदि भगवद्‌भक्त अभिप्रेत हैं जिनके वशीभूत होकर श्रीभगवान् उनके पास रहते हैं। जो भगवद्‌भक्ति रहित है उसमें कोई भी महान् गुण अर्थात् दोष रहित गुण नहीं आ सकता। इन वचनों से भक्ति का सद्‌गुण प्रदत्व प्रमाणित होता है।।२६।।

सुखप्रदत्वम्—

१८—सुखं वैषयिकं ब्राह्ममैश्वरं चेति तत्त्रिधा।।३०।।

यथा तन्त्रे—

१३—सिद्धयः परमाश्चर्या भुक्तिर्मुक्तिश्च शाश्वती।
नित्यं च परमानन्दो भवेद् गोविन्दभक्तितः।।३१।।

यथा हरिर्भक्तिसुधोदये च—

१४—भूयोऽपि याचे देवेश ! त्वयि भक्तिर्दृढास्तु मे।
या मोक्षान्तचतुर्वर्गफलदा सुखदा लता।।इति।।३२।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*सिद्धयोऽणिमादयो, भक्तिश्च विषयमयसुखं, मुक्तिः ब्रह्मसुखं, पारिशेष्यान्नित्यं परमानन्दमैश्वरसुखं ततश्च तत्तदनुभवमयम्।।३१।। सुखदा ईश्वरानुभवानन्ददात्री।।३२।।*

भक्ति का सुखप्रदत्व—

● *अनुवाद*—**सुख तीन प्रकार का है—१—वैषयिक—सुख (विषयों से प्राप्त होने वाला सुख) २— ब्राह्म—सुख (ब्रह्मानुभव या मुक्तिजनक सुख) तथा ३—ऐश्वर्य—सुख (नित्य परमानन्द)।।३०।।**

जैसा कि तन्त्रशास्त्र में कहा गया है—परम आश्चर्यजनक अणिमादि सिद्धि, भुक्ति, मुक्ति तथा शाश्वत परमानन्द ये चारों प्रकार के सुख भगवान् श्रीगोविन्द की भक्ति से प्राप्त होते हैं।।३१।।

और "हरिभक्तिसुधोदय" में भी कहा गया है—हे देवेश ! मैं आपसे बार—बार यही याचना करता हूँ कि आप में मेरी दृढ़ भक्ति हो। आपकी भक्ति एक सुख—प्रदानकारी लता के समान है जो मुक्ति पर्यन्त धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष—चारों पुरुषार्थ रूप फल को देने वाली है।।३२।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—योग मार्ग के साधक अणिमा आदि सिद्धियों के सुख को प्राप्त करते हैं। वे सिद्धियाँ सांसारिक लोगों को आश्चर्य में डाल देने वाली होती है। कर्म मार्ग के साधक इस लोक के तथा स्वर्गादि परलोकों के विषय भोगों को प्राप्त कर जिस सुख का उपभोग करते हैं, उसे वैषयिक—सुख कहते हैं। ज्ञान—मार्ग के साधक सायुज्य मुक्ति को प्राप्त करते हैं और ब्रह्म की अनुभूति का ऐसा एक अनिर्वचनीय सुख प्राप्त करते हैं, जिसमें वे नित्य पृथक् अस्तित्व रखते हुए भी अपने अनुसन्धान से रहित हो जाते हैं, उनके सुख का नाम

है ब्राह्म–सुख। सिद्धिजनक, वैषयिक सुख तो अनित्य हैं। ब्राह्मसुख नित्य है किन्तु निर्विशेष सत्ता मात्र होने के कारण उसमें वैचित्री नहीं। अतः उसे आनन्द या सुख तो कहा गया है किन्तु वह परमानन्द या परम चरमतम सुख नहीं माना गया है। भक्तिमार्ग के साधक श्रीभगवान् नित्यनूतन, निखिलैश्वर्य– माधुर्यमण्डित सविशेष स्वरूप का जो सुख अनुभव करते हैं, उसका नाम है 'ऐश्वर्य–सुख'। यह सुख शाश्वत परमानंद स्वरूप है। उपर्युक्त सब प्रकार के सुख भगवद् भक्ति से प्राप्त होते हैं, इसका सप्रमाण निरूपण किया गया है। अतः इससे भक्ति का सुखप्रदत्व गुण प्रतिपादन होता है। ३०–३२।।

यहाँ तक 'क्लेशहरत्व' तथा 'शुभदत्व' जो साधन–भक्ति के विशेषण हैं, वर्णन किये गए हैं। अब आगे 'मोक्षलघुताकृत' तथा 'सुदुर्लभा' जो भाव–भक्ति के विशेषण हैं, उनकी विवेचना करते हैं–

मोक्षलघुताकृत–

१६–मनागेव प्ररूढ़ायां हृदये भगवद्रतौ।
पुरुषार्थास्तु चत्वारस्तृणायन्ते समन्ततः।।३३।।

यथा नारदपञ्चरात्रे–

१५–हरिभक्तिमहादेव्याः सर्वा मुक्त्यादिसिद्धयः।
भुक्तपश्चाद्भुतास्तस्याश्चेटिकावदनुव्रताः।।इति।।३४।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*मनागेवेति। अल्पमपि प्ररूढ़ायां, न तु जनितायां, तस्याः स्वयंप्रकाशरूपत्वात्, पुरुषार्थाः धर्मार्थकाममोक्षाख्यास्तृणायन्ते तत्र गन्तुं लज्जन्ते इत्यर्थः।।३३।। हरिभक्तीति चेटिकावदिति भीता–इत्यर्थः।।३४।।*

भक्ति का मोक्षलघुताकर्त्तृत्व–

● *अनुवाद*–**हृदय में तनिक सा भी प्रेम अर्थात् रति के उदय होने पर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, ये चारों पुरुषार्थ तृण के समान हो जाते हैं अर्थात् भक्त की दृष्टि में वे अत्यन्त तुच्छ हो जाते हैं।।३३।।**

जैसाकि श्रीनारदपंचरात्र में कहा गया है–मुक्ति आदि सारी सिद्धियाँ और अनेक प्रकार के संसार के सुख–भोग दासियों की तरह उस भगवद् भक्ति रूपा महारानी के पीछे–पीछे चलती हैं।।३४।।

इन प्रमाणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भक्ति मुक्ति को भी तुच्छ कर देने वाली है।

सुदुर्लभा–

२०–साधनौघैरनासंगैरलभ्या सुचिरादपि।
हरिणा चाश्वदेयेति द्विधा सा स्यात् सुदुर्लभा।।३५।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*हरिणा चाश्वदेयेत्यत्रासंगेऽपीति गम्यते, अन्यथा द्वैविध्यानुपपत्तेः। द्विधा सुदुर्लभेति प्रकारद्वयेनापि सुदुर्लभत्वं तस्या इत्यर्थः।*

भक्ति की सुदुर्लभता–

● *अनुवाद*–अनासंग साधनों को चिरकाल तक करते रहने पर भी भक्ति प्राप्त नहीं होती। श्रीभगवान् भी भक्ति को शीघ्र प्रदान नहीं करते। इसलिए इन दो कारणों से भक्ति की प्राप्ति अति दुर्लभ है।।३५।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–भावभक्ति दो कारणों से अति दुर्लभ है। एक तो अनासंग साधनों से वह प्राप्त नहीं होती, चाहे कितने ही चिरकाल तक क्यों न किए जाएँ। अनासंग साधन का अभिप्राय है आसक्ति एवं रुचि रहित साधन। ऐसे साधन से साक्षात् भजन में प्रवृत्ति नहीं होती। श्रद्धा, साधुसंग, भजन–क्रिया आदि के बाद आसक्ति, निष्ठा और रुचि उदित हुआ करती है। प्रेम के विकाश क्रम की इस भूमिका के आधार पर जब तक आसक्ति उदित नहीं होती, तब तक अनासंग साधन कहा जाता है। अतः श्रीभगवान् की साक्षात् स्मृति के रहित जो साधन हैं, वह अनासंग हैं। ऐसे अनासंग साधनों को चिरकाल पर्यन्त करने पर भी भाव–भक्ति प्राप्त नहीं होती।

दूसरे यह कि श्रीभगवान् भी अपनी भक्ति को सहज में या शीघ्र प्रदान नहीं करते, इसलिए वह सुदुर्लभ है। भक्ति श्रीभगवान् की स्वरूपशक्ति की वृत्ति विशेष है, श्रीभगवान् सदा उसे निक्षेप करते रहते हैं, परन्तु उसको ग्रहण करने के लिए विशेष योग्यता की अनिवार्यता है। वह योग्यता प्राप्त करना अति कठिन है, क्योंकि वह योग्यता आसंग–भजन से एवं अन्याभिलाषाशून्य भगवत् अनुशीलन से प्राप्त होती है। योग्यता प्राप्त होने पर भक्ति स्वप्रकाश होने से अपने आप भक्त हृदय में आविर्भूत हो उठती है। अतः श्रीभगवान् के द्वारा न प्रदान करने का अभिप्राय है योग्यता की दुर्लभता। उस योग्यता को प्राप्त करने में जितना विलम्ब होता है, भक्ति के प्राप्त करने में भी उतना विलम्ब होता है।

अथवा श्रीभगवान् इसलिए भी सहज मे भक्ति प्रदान नहीं करते कि उन्हें भक्त की अधीनता स्वीकार करनी पड़ती है। भुक्ति एवं मुक्ति आदि झट दे देते हैं यदि साधक उनसे सन्तुष्ट हो जाता है, वे भक्ति प्रदान नहीं करते। क्योंकि वास्तव में वह ऐकान्तिकी भक्ति के योग्य भी नहीं होता। इस प्रकार भक्ति की सुदुर्लभता सिद्ध होती है।

अनासंग–साधनों के द्वारा भक्ति की सुदुर्लभता का प्रमाण उद्धृत करते हैं–

तत्र आद्या, यथा तन्त्रे–

१६–ज्ञानतः सुलभा मुक्तिर्भुक्तिर्यज्ञादिपुण्यतः।
सेयं साधनसाहस्रैर्हरिभक्ति सदुर्लभा।।३६।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*ज्ञानत इति। तन्त्रमतं तावद्विचार्यते। अत्र ज्ञानयज्ञादिपुण्ये सासंगे एव वाच्ये, तयोस्तादृशत्वं विना मुक्तिभुक्त्योः सिद्धिरपि न स्यात्, अस्तु तावत्सुलभत्ववर्त्ता। अतः साधन सहस्राणामपि सासंगत्वमेव लभ्यते। वाक्यार्थक्रमभंगस्यावश्यपरिहार्यत्वात् सहस्रबाहुल्यासिद्धेश्च। तत्र यदि*

ज्ञान–यज्ञादिपुण्ययोः सासंगत्वं तदेकनिष्ठत्वमात्रं वाच्यं, तदा तादृशाभ्यामपि ताभ्यां तयोः सुलभत्वं नोपपद्यते, (गी० १२।५)–"क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसा–मित्यादेः," "क्षुद्राशा भूरिकर्माणो बालिशा वृद्धमानिनः" (भा०१०।२३।६)–इत्यादेश्च। तस्मात्तयोः सासंगत्वं नेपुण्येन विहितत्वमित्येव वाच्यं, नैपुण्यञ्च भक्तियोग–संयोक्तृत्वमिति। "पुरेह भूमन् बहवोऽपि योगिनः" (भा० १०।१४।५) इत्यादेः "स्वर्गापवर्गयोः पुंसाम्" इत्यादेश्च (भा० १०।८१।१६। अथ हरिभक्तिशब्देन साध्यरूपो रतिपर्यायस्तद्भाव एवोच्यते' (भा० ११।३।३१) भक्त्या संजातया भक्त्येतिवत्। ततश्च साधनशब्देन हरिसम्बन्धिसाधनमेवोच्यते, तत्सम्बन्धित्वं विना तद्भावजन्मायोगात् तथा च साधनशब्देन साक्षात्तद्भजने वाच्ये तत्र पूर्वक्रमतः सासंगत्वे लब्धे सहस्रबहुत्वनिर्देशेनापर्यवसानात् सुशब्दाच्च भीतस्य कस्यापि तत्र (भावभक्तौ) प्रवृत्तिर्न स्यात्। तेन तत्र सुलभत्वं तु, (भा० २।८।३)

शृण्वतः श्रद्धया नित्यं गृणतश्च स्वचेष्टितम्।
नातिदीर्घेण कालेन भगवान् विशते हृदि।।

(भा० १।५।२६) "तत्रान्वहं कृष्णकथाः प्रगायतामनुग्रहेणाशृणवं मनोहराः। ताः श्रद्धया मेऽनुपदं विशृण्वतः प्रियश्रवस्यंग ! ममाभवद्रतिः" इत्यादौ प्रसिद्धं, तस्मात् साधन शब्देन "न साधयति मां योग (भा० ११।१४।२०) इत्यादि–वत्तदर्थविनियुक्तकर्मादिकमेवोच्यते। अतएव साधनशब्द एव विन्यस्तो नतु भजनशब्दः। तस्य सासंगत्वं नाम च तदर्थ– विनियोगात् पूर्ववन्नैपुण्येन विहितत्वमेव। तत्साहस्रैरपि सुदुर्लभेत्युक्तिस्तु साक्षात् तद्भजनमेव कर्त्तव्यत्वेन प्रवर्त्तयति। तथापि कारिका–यामनासंगैरिति यदुक्तं, तत्र चासंगेन साधननैपुण्यमेव बोध्यते, तन्नैपुण्यं च साक्षात्तद्भजने प्रवृत्तिः। ततश्च तस्य तादृश–सामर्थ्येऽप्यन्यत्र स्वर्गादौ प्रवृत्त्या न विद्यते आसंगो नैपुण्यं येषु तादृशैर्नानासाधनैरित्यर्थः। तादृशनानासाधनत्वं तु नेष्टं, तस्मादेकेन मनसा भगवान् सात्वतां पतिः। श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च ध्येयः पूज्यश्च नित्यदा इत्यादौ (भा० १।२।१४) तस्मादितरमिश्रताऽपि न युक्तेति साध्वेव लक्षितं ज्ञानकर्माद्यनावृतमिति।।३६।।

● **अनुवाद–तन्त्र में कहा गया है कि ज्ञान के द्वारा मुक्ति को और यज्ञादि पुण्य कर्मों के द्वारा भुक्ति अर्थात् भोगों को प्राप्त करना सहज है, किन्तु हरिभक्ति को हजारों साधनों द्वारा भी प्राप्त करना अति कठिन है।।३६।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–उपर्युक्त तन्त्र–वचन में ज्ञान द्वारा मुक्ति की तथा कर्म द्वारा भुक्ति की जो सुलभता कही गई है, श्रीजीव गोस्वामिपाद का कहना है कि वस्तुतः मुक्ति एवं भुक्ति भी अपने–अपने साधनों द्वारा सहज सुलभ नहीं हैं। ज्ञान एवं कर्मों में भी सासंगत्व अर्थात् एकान्त निष्ठा की अनिवार्यता है। उन साधनों में भी साधन–निपुणता की आवश्यकता है। श्रीगीता एवं श्रीमद्भागवत के अनेक वचनों को उद्धृत कर गोस्वामिपाद ने स्पष्ट किया है कि निर्विशेष ब्रह्म की प्राप्ति में भी अधिकतर क्लेश है। अतः ज्ञान द्वारा मुक्ति को प्राप्त करना भी सहज नहीं। इसी तरह महान यज्ञों के करने में भी अनेक प्रकार के क्लेश एवं विघ्न

हैं, विशेषता ज्ञान एवं कर्मकाण्ड भी भक्ति साधनों की सहायता के बिना अपना फल मुक्ति और भुक्ति प्रदान करने में असमर्थ हैं। अतः उनके साधन में भी भक्ति की सहायता लेकर चलना ज्ञान–कर्म मार्ग के साधकों का साधन–नैपुण्य है। इस साधन–नैपुण्य के बिना मुक्ति तथा भुक्ति प्राप्त करना भी अति कठिन है।

'हरिभक्ति' शब्द से साध्यरूप भगवत्–प्रेम ही यहाँ अभिप्रेत है। साध्य भक्ति रूप प्रेम की प्राप्ति साधन–भक्ति के द्वारा ही होती है, क्योंकि भक्ति के आविर्भाव का कारण केवल मात्र भक्ति ही है। 'साधन शब्द से भगवत् सम्बन्धी अनुष्ठान ही अभिप्रेत हैं। जिन साधनों का श्रीभगवान् से कुछ सम्बन्ध नहीं, उनके द्वारा कभी भी भक्ति का उदय नहीं हो सकता। श्रीभगवान् से साक्षात् सम्बन्ध है। भगवद् विषयक श्रवण–कीर्तन–स्मरणात्मिका नवविधा भक्ति का। अतः श्रवणकीर्तनादि को ही साक्षात्–साधन या सासंग साधन रूप में यहाँ ग्रहण करना चाहिए।

सुदुर्लभता के भय से कहीं लोगों की भक्ति में प्रवृत्ति न हो, इसलिए शास्त्रों के अनेक वचन स्पष्ट उद्धृत कर गोस्वामिपाद ने यह स्पष्ट किया है कि श्रीभगवान् की लीला–कथा श्रवण से, उनके नाम–गुण कीर्तन आदि से अति शीघ्र श्रीभगवान् की प्राप्ति होती है। श्रद्धा सहित श्रवण–कीर्तन रूप साक्षात् भजन से निश्चित रूप से भगवत्प्रेम रूपा साध्यभक्ति की प्राप्ति होती है। अन्यान्य हजारों या अनेक साधनों से भक्ति की प्राप्ति सुदुर्लभ है, परन्तु साक्षात् भजन से नहीं। स्वर्गापवर्ग की कामनाओं का परित्याग कर अर्थात् ज्ञान–कर्म आदि से अमिश्रित उत्तमा–भक्ति के आचरण से प्रेमा–भक्ति की प्राप्ति सुलभ ही जाननी चाहिए।।३६।।

अब आगे श्रीभगवान् द्वारा शीघ्र न प्रदान करने से दूसरे प्रकार की भक्तिसुदुर्लभता का प्रमाण उद्धृत करते हैं–

द्वितीया, यथा पंचमस्कन्धे (५।६।१८)

१७–राजन् ! पतिर्गुरुरलं भवतां यदूनां,
दैवं प्रियः कुलपतिः क्व च किंकरो वः।
अस्त्वेवमंग ! भगवान्भजतां मुकुन्दो,
मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम्।।इति।।३७।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*कर्हिचिन्न ददातीत्युक्ते कर्हिचिद्ददातीत्यायाति। "असाकल्ये भु चिच्चनौ," अतएव कर्हिचिदपीति नोक्तं, तस्मादासंगेनापि कृते साधनभूते साक्षाद्भक्तियोगे गाढासक्तिर्न जायते, तावन्न ददातीर्त्थः, तथैव च लक्षितम्–अन्याभिलाषिताशून्यमिति।।३७।।*

● ***अनुवाद*–हे राजन् ! श्रीकृष्ण आप (पाण्डवों) के एवं यादवों के पालक, गुरु–उपदेष्टा, उपास्य, प्रेमी, तथा नियन्ता हैं, अधिकन्तु आपके तो कभी वे किंकर रूप में आज्ञाकारी भी बन जाते हैं। ऐसे होने पर भी किन्तु वे श्रीमुकुन्द अन्यान्य नित्य भजन करने वालों को भक्तियोग, कभी–कभी दान नहीं भी करते, उन्हें मुक्ति दे देते हैं।।३७।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–श्लोकस्थ 'कर्हिचित्' शब्द से भक्तियोग कभी नहीं भी देते हैं–इससे यह तात्पर्य निकलता है, वे कभी दे भी देते हैं। ऐसा नहीं कहा गया कि 'कर्हिचिदपि' अर्थात् कभी भी नहीं देते। अतः सासंग साधन रूप साक्षात् भक्ति योग में भी जब तक गाढ़ासक्ति नहीं होती, तब तक वे अपनी भाव भक्ति प्रदान नहीं करते, ऐसा समझना चाहिए। जब तक मुक्ति–भुक्ति की कामना रहती है अथवा श्रीकृष्ण तथा कृष्ण–कामना के अतिरिक्त कोई भी कामना रहती है, श्रवण–कीर्तनादि साक्षाद्–भजन करने वालों को भी श्रीभगवान् अपनी भाव–भक्ति प्रदान नहीं करते, उन लोगों को मुक्ति ही वे प्रदान कर देते हैं। परन्तु जो शुद्ध भक्त हैं, उन्हें वे भक्ति ही प्रदान करते हैं। अतः श्रीभगवान् के भक्ति प्रदानत्व में सदुर्लभता कही गई है।।३७।।

अब आगे प्रेम–भक्ति के पहले विशेषण 'सान्द्रानन्द–विशेषात्मा' का सप्रमाण निरूपण करते हैं–

सान्द्रानन्दविशेषात्मा–

२१–ब्रह्मानन्दो भवेदेष चेत् परार्द्धगुणीकृतः।
नैति भक्तिसुखाम्भोधेः परामाणुतुलामपि।।३८।।

यथा हरिभक्तिसुधोदये–

१८–त्वत्साक्षात्करणाह्लादविशुद्धाब्धिस्थितस्य मे।
सुखानि गोष्पदायन्ते ब्राह्माण्यपि जगद्गुरो !।।३६।।

तथा भावार्थदीपिकायां च (भा०१०। ८८।११)–

१६–त्वत्कथामृतपाथोधौ विहरन्तो महामुदः।
कुर्वन्ति कृतिनः केचिच्चतुर्वर्ग तृणोपमम्।।४०।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*परार्द्धेति। परार्द्धकालसमाधिना समुदितं तत्सुखमपीत्यर्थः।।३८।।*

ब्राह्माणीत्यत्र पारमेष्ठ्यानीति तु न व्याख्येयं; परब्रह्मानन्देनैव तस्य तारतम्यं श्रीभगवतादिषु (३।१५।४७) प्रसिद्धमिति, तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्देत्यादिभ्यः।।३६।।

सत्स्वपि बहुषूदाहरिष्यमाणेषु श्रीभागवतादिवाक्येषु भावार्थदीपिकोदाहरणं तु तत्कर्तुस्तत्तात्पर्यज्ञत्वेन सर्वतत्तद्वाक्यार्थसंग्रहोऽयमित्यभिप्रायात्।।४०।।

सान्द्रानन्द–विशेषात्मात्व–

● *अनुवाद*–भगवद्भक्ति साद्रानन्द–घनीभूत आनन्द स्वरूप है, यदि ब्रह्मानन्द को परार्द्ध गुणा कर दिया जाय तो भी वह भक्ति सुख सागर के एक परमाणु के समान नहीं हो सकता; अर्थात् ब्रह्मा जी की आयु के आधेकाल पर्यन्त समाधि में स्थित रहने से जो ब्रह्मानुभव–आनन्द प्राप्त होता है, भगवत् सेवानन्द सागर के एक परमाणु की भी वह बराबरी नहीं कर सकता।।३८।।

जैसा कि हरिभक्तिसुधोदय में कहा गया है, हे जगद्गुरु भगवन् ! मैं साक्षात्कार सुख के निर्मल सागर स्वरूप आप में अवस्थान कर रहा हूँ। अब

मुझे सारे ब्राह्म–सुख भी गौ के खुर के समान–अति क्षुद्र दिखलाई देते हैं।।३६।।

श्रीभागवत (१०।८८।११) की भावार्थदीपिका टीका में श्रीश्रीधरस्वामिपाद ने लिखा है, आपके कथामृत के सागर में विचरण करने वाले परमानन्द में मग्न हुए कोई पुण्यवान महा सौभाग्यशाली भक्तजन धर्म, अर्थ काम एवं मोक्ष–इन चारों पुरुषार्थों को तृण के समान तुच्छ समझते हैं।।४०।।

श्रीकृष्णाकर्षिणी–

२२–कृत्वा हरिं प्रेमभाजं प्रियवर्गसमन्वितम्।
भक्तिर्वशीकरोतीति श्रीकृष्णाकर्षिणी मता।।४१।।

यथैकादशे (११।१४।२०)–

२०–न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता।।४२।।

सप्तमे च नारदोक्तौ (७।१५–७५)–

२१–यूयं नृलोके बत भूरिभागा लोकं पुनाना मुनयोऽभियन्ति।
येषां गृहानावसतीति साक्षाद्गूढ़ं परं ब्रह्म मनुष्यलिंगम्।।४३।।इति।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*प्रेमभाजमिति आकर्षणशब्दबलात्; प्रियवर्ग–समन्वितमिति श्रीशब्दबलाद् व्याख्यातम्।।४१।।*

न साधयतीत्यत्र यद्यपि योगादिसाधनप्रतिस्पर्धित्वेन साधनत्वमेवास्या आयाति, ततश्चाग्रत इत्यादि वक्ष्यमाणानुसारेण (१।१।४४) साध्यभक्तिमहिम प्रस्तावेऽस्मिन्नुदाहरणं न सम्भवति; तथापि साध्यमेव जनयित्वा वशीकरोत्यसाविति तथोक्तम्।।४२।। अतएव तत्रापरितुष्यन् प्रियवर्गसमन्वितत्वोदाहरणञ्च करिष्यन्नपरमाह यूयमिति।।४३।।

भक्ति का श्रीकृष्ण–आकर्षकत्व–

● *अनुवाद*–प्रिय परिकरों सहित भगवान् को अपने प्रेम का पात्र बनाकर भक्ति भगवान् को अपने वशीभूत कर लेती है। इसलिए भक्ति को 'श्रीकृष्णाकर्षिणी' कहा गया है।।४१।।

श्रीभागवत (११।२४।२०) में श्रीभगवान् ने कहा है, हे उद्धव ! मुझ (श्रीकृष्ण) को न योग, न सांख्य, न वर्णाश्रम धर्म, न तप और न त्याग उतना आकर्षित कर सकते हैं, जितना कि तीव्र या प्रबल भक्ति मुझे आकर्षित कर लेती है।।४२।।

श्रीभागवत (७।१०।४८) में नादर जी ने भी कहा है, हे पाण्डवगण ! पृथ्वीलोक पर आहा ! आप लोग निश्चय ही बड़े सौभाग्यवान हैं, क्योंकि आपके घर में अति गूढ़तत्त्व साक्षात् परब्रह्म श्रीकृष्ण नररूप धारण कर निवास करते हैं और समस्त जगत् को पवित्र करने वाले मुनिजन उनके दर्शन करने के लिए आपके घर में पधारते रहते हैं।।४६।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—श्रीकृष्ण को आकर्षण करने की एक मात्र सामर्थ्य प्रेम–भक्ति में है। वे अकेले ही नहीं, 'श्री'—सहित अर्थात् राधादि अपने प्रिय परिकरों के साथ प्रेमीभक्तों की ओर खिंचे चले आते हैं, बलपूर्वक उन्हें प्रेमभक्ति आकर्षित कर लेती है।

श्लोक सं० ४२ में भक्ति के तुलनात्मक विवेचन में योग, सांख्य, धर्म आदि साधन रूप में स्वीकृत होते दीखते हैं, किन्तु ये साध्यरूपा प्रेम–भक्ति के साधन नहीं हैं। इनसे तो भक्ति की ही प्राप्ति नहीं होती है, फिर श्रीकृष्ण–प्राप्ति का तो कहना क्या ? प्रेम–भक्ति केवल श्रीकृष्ण को प्राप्त कराने में ही नहीं, वशीभूत करने में भी समर्थ है।

श्रीयुधिष्ठिरादि के घर में श्रीकृष्ण जाकर निवास करते हैं। अद्वय ज्ञानतत्त्व परब्रह्म श्रीकृष्ण का निवास वहाँ देखकर श्रीनारद जी ने उनके असमोर्ध्व भाग्यों की सराहना की है। उनके घर जाकर परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण के निवास का कारण केवल पाण्डवजनों की प्रेम–भक्ति ही थी। यहाँ तीव्र भक्ति की शर्त है अर्थात् जो भक्ति कर्म–ज्ञान–योगादि के आवरण से ढकी हुई न हो, वह है परमोज्ज्वल प्रबल या तीव्र–भक्ति; वही श्रीकृष्ण को सपरिकर अपनी ओर खींच लेती है।।४१–४३।।

२३–अग्रतो वक्ष्यमाणायास्त्रिधा भक्तेरनुक्रमात्।
द्विशः षड्भिः पदैरेतन्माहात्म्यं परिकीर्तितम्।।४४।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*द्विशो द्वाभ्यां द्वाभ्यां षड्भिः पदैः क्लेशघ्नीत्यादिभिः परिकीर्त्तितमिति। असाधारणत्वेनेति परिशब्दार्थः, तेन साधनरूपाया द्वौ गुणौ, भावरूपायाश्चत्वारो गुणाः, प्रेमरूपायाः षड्भि ज्ञेयाः, तत्र तत्तदन्तर्भावात् वाय्वादिभूतचतुष्टयवत्।।४४।।*

● ***अनुवाद***—**आगे दूसरी लहरी के आरम्भ में वर्णन की जाने वाली तीन प्रकार की भक्ति का क्रम से दो–दो गुणों की वृद्धि करते हुए छः गुणों से माहात्म्य कहा जायेगा।।४४।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—यहाँ तक श्रीगोस्वामिपाद ने भक्ति के छः गुणों की अलग–अलग विवेचना की है। अगली लहरी में साधन–भक्ति, भाव–भक्ति तथा प्रेम–भक्ति का क्रमशः दो–दो गुणों की वृद्धि करते हुए छः पदों से भक्ति का माहात्म्य वर्णन करेंगे।।४४।।

किञ्च—

२४–स्वल्पाऽपि रुचिरेव स्याद्भक्तितत्त्वावबोधिका।
युक्तिस्तु केवला नैव यदस्या अप्रतिष्ठता।।४५।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*अत्र बहिर्मुखान् प्रत्यन्यदप्युच्यते इत्याह–किञ्चेति, रुचिरत्र भक्तितत्त्वप्रतिपादकशब्देषु श्रीमद्भागवतादिषु प्राचीनसंस्कारेणोत्तमत्वज्ञानं, सैव भक्तितत्त्वमवबोधयति यथाशब्दं श्रद्धापयतीति, केवला शुष्का नैवेति किन्तु तद्रुचिसहिता, इत्थमेव वक्ष्यते (१।२।१७) 'शास्त्रे युक्तौ च निपुण' इति।।४५।।*

● *अनुवाद*–हृदय में यदि थोड़ी सी भी रुचि या श्रद्धा हो, तो वह भक्तितत्त्व को आविर्भूत कर देती है। केवल युक्ति अर्थात् शुष्क तर्क से भक्तितत्त्व नहीं जाना जा सकता; क्योंकि तर्क को अप्रतिष्ठित–कभी न जम सकने वाला कहा गया है। (युक्ति के साथ श्रद्धा की अनिवार्यता है)।।४५।।

तथा प्राचनैरप्युक्तम्–

२२–यत्नेनापादितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते।।४६।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*अप्रतिष्ठतामेव दर्शयति। प्राचीनैः 'तर्काप्रतिष्ठानात्,' (ब्र० सू० २/१/१२) इति न्यायानुसारिभिर्वार्त्तिककारादिभिः। अभियुक्ततरास्तार्किकेषु प्रवीणतराः।।४६।।*

● *अनुवाद*–**प्राचीन आचार्यों ने इस प्रकार कहा है कि अत्यन्त कुशल तार्किकगण जिस मत को प्रयत्न पूर्वक सिद्ध करते हैं, उनसे और अधिक विद्वान या प्रबल तार्किक उनके मत को काट कर दूसरा मत स्थापन कर देते हैं, अतः तर्क कभी टिकाऊ नहीं है।।४६।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–उपर्युक्त कारिका में एवं उसके समर्थक आर्षवचनों में श्रीगोस्वामिपाद ने भक्ति के उदित होने के कारण का कुछ इंगित किया है। "भक्ति किसी तर्क या युक्ति से किसी के हृदय में आविर्भूत नहीं होती। जिस के हृदय में थोड़ी सी भी रुचि भक्ति के प्रति रहती है, उसमें ही भक्ति के उदित होने की सम्भावना है। रुचि से यहाँ तात्पर्य है पूर्व अथवा इस जन्म के संस्कारों से भक्तितत्त्व के प्रतिपादक शब्दमय श्रीमद्भागवत–गीतादि भक्ति शास्त्रों में उत्तमता का ज्ञान। वे परम सत्य हैं, अपौरुषैय हैं एवं उनमें वर्णित अनुष्ठानों से ही भव–बन्धन का नाश होकर भगवत्–प्राप्ति हो सकती है, ऐसी संस्कार–रूप रुचि जिनके हृदय में है, उनके हृदय में भक्ति के उदित होने की सम्भावना है।

'तर्काप्रतिष्ठानात्'–ब्रह्मसूत्र (२।१।१२) का अभिप्राय भी यही है कि भगवत्–तत्त्व से अभिन्न भक्तितत्त्व तर्क से कभी भी बोधगम्य नहीं होता, क्योंकि आज एक तार्किक कुछ सिद्ध करता है, कल उससे चतुर दूसरा तार्किक उसके मत का खण्डन कर दूसरा मत स्थापन करता है। इसलिए भक्तितत्त्व तर्क का या शुष्क युक्तियों का विषय नहीं है। उसके लिए भक्ति–शास्त्रों में श्रद्धा और उनकी उत्तमता का ज्ञान होना परमावश्यक है।।४६।।

इति श्रीभक्तिरसामृतसिन्धौ पूर्वविभागे सामान्यभक्ति लहरी प्रथमा।।१।।

● ● ●

द्वितीय-लहरी : साधनभक्तिः

सा भक्तिः साधनं भावः प्रेमा चेति त्रिधोदिता।।१।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*सा भक्तिरिति। आपाततः प्रतीत्यर्थमेवेदं विवेचनं; विशेषतस्त्विदं ज्ञेयम्—भक्तिस्तावद्द्विविधा—साधनरूपा साध्यरूपा च। तत्र प्रथमाया लक्षणं भेदाश्च वक्ष्यन्ते, द्वितीया तु हार्दरूपा, सापि भक्तिशब्देनोच्यते। यथैकादशे (३।११) भक्त्या संजातया भक्त्या विभ्रत्युत्पुलकां तनुमिति, अस्याश्च भाव—प्रेम—प्रणय—स्नेह—रागाख्याः पंच भेदाः। तथोज्ज्वलनीलमणावस्य परिशिष्टग्रन्थे मानानुरागमहाभावास्त्रयश्च सन्ति। तदेवमष्टौ, तथापि भाव प्रेमेति द्विभेदत्वेनोक्तिस्तूपलक्षणामेवर्थ—*

प्रेम्ण एव विलासत्वाद्वैरल्यात् साधकेष्वपि।
अत्र स्नेहादयो भेदा विविच्य न हि शंसिताः।।

इत्यत्रैव प्रेमलहर्यन्ते (१।४।१६) वक्ष्यमाणात्वात्।।१।।

● ***अनुवाद*—वह भक्ति तीन प्रकार की है—१—साधनभक्ति, २—भावभक्ति तथा ३—प्रेमभक्ति।।१।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—पूर्व विभाग की प्रथम लहरी में श्रीरूपगोस्वामिपाद ने भक्ति का सामान्य रूप से विवेचन किया है। इसलिए उस लहरी का नाम 'सामान्य—भक्ति लहरी' रखा गया। उस भक्ति के तीन भेद किये गये हैं, साधन—भक्ति, भाव—भक्ति तथा प्रेम—भक्ति। इस द्वितीय लहरी में साधनभक्ति का विशेष रूप से विवेचन किया गया है, इसलिए इसका नाम 'साधन—भक्ति लहरी' रखा गया है।

श्रीजीव गोस्वामीजी का मत है कि यहाँ आपाततः भक्ति के तीन भेद दिखलाए गए हैं, किन्तु मुख्यरूप से भक्ति के दो भेद हैं, १—साधन—भक्ति तथा २—साध्य—भक्ति। साध्यभक्ति को 'हार्दरूपा' अर्थात् 'हृदयनिष्ठा भक्ति' भी कहा जाता है। उस हार्दरूपा भक्ति के अन्तर्गत उन्होंने भावभक्ति तथा प्रेमभक्ति को माना है। श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुः, का परिशिष्ट रूप है 'श्रीउज्ज्वलनीलमणि' ग्रन्थ। उसमें हार्द—भक्ति के अन्तर्गत, भाव, प्रेम, प्रणय, स्नेह, राग, नाम के पाँच प्रकार के भेदों का वर्णन किया गया है। अतः भक्ति के मुख्य रूप से दो भेद साधन—भक्ति और साध्यभक्ति हैं।

किन्तु श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ने कहा है, भक्ति साधन एवं साध्य रूप से दो प्रकार की होते हुए भी यहाँ उसके तीन प्रकार माने गए हैं। यहाँ भाव—भक्ति को पृथक्‌रूप में गिना गया है, क्योंकि भावभक्ति साध्य—भक्ति के अन्तर्भुक्त नहीं मानी जा सकती। श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुः (२।१।२७६) में साधकों के लक्षण निरूपण करते हुए कहा गया है कि जातरति तथा सम्यक् रूप से अप्राप्त—निर्विघ्न एवं कृष्णसाक्षात्कार के योग्य भक्त 'साधक' हैं। यहाँ जातरति का तात्पर्य है—जिनमें श्रीकृष्ण के प्रति रति अर्थात् भाव उदित हुआ है या भाव—भक्ति युक्त हैं। साथ ही ऐसे भावयुक्त साधकों के विषय में कहा गया है कि वे सम्यक्‌रूप से अप्राप्त—निर्विघ्न

होते हैं अर्थात् उनमें प्रबलतम किसी न किसी महदपराध का कुछ अंश बाकी रहता है। वे सम्यक् प्रकार से विघ्न–रहित या अपराध–रहित नहीं होते। अतः अपराधरूप विघ्न के शेष रहते हुए साध्य–भक्ति का उदय नहीं हो सकता। साध्य–भक्तियुक्त सिद्धभक्तों के लक्षण निरूपण करते हुए भक्तिरसामृतसिन्धुः (२।१।३८०) में कहा गया है कि सिद्ध–भक्त निखिल–क्लेश रहित होते हैं एवं सदा कृष्णाश्रित क्रिया–परायण होते हैं, अर्थात् साध्यभक्ति–विशिष्ट भक्तों में अपराध अनर्थादि विघ्नों का लेशमात्र भी नहीं रहता। इसलिए भावभक्ति को साध्यभक्ति (प्रेमभक्ति) के अन्तर्भुक्त यहाँ नहीं माना गया है।

भावभक्ति साधनभक्ति के अन्तर्भुक्त भी नहीं हैं, क्योंकि साधनभक्ति को भक्तिरसामृतसिन्धु (१।२।२) में साध्यभावा कहा गया है अर्थात् साधन भक्ति भावभक्ति को उदित करती है। साधनभक्ति के आचरण करते–करते भावभक्ति की उत्पत्ति होती है। भावभक्ति जन्य है और साधनभक्ति जनक है। जन्य पदार्थ जनक पदार्थ नहीं हो सकता। अतएव भावभक्ति साधनभक्ति के अन्तर्भुक्त भी नहीं है। इसलिए यहाँ भक्ति के तीन भेद स्वीकार किए गये हैं।।१।।

तत्र साधनभक्तिः–

२–कृतिसाध्या भवेत् साध्यभावा सा साधनाभिधा।
नित्यसिद्धस्य भावस्य प्राकट्यं हृदि साध्यता।।२।।
३–सा भक्तिः सप्तमस्कन्धे भंग्या देवर्षिणोदिता।।३।।

यथा सप्तमे (७।१।३१)–

१–तस्मात्केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत्।।इति।।४।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*कृतीति। सामान्यतो लक्षितोत्तमा भक्तिः। कृत्येन्द्रियप्रेरणया साध्या चेत्, सा साधनाभिधा भवति। कृत्यास्तदन्तर्भावश्च पूर्वक्रियाया यज्ञान्तर्भाववत्, तत्र भावाद्यनुभावरूपाया व्यवच्छेदार्थमाह, साध्यो भावः प्रेमादिरूपो यया सा, न तु भावसिद्धा। सा हि तदंगत्वात् साध्यरूपैवेति। साध्यभावे–त्यनेन सा साध्यपुमर्थान्तरा परिहृता; उत्तमाया एवोपक्रान्तत्वात्, भावस्य साध्यत्वे कृत्रिमत्वात् परमपुरुषार्थत्वाभावः स्यादित्याशंक्याह–नित्येति। भगवच्छक्तिवृत्तिविशेषत्वेनाग्रे (१।३।१) साधयिष्यमाणत्वादिति भावः।।२।।*

सेति। नन्वत्र (भा० ७।१।२५)–

तस्माद्वैरानुबन्धेन निर्वैरेण भयेन वा।
स्नेहात्कामेव वा युञ्जयात् कथंचिन्नेक्षते पृथग्।।इति।।

भयद्वेषावति विहितौ, तर्हि तावपि भक्ति स्यातां, यदि स्यातां तदानुकूल्येनेति विशेषण–विरोधः स्यात् ? तत्राह–भंग्येति। यः खलुभयद्वेषयोरपि मंगलं विदधीत, तस्मिन्नपि को वा परमपामरो भक्तिं न कुर्वीत, प्रत्युत तौ विदधीतेति परिपाट्येत्यर्थः। युञ्ज्यादिति तु सम्भावनायामेव लिङ् विधानात्, न तु विधौ; भयद्वेषयोर्विधातु–मशक्यत्वात्, यद्यपि श्रीकृष्णपरमेवेदं वाक्यं, तथापि तदंशादौ च तारतम्येन ज्ञेयम्।।३।।

तस्मादिति। उपायेन कामादिना निर्वैरशब्दप्रतिपादयितव्येन विधिना च द्वारा, मनोनिवेशोपलक्षणत्वेन तत्तदिन्द्रियचेष्टा च भक्तिरित्यर्थः; तथापि केनापि योग्येन भयद्वेषातिरिक्तेन स्वमनोऽनुकूलेनैकतरेणैवेत्यर्थः।।४।।

● *अनुवाद*–अब साधन–भक्ति की विवेचना करते हैं, जो भक्ति इन्द्रियों की प्रेरणा या व्यापार से साधित होती है और जिसके द्वारा भावभक्ति की सिद्धि या प्राप्ति होती है, उसे 'साधन–भक्ति' कहते हैं। नित्यसिद्ध भाव का हृदय में प्रकट होना ही भक्ति की साध्यता है।।२।।

उस साधन–भक्ति को श्रीभागवत (७।१।३१) में देवर्षि श्रीनारद ने परिपाटी से अथवा चतुरता–पूर्वक प्रकारान्तर से इस प्रकार कहा है–'इसलिए किसी न किसी उपाय से मन को भगवान् श्रीकृष्ण में लगाना चाहिए।।३–४।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*– उत्तमा–भक्ति के जिन अंगों का जब देह इन्द्रियों से आचरण किया जाता है, उन आचरणों या साधनों को 'साधन–भक्ति' कहते हैं। श्रवण–कीर्त्तन–स्मरण आदि उत्तमाभक्ति के साधन माने गए हैं। इन्द्रियों द्वारा साधित होने पर भी अथवा साधन होते हुए भी इन्हें 'नित्यसिद्ध भक्ति' ही माना गया है, जैसे यज्ञ के लिए जो कार्य यज्ञ की तैयारी के लिए किये जाते हैं, यज्ञ के अन्तर्भुक्त होने से उन्हें भी यज्ञ का अंग माना जाता है। भक्ति के अतिरिक्त और कोई भी वस्तु भक्ति को उदित नहीं कर सकती। इसलिए भक्ति के साधन भी वस्तुतः भक्ति स्वरूप ही हैं। श्रवण–कीर्तनादि भी भगवान् की चित्–शक्ति की वृत्ति विशेष होने से कान–जिह्वादि इन्द्रियों पर आविर्भूत होते हैं। स्वयं नित्य विभुतत्त्व भगवान् श्रीकृष्ण के लिए जैसे कहा जाता है कि वे श्रीवसुदेव जी के घर अवतरित हुए वैसे ही साधन–भक्ति के अंग भी नित्यसिद्ध हैं और केवल मात्र इन्द्रियों पर अवतरित होते हैं।

श्रवण–कीर्तनादि साधन जो केवल उत्तमा–भक्ति श्रीकृष्ण की अनुकूलता पूर्वक अन्यान्य कामनाओं से रहित होकर किए जाते हैं, वे ही भावभक्ति को हृदय में आविर्भूत करते हैं, उन्हें ही साधन–भक्ति माना गया है, किन्तु जो श्रवण कीर्तनादि धर्म–अर्थ–काम एवं मोक्षादि के लिए अर्थात् अन्यान्य कामनाओं की पूर्ति के लिए किये जाते हैं, उनकी साधन–भक्ति में गणना नहीं की गई है।

देवर्षि श्रीनारदजी ने तो कहा है, वैर–द्वेष भाव से, निर्वैर भाव से, भय से, काम अथवा स्नेह भाव से अथवा किसी न किसी उपाय से भगवान् श्रीकृष्ण का भजन–स्मरण करना ही चाहिए। इससे यह समझा जाता है कि वैर–द्वेष एवं भयादि से भी भक्ति की जा सकती है। किन्तु इन भावों की भक्ति में गणना नहीं है। क्योंकि उत्तमा–भक्ति के लक्षणों में कहा जा चुका है कि भगवान् की अनुकूलता लेकर जो मन–वाणी–शारीरिक चेष्टाएँ हैं, वह भक्ति है। अतः ये सब श्रीभगवान् के प्रतिकूल होने से भक्ति नहीं कहे जाते। श्रीनारद जी ने तो यह बात भंगी क्रम से कही है। इसका तात्पर्य यह है कि जो वैर–द्वेष–भयादि से श्रीभगवान् में मन लगाते हैं, उनका भी वे मंगल विधान करते हैं; फिर ऐसा परम नीच व्यक्ति कौन होगा जो उनकी श्रद्धा पूर्वक भक्ति न करेगा ? इस प्रकारान्तर

से भगवान् की विहित–भक्ति का आचरण करने का ही उन्होंने उपदेश किया है।।२–४।।

४–वैधी रागानुगा चेति सा द्विधा साधनाभिधा।।५।।

तत्र वैधी–

५–यत्र रागानवाप्तत्वात् प्रवृत्तिरुपजायते।
शासनेनैव शास्त्रस्य सा वैधी भक्तिरुच्यते।।६।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*यत्र भक्तौ; प्रवृत्तिः पुंसो रागानवाप्तत्वात् रागेणानवाप्तेति हेतोः शास्त्रस्य शासनेनैवोपजायते, सा भक्तिर्वैधी उच्यते, रागोऽत्रानुरागस्तद्रुचिश्च। अग्रे (१।२।२७०–७२) रागात्मिका रागानुगयोर्भेदस्य वक्ष्यमाणत्वात्। शासनेनैवेत्येवकारात् रागप्राप्तत्वमपि चेत्तर्हि अंशेनैव वैधीत्वं ज्ञेयम्।।६।।*

● ***अनुवाद*–वह साधन–भक्ति दो प्रकार की है; १–वैधी तथा २–रागानुगा।।५।। वैधी–भक्ति उसे कहते हैं, जिसमें शास्त्र के शासन से प्रवृत्ति होती है, स्वाभाविक राग या रुचि उसकी प्रवर्तक नहीं होती।।६।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–शास्त्रों में अनेक प्रकार के ऐसे वचन हैं, जो यह बताते हैं कि वर्णाश्रम–धर्म पालन करने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है, किन्तु पुण्यों के फलभोग लेने के बाद पुनः संसार में आकर जीवन–मरण का दुःख भोगना पड़ता है। संसार के अनेक दुःखों का वर्णन करने के बाद शास्त्र यह भी कहता है कि श्रीभगवान् के भजन के बिना जन्म–मृत्यु रूप संसार चक्र से छुटकारा नहीं मिल सकता। माया ही समस्त दुःखों की मूल है और उसकी निवृत्ति मायापति भगवान् श्रीकृष्ण की शरण लिए बिना कभी नहीं हो सकती; शास्त्रों के ऐसे वचन सुनकर जिस भक्ति में मनुष्य की प्रवृत्ति होती है, उसे 'वैधी–भक्ति' कहते हैं।।६।।

यथा द्वितीये (२।१।५)–

२–तस्माद् भारत ! सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्त्तव्यश्चेच्छताऽभयम्।।७।।

पाद्मे च–

३–स्मर्त्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्त्तव्यो न जातु चित्।
सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतयोरेव किंकराः।।८।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*सर्व इति।। "अहरहः संध्यामुपासीत", "ब्राह्मणो न हन्तव्य" इत्यादिरूपाः। एतयोः स्मर्तव्या विस्मर्त्तव्यरूपयोर्विधिनिषेधयोरेव किंकराः अधीनाः, विपरीते तु विपरीतफला भवन्तीति भावः, चिच्छब्दस्त्वत्र जातु–शब्दस्यार्थद्योतक एव, न तु वाचकः।।८।।*

● ***अनुवाद*–श्रीमद्भागवत (२।१।५) में शुकदेव जी ने शासन करने वाले वचनों को इस प्रकार कहा है, हे परीक्षित् ! जो व्यक्ति अभय चाहते हैं, उनको सबकी आत्मा, सर्व शक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्ण का श्रवण, कीर्तन एवं स्मरण करना चाहिए।।७।।**

पद्मपुराण में कहा गया है—भगवान् श्रीकृष्ण का स्मरण सदा करना चाहिए और कभी भी उनको भूलना नहीं चाहिए। अन्यान्य जितने भी विधि, निषेध हैं, वे इन दोनों अर्थात् भगवत्—स्मरण और भगवत्—विस्मरण के सेवक हैं।।८।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—इस प्रकार के वचनों को सुन—पढ़कर शास्त्र शासन—भय से अनेक लोग भक्ति करते हैं, उनकी भक्ति 'वैधीभक्ति' कहलाती है। राग अर्थात् स्वाभाविक रुचि अथवा भक्ति में उनका सहज लोभ नहीं होता। उपर्युक्त दोनों श्लोकों में भगवत्—श्रवण—कीर्तन स्मरणादि विधि का उल्लेख किया गया है, वह विधि सब वर्ण तथा सब आश्रम के लोगों के लिए पालनीय है। गो—ब्राह्मण—हत्यादि जैसे सबके लिए निषेध हैं, उसी प्रकार श्रीभगवान् की विस्मृति भी सबके लिए निषेध है।।७—८।।

६—इत्यासौ स्याद्विधिर्नित्यः सर्ववर्णाश्रमादिषु।
नित्यत्वेऽप्यस्य निर्णीतमेकादश्यादिवत्फलम्।।६।।

यथा एकादशे तु व्यक्तमेवोक्त (११।५।२—३)—

४—मुखबाहूरुपादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह।
चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथक्।।१०।।
५—य एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम्।
न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद् भ्रष्टाः पतन्त्यधः।।११।।

तत्फलं च तत्रैव (भा० ११।२७।४६)—

६—एवं क्रियायोगपथैः पुमान् वैदिकतान्त्रिकैः।
अर्चन्नुभयतः सिद्धिं मत्तो विन्दत्यभीप्सिताम्।।१२।।

पञ्चरात्रे च—

७—सुरर्षे ! विहिता शास्त्रे हरिमुद्दिश्य या क्रिया।
सैव भक्तिरिति प्रोक्ता तथा भक्तिः परा भवेत्।।१३।।इति

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*इत्यसाविति कारिका तु— '''एवं क्रियायोगपथैः पुमानित्यनन्तरं (१।२।१२) पठनीया; इति शब्देन पूर्वप्रकरणस्य हेतुतायां योग्येन कृतमुखाया एतस्याः कारिकाया उपसंहारवाक्यता—प्राप्तेस्तत्प्रकरणान्त एव योग्यत्वात्।।६।। तत्फलमुदाहरन्नर्च्चनमुपलक्ष्याह—एवमिति। तदुक्तम् (२।३।१०)—'अकामः सर्वकामो वा'' इत्यादेः।।१२।। सामस्त्येन दर्शयन् परमफलमाह पंचेति। ''सैव भक्तिरित्यत्र'' वैधीति गम्यं, तत्प्रकरण—पठितत्वात्।।१३।।*

● **अनुवाद—यह वैधी—भक्ति समस्त वर्णों और आश्रमों के लोगों के लिए नित्य—विधि है। नित्य—विधि होते हुए भी एकादशी व्रत के समान इसके फल का निर्णय किया गया है।।६।।**

श्रीमद्भागवत (११—५—२ एवं ३) में यह बात योगेश्वर चमस ने कही है—हे राजन् ! विराट्—पुरुष के मुख से (सत्त्व—प्रधान) ब्राह्मण, भुजाओं से (सत्त्व—रज प्रधान) क्षत्रिय, जाँघों से (रज—तम प्रधान) वैश्य और चरणों से (तमःप्रधान) शूद्रों की पृथक्—पृथक् उत्पत्ति हुई है। इसी प्रकार उनकी जाँघों से गृहस्थाश्रम,

हृदय से ब्रह्मचर्य, वक्षस्थल से वानप्रस्थ तथा मस्तक से संन्यास; ये चार आश्रम प्रकट हुए हैं। इन चारों वर्णों और आश्रमों के जन्मदाता, स्वयं भगवान् ही हैं। वही इन सबके स्वामी, नियन्ता और आत्मा भी हैं। अतः इन वर्णों और आश्रमों में रहने वाले जो व्यक्ति उन श्रीभगवान् का भजन नहीं करते हैं, उल्टा उनका अनादर करते हैं, वे अपने स्थान, वर्ण, आश्रम, और मनुष्य योनि से भी भ्रष्ट हो जाते हैं, उनका अधः पतन हो जाता है।।१०—११।।

श्रीमद्भागवत (११—२७—४६) में वैधी भक्ति के सम्बन्ध में इस प्रकार उल्लेख है—भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा, हे उद्धव ! जो मनुष्य इस प्रकार वैदिक, तान्त्रिक क्रिया योग द्वारा मेरी पूजा करता है, वह इस लोक तथा परलोक में मुझ परमात्मा से अपनी मनोवांछित सिद्धि प्राप्त करता है।।१२।।

श्रीनारदपंचरात्र में कहा गया है, हे देवर्षि नारद ! शास्त्रमें श्रीभगवान् की आराधना के उद्देश्य से जो साधन रूप क्रिया बतलाई गई है, वह वैधी भक्ति है। इस भक्ति का अनुष्ठान क्रम से प्रेम लक्षणा भक्ति को उदित करता है।।१३।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*— कर्मकाण्ड के निरूपक शास्त्रों में चार प्रकार के कर्मों का उल्लेख पाया जाता है। किसी निमित्त के उपस्थित होने पर जात—कर्म आदि संस्कार "नैमित्तिक—कर्म" कहलाते हैं। किसी कामना की पूर्ति के लिए किए जाने वाले पुत्रेष्टि यज्ञादि "काम्य—कर्म" कहे जाते हैं। वेदों में निषिद्ध प्राणि—हिंसादि 'निषेद्ध—कर्म' हैं और चौथे हैं "नित्य—कर्म" जैसे सन्ध्या—वन्दनादि। नित्य—कर्म का लक्षण—है—'अकरणे प्रत्यवाय साधनानि नित्यानि।' जिनके करने का कोई विशेष फल तो नहीं है परन्तु जिन्हें न करने पर पाप उत्पन्न होते हैं, वे 'नित्य—कर्म' कहलाते हैं। श्रीगोस्वामिपाद ने वैधी—भक्ति को भी नित्य—कर्म में गिनाया है। इसमें आपात दृष्टि से ऐसा लगता है कि इसका भी कोई विशेष फल नहीं है। परन्तु इसका समाधान करते हुए उन्होंने आगे लिखा है कि यद्यपि वैधी—भक्ति नित्य है परन्तु इसका विशेष फल है जैसे एकादशी व्रत नित्य है, नित्य—पालनीय है, चारों वर्णाश्रमों के लिए और शास्त्रों में उसका विशेष फल प्रतिपादित किया गया है, उसी प्रकार वैधी—भक्ति नित्य होते हुए उसका विशेष फल है। वैधी—भक्ति का अनुष्ठान करने वाले संसार या माया बन्धन के भय से निर्भय हो जाते हैं। उनका अधःपतन नहीं होता। जैसा कि श्रीभागवत (२।३।१०) में कहा गया है, निष्काम हो अथवा सब प्रकार की कामना युक्त हो अथवा मोक्षकामी ही क्यों न हो, उदार बुद्धि व्यक्ति को भगवान् श्रीहरि का तीव्र भक्तियोग से भजन करना चाहिए। वैधी—भक्ति के अनुष्ठान से कभी—कभी रागानुगा भक्ति में भी प्रवेश की सम्भावना रहती है। अतः वैधी—भक्ति चारों आश्रमों के मनुष्यों के लिए नित्य कर्तव्य है।

इस सिद्धान्त का भी एक शास्त्रानुमोदित कारण है। जो विरक्त हैं, वे ज्ञान—मार्ग के अधिकारी हैं और उनके लिए वैराग्य अनिवार्य हैं और जो अति आसक्त हैं वे कर्म—मार्ग के अधिकारी हैं, उन्हें कर्म—काण्ड में अत्यन्त आसक्ति की

अपेक्षा है। अतः अति विरक्त और अति आसक्त लोग भक्ति के अधिकारी नहीं हैं। विशेषतः ज्ञान और वैराग्य भक्ति के विरोधी हैं; भक्ति के अंग ही नहीं हैं–

ज्ञान–वैराग्य भक्तिर कभु नहे अंग।। श्रीचैतन्य चरितामृत २।२२।८२।।

श्रीभगवान् ने भी (भा० ११।२०।३१) श्रीउद्धव जी से यह बात स्पष्ट कही है–

तस्मात् मद्भक्तियुक्तस्य योगीनो वै मदापनः।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह।।

हे उद्धव ! जिसने मुझमें अपना चित्त लगा दिया है और जो मेरी भक्तियुक्त है, उस भक्ति–योग के लिए ज्ञान और वैराग्य प्रायः मंगलकारी नहीं होते, बल्कि अमंगलकारी ही होते हैं।।६–१३।।

तत्राधिकारी–

७–यः केनाप्यतिभाग्येन जातश्रद्धोऽस्य सेवने।
नातिसक्तो न वैराग्यभागस्यामधिकार्यसौ।।१४।।

यथैकादशे (११।२०।८)–

८–यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः।।१५।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*अतिभाग्येन महत्संगादिजात–संस्कारविशेषण।।१४।। यदृच्छयेति। तदेतच्छ विवृतं स्वयं भगवता (भा० ११।२०।२७।२८)–*

"जातश्रद्धो मत्कथासु निर्व्विण्णः सर्वकर्मसु।
वेद दुःखात्मकान् कामान् परित्यागेऽप्यनीश्वरः।।
ततो भजेत मां प्रीतः श्रद्धालुर्दृढ़निश्चयः।
जुषमाणश्च तान् कामान् दुःखोदर्कांश्च गर्हयन्।।"इति।।

अत्र तत इति तामवस्थामारभ्येत्यर्थः। भक्तिर्हि स्वतः प्रबलत्वादन्यनिरपेक्षा, न तु ज्ञानादिवत् सम्यग्वैराग्यादि सापेक्षा। कर्मनिर्वेदापेक्षा त्वह्यनन्यतासिद्ध्यर्थे–वेति तस्यामेवावस्थायां प्रवृत्तिर्युक्ता। किन्तु आत्मारामाश्च मुनय' इत्यादेर्न तु तत्रैव तस्याः समाप्तिरिति भावः।।१५।।

● *अनुवाद*–किसी अतिशय सौभाग्य से जिस व्यक्ति में श्रीभगवान् की सेवा करने की श्रद्धा उत्पन्न होती है और वह न तो अति आसक्ति युक्त हो एवं न वैराग्ययुक्त हो अर्थात् भजन–प्रतिकूल मर्कट वैराग्य रहित वह व्यक्ति साधन–भक्ति का अधिकारी है।।१४।।

जैसा कि श्रीमद्भागवत (११।२०।८) में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है, हे उद्धव ! जो पुरुष न तो अति विरक्त है और न अति (संसार में) आसक्त है, तथा किसी सौभाग्य से मेरी लीला–कथादि में जिसकी श्रद्धा उत्पन्न हो गयी है, वह भक्तियोग का अधिकारी है और उसे भक्तियोग से सिद्धि मिल जाती है।।१५।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–वैधी–भक्ति के अधिकार की विवेचना में उपर्युक्त दोनों श्लोकों में किसी (अतिशय) सौभाग्य की बात कही गयी है। वह सौभाग्य क्या हो सकता है ? यदि किसी शुभ कर्म (दान–पुण्य, व्रत, यज्ञादि) को सौभाग्य मान लिया जाय तो फिर भक्ति को भी कर्म के अधीन मानना होगा, वह निरपेक्ष न रहेगी, परन्तु वह स्वतन्त्र, परम स्वच्छन्द एवं निरपेक्ष है। भक्ति श्रीभगवान् की स्वरूप शक्ति होने से स्वप्रकाश है। अतः ऐसा कोई भी शुभकर्म नहीं है जो भक्ति का जनक हो सके। यदि सौभाग्य का ही कोई कारण न माना जाए तो सौभाग्य ही स्वयं असिद्ध हो जाता है। जो स्वयं असिद्ध है वह भक्ति की सिद्धि में कैसे कारण हो सकता है ? अतः यहाँ 'केनाप्यति भाग्येन' और 'यदृच्छया'–शब्दों का अर्थ केवल महत्–संग है; अर्थात् महत्–पुरुष भगवद् भक्तों के संग एवं उनकी कृपा से भगवान् श्रीकृष्ण की लीला–कथा सुनने में जिसकी श्रद्धा आविर्भूत हो उठती है, वही भक्ति का अधिकारी बन जाता है। जो देह–गेह में अतिशय आसक्ति रहित हैं एवं निष्काम कर्मों के कारण जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो चुका है, वे ज्ञान के अधिकारी हैं। जो अविद्या के कारण अतिशय आसक्त हैं, वे कर्मकाण्ड के अधिकारी हैं। किन्तु जिनको पूर्वजन्म में अथवा इस जन्म में महत् संग प्राप्त हुआ है, वे देह–गेहादि में अतिशय आसक्त नहीं हों, और न ही पूरी तरह विरक्त, वे भक्ति के अधिकारी हैं।।१४–१५।।

८–उत्तमो मध्यमश्च स्यात्कनिष्ठश्चेति स त्रिधा।।१६।।

तत्र उत्तमः–

९–शास्त्रे युक्तौ च निपुणः सर्वथा दृढ़निश्चयः।
प्रौढश्रद्धोऽधिकारी यः स भक्तावुत्तमो मतः।।१७।।

तत्र मध्यमः–

१०–य शास्त्रादिष्वनिपुणः श्रद्धावान्स तु मध्यमः।।१८।।

तत्र कनिष्ठः–

११–यो भवेत्कोमलश्रद्धः स कनिष्ठो निगद्यते।।१९।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*पूर्वं शास्त्रस्य शासनेनैव प्रवृत्तिरित्युक्तत्वाच्छास्त्रार्थ विश्वास एवादिकारणं लब्धम्, अतः श्रद्धाशब्दस्तत्र प्रयुक्तस्तस्माच्छास्त्रार्थ विश्वास एव श्रद्धेति लब्धे श्रद्धातारतम्येन श्रद्धावतां तारतम्यमाह–शास्त्र इति द्वाभ्याम्। निपुणः प्रवीणः, सर्वथेति तत्त्वविचारेण साधनविचारेण च दृढ़निश्चय इत्यर्थः, युक्तिश्चात्र शास्त्रानुगतैव ज्ञेया, (भ० र० सि० १।१।४५) "युक्तिस्तु केवला नैवे" ति युक्तेः स्वातन्त्र्यनिषेधात्, "श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वादिति" न्यायात्–*

"पूर्वापरानुरोधेन कोऽन्वर्थोऽभिमतो भवेत्।
इत्याद्यमूहनं तर्कः शुष्कतर्कं तु वर्जयेद्।।"इति।।वैष्णवतन्त्राच्च।

एवं भूतो यः प्रौढश्रद्धः स एवोत्तमोऽधिकारीत्यर्थः।।१७।। अनिपुण इति निपुणसदृशः, बलवद्बाधे दत्ते सति समाधातुमसमर्थ इत्यर्थः। तथापि श्रद्धावान् मनसि दृढ़निश्चय एवेत्यर्थः।।१८।। यो भवेदित्यत्रापि शास्त्रादिष्वनिपुण इत्यनुवर्त्तनीयं, श्रद्धामात्रस्य

शास्त्रार्थविश्वासरूपत्वात्। ततश्चात्रानिपुण इति यत्किंचिन्निपुण इत्यर्थः। कोमलश्रद्धः शास्त्रयुक्त्यन्तरेण भेत्तुं शक्यः।।१६।।

● **अनुवाद–उस वैधी–भक्ति के अधिकारी उत्तम, मध्यम एवं कनिष्ठ तीन प्रकार के होते हैं।।१६।। उनमें उत्तम–अधिकारी का लक्षण इस प्रकार है–शास्त्र एवं युक्ति (तर्क) में जो निपुण हो सदा दृढ़ निश्चय वाला हो एवं प्रौढ़ श्रद्धा वाला हो, वह भक्ति–अधिकारियों में उत्तम है।।१७।। मध्यम भक्ति–अधिकारी वह है, जो शास्त्र एवं युक्ति में तो निपुण न हो, परन्तु श्रद्धावान् हो।।१८।। कनिष्ठ–अधिकारी वह है जो (शास्त्रादि में) निपुण न हो और दुर्बल श्रद्धा वाला हो।।१६।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–शास्त्र में निरूपित विषय के तात्पर्य–अर्थ को जो प्रतिपादन कर सकता है और शास्त्रानुगत अनुकूल तथा प्रतिकूल युक्तियों द्वारा जो संगत–अर्थ को स्थिर कर सकता है; उपास्य, साधन एवं पुरुषार्थ का जिसने विचार पूर्वक सुदृढ़ निश्चय कर लिया है, जिसने समस्त संसार के सुखों को भक्ति सुख के सामने अति तुच्छ अनुभव कर लिया है और हरिभक्ति में जिसकी अटूट श्रद्धा है, वह भक्ति का "उत्तम–अधिकारी" है। इसी प्रकार जो शास्त्र एवं शास्त्र–युक्तियों में चतुर नहीं है किन्तु चतुरों के सदृश है, परन्तु श्रद्धावान् है, वह "मध्यम अधिकारी" है तथा जिसकी भक्ति में श्रद्धा दुर्बल है, कच्ची है, अर्थात् किसी दूसरे मार्ग की युक्ति सुनकर भक्ति मार्ग से डांवाडोल हो जाता है, वह कनिष्ठ–अधिकारी है।

विचार पूर्वक देखा जाय तो श्रद्धा के तारतम्यानुसार ही अधिकारियों का तारतम्य है। श्रद्धा नाम है शास्त्र के वचनों में दृढ़ विश्वास का होना। जितना दृढ़ विश्वास शास्त्र–वचनों में होगा, उतना ही वह व्यक्ति भक्ति का उत्तम अधिकारी है। इस विश्वास या श्रद्धा के तारतम्य का भी कारण है, वह है महत् कृपा का तारतम्य। जितनी अधिक महत्–कृपा किसी को प्राप्त होती है, उतनी अधिक उसकी शास्त्र–वचनों में श्रद्धा हुआ करती है।

१२–तत्र गीतादिषूक्तानां चतुर्णामधिकारिणाम्।
मध्ये यस्मिन् भवतः कृपा स्यात्तत्प्रियस्य वा।।२०।।
१३–स क्षीणतत्तद्भावः स्याच्छुद्धभक्त्यधिकारवान्।
यथेभः शौनकादिश्च ध्रुवः स च चतुःसनः।।२१।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*श्रीभगवद्गीतासु ये चतुर्विधा अधिकारिण उक्तास्तेऽपि शुद्धभक्तितः पूर्वावस्था एवेत्याह–तत्रेति। तत्र च यस्मिन्निति स इति च सामान्येनोक्तिर्यस्मिन् स स इत्यर्थः। शौनकादिर्गणः चतुःसनः सनकादिः। श्रीगीतावाक्यंचेदम् (७।१६–२०)*

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।।
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।।

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्।।
बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।।
कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।इत्यादि।

तत्र ज्ञानी आत्मविदिति टीकाकाराः। तत्रोत्तमत्वस्य कारणञ्च व्याख्यातवन्तः, ज्ञानिनो देहाद्यभिमानाभावेन चित्तविक्षेपाभावान्नित्ययुक्तत्वमेकान्तभक्तित्वञ्च सम्भवति, नान्यस्येति। अत्र चेदं प्रतिपद्यते—तादृशत्वं तस्य तत्त्वं पदार्थज्ञानेऽपि सम्भवतीत्यास्तां तज्ज्ञानी। तत्त्वं पदार्थज्ञानानन्तरभाव्यैक्यज्ञानि—गुरुणामपि श्रीभगवत्प्रसादात् शुद्धभक्तिप्रवेशो दृश्यते, यथा तृतीये (१५।४३)—

तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्दकिंजल्कमिश्रतुलसीमकरन्दवायुः।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकारतेषां संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः।।इति।।

तदेतदभिप्रेत्याह स च चतुःसन इति, तदेवं शुद्धभक्तेरुत्कर्षव्यंजनार्थमेवैष उदाहृतः, न तु वैध्यंशेऽपि रागप्राप्तत्वात्, तच्चानुभवज्ञानित्वाद, अत एव शास्त्रशासनातीतत्वाच्च। वैध्युदाहरणन्तु तादृशशाब्दज्ञानिषु ज्ञेयं। तथारम्भत एव शुद्धभक्त्युत्थाने पंचममप्युदाहरणं द्रष्टव्यं—यथा पूर्वजन्मनि श्रीनारद एव। श्रीगीतादिष्वपिराजविद्याराजगुह्याध्यायादावीदृश एवाधिकारी दर्शितः। तदेत दगीतोदाहरणंच तन्मतानुसारेणापि शुद्धभजने पर्यवस्यतीति ग्रन्थकृद्भिरपिदर्शितम्। श्रीवैष्णवानां मते तु सुतरामेवेति तन्नोटंकितं, वस्तुतस्तु तत्र हि ज्ञानिशब्देन भगवज्ज्ञान्येवोच्यते। पूर्व हि (गी० ७।२) "ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।"

इत्युक्त्वा तस्य च ज्ञानस्य (श्रीगीता ७।३) "मनुष्याणां सहस्रेष्वि"—त्यादिनाऽत्मज्ञानसिद्धेरपि दुर्लभत्वमुक्त्वा स्वस्य च (गी० ७।४) "भूमिराप" इत्यादिना प्रधानाख्यजीवाख्यशक्तिद्वयकारणके स्वस्मिन् परमकारणत्वमुक्त्वा तत एव सर्वश्रेष्ठत्वं सर्वाश्रयत्वंचोक्तं सर्वाश्रयत्वेऽपि (गी० ७।६) "पुण्यो गन्ध" इत्यादौ पुण्यादिशब्दानां यथायोगं सर्वत्र योजनया प्राप्ता दोषास्पृष्टा ये सर्वे गुणास्तेषामतितुच्छानामपि स्वाभेदनिर्देशेन स्वगुणच्छविमयत्वं दर्शयित्वा साक्षात् स्वगुणानां तु कैमुत्यमेवानी—तमानन्त्यं च, तत्र च (गी० ७।१२)

"ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान् विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि।।"

इत्यनेन मायागुणास्पृष्टगुणत्वं दर्शितं। तदेवं भेदेऽपि लब्धे यदुत्तरत्र (गी० ७।१९) "बहूनां जन्मनामित्यादौ "वासुदेवः सर्वमिति" ज्ञानवान्मां प्रपद्यत" इत्यत्र प्रतिपाद्ये यदभेद इव श्रूयते, तत् खलु सूर्य्यतद्रश्म्यादिवद्वासुदेवात् सर्वं न भिन्नं, सर्वस्मात्तु वासुदेवो भिन्न इत्येव संगच्छते। यथोक्तम् श्रीभागवते (२।७।५०) ब्रह्मणा—

सोऽयं तेऽभिहितस्तात भगवान् भूतभावनः।
समासेन हरेर्नान्यदन्यस्मात् सदसच्च यत्।।इति।।

तत्रैव श्रीभगवता (गी० ७।१२) प्रोक्तं "ये चैव सात्त्विका भावा" इत्यादि, श्रीमदर्जुनेन तु (गी० ११।४०) "सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्व" इत्येव वक्ष्यते।

यस्मादेव चैवं भूतज्ञानवान् यः स मां प्रपद्यत इति प्रपत्तिरेव प्रोक्ता, यतो वासुदेवः सर्वमिति मायागुणातीतबाह्याभ्यन्तरानन्तमहागुणलङ्कृतः सोऽहमिति स्वज्ञानमेव निर्दिशन् स्वस्य भजनमेव निश्चिकाय। अथ चतुर्विधा इत्यादि–पद्यानां चायमेवार्थः–आर्त्तो दुःखहानेच्छुः, अर्थार्थी सुखप्राप्तीच्छुः स च स च द्विविधः, परिच्छिन्नापरिच्छिन्नत्वदृष्टिभेदेन, अपरिच्छिन्नदृष्टिश्चेत् तत्तदर्थं कश्चित्तत्त्वजिज्ञासुरपि भवति। व्यतिक्रमेणोक्तिरार्त्तिहानेच्छानन्तरमेव च जिज्ञासा जायत इति। ज्ञानी पूर्वोक्तप्रकारक–शाब्दज्ञानवान्, स चा त्रिविधः, तादृशैश्वर्यमाधुर्यतत्तन्मिश्रत्वज्ञानभेदेन। सुकृतं भक्तिवासनाहेतु–महत्संगादिमयं विद्यते येषां ते। तत्राद्येषु त्रिषु सुकृतस्य सन्देह इति यदि सुकृतिनस्ते तदा भजन्त इत्यर्थः। चतुर्थे तु निश्चयः यतोऽसौ सुकृतित्वाज्जातज्ञानस्ततो भजत एवेत्यर्थः, तेषां मध्ये स एव पूर्वोक्तमज्ज्ञान्नेवान्याभिलाषिताया मतान्तरप्रसिद्धतत्वंपदार्थैक्यभावनारूपज्ञानस्य स्मृतिप्रसिद्धवर्णाश्रमधर्मस्य चोपेक्षया केवलं मां भजन्नुत्तमभक्तत्वात् ममात्यन्तप्रियस्तस्य चाहमत्यन्तप्रिय इति सहेतुकमाह–तेषामित्यादिद्वयेन, नन्वार्त्तादित्रयस्यान्ते का निष्ठा स्यात्तत्राह–बहूनामिति। 'सुकृतिन' इत्यत्र ज्ञापितं सुकृतविशेषं विना त्वन्ये संसरन्तीत्याह–कामैरित्यादि। तस्माच्चतुर्विधत्वमेव भक्तानामिति भगवत्प्रतिज्ञैव निर्णेया।।२०–२१।।

● **अनुवाद–श्रीमद्भगवद्गीता में आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी–ये चार प्रकार के अधिकारी कहे गए हैं। इनमें जिसके ऊपर श्रीभगवान् की अथवा किसी भगवद्–भक्त की कृपा होती है, वह अपने उस–उस भाव को छोड़कर शुद्ध भक्ति का अधिकारी बन जाता है। जैसे गजेन्द्र, शौनकादि, ध्रुवजी तथा सनकादि मुनि अपने–अपने भावों को छोड़कर शुद्ध भक्ति के अधिकारी बन गये।।२०–२१।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–श्रीरूपगोस्वामिपाद ने उत्तम, मध्यम एवं कनिष्ठ–ये तीन प्रकार के भक्ति–अधिकारी गिनाये हैं, किन्तु श्रीमद्गीता (७।१६) में श्रीभगवान् ने कहा है–

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।।

हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन ! शुभ कर्मों वाले आर्त (संकट में घिरे हुए), जिज्ञासु (कल्याण के यथार्थ उपाय को जानने के इच्छुक), अर्थार्थी (संसार के पदार्थों को चाहने वाले) और ज्ञानी (आत्माराम–निष्कामी) ये चार प्रकार के भक्तजन मेरा भजन करते हैं। श्रीगोस्वामिपाद कहते हैं कि इन चार प्रकार के भक्तों का लक्ष्य श्रीकृष्ण–सेवा सम्पादन करना नहीं है। अतः इन सबकी स्थिति भक्ति की पूर्व अवस्था में है, इनकी भक्ति शुद्ध नहीं है। इन चारों प्रकार के भक्तों पर जब श्रीभगवान् की कृपा होती है अथवा भगवद्भक्तों की कृपा होती है, तब ये अपने–अपने भावों को छोड़कर भगवद्–भक्ति में आकृष्ट हो जाते हैं।

गजेन्द्र आर्त–भक्त था। जब उसे ग्राह ने ग्रस लिया और वह अपने समस्त बल–उपचार करके हार गया तो उसने अन्त में अपने प्राणों की रक्षा के लिए श्रीभगवान् को पुकारा। हाथी–योनि में अवस्थित होते हुए भी उसने पूर्वजन्म में

महत्पुरुष की कृपा द्वारा शिक्षा–रूप में प्राप्त किये स्तोत्र का गान करना आरम्भ किया। स्तुति करते हुए वह अपने संकट की निवृत्ति को भूल गया और अपनी रक्षा के लिए कुछ भी नहीं बोला, बल्कि यह कहने लगा–(श्रीभा० ८।३।२५)

जिजीविषे नाहमिहामुया किमन्तर्बहिश्चावृतयेभयोन्या।
इच्छामि कालेन न यस्य विप्लवस्तस्यात्मलोकावरणस्य मोक्षम्।।

हे परमात्मन् ! मैं जीना नहीं चाहता। यह हाथी–योनि अन्दर–बाहर से अज्ञानरूप आवरण से ढकी हुई है। इसको रखकर मुझे क्या करना है ? मैं तो जीव के भगवद्दास–स्वरूपत्व को ढकने वाले उस अज्ञानरूप आवरण से छूटना चाहता हूँ, जो कालक्रम से अपने–आप कभी नहीं छूट सकता। वह केवल आपकी कृपा से ही छूट सकता है।

इस आख्यान से स्पष्ट हो जाता है कि आर्त हाथी ने पूर्वजन्म में महत्–कृपा द्वारा प्राप्त जब भगवत्–स्तोत्र का गान किया, तो वह अपनी प्राण रक्षा की प्रार्थना न कर श्रीभगवान् से अज्ञानावरण की निवृत्ति की याचना करने लगा। उसके फलस्वरूप उसे श्रीभगवान् के दर्शन प्राप्त हुए और पार्षद–शरीर को प्राप्त कर अपने लोक को चला गया।

इसी प्रकार जिज्ञासु भी महत्कृपा से निज कल्याण की बात को छोड़कर भक्ति में प्रविष्ट हो जाते हैं। जैसे शौनकादि ऋषि। वे स्वर्गलोक की इच्छा से हजार वर्षों में पूरा होने वाला एक महान् यज्ञ करते–करते ग्लानियुक्त हो चुके थे और उस कर्म अनुष्ठान में नीरसता अनुभव करने लगे थे। जब वे श्रीसूतजी के चरणों में जाकर अपने कल्याण के उपाय की जिज्ञासा करने लगे, तब श्रीसूतजी ने उत्तर में कहा कि जीवों के लिए कल्याण का सर्वश्रेष्ठ साधन है भक्ति, जिससे श्रीकृष्ण की प्राप्ति होती है। इसी प्रसंग में उन्होंने श्रीकृष्णलीलात्मक श्रीमद्भागवत–पुराण का वर्णन किया। श्रीसूतजी के संग से एवं उनके मुख से कृष्ण–कथा श्रवणरूप कृपा प्राप्त करते ही उनमें श्रद्धा का उदय हो उठा और वे बोले (श्रीभा० १।१२।३)–

तदिदं श्रोतुमिच्छामि गदितुं यदि मन्यसे।
ब्रूहि नः श्रद्दधानानां यस्य ज्ञानमदाच्छुकः।।

श्रीशुकदेवजी ने जिस भगवत्–तत्त्व का उपदेश श्रीपरीक्षित्जी को दिया था, यदि आप हमें उसका अधिकारी समझें तो हमें वही श्रवण कराइये, हम उसे बड़ी श्रद्धा के साथ सुनना चाहते हैं।

महाराज परीक्षित् के चरित्र को सुनकर वे कहने लगे, यदि यह प्रसंग भगवान् श्रीकृष्ण की लीला से अथवा उनके चरणकमलों के मकरन्द रस के आस्वादक रसिकजनों से सम्बन्ध रखता हो तो अवश्य कहिए, दूसरी–दूसरी व्यर्थ की बातों से क्या लाभ ? (श्रीभा० १।१६।६)–

अथवास्य पदाम्भोजमकरन्दलिहां सताम्।
किमन्यैरसदालापैरायुषो यदसद्व्ययः।।

आगे चलकर श्रीशौनकादि ऋषिजन स्वर्गलोक की इच्छा तो क्या जीव–कल्याण के समस्त उपायों की जिज्ञासा से भी विरत होकर बोल उठे, (श्रीभा० २।३।१७)–

आयुर्हरति वै पुंसामुद्यन्नस्तं च यन्नसौ।
तस्यर्ते यत्क्षणो नीत उत्तमश्लोकवार्तया।।

"जिसका समय भगवान् श्रीकृष्ण के गुणों के गान अथवा श्रवण में व्यतीत हो रहा है, उसे छोड़कर अन्य सभी मनुष्यों की आयु को सूर्य उदय–अस्त होकर हरण कर रहा है।

इससे यह स्पष्ट है कि जिज्ञासु–भक्त भी भगवद्भक्तकृपा से समस्त जिज्ञासाओं को त्यागकर भक्ति में प्रवेश करते हैं और तभी वे शुद्धभक्ति के अधिकारी होते हैं।

अर्थार्थी–भक्तों में श्रीध्रुवजी का चरित्र प्रसिद्ध है। राजसिंहासन के लिए तपस्या के लिए वे नगर से बाहर निकल पड़े। श्रीनारदजी ने आकर उनके मस्तक पर अपना पाप–नाशक हस्तकमल रखा और यह भी समझाया कि श्रीनारायण को प्रसन्न करना बड़ा कठिन है। परन्तु ध्रुवजी ने कहा,

मुनिवर ! मैं उस पद को प्राप्त करना चाहता हूँ, जो त्रिभुवन में सबसे श्रेष्ठ है तथा जिस पर मेरे बाप–दादा और दूसरा कोई भी आरूढ़ नहीं हो सका है। आप मुझे तो उसी की प्राप्ति का कोई अच्छा सा मार्ग बतलाइये।

नारदजी ने उसके दृढ़ संकल्प को देखकर उन्हें तपस्या पूर्वक भगवद्–ध्यानादि आराधना की शिक्षा दी। उन्होंने घोर तपस्या की। श्रीभगवान् स्वयं गरुड़ पर विराजमान हो मधुवन में आये। ध्यानावस्थित ध्रुवजी के कपोल से अपना शंख छुआ कर उन्हें चेतन किया। कमल–लोचन श्रीभगवान् के स्वरूपलावण्य को देखकर ध्रुवजी कृतार्थ हो गये। अनेक स्तुति–नति करते हुए बोले (श्रीभा० ४।६।११)–

भक्तिं मुहुः प्रवहतां त्वयि मे प्रसंगो भूयादनन्त महताममलाशयानाम्।
येनाञ्जसोल्बणमुरुव्यसनं भवाब्धिं नेष्ये भवद्गुणकथामृतपानमत्तः।।

हे अनन्त परमात्मन् ! मुझे तो आप उन विशुद्धमन महात्मा भक्तों का संग प्रदान कीजिए, जिनकी आपमें अविच्छिन्न भक्ति है। उनके संग में आपके गुणों और लीलाओं के कथामृत को पान कर मैं उन्मत्त हो जाऊँगा तथा सहज में ही इस अनेक प्रकार के दुःखों से पूर्ण भयंकर संसारसागर से पार हो जाऊँगा।

श्रीध्रुवजी कहाँ तो राजसिंहासन ही नहीं, बल्कि सर्वश्रेष्ठ पद को प्राप्त कर अपनी सुखवांछा को पूर्ण करने के लिए श्रीकृष्ण की घोर तपस्या में जुटे थे, किन्तु श्रीभगवान् के दर्शन प्राप्त करते ही उनसे भक्तसंग और उनके नामगुण–लीलामृत पान करने की प्रार्थना करने लगे। अन्त में श्रीभगवान् की चरणसेवा का संकल्प लेकर उन्होंने प्रभु आदेश से राजपाट को स्वीकार किया।

अतः अर्थार्थी भी श्रीभगवान् की अथवा उनके भक्तों की कृपा प्राप्त होने पर अपने भाव को अर्थात् सुख की वांछा का त्याग कर देते हैं और वे भक्ति के अधिकारी बनते हैं।

ज्ञानी—आत्माराम मुनि, जिनको जीव—ब्रह्मतत्त्व का ज्ञान हो जाता है, वे भी ब्रह्मैक्य—भाव का त्याग कर भक्ति करने लगते हैं। श्रीसनकादि मुनि समस्त ज्ञानियों के गुरु हैं। परन्तु वे भी जब एकबार वैकुण्ठ पधारे, तो श्रीनारायण के चरणारविन्द के मकरन्द से युक्ततुलसीमंजरी की सौरभ मिश्रित वायु को सूँघकर अपने ज्ञान को सम्भाल न सके। उनके मन में उस सौरभ ने खलबली ही पैदा कर दी। आज तक तो वे निर्विशेष ब्रह्मानन्द में अपने को कृतकृत्य जानते थे, परन्तु श्रीभगवान् की सविशेष माधुर्यमूर्ति का साक्षात् दर्शन कर सब ज्ञान और आत्मारामता को भूल गये और बोले—(श्रीभा० ३।१५।४६)—

कामं भवः स्ववृजिनैर्निरयेषु नः स्ताच्चेतोऽलिवद्यदि नु ते पदयो रमेत।
वाचश्च नस्तुलसिवद्यदि तेऽङ्घ्रिशोभाः पूर्येत ते गुणगणैर्यदि कर्णरन्ध्रः।।

हे भगवन्! यदि हमारा चित्त भौंरे की तरह आपके चरणकमलों में ही रमण करता रहे, हमारी वाणी तुलसी के समान आपके चरण—सम्बन्ध से ही सुशोभित हो और हमारे कान आपकी सुयशसुधा से परिपूर्ण रहें तो हमें अपने पापों के कारण भले ही नरकादि योनियों में जाना पड़े, इसकी हमें कोई चिन्ता नहीं है।

इस आलोचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी तथा ज्ञानी ये चारों प्रकार के भजनकारी भक्त—कृपा से ही अपने—अपने भाव त्यागकर श्रीभगवान् की शुद्ध—भक्ति प्राप्त करते हैं। वस्तुतः उक्त चारों में अपनी सुख—प्राप्ति तथा दुःख—निवृत्ति की कामना रहती है। पहले तीनों में स्पष्ट यह बात दीखती है। चौथे ज्ञानी में भी जो मोक्ष—प्राप्ति की कामना है, वह अपने दुःख की आत्यन्तिकी निवृत्ति को लेकर ही है। स्वसुखकामना के रहते हुए शुद्ध—भक्ति में प्रवेश असम्भव है।।२०—२१।।

भक्ति के उदय के लिए अन्य कामनाओं से चित्त का निर्मुक्त होना परमावश्यक है—इसी बात को अगली कारिका में कहते हैं—

१४—भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते।
तावद्भक्तिसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत्।।२२।।
१५—तत्रापि च विशेषण गतिमण्वीमनिच्छतः।
भक्तिर्हृतमनःप्राणान् प्रेम्णा तान् कुरुते जनान्।।२३।।

तथा च तृतीये (श्री भा० ३।२५।३६)—

६—तैर्दर्शनीयावयवैरुदारविलासहासेक्षितवामसूक्तैः।
हृतात्मनो हृतप्राणांश्च भक्तिरनिच्छतो मे गतिमण्वीं प्रयुङ्क्ते।।२४।।इति

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*अथ मूलमनुसरामः—पूर्वत्र हेतुं व्यतिरेकेणाह भुक्तीति। मुक्तिस्पृहायामपि पिशाचीत्वं, भावान्तरेण भक्तिस्पृहाऽवरकत्वात् पूर्वाः परा च स्वोन्मुखतात्पर्यवतीति, अत्र यद्यपि भक्ता अपि संसारतो मुक्ता भवन्त्येव; तथापि तदंशे तु तेषां तात्पर्यं न भवत्येव, किन्तु भक्तेः प्रभावेणैव सा स्यादिति, "व्याप्नोति हृदयं यावद्भुक्तिमुक्तिस्पृहाग्रह" इति पाठन्तरं तु सुश्लिष्टम्, तदेवमनया कारिकया साधकानामपि भुक्तिमुक्तिस्पृहा न युक्तेत्युक्तं, ततः सुतरामेव सिद्धानां नास्तीत्यभिप्रायस्तु परत्रोभयविध—तच्छुद्धाहरणेषु ज्ञेयः।२३। मुक्तीच्छारहिताया भक्तेर्वैशिष्ट्यमाह—*

तत्रापीति। अण्वीं मोक्षलक्षणां, भक्तिः श्रवणादिलक्षणा, हृतमात्मसात् कृतं मनः प्राणाश्चेन्द्रियाणि येषां तथाभूतान् प्रेमद्वारा कुरुते।२३। एतत्प्रमाणयति– तैरिति। दर्शनीयावयवाद्यनुभवजातप्रेमद्वारेत्यर्थः, प्रयुङ्क्ते कुरुते। तदेवमक्लेशप्राप्तत्वात् व्याख्यातं, व्याख्यान्तरेऽपि अण्वीं सूक्ष्मां दुर्ज्ञेयां पार्षदलक्षणामित्येवार्थः, प्रकरणप्राप्तत्वात्। (भा० ३।२५।३७) श्रियं भागवतीं च स्पृयहन्ति भद्रां परस्य मे तेऽश्नुवते हि लोके" इति वक्ष्यमाणात्, तस्या अप्यनिच्छा दैन्येनैवेति भावः।।२४।।

● **अनुवाद–भुक्ति (लौकिक भोग–सुख) और मुक्ति (ब्रह्मानन्द) को प्राप्त करने की कामना पिशाची है, जब तक वह साधक के हृदय में विद्यमान रहती है, तब तक उसमें विशुद्ध–भक्ति का सुख भला कैसे उदित हो सकता है ? अर्थात् भक्ति उस हृदय में कभी भी उदित नहीं हो सकती।।२२।।**

उनमें भी विशेष रूप से जो सूक्ष्म गति अर्थात् मुक्ति को नहीं चाहते, ऐसे भक्तजनों के मन और प्राण–इन्द्रियों को भक्ति प्रेम के द्वारा हरण कर लेती है–अपने वशीभूत कर लेती है।।२३।।

जैसा कि श्रीमद्भागवत (३।२५।३६) में भगवान् श्रीकपिलदेव ने कहा है–हे देवहूति ! सूक्ष्मगति अर्थात् मुक्ति न चाहने वाले भक्तों को मेरी भक्ति मेरे दर्शनीय अंग–प्रत्यंग, उदार–विलास, मन्दमुसकान, मनोहर चितवन और मधुरवाणियों द्वारा हृतात्मा और हृतप्राण बना देती है, अर्थात् उनके आत्मा मन और इन्द्रियों का हरण हो जाता है–उन भक्तों का अपना कुछ भी नहीं रह जाता। मेरे प्रति उनका पूर्णतः आत्मसमर्पण हो जाता है।।२४।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–साधक के हृदय में जब तक इस लोक तथा स्वर्गादि लोकों के सुख–भोगों की इच्छा रहती है और जब तक मुक्ति की कामना रहती है, तब तक उसका हृदय पिशाची के निवास स्थान की तरह अपवित्र अशुद्ध रहता है। अतः उस हृदय में परम पावन–विशुद्ध भक्ति कभी भी उदित नहीं हो सकती। विशुद्ध भक्त के लिए कोई भी भोग–सुख और मोक्ष सुख विचलित नहीं कर सकता। वह केवल भगवत् चरणसेवा एवं कृष्ण का सुख विधान करना चाहता है। इस विषय को श्रीगोस्वामिपाद अगली कारिका में कहते हैं और उसके समर्थन में अनेक शास्त्रीय प्रमाणों को भी उद्धृत करते हैं–

१६–श्रीकृष्णचरणाम्भोजसेवानिर्वृतचेतसाम्।
एषां मोक्षाय भक्तानां न कदापि स्पृहा भवेत्।।२५।।

यथा तत्रैव श्रीमदुद्धवोक्तौ (भा० ३।४।१५)–

१०–को न्वीश ! ते पादसरोजभाजां सुदुर्लभोऽर्थेषु चतुर्ष्वपीह।
तथाऽपि नाहं प्रवृणोमि भूमन् ! भवत्पदाम्भोजनिषेवणोत्सुकः।।२६।।

तत्रैव श्रीकपिलदेवोक्तौ (भा० ३।२५।३४)–

११–नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिद् मत्पादसेवाऽभिरता मदीहाः।
येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य सभाजयन्ते मम पौरुषाणि।।२७।।

तत्रैव (भा० ३।२६।१३)–

१२—सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः।।२८।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*एकात्मताम् ब्रह्मसायुज्यं भगवत्सायुज्यमपि।।२७।। सार्ष्टिः समानैश्वर्यम्।।२८।।*

● *अनुवाद*—भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमलों के सेवा—सुख में निमग्न—चित्त भक्तों में कभी भी मोक्ष की इच्छा नहीं होती।।२५।।

श्रीमद्भागवत (३।४।१५) में उद्धवजी ने कहा है—हे प्रभो ! आपके चरणकमलों की सेवा करने वाले भक्तों को इस संसार में धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थों में कौन सा पुरुषार्थ दुर्लभ है ? अर्थात् सब ही सुलभ हैं; फिर भी हे सर्वशक्तिमान् ! आपके चरणकमलों की सेवा के लिए उत्सुक मैं आपसे उनमें से कुछ भी नहीं माँगता।।२६।।

श्रीमद्भागवत (३।२५।३४) में भगवान् श्रीकपिलदेव ने कहा है—मेरी चरण—सेवा में लगे हुए और मुझे ही चाहने वाले भक्तजन सायुज्य मुक्ति (ब्रह्म सायुज्य तथा ईश्वर—सायुज्य) को नहीं चाहते। (क्योंकि उसमें चरण—सेवानन्द सौन्दर्य—सौरभ्यादि की अनुभूति तथा लीलामृत का आस्वादन नहीं है)। वे मेरी भक्ति के बल या माहात्म्य को अन्यान्य (कर्म—योग—ज्ञानादि) सबसे अधिक समझते हैं।।२७।।

श्रीमद्भागवत (३।२६।१३) में भगवान् कपिलदेव ने कहा है कि मेरे भक्तजन मेरी सेवा को छोड़कर, दिये जाने पर भी सालोक्य (भगवद्—लोक में निवास,) सार्ष्टि (भगवान् के समान ऐश्वर्य), सामीप्य (भगवान् की नित्य समीपता) सारूप्य (श्रीभगवान् के समान आकृति) तथा सायुज्य (ब्रह्म में अथवा भगवान् में लयता)—इन पाँचों प्रकार की मुक्तियों को ग्रहण नहीं करते।।२८।।

चतुर्थ श्रीध्रुवोक्तौ (४।६।१०)—

१३—या निर्वृतिस्तनुभृतां तव पादपद्मध्यानाद्भवज्जनकथाश्रवणेन वा स्यात्।
सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ ! मा भूत्किंत्वन्तकासिलुलितात् पततां विमानात्।।२९।

तत्रैव श्रीमदादिराजोक्तौ (भा० ४।२०।२४)—

१४—न कामये नाथ ! तदप्यहं क्वचिन्न यत्र युष्मच्चरणाम्बुजासवः।
महत्तमान्तर्हृदयान्मुखच्युतो विधत्स्व कर्णायुतमेष मे वरः।।३०।।

पंचमे श्रीशुकोक्तौ (५।१४।४४)—

१५—यो दुस्त्यजान् क्षितिसुतस्वजनार्थदारान्।
प्रार्थ्यां श्रियं सुरवरैः सदयावलोकाम्।।
नैच्छन्नृपस्तदुचितं महतां मधुद्विट्।
सेवाऽनुरक्तमनसामभवोऽपि फल्गुः।।३१।।

षष्ठे श्रीवृत्रोक्तौ (६।११।२५)—

१६—न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा समञ्जस ! त्वा विरहय्य काङ्क्षे।।३२।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*स्वमहिमनि स्वोऽसाधारणो महिमा यस्य तस्मिन्नपि, अन्तकस्यासिना कालेन लुलिताद् विमानात् पततां नास्तीति किमुत वक्तव्यम्।।२६।। तदपि कैवल्यमपि, यत्र भवत्पदाम्भोजमकरन्दो यशःश्रवणादिसुखं नास्ति, तर्हि किं कामयसे ? तत्राह—यशःश्रवणाय कर्णानायुतं विधत्स्व एष मे वरः।।३०।। य आर्षभेयो भरतः।।३१।। नाकपृष्ठं ध्रुवपदं सार्वभौमं श्रीप्रियव्रतादीनामिव महाराज्यं रसाधिपत्यं पातालादिसाम्राज्यम्, अपुनर्भवम् मोक्षमपि, त्वा त्वां विरहय्य त्यक्त्वा। अत्र नाकपृष्ठादीनामनुक्रमश्च न्यूनत्वविवक्षया ततश्चोत्तरोत्तरकैमुत्यमपि, ध्रुवपदस्य श्रैष्ठ्यं विष्णुपदसंनिहितत्वात्, योगसिद्ध्यादिकंतु सर्वत्रैतेषां पश्चाद्विन्यस्तम् अनयोस्तूत्तरत्र श्रैष्ठ्यम्।।३२।।*

● *अनुवाद*—श्रीमद्भागवत (४।९।१०) में श्रीध्रुवजी ने कहा है—हे नाथ ! आपके चरणकमलों के ध्यान से और आपके भक्तों के पावन—चरित्र सुनने से प्राणियों को जो सुख मिलता है, वह स्वयं प्रकाश स्वरूप ब्रह्म में भी प्राप्त नहीं हो सकता। तब यमराज की तलवार से कटकर विमानों से गिरने वाले अन्यान्य देवताओं से कैसे प्राप्त हो सकता है ?।।२६।।

श्रीमद्भागवत (४।२०।२४) में श्रीआदिराज—(महाराज पृथु) ने कहा है—हे प्रभो ! मुझे तो उस मोक्षपद की भी इच्छा नहीं है, जहाँ महापुरुषों के हृदय से उनके मुख द्वारा झरता हुआ आपके चरणकमलों का मकरन्द नहीं हैं, जहाँ आपकी लीला—कथा सुनने का सौभाग्य नहीं मिलता। इसलिए मेरी यह प्रार्थना है कि आप मुझे दस हजार कान दीजिए, जिनसे मैं आपकी लीला—गुण कथा को जहाँ—जहाँ भी हो सुनता ही रहूँ।।३०।। (महत् पुरुषों के श्रीमुख से भगवद्लीला कथा सुनने की प्रार्थना से यह व्यञ्जित होता है कि अवैष्णव या मायावादी लोगों से भगवत्—लीला कथा का श्रवण कभी भी मधुरता—सरसता का उन्मेषक नहीं होता, क्योंकि मीठा जल भी क्षारभूमि में प्रवेश करने से खारा ही हो जाता है)।

श्रीमद्भगवत (५—१४—४४) में श्रीशुकदेव मुनि ने कहा है, हे राजा परीक्षित्। राजा भरतजी ने अति दुस्त्यज पृथ्वी, पुत्र, स्वजन सम्पत्ति और स्त्री तथा देवतागण भी जिसकी लालसा करते रहते हैं, उस श्रीलक्ष्मी की भी याचना नहीं की, सो ठीक ही है; क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा में जिनका मन लग गया है उनके लिए अभवः अर्थात् मोक्ष भी अति तुच्छ है।।३१।।

श्रीमद्भागवत (६—११—२५) में श्रीवृत्रासुर ने श्रीभगवान् की स्तुति करते हुए कहा है, हे सर्वसौभाग्यनिधे भगवन् ! मैं आपकी भक्ति को छोड़कर ध्रुव पद अथवा स्वर्गलोक, ब्रह्म—लोक, (श्रीप्रियव्रतादि की तरह) भूमण्डल का साम्राज्य तथा रसातल का एकछत्र राज्य और योग की अणिमादि सिद्धियाँ एवं मोक्षपद को भी आपसे नहीं चाहता हूँ।।३२।।

तत्रैव श्रीरुद्रोक्तौ (भा० ६।१७।२८)—

१७—नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति।
स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः।।३३।।

तत्रैवेन्द्रोक्तौ (भा० ६।१८।७४)–

१८–आराधनं भगवत ईहमाना निराशिषः।
ये तु नेच्छन्त्यपि परं ते स्वार्थकुशलाः स्मृताः।।३४।।

सप्तमे श्रीप्रह्लादोक्तौ (७।६।२५)–

१९–तुष्टे च तत्र किमलभ्यमनन्त आद्ये।
किं तैर्गुणव्यतिकरादिह ये स्वसिद्धाः।
धर्मादयः किमगुणेन च काङ्क्षितेन।
सारंजुषां चरणयोरुपगायतां नः।।३५।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*श्रीनारायणं विनाऽन्यत्र हानोपादानदृष्टिराहित्याद्, अपवर्ग इव स्वर्गे नरकेऽपि तुल्यमेकमेवार्थं द्रष्टुमनुभवितुं शीलं येषां ते, तुल्यशब्दस्यैकवाचित्वम्, 'रषाभ्यां नो णः समानपदे'' इतिवत्।।३३।। परं मोक्षमपि।।३४।। अगुणेन मोक्षेण, सारंजुषां तन्माधुर्यास्वादिनां सताम्।।३५।।*

● *अनुवाद*–श्रीमद्भागवत (६–१७–२८) में श्रीरुद्र भगवान् ने कहा है–'हे पार्वति ! भगवान् श्रीनारायण की भक्ति में लगे हुए भक्तजन किसी से भी नहीं डरते हैं, और स्वर्ग, मोक्ष नरक को भी वे एक समान समझते हैं; अर्थात् इन तीनों में भक्ति–सुख का अभाव होने से ये तीनों समान हैं।।३३।।

श्रीमद्भागवत (६।१८।७४) में इन्द्रदेव ने कहा है, 'जो लोग श्रीभगवान् की निष्काम भाव से आराधना करते हैं, अन्यान्य वस्तुओं की तो बात ही क्या, वे मोक्ष की भी इच्छा नहीं करते। अतः वे ही अपने स्वार्थ एवं परमार्थ में निपुण हैं; अर्थात् श्रीभगवद् आराधनारूप महानिधि के बदले में मुक्ति जैसी तुच्छ वस्तु को चाहना स्वार्थ की अनभिज्ञता ही है। विषय–सुख की कामना करना फिर भी अच्छा है, क्योंकि श्रीभगवान् के प्रसन्न होने पर विषयकामी को भगवान् विषय न देकर अपनी भक्ति प्रदान कर कृतार्थ कर देते हैं।।३४।।

श्रीमद्भभागवत (७।६।२५) में प्रह्लादजी ने भी कहा है–आदि–अनन्त श्रीभगवान् के प्रसन्न हो जाने पर धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष, इनमें क्या दुर्लभ रह जाता है ? ये तो गुणों के परिणाम से स्वतः प्राप्त हो जाते हैं, श्रीभगवान् के चरणों में बैठकर उनकी भक्ति करने वाली सार वस्तु को प्राप्त किये हुए हम लोगों को गुणातीत मोक्ष की चाहना करने से भी क्या लाभ ?।।३५।।

तत्रैव शक्रोक्तौ (भा० ७।८।४२)–

२०–प्रत्यानीताः परमाः भवता त्रायता नः स्वभागा–
दैत्याक्रान्तं हृदयकमलं त्वद्गृहं प्रत्यबोधि।
कालग्रस्तं कियदिदमहो नाथ ! शुश्रूषतां ते।
मुक्तिस्तेषां न हि बहुमता नारसिंहापरैः किम्।।३६।।

अष्टमे श्रीगजेन्द्रोक्तौ (८।३।२०)–

२१–एकान्तिनो यस्य न कंचनार्थं वाञ्छन्ति ये वै भगवत्प्रपन्नाः।
अत्यद्भुतं तच्चरितं सुमंगलं गायन्त आनन्दसमुद्रमग्नाः।।३७।।

नवमे श्रीवैकुण्ठनाथोक्तौ (६।४।६७)–

२२–मत्सेवया प्रतीतं ते सालोक्यादिचतुष्टयम्।
नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत्कालविप्लुतम्।।३८।।

● *अनुवाद*–श्रीमद्भागवत (७।८।४२) में भगवान् श्रीनृसिंहदेव की स्तुति करते हुए इन्द्र ने कहा है, हे भगवन् ! आपने हमारी रक्षा करके यज्ञभाग जो हमें दिलवाये हैं वास्तव में वे आपके ही हैं। दैत्यों के आतंक से संकुचित हमारे जिस हृदयकमल को आपने प्रफुल्लित कर दिया है, वह भी आपका निवास स्थान है और यह जो स्वर्गादि का राज्य हमें फिर प्राप्त हुआ है, वह तो काल का ग्रास है। जो आपके सेवक भक्त हैं, उनके लिए यह है ही क्या ? हे नृसिंहदेव ! जो आपकी सेवा चाहने वाले हैं, वे मोक्ष को भी नहीं चाहते, अन्य भोगों की तो बात ही क्या है ?।।३६।।

श्रीमद्भागवत (८।३।२०) में श्रीगजेन्द्र ने कहा है, जिन श्रीभगवान् की शरण में आये हुए और उनके अति अद्‌भुत मंगलमय चरित्रों को गान करते हुए आनन्द–सागर में निमग्न भक्तजन मुक्ति पर्यन्त किसी वस्तु की भी अभिलाषा नहीं करते हैं, (वे मेरी रक्षा करें)।।३७।।

श्रीमद्भागवत (६।४।६७) में श्रीवैकुण्ठनाथ ने भी स्वयं यही कहा है–मेरे प्रेमीभक्त मेरी सेवा में ही अपने आपको परिपूर्ण–कृतकृत्य मानते हैं। मेरी सेवा के फलस्वरूप जब उन्हें सालोक्य, सार्ष्टि, सारूप्य और सामीप्य–ये चार प्रकार की मुक्तियाँ प्राप्त होती हैं, (या मैं उन्हें देता हूँ) तो वे उन्हें भी स्वीकार नहीं करते, फिर काल द्वारा नष्ट हो जाने वाली अन्यान्य वस्तुओं की तो बात ही क्या है ?।।३८।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–यहाँ सायुज्य–ब्रह्मैक्य पाँचवीं मुक्ति की बात ही भगवान् ने नहीं उठाई, केवल चार मुक्तियों का उल्लेख किया है। उसका कारण यह है कि सायुज्य–मुक्ति भक्ति के सेव्य–सेवक भाव के नितान्त विपरीत है। उक्त चार मुक्तियाँ तो भी ऐश्वर्य–भक्ति वाले कभी–कभी स्वीकार कर लेते हैं परन्तु सायुज्य–मुक्ति तो भक्त कभी भी नहीं चाहते। अतः सेवा में अपने को परिपूर्ण मानने वालों के लिए सायुज्य की बात उठाना ही श्रीभगवान् ने असंगत समझी है, तभी उन्होंने पाँच की जगह पर चार मुक्तियों का उल्लेख किया है।।

श्रीदशमे नागपत्नीस्तुतौ (१०।१६।३७)–

२३–न नाकपृष्ठं न च सार्वभौमं न पारमेष्ठ्यं न रसाऽधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा वाञ्छन्ति यत्पादरजःप्रपन्नाः।।३६।।

तत्रैव श्रीवेदस्तुतौ (भा० १०।८७।२१)–

२४–दुरवगमात्मतत्त्वनिगमाय तवात्ततनो–
श्चरितमहामृताब्धिपरिवर्तपरिश्रमणाः।
न परिलषन्ति केचिदपवर्गमपीश्वर ते।
चरणसरोजहंसकुलसंगविसृष्टगृहाः।।४०।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*अन्ननाकपृष्ठमपि न वाञ्छन्ति किमुत सार्वभौमं, पारमेष्ठ्यमपि न वाञ्छन्ति, किमुत रसाधिपत्यमिति, पूर्वार्धे योज्यम्; उत्तरार्द्धे वाशब्दोऽप्यर्थे, पादरजः शब्देन भक्तिविशेषज्ञापनया गाढ़प्रतिपत्तिर्ज्ञाप्यते। ।३६ । । हे ईश्वर ! दुरवगमं यद् आत्मनः स्वस्य भगवतस्तत्त्वं ब्रह्मानन्दाच्छादकरूपगुणलीला—याथार्थ्यं तस्य निगमनाय विज्ञापनायात्ता प्रपञ्च आनीता तनुः श्रीविग्रहो येन तस्य तव चरितमेव महामृताब्धिस्तत्र यः परिवर्त्तः मुहुः परिवृत्या प्लवनं तेन परिश्रमणाः वर्जितसंसारश्रमास्ते केचिद् विरलप्रचारा अपवर्गमपि नेच्छन्ति; कीदृशास्ते तत्राहुः—ते चरणसरोजयोर्हंसानां भागवतपरमहंसाख्यानां यानि कुलानि शिष्योपशिष्यपरम्परा, तेषां संगेन विसृष्टगृहाः तन्मते प्रथमत एव प्रवृत्तास्तेऽपि; आसतां तावत्ते हंसास्तत्कुलानि चेत्यर्थः। ।४० । ।*

● *अनुवाद*—श्रीमद्भागवत (१० ।१६ ।३७) में कालियनाग—पत्नियों ने कहा है—हे प्रभो ! जो आपके चरणों की धूलि की शरण लिए हुए हैं, वे भक्तजन स्वर्गलोक का राज्य या पृथ्वी का समग्र राज्य नहीं चाहते। वे न रसातल का राज्य चाहते हैं न ब्रह्मा का पद। योग की अणिमादि सिद्धियाँ भी वे नहीं चाहते। यहाँ तक कि जन्म—मरण से छुड़ाने वाले कैवल्य—मोक्ष को भी वे नहीं चाहते। ।३६ । ।

श्रीमद्भागवत (१० ।८७ ।२१) में वेद—श्रुतियों ने भगवान् श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए कहा है, हे भगवन् ! भक्त, आपके चरणकमलों के उपासक परमहंस रूप भक्तजनों का अथवा उनके शिष्योपशिष्य परम्परागत महत्पुरुषों का सत्संग प्राप्त कर आपके भक्त घर—बार को त्याग देते हैं। दुर्गम दुर्ज्ञेय अपने भगवत्तत्त्व को प्रकाशित करने के लिए आप श्रीविग्रह धारण कर जो अनेक अमृतसागरमयी ब्रह्मानन्दावरणकारी सुमधुर लीलायें करते हैं, उनमें वे अवगाहन कर संसार के आवागमनरूप श्रम से रहित हो जाते हैं, ऐसे महा सौभाग्यशाली भक्तजन फिर मोक्ष तक की भी कामना नहीं करते। ।४० । ।

एकादशे श्रीभगवदुक्तौ (११ ।२० ।३४)—

२५—न किंचित्साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम।
वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम्। ।४१ । ।

तथा (११ ।१४ ।१४)—

२६—न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनाऽन्यत्। ।४२ । ।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*अत्र पारमेष्ठ्यादिचतुष्टयस्यानुक्रमश्चाधोऽधो विवक्षया, न्यूनत्वविवक्षया च, ततश्च पूर्ववत् कैमुत्यमपि, योगादिद्वयं तु पूर्ववत्, किं बहुना यत् किंचिदन्यदपि साध्यजातं तत्सर्वं नेच्छन्त्यपि, किन्तु मां विना तादृशभक्ति—साध्यं मामेव सर्वपुरुषार्थाधिकमिच्छन्तीत्यर्थः, मय्यर्पितात्मा कृतात्मनिवेदनः। ।४२ । ।*

● *अनुवाद*—श्रीमद्भागवत (११ ।२० ।३४) में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है—हे उद्धव ! मेरे अनन्यप्रेमी एवं धीर साधुभक्तजन मुझे (एवं परम साध्यतम पुरुषार्थ स्वरूपा मेरी भक्ति) को छोड़कर और कुछ भी नहीं चाहते। जन्म—मरण

से छुड़ा देने वाला कैवल्य–मोक्ष मेरे देने पर भी वे नहीं ग्रहण करते।।४१।।

श्रीमद्भागवत (११।१४।१४) में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है, हे उद्धव ! जिसने अपने को मुझे समर्पित कर दिया है, वह मुझे छोड़कर न तो ब्रह्मा का पद चाहता है न इन्द्र का। वह सार्वभौम सम्राट तथा रसातल का आधिपत्य भी नहीं चाहता। योग–सिद्धियाँ तो क्या, वह मोक्ष तक की भी अभिलाषा नहीं करता।।४२।।

द्वादशे श्रीरुद्रोक्तौ (१२।१०।६)–

२७–नैवेच्छत्याशिषः क्वापि ब्रह्मर्षिर्मोक्षमप्युत।
भक्तिं परां भगवति लब्धवान् पुरुषेऽव्यये।।४३।।

पाद्मे कार्त्तिकमाहात्म्ये (दामोदराष्टके)–

२८–वरं देव मोक्षं न मोक्षावधिं वा न चान्यं वृणेऽहं वरेशादपीह।
इदं ते वपुर्नाथ ! गोपालबालं सदा मे मनस्याविरास्तां किमन्यैः।।४४।।
२९–कुबेरात्मजौ बद्धमूर्त्यैव यद्वत्त्वया मोचितौ भक्तिभाजौ कृतौ च।
तथा प्रेमभक्तिं स्वकां मे प्रयच्छ न मोक्षे ग्रहो मेऽस्ति दामोदरेह।।४५।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*मोक्षावधिं मोक्षं चेति नरकादिमोक्षास्तु तत्र के वराका इति भावः।।४४।।*

● *अनुवाद*–श्रीमद्भागवत (१२।१०।६) में श्रीरुद्र ने कहा है, अविनाशी पुरुष श्रीभगवान् की भक्ति जिसको प्राप्त हो गई है, वह ब्रह्मर्षि किसी वस्तु की इच्छा नहीं करता, यहाँ तक कि मोक्ष को भी नहीं चाहता।।४३।।

पद्मपुराणान्तर्गत दामोदराष्टक में कहा गया है–यथेष्ट वरों को प्रदान करने वाले हे देव ! मैं आपसे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, तथा मोक्ष की अवधि–वैकुण्ठ लोक भी वर में नहीं चाहता। हे नाथ ! मेरी यही एकमात्र कामना है कि आपकी यह श्रीगोपालबाल–मूर्ति हृदय में सदा स्फुरित होती रहे। इसके अतिरिक्त वरदानों से मुझे क्या प्रयोजन ?।।४४।।

हे दामोदर ! आपने ऊखल से बँधे हुए स्वरूप से नलकूबर एवं मणिग्रीव नामक कुबेर के पुत्रों को जिस प्रकार विमुक्त किया और भक्ति प्रदान कर दी, उसी प्रकार मुझे भी अपनी प्रेम–भक्ति प्रदान कीजिए, क्योंकि मोक्ष में मेरा आग्रह नहीं है।।४५।।

हयशीर्ष श्रीनारायणव्यूहस्तवे च–

३०–न धर्मकाममर्थं वा मोक्षं वा वरदेश्वर।
प्रार्थये तव पादाब्जे दास्यमेवाभिकामये।।४६।।

तत्रैव–

३१–पुनः पुनर्वरान् दित्सुर्विष्णुर्मुक्तिं न याचितः।
भक्तिरेव वृता येन प्रह्लादं तं नमाम्यहम्।।४७।।
३२–यदृच्छया लब्धमपि विष्णोर्दाशरथेस्तु यः।
नैच्छन्मोक्षं विना दास्यं तस्मै हनुमते नमः।।४८।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*विष्णुर्न याचित इति। दुहादौ गौणकर्मण एव विष्णोरुक्तत्वात् प्रथमा विभक्तिरेव, वृतेत्यत्र वृणोतेरपि तदादित्वे मुख्यकर्मणो भक्तेरुक्तत्वमार्षम्।।४७।।*

● *अनुवाद*—श्रीहयशीर्ष एवं श्रीनारायणव्यूह की स्तुति में पद्मपुराण का इस प्रकार कथन है, हे वरप्रदाता ईश्वर ! मैं धर्म, अर्थ, काम अथवा मुक्ति की प्रार्थना नहीं करता। मैं केवल आपके चरणकमलों की दास्य—भक्ति ही चाहता हूँ।।४६।।

पद्मपुराण में अन्य स्थान पर कहा गया है, बार—बार वर प्रदान करने के इच्छुक श्रीविष्णु—नृसिंह भगवान् से भी जिन श्रीप्रह्लादजी ने मुक्ति न माँगकर केवल भक्ति का वरदान चाहा, मैं उनकी वन्दना करता हूँ।।४७।।

(श्रीनृसिंहदेव ने श्रीप्रह्लाद से पहले बार—बार मुक्ति का वर माँगने को कहा था, फिर भक्ति की बात कही। पूर्ववस्तु से उत्तर वस्तु स्वाभाविक उत्तम होती है। अतः यहाँ मुक्ति का गौणत्व तथा भक्ति का प्रधानत्व सिद्ध होता है।

श्रीविष्णुरूप भगवान् श्रीरामचन्द्र से अपने—आप प्राप्त होने वाली मुक्ति को जिन्होंने स्वीकार नहीं किया और भक्ति ही स्वीकार की, उन श्रीहनुमानजी को मैं नमस्कार करता हूँ।।४८।।

अतएव प्रसिद्धं श्रीहनुमद्वचनम्—

३३—भवबन्धच्छिदे तस्मै स्पृहयामि न मुक्तये।
भवान् प्रभुरहं दास इति यत्र विलुप्यते।।४६।।

श्रीनारदपंचरात्रे च जितन्ते स्तोत्रे—

३४—धर्मार्थकाममोक्षेषु नेच्छा मम कदाचन।
त्वत्पादपंकजस्याधो जीवितं दीयतां मम।।५०।।

३५—मोक्षसालोक्यसारूप्यान् प्रार्थये न धराधर !
इच्छामि हि महाभाग ! कारुण्यं तव सुव्रत !।।५१।।

● *अनुवाद*—इसीलिए श्रीहनुमानजी के यह वचन प्रसिद्ध हैं, मैं भवबन्धन को नाश करने वाली उस मुक्ति को भी नहीं चाहता, जहाँ 'आप स्वामी हैं और मैं सेवक हूँ'—यह भाव विलुप्त हो जाता है।।४६।।

श्रीनारद पंचरात्र वर्णित जितन्त—स्तोत्र में कहा गया है, धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष—इन चारों के लिए मेरी जरा भी इच्छा नहीं है, मुझे तो अपने चरणकमलों की छाया में ही जीवित रहने दीजिए; अर्थात् मैं उनके बिना जीवित नहीं रह सकता।।५०।।

हे पृथ्वीपते ! मैं सालोक्य—सारूप्यादि पाँच प्रकार की मुक्ति की कामना नहीं करता। हे सुन्दर व्रतधारि महाभाग ! आपकी केवल करुणरूपा भक्ति की ही प्रार्थना करता हूँ।।५१।।

अतएव श्रीभागवते षष्ठे (६।१४।५)—

३६—मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः।
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने।।५२।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*मुक्तानां प्राकृतशरीरस्थत्वेऽपि तदभिमानशून्यानां, सिद्धानां प्राप्तसालोक्यादीनां च, कोटिष्वपि मध्ये नारायणसेवामात्रकाङ्क्षी सुदुर्लभः।।५२।।*

● *अनुवाद*—**श्रीमद्भागवत (६।१४।५) में राजा परीक्षित् ने कहा है, हे महामुने ! जो जीवन्मुक्त हैं और जो सायुज्यमुक्ति रूप–सिद्धि को प्राप्त करने वाले हैं, ऐसे कोटि व्यक्तियों में भी श्रीनारायण की सेवा–परायण प्रशान्त–चित्त एक भक्त भी अतिदुर्लभ है।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—जीवन्मुक्त वे हैं जिनमें वर्तमान प्राकृत शरीर का अभिमान निवृत्त हो चुका है एवं ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाने से जिनके अज्ञान तथा अज्ञानकृत कर्मादि ध्वंस हो चुके हैं, उन्हें बन्धन नहीं रहता। वे ब्रह्मनिष्ठ भी कहलाते हैं। सिद्ध से यहाँ तात्पर्य है जो ब्रह्मलयता को प्राप्त करने के अति निकट हैं अर्थात् सायुज्य मुक्ति को प्राप्त करने वाले हैं।

कर्मकाण्ड करने वाले जो स्वर्गादि लोकों के सुख चाहते हैं तथा योगमार्ग के साधक जो अणिमा, लघिमा आदि सिद्धियों को चाहने वाले हैं, वे तो प्रशान्त–चित्त कभी हो ही नहीं सकते, कारण कि उनमें अपने सुख की कामना है। जीवन्मुक्त तथा मुक्ति प्राप्त करने वाले पुरुषों को भी यहाँ अशान्त कहा गया है। सालोक्य, सार्ष्टि, सारूप्य एवं सामीप्य मुक्तियों में धामोचित ऐश्वर्यादि की प्राप्ति कामना रहने से चित्त में चंचलता रहती है। प्रश्न उठता है, सायुज्य–मुक्ति में जहाँ अपना अस्तित्व ही नहीं रहता, जहाँ स्वसुखवासना का अवकाश ही नहीं रहता, वहाँ चंचलता कैसी ?– उत्तर, सायुज्य–मुक्ति प्राप्त करने वाले पुरुषों में स्वसुखवासना नहीं रहती, परन्तु अपने दुःख की निवृत्ति की कामना अवश्य रहती है। मुक्ति प्राप्त करने की प्रवर्त्तक ही है उनकी दुःखनिवृत्ति–कामना। यही कामना ही चंचलता है जिससे उन्हें भी अशान्त कहा गया है। जहाँ केवल अपने दुःखनिवृत्ति की कामना न होकर ब्रह्म में लयता की कामना है, वहाँ भी ब्रह्म बनने के गौरव की कामना मौजूद रहती है, जो साधन की शेष अवस्था तक रहती ही है। अपने लिए कुछ प्राप्ति की जो कामना है, वही अशान्ति है। अतः जीवन्मुक्त एवं सिद्धों को भी अशान्त माना गया है।

श्रीमन्महाप्रभु कृष्णचैतन्यदेव ने कहा है—

कोटि ज्ञानीमध्ये हय एक जन मुक्त।
कोटि मुक्तमध्ये दुर्लभ एक कृष्णभक्त।।
कृष्णभक्त निष्काम अतएव शान्त।
भुक्ति–मुक्ति–सिद्धिकामी सकलि अशान्त।।

(श्रीचैतन्य चरितामृत०–२।१९।१३१–३२)

जब तक एक नित्य, अचंचल एवं अनन्तवैचित्रीमय आनन्द का अनुसन्धान जीव नहीं प्राप्त कर लेता और जब तक उस आनन्द में चित्त की निबिड़ आविष्टता नहीं पैदा होती, तब तक चित्त की चंचलता की निवृत्ति कदाचित् सम्भव नहीं है। इस प्रकार का सर्वोत्कृष्ट आनन्द आस्वादन है एकमात्र श्रीभगवान्

की नाम–रूप–गुण–लीला माधुरी में। अशेष–विशेष भक्तिरसामृतसिन्धु में निमग्न होते ही चित्त शान्त ही नहीं, प्रशान्त हो जाता है। इसलिए एकमात्र नारायण–परायणभक्त को ही प्रशान्तात्मा माना गया है।

कोटि–कोटि जीवन्मुक्त व सायुज्य–मुक्तिप्राप्त सिद्धों से इसलिए एक नारायण–परायण प्रशान्त–चित्त–भक्त की श्रेष्ठता निरूपण की गई है।

यहाँ तक अनेक प्रमाणों सहित यह निरूपण किया गया है कि सेवापरायण भक्तजन भक्ति को छोड़कर और कुछ भी नहीं चाहते। अगले दो श्लोकों में यह दिखाते हैं कि ऐसे अनन्य भक्तजनों को श्रीभगवान् भी अपना सर्वस्व प्रदान करने को उत्सुक रहते हैं।

प्रथमे च श्रीधर्मराजमातुः स्तुतौ (१।८।२०)–

३७–तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम्।
भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येम हि स्त्रियः।।५३।।

तत्रैव श्रीसूतोक्तौ (भा०१।७।१०)–

३८–आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूत गुणो हरिः।।इति।।५४।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*तदेवं श्रीकृष्णचरणाम्भोजसेवानिर्वृतचेतसामित्यनेन (१।२।२५) तत्सेवासुखैकस्पृहिणां यन्मोक्षस्पृहा नास्तीत्युक्तं–तत्र प्रमाणानि विवृतानि, अथ तादृशेषु तस्य च स्वसेवादान एव प्रयत्न इत्याह "प्रथमे" इत्यनन्तरं तथा परमेत्यनेन। परमहंसानां भक्ति–योगविधानमर्थो यस्य तं त्वामिति शेषः, पश्येमहि जानिमहि।।५३।। निर्ग्रन्थाः विधिनिषेधात्मकग्रन्थेभ्यो निर्गता अपि।।५४।।*

● **_अनुवाद_–श्रीमद्भागवत (१।८।२०) में युधिष्ठिर–माता श्रीकुन्तीदेवी ने कहा है, विशुद्ध–चित्त मननशील परमहंस पुरुषों को भक्तियोग ही प्रदान करना जिनका उद्देश्य रहता है–ऐसे आप श्रीकृष्ण को, आपकी महिमा को हम स्त्री–जाति कैसे जान सकती हैं ?।।५३।।**

श्रीमद्भागवत (१।७।१०) में वर्णित है कि जो आत्मानन्द में विचरण करने वाले मननशील व्यक्ति हैं, जिनकी अविद्या या चित्‌जड़ ग्रन्थी अथवा विधि–निषेध बन्धन टूट चुके हैं, वे भी श्रीहरि की अहैतुकी–निष्काम भक्ति करते हैं, क्योंकि श्रीहरि के गुण ही ऐसे सर्वमनोहारी हैं।।५४।।

१७–अत्र त्याज्यतयैवोक्ता मुक्तिः सर्वविधाऽपि चेत्।
सालोक्यादिस्तथाऽप्यत्र भक्त्या नातिविरुध्यते।।५५।।
१८–सुखैश्वर्य्योत्तरा सेयं प्रेमसेवोत्तरेत्यपि।
सालोक्यादिर्द्विधा तत्र नाद्या सेवाजुषां मता।।५६।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*अत्र त्याज्येति। अपि चेत् यद्यपि, तथापि सालोक्यादिः सालोक्य–सार्ष्टि–सामीप्य–सारूप्यरूपा नातिशयेन विरुध्यते किन्तु केनाप्यंशेन विरुध्यते प्रतिकूलतया भाव्यत इति तत्र तत्र भक्तिश्रवणात्।।५५।। तत्रातिशब्दप्रतिपाद्यमाह–सुखेति। तल्लोकादिस्वभावजं सुखैश्वर्यञ्च्चउत्तरं प्राधान्येन*

वांछनीयं यस्यां साः प्रेम्णा प्रेमस्वाभाव्येन सेवैवोत्तरा यस्यां सा; तत्र नाद्या सेवाजुषां मतेति सालोक्य–सार्ष्टि–सामीप्येत्यद्युक्तत्वात्। तत्र सालोक्यादिचतुष्टयं सेवनं विनाभूतं चेत् तर्हि न गृह्णन्ति, एवत्यर्थः एकत्वं तु नित्यं तद्विनाभूतत्वाद न गृह्णन्त्येवेत्यर्थः, तच्चेश्वरे ब्रह्मणि च सायुज्यं ज्ञेयम्।।५६।।

● ***अनुवाद*–इस प्रकार उपर्युक्त प्रमाण–वचनों में यद्यपि पाँचों प्रकार की मुक्ति को त्याज्य कहा गया है, फिर भी सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य तथा सारूप्य, ये चार प्रकार की मुक्तियाँ भक्ति की अत्यन्त विरोधी नहीं हैं।।५५।।**

क्योंकि सालोक्यादि चार मुक्तियाँ सुखैश्वर्योत्तरा तथा प्रेम। सेवोत्तरा दो प्रकार की होती हैं। उनमें पहले प्रकार की अर्थात् सुखैश्वर्योत्तरा–मुक्तियाँ सेवाप्रेमी भक्तों के लिए ग्रहणीय नहीं हैं।।५६।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–मुक्ति के पाँच प्रकारों का वर्णन किया गया है। वस्तुतः मुक्ति का सर्वथा एक रूप ही है। क्योंकि माया की निवृत्ति का नाम ही मुक्ति है। मुक्तजीवों की ब्रह्म–प्राप्ति के प्रकार भेद को लक्ष्य करके श्रुतिस्मृतियों ने मुक्ति के पाँच भेद कहे हैं–सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य तथा सायुज्य या एकत्व। सायुज्य के भी दो प्रकार हैं–१. *ईश्वर–सायुज्य,* किसी सविशेष भगवत्–स्वरूप में लीन हो जाना अथवा परमात्मा में प्रवेश करना (जिसे परमात्मा–सायुज्य भी कहा जाता है) और २. *ब्रह्म–सायुज्य* अर्थात् निर्विशेष ब्रह्म में प्रवेश कर जाना। वास्तव में इन दोनों प्रकार की सायुज्य मुक्तियों में भी मुक्तजीवों का नित्य पृथक् अस्तित्व रहता है। उनके स्वरूपगत कर्तृत्व और भोक्तृत्वादि भी रहते हैं।

उपर्युक्त सालोक्यादि जो चार प्रकार की मुक्तियाँ हैं, उनमें मुक्तजीव पार्षद शरीर धारण किये रहते हैं। उनको उपास्यदेव के धाम के स्वरूपगत धर्म के कारण वहाँ के सुख और ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं। जिनके चित्त में उस धाम के सुख और ऐश्वर्य को प्राप्त करने की वासना ही प्रधानरूप से रहती है, उनकी मुक्ति को *'सुखैश्वर्योत्तरा'* कहा गया है और जिनके चित्त में प्रेम के स्वभाववश उपास्य की सेवा करने की वासना की प्रधानता रहती है, उनकी मुक्ति को *'प्रेमसेवोत्तरा'* कहा जाता है। वहाँ की जो प्रेम–सेवा है वह केवल ऐश्वर्य–ज्ञान मिश्रित प्रेममयी–सेवा होती है। उपास्य को स्वजन जानकर उनके सुख विधान करने वाली प्रेममयी सेवा नहीं होती; मदीयता–भावमयी सेवा नहीं होती, तदीयता–'भावमयी सेवा रहती है। जो सेवा चाहते हैं वे सुखैश्वर्योत्तरा मुक्ति को ग्रहण नहीं करते।

इन चारों प्रकार की मुक्तियों को प्राप्त करने वाले व्यक्ति वैकुण्ठ–धाम में जाते हैं। वैकुण्ठधाम में ऐश्वर्य–ज्ञान की ही प्रधानता है। वहाँ सविशेष भगवत् स्वरूपों की समीपता, सेवा–दर्शनादि की अभिव्यक्ति है। अतः इन चारों प्रकार की मुक्तियों को भक्ति का अत्यन्त विरोधी नहीं माना गया; अर्थात् ये किसी अंश में भक्ति के प्रतिकूल हैं और किसी अंश में भक्ति के अनुकूल भी।

परन्तु पाँचवें प्रकार की जो 'सायुज्य–मुक्ति' है, वह भक्ति की अत्यन्त विरोधी है। एक तो इसमें मुक्त जीवों का भगवत्–सेवा के उपयुक्त तथा

रस–अनुभूति के उपयुक्त कोई भी पृथक् शरीर नहीं रहता, यद्यपि पृथक् अस्तित्व नित्य रहता है। भक्ति का प्राण है भगवत्–सेवा। सेवा का प्राण है प्रेम–भाव। सायुज्य की कामना में प्रेम–भाव का ही अभाव है। अतः सेवा का भी अभाव है। इसमें उपास्य से कोई भी सम्बन्ध नहीं है प्रत्युत सायुज्यकामी स्वयं को ही उपास्यतत्त्वब्रह्म मानकर चलता है। सेव्य–सेवक भाव का ही आत्यन्तिक अभाव होने से यह मुक्ति भक्ति की अत्यन्त विरोधी है। अतः सायुज्य को सर्वथा त्याज्य, हेय और 'कैतव–प्रधान'–'प्रधान आत्मवंचना' कहकर वैष्णवाचार्यों ने वर्णन किया है। अतः जहाँ इस प्रकार त्याज्य कहकर मुक्ति की उपेक्षा की गई है, वहाँ प्रधानरूप से सायुज्य–मुक्ति ही अभिप्रेत है। यही मुक्ति ही श्रीपाद शंकराचार्य के मत में प्राप्य या साध्य है। अतः उनके मत को 'प्रच्छन्न–बौद्धमत' या *'मायावाद'* कहकर भक्तिमत का नितान्त विरोधी माना गया है।।५६।।

१६–किन्तु प्रेमैकमाधुर्यभुज एकान्तिनो हरौ।
नैवांगीकुर्वते जातु मुक्तिं पंचविधामपि।।५७।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*नैवांगीकुर्वत इति। प्रेमसेवोत्तरेत्युत्तरशब्दोपादाना–दन्यांशस्यापि सद्भावापत्तेस्तत्रान्यांशं नेच्छन्तीत्यर्थः, "मत्सेवया प्रतीतं ते" इत्यादौ तु प्रथमा सेवा साधनरूपा, द्वितीया तु तया सिद्धरूपा, प्रतीतमानुषंगिकतया प्राप्तमपि सालोक्यादिचतुष्टयं तदगतसुखैश्वर्यादिकन्तु नेच्छन्तीत्यर्थः, ततः साक्षात्तदीयसेवयैव लब्धपरमानन्दाः। सेवा ह्येषा सालोक्यादिकमपेक्षत एव एतच्च न वांछन्ति, चेत् कैमुत्येनैक्यं सालोक्यादिभ्यो यदन्यत्तत्तु कालविप्लुतमेव तद्वा कथं वांछन्त्वित्यर्थः।।५७।।*

● ***अनुवाद***–**किन्तु श्रीभगवान् के जो एकान्त–भक्त हैं, केवल श्रीभगवान् का सेवा–सुख सम्पादन करने वाले हैं, वे केवल भक्तिमाधुर्य का ही आस्वादन करते हैं, वे पंचविधा–मुक्ति को कभी स्वीकार नहीं करते।।५७।।**

२०–तत्राप्येकान्तिनां श्रेष्ठा गोविन्दहृतमानसाः।
येषां श्रीशप्रसादोऽपि मनो हर्तुं न शक्नुयात्।।५८।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*गोविन्दः श्रीगोकुलेन्द्रः, उपलक्षणात्वेन श्रीद्वारकानाथोऽपि, श्रीशः परव्योमाधिपः।।५८।।*

● ***अनुवाद***–**श्रीभगवान् के एकान्त–भक्तों में भी वे भक्त श्रेष्ठ हैं, जिनका मन गोकुलेन्द्र श्रीगोविन्द अर्थात् व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण ने हर लिया है, क्योंकि लक्ष्मीपति श्रीनारायण की कृपा भी उनके मन को हरण नहीं कर सकती।।५८।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण परमेश्वर, सर्वकारण–कारण स्वयं भगवान् हैं अर्थात् अद्वय ज्ञानतत्त्व परब्रह्म हैं। अनन्तरस वैचित्री के मूर्त्तरूप में वे ही श्रीराम, श्रीनृसिंह, श्रीवामनादि असंख्य अवतार स्वरूपों में आत्म–प्रकट करते हैं। इन समस्त भगवत्–स्वरूपों के अपने–अपने वैकुण्ठधाम परिकरादि नित्य विराजमान हैं। जहाँ वे सब धाम विद्यमान हैं, उसको 'परव्योम' कहते हैं। श्रीकृष्ण ही परव्योमाधिपति श्रीनारायण स्वरूप से विराजमान हैं। श्रीनारायण श्रीकृष्ण की ही विलास–मूर्ति हैं, उनसे सर्वथा अभिन्न हैं। ऐसे होते हुए भी जिन

भक्तों का मन श्रीगोविन्द–कृष्ण ने हरण कर लिया है, श्रीनारायण की कृपा भी उनको अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सकती।।५८।।

इसका एक कारण विशेष है, जिसे अगली कारिका में वर्णन करते हैं–

२१–सिद्धान्ततस्त्वभेदेऽपि श्रीशकृष्णस्वरूपयोः।
रसेनोत्कृष्यते कृष्णरूपमेषा रसस्थितिः।।५६।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*रसेनेति। सर्वोत्कृष्टप्रेममयरसेनेत्यर्थः। उत्कृष्यते अन्तर्भूतण्यर्थत्वाद् उत्कृष्टतया प्रकाश्यत इत्यर्थः, यतस्तस्य रसस्यैषैव स्थितिः स्वभावः यत्कृष्णरूपमेवोत्कृष्टत्वेन दर्शयतीत्यर्थः, यथोक्तं कुरुक्षेत्रयात्रायां अष्ट पट्टमहिषीतर महिषिभिः। (भा० १०।८३।४१–४३)–*

न वयं साध्वि ! साम्राज्यं स्वाराज्यं भोज्यमप्युत।
वैराज्यं पारमेष्ठ्यं वा आनन्त्यं वा हरेः पदम्।।
कामयामह एतस्य श्रीमत्पादरजः श्रियः।
कुचकुंकुमगन्धाढ्यं मूर्ध्ना वोढुं गदाभृतः।।
व्रजस्त्रियो यद्वांछन्ति पुलिन्द्यस्तृणवीरुधः।
गावश्चारयतो गोपाः पादस्पर्शं महात्मनः।। इति।।

अत्र साम्राज्यं सार्वभौमं पदं, स्वाराज्यमिन्द्रपदं, भोज्यं तदुभयभोगभाक्त्वं वैराज्यमणिमादिसिद्ध्या विराजमानत्वं, पारमेष्ठ्यं प्राजापत्यम्, आनन्त्यं "ये ते शतमित्यादि" श्रुतिरीत्या मनुष्यानन्दमारभ्य शतशतगुणितत्वेन प्राजापत्यानन्दस्य गणनायाः परां काष्ठां दर्शयित्वा परब्रह्मणि तु 'यतो वाचो निर्वर्त्तन्तः' इत्यनेन यदानन्दस्यानन्त्यं दर्शितं तदपीत्यर्थः', किं बहुना हरेः श्रीपतेः पदं सामीप्यादिकमपि यत् तदेतत्सर्वमपि, न कामयामहेनाधीनं कर्तुमिच्छाम इत्यर्थः, तर्हि किमधिकं लब्धुं कामयध्वे ? तत्राहुः–एतस्यास्मत्पतित्वेन सर्वविज्ञातस्य गदाभृतः श्रीमत्पादरज एव मूर्ध्ना वोढुं कामयामहे। तत्रापि यत् श्रियः कुचकुंकुमगन्धेनाढ्यः तद्गन्धेन प्राप्तसंपद्विशेषं तत्पुनरधिकं कामयामह इत्यर्थः।

ननु श्रीपतेरेव पदं श्रीकुचकुंकुमगन्धाढ्यं तत्सामीप्यादित्यागात् तत्तु भवत्यस्त्यक्तवत्य एव, यदि श्रीरत्र रुक्मिण्यभिप्रेयते तर्हि तत्तु भवतीनां प्राप्तमेव तस्मात्तत्तद्विलक्षणाया एव श्रियः कुचकुंकुमगन्धाढ्यं तत्स्यादिति गम्यते, ततस्तदबोधनाय पुनर्विशिष्यतां ? तत्राहुः व्रजस्त्रिय इति (भा० १०।२१।२७)–

पूर्णाः पुलिन्द्य उरुगायपदाब्जरागश्रीकुंकुमेन दयितास्तनमण्डितेन।
तद्दर्शनस्मररुजस्तृणरूषितेन लिम्पन्त्य आननकुचेषु जहुस्तदाधिम्।।इति

स्ववाक्याद्यनुसारेण व्रजस्त्रयादयो यद्वांछन्ति ववांछुरित्यर्थः, वर्तमानप्रयोगेण तत्तदविच्छेद उत्प्रेक्ष्यते। अत्र पुलिन्द्यादिनिर्द्देशस्तु स्वेषामपि तत्प्राप्तियोग्यताविवक्षया, तृणवीरुधो दूर्वाद्याः, आसां तादृगनुभवश्च तत्कुंकुमसौरभवासितत्वावच्छिन्न–तत्पदप्रभावादेवेति भावः, आसां वांछा–केवलेन हि भावेन गोप्यो गावो मृगा नगा इति दृष्टेः, गावो गाश्चारयन्तो गोपा इत्यन्ते निर्देशस्तु तेषां केषांचित् प्रियनर्मसखादीनां तदनुमोदकारित्वेऽपि पुरुषत्वात्तत्रायोग्यत्वविवक्षया, अयं भावः–स्त्रीत्वेन प्रसिद्धायाः श्रियः तत्र कामनैव श्रूयते, न तु संगतिः, (भा० १०।१६।३६)–

कस्यानुभावोऽस्य न देव ! विद्महे तवाङ्घ्रिरेणुस्पर्शाधिकारः।
यद्वाञ्छया श्रीर्ललनाचरत्तपो विहाय कामान् सुचिरं घृतव्रता।।इति

नागपत्नीनामुक्तेः (भा० १० ।४७ ।६२) "या वै श्रियार्च्चितमि" त्युद्धवस्याप्युक्तेः न च रुक्मिणीत्वेन प्रसिद्धायाः श्रियस्तत्र संगतिः कालदेशयोरन्यतमत्वाद् न च व्रजस्त्रीणां श्रीसम्बन्धलालसा युक्ता (भा० १० ।४७ ।६०)–

"नायं श्रियोऽंग उ नितान्तरतेः प्रसादः,।
स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः।।"

इत्यादिना ततोऽपि परमाधिक्यश्रवणात्, तस्माद् "रुक्मिणी द्वारवत्यां तु राधा वृन्दावने वने," इति मात्स्ये निर्णीता रुक्मिण्या सह पठिता शक्तित्वसाधारण्येनैव "शास्त्रद्दष्ट्या तूपदेशो वामदेववदि" तिन्यायरीत्या महेन्द्रेण परमेश्वर इव दुर्गयाऽप्यहंग्रहोपासना शास्त्रद्दष्ट्या स्वाभेदेनोपदिष्टा, श्रीराधा तु सर्वतः पूर्णाः तल्लक्ष्मीः; तथा–

देवी कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका परदेवता।
सर्वलक्ष्मीमयी सर्वकान्तिः सम्मोहिनी परा।।

इति बृहद्गौतमीय द्दष्ट्या च तथा या तासु राधात्वेन प्रसिद्धा सर्वतो विलक्षणा श्रीर्विराजते; तामुद्दिश्यैव तासां तदिदं वाक्यम् यथा (भा० १० ।३० ।२८)–

अनयाराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद्रहः।।इति।।

'अप्येणपत्न्युपगतः प्रिययेहे" त्यादि द्वयं च। ततश्च तासां यथा तत्र स्पृहास्पदता तथास्माकं चेति; तदेवं तादृशप्रेमस्फूर्त्तिमयतद्गन्धाढ्यतायाः संप्रत्यस्मासु प्रकाशः स्यादिति दर्शितं, न केवलं ताद्दशं तद्व्रज एव वाञ्छन्ति; अपि तु तादृशं पादस्पर्शं च वाञ्छन्ति ततो वयमपि च कामयामह इत्यर्थः, यद्वा तद्व्रजस एव विशेषणं पादस्पर्शमिति तदव्यभिचारिफलत्वात्तदभिन्नमेवेत्यर्थः, एतस्य तत्र कीदृशस्य महान् सर्वत्रत्यादपि स्वभावादुत्तम आत्मा सौन्दर्यादि प्रकाशमयस्वभावो यस्य तादृशस्य;। (भा० १० ।३३ ।६) तत्रातिशुशभे ताभिर्भगवान् देवकीसुतः; इति श्रीशुकोक्तिः। तस्मात् साधूक्तं (१ ।२ ।५८)–

तत्राप्येकान्तिनां श्रेष्ठा गोविन्दहृतमानसा–इत्यादिना।

(१ ।२ ।५६) कृष्णरूपमित्यनेन च तादृशं तत्सौन्दर्यमेवोपलक्षितमिति–

यद्यप्येतत् प्रकरणं सिद्धभक्तगुणाश्रितम्।
तथाऽप्यन्ये तथा द्दष्ट्या स्युरित्यत्रानुकीर्त्तितम्।।५६।।

● *अनुवाद*–सिद्धान्त रूप से श्रीकृष्ण तथा लक्ष्मीपति श्रीनारायण में कोई भेद नहीं है, फिर भी श्रीकृष्ण का स्वरूप सर्वोत्कृष्ट प्रेम–रस में उत्कृष्टता प्राप्त किये हुए है, रस का यह स्वभाव या मर्यादा है।।५६।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–श्रीकृष्ण तथा परव्योमाधिपति श्रीनारायण तत्त्वतः अभिन्न हैं, क्योंकि श्रीनारायण श्रीकृष्ण की विलास–मूर्ति हैं। किन्तु सर्वोत्कृष्ट प्रेममयरस के उत्कर्ष के कारण श्रीकृष्ण का स्वरूप श्रीनारायण–स्वरूप से उत्कर्ष प्राप्त करता है। चौंसठ गुणों का (जिनका आगे वर्णन किया जायेगा)

श्रीकृष्ण–स्वरूप में अद्भुत आस्वादन होने से उनके स्वरूप की उत्कृष्टता वर्णन की गई है। श्रीकृष्ण की प्रेममय रस की सर्वोत्कृष्टता योग्य भक्तों में ही प्रकाशित होती है, सबमें नहीं। रस का स्वभाव ही श्रीकृष्ण–स्वरूप को उत्कृष्ट रूप में अभिव्यक्त करता है। अनेक प्रकार के प्रेम–रसों में महाभाव रसकी परम उत्कृष्ट पराकाष्ठा है। उस रस के केवल व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण ही आलम्बन हैं, अन्यान्य भगवदवतार तथा श्रीनारायण भी उसके आलम्बन नहीं हैं। यही कारण है कि श्रीनारायण के वक्षस्थल पर विराजमान होने वाली श्रीलक्ष्मी भी उस प्रकार के रसोत्कर्ष विशेष को प्राप्त करने के लिये श्रीकृष्ण–मिलन हित तपस्या करती हैं। इस विषय में श्रीमद्भागवत आदि पुराण–वचन तथा श्रीजयदेव, विल्वमंगल, श्रीकृष्ण–चैतन्यमहाप्रभु तथा उनके पार्षदों के अनुभव ही प्रमाण रूप में उपलब्ध हैं।

पूर्व आलोचना को देखकर यह जिज्ञासा स्वाभाविक उठती है कि भुक्ति–मुक्ति कामना से रहित श्रद्धालु भक्त ही केवल भक्ति के अधिकारी हैं क्या ? इस शंका का समाधान अगली कारिका में करते हैं, जो भक्ति की एक अपूर्व विशेषता है।।५६।।–

किंच–

२२–शास्त्रतः श्रूयते भक्तौ नृमात्रस्याधिकारिता।
सर्वाधिकारितां माघस्नानस्य ब्रुवता यतः।
दृष्टान्तिता वशिष्ठेन हरिभक्तिर्नृपं प्रति।।६०।।

यथा पाद्मे–

३६–सर्वेऽधिकारिणो ह्यत्र हरिभक्तौ यथा नृपः ! ।।६१।।

काशीखण्डे च तथा–

४०–अन्त्यजा अपि तद्राष्टे शंखचक्रांकधारिणः।
संप्राप्य वैष्णवीं दीक्षां दीक्षिता इव संबभुः।।६२।। इति

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*नन्वेवं भुक्तिमुक्तिस्पृहारहिताः श्रद्धालवः शुद्धभक्त्यधिकारिण इत्यायातं; तत्र ते त्रैवर्णिका एव किंवा सर्वे? तत्राह–किंचेति।।६१।। काशीखण्डे, च भक्तौ नृमात्रस्याधिकारिता श्रूयते, इत्येतन्मात्रांशेनान्वयः। दीक्षिताः याज्ञिकाः।।६२।।*

● *अनुवाद*–**श्रीमद्भागवतादि शास्त्रों में मनुष्यमात्र का हरिभक्ति में अधिकार वर्णन किया गया है, क्योंकि श्रीवशिष्ठ मुनि ने माघस्नान में सबका अधिकार बताते हुए राजा के सामने हरिभक्ति को दृष्टान्तरूप में उद्धृत किया है।।६०।।**

जैसा कि पद्मपुराण में कहा गया है, हे राजन् ! जैसे हरिभक्ति में ब्राह्मण–क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र–इन सबका अधिकार है, उसी प्रकार माघ–स्नान में भी सबका अधिकार है।।६१।।

काशीखण्ड में भी कहा गया है कि उस मोरध्वज राजा के राज्य में, जिनकी श्रीभगवान् की सेवा में श्रद्धा जागृत हो उठी थी, वे शूद्र भी वैष्णवी

दीक्षा प्राप्त कर शंख चक्रादि चिह्नों को धारण कर याज्ञिकों की तरह शोभित होने लगे थे।।६२।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–भगवत्–प्राप्ति के अनेक साधनों में कर्मकाण्ड एवं ज्ञान में शूद्रों का अधिकार शास्त्रों ने मना किया है। ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य, इनमें भी ब्राह्मण की ही प्रधानता निरूपण की गई है। किन्तु भक्ति में मनुष्यमात्र ही नहीं प्राणिमात्र का अधिकार शास्त्रों ने प्रतिपादन किया है। चारों वर्णाश्रम के लोग भक्ति में समान अधिकार रखते हैं। श्रीवशिष्ठ मुनि ने राजा मोरध्वज के प्रति माघ–स्नान में सब जातियों का अधिकार वर्णन किया है। इस बात को पुष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि जैसे भगवद्भक्ति में मनुष्य मात्र का अधिकार है, उसी प्रकार माघ–स्नान में त्रिवेणी आदि पुण्य नदियों में स्नान करने का मनुष्य मात्र का अधिकार है।।६०–६२।।

अपिच

२३–अननुष्ठानतो दोषो भक्त्यंगानां प्रजायते।
न कर्मणामकरणादेष भक्त्यधिकारिणाम्।।६३।।
२४–निषिद्धाचारतो दैवात् प्रायश्चित्तंच नोचितम्।
इति वैष्णवशास्त्राणां रहस्यं तद्विदां मतम्।।६४।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*तदेवमन्याभिलाषताशून्यत्वमिति स्थापितं; तत्प्रसंगसंगत्या सर्वेषामप्यधिकारित्वं दर्शितम्, तत्र शंकते–ननु भवन्तु सर्व एवाधिकारिणः किन्तु स्वस्वधर्मयुक्त एवेति युज्यते; तं विना प्रत्यवायश्रवणात् तथा सर्वेषां प्रायो निषिद्धकर्मापतत्येव, सति च तेन दुष्टत्वे कथं शुद्धत्वं स्यात् कृते च प्रायश्चित्ते कर्मावृतत्वमापद्येत ? तत्राह–अपि चेति। भक्त्यंगानां नित्यानामिति ज्ञेयम् ।।६३।। दैवादिति। यस्य भक्तौ तादृशी रुचिः श्रद्धया जाता तस्य तु विकर्मणि स्वतः प्रवृत्तिर्न सम्भवत्येवेति भावः; प्रायश्चित्तं तु नोचितमिति भक्तिप्रभाव एव तत्प्रायश्चित्ताय कल्पत इति भावः।।६४।।*

● ***अनुवाद***–**भक्ति के अधिकारियों को भक्ति–अंगों का अनुष्ठान न करने से दोष लगता है, किन्तु नित्य–नैमित्तिक अन्यान्य कर्म यदि वे नहीं करते तो उन्हें कोई दोष नहीं लगता।।६३।।**

दैवयोग से उनसे यदि कोई निषिद्धाचरण हो जाता है तो भी उसके लिये उन्हें कोई प्रायश्चित करना आवश्यक नहीं है; वैष्णव–शास्त्रों के तत्त्ववेत्ताओं का यही सार–निर्णय है।।६४।।

▲ हरिकृपाबोधिनी टीका–*अन्यान्य साधनों के पथिक यदि वर्णाश्रमोचित धर्मों का पालन नहीं करते हैं, तो उन्हें दोष लगता है, किन्तु भक्ति–साधक के लिये उन वर्णाश्रम धर्मोचित–नैमित्तिक कर्मों के न करने में कोई दोष नहीं लगता। यहाँ तक यदि पूर्वजन्म के वैष्णव–अपराधवश किसी भक्त के द्वारा निषिद्ध आचरण भी हो जाता है तो उसके लिये प्रायश्चित करने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु भक्ति–अधिकारी यदि एकादशी, जन्माष्टमी, व्रतादि भक्ति अंगों का पालन नहीं करता तो उसे दोष लगता है। पहले तो शुद्ध भक्ति के अनुष्ठाता*

व्यक्ति की निषिद्धाचरण में प्रवृत्ति होना सम्भव ही नहीं है, फिर भी ऐसा होने पर भक्ति-अंगों के अनुष्ठान से ही उसका प्रायश्चित हो जाता है। उसके लिये भक्ति अनुष्ठान को छोड़कर अन्य कोई प्रायश्चित करना उचित नहीं है।।६४।।

उपर्युक्त कारिका के समर्थन में आगे कुछ प्रमाण हैं–

यथैकादशे (११।२१।२)–

४१–स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः।
विपर्ययस्तु दोषः स्यादुभयोरेष निश्चयः।।६५।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*तदेतदेव "स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य" इत्यन्तेन ग्रन्थेन (१।२।७१) –स्वे स्व इति। स्वे स्वे अधिकार इति पूर्वोक्त केवल कर्मज्ञान भक्तिविषयतया पृथक्–पृथक् निर्दिष्ट इत्यर्थः। उभयो गुर्णदोषयोः। तत्र शुद्धभक्त्याधिकारिण इतरद्वयकरणे दोष एव। (भा० ११।२०।३१)–'न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह', इति तत्रैवोक्तेः (भा० ११।२०।६) तावत्कर्माणि कुर्वीतेत्यादेश्च। कर्मज्ञानाधिकारिणोस्तु तादृशश्रद्धारहितयोः संगादिवशात्तादृशशुद्ध-भक्तौ प्रवृत्तयोरप्यनादरदोषेण झटित्यसिद्धेर्दोषप्राय एवेति ज्ञेयं, विपर्ययः स्वाधिकारानिष्ठा तदितरनिष्ठा च।।६५।।*

● ***अनुवाद***–**श्रीमद्भागवत (११।२१।२) में श्रीभगवान् ने कहा है, हे उद्धव ! अपने–अपने अधिकार के अनुसार धर्म में दृढ़ निष्ठा रखना ही 'गुण' है और उसके विपरीत अनधिकार चेष्टा करना 'दोष' कहलाता है। गुण एवं दोष–इन दोनों का यही रहस्य या पहचान है।।६५।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–भक्ति के अधिकारी के लिये किसी परिस्थिति में भी कर्मानुष्ठान का प्रायश्चित रूप में आचरण करना ऊपर की कारिका में निषेध किया गया है। उसके प्रमाण में उपर्युक्त श्लोक उद्धृत किया गया है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानयोग में ज्ञानी की, कर्म–योग में कर्मी की तथा भक्तियोग में भक्त की जो निष्ठा या स्थिति है, वही उनका गुण है; अर्थात् वह निष्ठा उनके साध्यों को प्राप्त कराने वाली है। अपने अधिकार से निष्ठाहीन होना ही दोष है; अर्थात् उससे वे अपने साध्य की प्राप्ति नहीं कर सकते। भक्ति के अधिकारी के लिये श्रीभगवान् ने कहा है कि भक्ति–मार्ग में ज्ञान एवं वैराग्य प्रायः मंगलप्रद नहीं होते। अतः भक्ति का अधिकारी यदि ज्ञानी–वैरागी के संग से ज्ञान और वैराग्य का आचरण करने लगता है तो उसके लिये वह दोष रूप है और उसको भक्ति फल प्राप्त करने में वह आचरण बाधक होगा। नित्य नैमित्तिक कर्मों के विषय में भी श्रीभगवान् की स्पष्ट आज्ञा है कि ज्ञान–मार्ग का साधक तब तक कर्मों का पालन करे, जब तक वह पूर्ण वैराग्य अवस्था को प्राप्त नहीं करता और भक्ति–मार्गका पथिक भी तब तक कर्मों का अनुष्ठान करे, जब तक उसे कृष्णकथा–श्रवण कीर्त्तनादि में आत्यन्तिकी श्रद्धा नहीं उत्पन्न होती। इन अवस्थाओं के बाद न ज्ञानी को और न भक्त को कर्मों का अधिकार रहता है। बल्कि उक्त अवस्थाओं को प्राप्त ज्ञानी एवं भक्त यदि कर्मों का अनुष्ठान करता है तो वह दोष का भागी होता है।।६५।।

प्रथमे (१।५।१७)–

४२–त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरेर्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि।
यत्र क्व वाभद्रमभूदमुष्य किं को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः।।६६।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*यत्र क्व वा नीचयोनावपि; अमुष्य भक्तौ प्रवृत्तस्यअभद्रं किमभूत् किं स्यात् ? अपि तु नेत्यर्थः, भक्तिवासनाया अपरिच्छेदादिति भावः, अभजतामभजद्भिस्तु स्वधर्मतः कोवार्थ आप्तो; न कोपीत्यर्थः।।६६।।*

● *अनुवाद*–**श्रीमद्भागवत (१।५।१७) में कहा गया है कि अपने धर्म को छोड़कर श्रीभगवान् हरि के चरणकमलों का भजन करने वाला भक्त यदि अपरिपक्व अवस्था में पतित हो जाता है तो भी जहाँ–कहीं, जिस अवस्था में ही वह रहे, उसका कौन सा अमंगल हो सकता हैं?; अर्थात् उसका कहीं, भी अकल्याण नहीं होता और भक्ति को छोड़कर केवल अपने स्वधर्म पालन करने वाले मनुष्य को कौन सा लाभ प्राप्त हो सकता है ? अर्थात् उसे कोई भी लाभ प्राप्त नहीं हो सकता।।६६।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–श्रीनारदजी ने श्रीव्यासजी के प्रति कहा है, जो मनुष्य अपने धर्म अर्थात् नित्य–नैमित्तिक कर्मों या वर्णाश्रम के धर्मों का परित्याग कर श्रीभगवान् के चरणकमलों की शुद्ध–भक्ति करता है, भजन के परिपक्व हो जाने पर तो बात ही क्या है, उसे भगवत्–प्राप्ति हो जाती है; यदि इससे पहले ही वह किसी प्रकार से पथ–भ्रष्ट हो जाता है या उसका शरीर ही पात हो जाता है, तो भी उसका अकुशल कभी भी नहीं होता। उसे उन वर्णाश्रम के धर्मों के त्याग का पाप नहीं भोगना पड़ता। यहाँ तक यदि वह किसी नीच योनि में भी जाकर जन्म लेता है तो भी उसका अमंगल नहीं होता। इसके विपरीत यदि कोई मनुष्य जीवन पर्यन्त वर्णाश्रम धर्मों अर्थात् नित्य–नैमित्तिक कर्मों का पालन तो करता है, परन्तु श्रीभगवान् के चरणकमलों की भक्ति से रहित है तो उसको कुछ प्राप्त नहीं होता। उसे भगवत्–प्राप्ति तो क्या, माया से छुटकारा भी उसे नहीं मिलता। तात्पर्य यह है कि जिस व्यक्ति को सौभाग्यवश एक बार भगवद्भक्ति में–श्रवण–कीर्त्तनादि भक्ति के अंगों में विश्वास उदित हो गया है, पहले तो उसके लिये विषय–आसक्ति, नीच योनि में पतन होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता, यदि किसी पूर्वजन्म के वैष्णवापराधवश ऐसा हो भी जाये तो फिर उसमें उस योनि में भी भगवद्भक्ति उदित हो उठती है।।६६।।

एकादशे (११।११।३२)–

४३–आज्ञायैवं गुणान् दोषान्मयाऽऽदिष्टानपि स्वकान्।
धर्मान् सन्त्यज्य यः सर्वान्मां भजेत स सत्तमः।।६७।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*(श्रीभा० ११।११।२६) "कृपालुरकृतद्रोह" इत्यादौ स्थिरः स्वधर्मे कविः सम्यग्ज्ञानीति टीकाऽनुसारेण कर्मज्ञानमिश्रा भगवच्छ्रवणलक्षणा भक्तिदर्शिता। तदनन्तरं चाह–आज्ञायैवमिति। यदि च स्वात्मनि तत्तद्गुणयोगाभावः तथाऽयेवं पूर्वोक्तप्रकारेण गुणान् कृपालुत्वादीन दोषान् तद्विपरीतांश्चाज्ञाय हेयोपादेयत्वेन निश्चित्यापि यो मया तेषु गुणेषु मध्ये तत्रादिष्टानपि स्वकान्*

नित्यनैमित्तिकलक्षणान् सर्वानेव वर्णाश्रमविहितान् धर्मान् तदुपलक्षकं ज्ञानमपि मदनन्यभक्तिविघातकतया सन्त्यज्य मां भजेत् स च सत्तमः। चकारात् पूर्वोक्तोऽपि सत्तम इत्युत्तरस्य तत्तद्गुणाभावेऽपि पूर्वसाम्यमिति बोधयति।।६७।।

● ***अनुवाद***—**श्रीमद्भागवत (११।११।३२) में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है, हे प्रिय उद्धव ! मैंने वेदों और शास्त्रों के रूप में मनुष्य के (वर्णाश्रम) धर्मों का उपदेश किया है, उनके पालन से अन्तःकरण की शुद्धि आदि गुण और उनके पालन न करने से नरकादि के दुःखादि दोष भी वर्णन किये हैं, परन्तु मेरा जो भक्त उनके गुण और दोषों को अच्छी तरह समझकर तथा मेरे भजन में उन्हें विक्षेप जानकर उनका त्याग कर देता है और केवल मेरे भजन में ही लगा रहता है, वह परमश्रेष्ठ सन्त है।।६७।।**

■ ***दुर्गमसंगमनी टीका***—वेद शास्त्रों में वर्णित नित्य—नैमित्तिक कर्मों का या वर्णाश्रम धर्मों का त्याग तीन प्रकार के लोग करते हैं। एक, तो वे हैं जो मूर्ख हैं। वे धर्म—अधर्म के विषय में कुछ जानते ही नहीं हैं। अतः वे उन्हें त्यागे हुए रहते हैं। दूसरे, वे हैं जो नास्तिक हैं। वे उन धर्मों के विषय में सब जानते हैं, परन्तु नास्तिक होने से उनका उनमें विश्वास नहीं है, इसलिये वे उनका त्याग कर देते हैं। तीसरे, वे पुरुष हैं जो उन कर्मों के सम्बन्ध में सम्यक् प्रकार ज्ञान रखते हैं। उनके गुण और दोषों को भी जानते हैं और उनका उनमें विश्वास भी होता है। किन्तु उनके गुण—दोषों की सम्यक् विवेचना कर फिर वे उनका त्याग कर देते हैं। वे जान लेते हैं कि वे समस्त कर्म विशुद्ध भक्ति के अंग नहीं हैं और उनसे श्रीभगवत्—सेवा की प्राप्ति नहीं हो सकती। उनका सुदृढ़ विश्वास है कि एकमात्र कृष्ण—भक्ति से ही समस्त धर्म—कर्म अपने आप आचरित हो जाते हैं। अतः वे उनका परित्याग कर देते हैं। इसी प्रकार ज्ञान—योगादि का भी विवेचन कर उनका भी वे त्याग कर देते हैं। इस प्रमाण से भी यही सिद्ध होता है कि शुद्ध—भक्ति के पथिक को धर्म—कर्मादि अन्यान्य किसी भी आचरण की आवश्यकता नहीं रह जाती। इसी विषय में और भी कहते हैं—

तत्रैव (भा० ११।५।।४१)—

४४—देवर्षिभूताप्तनृणां पितृणां न किंकरो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्।।६८।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*परिहृत्य कर्तमिति। अयमिन्द्रः सेव्योऽयं चन्द्रः सेव्य इत्यादिलक्षणंभेद, शरणमनेन प्रारब्धनाशात् वर्णाश्रमित्वनाशेन न नित्यकर्माधिकारः कृत्यमिति पाठेऽपि स एवार्थः।।६८।।*

● ***अनुवाद***—**श्रीमद्भागवत (११—५—४१) में श्रीकरभाजन योगेश्वर ने राजा निमि के प्रति कहा, हे राजन् ! जो मनुष्य वर्णाश्रमोचित्त नित्य—नैमित्तिक कर्मों को परित्याग करके सर्वात्म भाव से शरणागतवत्सल भगवान् श्रीमुकुन्द की शरण में आ जाता है, वह देवताओं, ऋषियों, प्राणियों, कुटुम्बियों तथा पितरों के ऋण से उऋण हो जाता है। वह किसी का सेवक या किसी के बन्धन में नहीं रहता।।६८।।**

श्रीभगवद्गीतासु (१८।६६)—

४५—सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरण व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच।।६६।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*सर्वधर्मान् परित्यज्येति। परिशब्दः स्वरूपतोऽपि त्यागं बोधयति। सर्वपापेभ्यः सर्वान्तरायेभ्य इत्येवार्थः, श्रीभगवदाज्ञया भक्तौ श्रद्धावतां तत्त्यागे पापानुत्पत्तेः।।६६।।*

● *अनुवाद*—इसी प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता (१८।६६) में भी श्रीभगवान् ने कहा है—हे अर्जुन ! विधि—निषेध मूलक समस्त धर्मों का स्वरूपतः त्याग करके तू केवल मेरी शरण ग्रहण कर। मैं तुमको समस्त पापों—अन्तरायों से बचाऊँगा। (इस जन्म के पापों की तो बात क्या पूर्व जन्मजन्मान्तर के सञ्चित पापों से भी मैं तुम्हें मुक्त कर दूँगा।) तू किसी प्रकार की चिन्ता मत कर।।६६।।

अतः इस भगवदाज्ञानुसार विशुद्ध भक्ति के पथिक के लिए समस्त कर्मों के त्यागने में किसी दोष की सम्भावना नहीं रहती।।६६।।

अगस्त्यसंहितायां—

४६—यथा विधिनिषेधौ तु मुक्तं नैवोपसर्पतः।
तथा न स्पृशतो रामोपासकं विधिपूर्वकम्।।७०।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*विधिनिषेधौ स्मार्तौ, विधिपूर्वकं वैदिकतान्त्रिक—पूजविधिसहितम्।।७०।।*

● *अनुवाद*—अगस्त्य संहिता में कहा गया है कि जिस प्रकार श्रुति एवं स्मृति शास्त्रों में कहे हुए विधि—निषेधों से जीवनमुक्त मनुष्य लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार वैदिक तथा तांत्रिक पूजा—विधि सहित जो श्रीराम की उपासना करता है, उसे भी वे विधि—निषेध स्पर्श नहीं करते।।७०।।

एकादश एव (११।५।४२)—

४७—स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः।
विकर्म यच्चोत्पतित् कथं चिद् धुनोति सर्वं हृदि संनिविष्टः।।७१।।इति।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*त्यक्तोऽन्यत्र भाव उपास्यबुद्धिर्येन तस्य कथं—चिद्दैवादुत्पतितमुत्पातरूपेण जातम्।।७१।।*

● *अनुवाद*—श्रीमद्भागवत (११।५।४२) में और भी स्पष्टरूप से कहा गया है कि हे राजन् ! जो प्रेमी—भक्त अपने प्रियतम भगवान् के चरणकमलों का अनन्यभाव से; अर्थात् दूसरी भावनाओं, अवस्थाओं, वृत्तियों और प्रवृत्तियों को छोड़कर भजन करता है, उससे पाप—कर्म होना सम्भव नहीं है; तो भी यदि कभी किसी प्रकार का पाप—कर्म उससे बन जाये तो परम—पुरुष श्रीभगवान् श्रीहरि उसके हृदय में विराजमान होने से उसे धो देते हैं—उसके पाप का नाश कर देते हैं।।७१।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—उपर्युक्त समस्त प्रमाण वचनों द्वारा यह सिद्ध होता है कि भक्ति के अनुयायी साधक को विधि—निषेधात्मक कर्मकाण्ड तथा किसी प्रायश्चित्त आदि की जरूरत नहीं है। अनन्यभाव से भक्ति एवं

भगवत्–शरणापन्न होने से उसके समस्त पाप अन्तरायादि श्रीभगवान् स्वयं ही नष्ट कर देते हैं।

अब आगे श्रीग्रन्थकार भक्ति के प्रमुख अंगों का विस्तार पूर्वक वर्णन करते हैं–

२५–हरिभक्तिविलासेऽस्या भक्तेरंगानि लक्षशः।
किं तु तानि प्रसिद्धानि निर्दे्श्यन्ते यथामतिः।।७२।।

● **अनुवाद–हरिभक्ति–विलास में इस भक्ति के लाखों अंग वर्णन किये गये हैं, उन सबको न कहकर उनमें से विशेष प्रसिद्ध अंगों का यथा मति यहाँ वर्णन करते हैं।।७२।।**

तत्रांगलक्षणम्–

२६–आश्रितावान्तरानेकभेदं केवलमेव वा।
एकं कर्मात्र विद्वद्भिरेकं भक्त्यंगमुच्यते।।७३।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*आश्रितेति। यथार्चनादिकम्, केवलमत्रास्पष्टस्वगतभेदं, यथा गुरुपादाश्रयो, यथाऽभ्युत्थानादि च।।७३।।*

● **अनुवाद–आश्रित रहने वाले अनेक अवान्तर भेदों से युक्त अथवा अवान्तर भेदों से रहित अकेले एक अनुष्ठान को भक्ति–सिद्धान्त में विद्वानों ने भक्ति का एक अंग कहा है।।७३।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–भगवत्–अर्चन के अनेक भेद हैं, इसी प्रकार कीर्तन अंग के अनेक भेद हैं; गुणकीर्तन, नाम–कीर्तनादि, किन्तु अनेक भेदों युक्त होते हुए भी अर्चन और कीर्तन को यहाँ एक–एक अंग माना गया है। इस तरह गुरुपादाश्रय तथा भगवत् सवारी को आते हुए देखकर अगवानी के लिए खड़े हो जाना, इनके स्पष्ट रूप में कोई अवान्तर भेद नहीं हैं, इनको भी एक–एक अंग गिना गया है। तात्पर्य यह है कि अवान्तर भेद युक्त रहे या न रहे, प्रत्येक भक्ति–अंग को एक ही अंग माना गया है।।७३।।

अथांगानि–

४८–गुरुपादाश्रयस्तस्मात् कृष्णदीक्षादि–शिक्षणम्।
विश्रम्भेण गुरोः सेवा साधुवर्त्मानुवर्त्तनम्।।७४।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*गुरुपादाश्रय इति। अस्मिन् ग्रन्थे अंका द्विविधाः, औत्पत्तिकाः; टीकाक्रमलाभार्थं कल्पिताश्च, तत्र पूर्वा द्विबिन्दुमस्तकाः; उत्तरास्तु तच्छून्या इति भेदो ज्ञेयः। कृष्णदीक्षादीति। दीक्षापूर्वकशिक्षणमित्यर्थः। साधुवर्त्मानुवर्त्तनं सदाचरितश्रुत्यादिविधिसेवितम्।।७४।।*

● **अनुवाद–(१) गुरुचरणों का आश्रय लेना, (२) श्रीगुरुदेव से कृष्णदीक्षादि तथा भजन–शिक्षा प्राप्त करना (३) विश्वास पूर्वक श्रीगुरुदेव की सेवा, (४) साधु–भक्तों के मार्ग का अनुसरण करना।।७४।।**

४६–सद्धर्मपृच्छा भोगादित्यागः कृष्णस्य हेतवे।
निवासो द्वारकादौ च गंगादेरपि सन्निधौ।।७५।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*कृष्णस्येति। कृष्णप्राप्तेर्यो हेतुस्तत्प्रसादस्तदर्थमित्यर्थः; अतो वैयधिकरण्यात्तादर्थ्ये चतुर्थ्येव, अन्नस्य हेतोर्वसतीत्यत्र "षष्ठी हेतुप्रयोगे" इति त्वन्नहेत्वोः समानाधिकरण्य एव प्रवृत्तं, कृष्णार्थे भोगादित्याग इत्यस्यानुवदिष्यमाणस्यापि कृष्णप्रापकतत्प्रसादार्थ इत्येवार्थः। आदिग्रहणालोकवित्तपुत्रात् गृह्यन्ते।।७५।।*

● *अनुवाद*–(५) सद्धर्म (भजन–रीति) की जिज्ञासा, (६) भगवान् श्रीकृष्ण (की कृपा–प्राप्ति) के लिए भोगादि (लोक–पुत्र–वित्तादि) का परित्याग, (७) द्वारकादि में अथवा गंगादि के तट पर निवास।।७५।।

५०–व्यवहारेषु सर्वेषु यावदर्थानुवर्त्तिता।
हरिवासरसम्मानो धात्र्यश्वत्थादिगौरवम्।।७६।।
५१–एषामत्र दशांगानां भवेत् प्रारम्भरूपता।।७७।।
५२–संगत्यागो विदूरेण भगवद्विमुखैर्जनैः।
शिष्याद्यननुबन्धित्वं महारम्भाद्यनुद्यमः।।७८।।
५३–बहुग्रन्थकलाभ्यासव्याख्यावादविवर्जनम्।।७६।।
५४–व्यवहारेऽप्यकार्पण्यं शोकाद्यवशवर्त्तिता।।८०।।

● *अनुवाद*–(८) समस्त व्यवहारों में प्रयोजन के अनुसार आचरण, (६) एकादशी, जन्माष्टमी आदि तिथियों का सम्मान, (१०) आमला एवं पीपलादि वृक्षों का गौरव रखना–ये दस अंग यहाँ कर्तव्यरूप में कहे गये हैं। (११) भगवद्बहिर्मुख लोगों का दूर से ही संग–त्याग, (१२) शिष्य आदि का सम्बन्ध न रखना अर्थात् अनेक शिष्य न बनाना। (१३) सांसारिक बड़े–बड़े कार्यों का आरम्भ न करना या आडम्बरों का त्याग। (१४) अनेक ग्रन्थ, कला के अभ्यास, व्याख्या तथा विवादों से बचना। (१५) व्यवहार में भी कृपणता का त्याग। (१६) शोकादि के वशीभूत न होना।।८०।।

५५–अन्यदेवानवज्ञा च भूतानुद्वेगदायिता।
सेवानामापराधानामुद्भवाभावकारिता।।८१।।
५६–कृष्णतद्भक्तिविद्वेषिविनिन्दाद्भक्तिऽद्यसहिष्णुता।
व्यतिरेकतयाऽमीषां दशानां स्यादनुष्ठितिः।।८२।।
५७–अस्यास्तत्र प्रवेशाय द्वारत्वेऽप्यंगविंशतेः।
त्रयं प्रधानमेवोक्तं गुरुपादाश्रयादिकम्।।८३।।

● *अनुवाद*–(१७) अन्यान्य देवताओं की अवज्ञा न करना, (१८) प्राणीमात्र को उद्वेग न देना, (१६) सेवापराध तथा नामापराधों से यत्नपूर्वक बचना, (२०) श्रीकृष्ण तथा उनकी भक्ति के विद्वेष अथवा निन्दा को सहन न करना–इन दस अंगों का निषेधरूप से अनुष्ठान होता है अर्थात् इनका परित्याग करना चाहिए। भक्ति–मार्ग में प्रवेश करने के ये बीस अंग हैं, किन्तु इसमें गुरुपादाश्रय, कृष्णदीक्षा–शिक्षण तथा विश्वास पूर्वक गुरु–सेवा; इन तीन अंगों की प्रधानता है।।८१–८३।।

५८–धृतिर्वैष्णवचिह्नानां हरेर्नामाक्षरस्य च।
निर्माल्यादेश्च तस्याग्रे ताण्डवं दण्डवन्नतिः।।८४।।

५६–अभ्युत्थानमनुव्रज्या गतिः स्थाने परिक्रमा।
अर्च्चनं परिचर्या च गीतं संकीर्तनं जपः।।८५।।
६०–विज्ञप्तिः स्तवपाठश्च स्वादो नैवेद्यपाद्ययोः।
धूपमाल्यादि सौरभ्यं श्रीमूर्तेः स्पृष्टिरीक्षणम्।।८६।।
६१–आरात्रिकोत्सवादेश्च श्रवणं तत्कृपेक्षणम्।
स्मृतिर्ध्यानं तथा दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।।८७।।
६२–निजप्रियोपहरणं तदर्थेऽखिलचेष्टितम्।
सर्वथा शरणापत्तिस्तदीयानां च सेवनम्।।८८।।
६३–तदीयास्तुलसीशास्त्रमथुरावैष्णवादयः।
यथावैभवसामग्रि सद्गोष्ठीभिर्महोत्सवः।।८६।।
६४–ऊर्जादरो विशेषेण यात्रा जन्मदिनादिषु।
श्रद्धाविशेषणतः प्रीतेः श्रीमूर्तेरङ्घ्रिसेवने।।६०।।
६५–श्रीमद्भागवतार्थानामास्वादो रसिकैः सह।
सजातीयाशये स्निग्धे साधौ संगः स्वतो वरे।।६१।।
६६–नामसंकीर्त्तनं श्रीमन्मथुरामण्डले स्थितिः।।६२।।
६७–अंगानां पञ्चकस्यास्य पूर्वं विलिखितस्य च।
निखिलश्रैष्ठ्यबोधाय पुनरप्यत्र कीर्तनम्।।६३।।

● *अनुवाद*–(२१) वैष्णव–चिह्न तिलकादि को धारण करना, (२२) हरिनाम–अक्षर धारण करना, (२३) निर्माल्य (प्रसादी वस्त्र–मालादि) को धारण करना, (२४) श्रीभगवान् के आगे ताण्डव नृत्य करना, (२५) दण्डवत् प्रणाम करना, (२६) श्रीभगवान् की सवारी को आता देखकर खड़ा हो जाना, (२७) भगवत्–सवारी के पीछे ही चलना, (२८) भगवत्–मन्दिर में जाना, (२६) परिक्रमा, (३०) अर्चन, (३१) परिचर्या, (३२) गीत–पदगान, (३३) संकीर्त्तन, (३४) जप, (३५) विज्ञप्ति (प्रार्थना) (३६) स्तव–पाठ, (३७) नैवेद्यास्वादन (भगवत्–प्रसाद का आस्वादन करना) (३८) चरण–जल का आस्वादन, (३६) धूपमाल्यादि की सुगन्धि ग्रहण करना, (४०) श्रीमूर्ति का स्पर्श करना, (४१) श्रीमूर्ति–दर्शन, (४२) आरती, उत्सव, पूजादि दर्शन, (४३) श्रवण–(भगवत्–नाम– गुण–लीला कथा का सुनना)। (४४) भगवत्–कृपा की बाट जोहना, (४५) स्मरण, (४६) रूप–गुण–लीलादि का ध्यान, (४७) दास्य, (४८) सख्य, (४६) आत्मनिवेदन, (५०) अपनी प्रिय वस्तु को दान करना, (५१) श्रीकृष्ण के लिए ही समस्त चेष्टाओं का करना, (५२) शरणापत्ति, (५३) भगवत्–प्रिय पदार्थ एवं तुलसी का सेवन, (५४) भक्ति–शास्त्र सेवन, (५५) मथुरा–सेवन, (५६) वैष्णवसेवा, (५७) यथाशक्ति सामग्री जुटाकर भक्तों के साथ भगवान् के झूलनादि महोत्सव करना, (५८) नियम सेवा का आदर, (५६) जन्माष्टमी के अवसर पर यात्रा करना, (६०) श्रीमूर्ति–चरणसेवा में प्रीति, (६१) रसिकों के साथ श्रीभागवत के अर्थों का आस्वादन करना, (६२) सजातीय–भाव, स्निग्ध एवं अपने से उत्तम भक्तों का संग करना, (६३) नाम–संकीर्तन तथा (६४) श्रीमथुरा (ब्रजमण्डल) में

वास करना। ६२वें से लेकर ६४वें तक पाँच अंगों का पहले भी उल्लेख किया जा चुका है, किन्तु इनकी सर्वश्रेष्ठता प्रतिपादन करने के लिए पुनः इनका उल्लेख किया गया है।।८४–९३।।

६८–इति कायहृषीकान्तःकरणानामुपासनाः।।९४।।
६९–चतुःषष्टिः पृथक् सांघातिकभेदात् क्रमादिमाः।।९५।।
२७–अथार्षानुमतेनैषामुदाहरणमीर्य्यते।।९६।।

● *अनुवाद*–कायिक, वाचिक तथा मानसिक अलग–अलग, फिर सम्मिलित रूप में ६४ अंगों में चार प्रकार की उपासना है। तात्पर्य यह है कि गुरुपादाश्रयादि के अनेक भेद हैं। अर्चन तथा कीर्तनादि के भी अनेक भेद हैं, वे भेद समुदायत्व को लेकर हैं। इसलिए अर्चनादि अंगों के अनेक भेद होते हुए भी समुदायत्व में उनको एक ही अंग माना गया है अर्थात् कुल चौंसठ अंगों में ही उनकी गणना की गई है। अब आगे ऋषि–वचनानुसार उपर्युक्त समस्त अंगों के उदाहरणों का निरूपण करते हैं।।९४–९६।।

तत्र गुरुपादाश्रयो (१) यथैकादशे (११।३।२१)–

७०–तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्।
शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम्।।९७।।

● *अनुवाद*–श्रीमद्भागवत (११।३।२१) में कहा गया है–शाश्वत कल्याण को जानने के इच्छुक व्यक्ति को भक्ति–शास्त्र में, अर्थात् भगवद् विषयक श्रवण–कीर्तनादि विषयों में पारदर्शी तथा भगवत्–निष्ठ श्रीगुरु की शरण लेनी चाहिए, जो धन, लोभ, क्रोधादि से रहित हो।।९७।।

कृष्णदीक्षादिशिक्षणं (२) यथा तत्रैव (११।३।२२)–

७१–तत्र भागवतान् धर्मान् शिक्षेद् गुर्वात्मदैवतः।
अमाययानुवृत्त्या यैस्तुष्येदात्मात्मदो हरिः।।९८।।

● *अनुवाद*–श्रीमद्भागवत (११।३।२२) में कहा गया है–श्रीगुरुदेव को अपना हितकारी, परम बान्धव तथा परमाराध्य श्रीहरिस्वरूप जानना चाहिए और निरन्तर निष्कपट भाव से उनकी सेवा करनी चाहिए। उन समस्त धर्मानुष्ठानों की शिक्षा उनसे ग्रहण करनी चाहिए जिनसे आत्मप्रद अर्थात् अपने तक को भी प्रदान कर देने वाले भक्तवत्सल श्रीभगवान् सन्तुष्ट होते हैं।।९८।।

विस्रम्भेण गुरोः सेवा (३) यथा तत्रैव (११।१७।२७)–

७२–आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित्।
न मर्त्यबुद्ध्याऽसूयेत सर्वदेवमयो गुरुः।।९९।।

● *अनुवाद*–श्रीमद्भागवत (११।१७।२७) में कथन है, श्रीगुरुदेव को मेरा स्वरूप जानो अथवा मेरा ही परमप्रिय भक्त जानना चाहिए। कभी भी उन्हें सामान्य मनुष्य जानकर उनकी अवज्ञा या उनमें दोष दृष्टि नहीं करनी चाहिए, श्रीगुरुदेव सर्वदेवमय–समस्त देवताओं की भाँति पूजनीय हैं।।९९।।

साधुवर्त्मानुवर्त्तनं (४) यथा स्कान्दे–

७३–स मृग्यः श्रेयसां हेतुः पन्थाः सन्तापवर्जितः।
अनवाप्तश्रमं पूर्वे येन सन्तः प्रतस्थिरे।।१००।।

ब्रह्मयामले च–

७४–श्रुति–स्मृति–पुराणादि–पञ्चरात्र–विधिं विना।
ऐकान्तिकी हरेर्भक्तिरुत्पातायैव कल्पते।।१०१।।इति।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*तच्च साधुवर्त्म श्रुत्यादिविध्यात्मकमेव; ततस्तदकरणे दोषमाह–श्रुतीति। श्रुत्यादयोऽप्यत्र वैष्णवानां स्वाधिकारप्राप्तास्तद्भागा एव ज्ञेयाः, (भा० ११/२१/२) 'स्वे स्वेऽधिकार इत्युक्तेः', श्रुत्यादिविधिं विनेति। नास्तिकतया तं न मत्वेत्यर्थः, नत्वज्ञानेनालस्येन वा त्यक्त्वेत्यर्थः, (भा० ११/२/३५)धावन्निमील्य वा नेत्रे इत्यादेरैकान्तिकनिष्ठां प्राप्ताऽपि।।१००–१०१।।*

● *अनुवाद*–स्कन्द–पुराण में कहा गया है कि पूर्व सन्तजनों ने जिस मार्ग का अवलम्बन किया है सर्वसन्ताप रहित मंगलमय उस पथ (भक्ति–मार्ग) का अन्वेषण करना चाहिए।।१००।।

जैसा कि ब्रह्मयामल में कहा गया है, श्रुति–स्मृति, पुराणादि तथा पञ्चरात्र में वर्णित विधि को छोड़कर जो (नास्तिकता के कारण) एकान्त भाव से हरिभक्ति का आचरण है, उससे उत्पात ही उत्पन्न होते हैं।।१०१।।

*२८–भक्तिरैकान्तिकीवेयमविचारात्प्रतीयते।
वस्तुतस्तु तथा नैव यदशास्त्रीयतेक्ष्यते।।१०२।।*

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*ननु तर्हि कथमैकान्तिकी स्यात्, तद्रूपत्वे च कथमुत्पाताय कल्पते ? तत्राह–भक्तिरिति। इयं नास्तिकतामयी बौद्धादीनां बुद्ध–दत्तात्रेयादिषु भक्तिर्यदैकान्तिकीव प्रतीयते, तदप्यविचारादेवेत्यर्थः। तत्र हेतुः–यद् यस्मादशास्त्रीयता शास्त्रावज्ञामयता तत्रेक्ष्यते; शास्त्रमत्र वेदतदंगादि, "शास्त्रयोनित्वादिति न्यायात्। तदा तत्तदवतारिभगवदाज्ञारूपानादिसत्–परम्पराप्राप्तवेदवेदांगावज्ञायां" सत्यां कथमैकान्तिकी सा स्यादिति भण्यतां ? किंच येनैव वेदादिप्रामाण्येन बुद्धादीनामवतारत्वं गम्यते, तेनैव बुद्धस्यासुरमोहनार्थं पाषण्डशास्त्रप्रपञ्चयितृत्वं च श्रूयते, श्रीविष्णुधर्मादौ त्रियुगनामव्याख्याने, तत्र तु श्रीभगवदावेशमात्रत्वञ्चपाख्यायते तस्मात्तदाज्ञाऽपि न प्रमाणीकर्तव्येति।।१०२।।*

● ***अनुवाद*–यह जो ऐकान्तिकी–भक्ति प्रतीत होती है, वह विचार न करने से ही प्रतीत होती है। वास्तव में वह ऐकान्तिकी नहीं है, क्योंकि वह अशास्त्रीय है अर्थात् शास्त्र–विरुद्ध है।।१०२।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–इस श्लोक से पहले (श्लोक १०१) में कहा गया है कि ऐकान्तिकी–भक्ति भी श्रुति–स्मृति आदि विधि रहित होने पर उत्पात ही पैदा करती है। प्रश्न उठता है कि श्रुति–स्मृति विधि रहित भक्ति ऐकान्तिकी कैसे हो सकती है ? फिर ऐकान्तिकी होने पर उत्पात ही क्यों पैदा करती है ?–इसके उत्तर में ही उपर्युक्त कारिका का श्रीगोस्वामीपाद ने उल्लेख किया है। उनका कहना है कि वास्तव में वह ऐकान्तिकी भक्ति ही नहीं है, केवल अविचार के

कारण ऐकान्तिकी प्रतीत होती है। जैसे बुद्धावतार तथा दत्तात्रेय आदि द्वारा प्रतिपादित भक्ति एकान्तिकी प्रतीत होती है, परन्तु वास्तव में वह नास्तिकतामयी है, क्योंकि वह शास्त्र–मतानुसार नहीं है। बल्कि उनमें वेद एवं वेदांग स्वरूप शास्त्रमत की अवज्ञा की गई है। अतः जो सर्वावतारी श्रीभगवान् की आज्ञा स्वरूप श्रुति–स्मृति विधि से वर्जित है तथा अनादि सत् परम्परा–प्राप्त वेद–वेदांग की अवज्ञा से पूर्ण है वह ऐकान्तिकी–भक्ति हो ही नहीं सकती।

यदि कोई कहे कि वेद–भागवत शास्त्रादि में बुद्ध–दत्तात्रय आदिक का अवतारत्व सिद्ध है, फिर उनके मत को अमान्य क्यों कहा गया है ? तो उत्तर में कहते हैं जिन शास्त्रों में उनको अवतार कहा गया है, उन्हीं में यह भी कहा गया है कि असुरों को मोहित करने के लिए पाषण्ड शास्त्र की उन्होंने रचना की है। (विष्णु–धर्म के आदि में त्रियुगनाम व्याख्यान में ऐसा वर्णन है) उन अवतारों में केवल भगवद् आवेश मात्र ही प्रतिपादित है, इसलिए उनकी आज्ञा प्रमाण स्वरूप में ग्रहणीय नहीं है।।१०२।।

सद्धर्मपृच्छा (५) नारदीये–

७५–अचिरादेव सर्वार्थः सिद्ध्यत्येषामभीप्सितः।
सद्धर्मस्यावबोधाय येषां निर्बन्धिनी मतिः।।१०३।।

● *अनुवाद*–**श्रीनारदीय पंचरात्र में कथित है कि सद्धर्म को जानने के लिए जिनकी बुद्धि अतिशय आग्रहशील होती है, अति शीघ्र ही उनके समस्त मनोरथ सिद्ध हो जाते हैं।।१०३।।**

कृष्णार्थे भोगादित्यागो (६) यथा पाद्मे–

७६–हरिमुद्दिश्य भोग्यानि काले त्यक्तवतस्तव।
विष्णुलोकस्थिता सम्पदलोला सा प्रतीक्षते।।१०४।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*त्यक्तेति त्यक्तवन्तं त्वामित्यर्थः।।१०४।।*

● *अनुवाद*–**पद्मपुराण में कहा गया है कि तूने समय–समय पर श्रीकृष्ण के लिए सुख–भोगादि का त्याग किया है, इसलिए तुम्हें वरण करने के लिए वैकुण्ठ लोक की (नित्य) सम्पदा भी तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है।।१०४।।**

द्वारकादिनिवासो (७) यथा स्कान्दे–

७७–संवत्सरं वा षण्मासान् मासं मासार्द्धमेव वा।
द्वारकावासिनः सर्वे नरा नार्यश्चतुर्भुजाः।।१०५।।

● *अनुवाद*–**स्कन्द–पुराण में कहा गया है कि एक वर्ष, छः मास, एक मास या पन्द्रह दिन भी जो द्वारका धाम में वास करते हैं, वे नर–नारी चतुर्भुज रूप पार्षद–देह को भगवद्धाम में प्राप्त करते हैं।।१०५।।**

आदिशब्देन पुरुषोत्तमक्षेत्रवासश्च यथा ब्राह्मे–

७८–अहो क्षेत्रस्य माहात्म्यं समन्ताद्दशयोजनम्।
दिविष्ठा यत्र पश्यन्ति सर्वानेव चतुर्भुजान्।।१०६।।

● *अनुवाद*–ब्रह्म–पुराण में पुरुषोत्तम क्षेत्र (श्रीजगन्नाथपुरी) में वास करने की महिमा इस प्रकार वर्णन की गई है, अहो ! इस पुरुषोत्तम क्षेत्र का कैसा माहात्म्य है कि इसके चारों ओर दस योजन में अवस्थान करने वाले समस्त प्राणियों को देवतागण चतुर्भुज रूप में देखते हैं।।१०६।।

गंगादिवासो यथा प्रथमे (१।१६।६)–

७६–या वै लसच्छ्रीतुलसीविमिश्रकृष्णाङ्घ्रिरेण्वभ्यधिकाम्बुनेत्री।
पुनाति सेशानुभयत्र लोकान् कस्त्वां न सेवेत मरिष्यमाणः।।१०७।।

● *अनुवाद*–श्रीमद्भागवत (१।१६।६) में गंगा–महिमा का इस प्रकार वर्णन है, मनोरम सौन्दर्ययुक्त तुलसी–मिश्रित कृष्णचरणरेणु सहित सर्वथा पवित्रचरणजल प्रदानकारिणी जो श्रीगंगा श्रीशिव सहित इस लोक तथा परलोकों के समस्त लोगों को पवित्र करने वाली है, मरणोन्मुख कौन ऐसा प्राणी है जो उसका सेवन न करेगा ?।।१०७।।

यावदर्थानुवर्त्तिता (८) यथा नारदीये–

८०–यावता स्यात् स्वनिर्वाहः स्वीकुर्यात्तावदर्थवित्।
आधिक्ये न्यूनतायां च च्यवते परमार्थः।।१०८।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*स्वनिर्वाह इति। स्वभक्तिनिर्वाह इत्यर्थः।।१०८।।*

● *अनुवाद*–नारदीय पंचरात्र में कहा गया है कि जितने धन से अपना निर्वाह अर्थात् अपने भक्ति अनुष्ठान का निर्वाह हो जाये, प्रयोजनवेत्ता को उतना मात्र ही धन स्वीकार करना चाहिए।।१०८।।

हरिवासरसम्मानो (६) ब्रह्मवैवर्त्ते–

८१–सर्वपापप्रशमनं पुण्यमात्यन्तिकं तथा।
गोविन्दस्मारणं नृणामेकादश्यामुपोषणम्।।१०६।।

● *अनुवाद*–ब्रह्मवैवर्त–पुराण में कथित है कि एकादशी के दिन उपवास करना मनुष्य के समस्त पापों को नाश करता है, आत्यन्तिक पुण्य तथा श्रीगोविन्द की स्मृति प्राप्त कराता है।।१०६।।

धात्र्यश्वत्थादिगौरवं (१०) यथा स्कान्दे–

८२–अश्वत्थतुलसी–धात्री–गोभूमीसुरवैष्णवाः।
पूजिताः प्रणता ध्याताः क्षपयन्ति नृणामघम्।।११०।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*अश्वत्थस्य तद्विभूतिरूपत्वात् पूज्यत्वं, भूमिसुराः ब्राह्मणाः, गोब्राह्मणयोर्हितावतारत्वाद्भगवतो भागवतैरेतावपि पूज्याविति भावः, सर्वेषामेषां तुलसीवैष्णवसाहित्योक्तिर्विचिकित्सानिरसनाय, तत्र गवां पूजा तु श्रीगोपालोपासकानां परमाभीष्टप्रदा यथा गौतमीये–*

गवां कण्डूयनं कुर्याद् गोग्रासं गोप्रदक्षिणम्।
गोषु नित्यं प्रसन्नासु गोपालोऽपि प्रसीदति।।इति।।

● *अनुवाद*–स्कन्द–पुराण में कथित है–पीपल, तुलसी, आमलकी, गाय, ब्राह्मण तथा वैष्णव इनकी पूजा करने से, इनको प्रणाम करने से तथा इनका ध्यान करने से मनुष्यों के पापों का नाश होता है।।११०।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—पीपल को श्रीगीता में श्रीभगवान् ने अपनी विभूति कहा है, इसलिए वह पूज्य है। ब्राह्मण पृथ्वी के देवता होने से पूज्य हैं। गो—ब्राह्मण की रक्षा के लिए तो श्रीभगवान् अवतार ही धारण करते हैं इसलिए भक्तों के ये दोनों पूज्य हैं। तुलसी श्रीभगवान् को अति प्रिय है तथा वैष्णव इसलिए पूज्य हैं कि ये भक्ति—शास्त्रों में होने वाले सन्देह को दूर करने वाले हैं। गौ—पूजा तो श्रीगोपालोपासकों की परमाभीष्टप्रदाता है।।११०।।

अथ श्रीकृष्णविमुखसंगत्यागो (११) यथा कात्यायनसंहितायाम्—

८३—वरं हुतवहज्वालापञ्जरान्तर्व्यवस्विति:।
न शौरिचिंता विमुखजनसंवासवैशसम्।।१११।।

विष्णुरहस्ये च—

८४—आलिंगनं वरं मन्ये व्यालव्याघ्र जलौकसाम्।
न संगः शल्ययुक्तानां नाना—दैवैकसेविनम्।।११२।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*वैशसं विपत्तिः।।१११।। शल्यमत्र तत्तद्देवतान्तरसेवावासना।।११२।।*

● *अनुवाद*—**कात्यायन संहिता में लिखा है, अग्नि की ज्वालाओं के पिंजड़े के भीतर रहना अच्छा है, किन्तु कृष्ण—स्मृति से विमुख व्यक्ति के साथ रहने की विपत्ति सहन करना अच्छा नहीं।।१११।।**

विष्णु—रहस्य में ही कहा गया है, सर्प, व्याघ्र, मकरादि हिंसक जीवों का आलिंगन कर लेना अच्छा है, किन्तु विभिन्न देवी—देवताओं के सेवक, जो विभिन्न देवों की सेवोपासना रूपी बर्छियों से युक्त हैं, उन अविश्वासियों का संग न करे।।११२।।

शिष्याद्यननुबन्धित्वादित्रयं (१२, १३, १४) सप्तमे यथा (७।१३।८)

८५—न शिष्याननुबध्नीत ग्रन्थान्नैवाभ्यसेद्बहून्।
न व्याख्यामुपयुञ्जीत नारम्भानारभेत् क्वचित्।।११३।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*शिष्यान्नैवानुबध्नीयादित्यादिको यद्यपि संन्यासधर्मस्तथाऽपि निवृत्तानामपि अन्येषां भक्तानामुपयुज्यत इति भावः, एतच्चानधिकारिशिष्याद्यपेक्षया, श्रीनारदादौ तच्छ्रवणात्, तत्तत्सम्प्रदायनाशठय—प्रसंगाच्च; अन्यथा ज्ञानशाठ्यापत्तेः; अतएव नानुबध्नति स्वसम्प्रदायबृद्धयर्थ—मनधिकारिणोऽपि न गृह्णीयादित्यर्थः, बहूनिति। भगवद्बहिर्मुखानन्यांस्त्वित्यर्थः आरम्भानित्यपि तद्वत्।।११३।।*

● *अनुवाद*—**श्रीमद्भागवत (७।१३।८) में कहा गया है, अनेक शिष्यों का संग्रह, अनेक मतों के ग्रन्थों का अध्ययन, व्यख्याओं का उपयोग तथा बड़े—बड़े कार्यों का आरम्भ नहीं करना चाहिए।।११३।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—अनेक शिष्यों का संग्रह करना संन्यासियों के लिए जैसे दोष है, उसी प्रकार विरक्त वैष्णवों के लिए भी। यह विचार कर कि शिष्य न बनाने से सम्प्रदाय की क्षति होती जायेगी, अतः उसकी वृद्धि के लिए

अनेक शिष्य बनाने चाहिए—ऐसा युक्त नहीं है। केवल जातरति—वैष्णवों को ही अधिकारी मनुष्य को शिष्य बनाने का अधिकार है, ताकि सप्रदाय का लोप न हो एवं अज्ञानता वृद्धि न हो। भक्ति के विरोधी ग्रन्थों का पढ़ना तथा वादविवाद करना निषिद्ध है। बड़े—बड़े आयोजन करना, नये—नये विशाल कार्यों का आरम्भ करना मना है। क्योंकि ऐसे समस्त कार्य मन को विक्षिप्त कर भगवद् बहिर्मुखता की ओर ही ले जाने वाले हैं। उपर्युक्त श्लोक भक्ति के बारहवें, एवं चौदहवें इन तीनों अंगों का उदाहरण प्रस्तुत करता है।।११३।।

व्यवहारेऽप्यकार्पण्यं (१५) यथा पाद्मे—

८६—अलब्धे वा विनष्टे वा भक्ष्याच्छादनसाधने।
अविक्लवमतिर्भूत्वा हरिमेव धिया स्मरेत्।।११४।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*अलब्ध इति। स्मरणादिपराणामेवेयं रीतिः, सेवापरैस्तु यथालाभमेव सेवा कार्या। न तु याञ्चाद्यतिशयेन (नाति) कार्पण्यं कार्यमिति ज्ञेयम्।।११४।।*

● ***अनुवाद***—**पद्मपुराण में कहा गया है, भोजन तथा पहिनने के साधनों के न प्राप्त होने पर अथवा नष्ट हो जाने पर भी स्थिर—बुद्धि से श्रीभगवान् का भजन—स्मरण करना चाहिए।।११४।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—जो वैष्णव केवल स्मरण—परायण हैं, उनके लिए तो यही रीति है और जिन्हें श्रीमूर्ति आदि की सेवा करनी पड़ती है, उनको भी जितना प्राप्त हो, उसी में सेवा—निर्वाह करना चाहिए। किन्तु किसी दाता या सेठ के पास जाकर अपनी दीनता दिखाते हुए कुछ मांगना नहीं चाहिए।।११४।।

शोकाद्यवशवर्तिता (१६) यथा तत्रैव—

शोकामर्षादिभिर्भावैराक्रान्तं यस्य मानसम्।
८७—कथं तत्र मुकुन्दस्य स्फूर्तिसम्भावना भवेत्।।११५।।

● ***अनुवाद***—**पद्मपुराण में यह वर्णित है कि जिसका मन, शोक एवं क्रोध के वशीभूत हो जाता है, उसमें श्रीमुकुन्द की स्फूर्ति की कैसे सम्भावना हो सकती है ?।।११५।।**

अन्यदेवानवज्ञा (१७) यथा तत्रैव—

८८—हरिरेव सदाराध्यः सर्वदेवेश्वरेश्वरः।
इतरे ब्रह्मरुद्राद्या नावज्ञेयाः कदाचन।।११६।।

● ***अनुवाद***—**पद्मपुराण में कहा गया है कि समस्त देवताओं के ईश्वरों के ईश्वर श्रीकृष्ण ही आराधना करने योग्य हैं, किन्तु ब्रह्मा—शिवादि अन्यान्य देवताओं की भी अवज्ञा नहीं करनी चाहिए।।११६।।**

भूतानुद्वेगदायिता (१८) यथा महाभारते—

८९—पितेव पुत्रं करुणो नोद्वेजयति यो जनम्।
विशुद्धस्य हृषीकेशस्तूर्णं प्रसीदति।।११७।।

● ***अनुवाद***—**महाभारत में कहा गया है कि पिता जैसे अपने पुत्र को नहीं सताता, उसी प्रकार जो करुणा कर किसी प्राणी को भी उद्वेग नहीं देता, उस**

विशुद्धात्मा व्यक्ति पर श्रीभगवान् अति शीघ्र प्रसन्न हो जाते हैं।।११७।।

सेवानामापराधवर्जनं (१६) यथा वाराहे पाद्मे च–

६०–ममार्चनापराधा ये कीर्त्त्यन्ते वसुधे ! मया।
वैष्णवेन सदा ते तु वर्जनीयाः प्रयत्नतः।।११८।।

पाद्मे च–६१–सर्वापराधकृदपि मुच्यते हरिसंश्रयः।
हरेरप्यपराधान् यः कुर्याद् द्विपदपांशुलः।।११६।।

६२–नामाश्रयः कदाचित्स्यात्तरत्येव स नामतः।
नाम्नोऽपि सर्वसुहृदो ह्यपराधात्पतत्यधः।।१२०।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*सेवानामापराधवर्जनमित्यादि वाराहे पाद्मे च यथाक्रमं योज्यं, तत्र सेवापराधा आगमानुसारेण गण्यन्ते–*

यानैर्वा पादुकैर्वाऽपि गमनं भगवद्गृहे।
देवोत्सवाद्यसेवा च अप्रमाणस्तदग्रतः।।
उच्छिष्टे वाऽप्यशौचे वा भगवद्वन्दनादिकम्।
एकहस्तप्रणामश्च तत्पुरस्तात्प्रदक्षिणम्।।
पादप्रसारणंञ्चाग्रे तथा पर्यंकबन्धनम्।
शयनं भक्षणञ्चापि मिथ्याभाषणमेव च।।
उच्चैर्भाषा मिथो जल्पो रोदनानि च विग्रहः।
निग्रहानुग्रहौ चैव नृषु च क्रूरभाषणम्।।
कम्बलावरणंचैव परनिन्दा परस्तुतिः।
अश्लीलभाषणं चैव अधोवायुविमोक्षणम्।।
शक्तौ गौणोपचारश्च अनिवेदितभक्षणम्।
तत्तत्कालोद्भवानां च फलादीनामनर्पणम्।।
विनियुक्तावशिष्टस्य प्रदानं व्यञ्जनादिके।
पृष्ठीकृत्यासनं चैव परेषामभिवादनम्।।
गुरौ मौनं निजस्तोत्रं देवतानिन्दनं तथा।
अपराधास्तथा विष्णोर्द्वात्रिंशत्परिकीर्तिताः।।

वाराहे च येऽन्येपराधास्ते संक्षिप्य लिख्यन्ते–राजान्नभोजनं; ध्वान्तागारे हरेः स्पर्शः। विधिं विना हर्य्युपसर्पणं, वाद्यं विना तद्द्वरोद्घाटनं, कुक्कुरदृष्टभक्ष्यसंग्रहः, अर्च्चने मौनभंगः, पूजाकाले विड्उत्सर्गाय सर्पणं, गन्धमाल्यादिकमदत्वा धूपनम्, अनर्हपुष्पेण पूजनम्। तथा–

अकृत्वा दन्तकाष्ठं च कृत्वा निधुवनं तथा।
स्पृष्ट्वा रजस्वलां दीपं तथा मृतकमेव च।।
रक्तं नीलमधौतं च पारक्यं मलिनं पटम्।
परिधाय मृतं दृष्ट्वा विमुच्यापानमारुतम्।।
क्रोधं कृत्वा श्मशानं च गत्वा भुक्ताऽप्यजीर्णभुक्।
भुक्त्वा कुसुम्भं पिन्याकं तैलाभ्यंग विधाय च।।
हरेः स्पर्शो हरेः कर्मकरणं पातकावहम्।।

तथा तत्रैवान्यत्र–भगवच्छास्त्रानादरेण, तत्प्रतिपतिः, अन्यशास्त्रप्रवर्त्तनं, तदग्रतस्ताम्बूलचर्वणम्, एरण्डपत्रस्थपुष्पैरर्च्चनम्, आसुरकाले पूजनम्, पीठे भूमौ वोपविश्य पूजनं, स्नपनकाले वामहस्तेन तत्स्पर्शः, पर्युषितैर्याचितैर्वा पुष्पैरर्चनं, तस्यां स्वगर्वप्रतिपादनं, तिर्यक्पुण्ड्रधृतिः, अप्रक्षालितपादत्वेऽपि तन्मन्दिरे प्रवेशः, अवैष्णवपक्वनिवेदनम्, अवैष्णवदृष्टौ पूजनं, विघ्नेशमपूजयित्वा कपालिनं दृष्ट्वा वा पूजनं, नखाम्भसा स्नपनं, धर्माम्बुलिप्तत्वेऽपि पूजनमित्यादयः। अन्यत्र निर्माल्यलंघनं भगवच्छपथादयोऽन्ये च बहव इति।

अथ नामापराधाश्च पाद्मोक्ताः–सतां निन्दा, श्रीविष्णोः सकाशात् शिवस्यनामादेः स्वातन्त्र्यमननं,–गुर्वज्ञा, श्रुतितदनुगतशास्त्रनिन्दनं, हरिनाम–महिम्न्यर्थवादमात्रमिदमिति मननं, तत्र प्रकारान्तरेणार्थकल्पनं, नामबलेन पापे प्रवृत्तिः, अन्यशुभक्रियाभिर्नामसाम्यमननम्, अश्रद्दधानादौ नामोपदेशः, नाममाहात्म्ये श्रुतेऽप्यप्रीतिरिति, सर्व एवैते हरिभक्तिविलासे प्रमाणवचनैर्द्रष्टव्याः।।११८।।

● *अनुवाद*–वाराह तथा पद्मपुराण में कहा गया है कि हे वसुधे ! मेरी (श्रीभगवान् की) सेवा के जिन दोषों का मैंने निर्देश किया है, वैष्णव को उनसे सदा प्रयत्न पूर्वक बचना चाहिए।।११८।।

सब प्रकार के अपराधों को करने वाला श्रीभगवान् की शरण में आने पर उन अपराधों से मुक्त हो जाता है, किन्तु जो श्रीभगवान् की सेवा में भी त्रुटि या अपराध करता है, वह मनुष्य नहीं पशु है।।११९।।

कभी भी श्रीभगवान् के नाम का आश्रय लिया जाये तो उससे संसार–सागर से मनुष्य तर जाता है, किन्तु सबके सुहृद श्रीभगवन्नाम के प्रति जो अपराध करता है, उसका अधःपतन ही होता है।।१२०।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–सेवा अपराधों तथा नाम–अपराधों का त्याग करना अर्थात् उनसे बचकर साधन–भक्ति का आचरण करना, भक्ति का उन्नीसवां अंग है।

जिन आचरणों के द्वारा भगवद्–कृपा से वञ्चित रहना पड़ता है, उन्हें सेवा–अपराध कहते हैं। आगम–शास्त्र में बत्तीस प्रकार के सेवा–अपराधों का उल्लेख है, जो इस प्रकार हैं–

(१) शरीर में योग्यता होने पर भी गाड़ी–रिक्शा–पालकी आदि पर चढ़कर अथवा जूता, खड़ाऊँ आदि पहनकर श्रीभगवान् के मन्दिर को जाना, (२) भगवत्सम्बन्धीय उत्सवों में सेवा या योगदान न करना, (३) श्रीभगवान् की मूर्ति को देखकर प्रणाम न करना। (४) झूठे मुख से श्रीभगवान् के दर्शन करना। (५) सूतक–पातक में भगवद्दर्शन करना। (६) श्रीभगवान् को एक हाथ से प्रणाम करना। *(श्रीभगवान् की मूर्ति के सामने)* (७) खड़े–खड़े घूमकर परिक्रमा करना। (८) पांव फैलाकर बैठना। (९) पांव पर पांव चढ़ाकर बैठना। (१०) नींद करना। (११) भोजन करना। (१२) असत्य बोलना। (१३) जोर–जोर से बोलना। (१४) सांसारिक बातचीत करना। (१५) सांसारिक दुःखों से रोना। (१६) लड़ाई–झगड़ा करना। (१७) किसी को दण्ड देना। (१८) किसी पर कृपा करना। (१९) दूसरों के

प्रति कठोर वचन कहना। (२०) कम्बल ओढ़कर सेवा में जाना। (२१) परायी निन्दा करना। (२२) परायी स्तुति करना। (२३) अश्लील बातें या हँसी–मजाक करना। (२४) अपान वायु छोड़ना, (२५) श्रीभगवान् को नीरस पदार्थ भोग लगाना। (२६) ऋतु के फल या साग आदि भगवत्–अर्पण न करना। (२७) किसी पदार्थ को भगवत् अर्पण किये बिना खा लेना। (२८) किसी वस्तु में से पहले कुछ वस्तु किसी अन्य को देकर बाकी बची हुई वस्तु को भोग लगाना। (२६) अपनी प्रशंसा करना। (३०) महत् पुरुषों के पीठ–पीछे बैठना। (३१) श्रीभगवत्–मूर्ति के सामने किसी दूसरे को प्रणाम करना एवं (३२) अन्यान्य देवताओं की निन्दा करना।

श्रीहरिभक्तिविलास (११–२८२ से २८६) में पद्मपुराण से निम्नलिखित दस नामापराध उद्धृत किये गये हैं–

सतां निन्दा नाम्नः परममपराधं वितनुते।
यतः ख्याति यातः कथमु महते तद्विगरिहाम्।।
शिवस्व श्रीविष्णोर्य इह गुणनामादि सकलं।
धिया भिन्नं पश्येत स खलु हरिनामाहितकरः।।
गुरोरवज्ञा, श्रुतिशास्त्रनिन्दनं, तथार्थवादो हरिनाम्नि कल्पनम्।
नाम्नो बलाद् यस्य हि पाप बुद्धिर्न विद्यते तस्य यमैर्हि शुद्धि।।
धर्म–व्रत–त्याग–हुतादि सर्वशुभक्रियासाम्यमपि, प्रमादः।।।
अश्रद्दधाने विमुखेऽप्यश्रृण्वति यश्चोपदेशः शिवनामापराधः।।
श्रुतेऽपि नाम माहात्म्ये यः प्रीतिरहितोऽधमः।
अहं–ममादि–परमो नाम्नि सोऽप्यपराधकृत।।

श्रीपाद सनातन गोस्वामीजी ने इन श्लोकों की टीका करते हुए जिन दस नाम अपराधों का निरूपण किया है, उनका यहाँ संक्षेप से उल्लेख करते हैं–

(१) सत्पुरुषों की निन्दा करना, (२) श्रीशिव तथा श्रीविष्णु के नामरूप लीलाओं में भेद मानना, (३) श्रीगुरुदेव की अवज्ञा करना, (४) वेदादि सत् शास्त्रों की निन्दा करना, (५) श्रीहरिनाम में अर्थवाद कल्पना करना, (६) नाम के बल पर पापों में प्रवृत्ति, (७) अन्यान्य शुभ कर्मों के साथ श्रीनाम की समानता मानना, (८) श्रीनाम श्रवण व ग्रहण करने में अनावधानता या चेष्टा–शून्यता, (६) श्रीनाम–महिमा जान–सुनकर भी नामग्रहण को प्रधानता न देना, (१०) श्रद्धाहीन, विमुख एवं जो उपदेश को ग्रहण नहीं करते, उनको उपदेश देना। इन दस नामापराधों से साधक को सदा बचकर रहना चाहिए ।।११८।।

तन्निन्दाद्यसहिष्णुता (२०) यथा श्रीदशमे (१० ।७४ ।४०)–

६३–निन्दां भगवतः श्रृण्वंस्तत्परस्य जनस्य वा।
ततो नापैति यः सोऽपि यात्यधः सुकृताच्च्युतः।।१२१।।

● *अनुवाद*–श्रीमद्भागवत (१० ।७४ ।४०) में कहा गया है–श्रीभगवान् की तथा उनके भक्तों की जहाँ निन्दा होती है, उस स्थान को जो व्यक्ति छोड़ नहीं जाता, वह अपने धर्म से पतित हो जाता है।।१२१।।

अथ वैष्णवचिह्नधृतिः (२१) यथा पाद्मे—

६४—ये कण्ठलग्नतुलसीनलिनाख्यामाला।
ये बाहुमूलपरिचिह्नितशंखचक्राः।
ये वा ललाटफलके लसदूर्ध्वपुण्ड्रा—
स्ते वैष्णवा भुवनमाशु पवित्रयन्ति।।१२२।।

● *अनुवाद*—पद्मपुराण में वर्णित है कि जो कण्ठ में तुलसी और कमलगट्टों की माला धारण करते हैं, जिनकी भुजाओं पर शंख, चक्र के चिह्न अंकित हैं और जो ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करते हैं, वे वैष्णव जगत् को शीघ्र ही पवित्र कर देते हैं।।१२२।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—वैष्णव के ये बाहरी चिह्न हैं, गले में कण्ठी, भुजाओं पर शंख—चक्रादि के चिह्न तथा मस्तक पर तिलक धारण करना। कमलगट्टा, रुद्राक्ष, आमला आदि की भी मालाओं के धारण करने का विधान है, किन्तु श्रीभगवान् को अतिप्रिय होने से वैष्णवों के लिए तुलसी की ही कण्ठी का विशेष विधान है।

तिलक मुख्यतः हो प्रकार के हैं, ऊर्ध्वपुण्ड्र तथा त्रिपुण्ड्र। वैष्णव सम्प्रदायों में भिन्न—भिन्न तिलक होते हुए भी ऊर्ध्वपुण्ड्र का ही विधान है; अर्थात् नासिका के मूल स्थान दोनों भौंहों के बीच से आरम्भ होकर सिर की ओर खड़ी लकीरों के रूप में जाने वाला तिलक ''ऊर्ध्व—पुण्ड्र'' कहलाता है। माथे पर चौड़ाई के बल कानों की तरफ जो तीन लकीरों में लगाया जाता है, वह 'त्रिपुण्ड्र' कहलाता है। शैव, शक्ति के उपासक अथवा जो अवैष्णव हैं, वे त्रिपुण्ड्र धारण करते हैं। वैष्णवों के लिए त्रिपुण्ड्र अत्यन्त निषिद्ध है। तिलक के लिए गोपीचन्दन, व्रजरज, विशेषतः राधाकुण्ड—रज, चन्दन—केशर, कुंकुमादि का प्रयोग किया जाना शास्त्र सम्मत है।।१२२।।

नामाक्षरधृतिः (२२) यथा स्कान्दे—

६५—हरिनामाक्षरयुतं भाले गोपिमृदंकितम्।
तुलसीमालिकोरस्कं स्पृशेयुर्न यमोद्भटाः।।१२३।।

पाद्मे च

६६—कृष्णनामाक्षरैर्गात्रमंकयेच्चन्दनादिना।
स लोकपावनो भूत्वा तस्य लोकमवाप्नुयात्।।१२४।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*गोपीमृदंकितं गोपीचन्दनेन तिलकितम्।।१२३।।*

● *अनुवाद*—स्कन्द—पुराण में कथित है कि मस्तक पर श्रीहरिनामाक्षरयुक्त तथा गोपीचन्दन का तिलक धारण करने वाले एवं गले में तुलसी माला धारण करने वाले वैष्णव—भक्त को यमराज के दूत स्पर्श नहीं करते।।१२३।।

पद्मपुराण का कथन है कि चन्दन अथवा गोपीचन्दनादि के द्वारा जो अपने शरीर पर श्रीकृष्णनाम—अक्षरों को लिखता है, वह संसार को पवित्र करने वाला होकर श्रीभगवान् के धाम को प्राप्त करता है।।१२४।।

निर्माल्यधृति :

(२३) यथैकादशे (११।६।४६)–

६७–त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धवासोऽलंकारचर्चिताः।
उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेम हि।।१२५।।

स्कान्दे च–

६८–कृष्णोत्तीर्णं तु निर्माल्यं यस्यांगं स्पृशते मुने!
सर्वरोगैस्तथा पापैर्मुक्तो भवति नारद !।।१२६।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*त्वयोपयुक्तेति। श्रीमदुद्धववाक्यम्, परोक्षपूजादावपीति भावः। जयेम जेतुं शक्नुम् इत्यर्थः। एतदुत्तरमस्य पद्यद्वयं चास्ति–*

मुनयो वातरशनाः श्रमणा ऊर्ध्वमन्थिनः।
ब्रह्माख्यं धाम ते यान्ति शान्ताः संन्यासिनोऽमलाः।।
वयंत्विह महायोगिन्! भ्रमामः कर्मवर्त्मसु।
तद्वार्त्तया तविरष्यामस्तावकैर्दुस्तरं तमः।।इति।।
तरिष्यामस्तर्त्तुं शक्नुम इत्यर्थः।।१२५।।

● *अनुवाद*–श्रीमद्भागवत (११।६।४६) में उद्धवजी ने कहा है, हे कृष्ण! हमने आपके प्रसादी माला, चन्दन, वस्त्र और अलंकारादि सदा धारण किये हैं, आपकी झूँठन खाई है, हम आपके दास हैं। इसलिए हम आपकी माया पर अवश्य ही विजय प्राप्त कर लेंगे, हमें उसका डर नहीं। तात्पर्य यह है कि भगवत्–निर्माल्य धारण करना माया से बचने के लिए एक कवच है।।१२५।।

स्कन्द–पुराण में भी कथित है कि हे नारदजी! श्रीकृष्ण की प्रसादी माला जिसके शरीर का स्पर्श करती है, वह समस्त रोगों और पापों से मुक्त हो जाता है।।१२६।।

अग्रे ताण्डवं (२४) यथा द्वारकामाहात्म्ये–

६९–यो नृत्यति प्रहृष्टात्मा भावैर्बहुसुभक्तितः।
स निर्दहति पापानि मन्वन्तरशतेष्वपि।।१२७।।

तथा नारदोक्तौ च–

१००–नृत्यतां श्रीपतेरग्रे तालिका–वादनैर्भृशम्।
उड्डीयन्ते शरीरस्थाः सर्वे पातकपक्षिणः।।१२८।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*मन्वन्तरशतेष्वपीति। अत्र जातानीति शेषः।।१२७।।*

● अनुवाद–द्वारका माहात्म्य में कथित है कि जो व्यक्ति आनन्दित होकर भक्तिपूर्वक अनेक भावों से भगवद् विग्रह के आगे नृत्य करता है, उसके सैंकड़ों मन्वन्तरों के जन्मों के पाप ध्वंस हो जाते हैं।।१२७।।

श्रीनारदजी ने कहा है–ताली आदि बजाते हुए जो व्यक्ति भगवान् श्रीकृष्ण के आगे नृत्य करता है, उसके शरीर में रहने वाले अनेक पापरूपी पक्षी तत्काल उड़ जाते हैं।।१२८।।

दण्डवन्नतिः (२५) यथा नारदीये–

१०१–एकोऽपि कृष्णाय कृतः प्रणामो दशाश्वमेधावभृथैर्न तुल्यः।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय।।१२९।।

● *अनुवाद*–श्रीनारदीय पंचरात्र में कथित है, श्रीकृष्ण को एकबार भी किया गया प्रणाम दस अश्वमेध यज्ञों के पूर्ति फल से भी कहीं बढ़कर है, क्योंकि दश अश्वमेध यज्ञों के करने वाला फिर संसार में जन्म–मरण को प्राप्त होता है, किन्तु श्रीकृष्ण को प्रणाम करने वाले का पुनर्जन्म नहीं होता।। (यहाँ इतना और वक्तव्य है कि परिधान वस्त्र के अतिरिक्त समस्त वस्त्र उतार कर ही दण्डवत् प्रणाम का विधान है, वस्त्र सहित पञ्चांग प्रणाम ही करना चाहिए।)।।१२९।।

अभ्युत्थानं (२६) यथा ब्रह्माण्डे–

१०२–यानारूढं पुरः प्रेक्ष्य समायान्तं जनार्दनम्।
अभ्युत्थानं नरः कुर्वन् पातयेत्सर्वकिल्विषम्।।१३०।।

● *अनुवाद*–ब्रह्माण्ड–पुराण में कहा गया है कि सामने श्रीभगवान् की सवारी (एवं महत्पुरुष) को आता देखकर जो व्यक्ति उनकी अगवानी के लिए उठ खड़ा होता है, उसके समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं।।१३०।।

अथानुव्रज्या (२७) यथा भविष्योत्तरे–

१०३–रथेन सह गच्छन्ति पार्श्वतः पृष्ठतोऽग्रतः।
विष्णुनैव समाः सर्वे भवन्ति श्वपचादयः।।१३१।।

■ *दुर्गमसंगमनी टीका*–रथेनेत्युपलक्षणम्। अन्येनापीत्युन्नेयमिति भावः। एवं पूर्वत्र च यानारूढमित्यत्र ज्ञेयम्।।१३१।।

● *अनुवाद*–भविष्योत्तर–पुराण में लिखा है कि श्रीभगवान् के रथ या सवारी के साथ आगे–पीछे, अगल–बगल चलने वाले चाण्डाल भी श्रीविष्णु के समान पूजनीय हो जाते हैं।।१३१।।

स्थाने गतिः (२८)–

२९–स्थानं तीर्थं गृहं चास्य तत्र तीर्थे गतिर्यथा।।१३२।।

पुराणान्तरे–

१०४–संसारमरुकान्तार–निस्तारकरणक्षमौ।
श्लाघ्यौ तावेव चरणौ यौ हरेस्तीर्थगामिनौ।।१३३।।

आलये च यथा हरिभक्तिसुधोदये–

१०५–प्रविशन्नालयं विष्णोर्दर्शनार्थं सुभक्तिमान्।
न भूयः प्रविशेन्मातुः कुक्षिंकारागृहं सुधीः।।१३४।।

● *अनुवाद*–स्थान से तीर्थ–स्थान तथा भगवत्–मन्दिर ये दोनों अर्थ अभिप्रेत हैं। उनमें तीर्थ–गमन के विषय में पुराण का कथन है कि संसाररूपी मरुस्थल के पार करने में वे ही प्रशंसनीय चरण समर्थ हो सकते हैं, जो श्रीभगवान् के तीर्थ स्थान पर जाने वाले हैं।।१३२–१३३।।

श्रीहरिभक्तिसुधोदय में भगवत्–मन्दिर में जाने के सम्बन्ध में वर्णित है कि जो सुधी–पुरुष भक्ति–पूर्वक श्रीभगवान् के दर्शनों के लिए मन्दिर में प्रवेश करता है, उसे फिर माता के गर्भरूपी कारागार में नहीं जाना पड़ता।।१३४।।

परिक्रमा (२६) यथा तत्रैव–

१०६–विष्णुं प्रदक्षिणीकुर्वन् यस्तत्रावर्त्तते पुनः।
तदेवावर्त्तनं तस्य पुनर्नावर्त्तते भवे।।१३५।।

स्कान्दे च चातुर्मास्यमाहात्म्ये–

१०७–चतुर्वारं भ्रमीभिस्तु जगत्सर्वं चराचरम्।
क्रान्तं भवति विप्राग्र्य ! तत्तीर्थगमनाधिकम्।।१३६।।इति

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*चतुरित्यत्र विष्णुं परित इति प्रकारणप्राप्तं, तीर्थानां श्रीगंगादीनां गमनादप्यधिकं शीघ्रं भगवद्भक्तिप्रदत्वादित्यर्थः।।१३६।।*

● *अनुवाद*–श्रीहरिभक्तिसुधोदय में कहा गया है कि श्रीभगवान् की परिक्रमा करते हुए जो व्यक्ति चक्कर लगाता है, वही उसका अन्तिम चक्कर होता है। उसे फिर संसार के जन्म–मरण चक्कर में नहीं जाना पड़ता।।१३५।।

स्कन्द–पुराण के चातुर्मास्य माहात्म्य में कहा गया है कि हे विप्रवर ! श्रीभगवान् (मन्दिर) की चार बार परिक्रमा करने से चराचर सहित सारे संसार की परिक्रमा हो जाती है। अतः परिक्रमा का फल तीर्थयात्रा से भी अधिक है अर्थात् गंगादि तीर्थ–यात्रा से उतनी शीघ्र भक्ति की प्राप्ति नहीं होती जितनी शीघ्र परिक्रमा से प्राप्त होती है।।१३६।।

अथार्चनम् (३०)–

३०–शुद्धिन्यासादिपूर्वांगकर्मनिर्वाहपूर्वकम्।
अर्चनंतूपचाराणां स्यान्मन्त्रेणोपपादनम्।।१३७।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*शुद्धिर्भूतशुद्धिः, न्यासा मातृकान्यासादयः, तदादिकं पूर्वमंगं यस्य। तादृशकर्मनिर्वाहपूर्वकं यन्मन्त्रेणोपचाराणं समर्पणं तदर्चन–मित्यन्वयः।।१३७।।*

● *अनुवाद*–भूत–शुद्धि तथा मातृका–न्यासादि पूर्वांगों को सम्पादन करके मन्त्र द्वारा पूजन सम्बन्धी उपचारों या विधियों का सम्पादन करना 'अर्चन' कहलाता है।।१३७।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–पूजा से पहले शरीर तथा शरीर के उपादान पञ्च–भूतों की मन्त्रों द्वारा जो शुद्धि की जाती है, उसे 'भूत–शुद्धि' कहते हैं। कण्ठ, हृदय, नाभि, शिश्न, पायु एवं भ्रुमध्य–इन छः स्थानों में यथाक्रम सोलह, बारह, दस, छः, चार और दो कमल–दल विद्यमान हैं; ऐसा जानकर उनके प्रति दल में सानुस्वर एक वर्ण का न्यास किया जाता है। अर्थात् छः दलों में कुल पचास दल हैं। व्यंजन और स्वर के पचास वर्ण हैं। हर एक वर्ण में अनुस्वर संयुक्त कर (जैसे अं नमः, आं नमः इत्यादि।) क्रमानुसार न्यास या स्थापन करना 'मातृका न्यास' कहलाता है। (श्रीहरिभक्तिविलास ५।५२ द्रष्टव्य है)। इस प्रकार

भूत–शुद्धि तथा मातृका न्यासादि के सम्पादन के बाद अर्चन किया जाता है। फिर अर्चन भी पञ्चोपचार, षोड़शोपचार, पञ्चशतोपचार भेदों में विभक्त है। उन उपचारों सहित पूजा को ब्राह्यपूजा कहा जाता है। कर्म मिश्राभक्ति के पथिक जो धनवान गृहस्थी हैं उनके लिए निरूपण किये गये हैं। निष्किञ्चन विरक्त भजनशील व्यक्तियों के लिए केवल मानसीपूजा विधेय है, जिसमें नामग्रहण के साथ–साथ लीला–चिन्तन की प्रधानता रहती है।।१३७।।

तद्यथा श्रीदशमे (१० ।८१ ।१९)–

१०८–स्वर्गापवर्गयोः पुंसां रसायां भुवि सम्पदाम्।
सर्वासामपि सिद्धीनां मूलं तच्चरणार्चनम्।।१३८।।

विष्णुरहस्ये–

१०९–श्रीविष्णोरर्चनं ये तु प्रकुर्वन्ति नरा भुवि।
ते यान्ति शाश्वतं विष्णोरानन्दं परमं पदम्।।१३९।।इति

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*स्वर्गापवर्गयोरिति। अत्रार्चनं प्रधानं कृत्वा भक्त्यन्तरमहिमा सूचित। इत्यर्चनमहिमन्येव लिखितं, मूलमिति। अन्यत्तु तदभावादेव विधीयत इत्यर्थः। (भा० ११ ।१४ ।३)–*

कालेन नष्टा वाणीयं प्रलये वेदसंज्ञिता।
मयाऽदौ ब्रह्मणे प्रोक्ता धर्मो यस्यां मदात्मकः।।इति।।

(भा० २ ।३ ।१०) अकामः सर्वकामो वा मोक्षकामो उदारधीरित्यादेश्चः, यद्वा तद्वहिर्मुखानां साधनान्तरस्याप्याप्यसिद्धेः, तच्च (भा० ८ ।२३ ।१६) मन्त्रतस्तन्त्रतश्छिद्रमित्यादेः, (भा० ११ ।५ ।२) मुखबाहूरुपादेभ्य इत्यादेः (भा० २ ।४ ।१७) तपस्विनो दानपरा इत्यादेश्च।।१३९।।

● ***अनुवाद***–**अर्चन के सम्बन्ध में श्रीमद्भागवत (१० ।८१ ।१९) में कहा गया है, श्रीभगवान् के चरणकमलों का अर्चन–सुख पुरुषों के लिए स्वर्ग एवं अपवर्ग के आनन्द तथा पृथ्वी की समस्त सम्पत्तियों और सब सिद्धियों का मूल कारण है।।१३८।।**

श्रीविष्णुरहस्य में कथित है कि इस लोक में जो लोग श्रीविष्णु का अर्चन करते हैं, वे उनके नित्य आनन्दमय पद को प्राप्त करते हैं।।१२९।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–उपर्युक्त श्लोकों में भगवदर्चन अंग को प्रधान लक्ष्य बनाकर भक्ति की ही महिमा वर्णन की गई है। भक्ति के किसी अंग का अनुष्ठान उक्त महिमायुक्त है, इस विषय में शास्त्र के अनेक प्रमाण हैं। भगवदभक्ति से साधक हर प्रकार के अभीष्ट को प्राप्त कर सकता है।।१३८–१३९।।

परिचर्या (३१)

३१–परिचर्या तु सेवोपकरणादिपरिष्क्रिया।
तथा प्रकीर्णकच्छत्रवादित्राद्यैरुपासना।।१४०।।

यथा नारदीये–

११०–मुहूर्त्तं वा मुहूर्तार्द्धं यस्तिष्ठेद् हरिमन्दिरे।
स याति परमं स्थानं किमु शुश्रूषते रतः।।१४१।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*परिचर्याऽत्र राज्ञ इव सेवोच्यते, सा च द्विविधा—उपकरणादिपरिष्क्रिया चामरादिभिरूपासना चेत्यर्थः।।१४०।।*

● *अनुवाद*—सेवा के उपकरण या सामग्री आदि को शुद्ध करना तथा चामर, छत्र, वाद्य आदि के द्वारा सेवा करना—यह दो प्रकार की 'परिचर्या' कहलाती है।।१४०।।

नारद—पंचरात्र में कहा गया है कि जो केवल एक मुहूर्त्त अथवा आधे मुहूर्त्त के लिए भी श्रीभगवान् के मन्दिर में रहता है, जब वह भी परमपद की प्राप्ति कर लेता है, तब जो मन्दिर में झाडू एवं उपकरणों की शुद्धि आदि रूप सेवा करता है, उसके विषय में तो कहना ही क्या ?।।१४१।।

चतुर्थे च (४।२१।३१)—

१११—यत्पादसेवाभिरुचिस्तपस्विना।
मशेषजन्मोपचितं मलं धियः।
सद्यः क्षिणोत्यन्वहमेधती सती।
यथा—पदाङ्गुष्ठविनिःसृता सरित्।।१४२।।इति।।

● *अनुवाद*—श्रीमद्भागवत (४।२१।३१) में वर्णित है—श्रीभगवान् के चरणकमलों की सेवा के लिए निरन्तर बढ़ने वाली अभिलाषा उनके चरणांगुष्ठ से निकली हुई गंगाजी के समान तपस्वियों अथवा संसार ताप से तप्त जीवों के समस्त जन्मों के मन के संचित मैल को तत्काल नष्ट कर देती है।।१४२।।

३२—अंगानि विविधान्येव स्युः पूजापरिचर्य्ययोः।
न तानि लिखितान्यत्र ग्रन्थबाहुल्यभीतितः।।१४३।।

● *अनुवाद*—अर्चन (पूजा) तथा परिचर्या इन दोनों के विविध अंग हैं, किन्तु ग्रन्थ—विस्तारभय से उनका यहाँ उल्लेख नहीं किया जा रहा है।

अथ गीतं (३२) यथा लैङ्गे—

११२—ब्राह्मणो वासुदेवाख्यं गायमानोऽनिशं परम्।
हरेः सालोक्यमाप्नोति रुद्रगानाधिकं भवेद्।।१४४।।इति।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*ब्राह्मण इति। गानसामान्यस्य ब्राह्मणे निषिद्धत्वात्—ब्राह्मणोऽपीत्यर्थः, रुद्रकर्त्तृकगानादपि भगवदग्रे तस्य गानमधिकं भवेदित्यर्थः।।१४४।।*

● *अनुवाद*—गीत के सम्बन्ध में लिंग—पुराण में लिखा है—(ब्राह्मण के लिए सामान्य गान निषिद्ध होने पर भी) ब्राह्मण 'वासुदेव' नामक परमगान को निशिदन गाकर रुद्रगान के फल से भी बढ़कर श्रीविष्णु के धाम को (सालोक्य मुक्ति) को प्राप्त करता है।।१४४।।

अथ संकीर्त्तनम् (३३)—

३३—नामलीलागुणादीनामुच्चैर्भाषा तु कीर्त्तनम्।।१४५।।

● *अनुवाद*—श्रीभगवान् के नाम, लीला तथा गुणादिक को ऊँचे स्वर से वर्णन करना 'संकीर्त्तन' कहलाता है।।१४५।।

तत्र नामकीर्त्तनं यथा विष्णुधर्मे–

११३–कृष्णेति मंगलं नाम यस्य वाचि प्रवर्त्तते।
भस्मीभवन्ति राजेन्द्र ! महापातककोटयः।।१४६।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*कृष्णेति मंगलं नामेत्यर्चनवदेव व्याख्येयं, तदेतत् प्राधान्येन नामान्तरकीर्त्तनमपि ज्ञेयमिति, एवमन्यत्रापि।।१४६।।*

● *अनुवाद*–विष्णुधर्म में कहा गया है–'कृष्ण यह मंगलकारी नाम जिसकी जिह्वा पर विचरण करता है, राजेन्द्र ! उसके करोड़ों महापातक भस्मीभूत हो जाते हैं।।१४६।।

लीला–कीर्त्तनं यथा सप्तमे (७।६।१८)

११४–सोऽहं प्रियस्य सुहृदः परदेवताया।
लीलाकथास्तव नृसिंह ! विरिञ्चगीताः।
अञ्जस्तितर्म्यनुगृणन् गुणविप्रमुक्तो।
दुर्गाणि ते पदयुगालयहंससंगः।।१४७।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*तितर्मि तरिष्यामीत्यर्थः।।१४७।।*

● *अनुवाद*–लीलाकीर्तन के सम्बन्ध में श्रीमद्भागवत (७।६।१८) में वर्णित है, हे नृसिंहदेव ! मैं आपके चरणकमलों के आश्रित रहने वाले भक्तरूप हंसों का संग प्राप्त कर ब्रह्माजी के द्वारा गाई जाने वाली अहैतुकी परम मंगलकारी और परम आराध्य आपकी लीलाकथाओं का गान करता हुआ त्रिगुणमयी प्रकृति से मुक्त होकर शीघ्र ही संसार समुद्र से पार हो जाऊँगा।।१४७।।

गुणकीर्त्तनं यथा प्रथमे (१।५।२२)–

११५–इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धिदत्तयोः।
अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो यदुत्तमश्लोकगुणानुवर्णनम्।।१४८।।

अथ जप (३४)–

३४–मन्त्रस्य सुलघूच्चारो जप इत्यभिधीयते।।१४६।।

यथा पाद्मे

११६–कृष्णाय नम इत्येष मन्त्रः सर्वार्थसाधकः।
भक्तानां जपतां भूयः स्वर्गमोक्षफलप्रदः।।१५०।।

● *अनुवाद*–गुण–कीर्तन के विषय में श्रीमद्भागवत (१।५।२२) में कथित है, विद्वानों ने इस बात का निरूपण किया है कि मनुष्य की तपस्या, वेद–अध्ययन, यज्ञानुष्ठान, स्वाध्याय, ज्ञान और दान का एकमात्र अव्यभिचारि प्रयोजन यही है कि पुण्यकीर्ति श्रीकृष्ण के गुणों एवं लीलाओं का कीर्तन किया जाये।।१४८।।

मन्त्र का अति मन्द स्वर से उच्चारण करना 'जप' कहलाता है।।१४६।।

पद्मपुराण में कहा गया है–''श्रीकृष्णाय नमः'' यह मन्त्र सब अर्थों को सिद्ध करने वाला है। बार–बार जपने वाले भक्तों को यह स्वर्ग और मोक्षरूप फल को प्रदान करता है।।१५०।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—भक्ति के तैतीसवें अंग संकीर्तन के तीन प्रकार कहे गये हैं—(१) नाम—कीर्तन, (२) लीला—कीर्तन तथा (३) गुण—कीर्तन। संकीर्तन—शब्द से मुख्यतः नाम—संकीर्तन अर्थ ही ग्रहण किया गया है जैसे कि श्रीश्रीधरस्वामिपाद ने कहा है—**"*संकीर्तनं—नामोच्चारणम्*"** उच्च स्वर में ही नाम—कीर्तन नामसंकीर्तन है—*"नाम कीर्त्तनञ्चेदमुच्चैरेव प्रशस्तम्"* समस्त भजनानुष्ठान का प्राण है कृष्ण—स्मृति। कृष्ण—स्मृति चञ्चल चित्त में नहीं होती। चित्त की चञ्चलता को रोकने के लिए वागेन्द्रिय का संयम एक दृढ़ उपाय है। क्योंकि वागेन्द्रिय ही समस्त बाहरी इन्द्रियों की और चित्त की चालक है। अतः वागेन्द्रिय के संयत होने पर समस्त इन्द्रियाँ संयत हो जाती हैं और चित्त भी चंचलता रहित होकर कृष्ण—स्मृति के योग्य हो जाता है—

बाह्यान्तराशेष हृषीक चालकं वागेन्द्रियं स्याद् यदि संयतं सदा।
चित्तं स्थिरं सद् भगवत् स्मृतौ तदा सम्यक् प्रवर्त्तेत ततः स्मृति फलम्।।

(श्रीबृहद्भागवतामृतम् २।३।१४६)

अतः श्रीमन्महाप्रभु ने नाम—संकीर्तन को समस्त भक्ति—अंगों में परम श्रेष्ठ कहकर प्रतिपादित किया है।

गुण—कीर्तन की महिमा के निरूपक श्लोक में तपस्या, वेदाध्ययनय, ज्ञानुष्ठान आदि समस्त अनुष्ठानों का परम अव्यभिचारि फल या प्रयोजन कीर्तन को निरूपण किया गया है। किसी साधक के चित्त में यदि अन्यान्य किसी भी फल को प्राप्त करने की इच्छा जाग उठती है तो भी भगवत्—गुणकीर्तन से वह फल उसे प्राप्त हो जाता है। यदि कोई कर्मों से प्राप्त होने वाले स्वर्गलोक को चाहता है अथवा कोई यदि मोक्ष भी चाहता है तो भी भगवद्गुण कीर्तन सर्वार्थ—साधक होने के कारण उसे स्वर्ग तथा अपवर्ग भी प्रदान करता है, किन्तु इन फलों को प्राप्त कराने वाला भगवद्गुण कीर्तन रूप अनुष्ठान शुद्ध—भक्ति का अंग नहीं माना जाता, बल्कि उसे कर्म—ज्ञानमिश्रा भक्ति ही कहा जाता है। क्योंकि शुद्ध—भक्ति के अंग—रूप में जब भगवद्गुणानुगान किया जाता है, उसका फल भगवत्—प्रेम होता है न कि स्वर्ग या अपवर्ग। भक्ति समस्त कर्मों यज्ञादि अनुष्ठानों का फल प्रदान करने में समर्थ है। वे सब सदा भक्ति सापेक्ष हैं और भक्ति सदा निरपेक्ष है।

जप अर्थात् भगवन्नाम या किसी मन्त्र का अति मन्द स्वर से उच्चारण भी तीन प्रकार का माना गया है; वाचिक, उपांशु तथा मानस। श्रीसनातनपाद ने वाचिक जप (जो स्पष्ट स्वर में किया जाता है) को कीर्तनांग के अन्तर्गत माना है और मानस—जप को स्मरण—अंग के अन्तर्गत। मानस—जप तथा उपांशु जप (जिसका शब्द केवल अपने कानों तक सीमित रहता है, में जब तक चित्त शुद्ध न हो, आनन्द की प्राप्ति नहीं होती। किन्तु वाचिक—जप अथवा नामसंकीर्तन चित्त—शुद्धि की अपेक्षा नहीं रखता। इसलिए स्मरणांग को नामसंकीर्तनांग से दुर्बल ही माना गया है)।।१४८—१५०।।

अथ विज्ञप्तिः (३५) यथा स्कान्दे

११७–हरिमुद्दिश्य यत्किञ्चित्कृतं विज्ञपनं गिरा।
मोक्षद्वारार्गलान्मोक्षस्तेनैव विहितस्तव।।१५१।।इति।।

● *अनुवाद*–स्कन्द–पुराण में कहा गया है कि श्रीभगवान् को लक्ष्य करके वाणी से जो कुछ प्रार्थना की जाती है, उसी से मुक्ति के दरवाजे की अर्गला खुल जाती है।।१५१।। (स्वर्ग अथवा मोक्ष के लिए या अपने दुःखों की निवृत्ति और सुख–भोग के लिए प्रार्थना करने वाले भक्त उपर्युक्त कर्ममिश्रा–भक्ति के पथिक हैं, विशुद्ध–भक्ति के नहीं।)

३५–सम्प्रार्थनात्मिका दैन्यबोधिका लालसामयी।
इत्यादिर्विविधा धीरैः कृष्णे विज्ञप्तिरीरिता।।१५२।।

● *अनुवाद*–विज्ञप्ति (प्रार्थना) के तीन भेद हैं–संप्रार्थनात्मिका, दैन्यबोधिका एवं लालसामयी। इस प्रकार धीर–पुरुषों ने श्रीकृष्ण के प्रति की जाने वाली विज्ञप्ति कि विविध भेद कहे हैं।।१५२।।

तत्र संप्रार्थनात्मिका यथा पाद्मे

११८–युवतीनां यथा यूनि यूनां च युवतौ यथा।
मनोऽभिरमते तद्वन्मनो मे रमतां त्वयि।।१५३।।

दैन्यबोधिका यथा तत्रैव–

११९–मत्तुल्यो नास्ति पापात्मा नापराधी च कश्चन।
परिहारेऽपि लज्जा मे किं ब्रुवे पुरुषोत्तम !।।१५४।।

लालसामयी यथा श्रीनारदपंचरात्रे–

१२०–कदा गम्भीरया वाचा श्रिया युक्तो जगत्पते !।
चामरव्यग्रहस्तं मामेवं कुर्विति वक्ष्यसि।।१५५।।इति।।

● *अनुवाद–संप्रार्थनात्मिका विज्ञप्ति का* पद्मपुराण में उदाहरण इस प्रकार है–युवतियों का युवकों में और युवकों का युवतियों में जिस प्रकार मन लगता है, उसी प्रकार मेरा मन (हे भगवान् !) आपमें लगा रहे।।१५३।।

दैन्यबोधिका–विज्ञप्ति *पद्मपुराण में इस प्रकार उदाहरण है, हे पुरुषोत्तम ! मेरे समान न कोई पापी है न कोई अपराधी, क्या कहूँ, मुझे तो अपने दोषों का परिहार या निराकरण करने की प्रार्थना करने में भी लज्जा आती है अर्थात् अनन्त एवं प्रायश्चित के अयोग्य हैं अपराध मेरे।।१५४।।*

लालसामयी–विज्ञप्ति *का नारद पंचरात्र में उदाहरण इस प्रकार है, हे जगत्पते ! आप लक्ष्मी के साथ विराजमान हों और मैं आपको चामर डुला रहा होऊँ, आप मुझे कब ऐसा आदेश करोगे कि 'तुम ऐसा करो'–(इसमें भक्त अपनी लालसा–पूर्ति करने के लिए प्रार्थना कर रहा है)।।१५५।।*

यथा वा–

१२१–कदाऽहं यमुनातीरे नामानि तव कीर्त्तयन्।
उद्बाष्पः पुण्डरीकाक्ष ! रचयिष्यामि ताण्डवम्।।१५६।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*कदाऽहं यमुनातीर इति दूरतः प्रार्थना कस्यचिदजातभावस्य, यतः सम्प्रार्थनाऽनुत्पन्नभावस्य, लालसा तूत्पन्नभावस्येति भेदः। लालसामयत्वात् संप्रार्थनाऽप्यत्र लालसेत्येव भण्यते; अतो लालसामयीयम्, अत्रेदृशे सम्प्रार्थना–लालसे प्रस्तावादेव दर्शिते; किं तु रागानुगायामेव ज्ञेये।।१५६।।*

● ***अनुवाद***–**लालसामयी प्रार्थना का दूसरा उदाहरण इस प्रकार है–हे कमलनयन ! आपके नामों का कीर्तन करते हुए नेत्रों में आनन्दाश्रु भरकर मैं कब यमुना के किनारे नाच उठूँगा ?।।१५६।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–उपर्युक्त उदाहरण जातरति अर्थात् जिसमें भगवत्–भाव उत्पन्न हो चुका है, उस भक्त की प्रार्थना का है। इसी प्रकार लालसामयी विज्ञप्ति में भी जातरति–भक्त की प्रार्थना है, किन्तु संप्रार्थनात्मिका विज्ञप्ति में अनुत्पन्न–रति भक्त की प्रार्थना है। उसमें भी लालसा है, किन्तु भाव का अभाव है। उक्त प्रार्थना रागानुगा मार्गीय भक्त की है।।१५६।।

अथ स्तवपाठः (३६)–

३६–प्रोक्ता मनीषिभिर्गीतास्तवराजादयः स्तवाः।।१५७।।

यथा स्कान्दे–

१२२–श्रीकृष्णस्तवरत्नौघैर्येषां जिह्वा त्वलंकृता।
नमस्या मुनिसिद्धानां वन्दनीया दिवौकसाम्।।१५८।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*गीतायाः स्तवत्वं भगवन्महिमात्मकत्वात्, स्तवराजो गौतमीयोक्तः स्तवराजः।।१५७।।*

● ***अनुवाद***–**श्रीगीता और गौतमीय–तन्त्रोक्त स्तवराजादिकों को मनीषिगण 'स्तव' कहते हैं।।१५७।।**

स्कन्द–पुराण में कहा गया है, जिनकी जिह्वा श्रीकृष्ण के स्तवरत्नों से विभूषित है, वे मुनियों तथा सिद्धों द्वारा नमस्कार करने योग्य हैं और देवताओं द्वारा भी वे वन्दनीय हैं।।१५८।।

नारसिंह च–

१२३–स्तोत्रैः स्तवैश्च देवाग्रे यः स्तौति मधुसूदनम्।
सर्वपाप–विनिर्मुक्तो विष्णुलोकमवाप्नुयात्।।१५९।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*स्तोत्रस्तवयोरभेदऽप्यवान्तरभेदः पूर्वप्रसिद्धत्वस्व–कृतत्वाभ्यां ज्ञेयः। स्तोत्रस्य करणसाधनत्वेन पूर्वसिद्धत्वप्रतीतेः। स्तवस्य भावसाधनत्वेन स्वकृतत्वप्रतीतेः, तथापि प्रोक्ता मनीषिभिरित्यादौ गीतादीनां स्तवत्वमुक्त। तत्र त्वनन्य–गत्या करणसाधनत्वमेव कर्त्तव्यं, देवाग्रे श्रीमदर्चायाः पुरतः।।१५९।।*

● ***अनुवाद***–**नृसिंह–पुराण में स्तव–पाठ की महिमा इस प्रकार वर्णित है; श्रीमूर्त्ति–विग्रह के सामने स्तवों एवं स्तोत्रों से जो श्रीकृष्ण की स्तुति करता है, वह सब पापों से विमुक्त होकर विष्णुलोक को प्राप्त करता है।।१५९।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–स्तोत्र एवं स्तव में अभेद होते हुए भी अवान्तर भेद माना गया है। स्तोत्रों में पूर्व प्रसिद्धत्व और स्तव में स्वकृतत्व जानना

चाहिए। स्तोत्र का करण साधनत्व से अर्थात् अनन्यगति से कर्तव्यरूप में पूर्व सिद्ध है और स्तव का भाव–साधनत्व से अर्थात् भाव–साधित होने से स्वकृतत्व है। तथापि श्रीगीतादि को मनीषियों ने स्तव कहा है।।१५६।।

अथ नैवेद्यास्वादो (३७) यथा पाद्मे–

१२४–नैवेद्यमन्नं तुलसीविमिश्रं विशेषतः पादजलेन सिक्तम्।
योऽश्नाति नित्यं पुरतो मुरारेः प्राप्नोति यज्ञायुतकोटिपुण्यम्।।१६०।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*मुरारेः पुरत इति ल्यप्लोपे पंचमी, पुरमन्तपुरं परित्यज्येत्यर्थः, तदग्रतो भोजन–निषेधात्।।१६०।।*

● *अनुवाद*–भगवत् प्रसादान्न की महिमा पद्मपुराण में इस प्रकार वर्णन की गई है–जो व्यक्ति नित्य तुलसी मिश्रित विशेषतः चरणामृत से अभिषिक्त प्रसादान्न को श्रीकृष्ण–मन्दिर के बाहर भोजन करता है, वह अयुतकोटि यज्ञों के पुण्यों का भागी बनता है। (श्रीजीवगोस्वामिपाद ने श्रीभगवान् के सामने भोजन करने का निषेध किया है; किन्तु चक्रवर्तिपाद का मन्तव्य है कि श्रीभगवान् के सामने पान चर्वणादि निषिद्ध है, किन्तु सामान्य भोजन नहीं)।।१६०।।

अथ पाद्यास्वादो (३८) यथा तत्रैव

१२५–न दानं न हविर्येषां स्वाध्यायो न सुरार्चनम्।
तेऽपि पादोदकं पीत्वा प्रयान्ति परमां गतिम्।।१६१।।

● *अनुवाद*–श्रीभगवान् के चरणजल के विषय में पद्मपुराण में उल्लेख है जो न दान करते हैं न यज्ञ, न वेदपाठ करते हैं, न देवताओं की पूजा, ऐसे व्यक्ति भी श्रीभगवान् का चरणामृत पान कर परम गति को प्राप्त हो जाते हैं।।१६१।।

अथ धूपसौरभ्यं (३९) यथा हरिभक्तिसुधोदये–

१२६–आघ्राणं यद्धरेर्दत्तधूपोच्छिष्टस्य सर्वतः।
तद्भवव्यालदष्टानां नस्यं कर्म विषापहम्।।१६२।।

माल्यसौरभ्यं यथा तन्त्रे–

१२७–प्रविष्टे नासिकारन्ध्रे हरेर्निर्माल्यसौरभे।
सद्यो विलयमायाति पापपञ्जरबन्धनम्।।१६३।।

अगस्त्यसंहितायां च–

१२८–आघ्राणं गन्धपुष्पादेरर्चितस्य तपोधन !।
विशुद्धिः स्यादनन्तस्य घ्राणस्ये हाभिधीयते।।१६४।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*अर्चितस्यानन्तस्य भगवतः सम्बन्धी यो गन्धपुष्पादिस्त– स्याघ्राणं घ्राणेन्द्रियस्य इह जगति विशुद्धिस्तद्धेतुः स्यादित्यभिधीत इति।।१६४।।*

● *अनुवाद*–श्रीभगवदर्पित धूप की सुगन्ध को सूँघना–इस सम्बन्ध में हरिभक्तिसुधोदय में कहा गया है कि श्रीभगवान् को प्रदत्त धूप के उच्छिष्ट

सौरभ का जो सूँघना है, वह संसाररूप सर्प से डसे हुए व्यक्तियों के लिए विष को मारने के लिए नसवार का सूँघना है।।१६२।।

माल्य सौरभाघ्राण—भगवत्—प्रसादी माला की सुगन्धि को आघ्राण करने की महिमा तन्त्र में इस प्रकार कही गई है—श्रीभगवान् की प्रसादी माला की सुगन्धि नासिका छिद्र में जाते ही पाप के पिंजरे का बन्धन तुरन्त नाश कर देती है।।१६३।।

अगस्त्य संहिता में कहा गया है कि श्रीकृष्ण पूजित गन्धपुष्प आदि का सूँघना घ्राणेन्द्रिय—नासिका को शुद्ध करने वाला है, हे तपोधन ! उसका यहाँ वर्णन किया जा रहा है।।१६४।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—तात्पर्य यह है कि श्रीभगवान् के अर्पित धूप, माला, पुष्प आदि को सूँघना संसाररूपी सर्प के विष को नाश करने वाला है। समस्त पाप—बन्धनों को काटने वाला तथा अन्तःकरण को निर्मल करने वाला है।।१६२—१६४।।

अथ श्रीमूर्त्ते स्पर्शनं (४०) यथा विष्णुधर्मोत्तरे—

१२६—स्पृष्ट्वा विष्णोरधिष्ठानं पवित्रः श्रद्धयाऽन्वितः।
पापबन्धैर्विनिर्मुक्तः सर्वान् कामानवाप्नुयात्।।१६५।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*अथ श्रीमदर्चामात्रस्य स्पर्शाधिकारिणां स्पर्शमाहात्म्यमाह— स्पृष्ट्वेति।।१६५।।*

● *अनुवाद*—श्रीभगवत्—मूर्ति को स्पर्श करने की महिमा विष्णुधर्मोत्तर में इस प्रकार कही गई है—पवित्र होकर एवं श्रद्धायुक्त होकर जो भक्त श्रीभगवान् के श्रीविग्रह अथवा आसन आदि का स्पर्श करता है, वह पाप—बन्धन से छूटकर सब कामनाओं की पूर्त्ति लाभ करता है।। (किन्तु जिनको श्रीमूर्ति के स्पर्श का अधिकार है, उनके लिए ही केवल यह महिमा वर्णित है। यदि कोई अनधिकारी ऐसा करता है तो उसे इसका विपरीत फल अर्थात् अधःपतन ही प्राप्त होता है।)।।१६५।।

अथ श्रीमूर्त्तेर्दर्शनं (४१) यथा वाराहे—

१३०—वृन्दावने तु गोविन्दं ये पश्यन्ति वसुन्धरे।
न ते यमपुरं यान्ति यान्ति पुण्यकृतां गतिम्।।१६६।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*अथ सर्वान् प्रति दर्शनमाहात्म्यं च सर्वासामर्चानां वदन् भक्त्यावेशविशेषादुपर्युपरि परिस्फूर्त्या श्रीमदर्चाविशेषायमाणस्य साक्षाद्—भगवतः श्रीगोविन्ददेवस्य दर्शने माहात्म्यविशेषमाह—वृन्दावन इति। यान्ति पुण्यकृतां गतिमिति, (भा० १।२।६)—स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे—इति न्यायेन सुविचारवतां सर्वसत्कर्मणामेकान्तगतिं भक्त्याख्यपरममहापुरुषार्थसिद्धिमाप्नुवन्तीत्यर्थः।।१६६।।*

● *अनुवाद*—वाराह—पुराण में श्रीमूर्ति—दर्शन की महिमा इस प्रकार कथित है, हे वसुन्धरे ! श्रीवृन्दावन में जो श्रीगोविन्दजी का दर्शन करते हैं, वे कभी यमपुर को नहीं जाते, वे पुण्य—कर्त्ताओं की गति को प्राप्त करते हैं।।१६६।।

▲ हरिकृपाबोधिनी टीका–*श्रीभगवान् की समस्त अर्चा–मूर्तियों के दर्शन का माहात्म्य है। विशेष भक्ति आवेश के कारण साक्षात् भगवान् श्रीगोविन्दजी के श्रीविग्रह दर्शन का माहात्म्य इस श्लोक में वर्णन किया गया है। सर्व सत्कर्मों की एकान्तगति भक्ति है, जो परम पुरुषार्थ रूप है। अतः श्रीभगवत्–मूर्ति दर्शन करने वाले निष्काम साधकों को भक्ति की प्राप्ति होती है, पुण्य कर्ताओं की गति से एकमात्र यही अभिप्रेत है। किन्तु जो अन्यान्य कामनाओं से युक्त हैं, उन पुण्य कर्ताओं की गति तो वास्तव में भगवद्–बहिर्मुखता ही है। अतः वह यहाँ अभिप्रेत नहीं है।।१६६।।*

आरात्रिकदर्शनं (४२) यथा स्कान्दे–

१३१–कोटयो ब्रह्महत्यानामगम्यागमकोटयः।
दहत्यालोकमात्रेण विष्णोः सारात्रिकं मुखम्।।१६७।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*पुनः श्रीमदर्चामात्रारात्रिकस्य दर्शनफलमाहकोटय इति। कोटि मुखं कर्त्तृ।।१६७।।*

अनुवाद-आरती–दर्शन करने की महिमा स्कन्द–पुराण में इस प्रकार वर्णन की गई है–श्रीभगवान् के मुख की आरती के समय दर्शन मात्र से करोड़ों ब्रह्म–हत्यायें एवं करोड़ों अगम्यागमन जनित पाप नष्ट हो जाते हैं।।१६७।।

उत्सवदर्शनं, यथा भविष्योत्तरे–

१३२–रथस्थं ये निरीक्षन्ते कौतुकेनापि केशवम्।
देवतानां गणाः सर्वे भवन्ति श्वपचादयः।।१६८।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*रथस्थमित्युत्सवान्तरोपलक्षणं, सर्वे श्वपचादयोऽपि देवतानां पार्षदानाम्।।१६८।।*

● *अनुवाद*–उत्सव–दर्शन के सम्बन्ध में भविष्योत्तर पुराण में कहा गया है, रथ में विराजमान भगवान् श्रीकेशव का जो चाण्डालादि कौतुकवश भी दर्शन करते हैं, वे भी पार्षदगण बन जाते हैं।। (रथोत्सव में श्रीभगवान् के दर्शनों का चाण्डालादि सबको सुयोग प्राप्त हो जाता है, अतः यहाँ रथोत्सव की बात कही गई है। वरन् भगवान् का कोई भी उत्सव हो उसका दर्शन करने वाले व्यक्ति भगवत् पार्षद–शरीर को प्राप्त करते हैं।।१६८।।)

आदि–शब्देन पूजा–दर्शनं, यथा आग्नेये–

१३३–पूजितं पूज्यमानं वा यः पश्येद् भक्तितो हरिम्।
श्रद्धया मोदमानस्तु सोऽपि योगफलं लभेत्।।१६९।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*योगोऽत्र पंचरात्राद्युक्तः क्रियायोगः।।१६९।।*

● *अनुवाद*–अग्नि–पुराण में वर्णित है कि पूजा–श्रृंगारादि हो जाने के पश्चात् अथवा जिस समय पूजा–अभिषेकादि हो रहा हो, उस समय जो व्यक्ति श्रीकृष्ण–मूर्ति का दर्शन करता है, श्रद्धा से आनन्दित होकर वह (पंचरात्रोक्त) क्रिया–योग को अथवा परिचर्यारूप योग को प्राप्त करता है।।१६९।।

अथ श्रवणं (४३)–

३७–श्रवणं नामचरितगुणादीनां श्रुतिर्भवेत्।।१७०।।

तत्र नामश्रवणं यथा गारुडे–

१३४–संसारसर्प–संदष्ट–नष्टचेष्टैकभेषजम्।
कृष्णेति वैष्णवं मन्त्रं श्रुत्वा मुक्तो भवेन्नरः।।१७१।।

चरितश्रवणं यथा चतुर्थे (४।२६।४०)–

१३५–तस्मिन् महन्मुखरिता मधुभिच्चरित्र–
पीयूषशेषसरितः परितः स्रवन्ति।
ता ये पिबन्त्यवितृषो नृप ! गाढकर्णै
स्तान्न–स्पृशन्त्यशनतृड्भयशोकमोहाः।।१७२।।

गुण–श्रवणं यथा द्वादशे (१२।३।१५)–

१३६–यस्तूत्तमःश्लोकगुणानुवादः संगीयतेऽभीक्ष्णममंगलघ्नः।
तमेव नित्यं शृणुयादभीक्ष्णं कृष्णेऽमलां भक्तिमभीप्समानः।।१७३।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*तस्मिन्महतां सदसि महद्भिर्मुखरिताः शब्दायमानीकृताः तान् प्राप्य स्वयमेव स्वव्यञ्जकशब्दं कुर्वत्य इव जाता इत्यर्थः, शेषः सारः।।१७२।। उत्तम श्लोकानां भगवदवताराणां भागवतानाञ्च गुणानुवादो महद्भिः संगीयते। तमेव नित्यं प्रत्यहं तन्नाप्यभीक्ष्णं शृणुयात्। तत्र त्वतिशयेनाग्रहं कुर्यादित्यर्थः। श्रवणस्य तस्य परमफलमाह कृष्ण इति।। "कृष्णस्तु भगवान् स्वयमित्यादिप्रसिद्धेः श्रीगोपाल इत्यर्थः।।१७३।।*

● *अनुवाद*–श्रीभगवान् के नाम, चरित्र तथा गुणादि का कानों से स्पर्श होना 'श्रवण' कहलाता है।।१७०।।

नाम–श्रवण; गरुड़–पुराण में नाम–श्रवण के सम्बन्ध में कहा गया है, संसाररूप सर्प के काटने से जिसकी चेष्टा नष्ट हो गई है, भगवद् विमुख है, वह भी "कृष्ण–नाम" इस वैष्णव–मन्त्ररूप औषध के श्रवणमात्र से संसार–सर्प की विष से मुक्त हो जाता है।।१७१।।

चरित श्रवण; के सम्बन्ध में श्रीमद्भागवत (४।२६।४०) में कहा गया है–हे राजन् ! साधु–समाज में सब ओर महापुरुषों के मुख से निकले हुए श्रीमधुसूदन भगवान् के चरित्ररूप शुद्ध–अमृत की अनेकों नदियाँ बहती रहती हैं। जो लोग अतृप्त चित्त से श्रवण में तत्पर अपने कर्ण–कुहरों द्वारा उस अमृत का पेट भर पान करते हैं, उन्हें भूख–प्यास, भय–शोक और मोह आदि कुछ भी बाधा नहीं कर सकते।।१७२।।

गुण–श्रवण; का उदाहरण श्रीमद्भागवत (१२।३।१५) में इस प्रकार है, भगवान् श्रीकृष्ण का गुणानुवाद समस्त अमंगलों को नाश करने वाला है। महत्पुरुष उसी का गान करते रहते हैं, जो भगवान् श्रीकृष्ण के चरणों में विशुद्ध भक्ति की कामना रखता है, उसे नित्य–निरन्तर उनके दिव्य गुणानुवाद का ही श्रवण करते रहना चाहिए।।१७३।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—चौंसठांग—भक्ति में नवविधा भक्ति प्रधान है। नवविधा—भक्ति में पहला अंग है—श्रवण। श्रवण का अर्थ क्रम—सन्दर्भ में यह बताया गया है कि "नाम—रूप—गुणपरिकर—लीलामय—श्रोत्रस्पर्श।।" श्रीभगवान् के नाम, रूप, गुण, परिकरों की लीला—कथा का कानों से स्पर्श होना। सुनने की चेष्टा रहे या न रहे, तो भी श्रवण का यह वस्तुगत धर्म है कि वह हृदय में प्रवेश कर जीव में भक्तिलता का बीज बो देता है। इस प्रकार के श्रवण का सौभाग्य केवल भक्त—समाज में प्राप्त होता है। विशेषतः भक्तों से ही भगवत् नाम—गुणादि लीला—कथा के श्रवण का अतिशय माहात्म्य है। भगवन्नाम—श्रवण तो संसार—व्याधि की अचूक औषधि है। गुण—चरित्र—श्रवण सांसारिक भय, शोक, मोह, आदि शत्रुओं को नाश करने वाला है एवं समस्त कामनाओं से अन्तःकरण को निर्मल कर भक्ति की अमृतधारा से सदा के लिए तृप्त कर देता है।।१७१—१७३।।

अथ तत्कृपेक्षणं (४४), यथा श्रीदशमे (१०।१४।८)—

१३७—तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक्।।१७४।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*तत्तेऽनुकम्पामित्यत्रानुकम्पेक्षणं नमस्कारश्चेति पृथगेव साधनद्वयं; वैशिष्ट्याय त्वेकत्र पठितं, तत उभयमपि समानफलमेव ज्ञेयमिति भावः, नवमपदार्थस्य मुक्तेरप्याश्रये दशमपदार्थे त्वयि स दायभाग्भवति। त्वं तस्य दायत्वेन वर्त्तसे इत्यर्थः।।१७४।।*

● ***अनुवाद*—श्रीभगवान् की कृपा की राह ताकते रहना—इस सम्बन्ध में श्रीभागवत (१०।१४।८) में ब्रह्माजी ने कहा है कि अपने कर्मों के फल को भोगते हुए और आपकी कृपा की राह देखते हुए जो मन से, वाणी से एवं शरीर से आपको नमस्कार करते हुए अपना जीवन व्यतीत करता है, वह मुक्ति—पद का अधिकारी होता है, अर्थात् नवम पदार्थ मुक्ति के आश्रय दशम पदार्थ जो आप (श्रीकृष्ण) हैं, उनकी प्राप्ति के योग्य होता है।।१७४।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—समस्त साधनों को परित्याग कर जो भक्ति का ही केवल अनुष्ठान करता है, वह श्रीभगवान् को प्राप्त करता है—इस बात को जानकर यदि कोई प्रश्न करे कि कौन से भक्ति अंग का अनुष्ठान करना चाहिए? तो उसका उत्तर उपर्युक्त श्लोक में दिया गया है। आत्मकृत—विपाक अर्थात् भक्ति—मार्ग के आचरण में अपने—आप प्राप्त होने वाला सुख तथा अपराधों के फल दुःख को जो भगवत्—कृपा का फल स्वरूप जानकर भोग करते हुए जीवन धारण करता है और भगवान् को काय—मन एवं वाणी से नमस्कार करता रहता है, वह भगवत्—चरणसेवा के परमफल को प्राप्त करता है। तात्पर्य यह कि लम्बे चौड़े और समस्त साधनों को छोड़कर केवल काय—मनो—वाक्य से श्रीभगवान् को नमस्कार करते हुए, हे भगवन्! आप कब मुझ पर कृपा करेंगे?—इस प्रकार जो भगवत्—कृपा की बाट जोहता रहता है और सुख—दुःख को भी भगवत्—कृपा का फल समझकर जो हर्ष—शोक से रहित जीवन—यापन करता है, उसे प्रभुपद की प्राप्ति होती है। भक्ति की प्राप्ति के लिए जीवित रहने की भी आवश्यकता है।

इस प्राप्ति में आत्महत्या का कोई स्थान नहीं। जैसे जीवित रहने वाला पुत्र पैतृक सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होता है, वैसे प्रभु की कृपा की प्रतीक्षा में जीवन–यापन करने वाला व्यक्ति ही भक्ति का अधिकारी होता है। भगवत्–कृपा दृष्टि की राह ताकना एवं उनको नमस्कार करना दोनों पृथक्–पृथक् साधन हैं; किन्तु दोनों का फल एक ही भगवत्–प्राप्ति है। इसलिए इनका एकत्र उल्लेख किया गया है।।१७४।।

अथ स्मृतिः (४५)–

३८–यथा कथञ्चिन्मनसा सम्बन्धः स्मृतिरुच्यते।।१७५।।

यथा विष्णुपुराणे–

१३८–स्मृते सकलकल्याणभाजनं यत्र जायते।
पुरुषस्तमजं नित्यं व्रजामि शरणं हरिम्।।१७६।।

यथा वा पाद्मे–

१३९–प्रयाणे चाप्रयाणे च यन्नाम स्मरतां नृणाम्।
सद्यो नश्यन्ति पापौघा नमस्तस्मै चिदात्मने।।१७७।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*प्रयाणे, मरणदशायाम्। अप्रयाणे जीवनदशायां, प्रयाणकाले मनसाऽचलेनेति श्रीगीतातः (८।१०)।।१७७।।*

● *अनुवाद*–जिस किसी प्रकार से मन के साथ श्रीकृष्ण का सम्बन्ध होना 'स्मृति' कहलाता है।।१७५।।

श्रीविष्णु–पुराण में कहा गया है, जिनका स्मरण करने पर मनुष्य समस्त कल्याणों का पात्र बन जाता है, मैं उन अजन्मा नित्य स्वरूप भगवान् श्रीहरि की शरण ग्रहण करता हूँ।।१७६।।

श्रीपद्म–पुराण में भी कथित है, मृत्यु के समय (प्राणों के निकलते समय) और जीवन–काल में जिनके नाम स्मरण करने वाले मनुष्यों के समस्त पाप तुरन्त नष्ट हो जाते हैं, मैं उन चैतन्यस्वरूप श्रीभगवान् को नमस्कार करता हूँ।।१७७।।

अथ ध्यानं (४६)

३९–ध्यानं रूप–गुण–क्रीडा–सेवादेः सुष्ठु चिन्तनम्।।१७८।।

तत्र रूपध्यानं यथा नारसिंहे–

१४०–भगवच्चरणद्वन्द्वध्यानं निर्द्वन्द्वमीरितम्।
पापिनोऽपि प्रसङ्गेन विहितं सुहितं परम्।।१७९।।

गुणध्यानं, यथा विष्णुधर्मे–

१४१–ये कुर्वन्ति सदा भक्त्या गुणानुस्मरणं हरेः।
प्रक्षीणकलुषौघास्ते प्रविशन्ति हरेः पदम्।।१८०।।

क्रीड़ाध्यानं यथा पाद्मे–

१४२–सर्वमाधुर्यसाराणि सर्वाद्भुतमयानि च।
ध्यायन् हरेश्चरित्राणि ललितानि विमुच्यते।।१८१।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*निर्द्वन्द्वं शीतोष्णादिमयदुःखपरम्पराऽतीतम् ईरितं शास्त्रे, मंगलं विहितं, तच्च पापिनोऽपि प्रसंगेनापि परमुत्कृष्टं सुहितं विहितं तत्रैवेत्यर्थः।।१७६।।*

● *अनुवाद*–श्रीभगवान् के रूप, गुण और लीला तथा सेवा आदि का सम्यक् प्रकार से चिन्तन करना 'ध्यान' कहलाता है।।१७८।।

श्रीनृसिंह–पुराण में *'ध्यान'* की महिमा इस प्रकार वर्णन की गई है, श्रीभगवान् के युगल चरणारविन्द का ध्यान शीतोष्णादि दुःख–द्वन्द्वों को नाश करने वाला है–ऐसा शास्त्र में कहा गया है। पापी–पुरुषों को भी प्रसंगवश कभी उनको ध्यान प्राप्त हो जाये तो उनका परम मंगल विधान कर देता है।।१७६।।

भगवद्गुणों के ध्यान के विषय में विष्णुधर्म में कहा गया है कि जो लोग सदा भक्तिपूर्वक श्रीभगवान् के गुणों का ध्यान करते हैं, उनके समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं और वे भगवद्धाम को प्राप्त करते हैं।।१८०।।

क्रीड़ा या लीला–ध्यान के विषय में पद्म–पुराण कहता है कि सम्पूर्ण रूप से माधुर्य तथा आश्चर्यों से परिपूर्ण श्रीकृष्ण के चरित्रों का जो ध्यान करता है वह श्रीभगवान् के धाम को प्राप्त करता है।।१८१।।

सेवाध्यानं यथा पुराणान्तरे–

१४३–मानसेनोपचारेण परिचर्य्य हरिं सदा।
परे वांगमनसाऽगम्यं तं साक्षात् प्रतिपेदिरे।।१८२।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*मानसेनेत्यत्र ब्रह्मवैवर्त्तकथा च यथा, "प्रतिष्ठानपुरे कश्चिद्विप्र आसीत्; स च दरिद्रोऽपि कर्माधीनमात्मानं मन्यमानः शान्त एवासीत्; स तु सरलबुद्धिः कदाचिद्विप्रेन्द्राणां सदसि वैष्णवान् धर्मान् शुश्राव; ते च धर्मा मनसाऽपि सिद्ध्यन्तीति श्रुत्वा दरिद्रः स्वयं तथैवाचरितुमारब्धवान्; ततश्च गोदावरीस्नान–पूर्वकं नित्यकर्म समाप्य शान्तमतिर्भूत्वा विविक्तासनः प्राणायादिकर्मपूर्वकं स्थिरीभूय मनसैवाभिमतां श्रीहरिमूर्त्तिं स्थापयित्वा स्वयं दुकूलादिकं परिधाय तां प्रणम्य दृढं परिकरं बद्ध्वा तत्सदनं संम्मार्ज्य तां प्रणम्य राजतसौवर्णघटैः सर्वेषां गंगादिमीर्थानां जलमाहृत्य तथा नानापरिचर्याद्रव्याण्युपानीय तदीयं स्नपनादिकमारात्रिकान्तं महाराजोपचारं समाप्य च दिनं सुखातिशयमाप्नुवन्नासीत्, तदेव बहुषु कालेषु गतेषु कदाचिद् मनसैव सघृतं परमान्नं निर्माय सौवर्णपात्रेण तद्भोजनार्थमुत्थाप्य स्थितस्तप्ततया स्फुरिते तस्मिन् प्रविष्टमंगुष्ठयुगलं दग्धं प्रतियन् हन्त तदिदं दुष्टं जातमिति दुःखेन तद् हित्वा समाधिभंगेऽपि जाते दग्धांगुष्ठतया बहिरपि पीड़ितो बभूव, तदवधाय वैकुण्ठेसमुपविष्टेन श्रीवैकुण्ठनाथेन हसता श्रीप्रभृतिभिस्तत्कारणं पृष्टेन च सता तं स्वनिकटं विमानेनानयाभासे। तथाविधतया दर्शयामास स्वनिकटेयोग्यतया स्थापयामास चेति"।।१८२।।*

● *अनुवाद–सेवा–ध्यान* के विषय में पुराणान्तर में कहा गया है कि कई एक भक्तों ने वाणी और मन से अगोचर उन श्रीहरि की केवल मानस–उपचारों से सेवा करके उनका साक्षात्कार प्राप्त किया है।।१८२।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–ध्यान के अन्तर्गत रूप–ध्यान, गुण–ध्यान, क्रीड़ा या लीला–ध्यान तथा सेवा–ध्यान, इन चार मुख्य भेदों का वर्णन किया गया है। सेवा–ध्यान का तात्पर्य मानसिक–उपासना से है; अर्थात् श्रीगुरु द्वारा निर्दिष्ट अन्तश्चिन्तित देह द्वारा अपने–अपने दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा मधुर भावानुकूल अपने प्रिय इष्टदेव की मन से मानसिक उपचारों से ध्यानपूर्वक उपासना करना मानसिक–उपासना कहलाती है। "मानसिक–उपासना" भी भगवत्–साक्षात् उपासना के समान प्रभावशाली या फलप्रदाता होती है। इस विषय में ब्रह्मवैवर्त्त–पुराण का एक उपाख्यान श्रीपाद जीव ने उद्धृत किया है, संक्षेपतः इस प्रकार है–

प्रतिष्ठानपुर में एक दरिद्र किन्तु परम शान्त–चित्त ब्राह्मण वास करता था। उसे एक दिन सन्त समाज में यह पता लगा कि वैष्णवधर्म का आचरण मन द्वारा करने पर भी सिद्ध होता है। उसी दिन से वह गोदावरी नदी में स्नान, नित्य–कर्म करने के बाद प्राणायाम द्वारा मन को स्थिर कर श्रीभगवान् श्रीविग्रह की मानसिक पूजा में लग जाता। पहले मन्दिर की झाडू लगाता, फिर श्रीभगवान् को प्रणाम करता, गंगा–यमुना जल स्वर्ण के घड़े में भर लाता और इस प्रकार अनेक सामग्री इकट्ठी कर स्नान से लेकर भोग, आरती पर्यन्त महाराजोपचार से श्रीभगवान् की पूजा करता। एक दिन उसने श्रीभगवान् के भोग के लिए घी–मेवा डालकर खीर पकाई और थाल में भरकर भोग के लिए ले जाने लगा कि उसकी दो अँगुलियाँ गरम–गरम खीर लगने से जल गयीं। उसने झट उस खीर को, उसमें अँगुली लग जाने के कारण, श्रीभगवान् के भोग योग्य न जानकर फैला दिया। यह सब बात मन ही मन ध्यान पूर्वक वह ब्राह्मण कर रहा था। एक निर्जन स्थान पर बैठे हुए खीर फैलने पर ध्यान भंग हो गया। उसने देखा उसकी अंगुली जल गई थीं और दर्द कर रही थीं। श्रीभगवान् भी वैकुण्ठ में श्रीलक्ष्मीजी के साथ बैठे हुए यह सब देख रहे थे, उनको हँसी आ गई। श्रीलक्ष्मीजी ने हँसने का कारण पूछा। श्रीभगवान् ने पार्षद को भेजा और उसे विमान पर वैकुण्ठ बुला लिया। श्रीलक्ष्मीजी को उसकी अँगुली दिखायी और सब वृत्तान्त भी सुनाया।

अतः भक्ति–मार्ग में मानसिक–उपासना का बहुत बड़ा महत्त्व है। किन्तु धन–सम्पत्ति होते हुए भी केवल कृपणतावश भगवत्–श्रीविग्रह की पूजा छोड़कर मानसिक–उपासना का ढोंग रचना अपराध जनक है। निष्किञ्चन विरक्त भक्तों के लिए इसका विशेष विधान है। सम्पन्न–साधकों के लिए भी श्रीविग्रह की साक्षात्–पूजा करते हुए मानसिक–उपासना का अनुसरण करना भी विधेय है।।१८२।।

अथ दास्यं, (४७)–

४०–दास्यं कर्मार्पणं तस्य कैंकर्यमपि सर्वथा।।१८३।।

तत्राद्यं, यथा स्कान्दे–

१४४–तस्मिन्समर्पितं कर्म स्वाभाविकमपीश्वरे।

भवेद्भागवतो धर्म स्तत्कर्म किमुतार्पितम्।।१८४।इति।।

४१–कर्म स्वाभाविकं भद्रं जपध्यानार्चनादि च।
इतीदं द्विविधं कृष्णे वैष्णवैर्दास्यमर्पितम्।।१८५।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*कर्मार्पणामित्यनूद्य दास्यमिति विधीयते, तदेतच्चान्यमतं, स्वमतंतु कैंकर्यमिति, तच्च किंकरोऽस्मीत्यभिमानः, यथोक्तमितिहाससमुच्चये–*

जन्मान्तरसहस्रेषु यस्य स्यान्मतिरीदृशी।
दासोऽहं वासुदेवस्य सर्वान् लोकान्समुद्धरेद्।।इति।।

तथैव व्याख्यातम् (भा० १०।८१।३६)–"तस्यैव मे सौहृदसख्यमैत्रीदास्यं पुनर्जन्मनि स्याद" इति श्रीदामविप्रस्यवाक्ये, स्वामिभिरपि दास्यमिति; सेवकत्वमितितस्य च कार्यभूतं परिचर्यादिकं ज्ञेयं, केवलपरिचर्यारूपत्वे भेदो न स्यात्।।१८३।। तत्राद्यं कर्मार्पणमुदाहरति–तस्मिन्निति। तत्रैव विधेयं दास्यमपि द्वैविध्येनाह, कर्म स्वाभाविकमिति। स्वाभाविकं तत्तद्वर्णाश्रमाद्युपाधिस्वभावप्राप्तं तच्च भद्रमेव, न त्वन्यत् तथा जपेति, इतीदं द्विविधं कर्म वैष्णवैः कृष्णेऽर्पितं चेत् दास्यमुच्यते।।१८४–१८५।।

● ***अनुवाद***–**अपने समस्त कर्मों का श्रीभगवान् को अर्पण कर देना एक प्रकार का 'दास्य' है तथा सर्वथा उनके प्रति दास–भाव रखना अर्थात् मैं श्रीभगवान् का दास हूँ, ऐसा होना दूसरे प्रकार का "दास्य" कहलाता है।।१८३।।**

प्रथम प्रकार के दास्य का उदाहरण स्कन्द–पुराण में इस प्रकार है, स्वाभाविक कर्म अर्थात् वर्णाश्रम–धर्म जब श्रीभगवान् को अर्पण करने पर भागवत–धर्म बन जाते हैं, फिर श्रवण–कीर्तन जपादि भगवत् सम्बन्धीय कर्मों को यदि भगवद् अर्पण कर दिया जाये तो कहना ही क्या है ? अर्थात् वे भागवत धर्म ही हो जाते हैं।।१८४।।

कर्म दो प्रकार के हैं स्वाभाविक कर्म (अर्थात् चारों वर्णाश्रमों के नित्य–नैमित्तिक धर्म) तथा जप–ध्यान–अर्चनादि कर्म। ये दोनों ही मंगलमय हैं। इन दोनों का वैष्णवों द्वारा श्रीकृष्ण में अर्पण 'दास्य' कहलाता है।।१८५।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–गौड़ीय गोस्वामिपादों का कहना है कि कर्मों का श्रीकृष्ण में अर्पण करना हमारे मत में दास्य नहीं कहलाता है। हमारे मत में तो सेवक–भाव ही वास्तव दास्य है, जहाँ भक्त का केवल यही अभिमान होता है कि मैं श्रीभगवान् का सेवक हूँ और वे मेरे स्वामी हैं। दास्य का कार्य है श्रीभगवान् की परिचर्या आदि करना। कर्मार्पण से नैष्कर्म्य रूप ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है, किन्तु भक्ति की नहीं। जप–ध्यानादि–कर्म करके फिर अर्पण किया जाना 'कर्मार्पण' है, किन्तु श्रवण–कीर्तनादि पहले अर्पित होकर ही अनुष्ठित किये जाते हैं, जो भक्ति का लक्षण है। अतः कर्मार्पण को कहीं–कहीं कर्ममिश्रा–भक्ति स्वीकार कर दिया गया है, वह भी जप–तप–ध्यानादि कर्मों के अर्पण को, किन्तु खाना–पीना–सोना आदि कर्मों का अर्पण कर्म–मिश्रा भक्ति नहीं मानी गयी है।।१८३–१८५।।

४२–मृदुश्रद्धस्य कथिता स्वल्पा कर्माधिकारिता।
तदर्पितं हरौ दास्यमिति कैश्चिदुदीर्यते।।१८६।।

द्वितीयं, यथा नारदीये–

१४५–ईहा यस्य हरेर्दास्ये कर्मणा मनसा गिरा।
निखिलास्वप्यवस्थासु जीवन्मुक्तः स उच्यते।।१८७।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*तत्रोत्तरस्यार्पणाभावाद्दास्यत्वाभावेऽपि शुद्धभक्त्यंगत्व–मस्ति, पूर्वस्य तदपि नास्तीति, सुतरामेव न तत्स्वमतमित्याह–मृदुश्रद्धस्येति। तेन तस्यार्पितमर्पणं दास्यं, तदेवं पूर्वत्राप्यर्पण एव तात्पर्यं। (भा० ७।५।२७) ''श्रवणकीर्तनमि'' त्यादौ तु ''इति पुंसार्पिता विष्णोरित्यनेन दास्यादन्यदर्पणं प्रतीयते।।१८६।। अथ स्वमते महिम्ना दर्शयति–ईहा यस्येति। दास्ये निमित्त ईहा दासो भवामीति स्पृहेत्यर्थः।।१८७।।*

● *अनुवाद*–**कुछ लोगों का कहना है कि कोमल श्रद्धा वाले भक्तों के लिए नित्य–नैमित्तिक कर्मों का थोड़ा–सा अधिकार कहा गया है। उन कर्मों को श्रीकृष्ण में अर्पण कर देना ''दास्य'' है।।१८६।।**

सेवकभावरूप दूसरे प्रकार के दास्य का उदाहरण नारद पञ्चरात्र में इस प्रकार वर्णित है, जिसकी मन से वाणी से एवं कर्म से श्रीभगवान् के दास्यभाव की तीव्र इच्छा रहती है, वह समस्त अवस्थाओं में जीवन्मुक्त कहलाता है।।१८७।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–जैसा कि पहले कह आये हैं, जप–ध्यानादि यदि श्रीभगवान् के अर्पण न भी किये जायें और उनमें दास्य का अभाव भी रहे तो भी वे शुद्ध–भक्ति के अंग माने गये हैं, परन्तु वर्णाश्रम धर्म भगवदर्पित होने पर भी शुद्ध–भक्ति के अंग नहीं माने गये हैं। इसलिए गौड़ीय गोस्वामिपाद ने कर्मार्पण को दास्य नहीं स्वीकार किया है। जिनको श्रवण–कीर्तनादि भक्ति–अंगों की सर्वोपरि महिमा में विश्वास नहीं होता उनके लिए नित्य–नैमित्तिक कर्मों या स्वधर्माचरण का कुछ–कुछ अधिकार रहता है। वे उन कर्मों को कृष्णार्पण करते हैं; उनके अर्पण को श्रीधरस्वामी ने दास्य मान लिया है। परन्तु वह कर्म–मिश्रा भक्ति तो मानी जा सकती है, परन्तु शुद्ध या उत्तमा भक्ति नहीं, क्योंकि कर्म–ज्ञानादि से जो सर्वथा अनावृत है; केवल उसे ही 'शुद्ध–भक्ति' माना गया है। इसलिए जहाँ केवल श्रीभगवान् के दासत्व की प्रबल इच्छा है, काय–मन–वाणी से उनकी सेवा के लिए अनुकूल चेष्टा है, वही दास्य है।।१८६–१८७।।

अथ सख्यं (४८)

४३–विश्वासो मित्रवृत्तिश्च सख्यं द्विविधमीरितम्।।१८८।।

तत्राद्यं, यथा महाभारते–

१४६–प्रतिज्ञा तव गोविन्द ! न मे भक्तः प्रणश्यति।
संस्मृत्य संस्मृत्य प्राणान् संधारयाम्यहम्।।१८९।।

तथा एकादशे च ११।२।५३–

१४७–त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठ–स्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात्।
न चलति भगवत्पदारविन्दाल्लव–निमिषार्द्धमपि सवैष्णवाग्रयः।।१६०।।इति।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*विश्वास इति, पूर्ववदन्यमतं, मित्रवृत्तिरिति स्वमतं, मित्रं बन्धुमात्रं (भा० १०।१४।३२)–''यन्मित्रं परमानन्दमि''तिवत्, तद्वृत्तिः तत्तयाऽभिमानः।।१८८।। प्रतिज्ञेति श्रीद्रौपदीवाक्यं, तस्मादस्या यद्यपि प्रेमविशेष–मयपरिकरान्तर्गतत्वेन दर्शयिष्यमाणाया वाक्यमिदं प्रेमविशेषकार्यमेव, न तु साधनं, तथापि परमप्रेमातिशयानां साधनमपि स्यादित्येवमुदाहृतम्, एवमुत्तरत्र च भागवतोत्तमवर्णनमयप्रकरणादुद्धृते पद्ये ज्ञेयम्। (भा० ११।२।५५)–''प्रणयरसनया धृताङ्घ्रिपद्म'' इति तदुपसंहारात्।।१८६।। त्रिभुवनविभवाय किमुत तद्धेतव इत्यर्थः, सर्वोऽपि द्वन्द्वो विभाषयैकवद्भवतीति न्यायेनएकवचनम्।।१६०।।*

● *अनुवाद*–**सख्य दो प्रकार का है–(१) विश्वास तथा (२) मित्रवृत्ति।।१८८।।**

विश्वासरूप सख्य का उदाहरण महाभारत में इस प्रकार है, श्रीद्रौपदी ने कहा, ''हे गोविन्द ! आपकी प्रतिज्ञा है कि मेरे भक्त का कभी नाश नहीं होता। इस वचन को स्मरण कर–करके मैं प्राणों को धारण कर रही हूँ अर्थात् इसी विश्वास पर जीवन धारण कर रही हूँ।।१८६।।

श्रीमद्भागवत (११।२।५५) में योगेश्वर हरि ने कहा है, तीनों लोकों के वैभव प्राप्त करने के लिए जो भक्त स्थिरमति हैं, देवतागण भी जिनकी खोज करते रहते हैं, उन भगवान् के चरणकमलों से वे आधे क्षण के लिए भी विचलित नहीं होते, वे वैष्णवों में अग्रगण्य हैं।।१६०।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–सख्य के दो प्रकार कहे गये हैं–(१) विश्वास (श्रीभगवान् में पूर्ण विश्वास) और (२) मित्र–वृत्ति अर्थात् श्रीभगवान् को अपना मित्र समझना। उक्त श्लोकों में श्रीभगवान् के प्रति विश्वास के उदाहरण उद्धृत किये गये हैं। पहला वचन श्रीद्रौपदी का है। श्रीद्रौपदी विशेष प्रेममय नित्य परिकरों में हैं। अतः उनके ये वचन साधनात्मक नहीं हैं, तथापि इनसे यह सिद्ध होता है कि प्रेमी परिकरों में भी साधन रहता है। श्रीभगवान् अपने प्रेमी भक्तों के हृदय में तो बँधे रहते हैं। अतः नित्य प्रेमी परिकरों से श्रीभगवान् कभी दूर नहीं रहते, न उनको साधन रूप में किसी भक्ति–अंग तथा आचरण करना होता है फिर भी उनमें साधन दीखते हैं। वे साधन उनमें अनुभाव अर्थात् प्रेम के लक्षण रूप में प्रकाशित रहते हैं।

यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि सख्य और आत्म–निवेदन के अधिकारी सिद्ध–भक्त होते हैं, साधक–भक्त नहीं। इस बात को आगे (१।२।१६८) कहेंगे। सिद्ध के समान कोई विशेष विरला–साधक भी इनका अधिकारी हो सकता है, ऐसे भक्तों को यदि कोई त्रिलोकी का वैभव देने को भी कहे, तो भी वे श्रीकृष्ण चरणकमलों की स्मृति से आधे क्षण के लिए भी विचलित नहीं होते।।१८८–१६०।।

४४–श्रद्धामात्रस्य तद्भक्तावधिकारित्व–हेतुता।
अंगत्त्वमस्य विश्वासविशेषस्य तु केशवे।।१६१।।

द्वितीयं, यथा अगस्त्यसंहितायाम्–

१४८–परिचर्या–पराः केचित्प्रासादेषु च शेरते।
मनुष्यमिव तं द्रष्टुं व्यवहर्तुं च बन्धुवत्।।१६२।।इति।।

४५–रागानुगांगताऽस्य स्याद्विधिमार्गानपेक्षणात्।
मार्गद्वयेन चैतेन साध्या सख्यरतिर्मता।।१६३।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*श्रद्धामात्रस्येति। यद्यपि श्रद्धाविश्वासयोरेकपर्यायत्वमेव तथापि तत्पूर्वोत्तरावस्थयोस्तत्तच्छब्दप्रयोगप्राचुर्यमिति पृथक्शब्दप्रयोगः। फलसामान्यावश्यकसर्वोत्तमसाधनत्वेन प्रतीतिरत्र मात्रपदार्थः, फलविशेषस्य तादृशसाधनत्वेन स्वतः सर्वोत्तमफलरूपत्वेन वा प्रतीतिर्विशेषपदार्थः तत्र प्रस्तुतत्वाद् द्वयं क्रमेणोदाहृतमिति भावः।।१६१।। तदेवं यद्यपि पूर्वमुदाहरणं वक्ष्यमाणरागानुगांगत्वमेव प्रविशति तथाऽप्येतदनुसारेण वैध्यंगोदाहरणमपि द्रष्टव्यमित्यभिप्रायेणाह–रागानुगांगतेति। सख्यरतिर्बन्धुभावरतिरित्यर्थः।।१६३।।*

● **अनुवाद**–श्रद्धा को भगवद्भक्ति में अधिकार का कारण कहा गया है और यह श्रद्धा भगवान् केशव के प्रति विश्वास–विशेष का अंग है।।१६१।।

मित्र–वृत्ति रूप दूसरे प्रकार के सख्य का उदाहरण अगस्त्य–संहिता में इस प्रकार वर्णित है, श्रीभगवान् को मनुष्य की तरह देखने के लिए तथा उनसे बन्धुओं की तरह व्यवहार करने के लिए कोई–कोई सेवा–परायण भक्त मन्दिर में सोते हैं।।१६२।।

इस सख्य–भाव में विधि–मार्ग की अपेक्षा न होने से इसे रागानुगाभक्ति का अंग कहा गया है।।१६३।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–भगवद्–भजन में श्रद्धा मात्र को ही अधिकारित्व का हेतु कहा गया है। यहाँ सख्य के अवान्तर भेद विश्वास में इस श्रद्धा को अंग कह दिया है। ऐसा क्यों ?–श्रीजीवगोस्वामी कहते हैं, सामान्य–फल के आवश्यक सर्वोत्तम साधनरूप में जो प्रतीति है उसे 'श्रद्धा' मात्र शब्द से कहा गया है। किन्तु विशेष–फल के आवश्यक सर्वोत्तम साधनरूप में अथवा स्वतः ही सर्वोत्तम फल रूप में जो प्रतीति है उसे "विश्वास–विशेष" कहा गया है। इसलिए भगवद् भजन में श्रद्धा मात्र को अधिकारित्व का कारण मानते हुए भी भजन–प्रभाव से प्राप्त होने वाले श्रीकृष्ण में अनुभव सम्वलित विश्वास को ही अंग रूप में ग्रहण किया है। श्रद्धा और विश्वास एक पर्यायभुक्त होते हुए भी पूर्वावस्था का नाम श्रद्धा है और परवर्ती अवस्था का नाम विश्वास। सख्य में विधि–पालन की अपेक्षा नहीं रहती, जैसे ऊपर उदाहरण में कहा गया है। मन्दिर में सोना सेवापराध है, किन्तु सख्यभाव के महापुरुष मन्दिर में भी सो जाते हैं, वे श्रीभगवान् को अपने समान समझते हैं। उनमें गौरव तथा संकोच कुछ भी नहीं रहता। अतः इसे यहाँ रागानुगा–भक्ति का ही अंग स्वीकार किया गया है। पूर्व–पूर्वोक्त समस्त अंग भी रागानुगा–भक्ति के अंग स्वरूप में वर्णित हुए हैं, किन्तु मित्र–वृत्ति रूप जो

सख्यरस है वह विशेषरूप से रागमार्ग के प्राधान्य को प्रकाशित करता है। वैधी तथा रागानुगा मार्ग के सख्य–भक्ति के साधनों के लिए सख्य–रति ही साध्य कही गई है।।१६१–१६३।।

अथा आत्मनिवेदनं, (४६) यथा एकादशे (११।२६।३४)–

१४६–मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्मा निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे।
तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो मयात्मभूयाय च कल्पते वै।।१६४।।इति।।

४६–अर्थो द्विधात्मत्मशब्दस्य पण्डितैरुपपाद्यते।
देह्यहंतास्पदं कैश्चिद्देहः कैश्चिन्ममत्वभाक्।।१६५।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*मर्त्य इति। यतो निवेदितात्माअतस्त्यक्तं समस्तमैहिकामुष्मिकं कर्म आत्मात्मीयपोषणादिरूपं येन सः; तर्हि मे मया विशिष्टः कर्त्तुमिष्टो भवति, अमृतत्वमिति। मृत्युपरम्परामतिक्रामन्नित्यर्थः, मया सह मत्साम्येनात्मभूयाय कल्पते, स्वरूपावस्थिति मत्सार्ष्टिलक्षणां मुक्तिं प्राप्नोतीत्यर्थः। देहः कैश्चिदित्यनुकल्प एव।।१६४–१६५।।*

● *अनुवाद*–श्रीमद्भागवत (११।२६।३४) में कहा गया है कि जिस समय मनुष्य समस्त कर्मों अर्थात् अपने पालन–पोषण तथा नित्य–नैमित्तिक कर्मों को परित्याग कर मुझे आत्म समर्पण कर देता है, उसी समय से मैं उसे सर्वोत्तम बनाना चाहता हूँ। तब वह मृत्यु–परम्परा का अतिक्रमण कर अमृत स्वरूप मेरी स्वरूप स्थिति अर्थात् सार्ष्टि–मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।।१६४।।

आत्म–निवेदन में 'आत्म'-शब्द के दो प्रकार के अर्थ पण्डितजन करते हैं। कोई तो अहन्ता के आश्रय देही (शरीर में रहने वाले जीवात्मा) को 'आत्म' कहते हैं और कोई ममता के आश्रय देह को आत्म-शब्द से ग्रहण करते हैं। इन दोनों अर्थात् देही और देह दोनों का ही समर्पण आत्म-निवेदन में आता है।।१६५।।

तत्र देही, यथा यामुनाचार्यस्तोत्रे–

१५०–वपुरादिषु योऽपि कोऽपि वा गुणतोऽसानि यथातथाविधः।
तदयं तव पादपद्मयोरहमद्यैव मया समर्पितः।।१६६।।

देहो, यथा भक्तिविवेके–

१५१–चिन्तां कुर्यान्न रक्षायै विक्रीतस्य यथा पशोः।
तथाऽर्पयन् हरौ देहं विरमेदस्य रक्षणात्।।१६७।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*योऽपि कोऽपीति। वादिभेदात्स्वरुपतोऽथवा गुणतो यथातथाविधो देवमनुष्यादिरूपोऽसानि भवानि कामचारे लोट्, तदयमिति। स चासावयञ्चेति विग्रहात् सोऽयमित्यर्थः।।१६६।।*

● *अनुवाद–देहीरूप आत्म–निवेदन* का उदाहरण श्रीयामुनाचार्यस्तोत्र में इस प्रकार वर्णित है, हे भगवन्! मनुष्य आदि शरीर में स्वरूपतः जैसे भी मैं क्यों न अवस्थान करूँ, अथवा गुणतः देवमनुष्यादि, अंगविहीन ही क्यों न होऊँ, तथापि मैं आज आपके चरणकमलों में अपने को समर्पण करता हूँ।।१६६।।

देहरूप आत्म–निवेदन का उदाहरण भक्ति–विवेक में इस प्रकार कथित है, बेचे हुए पशु के समान अपने शरीर आदि की रक्षा के लिए कोई चिन्ता न करे, इस प्रकार अपने शरीर को श्रीभगवान् को समर्पित कर स्वयं उसकी रक्षा की चिन्ता से मुक्त हो जाना चाहिए।।१६७।।

४७–दुष्करत्वेन विरले द्वे सख्यात्मनिवेदने।
केषांचिदेव धीराणां लभेते साधनार्हताम्।।१६८।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*दुष्करत्वेनेत्यत्रात्मनिवेदनस्य केवलस्य दुष्करत्वेन वैरल्यं न तु महिमाधिक्येन भावशून्यत्वात्, सख्यस्य तु दुष्करत्वेन महिमाधिक्येन च वैरल्यं भावोत्तमरूपत्वाद्; यदि च भावमिश्रमात्मनिवेदनं भवति तदा तु सुतरां महिमाधिक्येनापि विरलं स्यात्। तत्र केवलमात्मनिवेदनं दानसमये श्रीबलिराजे दृश्यते; शरणापतिः खलु रक्षितृत्वेन वरणं तदिदं तुस्वात्मनस्तदायत्तता–सम्पादनमिति भेदः, भावमिश्रेषु दास्येनात्मनिवेदनं श्रीमदम्बरीषे। तदुक्तं (भा० ६।४।१८) स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोरित्यारभ्य (भा० ६।४।२०)–"कामं च दास्ये न तु कामकाम्यये" त्यतेन तदेवोक्तं श्रीभगवतैकादशे 'दास्येनात्मनिवेदनमिति तथा प्रेयसीभावेन (भा० १०।५२।३६) श्रीरुक्मिणीदेव्यां, यथोक्तं तत्रैव "तन्मे भवान् खलु वृतः पतिरंग। जाया मात्मार्पितश्च भवतोऽत्र विभो ! विधेहीति। एवं सख्यादिनापीति ज्ञेयम्।।१६८।।*

● ***अनुवाद***–**सख्य तथा आत्म–निवेदन–ये दोनों भक्ति–अंग दुष्कर होने से बहुत कम देखे जाते हैं। ये दोनों किन्हीं विशेष प्रौढ़ श्रद्धावानों की साधना के योग्य हैं।।१६८।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–सख्य और आत्म–निवेदन–ये दोनों भक्ति अंग बहुत दुष्कर है। अतः विरले साधक ही इन अंगों की साधना कर पाते हैं। आत्म–निवेदन का दुष्करत्व इस लिए है कि यह भावशून्य है, अतः इसकी महिमा कुछ अधिक नहीं है, इसी कारण विरले साधक ही इसकी ओर अग्रसर होते हैं। किन्तु सख्य का दुष्करत्व इस लिए है कि उसमें श्रीभगवान् के प्रति ममतामय प्रीति है, भावपूर्ण है और अत्यधिक महिमायुक्त है, इस लिए ही विरले साधक उसे प्राप्त करते हैं।

आत्म–निवेदन का विरलत्व भावशून्यता एवं अधिक महिमायुक्त न होने के कारण है और सख्य का विरलत्व भावपूर्णतामय महिमाधिक्य के कारण से है। हाँ, यदि आत्म–निवेदन भावपूर्ण हो अर्थात् श्रीकृष्ण–सेवा के लिए हो तो उसमें महिमाधिक्य दृष्टि से विरलता मानी जा सकती है। श्रीबलि राजा ने दान के समय श्रीवामन्–भगवान् को आत्म–निवेदन किया था, वह भावपूर्ण न था, श्रीबलि में शरणापत्ति की भावना भी अपनी रक्षा के लिए थी। उनका तदीयतामय भाव था; अर्थात् हे भगवन् ! मैं आपका हूँ। किन्तु सख्य में सदा मदीयता भाव रहता है; अर्थात् "भगवान् मेरे हैं"। राजा अम्बरीष ने दास्य–भाव युक्त होकर आत्म–निवेदन किया था। श्रीरुक्मिणी आदि ने प्रेयसी भाव से तथा व्रजगोपियों ने तो सर्वतोभावेन आत्म–निवेदन किया, जो सर्वोत्कृष्ट महिमायुक्त है।।१६८।।

अथ निजप्रियोपहरणं, (५०) यथैकादशे (११।११।४१)–

१५२–यद्यदिष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः।
तत्तन्निवेदयेन्मह्यं तदानन्त्याय कल्पते।।१६६।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*यद्यदिति। चकारान्मम प्रियं च।।६६।।*

● *अनुवाद*–श्रीमद्भागवत (११।११।४१) में इस प्रकार वर्णित है, हे उद्धव! संसार में जो–जो वस्तु श्रेष्ठ हो और जो अपने को और मुझे भी प्रिय हो, वह मुझको समर्पित कर देने से वह अनन्त काल तक फल प्रदान करने वाली हो जाती है।।१६६।।

अथ तदर्थेऽखिलचेष्टितं, (५१) यथा पञ्चरात्रे–

१५३–लौकिकी वैदिकी वापि या क्रिया क्रियते मुने!।
हरिसेवानुकूलैव सा कार्या भक्तिमिच्छता।।२००।।इति।।

● *अनुवाद*–पञ्चरात्र में कहा गया है, हे मुने! भगवद्भक्ति चाहने वाले को चाहिए कि वह लौकिकी अथवा वैदिकी जो भी क्रिया या चेष्टा करे वह श्रीभगवान् की प्रसन्नता के लिए ही करे।।२००।।

अथ शरणापतिः, (५२) यथा हरिभक्तिविलासे–

१५४–तवास्मीती वदन् वाचा तथैव मनसा विदन्।
तत्स्थानमाश्रितस्तन्वा मोदते शरणागतः।।२०१।।

● *अनुवाद*–श्रीहरिभक्तिविलास में कहा गया है कि वाणी से "मैं आपका हूँ" ऐसा कहते हुए और मन से भी वैसा अनुभव करता हुआ शरणागत–भक्त श्रीभगवान् के धाम को प्राप्तकर सदा आनन्दित रहता है।।२०१।।

श्रीनारसिंहे च–

१५५–त्वां प्रपन्नोऽस्मि शरणं देवदेव! जनार्दन!।
इति यः शरणं प्राप्तस्तं क्लेशादुद्धराम्यहम्।।२०२।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*शरणं प्रपन्नोऽस्मि रक्षितृत्वेन वृतवानस्मि, शरणं तदाश्रयं प्राप्तः, शरणशब्देन हि तत्तद्द्वयमेवोच्यत इति।।२०२।।*

● *अनुवाद*–श्रीनृसिंह–पुराण में कथित है–"हे देवाधिदेव! जनार्दन! आप मेरी रक्षा करो, मैं आपकी शरण हूँ,"–ऐसा कहकर जो मेरी शरण में आता है–मैं उसका समस्त क्लेशों से उद्धार करता हूँ।।२०२।।

अथ तदीयानां सेवनम् तुलस्याः सेवनं (५३) यथा स्कान्दे–

१५६–या दृष्टा निखिलाघसङ्घशमनी स्पृष्टा वपुःपावनी,
रोगाणामभिवन्दिता निरसनी सिक्ताऽन्तकत्रासिनी।
प्रत्यासत्तिविधायिनी भगवतः कृष्णस्य संरोपिता,
न्यस्ता तच्चरणे विमुक्तिफलदा तस्यै तुलस्यै नमः।।२०३।।

तथा च तत्रैव–

१५७–दृष्टा तथा ध्याता कीर्तिता नमिता स्तुता।
रोपिता सेविता नित्यं पूजिता तुलसी शुभा।।२०४।।

१५८– नवधा तुलसीं देवीं ये भजन्ति दिने दिने।
युगकोटिसहस्राणि ते वसन्ति हरेर्गृहे।।२०५।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*या दृष्टेति। वपुःपावनी कुजन्मत्वादिशोधनी, रोगाणां क्लेशमात्राणां, प्रत्यासत्तिर्मनस आसंगः, विमुक्तिर्विशिष्टा मुक्तिः सप्रेमभक्ति–रित्यर्थः।।२०३।।*

● *अनुवाद*–स्कन्द–पुराण में वर्णित है, श्रीतुलसी के दर्शन से सम्पूर्ण पापों का नाश होता है; स्पर्श करने से शरीर पवित्र होता है, प्रणाम करने से रोगों का शमन होता है, सींचने से यमराज भयभीत होता है, संरोपण करने से श्रीकृष्ण की समीपता प्राप्त होती है, श्रीकृष्ण के चरणों में अर्पित करने से तुलसी विमुक्ति फल अर्थात् प्रेम–भक्ति को प्रदान करने वाली है।।२०३।।

और भी लिखा है कि श्रीतुलसी के दर्शन से, ध्यान से, कीर्तन करने से, नमस्कार तथा स्तुति करने से, रोपण करने से, तथा सेवन करने से और नित्य पूजन करने से श्रीतुलसी कल्याण विधान करती हैं।।२०४।।

इस प्रकार जो लोग दर्शन–स्पर्शादि नौ प्रकार से प्रति दिन श्रीतुलसी का सेवन करते हैं, वे कोटियुगों तक श्रीभगवद्धाम में निवास करते हैं।।२०५।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–श्रीतुलसी श्रीभगवान् को अत्यन्त प्रिय है। इसलिए उसका किसी प्रकार भी संबंध प्राप्त होने से वह कल्याणकारिणी होती है; अर्थात् अपने प्रीतम की प्रेम–भक्ति प्रदान करती है। श्रीतुलसी का स्पर्श शरीर को पावन करता है; अर्थात् कुयोनियों में जन्म लेने से बचाता है, वह रोग अर्थात् शारीरिक रोग तथा पाप, पापों के बीज या संस्कार तथा अविद्या–क्लेशों को नष्ट करती है। श्रीकृष्ण की समीपता प्रदान करती है; अर्थात् मन को सदा उनके रूप–गुण–लीला में संलग्न कर आसंग–भजन कराती है। रोपण तो तुलसीजी का प्रतिदिन सम्भव नहीं है, अतः उसका नित्य सींचन कर उसमें पत्ते–मंजरी आदि के प्रादुर्भाव का ही यहाँ तात्पर्य है। नित्य स्पर्श के अभिप्राय को लेकर वैष्णव अपने कण्ठ में नित्य तुसली–कण्ठी को धारण करते हैं।।२०३–२०५।।

अथ शास्त्रस्य (५४)–

४८–शास्त्रमत्र समाख्यातं यदभक्तिप्रतिपादकम्।।२०६।।

यथा स्कान्दे–

१५६–वैष्णवानि तु शास्त्राणि ये शृण्वन्ति पठन्ति च।
धन्यास्ते मानवा लोके तेषां कृष्णः प्रसीदति।।२०७।।
१६०–वैष्णवानि च शास्त्राणि येऽर्चयन्ति गृहे नराः।
सर्वपापविनिर्मुक्ता भवन्ति सुरवन्दिताः।।२०८।।
१६१–तिष्ठते वैष्णवं शास्त्रं लिखितं यस्य मन्दिरे।
तत्र नारायणो देवः स्वयं वसति नारद !।।२०६।।

तथा श्रीभागवते (१२।१३।१५)–

१६२–सर्ववेदान्तसारं हि श्रीभागवतमिष्यते।
तद्रसामृततृप्तस्य नान्यत्र स्याद्रतिः क्वचित्।।२१०।।

● *अनुवाद*–शास्त्र से यहाँ भगवद्भक्ति के प्रतिपादक ग्रन्थों से अभिप्राय है।।२०६।।

स्कन्द–पुराण में कहा गया है कि जो लोग वैष्णव–शास्त्रों को सुनते और पढ़ते हैं, वे लोग संसार में धन्य हैं। श्रीकृष्ण उन पर प्रसन्न होते हैं।।२०७।। जो लोग अपने घरों में वैष्णव–शास्त्रों की पूजा करते हैं, वे समस्त पापों से विमुक्त होकर देवताओं के भी वन्दनीय हो जाते हैं।।२०८।। हे नारद ! जिस घर में हस्त–लिखित वैष्णव–शास्त्र विराजमान हैं, वहाँ श्रीनारायण स्वयं निवास करते हैं।।२०९।।

श्रीमद्भागवत (१२।१३।१५) में भी कहा गया है–श्रीमद्भागवत समस्त वेदान्त का सार है, उसके रसामृत का पान कर तृप्त हुए व्यक्ति को अन्यत्र– और किसी वाणी–आदि ग्रन्थों में आनन्द नहीं आता।।२१०।।

अथ मथुरायाः (५५), यथा आदिवाराहे–

१६३–मथुरां च परित्यज्य योऽन्यत्र कुरुते रतिम्।
मूढ़ो भ्रमति संसारे मोहितो मम मायया।।२११।।

ब्रह्माण्डे च–

१६४–त्रैलोक्यवर्त्तितीर्थानां सेवनाद् दुर्लभा हि या।
परानन्दमयी सिद्धिर्मथुरास्पर्शमात्रतः।।२१२।।इति।।

४६–श्रुता स्मृता कीर्तिता च वाञ्छिता प्रेक्षिता गता।
स्पृष्टा श्रिता सेविता च मथुराभीष्टदा नृणाम्।
इति ख्यातं पुराणेषु न विस्तारभियोच्यते।।२१३।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*परानन्दमयी प्रेमलक्षणा।२१२।। प्रेक्षिता दूराद् दृष्टा, गता तत्समीपं प्राप्ता, श्रिता निजाश्रयत्वेन वृता सेविता तत्तत्स्थानसंस्कारादिना परिचरिता, अभीष्टदेत्युत्तर वैशिष्ट्येन ज्ञेयम्।।२१३।।*

● *अनुवाद*–आदि वाराह–पुराण में कहा गया है, मथुरा–मण्डल को छोड़कर जो मनुष्य अन्यान्य स्थानों पर वास करने में अनुरक्त है, वह मूर्ख मेरी माया के चक्कर में पड़कर संसार के आवागमन चक्कर में ही भ्रमता रहता है।।२११।।

श्रीब्रह्माण्ड–पुराण में कथित है, जिस परमानन्दमयी सिद्धि अर्थात् प्रेमलक्षणा–भक्ति को तीनों लोकों के तीर्थों का सेवन करने से भी प्राप्त करना दुर्लभ है, वह मथुरा के स्पर्शमात्र से प्राप्त हो जाती है।।२१२।।

श्रीग्रन्थकार कहते हैं कि मथुरा के श्रवण, स्मरण, कीर्तन, वहाँ वास करने की वाञ्छा, दर्शन–गमन, आश्रय और सेवन से समस्त मनोवाञ्छित पूर्ण होते हैं; यह बात अनेक पुराणों में प्रतिपादित की गयी है। अतः ग्रन्थ–विस्तार भय से यहाँ हम उसका विस्तारपूर्वक वर्णन नहीं करते हैं।।२१३।।

अथ वैष्णवानां सेवनं, (५६) यथा पाद्मे–

१६५–आराधनानां सर्वेषां विष्णोराराधनं परम्।
तस्मात्परतरं देवि ! तदीयानां समर्चनम्।।२१४।।

तृतीये च (३।७।१६)–

१६६–यत्सेवया भगवतः कूटस्थस्य मधुद्विषः।
रतिरासो भवेत्तीव्रः पादयोर्व्यसनार्दनः।।२१५।।

स्कान्दे च–

१६७–शंखचक्रांकिततनुः शिरसा मञ्जरीधरः।
गोपीचन्दनलिप्तांगो दृष्टश्चेत्तदघं कुतः।।२१६।।

प्रथमे (१।१६।३३)–

१६८–येषां संस्मरणात्पुंसां सद्यः शुध्यन्ति वै गृहाः।
किं पुनर्दर्शनस्पर्शपादशौचासनादिभिः।।२१७।।

आदिपुराणे–

१६९–ये मे भक्तजनाः पार्थ ! न मे भक्ताश्च ते जनाः।
मद्भक्तानां च ये भक्ता मम भक्तास्तु ते नराः।।२१८।।इति।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका– *'एकरूपतया तु यः; कालव्यापी स कूटस्थ'' इत्यमरः, मधुद्विषः पादयोरतिरासो रतेरुल्लासो भवेत्, तीव्रो नितान्तः।।२१५।।*

● *अनुवाद*–पद्म–पुराण में वर्णित है, समस्त आराधनाओं में अर्थात् समस्त देवी–देवता भगवत्स्वरूपों की आराधनाओं में भगवान् श्रीकृष्ण की आराधना श्रेष्ठ है, किन्तु हे देवि ! कृष्ण–आराधना से भी बढ़कर है कृष्ण–भक्तों की आराधना।।२१४।।

श्रीमद्भागवत (३।७।१६) में कथित है कि वैष्णवों की चरण–सेवा से नित्यसिद्ध भगवान् श्रीमधुसूदन के चरणकमलों में उत्कट प्रेम और आनन्द की वृद्धि होती है, जो संसार में आवागमन की यन्त्रणा का नाश करने वाली है।।२१५।।

श्रीस्कन्द–पुराण में कहा गया है, शंख, चक्र से चिह्नित देह वाले, सिर पर तुलसी मञ्जरी–धारण किये हुए तथा गोपी–चन्दन का तिलक लगाये हुए वैष्णव का यदि दर्शन हो जाता है, तो फिर पाप कहाँ रह सकता है ? अर्थात् समस्त पापराशि नष्ट हो जाती है।।२१६।।

श्रीमद्भागवत (१।१६।३३) में कहा गया है, जिन वैष्णवों के स्मरणमात्र से घर पवित्र हो जाता है, उनके दर्शन, स्पर्श, चरणप्रक्षालन और आसन प्रदान आदि से जो परमपावन भक्ति की प्राप्ति होती है, इसमें कहना ही क्या।।२१७।।

आदि–पुराण में कहा गया है, हे अर्जुन ! जो मेरे भक्त हैं, वे मेरे उतने प्रिय भक्त नहीं हैं, किन्तु मेरे भक्तों के जो भक्त हैं, वास्तव में वे मेरे प्रिय भक्त हैं।।२१८।।

५०–यावन्ति भगवद्भक्तेरंगानि कथितानीह।
प्रायस्तावन्ति तद्भक्तभक्तेरपि बुधा विदुः।।२१९।।

● *अनुवाद*–श्रीभगवान् की भक्ति के जितने अंग कहे गये हैं, प्रायः उतने ही अंग भक्तों की भक्ति के भी विद्वान् लोग मानते हैं।।२१६।।

अथ यथावैभवमहोत्सवो (५७) यथा पाद्मे–

१७०–यः करोति महीपाल ! हरेर्गेहे महोत्सवम्।
तस्यापि भवति नित्यं हरिलोके महोत्सवः।।२२०।।

● *अनुवाद*–पद्मपुराण में कथित है, हे राजन् ! जो व्यक्ति श्रीभगवान् के मन्दिर में महोत्सव मनाता है, भगवद्धाम में उसका भी महोत्सव नित्य होता है।।२२०।।

अथ ऊर्जादरो (५८) यथा पाद्मे–

१७१–यथा दामोदरो भक्तवत्सलो विदितो जनैः।
तस्यायं तादृशो मासः स्वल्पमप्युरुकारकः।।२२१।।

तत्रापि मथुरायां विशेषो, यथा तत्रैव–

१७२–भुक्तिं मुक्तिं हरिर्दद्यादर्चितोऽन्यत्र सेविनाम्।
भक्तिं तु न ददात्येव यतो वश्यकरी हरेः।।२२२।।
१७३–सा त्वञ्जसा हरेर्भक्तिर्लभ्यते कार्तिके नरैः।
मथुरायां सकृदपि श्रीदामोदरसेवनात्।।२२३।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*यथा दामोदरो जनैर्भक्तवत्सलो विदितस्तद्रूपश्च सन् स्वल्पमप्युरुकारकः ऋणनिर्यातक इव स्वल्पमप्युरु कृत्त्वा ददातीत्यर्थः, तस्य दामोदरस्यायं–कार्तिकाख्योऽपि मासस्तादृशः सन् स्वल्पमप्युरुकारक इति पूर्ववत्। "अकेनोभविष्यदाधमर्ण्ययोरिति षष्टीनिषेधः।।२२१।। यतो वश्यकरीति। वश्यकरीत्वमत्र सुखदानेनैव ज्ञेयं न तु दुःखदानेना, अतो भक्त्यदाने न तदत्र प्रयोजकं किंतु तेन लक्षितं परमोत्कृष्टत्वमेव, तथाविधा च सा नायोग्ये सहसा दातुं योग्येति यावदयोग्यता तावद्भगवता न दीयत एवेति, योग्यता च सर्वान्यस्वहितनिरपेक्षत्वमेव। तस्माद्योग्यतायामेव सत्यां दातव्यत्वेऽपि यदि मथुराकार्तिकयोः संगमे पूजनं घटते तदा योग्यतारहितेनापि वस्तुप्रभावात्सहसैव प्राप्यत एव भावः।।२२२।।*

● *अनुवाद*–कार्तिक मास के आदर करने अर्थात् उस मास में नियम–सेवा के व्रत लेने के विषय में पद्म–पुराण में कहा गया है, भगवान् श्रीदामोदर जैसे लोक–समाज में भक्तवत्सल होकर प्रसिद्ध हैं, उनका यह कार्तिक मास भी (सूद सहित ऋण परिशोध करने वाले व्यक्ति की तरह) थोड़े से साधन को भी बहुत मानकर बहुत फल प्रदान करने वाला है।।२२१।।

मथुरा–मण्डल में कार्तिक मास व्रत का विशेष माहात्म्य है। पद्मपुराण में कहा गया है, मथुरा के अतिरिक्त अन्य देशों में साधन करने वाले व्यक्तियों को वे साधन, भुक्ति एवं मुक्ति तो दे देते हैं, किन्तु भक्ति नहीं देते, क्योंकि भक्ति उनको वशीभूत करने वाली है।।२२२।।

किन्तु मथुरा–मण्डल में रहकर कार्तिक मास में एक बार भी श्रीदामोदर की पूजा करने से मनुष्यों को वह भक्ति अनायास ही प्राप्त हो जाती है।।२२३।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—श्रीदामोदर भगवान् ने ऊखल से बँधकर नलकूबर एवं मणिग्रीव का उद्धार किया। वे भक्तवत्सल हैं, थोड़े से भजन का भी बहुत बड़ा फल प्रदान करने वाले हैं। उसी प्रकार उनका यह कार्तिक मास भी थोड़ा ऋण लेकर फिर सूद मिलाकर बड़ी रकम अदा करने वाले व्यक्ति की तरह है। तात्पर्य यह है कि थोड़े साधन–भजन को भी बहुत फलदायक बनाने वाला है।

अन्य देशों में भजन करने पर श्रीभगवान् भुक्ति–मुक्ति तो प्रदान कर देते हैं, किन्तु अपने को वशीभूत करने वाली भक्ति नहीं देते। इसका तात्पर्य यह नहीं कि श्रीभगवान्–भक्ति के या भक्त के वशीभूत होने में कुछ दुःख मानते हैं, भक्ति द्वारा वशीभूत होना श्रीभगवान् को परम सुख प्रदान करता है। भक्ति की परमोत्कृष्टता ही यहाँ लक्षित होती है। किन्तु अयोग्य के प्रति वह ऐसी भक्ति को सहसा प्रदान नहीं करते। परन्तु मथुरा–मण्डल की यह एक अपनी विशेषता है कि कार्तिक–मास का संगम यदि इसके वास में हो जाये और श्रीदामोदर का पूजन–अवसर प्राप्त हो तो योग्यता रहित साधक को भी श्रीभगवान् अपने को वशीभूत करने वाली भक्ति अनायास प्रदान कर देते हैं।।२२१–२२३।।

अथ श्रीजन्मदिनयात्रा (५६), यथा भविष्योत्तरे–

१७४–यस्मिन् दिने प्रसूतेयं देवकी त्वां जनार्दन !।
तद् दिनं ब्रूहि वैकुण्ठ ! कुर्मस्ते तत्र चोत्सवम्।
तेन सम्यक् प्रपन्नानां प्रसादं कुरु केशव !।।२२४।।

● *अनुवाद*—**श्रीकृष्ण–जन्मोत्सव के विषय में भविष्य–पुराण में कहा गया है कि हे जनार्दन ! जिस दिन श्रीदेवकी ने आपको जन्म दिया था, वह दिन हमें बतलाइये, उस दिन हम महोत्सव मनायेंगे। हे वैकुण्ठ ! हे केशव ! हम आपकी शरणागत हैं, अतः आप उस उत्सव से प्रसन्न होकर हम पर कृपा कीजिए।।२२४।।**

अथ श्रीमूर्तेरङ्घ्रिसेवने प्रीतिः (६०), यथा आदिपुराणे–

१७५–मम नामसदाग्राही मम सेवाप्रियः सदा।
भक्तिस्तस्मै प्रदातव्या न तु मुक्तिः कदाचन।।२२५।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*सेवाप्रियः सेवैकपुरुषार्थः सन्, मुक्तिरत्र भक्तिशून्या, ज्ञेया।।२२५।।*

● *अनुवाद*—**आदि–पुराण में कथित है कि जो व्यक्ति सदा मेरा नाम शरण करते हैं एवं मेरी (मूर्ति) सेवा में प्रीति रखते हैं, अर्थात् मेरी प्रेम सेवा को ही एकमात्र पुरुषार्थ मानते हैं, उनको मैं भक्ति ही प्रदान करता हूँ, भक्तिशून्या मुक्ति कभी नहीं प्रदान करता।।२२५।।**

अथ श्रीभागवतार्थास्वादो (६१), यथा प्रथमे (१।१।३)–

१७६–निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्।
पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका ! भुवि भावकाः !।।२२६।।

द्वितीये च (२।१।६)–

१७७–परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्य उत्तमःश्लोकलीलया।
गृहीतचेता राजर्षे ! आख्यानं यदधीतवान्।।२२७।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*हे भावुकाः ! परममंगलायना हे रसिका ! भगवद्भक्तिरसज्ञा इत्यर्थः, ते यूयं वैकुण्ठात्क्रमेण भुवि पृथिव्यामेव गलितमवीतीर्णं निगमकल्पतरोः सर्वफलोत्पत्तिभुवः शाखोपशाखाभिर्वैकुण्ठमप्यध्यारूढ़स्य वेदरूपतरोर्यत् खलु रसरूपं श्रीभागवताख्यं फलं तद् भुव्यपि स्थिताः पिबतास्वाद्यान्तर्गतं कुरुत; अहो इत्यलभ्यलाभव्यञ्जना, भागवताख्यं यच्छास्त्रं तत् खलु रसवदपि रसैकमयताविवक्षया रसशब्देन निर्दिष्टं, भागवतशब्देनैव तस्य रसस्यान्यदीयत्वं च व्यावृत्तं, भागवतस्य तदीयत्वेन रसस्यापि तदीयत्वाक्षेपात् शब्दश्लेषेण च भगवत्सम्बन्धिरसमिति गम्यते, स च रसो भगवद्भक्तिमय एव, "यस्यां वै श्रूयमाणायामि" त्यादिफलश्रुतेः; यन्मयत्वेनैव श्रीभगवति रसशब्दः श्रुतौ प्रयुज्यते "रसो वै सः" स एव च प्रशस्यते—"रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवतीति दर्शितम्, अत्र रसिका इत्यनेन प्राचीनार्वाचीनसंस्काराणामेव तद्विज्ञत्वं, गलितमित्यनेन तस्य सुपक्त्रिमत्वमुक्त्वा शास्त्रपक्षे सुनिष्पन्नार्थत्वमधिकस्वादुत्वं च दर्शितं, रसमित्यनेन फलपक्षे त्वगष्ट्र्यादिरहितत्वं व्यज्यात्र च शास्त्र पक्षे हेयांशराहित्यं दर्शितं, तथा निगमतरोः परमफलत्वोक्त्या तस्य परमपुरुषार्थत्वं दर्शितम्, एवं तस्य रसात्मकफलस्य स्वरूपतोऽपि वैशिष्ट्ये सति परमोत्कर्षबोधनार्थं वैशिष्ट्यान्तरमाह—शुकेति। अत्र फलपक्षे कल्पतरुवासित्वादलौकिकत्वेन शुकोऽप्यमृतमुखोऽभिप्रेयते ततस्तन्मुखंप्राप्य यथा तत्फलं विशेषतः स्वादु भवति तथा परमभागवतमुखसम्बन्धं भगवद्गुणवर्णनमपि। ततस्तादृशपरमभागवतवृन्दमहेन्द्र श्रीशुकदेवमुखसम्बन्ध किमुतेति भावः। अतएव परमस्वादु परमकाष्ठाप्राप्तत्वात् स्वतोऽन्यतश्च तृप्तिरपि न भविष्यतीति, आलयं मोक्षानन्दमप्यभिव्याप्य पिबतेत्युक्तं, तथा च वक्ष्यते (२।१।६) "परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्ये"—इत्यादि, अनेनास्वाद्यान्तरवन्नेदं कालान्तरेऽप्यास्वादकबाहुल्येऽपि न व्ययिष्पतीत्यपि दर्शितं, यद्वा तत्र तस्य रसस्य भगवद्भक्तिमयत्वेऽपि द्वैविध्यं,—तद्भक्त्युपयुक्तत्वं तद्भक्तिपरिणामत्वं चेति, यथोक्तं द्वादशे (३।१४—१५)—*

कथा इमास्ते कथिता महीयसां विताय लोकेषु यशः परेयुषाम्।
विज्ञानवैराग्यविवक्षया विभो ! वचोविभूतीर्न तु पारमार्थ्यम्।।
यस्तूत्तमश्लोकगुणानुवादः संगीयतेऽभीक्ष्णममंगलघ्नः।
तमेव नित्यं शृणुयादभीक्ष्णं कृष्णेऽमलां भक्तिमभीप्समानः।।इति।।

ततः सामान्यतो रसत्वमुक्त्वा विशेषतोऽप्याह—अमृतेति। अमृतद्रवस्तल्लीलारसः, "हरिलीलाकथाव्रतामृतानन्दितसत्सुरम्"; इति द्वादशे (१३।११) श्रीभागवतविशेषणात्; लीलाकथारसनिषेवणमिति तस्यैव रसत्वनिर्देशाच्च, सत्सुरमिति सन्तोऽत्रात्मारामाः (भा० १०।१२।११) "इत्थं सतामि' त्यादिवत्, त एव सुरा अमृतमात्रास्वादित्वात् तेन समवेतं तत्रापि तादृशशुकमुखादगलितं प्रवाहरूपेण वहन्तमित्यर्थः, तदेवं भगवद्भक्तेः परमरसत्त्वापतिः शब्दोपात्तैव, अन्यत्र च (भा० १२।१३।१५) "सर्ववेदान्ते" त्यादौ "तद्रसामृततृप्तस्ये" त्यादि, एवमेवाभिप्रेत्य भावुका इत्यत्र रसविशेषभावनाचतुरा इति टीका, तथा (भा० १।५।१६) "स्मरन्मुकुन्दाङ्घ्र्युपगूहनं पुनर्विहातुमिच्छेन्न रसग्रहो जन—इत्यादि।।२२६।। निर्गुणमेव नैर्गुण्यं स्वार्थे ष्यञ्, तस्मिन् ब्रह्मण्यपीत्यर्थः।।२२७।।

● *अनुवाद*—श्रीमद्भागवत के रसास्वादन के विषय में श्रीमद्भागवत (१।१।३) में ही कथन है कि—हे रस के मर्मज्ञ भक्तजनो ! यह श्रीमद्भागवत वेद—रूप कल्पवृक्ष का पका हुआ फल है। श्रीशुकदेव रूप तोते के मुख से निसृत होने के कारण परमानन्दमय अमृत से यह परिपूर्ण है। इस फल में छिलका, गुठली आदि त्यागने योग्य कोई भी पदार्थ नहीं है। यह मूर्तिमान रस है, जो पृथ्वी पर सुलभ है। इसलिए मोक्ष पर्यन्त इसका पुनः—पुनः आस्वादन कीजिए।।२२६।।

श्रीमद्भागवत (२।१।६) में श्रीशुकदेवजी ने आप—बीती सुनाते हुए कहा है, हे राजर्षे ! मेरी निर्गुण स्वरूप ब्रह्म में पूर्ण निष्ठा थी। फिर भी भगवान् श्रीकृष्ण की मधुर—लीलाओं ने बलपूर्वक मेरे हृदय को अपनी ओर आकर्षित कर लिया, जिससे मैंने इस परमहंस संहिता श्रीमद्भागवत का अध्ययन किया।।२२७।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—भक्ति के ६१ वें अंग में श्रीमद्भागवत के आस्वादन करने की बात कही गई है। श्रीमद्भागवत रस—स्वरूप, रसमूर्ति है। श्रुतियाँ परतत्त्व को "रसो वै सः" रसस्वरूप कहकर वर्णन करती हैं। श्रीमद्भागवत उसी परतत्त्व वस्तु रस की मूर्ति है। कल्पवृक्ष रूप वेद का परिपक्व फल है श्रीमद्भागवत, जो श्रीभगवत् सम्बन्धी रूपलीला—गुण माधुर्य से परिपूरित है एवं उसमें कोई भी वस्तु, प्रसंग ऐसा नहीं जो आस्वादनीय न हो। फल—शब्द से परम पुरुषार्थत्व अभिप्रेत है। जिस फल को तोता मुख से काट देता है वह अत्यन्त मीठा होता है, ऐसा प्रसिद्ध है। इस फल को भी श्रीशुकदेव मुनि के मुख का सम्बन्ध प्राप्त होने से अतिशय मधुरता का इसमें समावेश है।

विशेषतः श्रीशुकदेवजी जन्म से ही निर्गुण ब्रह्मानुभव में लीन थे एवं जन्म लेते ही माया से बचने के लिए निर्जन वन में चले गये। वहाँ लकड़ी काटने वालों के मुख से, जिन्हें श्रीव्यासदेवजी ने श्रीशुकदेवजी के लिए ही भागवत—गान सिखाकर भेजा था, श्रीभागवत सुनते ही ब्रह्मानन्दानुभव को त्यागकर श्रीव्यासदेवजी के पास श्रीभगवत्—रस का आस्वादन करने के लिए खिंचे चले आये। अतः यह परम मधुरातिमधुर है। परमास्वादनीय है। किन्तु इसके अधिकारी ज्ञानी, कर्मी तथा योगीगण नहीं हैं। इसलिए सम्बोधन में कहा है, हे भावुकाः—परममंगलमयी भक्ति के पात्र भक्ति—रस के तत्त्वज्ञजन ! आप ही इसके अधिकारी हैं, आप इसे बार—बार आस्वादन कीजिए। यह रस स्वयं भगवान् श्रीनारायण ने श्रीब्रह्माजी को, श्रीब्रह्माजी, ने नारदजी को, उन्होंने श्रीव्यासजी को तथा उन्होंने श्रीशुकदेवजी को आस्वादन कराया है। उनकी कृपा से यह परमोत्कृष्ट रस पृथ्वी पर आया है। अतः जिन लोगों की श्रीमद्भागवत में श्रद्धा नहीं, रुचि नहीं, वास्तव में वे लोग चाहे कितने भी रसिक—अनन्य क्यों न बनें, वे अरसज्ञ हैं, भक्ति—रस से सर्वथा अनभिज्ञ हैं एवं वे भक्ति—रसवेत्ता गुरु—परम्परा से भी बहिष्कृत हैं।।२२६—२२७।।

अथ सजतीयाशयस्निग्ध श्रीभगवद्भक्तसंगो (६२), यथा प्रथमे (१.१८.१३)—

१७८—तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्संगिसंगस्य मर्त्यानां किमुताशिषः।।२२८।।

हरिभक्तिसुधोदये–

१७६–यस्य यत्संगतिः पुंसो मणिवत्स्यात् स तद्गुणः।
स्वकुलदर्ध्यै ततो धीमान् स्वयूथ्यानेव संश्रयेत्।।२२६।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*भगवदिति, भगवति संग आसक्तिः स नित्यं विद्यते यस्य तस्य यः संगस्तस्य लवेनापि स्वर्गादिकं न तुलयामेति तत्प्रशंसया स्वस्य तत्समानवासनत्वं दर्शितं, तच्चान्येषामपि शिक्षणाय जायत इति; तदेतद् अत्रोदाहृतम्, एतदुपलक्षणत्वेन स्निग्धत्वादिकमपि दृश्यम्, अत्र "क्षणार्द्धेनापि तुलये न स्वर्गमि" त्यादिकं चतुर्थस्य (४।२४।५७) पद्यमप्यनुसन्धेयम्।।२२८।। अत्र सजातीयसंगस्य प्रभावं दृष्टान्तेन स्पष्टयति–यस्य यत्संगतिीति। श्रीप्रह्लादं प्रति हिरण्यकशिपोर्वाक्यं, तत्र तस्याभिप्रायान्तरेऽपि सामान्यवचनत्वेन स्वाभिप्रायेऽपि तद्योजयितुं शक्यत इति ग्रन्थकृतामभिप्रायः, मणिवत् स्फटिकमणिवदिति संनिहितगुणग्रहणमात्रांशे दृष्टान्तो न तु तदस्थैर्यांशेनापि, स्वयूथ्यान् सजातीयान्।।२२६।।*

● *अनुवाद*–**श्रीमद्भागवत (१।१८।१३) में कथित है, भगवद्भक्तसंग के लेशमात्र के साथ हम स्वर्ग और अपवर्ग (मुक्ति) की तुलना नहीं कर सकते, फिर मरणशील मनुष्य के राज्यादि सम्पत्ति की तो बात ही क्या कहनी ?।।२२८।।**

हरिभक्तिसुधोदय में कहा गया है, जिस पुरुष की जिस पुरुष के साथ संगति होती है, मणि के समान वह उसके गुणों को धारण करने लगता है। इसलिए बुद्धिमान् (भक्त) को चाहिए की वह अपने कुल (भक्तकुल) की वृद्धि के लिए अपने ही यूथ के (सम्प्रदाय के) भक्तों का संग करे।।२२६।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–इस अंग में साधु–संग की महिमा वर्णन की गई है। साधु–संग का तात्पर्य एकमात्र सजातीय अर्थात् अपने भाव, इष्ट वाले भक्त के संग से है। जैसे स्फटिक मणि जिस वस्तु के साथ रख दी जाये उसमें उसी वस्तु का रंग दीखता है, उसी प्रकार यदि सजातीय भक्त का संग साधक करेगा–उसके साथ बैठेगा तो उसमें भी उसके गुणों का, आचरण का रंग चढ़ेगा ही।

स्त्री का संग करना–पास रहना इतना दूषित नहीं जितना स्त्रीसंगियों का संग दूषित एवं निन्दनीय है। कारण कि वे स्त्री–संगी हर समय स्त्री–प्रसंग की ही चर्चा करते रहते हैं। उस प्रकार श्रीभगवान् के संग से भी श्रीभगवान् के भक्तों या संगियों का संग अत्यन्त प्रशंसनीय एवं गुणकारी है। कारण कि वे हर समय श्रीकृष्ण–प्रसंग की चर्चा कर जीव की बहिर्मुखता को दूर करते हुए कृष्णस्मृति कराते रहते हैं। उससे जो शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है, उसके सामने स्वर्ग और मुक्ति का सुख भी तुच्छ है।।२२८–२२६।।

अथ नामसंकीर्तनं (६३), यथा द्वितीये (२।१।११)–

१८०–एतन्निर्विद्यमानानामिच्छतामकुतोभयम्।
योगिनां नृप ! निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्तनम्।।२३०।।

आदिपुराणे च–

१८१–गीत्वा तु मम नामिनि विचरेन्मम संनिधौ।
इति ब्रवीमि ते सत्यं क्रीतोऽहं तस्य चार्जुन !।।२३१।।

पाद्मे च–

१८२–येन जन्मसहस्राणि वासुदेवो निषेवितः।
तन्मुखे हरिनामानि सदा तिष्ठन्ति भारत!।।२३२।।

यतस्तत्रैव–

१८३–नामचिन्तामणिः कृष्णश्चैतन्यरसविग्रहः।
पूर्णः शुद्धो नित्यमुक्तोऽभिन्नत्वान्नामनामिनोः।।२३३।।इति।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*निर्विद्यमानानां मुमुक्षूणाम्, इच्छतां कामिनां, योगिनां मुक्तानां, चैतदकुतोभयं न कुतश्चिदपि भयं यत्र तद्रूपं साधनं साध्यं च निर्णीतमित्यर्थः।।२३०।। येन जन्मेति। एतादृशस्याप्यस्य पुनःपुनर्जन्म समुत्कण्ठामय–भक्तिर्वर्द्धनार्थं परमेश्वरेच्छयैव ज्ञेयम्।।२३२।। नामैव चिन्तामणिः सर्वाभीष्टदायकं, यतस्तदेव कृष्णः स्वरूपमित्यर्थः, कृष्णस्य विशेषणानि चैतन्येत्यादीनि, तस्य कृष्णत्वे हेतुः–अभिन्नत्वादिति, एकमेव सच्चिदानन्दरसादिरूप तत्त्वं द्विधाविर्भूतमित्यर्थः; विशेषजिज्ञासा चेत श्रीभागवतसन्दर्भस्य श्रीभगवत्सन्दर्भो दृश्यः।।२३३।।*

● *अनुवाद*–**श्रीमद्भागवत (२।१।११) में नाम–संकीर्तन के विषय में कहा गया है कि जो लोग संसार से विरक्ति पूर्वक एकान्त–भक्त हैं, जो स्वर्ग अथवा मोक्ष की कामना रखते हैं तथा जो आत्माराम योगी हैं, उन सबके लिए श्रीहरिनाम–संकीर्तन का ही बार–बार अनुष्ठान करना परम–साधन एवं साध्य रूप में पूर्वाचार्यगण ने निर्णय किया है।।२३०।।**

आदि–पुराण में वर्णित है, हे अर्जुन ! जो मेरे निकट–मेरे श्रीविग्रह के पास बैठकर मेरे नामों का संकीर्तन करता है, मैं सत्य कहता हूँ वह मुझे खरीद लेता है।।२३१।।

पद्म–पुराण में कहा है, हे भारत ! जिसने हजारों जन्म तक भगवान् श्रीवासुदेव की सेवा की है, उसी के ही मुख में श्रीहरिनाम सदा विराजमान रहते हैं।।२३२।।

वहीं और भी कहा गया है, श्रीनाम ही चिन्तामणि की भाँति सर्वाभीष्ट देने वाला है। नाम–नामी से अभिन्न होने के कारण चैतन्यस्वरूप, पूर्ण अर्थात् अपरिच्छिन्न तथा शुद्ध, माया सम्बन्ध शून्य है। श्रीनाम–नित्यमुक्त कृष्ण–स्वरूप ही है।।२३३।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–समस्त भक्ति–अंगों में सम्राट् महाराजा की भाँति श्रीनामसंकीर्तन है। विरक्त, एकान्त भक्तों, ज्ञानियों–मोक्षकामियों, स्वर्गकामियों एवं आत्माराम योगियों के लिए भी एकमात्र श्रीनामसंकीर्तन ही साधन–साध्यरूप में निर्णय किया गया है। कारण अन्यान्य साधन साध्य से भिन्न होते हैं, किन्तु श्रीनामसंकीर्तन रूप साधन साध्यरूप भगवान् श्रीकृष्ण से सर्वथा अभिन्न है। एक ही सच्चिदानन्द–रस परतत्त्ववस्तु नाम एवं नामी इन दो रूपों में नित्य अभिव्यक्त होकर विराजमान है।

श्लोक सं० २३२ में हजारों जन्मों तक भगवान् श्रीवासुदेव की सेवा की बात कही गई है; शंका उठती है कि भगवान् श्रीवासुदेव की सेवा करते हुए भी क्या

हजारों जन्म लेने पड़ते हैं ?—इसके उत्तर में 'श्रीजीवगोस्वामिपाद' ने कहा है कि भक्ति की वृद्धि के लिए भक्त बार—बार जन्म लेने की प्रार्थना करता है। इसलिए वह बार—बार जन्म लेता है। अन्त में वह परम चरमतमस्वरूपा—भक्ति, प्रेम—सेवा को प्राप्त कर लेता है।।२३०—२३३।।

५१—अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियैः।
सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यदः।।२३४।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*सेवोन्मुखे हीति। सेवोन्मुखे भगवत्स्वरूपतन्नामग्रहणाय प्रवृत्त इत्यर्थः, हि प्रसिद्धौ, यथा मृगशरीरं त्यजतो भरतस्य वर्णितं—"नारायणाय हरये नम" (भा० ५।१४।४५) इत्युदारं, हास्यन्मृगत्वमपि यः समुदाजहारे'ति, यथा च (भा०८।३।१) गजेन्द्रस्य "जजाप परमं जाप्यं प्राग्जन्मन्यनुशिक्षितमित्यादि।।२३४।।*

● ***अनुवाद***—**इसलिए श्रीकृष्णनामादि अर्थात् कीर्तन, श्रवण, पूजादि भक्ति अंग प्राकृत इन्द्रियों—(जिह्वा—कानादि) द्वारा ग्रहण में नहीं आते। (क्योंकि वह भी श्रीकृष्ण—स्वरूप की तरह चिन्मय—अप्राकृत हैं।) जो जिह्वादि इन्द्रियाँ श्रीनाम—सेवा के लिए सम्मुख होती हैं अर्थात् उसे ग्रहण करने के लिए प्रवृत्त होती हैं, श्रीनाम स्वयं ही उन पर आविर्भूत हो उठता है। (जैसे श्रीभरत जब मृग—शरीर को छोड़ने लगे और गजेन्द्र भी जब जल में डूबने लगा, तो उनकी जिह्वाओं पर (पशु होते हुए भी) श्रीभगवन्नाम आविर्भूत हो उठा।।२३४।।**

अथ श्रीमथुरामण्डले स्थितिः (६४), यथा पाद्मे—

१८४—अन्येषु पुण्यतीर्थेषु मुक्तिरेव महाफलम्।
मुक्तैः प्रार्थ्या हरेर्भक्तिर्मथुरायां तु लभ्यते।।२३५।।
१८५—त्रिवर्गदा कामिनां या मुमुक्षूणां च मोक्षदा।
भक्तीच्छोर्भक्तिदा कस्तां मथुरा नाश्रयेद् बुधः।।२३६।।
१८६—अहो मधुपुरी धन्या वैकुण्ठाच्च गरीयसी।
दिनमेकं निवासेन हरौ भक्तिः प्रजायते।।२३७।।इति।।

● ***अनुवाद***—**पद्मपुराण में मथुरा—मण्डल में वास करने का माहात्म्य इस प्रकार वर्णित है, अन्यान्य पुण्य तीर्थों में वास करने का महाफल मुक्ति है। किन्तु जो मुक्त हैं, उनको मथुरा में भगवान् की प्रार्थना करने पर भगवद्भक्ति प्राप्त होती है; अर्थात् मथुरा—मण्डल का वास मुक्तों को भी भक्ति प्राप्त कराने वाला है।।२३५।।**

कामना करने वालों को मथुरा धर्म, अर्थ एवं काम देने वाली है, जो मुक्ति चाहते हैं, उनको वह भक्ति प्रदान करती है। जो भक्ति चाहते हैं, उनको मथुरा भक्ति प्रदान करती है, फिर कौन बुद्धिमान उस मथुरा का आश्रय ग्रहण नहीं करेगा ? अर्थात् बुद्धिमान को अपने अभीष्ट की प्राप्ति के लिए मथुरा—मण्डल में ही वास करना चाहिए।।२३६।।

अहो ! मथुरापुरी धन्य है और वैकुण्ठ—लोक से भी अधिक महिमायुक्त है, क्योंकि वहाँ एक दिन भी निवास करने से श्रीकृष्ण में भक्ति उदय हो जाती है।।२३७।।

इस प्रकार यहाँ तक भक्ति के ६४ अंगों का प्रमाणों सहित वर्णन किया गया है। पिछले जो पाँच अंग वर्णन किये गये हैं, उनकी प्रधानता है और उनका अधिक महत्त्व भी। अतः श्रीगोस्वामिपाद उन पाँचों की विशेष रूप से आगे पुनः विवेचना करते हैं–

५२–दुरूहाद्‌भुतवीर्येऽस्मिन् श्रद्धा दूरेऽस्तु पञ्चके।
यत्र स्वल्पोऽपि सम्बन्धः सद्धियां भावजन्मने।।२३८।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*सद्धियां निरपराधचित्तानाम्।।२३८।।*

● *अनुवाद*–(आगे कहे जाने वाले) इन पाँच अंगों में, जो दर्ज्ञेय एवं अद्‌भुत शक्तिशाली हैं, श्रद्धा तो दूर रही, थोड़ा–सा भी यदि इनका सम्बन्ध हो जाये तो ये उत्तम–बुद्धि वाले अर्थात् अपराध–रहित व्यक्तियों में भक्ति को उदित कर देते हैं। (श्रद्धा की भूमिका न होने पर भी जब इन पाँचों का संग भक्ति को उदित करने वाला है, यदि श्रद्धापूर्वक इनका सेवन किया जाये तो भक्ति के परमलक्ष्य प्रेम की प्राप्ति में क्या सन्देह रह जाता है ?)।।२३८।।

तत्र श्रीमूर्तिः, यथा–

१८७–स्मेरां भंगीत्रयपरिचितां साचिविस्तीर्णदृष्टिं।
वंशीन्यस्ताधरकिशलयामुज्ज्वलां चन्द्रकेण।
गोविन्दाख्यां हरितनुमितः केशितीर्थोपकण्ठे।
मा प्रेक्षिष्ठास्तव यदि सखे ! बन्धुसंगेऽस्ति रंगः।।२३९।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*स्ववाक्यमाधुरीद्वारा पूर्वमेवार्थपञ्चकमनुभावयन्नाह–स्मेरामित्यादि पञ्चभिः, मा प्रेक्षिष्ठा इति। निषेधव्याजेनावश्यक विधिरयं, तदेतन्माधुर्येऽनुभूयमाने स्वयमेव सर्वमेव तुच्छं मंस्यसे, तस्मादेनामेव पश्येरित्यभिप्रायात्।।२३९।।*

● *अनुवाद*–श्रीमूर्ति–महिमा के विषय में इस प्रकार कहते हैं, हे सखे ! यदि तुम अपने बन्धु–बान्धवों से प्रेम रखते हो (या उनके साथ रहना चाहते हो) तो तुम केशीघाट के निकट विराजमान मन्दमुसकराते हुए, ललित–त्रिभंगरूप से परिचित, तिरछी एवं विशाल दृष्टियुक्त, अधर पर बांसुरी धारण किये हुए तथा मोर–पंख के चन्द्रक से विभूषित श्रीगोविन्द नामक श्रीकृष्ण विग्रह को मत देखना।।२३९।। (श्रीगोविन्दजी का माधुर्य ही ऐसा मनाकर्षक है कि घर–बार, बन्धु–बान्धव तो क्या मुक्ति–पर्यन्त को भी दर्शक तुच्छ मानने लगते हैं। गोविन्द–श्रीविग्रह से समस्त भगवत्–विग्रह अभिप्रेत हैं।)

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–उपर्युक्त श्लोक में निषेध के व्याज से श्रीगोविन्द–विग्रह के अवश्य दर्शन करने का विधान किया गया है।।२३९।।

श्रीभागवतं, यथा–

१८८–शंके नीताः सपदि दशमस्कन्धपद्यावलीनां–
वर्णाः कर्णाध्वनि पथिकतामानुपूर्व्याद्भवद्भिः।
हंहो डिम्भाः ! परमशुभदान् हन्त धर्मार्थकामान्,
यद्गर्हन्तः सुखमपि ... मोक्षमप्याक्षिपन्ति।।२४०।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*शंके नीता इति। उपालम्भव्याजेन स्तुतिरियं, श्लोकद्वयीयमप्रस्तुतप्रशंसालंकारमयी, सा च–*

"कार्ये निमित्ते सामान्ये विशेषे प्रस्तुते सति।
तदन्यस्य वचस्तुल्ये तुल्यस्येति च पञ्चधा।।"

इत्युक्तत्वात्; सामान्ये प्रस्तुते विशेषप्रस्तावमय्यपि स्यात्, तदेवमत्र श्रीमूर्तिश्रीभागवतमात्रयोः प्रस्तुतयोस्तत्तीद्वेशेषप्रस्तावः कृतः, स हि तावत्तत्पर्यन्तमहिमज्ञानप्रयोजक इति, किंच पूर्वपद्ये स्मेरामित्यादिना तस्या हरितनोः प्रशंसनात्तत्प्रेक्षणनिषेधे तात्पर्यं नास्तीति, तद्वत्तदुत्तरपद्ये धर्मादीनां परमसुखदानां मोक्षस्य च सुखमयस्य दशमस्कन्धश्रवणजभावेनातिक्रमात्तस्य परमसुखरूपत्वप्राप्त्या; हंहो डिम्भा इत्यत्राधिक्षेपे तात्पर्यं नास्तीति, पद्यद्वयेऽस्मिन्नत्यन्ततिरस्कृतवाच्य–ध्वनिना स्तुतावेव नयनात् स्तुतिश्च सा निन्दाव्याजेनेति व्याजस्तुतिनामाऽलंकारोऽयं गम्यते।।२४०।।

● **अनुवाद–श्रीमद्भागवत की महिमा का निरूपण करते हुए कहते हैं, अरे बालको ! ऐसा जान पड़ता है कि तुमने श्रीभागवत के दशम स्कन्ध की पद्यावलियों (श्लोकों) के वर्णों को क्रम से अपने कर्णरन्ध्रों का पथिक बना लिया है, इसलिए परम–कल्याणप्रद धर्म, अर्थ और काम की निन्दा करते हुए तुम सुखमय मोक्ष का भी निरादर कर रहे हो।।२४०।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–इस श्लोक में भी उपालम्भ के व्याज से श्रीमद्भागवत की प्रशंसा, अलंकारमयी स्तुति गान की गई है; डिम्भो–शब्द का अर्थ बालक होता है और मूर्ख भी। यहाँ वास्तव में मूर्ख अर्थ ही ग्रहणीय है। तात्पर्य यह है कि जो लोग श्रीमद्भागवत की पद्यावलि को सुनकर धर्म, अर्थ काम तथा मोक्ष को सुखमय जानते हैं, वे मूर्ख ही हैं। वहाँ उनके लिए सुखमय विशेषण का प्रयोग कर वास्तव में उन्हें दुःखमय निरूपण किया गया है। स्तुति के व्याज से धर्म मोक्षादि का अतिशय तिरस्कार किया गया है। श्रीमद्भागवत का केवल वर्ण परिचय तो उक्त चतुवर्ग को तुच्छ कर देता है, यदि उसके प्रतिपाद्य विषय का विवेकपूर्वक अथवा भक्ति–तत्त्वज्ञ वैष्णव–मुख द्वारा आस्वादन किया जाये तो परम पुरुषार्थ प्रेम की प्राप्ति तथा भगवत्–चरणसेवा के अतिरिक्त कुछ भी अन्य अभीष्ट नहीं रह जाता।।२४०।।

कृष्णभक्तो, यथा–

१८६–दृगम्भोभिर्धौतः पुलकपटलीमण्डिततनुः,
स्खलन्नन्तःफुल्लो दधदतिपृथुं वेपथुमपि।
दृशोः कक्षां यावन्मम स पुरुषः कोऽप्युपययौ,
न जाने किं तावन्मतिरिह गृहे नाभिरमते।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*इह मदन्तः स्फुरति कस्मिंश्चिदप्यनिर्वचनीये श्यामसुन्दरे मम मतिरभिरमते, गृहे तु नाभिरमत इत्यर्थः।।२४१।।*

● **अनुवाद–प्रेमाश्रुओं से अभिषिक्त, पुलकावली से सुशोभित–तन, स्खलित गति, प्रफुल्लित चित्त, अत्यन्त तीव्र कम्पादि सात्त्विकभावों से युक्त उस**

पुरुष–भगवद्भक्त को जबसे मैंने देखा है, तबसे न जाने मेरा मन घर में क्यों नहीं लगता ? (अर्थात् भगवान् श्रीश्यामसन्दर में ही मेरे मन–बुद्धि रमण कर रहे हैं। भक्त–दर्शन या संग से ऐसी मति–रति हो जाती है)।।२४१।।

नाम, यथा–

१६०–यदवधि मम शीता वैणिकेनानुगीता
–श्रुतिपथमघशत्रोर्नामगाथा प्रयाता।
अनवकलितपूर्वां हन्त कामप्यवस्थां–
तदवधि दधदन्तर्मानसं शाम्यतीव।।२४२।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*शीता कर्णयोस्तापशमनी, वैणिकेनेत्यज्ञातनामत्वात् श्रीनारदस्य तादृशतामात्रेणोद्देशः। तद्वत् कामप्यवस्थामिति प्रेम्ण एवोद्देशः, इवेति वाक्यालंकारे, शाम्यति सर्वं बहिरुपद्रवं परिहृत्य निर्वृतं भवतीत्यर्थः।।२४२।।*

● *अनुवाद*–जबसे वीणावादन करने वाले किसी पुरुष (श्रीनारदजी) द्वारा गायन की गई श्रीकृष्ण की नाम–गाथा मेरे कर्ण–छिद्रों में प्रविष्ट हुई है, तबसे मेरा चित्त किसी एक अनिर्वचनीय अद्‌भुत दशा को प्राप्त हो गया है और समस्त बाहरी विषयों से उपरत अर्थात् शान्त हो गया है।।२४२।।

श्रीमथुरामण्डलं, यथा–

१६१–तटभुवि कृतकान्तिः श्यामलायास्तटिन्याः,
स्फुटितनवकदम्बालम्बिकूजद्द्विरेफा।।
निरवधिमधुरिम्णा मण्डितेयं कथं मे,
मनसि कमपि भावं काननश्रीस्तनोति।।२४३।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*कमपि भावं श्यामसुन्दर–विशेष–विषयम्।।२४३।।*

● *अनुवाद*–श्यामला कालिन्दी के किनारे पर शोभायमान, प्रस्फुटित नवकदम्ब कुसुमों से मधुपावलि से मुखरित तथा असीम माधुर्य–मण्डित यह श्रीवृन्दावन–शोभा क्यों मेरे मन में एक (श्यामसुन्दर–विषयक) अनिर्वचनीय भाव (भक्ति) विस्तार कर रही है ? श्रीवृन्दावन के दर्शन से हृदय में श्रीकृष्ण के प्रति भाव–भक्ति का उन्मेष होने लगता है–यही तात्पर्य है।।२४३।।

५३–अलौकिकपदार्थानामचिन्त्या शक्तिरीदृशी।
भावं तद्विषयं चापि या सहैव प्रकाशयेत।।२४४।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*अलौकिकेति। तेषां पञ्चानामिति प्रकरणाल्लभ्यते, यथा (भा० १०।१२।३६)–"सकृद्यदंग प्रतिमान्तराहिता मनोमयी ददौ भागवतींगतिमिति", (भा० १।१।२) "धर्मः प्रोज्झिते" त्यादौ, किं वा "परैरीश्वरः सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणादिति", (भा० १०.५१.५३) "भवापवर्गो भ्रमत" इति (भा० ६।२।१०) "नामव्याहरणं विष्णोर्यतस्तद्विषया मतिरिति",(भ. र. सि. १.२.२१२) "परानन्दमयी सिद्धिर्मथुरास्पर्शमात्रत" इति पञ्चस्वपि दर्शनात्।।२४४।।*

● ***अनुवाद*–अलौकिक (अप्राकृत) पदार्थों की ऐसी अचिन्त्य शक्ति है कि जिससे वे भाव और उसके विषय दोनों को एक साथ प्रकाशित करते हैं।।२४४।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि पहले किसी वस्तु की महिमा सुनी जाती है, फिर उसके गुणों का अनुभव होता है। उसके बाद उस वस्तु में रति या प्रीति उदित हुआ करती है। किन्तु पूर्वोक्त पाँच श्लोकों में भक्ति के पाँच अंगों का जो माहात्म्य वर्णन किया गया है, उनमें उनके समरण, दर्शन, स्पर्शादि का तत्क्षण ही लाभ प्राप्त होने की बात कही है ऐसा क्यों ? इसका क्या कारण है ?

इस प्रश्न का समाधान किया गया है उक्त श्लोक में। उपर्युक्त श्रीभगवत्–मूर्ति, भागवत–शास्त्र, भगवद्भक्त, भगवन्नाम तथा भगवद्धाम (मथुरामण्डल)–ये पाँचों अलौकिक–अप्राकृत पदार्थ हैं। इनमें अचिन्त्य–शक्ति है, जो प्राकृत मन–बुद्धि के गोचर नहीं हो सकती। अतः इन पाँचों का थोड़ा–सा भी सम्बन्ध प्राप्त हाने पर ये भगवत्भक्ति को तथा भक्ति के विषय भगवान् श्रीकृष्ण को–दोनों को एक साथ प्रकाशित कर देते हैं। भक्ति एवं श्रीभगवान् के स्वरूपज्ञान का तत्काल अनुभव करा देते हैं। इन पाँचों के विषय में श्रीमद्भागवत में पर्याप्त प्रमाण हैं, जिनका उल्लेख संस्कृत टीकाओं में किया गया है।।२४४।।

५४ –केषां चित् क्वचिदंगानां यत्क्षुद्रं श्रूयते फलम्।
बहिर्मुखप्रवृत्त्यैतत्किं तु मुख्यं फलं रतिः।।२४५।।
५५–सम्मतं भक्तिविज्ञानां भक्त्यंगत्वं तु कर्मणाम्।।२४६।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—मुख्यं फलमिति। (भा० २।३।१०) "अकामः सर्वकामो वेत्यादेः। (भा० ५।१६।२६) "सत्यं दिशत्यर्थितमित्यारभ्यः; स्वयं विधत्ते भजतामनिच्छतामित्यादेः, (भा० ६।४।१८) "स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोरि" त्यादौ, "कामं च दास्ये न तु कामकाम्यये" तस्माच्च यद्वा बहिर्मुखप्रवृत्त्या इति, अन्तर्मुखानां तु तत्तदनायासभजनेऽपि कर्मादिदुर्लभफलप्रापकतत्तद्गुणश्रवणेन रत्युत्पादनाद्रतिरेव मुख्यं फलमिति, तदेवं रतिफलत्वेऽप्यंशांशिभगवद्रूपभेदेन रतेरपि भेदो ज्ञेयः।।२४५।। ननु सर्वासां केवलानामेव भक्तीनां माहात्म्यं खलु तादृशमेव किंतु श्रीपराशरेण यदिदमुक्तम्–

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।
विष्णुराराध्यते पन्था नान्यत्तत्तोषकारणम्।।इति।।

तत्र तु कर्मणां भक्त्यंगत्वं प्रतीयते; वर्णाश्रमाचारसंयोगेनैव विष्णोराराधने सम्मतिप्रतीतेः ? तत्राह सम्मतमिति। भक्तिविज्ञानां भक्तिं विशेषतो जानतां शुद्धभक्तानां श्रीपराशरादीनामेवेत्यर्थः, तदुक्तं तैरेव–

"यज्ञेशाच्युत गोविन्द माधवानन्त केशव।
कृष्ण विष्णोहृषीकेशेत्याह राजा स केवलम्।।"
नान्यज्जगाद मैत्रेय ! किञ्चित्स्वप्नान्तरेष्वपि।इति।

वर्णाश्रमाचारेत्यादिकं त्वजातदृढश्रद्धान् शुद्धभक्त्यनधिकारिणः प्रत्येवोक्तमिति भावः।।२४६।।

● ***अनुवाद*–उपर्युक्त ६४ प्रकार के भक्ति–अंगों में किन्हीं भक्ति–अंगों का क्षुद्रफल भी सुना जाता है। वह बहिर्मुख लोगों को भक्ति में प्रवृत्त कराने**

के लिए ही वर्णन किया गया है, किन्तु भक्ति–अंगों का मुख्य फल तो रति अर्थात् भक्ति ही है। कर्मों का भक्ति–अंगत्व भक्तिवेत्ताओं को मान्य ही है।।२४५–२४६।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–किन्हीं भक्ति–अंगों का कहीं–कहीं धर्म, अर्थ, कामादि रूप तुच्छ फल भी वर्णन किया जाता है। भक्ति सब साधनों का फल देने में समर्थ है, यदि कोई स्वर्गभोग सुख अथवा धन–सम्पत्ति या मुक्ति भी चाहता है तो भक्ति उसे भी प्रदान कर देती है। परन्तु भक्ति का मुख्य फल ये तुच्छ पदार्थ नहीं हैं। भक्ति का एकमात्र मुख्य फल है भगवद्–प्रीति। अतः धर्म–अर्थादि जो छोटे–छोटे या तुच्छ पदार्थ भक्ति के फलरूप में कहीं वर्णन किये जाते हैं, वे केवल बहिर्मुख विषयी लोगों को लोभ दिखाकर भक्ति की ओर आकर्षित करने के लिए वर्णन किये जाते हैं। जब वे भक्ति में प्रवृत्त हो जाते हैं, तब वे स्वयं उनसे विरक्त हो जाते हैं।

वर्णाश्रम धर्मों का पालन अथवा नित्य–नैमित्तिक कर्मों का आचरण भी भगवदाज्ञा है। उसके पालन से भी श्रीविष्णु–आराधना ही होती है। जिन साधकों में भक्ति के प्रति दृढ़ श्रद्धा अभी उदित नहीं हुई, उन लोगों के लिए उन कर्मों के करने का अधिकार है, करना आवश्यक भी। जिन पराशरादि मुनियों ने कर्मकाण्ड को भक्ति का अंग कहा है, उन्होंने भी अजातश्रद्ध लोगों को लक्ष्य करके कहा है। कर्मकाण्ड में भक्ति की प्रतीति मात्र है, वास्तव में वह भक्ति नहीं है। इसीका प्रमाण आगे उद्धृत करते हैं–किन्तु जिनमें श्रीकृष्ण–भक्ति के प्रति दृढ़ श्रद्धा उत्पन्न हो आई है एवं (कर्म–ज्ञानादि से अनावृत) शुद्ध–भक्ति के जो अधिकारी हो गये हैं, उनके लिए कर्मों के त्यागने की ही भगवदाज्ञा है; कारण कि वे कर्म–काण्ड के अधिकार से बहुत ऊँचे उठ जाते हैं।।२४५–२४६।।

यथा चैकादशे (११।२०।६)–

१६२–तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते।।२४७।।इति।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*तदेवोपपादयति–यथेति। तस्माद्वर्णाश्रमेत्यस्य चायमेवार्थ, वर्णाश्रमाचारवताऽपि यद्विष्णुराराध्यते सोऽयमेव पन्थास्तत्तोषकारणं नान्यत्किमपि, अत एवोक्तं तेनैव–*

सा हानिस्तन्महच्छिद्रं स मोहः स च विभ्रमः।
यन्मुहूर्त्तं क्षणं वाऽपि वासुदेवं न कीर्तयेद्।। इत्यादि

● *अनुवाद*–**श्रीमद्भागवत (११।२०।६) में श्रीभगवान् ने कहा है, ज्ञान मार्ग के साधक को जब तक इहलोक तथा परलोक के समस्त सुख–भोगों से वैराग्य नहीं हो जाता , तब तक उसे नित्य–नैमित्तिक कर्म करने चाहिए और भक्ति–पथ के पथिक को जब तक मेरी (श्रीकृष्ण) कथा–श्रवण–कीर्तनादि में आत्यन्तिकी श्रद्धा नहीं उत्पन्न हो जाती, तब तक कर्मों का पालन करना चाहिए।।२४७।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–इस श्लोक में कर्मों के अधिकार की अवस्थाओं का वर्णन किया गया है। पूर्ण वैराग्य तथा कृष्ण–कथा श्रवण–कीर्तनादि में पूर्ण श्रद्धा; जब तक इन अवस्थाओं तक ज्ञान एवं भक्ति का साधक नहीं पहुँचता तब तक वर्णाश्रम धर्मों के पालन करने की आज्ञा है, उसके बाद नहीं। उसके बाद तो श्रीभगवान् ''सर्वधर्मान् परित्यज्य''–समस्त धर्मों को त्यागने की आज्ञा करते हैं। इन अवस्थाओं में पहुँचकर फिर भी जो कर्मों में लगा रहेगा, वह भगवदाज्ञा का उल्लंघन करता है और वह दोषी है।।२४७।।

५६–ज्ञानवैराग्ययोर्भक्तिप्रवेशायोपयोगिता।
ईषत्प्रथममेवेति नांगत्वमुचितं तयोः।।२४८।।
५७–यदुभे चित्तकाठिन्यहेतू प्रायः सतां मते।
सुकुमारस्वभावेयं भक्तिस्तद्धेतुरीरिता।।२४९।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*ज्ञानमत्र त्वम्पदार्थविषयं, तत्पदार्थविषयं तयोरैक्यविषयं चेति त्रिभूमिकं ब्रह्मज्ञानमुच्यते, तत्रेषदिति। ऐक्यविषयं त्यक्त्वेत्यर्थः, वैराग्यं चात्र ब्रह्मज्ञानोपयोग्येव; तत्र चेषदिति भक्तिविरोधि त्यक्त्वेत्यर्थः, तच्च तच्च प्रथममेवेत्यन्यावेशपरित्यागमात्राय ते उपादीयेते, तत्परित्यागेन जाते च भक्तिप्रवेशे तयोरकिञ्चित्करत्वात् तत्तद्भावनाया भक्तिविच्छेदकत्वाच्च।।२४८।। उत्तरतस्तु तयोरनुगतौ दोषान्तरमित्याह–यदुभे इति। काठिन्यहेतुत्वं च नानावादनिरसनपूर्वकतत्त्वविचारस्यदुःखसहनाभ्यासपूर्वकवैराग्यस्य च रूक्षस्वरूपत्वात्, तर्हि सहायं विनोत्तरोत्तरभक्तिप्रवेशः कथं स्यात् ? तत्राह–भक्तीति। तस्य भक्तिप्रवेशस्य हेतुर्भक्तिरीरिता, उत्तरोत्तरभक्तिप्रवेशस्य हेतुः पूर्वपूर्वभक्तिरेवेत्यर्थः। ननु भक्तिरपि तत्तदायाससाध्यत्वात्काठिन्यहेतुः स्यात् ? तत्राह–सुकुमारस्वभावेयमिति। श्रीभगवन्मधुररूपगुणादि भावनामयत्वादिति, तस्माद्भगवति निजचित्तस्य सार्द्रतां कर्त्तुमिच्छना भक्तिरेव कार्येति भावः। प्राधान्येन च तथोक्तं श्रीमत्प्रह्लादेन (भा० ७।९।४९–५०)–*

नैते गुणा न गुणिनो महदादयो ये सर्वे मनःप्रभृतयः सह देवमर्त्त्याः। आद्यान्तवन्त उरुगाय ! विदन्ति हि त्वामेवं विविच्य सुधियो विरमन्ति शब्दात्।। तत्तेऽर्हत्तम् ! नमःस्तुति कर्मपूजा कर्मस्मृतिश्चरणयोः श्रवणं कथायाम्। संसेवया त्वयि विनेति षडंगया किं भक्ति जनः परमहंसगतौ लभेत।।इति।। अत्र कर्म परिचर्या, कर्मस्मृतिः लीलास्मरणं चरणयोरिति भक्तिव्यंजकं। तच्च षट्स्वप्यन्वितं, तथा संसेवया विनेति वैराग्यादिकमपि नादृतम्।।२४९।।

● ***अनुवाद*–भक्ति से पहले ज्ञान और वैराग्य की कुछ थोड़ी–सी उपयोगिता भक्ति में प्रवेश करने के लिए होती है, किन्तु इन दोनों को भक्ति का अंग मानना उचित नहीं है।।२४८।।**

क्योंकि ज्ञान और वैराग्य दोनों चित्त को प्रायः कठोर बनाने वाले हैं; ऐसा तत्त्वज्ञ सज्जनों का मत है। इसलिए कोमल स्वभाव वाली भक्ति ही भक्ति का कारण निरूपण की गई है।।२४९।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–ज्ञान से यहाँ ब्रह्म–जीव का एकता विषयक ज्ञान ही अभिप्रेत है। ब्रह्म–जीव का ऐक्य–ज्ञान भक्ति–मार्ग में सदा परित्यज्य है। वैराग्य से यहाँ उस वैराग्य से तात्पर्य है जो ब्रह्म–ज्ञान के उपयोगी होता है। अतः इन दोनों का त्याग करना ही विधेय है। ज्ञान अर्थात् भगवत् स्वरूप ज्ञान तथा जीव के स्वरूप का ज्ञान तथा विषयों से वैराग्य की उपयोगिता इसलिए भक्ति से पूर्व कही गई है कि साधक का देह–दैहिक एवं सांसारिक पदार्थों से आवेश या आसक्ति दूर हो और वह भक्ति की ओर अग्रसर हो सके। अन्यावेश के छूटने पर ही भक्ति में प्रवेश होता है, फिर ज्ञान एवं वैराग्य तुच्छ हो जाते हैं, विशेषतः भक्ति में विघ्नकारी हो जाते हैं।

ज्ञान एवं वैराग्य तर्क–वितर्क अनेक वादों के खण्डन पूरक होते हैं और दुःख सहन करने का भी अभ्यास इनमें रहता है। विशेषतः वैराग्य तो बिल्कुल रूखा होता है, उसमें रस एवं मधुरता नाम की कोई वस्तु नहीं रहती। अतः इन दोनों को कठोर–चित्त कहा गया है। भक्ति में प्रवेश पूर्व में आचरण की गई कोमल स्वभाव भक्ति से ही होता है। एक शंका और भी यहाँ उठती है, भक्ति को जब ज्ञान और वैराग्य की साधिका कहा गया है, तब भक्ति को इनकी कठोरता का कारण भी कहा जा सकता है ?

उत्तर में कहते हैं कि भक्ति अतिशय कोमल स्वभावा है। श्रीभगवान् के मधुर रूप गुणादि–युक्त भावनामयी है। वह ज्ञान के साध्य मुक्ति की तथा तद्ज्ञान के उपयोगी वैराग्य की साधिका है न कि कठोरता की। श्रीभगवान् में अपने चित्त को रसाभिषिक्त करने के लिए भक्ति का आचरण ही विधेय है। इस विषय में श्रीमद्भागवत का एक श्लोक उद्धृत करते हैं–

यथा तत्रैव (भा० ११।२०।३१)–

१६३–तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह।।२५०।।इति।।

● *अनुवाद*–श्रीमद्भागवत (११।२०।३१) में श्रीभगवान् ने कहा है,'इसलिए जो भक्त मेरी भक्ति में संलग्न है, मेरे चिन्तन में लीन है, उसके लिए ज्ञान एवं वैराग्य प्रायः कल्याणकारी नहीं होते; अर्थात् उसके भक्ति–पथ में विघ्नकारी ही होते हैं।।२५०।।

५८–किंतु ज्ञानविरक्त्यादिसाध्यं भक्त्यैव सिध्यति।।२५१।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*ज्ञानसाध्यं मुक्तिलक्षणं, वैराग्यसाध्यं ज्ञानं तत्तच्च भक्त्यैव सिध्यति।।२५१।।*

● *अनुवाद*–किन्तु ज्ञान तथा वैराग्यादि के साध्य अर्थात् मोक्ष और ज्ञानोपयोगी वैराग्य को भक्ति प्राप्त करा देती है; अर्थात् भक्ति की सहायता से वैराग्य का फल ज्ञान और उस ज्ञान का फल मोक्ष अनायास प्राप्त हो जाते हैं।।२५१।।

तथा तत्रैव (भा० ११।२०।३२—३३)—

१६४—यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्।
योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि।।२५२।।
१६५—सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जा।
स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथंचिद्यदि वाञ्छति।।२५३।।इति।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*इतरैः सालोक्यादिकामनामयभक्त्यादिभिः, कथं चिद्भक्त्युपयोगित्वेन, तथा चित्रकेतोर्विमानचारित्वे, गर्भस्थशुकदेवस्य मायात्यागे, प्रह्लादस्य भगवत्पार्श्वगमने वाञ्छा। यथोक्तं षष्ठे (१७।३)—रेमे विद्याधरस्त्रीभिर्गापयन् हरिमीश्वरमिति। ब्रह्मवैवर्त्ते श्रीकृष्णं प्रति शुकदेवस्य प्रार्थना—*

त्वं ब्रूहि माधव ! जगन्निगडोपमेया,
मायाऽखिलस्य न विलङ्घ्यतमा त्वदीया।
बध्नाति मां न यदि गर्भमिमं विहाय,
तद्यामि सम्प्रति मुहुः प्रतिभूस्त्वमत्र।।इति।।
सप्तमे श्रीमत्प्रह्लादस्यैव वाक्यं (९।१६)—
त्रस्तोऽस्म्यहं कृपणवत्सल ! दुःसहोग्र—
संसारचक्रकदनाद् ग्रसतां प्रणीतः।
बद्धः स्वकर्मभिरुशत्तम ! तेऽङ्घ्रिमूलं—
प्रीतोऽपवर्गमरणं ह्वयसे कदा नु।।इति।।

दुःसहं यदुग्रं संसारचक्रकदनं दुःखं, तस्मादहं त्रस्तोऽस्मि। दुःसहेति त्वद्बहिर्मुखतामयत्वादिति भावः, तत्रापि ग्रसतां त्वद्भक्तेः सर्वंगिलानामसुराणां मध्ये स्वकर्मभिर्बद्धः मन् प्रणीतो निक्षिप्तोऽस्मि, ततो हे उशत्तम ! प्रीतः सन् ते तवाङ्घ्रिमूलं चरणारविन्दयोर्नित्याधिष्ठानं श्रीवैकुण्ठं प्रति कदा नु ह्वयसे।।२५२—२५३।।

● *अनुवाद*—**जो फल यज्ञादि कर्मों से, तप से, ज्ञान से, योग से, दान से, धर्मों से अथवा अन्य शुभ—आचरणों से मिलता है, उस समस्त को मेरा भक्त मेरे भक्ति—योग से अनायास प्राप्त कर लेता है। यदि वह किसी प्रकार से स्वर्ग, मोक्ष तथा मेरे धाम को चाहता है, उन्हें भी मेरी भक्ति से वह तुरन्त प्राप्त कर लेता है।।२५२—२५३।।**

५६—रुचिमुद्वहतस्तत्र जनस्य भजने हरेः।
विषयेषु गरिष्ठोऽपि रागः प्रायो विलीयते।।२५४।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*ननु पूर्वं भक्तिप्रविष्टस्य वैराग्यं चित्तकाठिन्यहेतुतया हेयत्वेनोक्तं; तर्हि तस्य विषभोग एवं विहितः, तच्च।*

विषयाविष्टचित्तानां कृष्णावेशः सुदूरतः।
वारुणीदिग्गतं वस्तु व्रजन्नैन्द्रीं किमाप्नुयात्।।

इत्यादिशास्त्रविरुद्धम्। अत्रोच्यते भक्तौ रुचिमात्रमेव तस्य विषयरागविलापकं तस्माद्वैराग्याभ्यासकाठिन्यं न युक्तमित्याह—रुचिमिति। अत्र रुचिमुद्वहतः प्रायो विलीयत इति; परिणामतस्तु कात्स्न्र्येनैव विलीयत इत्यर्थः, तदेतदुपलक्षणमुक्तं ज्ञानं च भवतीत्यस्य (भा० १।२।७)—

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम्।।इत्यादेः

● *अनुवाद*—श्रीभगवान् के भजन में रुचि रखने वाले व्यक्ति का विषयों के प्रति प्रबल अनुराग या आसक्ति भी प्रायः समाप्त हो जाती है।।२५४।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—पहले यह कहा गया है कि भक्तिप्रविष्ट व्यक्ति के लिए वैराग्य चित्त की कठोरता उत्पन्न करता है, परन्तु विषय–भोग भी तो भक्त के लिए विधेय नहीं है। वैराग्य भी न करे, विषय–भोग भी न करे तो कर्त्तव्य क्या है ? उत्तर यह है कि श्रीहरि–भजन में जिसकी रुचिमात्र उत्पन्न होती है, उसकी विषयासक्ति गम्भीर होते हुए भी भजन–प्रभाव से उसके चित्त को पराभूत नहीं कर सकती। भक्ति में प्रवेश के समय विषयों में थोड़ी–बहुत आसक्ति रहते हुए भी भक्ति की परिपक्व अवस्था में वह पूर्णतया नष्ट हो जाती है। तात्पर्य यह है कि वैराग्य से भक्ति नहीं होती, बल्कि भक्ति से ही वैराग्य उदय होता है एवं अहैतुक ज्ञान उदित हो आता है।।२५४।।

६०–अनासक्तस्य विषयान् यथाऽर्हमुपयुञ्जतः।
निर्बन्धः कृष्णसंबन्धे युक्तं वैराग्यमुच्यते।।२५५।।

६१–प्रापञ्चिकतया बुद्ध्या हरिसम्बन्धिवस्तुनः।
क्षुभिः परित्यागो वैराग्यं फल्गु कथ्यते।।२५६।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*तत् प्रागुक्तं भक्तिप्रवेशयोग्यमेव वैराग्यं व्यनक्ति– अनासक्तस्येति। अनासक्तस्य सतः यथा स्वभक्त्युपयुक्तमात्रं यथा स्यात्तथा विषयानुपयुञ्जतो भुञ्जानस्य पुरुषस्य यद्वैराग्यं तद्युक्तमुच्यते, अत्र कृष्णसंबन्धे निर्बन्धः स्यादित्यर्थः।।२५५।। अथ फल्गु वैराग्यं तु भक्त्यनुपयुक्तं तत्तदेव ज्ञेयं, तच्च भगवद्बहिर्मुखाणामपराधपर्यन्तं स्यादित्याह, प्रापञ्चिकतयेति। हरिसम्बन्धि वस्त्वत्र तत्प्रसादादि; तस्य परित्यागो द्विविधः–अप्रार्थना प्राप्तानंगीकारश्च, तत्रोत्तरस्तु सुतरामपराध एव ज्ञेयः, "प्रसादाग्रहणं विष्णोरित्यादिवचनेषु तच्छ्रवणात्।।२५६।।*

● ***अनुवाद***—**विषयों में आसक्ति–रहित होकर अपनी भक्ति के अनुकूल यथा–उपयुक्त विषय–भोग करते हुए श्रीभगवान् की भक्ति के सम्बन्ध में विशेष आग्रह रहना 'युक्त–वैराग्य' कहलाता है।।२५५।।**

मुक्ति की इच्छा रखने वालों का दिखावटी रूप से केवल बुद्धि द्वारा भगवत् सम्बन्धी वस्तुओं का जो त्याग है, "फल्गु–वैराग्य" कहलाता है।।२५६।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—वैराग्य दो प्रकार का है– 'युक्त–वैराग्य–तथा 'फल्गु–वैराग्य। युक्त–वैराग्य तो भक्तिप्रवेश के उपयुक्त रहता है। युक्त–वैराग्य में भगवत् सम्बन्धी किसी वस्तु से वैराग्य नहीं होता। अनासक्त रहते हुए भक्ति–उपयुक्त विषयों को भक्त ग्रहण करता है। किन्तु जो मुक्ति चाहने वाले हैं, उनका वैराग्य दिखावटी होता है, वह फल्गु–वैराग्य है, जो भक्ति के अनुपयुक्त होता है बल्कि भगवान् के प्रति अपराधजनक भी। ऐसे लोग भगवत् प्रसादी वस्तुओं का भी त्याग करते हैं। भगवत् प्रसादी वस्तुओं का त्याग भी दो प्रकार का है–एक तो

यह कि भगवत्–प्रसादी वस्तु के लिए कभी कामना ही न की जाय। दूसरा यह कि भगवत्–प्रसादी वस्तु स्वतः प्राप्त होने पर भी उसे अंगीकार न करना, उसका त्याग कर देना। दूसरे प्रकार का जो त्याग है; वह अति अपराधजनक है। इस प्रकार के वैरागी मुमुक्षुओं का अधःपतन हो जाता है, मुक्ति की बात तो बहुत दूर रही। ।२५५–२५६ ।।

६२–प्रोक्तेन लक्षणेनैव भक्तेरधिकृतस्य च।
अंगत्वे सुनिरसतेऽपि नित्याद्यखिलकर्मणाम् ।।२५७ ।।
६३–ज्ञानस्याध्यात्मिकस्यापि वैराग्यस्य च फल्गुनः।
स्पष्टताऽर्थं पुनरपि तदेवेदं निराकृतम् ।।२५८ ।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*प्रोक्तेनेति द्वयोरप्यन्वयः, अधिकृतस्य भक्तिशास्त्राधिकारेण व्याप्तस्य; वैराग्यस्य वैराग्यमात्रस्य विशेषतः फल्गुन इत्यर्थः ।।२५७ ।।*

● ***अनुवाद*–भक्ति के पूर्वोक्त लक्षण और अधिकार के लक्षणों के द्वारा ही नित्य–नैमित्तिक समस्त कर्मों की भक्ति–अंगता का निराकरण किया जा चुका है, फिर भी आध्यात्मिक–ज्ञान और फल्गुवैराग्य की भक्ति–अंगता का पुनः निराकरण स्पष्टरूप से यहाँ किया गया है। ।२५७–२५८ ।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–उत्तमा–भक्ति के लक्षणों का निरूपण करते हुए **"अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्"** श्लोक (सं० ११) में कह आये हैं कि ज्ञान–कर्म, योग वैराग्यादि का मिश्रण जिसमें नहीं होता, वही उत्तमा–भक्ति है। फिर द्वितीय लहरी में भक्ति के अधिकारी का निरूपण करते हुए भी "नातिसक्तो न वैराग्यभागस्य"–इत्यादि श्लोक (सं० १४) में कहा जा चुका है कि भक्ति का वही अधिकारी है जो न तो अति विषयासक्त है और न अति वैराग्यवान् है। अतः यहाँ पुनः उस ज्ञान तथा वैराग्य के लक्षण करके स्पष्टीकरण किया गया है कि ज्ञान एवं वैराग्य भक्ति के अंग नहीं हैं। इनसे भक्ति उदित नहीं होती बल्कि भक्ति से इनके फलों की प्राप्ति भी अनायास की जा सकती है। ।२५७–२५८ ।।

६४–धनशिष्यादिभिर्द्वारैर्या भक्तिरुपपाद्यते।
विदूरत्वादुत्तमताहान्या तस्याश्च नांगता ।।२५६ ।।
६५–विशेषणत्वमेवैषां संश्रयन्त्यधिकारिणाम्।
विवेकादीन्यतोऽमीषामपि नांगत्वमुच्यते ।।२६० ।।
६६–कृष्णोन्मुखं स्वयं यान्ति यमाः शौचादयस्तथा।
इत्येषां च न युक्ता स्याद्भक्त्यंगान्तरपातिता ।।२६१ ।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*धनेति। "ज्ञानकर्माद्यनावृतमि" त्यादिग्रहणेन शैथिल्य–स्यापि ग्रहणादिति भावः। नांगतेति। अत्रोत्तमायामिति शेषः ।।२५६ ।।*

● ***अनुवाद*–धन और शिष्य आदि के द्वारा जो भक्ति उपपादन अर्थात् स्थापन होती है, वास्तविक–भक्ति से दूर होने से और उत्तमा–भक्ति की श्रेणी से गिर जाने से वह भी भक्ति के अंगों में नहीं गिनी जाती। ।२५६ ।।**

भक्ति के अधिकारियों के जो विवेकादि विशेषण–रूप में वर्णन किये गये हैं, उनको भी भक्ति का अंग नहीं कहा गया है।।२६०।।

यम और शौचादि नियम श्रीकृष्ण–भक्ति परायण साधक में अपने–आप ही आ जाते हैं। इसलिए उनको भी भक्ति–अंगों में गिनना उचित नहीं है।।२६१।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–धन के द्वारा अनेक आयोजन कर अपने में भक्ति को प्रकाशित करना अथवा अनेक शिष्य बनाकर, उन्हें साथ लेकर इधर–उधर घूमना और अपनी भक्ति को प्रसिद्ध या स्थापन करना वास्तविक भक्ति नहीं है। इनमें उत्तमा–भक्ति की हानि ही होती है। अतः इस प्रकार धन और शिष्यों द्वारा जो भक्ति प्रदर्शित की जाती है, वह भक्ति का अंग ही नहीं मानी गई। श्रवण–कीर्तनादि भक्ति अंग ऐसे हैं कि इनमें धन–शिष्यादि की अपेक्षा नहीं रहती, किन्तु सेवा–मूलक जो भक्ति–अंग है, जो बिना धन या अकेले से जिसका सम्पन्न होना असम्भव है, उसमें भक्ति के मुख्यत्व की हानि होती है, सब में नहीं।

इसी प्रकार विवेक, आत्म–अनात्म वस्तु–विचार आदि अनेक लक्षण जो गीतादि शास्त्रों में वर्णित हैं, वे भक्ति के अधिकारी–व्यक्ति के विशेषण हैं, वे भक्ति के अंग नहीं हैं। शम–दम–शौच, अहिंसा, सत्य, आस्तेयादि जो नियम हैं, वे तो भक्ति की ओर अग्रसर होते ही अपने–आप भक्तों में आ जाते हैं। अतः ज्ञान–वैराग्य की तरह वे सब भी भक्ति के अंग नहीं माने गये हैं। तात्पर्य यह है कि धन–शिष्य, विवेकादि तथा शम, दम शौचादि भक्ति के अंग नहीं हैं। इसके प्रमाण में स्कन्द पुराण के श्लोक आगे उद्धृत करते हैं–

यथा स्कान्दे–

१६६–एते न ह्यद्भुता व्याध ! तवाहिंसादयो गुणाः।
हरिभक्तौ प्रवृत्ता ये न ते स्युः परतापिनः।।२६२।।

तत्रैव–

१६७–अन्तःशुद्धिर्बहिःशुद्धिस्तपः शान्त्यादयस्तथा।
अमी गुणाः प्रपद्यन्ते हरिसेवाभिकामिनम्।।२६३।।इति।।

● *अनुवाद*–स्कन्दपुराण में श्रीनारदजी ने कहा है, हे व्याध ! अहिंसादि गुण तुममें जो उदित हो उठे है, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि श्रीहरि की भक्ति में जो प्रवृत्त होते हैं, वे किसी को भी पीड़ा नहीं देते।।२६२।।

आन्तरिक–शुद्धि, बाह्य–शुद्धि, तपस्या तथा शान्ति आदि सब गुण श्रीहरि की भक्ति चाहने वाले व्यक्ति में अपने–आप ही आकर उपस्थित हो जाते हैं।।२६३।।

६७–सा भक्तिरेकमुख्यांगाश्रितानैकांगिकाथ वा।
स्ववासनानुसारेण निष्ठातः सिद्धिकृद्भवेत्।।२६४।।

● *अनुवाद*–भक्ति एक मुख्यांगा भी है और अनेकांगा भी। अतः अपनी वासनानुसार एकांगा अथवा अनेकांगा–भक्ति में निष्ठा प्राप्त हो जाने पर सिद्धि प्रदान करने वाली होती है।।२६४।। (श्रवण–कीर्तनादि मुख्य एकांगाभक्ति के आचरण में दूसरे भी कई अंग गौणरूप में साधित होते रहते हैं।)

आगे एकांगा–भक्ति द्वारा सिद्धि प्राप्त करने वालों के उदाहरण उद्धृत करते हैं–

तत्र एकांगा, यथा ग्रन्थान्तरे–

१९८–श्रीविष्णोः श्रवणे परीक्षिदभवद्वैयासकिः कीर्तने,
प्रह्लादः स्मरणे तदङ्घ्रिभजने लक्ष्मीः पृथुः पूजने।
अक्रूरस्त्वभिवन्दने कपिपतिर्दास्येऽथ सख्येऽर्जुनः,
सर्वस्वात्मनिवेदने बलिरभूत् कृष्णाप्तिरेषां परम्।।२६५।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*तदङ्घ्रिभजन इत्यत्र तथाऽङ्घ्रिभजन इत्येव युक्तम्।।२६५।।*

● *अनुवाद*–श्रीकृष्ण–कथा के श्रवण से राजा परीक्षित् ने, कीर्तन से श्रीशुकदेवजी ने, स्मरण से श्रीप्रह्लाद ने, भगवच्चरण–सेवा से श्रीलक्ष्मी ने, अर्चन से राजा पृथु ने, वन्दन से श्रीअक्रूर ने, दास्य से श्रीहनुमान ने, सख्य से श्रीअर्जुन ने एवं आत्म–निवेदन से बलि महाराज ने श्रीकृष्ण की परम–प्राप्ति की है–अर्थात् भक्ति के केवल एक–एक अंग से इन सबने परम सिद्धि प्राप्त की है।।२६५।।

आगे अनेकांगा–भक्ति के फलप्रदत्व के उदाहरण देते हैं–

अनेकाङ्गा, यथा श्रीनवमे (९।४।१८–२०)–

१९९–स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोर्वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने।
करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये।।२६६।।
२००–मुकुन्दलिंगालयदर्शने दृशौ तभृत्यगात्रस्पर्शेऽगसंगमम्।
घ्राणं च तत्पादसरोजसौरभे श्रीमत्तुलस्या रसनां तदर्पिते।।२६७।।
२०१–पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे शिरो हृषीकेशपदाभिवन्दने।
कामं च दास्येन तु कामकाम्यया यथोत्तमश्लोकजनाश्रया रतिः।।२६८।।इति।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*लिंगानि प्रतिमाः, तुलस्या यस्तस्य पादसरोजयो–रर्पितत्वात्तयोः सौरभविशेषयोगः स्यात्तस्मिन्नित्यर्थः, क्षेत्रं श्रीमथुरादि, पदं तदालयादि तदेतच्च सर्वं तथा चकार यथोत्तमश्लोकजनाश्रया रतिः स्यात्तेषामभिरुचिः स्यात्तथैवेत्यर्थः।।२६७–२६८।।*

● *अनुवाद*–श्रीमद्भागवत (९।४।१८ से २०) में अनेकांग–भक्ति के विषय में इस प्रकार कहा गया है, राजा अम्बरीष ने अपने मन को श्रीकृष्णचन्द्र के चरणकमलों में, वाणी को भगवान् के गुणानुवाद वर्णन में, हाथों को श्रीहरि के मन्दिर के झाड़ने में और अपने कानों को भगवान् श्रीअच्युत के मंगलमय कथा–श्रवण में ही लगा रखा था।।२६६।।

उन्होंने अपने नेत्रों को भगवान् श्रीमुकुन्द–मूर्ति एवं मन्दिरों (मथुरादि भगवद्धामों में, वैष्णवों) के दर्शन में, शरीर के अंगों को भगवद्भक्तों के शरीर–स्पर्श में, नासिका को उनके चरणकमलों पर चढ़ी श्रीमती तुलसी की दिव्य सौरभ में और जिह्वा को श्रीभगवान् के प्रति निवेदित प्रसादान्न में लगा रखा था।।२६७।।

उनके पाँव श्रीभगवान् के क्षेत्रों (ब्रज–मण्डल) की पदलयात्रा में लगे

रहते थे, शिर से वे श्रीभगवान् के (भगवद्भक्तों के) चरणों की वन्दना करते। वे भोग–सामग्री का भोग करते थे केवल दास्य–भाव से और इसलिए कि उन्हें उत्तमः श्लोक श्रीभगवान् का वह प्रेम प्राप्त हो, जो उनके निज–भक्तों में व्याप्त रहता है।।२६८।।

६८–शास्त्रोक्तया प्रबलया तत्तन्मर्यादयान्विता।
वैधी भक्तिरियं कैश्चिन्मर्यादा–मार्ग उच्यते।।२६९।।

● *अनुवाद*–शास्त्रों में कही हुई इस वैधी–भक्ति को (अर्थात् यदि भक्ति में शास्त्रोक्त मर्यादा की ही प्रबलता हो और आरम्भ में वही भक्ति में प्रवृत्ति का कारण हो, तो इसे) कुछ लोग (श्रीवल्लभाचार्यादि) 'मर्यादा–मार्ग' भी कहते हैं।।२६९।।

अथ रागानुगा–

६९–विराजन्तीमभिव्यक्तं व्रजवासिजनादिषु।
रागात्मिकामनुसृता या सा रागानुगोच्यते।।२७०।।
७०–रागनुगाविवेकार्थमादौ रागात्मिकोच्यते।।२७१।।
७१–इष्टे स्वारसिकी रागः परमाविष्टता भवेत्।
तन्मयी या भवेद्भक्तिः साऽत्र रागात्मिकोदिता।।२७२।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*इष्टे स्वानुकूल्यविषये स्वारसिकी स्वाभाविकी परमाविष्टता तस्या हेतुः प्रेममयतृष्णेत्यर्थः सा रागो भवेत्, तदाधिक्यहेतुतया तदभेदोक्तिरायुर्घृतमितिवद्, एवमुत्तरत्रापि तन्मयी तदेकप्रेरिता; तत्प्रकृतवचने मयट्।।२७२।।*

● *अनुवाद*–व्रजवासी–जनों में जो भक्ति सुस्पष्ट भाव से विराजमान है, उसे 'रागात्मिका–भक्ति' कहते हैं। उस रागात्मिका–भक्ति का जो अनुगमन या अनुसरण करती है उसे 'रागानुगा–भक्ति' कहते हैं।।२७०।।

इस रागानुगा–भक्ति को अच्छी प्रकार से समझने के लिए पहले रागात्मिका–भक्ति का (कुछ) परिचय देते हैं।।२७१।।

इष्ट (श्रीकृष्ण) में स्वाभाविकी जो एक प्रेममयी तृष्णा है, उसके कारण इष्ट में परमाविष्टता या आवेश हुआ करता है। उस प्रेममयी–तृष्णा का नाम है 'राग'। रागमयी भक्ति को 'रागात्मिका–भक्ति' कहते हैं।।२७२।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–द्वितीय लहरी के आरम्भ में साधनभक्ति के दो भेद 'वैधी–भक्ति' एवं 'रागानुगा–भक्ति' कहे गये थे। वैधी–भक्ति का सविस्तार वर्णन करने के बाद रागानुगा–भक्ति का वर्णन उपर्युक्त श्लोकों में किया गया है। रागानुग–भक्ति का मूल आधार है रागात्मिका–भक्ति; उसका अनुगमन करने से ही इसका नाम है 'रागानुगा–भक्ति'। अतः रागानुगा को समझने के लिए पहले रागात्मिका–भक्ति का भी यहाँ संक्षिप्त उल्लेख किया गया है। विस्तार पूर्वक वर्णन तीसरी लहरी में किया जायेगा।

इष्टवस्तु (श्रीकृष्ण) में बलवती–तीव्र तृष्णा होना 'राग' का स्वरूपलक्षण है

और इष्टवस्तु में परम आवेश होना राग का तटस्थलक्षण है। ऐसे राग से युक्त जो भक्ति है, उसे 'रागात्मिका' कहते हैं। वह सदा नित्यसिद्ध व्रजपरिकरों–गोप–गोपियों में ही विराजमान है। श्रीकृष्ण–सेवा की तीव्र तृष्णा ही इस रागात्मिका का प्राण है।

किसी सौभाग्यवश जब किसी में श्रीकृष्ण–सेवा का तीव्र लोभ उदित होता है तो वह रागात्मिका–भक्ति का अनुगमन करता है; अर्थात् व्रजपरिकरों का आनुगत्य या अनुसरण करता है। उसकी भक्ति को 'रागानुगा–भक्ति' कहते हैं।

इस भक्ति का प्रवर्तक शास्त्र–शासन नहीं होता, केवल तृष्णा, सेवा लोभ ही इसका प्रवर्त्तक होता है। किन्तु शास्त्र–युक्ति अर्थात् कैसे, किस आचरण से वह पुष्ट होती है, उसकी सदा अपेक्षा रागानुगा–भक्ति में रहती है। यह स्मरण रहे कि शास्त्र–वचन या युक्ति को न मानना रागानुगा–भक्ति नहीं है। शास्त्र, गुरु, वैष्णव–वचनों के अनुशासन में रहकर अपने इष्ट की सेवा के लोभ को परिवर्द्धन करना रागानुगा के लिए अपेक्षाकृत आवश्यक है।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि रागात्मिका–भक्ति के परिकरों का अनुगमन या अनुसरण ही रागानुगा का स्वरूप है, किन्तु अनुकरण नहीं। वास्तव में कृष्णदास–जीव के पक्ष में रागात्मिका–भक्ति का आनुगत्य ही सम्भव है, अनुकरण नहीं। श्रीकृष्ण की स्वरूप–शक्ति के विलास–स्वरूप श्रीनन्द–यशोदा, सुबल–मधुमंगल एवं श्रीराधा–ललितादि नित्य–सिद्ध परिकरों को छोड़कर रागात्मिका–भक्ति किसी को भी आश्रय नहीं करती। अतः व्रजपरिकर श्रीकृष्ण–सन्तुष्टि के लिए सिद्ध परिकर जो सेवा करते हैं, उस सेवा की अनुकूलता विधान करना ही रागानुगा–भक्ति है और इसी में ही जीव–कोटि साधक का अधिकार है। किसी राजा की रानी की दासी बनकर राजा की सेवा–योजना में सहायक होना तो रानी का अनुगमन है, जो प्रशंसनीय है, परन्तु रानी की तरह राजा की सेवा का अनुकरण यदि कोई दासी करती है तो निन्दनीय तथा दण्डनीय भी है। इस प्रकार जो साधक–जीव स्वयं राधा–ललिता, या नन्द–यशोदा, सखा–सखी बनकर श्रीकृष्ण–सेवा विधान करना चाहते हैं, वे अनुगमन नहीं, बल्कि अनुकरण करना चाहते हैं, जो महान् दोष एवं अपराधजनक है।।२७०।२७२।।

७२–सा कामरूपा सम्बन्धरूपा चेति भवेद् द्विधा।।२७३।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*कामेन रागविशेषरूपेण रूप्यते क्रियत इति; तथा सम्बन्धेन तद्धेतुकेन रागविशेषेण रूप्यते क्रियत इति, तत्तप्रेरितेत्यर्थः, यद्यपि कामरूपायामपि सम्बन्धविशेषोऽस्त्येव तथापि पृथगुपादानं सम्बन्ध–प्राधान्यविवक्षया, ''सर्वे समायान्ति राजा चेतिवत्''।।२७३।।*

● ***अनुवाद***–**वह रागात्मिका–भक्ति दो प्रकार की है–१. कामरूपा तथा २. सम्बन्धरूपा।।२७३।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–काम अर्थात् रागविशेष से प्रेरित होकर जिस भक्ति का आचरण होता है, वह *'कामरूपा रागात्मिका'* भक्ति है तथा सम्बन्ध होने

के कारण रागविशेष से प्रेरित होकर जो भक्ति आचरित होती है, उसे *'सम्बन्धरूपा–रागात्मिका'* भक्ति कहते हैं। कामरूपा में भी सम्बन्ध विशेष रहता ही है, परन्तु उसमें सम्बन्ध की प्रधानता नहीं रहती। सम्बन्ध सेवा–वासना के अनुगत रहता है। श्रीव्रजगोपियों की कामरूपा भक्ति है। जिस प्रकार भी हो श्रीकृष्ण को सुखी करना उनकी एकमात्र काम्य–वस्तु है। उसमें वेद–लोकधर्म, आर्यपथ एवं सम्बन्ध आदि की कुछ भी अपेक्षा नहीं है।

सम्बन्धरूपा में सम्बन्ध की मर्यादा की प्रधानता रहती है। दास्य, सख्य एवं वात्सल्य भावों के परिकरों का श्रीकृष्ण से स्वामी, सखा, पुत्र का सम्बन्ध रहता है। उनकी सेवा सम्बन्ध के पीछे–पीछे चलती है। अपने सम्बन्ध की मर्यादा को छोड़कर वे और कोई सेवा नहीं कर सकते और न ऐसी इच्छा ही उनमें उदित होती है।।२७३।।

तथा हि सप्तमे (७।१।२६–३०)

२०२–कामाद् द्वेषाद्भयात्स्नेद् यथा भक्त्येश्वरे मनः।
आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्तद्गतिं गताः।।२७४।।

२०३–गोप्यो कामाद् भयात्कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः।
सम्बन्धाद्वृष्णयः स्नेहाद्यूयं भक्त्या वयं विभो!।।२७५।।इति।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*कामादिति। अत्र स्वरसत एवोत्पद्यमानानां कामादीनां विधातुमशक्यत्वात्तन्मयीनां कथमपि न वैधीत्वम्। यश्च (भा० ७।१।२५) 'तस्माद्वैरानुबन्धेन निर्वैरेण भयेन वा। स्नेहात्कामेन वा युञ्ज्यादिति–लिङ्–प्रत्ययः श्रूयते; सोऽपि सम्भावनायामेव सम्भवति''। (भा० ७।१।३१) तस्मात्केनाप्युपायेनेति त्वभ्यनुज्ञामात्रम्, यथा यथावत्, तद्गतिं तद्रूपं गम्यं प्राप्ताः। तदघमिति तेषां मध्ये यद् द्वेषभययोरघं भवति तदपि तदावेशप्रभावेण हित्वेत्यर्थ न तु कामेऽपीति मन्तव्यम् (भा० १०–२६–१३) "द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताधोक्षजप्रिया इति तस्य कामस्य द्वेषादिगणपातितामुल्लङ्घ्य; स्तुतत्वात्।।२७४।। गोप्य इति। पूर्वरागावस्था ज्ञेयाः, एवं वृष्ण्यादयोऽपि।।२७५।।*

● ***अनुवाद***–**श्रीमद्भागवत (७।१।२६–३०) में श्रीनारदजी ने कहा है, श्रीभगवान् में भक्तिपूर्वक मन लगाकर अनेक भक्तों ने जैसे उत्तमा गति अर्थात् प्रेम प्राप्त किया है, उसी प्रकार काम, द्वेष, भय एवं स्नेह से भी उनमें मनोनिवेश करते हुए, उस आवेश के प्रभाव से द्वेष–भय–जनित पापों को दूर करके अनेकों ने मुक्ति प्राप्त की है।।२७४।।**

व्रजगोपीवृन्द ने काम से, कंस ने भय से, शिशुपालादि राजाओं ने द्वेष से, यादवगण ने सम्बन्ध से तथा आप (पाण्डवों) ने और हमने स्नेहमयी भक्ति से विभु श्रीभगवान् को प्राप्त किया है।।२७५।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–उपर्युक्त श्लोकों में काम, द्वेष, भय, स्नेह, सम्बन्ध तथा भक्ति–इन छः भावों से श्रीकृष्ण में मन निवेश कर उत्तमा गति–प्राप्ति की बात कही गई है। किन्तु द्वेष और भय भक्ति के लक्षणों के विपरीत हैं; क्योंकि भक्ति का लक्षण है अनुकूल–अनुशीलन। स्नेह या तो सख्यभाव रूप होने से

वैधी–भक्ति में आता है, या प्रेम का वाचक होने से साध्य–भक्ति में आता है, जिसका वर्णन साध्य–भक्ति–प्रसंग में करेंगे। भक्ति–शब्द से यहाँ वैधी–भक्ति अभिप्रेत है। अतः यहाँ द्वेष, भय, स्नेह एवं वैधी–भक्ति को छोड़कर केवल काम एवं सम्बन्ध को लेकर कामरूपा और सम्बन्धरूपा दो प्रकार की रागात्मिका–भक्ति स्वीकार की गई है। इस विषय को श्रीग्रन्थकार अगली कारिकाओं में स्पष्ट करते हैं–

द्वेष एवं भय अर्थात् भगवत् प्रतिकूल आचरण से पाप होता है, किन्तु श्रीकृष्ण में निरन्तर मनोनिवेश के कारण कंस–शिशुपाल आदिक का वह पाप भी विनष्ट हो गया। श्रीभगवान् ने उन्हें मुक्ति प्रदान कर दी।

व्रजगोपियों को काम भाव से श्रीभगवान् की प्राप्ति हुई। इस काम में कोई पाप की आशंका नहीं है। कारण, यह प्राकृत–काम आत्मेन्द्रिय सुखपूरक नहीं है। यह काम केवल श्रीकृष्ण–सुखैक तात्पर्यमय है, अलौकिक है। गोपीगण नित्यसिद्ध परिकर स्वरूपा हैं। उनमें यह कामरूप राग नित्य स्वाभाविक रूप में विद्यमान है। अतः यहाँ 'काम'–शब्द से कृष्ण–सेवा की तीव्र–लालसामयी प्रेमाविष्टता ही अभिप्रेत है।।२७४–२७५।।

७३–आनुकूल्यविपर्यासाद् भीतिद्वेषौ पराहतौ।
स्नेहस्य सख्यवाचित्वाद्वैधभक्त्यनुवर्तिता।।२७६।।
७४–किं वा प्रेमाभिधायित्वान्नोपयोगोऽत्र साधने।
भक्त्या वयमिति व्यक्तं वैधी भक्तिरुदीरिता।।२७७।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*तदेवं बहगंत्वे प्राप्ते कामादिद्वयमात्रस्योपादाने कारणान्याह–आनुकूल्येति द्वाभ्याम्। श्रीनारदेन तु अनयोर्भीतिद्वेषयोरुपादानं भक्तौ कैमुत्योपपादनायैव, तदुक्तम् (भा० ११।५।४८)–*

वैरेण ये नृपतयः शिशुपालशाल्व–
पौण्ड्रादयो गतिविलासविलोकिनाद्यैः
ध्यायन्त आहृतधियः शयनासनादौ,
तत्साम्यमापुरनुरक्तधियां पुनः किम्।।इति।।

तथा च व्याख्याततं (१।२।३) सा भक्तिः सप्तमस्कन्धे भंग्या देवर्षिणोदिता इत्यत्र एवमपि; यत्तू (भा० ७।१।२६)–

"यथा वैरानुबन्धेन मर्त्त्यस्तन्मयतामियात्।
न तथाभक्तियोगेन इति मे निश्चिता मतिः।।"

इत्युक्तं, तदपि भावमयकामाद्यपेक्षया विधिमयस्य चित्तावेशहेतुत्वेऽत्यन्तन्यून–त्वमिति व्यञ्जनार्थमेव, येषु भावमयेषूपायेषु निन्दितोऽपि वैरानुबन्धो विधिमय भक्तियोगात् श्रेष्ठ इति। तन्मयता ह्यत्र तदाविष्टता स्त्रीमयः कामुक इतिवत्, स्नेहस्येति, अयमर्थः–पाण्डवानां यः स्नेहः स सख्यरूपरागात्मिकायामेव पर्यवस्यति; तादृशव्यवहारश्रवणात्। तथाऽप्यैश्वर्यज्ञानप्रधानत्वात्तेषां विधिमार्गे प्रधानत्वमेव स्यादिति शुद्धरागानुगायां नोपयोगः, यदि च स्नेहशब्देन प्रेमसामान्यमुच्येत तदा तद्विशेषानभिधानात् तत्तत्क्रिया–निर्धारणाभावेनानुकरणासम्भव इत्येवमत्र रागानुगाख्ये साधने तस्योपजीव्यत्वाभावेन नोपयोगो विद्यते इति, प्रेमविशेषे तु वाच्ये

सम्बन्धरूपायामेव पर्यवसानात्पुनरुक्तत्वमिति च ज्ञेयम्। भक्त्येति पारिशेष्यप्रामाण्येन वैधत्व एव पर्यवसानात्, वैधी भक्तिश्चास्य पूर्वजन्मनि महदुपासनालक्षणा, कामाद् द्वेषादिति पूर्वपद्यानुसारेण पञ्चतयत्वे प्राप्तेऽप्यत्र षट्तयत्वेन व्याख्या श्रीस्वाम्यनुरोधेनैव। वस्तुतस्तु सम्बन्धाद्यः स्नेहस्तस्माद् वृष्णयो यूयं चेत्येकमिति वोपदेवानुसारेण ज्ञेयम्, उभयत्र सम्बन्धस्नेहयोरविशेषात्, एवमेव (भा० ७।१।३१) कतमोऽपि न वेनः स्यात्पञ्चानां पुरुषं प्रति इति सुष्ठु संगच्छेत। पुरुषं भगवन्तं प्रतीत्यस्मिन्नेवार्थे सार्थकता स्यादिति।।२७६–२७७।।

● *अनुवाद*–भक्ति के लक्षण 'आनुकूल्य' के विपरीत होने से (श्लोक संख्या २७४–२७५ में कहे हुए छः भावों में से) भय और द्वेष इन दोनों का निराकरण हो जाता है। स्नेह सामान्यतः सख्यभाव का वाचक होने से वैधी–भक्ति के अन्तर्गत आ जाता है और प्रेम का वाचक होने से साधन भक्ति में उसका उपयोग नहीं है। भक्ति शब्द से श्रीनारदजी ने अपने द्वारा आचरित वैधी–भक्ति का ही स्पष्ट कथन किया है।।२७६–२७७।।

७५–यदरीणां प्रियाणां च प्राप्यमेकमिवोदितम्।
तद्ब्रह्मकृष्णयोरैक्यात्किरणार्कोपमाजुषोः।।२७८।।
७६–ब्रह्मण्येव लयं यान्ति प्रायेण रिपवो हरेः।
केचित् प्राप्यापि सारूप्याभासं मज्जन्ति तत्सुखे।।२७९।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*तत्र तद्गतिं गता (१।२।२७४) इत्युक्तौ सन्देहान्तरं निरस्यति यदरीणामिति। प्रियाणां श्रीगोपीवृष्ण्यादीनाम्, अनयोः किरणार्कोपमाने ब्रह्मसंहिता यथा–*

यस्य प्रभा प्रभवतो जगदण्डकोटि–
कोटिष्वशेषवसुधादिविभूतिभिन्नम्।
तद्ब्रह्म निष्कलमनन्तमशेषभूतं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।।

श्रीभगवद्गीताः (१४।२७) च–"ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहमिति। प्रतिष्ठा आश्रयः। तथैव स्वामिटीका च दृश्या। तच्च युक्तम्, एकस्यापि तस्याधिकारिविशेषं प्राप्य सविशेषाकारभगवत्त्वेनोदयाद् घनत्वं, निर्विशेषाकारब्रह्मत्वेनोदयादघनत्वमिति। प्रभास्थानीयत्वात् प्रभेति ज्ञेयम्, अत एवात्मारामाणामपि भगवद्गुणेनाकर्षणमुपपद्यते, विशेषजिज्ञासा चेच्छ्रीभगवत्सन्दर्भो दृश्यः।।२७८।। अरीणां ब्रह्मगतिमेव विवृणोति–ब्रह्मण्येवेति।।२७९।।

● *अनुवाद*–कंस–शिशुपालादि वैरियों को (द्वेष–भय से) और गोपी आदि प्रियजनों को (स्नेह–सम्बन्ध–कामादि से) एक ही श्रीकृष्ण की जो प्राप्ति पूर्वोक्त श्लोकों (२७४–२७५) में कही गई है, वह किरणों और सूर्य के समान ब्रह्म एवं श्रीकृष्ण के बीच अभेद की भाँति निरूपण की गई है।।२७८।।

श्रीकृष्ण के शत्रु, द्वेष भाव से उनका निरन्तर चिन्तन करने के कारण प्रायः ब्रह्म में लयता अर्थात् सायुज्य–मुक्ति प्राप्त करते हैं और कोई कोई श्रीकृष्ण के स्वरूपाभास को प्राप्त कर उसके सुख में मग्न हो जाते हैं।।२७९।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–पूर्वोक्त श्लोकों (सं० २७४–२७५) में कह आये हैं कि काम, भय, द्वेष, स्नेह, भक्ति एवं सम्बन्ध से जिस प्रकार से भी श्रीकृष्ण में मन–निवेशित किया जाय, श्रीकृष्ण की प्राप्ति होती है। प्रश्न उठता है कि भय–द्वेष करने वाले शत्रुओं को भी जब स्नेह–भक्ति आदि से अनुष्ठान करने वालों के समान एक ही श्रीकृष्ण की प्राप्ति होती है तो शत्रुओं तथा प्रेमियों में फिर भेद क्या रहा ?

इसका समाधान उपर्युक्त कारिकाओं में किया गया है। वास्तव में भय–द्वेष करने वाले कृष्ण–विद्वेषी ब्रह्म–निर्विशेष स्वरूप में लय को प्राप्त करते हैं और प्रेमीजन परब्रह्म सविशेष स्वयं भगवान् के चरणारविन्द की सेवा प्राप्त करते हैं। श्रीकृष्ण ही अद्वयज्ञान परतत्त्व हैं। ब्रह्म उनकी अंग–प्रभा है, जैसे सूर्य एवं उसकी किरण। सूर्य एवं किरण जैसे अभेद माने जाते हैं, वैसे श्रीकृष्ण एवं ब्रह्म की भी अभिन्नता निरूपण की जाती है। श्रीकृष्ण में निखिल–ऐश्वर्य माधुर्य, लीलारस–वैचित्री है, अतः वे रसस्वरूप हैं एवं ब्रह्म निर्विशेष रसवैचित्रीहीन है। अतः श्रीकृष्ण–प्राप्ति एवं ब्रह्म–प्राप्ति का अन्तर अपने आप ही सिद्ध हो जाता है। श्रीकृष्ण की अंग–प्रभा है ब्रह्म। इसके प्रमाण में टीकाकार महानुभावों ने श्रीगीता के–''ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्''–ब्रह्म की प्रतिष्ठा या मूल आधार मैं ही हूँ, इस प्रमाण–वचन के साथ ब्रह्म–संहिता (५।४०) का श्लोक भी उद्धृत किया है।

तद्ब्रह्म निष्कलमनन्तमशेषभूतं गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।।

श्रीब्रह्माजी ने कहा है, अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों में अनन्त पृथ्वी–आदिक विभूतियों के रूप में जो भेद को अर्थात् अनन्तरूपों को प्राप्त हो रहा है, वह पूर्ण, निरविच्छिन्न, मूलकारण प्रभावशाली ब्रह्म जिनकी प्रभा या अंग–कान्ति, है, उन आदि–पुरुष श्रीगोविन्द–श्रीकृष्ण का मैं भजन करता हूँ।

अतः ब्रह्म को किरण–स्थानीय होने से सूर्य–स्थानीय श्रीकृष्ण से अभिन्न मानकर उक्त श्लोकों में शत्रुओं और प्रेमियों का एक ही प्राप्य श्रीकृष्ण कह दिया गया है। वस्तुतः शत्रु प्रायः ब्रह्म में लयता प्राप्त करते हैं, कोई उनके स्वरूपाभास को प्राप्त होते हैं, परन्तु प्रेमपूर्वक भजन करने वाले श्रीकृष्ण के धाम में जाकर उनकी चरणसेवा प्राप्त कर कृतार्थ होते हैं। (इस विषय में विस्तृत आलोचना श्रीभगवत्–सन्दर्भ में द्रष्टव्य है)।।२७८–२७९।।

तथा च ब्रह्माण्डपुराणे–

२०४–सिद्धलोकस्तु तमसः पारे यत्र वसन्ति हि।
सिद्धा ब्रह्मसुखे मग्ना दैत्याश्च हरिणा हताः।।२८०।।इति।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*तत्र पूर्वस्य प्रमाणं निभृतमरुदित्याद्यर्द्धं वक्ष्यत (१।२।२८२) इत्यभिप्रायेणोत्तरस्याह, तथा चेति। तमसः प्रकृतेः।।२८०।।*

● *अनुवाद*–**ब्रह्माण्ड–पुराण में श्रीकृष्ण के शत्रुओं की ब्रह्मलयता का प्रमाण इस प्रकार है, तमोगुण अर्थात् माया के पार सिद्धलोक है, जहाँ ब्रह्म–सुख में मग्न सिद्ध (मुनि) लोग तथा श्रीविष्णु द्वारा मारे गये दैत्य (कृष्ण–विरोधी) लोग निवास करते हैं।।२८०।।**

७७–रागबन्धेन केनापि तं भजन्तो व्रजन्त्यमी।
अङ्घ्रिपद्मसुधाः प्रेमरूपास्तस्य प्रिया जनाः।।२८१।।

तथा हि श्रीदशमे (१०।८७।२३)–

२०५–निभृतमरुन्मनोक्षदृढ़योगयुजो हृदि य–
न्मुनय उपासते तदरयोऽपि ययुः स्मरणात्।
स्त्रिय उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्तधियो।
वयमपि ते समा समदृशोऽङ्घ्रिसरोजसुधाः।।२८२।।इति।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*तत्र प्रियाणां श्रीगोपीनां विशेषमाह रागबन्धेनेति।।२८१।। तत्र ब्रह्मण्येवेति पद्यार्द्धेन रागबन्धेनेति पद्येन च दशमस्थश्रुतिवाक्यं तुलयति–तथा–हीति। निभृतेति। प्रतियुग्मान्तःस्थस्यापिशब्दस्य द्वयेन युग्मद्वयं पृथगवगम्यते; ततश्च हृदि यद्ब्रह्माख्यं तत्त्वं मुनय उपासते तदरयोऽपि स्मरणाद्ययुः, स्त्रियः श्रीगोपसुन्दर्यः तासामेव तथा प्रसिद्धेः, ता अङ्घ्रिसरोजसुधाः तत्प्रेममयमाधुर्याणि ययुर्वयमपि समदृशस्ताभिः समभावाः सत्यः समास्ताभिस्तुलभ्यतां प्राप्ता व्यूहान्तरेण गोप्यो भूत्वा तवाङ्घ्रिसरोसुधा यषिमेत्यर्थः। अर्थविशेषस्त्वस्य दशमटिप्पण्यां वैष्णवतोषणीनाम्न्यां दृश्यः; तथा च वृहद्वामनपुराणे श्रुतिभिः प्रार्थ्य गोपिकात्वं प्राप्तमिति प्रसिद्धः; (१।२।२८१) कारिकायां भजन्त इत्यादिना जनसामान्यनिर्देशस्तु एतदुपलक्षणतया कृतः, तदेवं स्त्रिय इत्यनेन वक्ष्यमाणा कामरूपा, वयमित्यनेन कामानुगा, चोट्टंकिता, तदेतदनुसारेण वृष्ण्यादीनामपि तत्प्राप्तिविशेषो ज्ञेयः।।२८२।।*

● *अनुवाद*–(गोपियों के वैशिष्ट्य को कहते हैं)–श्रीभगवान् की प्रिय व्रजगोपीगण किसी अनिर्वचनीय अनुराग से श्रीकृष्ण का भजन करते हुए उनके चरणकमलों के प्रेमरूप माधुर्य का आस्वादन करती हैं।।२८१।।

श्रीमद्भागवत (१०।८७।२३) में श्रुतियों ने कहा है, प्रभो ! बड़े–बड़े मुनिगण प्राण–मन एवं इन्द्रियों को रोककर दृढ़ योगाभ्यास के द्वारा जिस ब्रह्मतत्त्व की उपासना करते हैं। उनमें प्राप्ति की सम्भावना ही देखी जाती है–आवश्यक नहीं कि उस तत्त्व का उन्हें साक्षात्कार हो ही जाये और शत्रुगण भी उसी तत्त्व को आपके प्रति वैरभाव से आपका स्मरण करते हुए प्राप्त करते हैं। नित्यप्रेयसी गोपीगण आपकी सर्पराज की तरह गोल–विशाल एवं सुकोमल भुजाओं के प्रति (गलकण्ठ होने के लिए) आसक्त रहती हैं और आपके चरणकमलों की जिस सुधा (प्रेममय माधुर्य) को प्राप्त करती हैं, हम श्रुतियों ने भी उनके समभाव को प्राप्त कर अर्थात् उनका आनुगत्य करते हुए व्यूहान्तर में गोपीदेह से उसे प्राप्त किया है।।२८२।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–इस प्रमाण वचन से व्रजगोपियों तथा इसी प्रकार श्रीकृष्ण के अन्यान्य प्रियजनों की कृष्ण–प्राप्ति में तथा शत्रुओं की कृष्ण–प्राप्ति में अन्तर बताया गया है। श्रीव्रजगोपियों की कामानुगा रति का आनुगत्य कर श्रुतियों ने भी गोपीदेह को प्राप्तकर रासलीला में श्रीकृष्ण–चरणारविन्द के प्रेममय माधुर्य का पान किया–यह भी इससे स्पष्ट हो जाता है।।२८१–२८२।।

अब आगे रागात्मिका—भक्ति के 'कामरूपा' तथा 'सम्बन्धरूपा' भेदों की संक्षिप्त विवेचना करते हैं—

तत्र कामरूपा—

७८—सा कामरूपा सम्भोगतृष्णां या नयति स्वताम्।
यदस्यां कृष्णसौख्यार्थमेव केवलमुद्यमः।।२८३।।

७९—इयं तु व्रजदेवीषु सुप्रसिद्धा विराजते।
आसां प्रेमविशेषोऽयं प्राप्तः कामपि माधुरीम्।
तत्तत्क्रीडानिदानत्वात्काम इत्युच्यते बुधैः।।२८४।।

तथा च तन्त्रे—

२०६—प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्।।२८५।।इति।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*तत्र कामरूपेति। कामोऽत्र स्वेष्टविषयरागात्मक-प्रेमविशेषत्वेनाग्रे (१।२।२८४) निरूपणीयः; तदेवाह—सेति। सा प्रसिद्धा प्रेमरूपैवात्र कामरूपा न त्वन्येत्यर्थः, या सम्भोगतृष्णाम्प्रसिद्धं काममपि स्वस्वरूपतां नयति। तत्र प्रेमरूपत्वे हेतुः—यदस्यां कृष्णसौख्यार्थमेव केवलमुद्यम इति।।२८३।। तदेव दर्शयति—इयं त्विति। सुप्रसिद्धत्वं च (१०।३१।१९) "यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु" इत्यादि तद्वाक्यदर्शनात्। नन्वत्र कामरूपाशब्देन कामात्मिकैवोच्यते; सा च क्रियैव, न तु भावः। ततस्तस्यास्तृष्णायाः स्वस्वरूपतानयने सामर्थ्यं न स्याद् ? उच्यते, क्रियाऽपीयं मानसक्रियारूपेण स्वांशेन तत्र समर्था स्यात्; सा च मत्तोऽस्य सुखं स्यादिति भावनारूपेति ज्ञेयम्, एवमेव च स्वतानयनं सिध्यति।।२८४।।*

● ***अनुवाद*—जो गोपियों की सम्भोग—तृष्णा को अपनी सारूप्य—प्राप्ति करा देती है, उसे *'कामरूपा—भक्ति'* कहते हैं, क्योंकि उसमें केवल श्रीकृष्ण के सुख के लिए ही उद्यम किया जाता है।।२८३।।**

वह केवल व्रजदेवियों में अत्यन्त प्रसिद्धरूप में विद्यमान रहती है। उनका यह विशेष प्रेम किसी अनिर्वचनीय माधुरी को प्राप्त कर उस—उस प्रकार की काम—क्रीड़ाओं का कारण बन जाता है। इसलिए रसवेत्ता विद्वानों ने उस प्रेम—विशेष को 'काम' नाम से कहा है।।२८४।।

इसलिए तन्त्र में कहा गया है कि गोपियों का प्रेम ही 'काम' नाम से प्रसिद्ध है।।२८५।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—व्रज में मधुर—भाव या कान्ता—भाव की नित्य परिकर हैं श्रीव्रजगोपीगण। श्रीकृष्ण को सर्वतोभावेन सुखी करने की इनमें परमाविष्टता है, यहाँ तक कि अपनी अंग—सेवा द्वारा भी उनकी प्रीति विधान करने में उन्हें कुछ संकोच नहीं है। श्रीकृष्ण विषयक रागात्मक जो प्रेम—विशेष है, उसी का नाम यहाँ काम है। वह प्रेम उनकी सम्भोग तृष्णा को भी अपनी स्वरूपता प्रदान करता है जिससे वह भक्ति में ही परिगणित होती है। व्रजगोपियों की श्रीकृष्ण के साथ जो क्रीड़ा है, उसकी काम—क्रीड़ा के साथ बाहर से सदृशता है; इसलिए उसे प्रेम—क्रीड़ा न कहकर काम—क्रीड़ा कहा गया है। वह क्रिया भी मानस—क्रिया रूप से प्रेम की स्वरूपता धारण करती है। जो केवल

श्रीकृष्ण का सुख, प्रीति विधान के लिए होती है। उसमें आत्मेन्द्रिय सुख की गन्धमात्र भी नहीं है।

चुम्बन–आलिंगन आदि केवल प्रेम–प्रकाश का एक उपाय मात्र ही हैं, जैसे पिता अपनी कन्या–नातिनी आदि का भी चुम्बन–आलिंगन करता है तथा छोटे–छोटे बच्चे भी प्रेमवश माता–पिता का चुम्बन–आलिंगन करते हैं; वहाँ जैसे काम–गन्ध या पशु–भाव नहीं है, उस प्रकार व्रजगोपियों में प्राकृत–काम की गन्धमात्र भी नहीं है। बल्कि उनका वह प्रेम विशेष श्रीकृष्ण एवं व्रजगोपियों को एक अद्‌भुत अनिर्वचनीय माधुरी का आस्वादन कराता है।।२८३–२८५।।

८०–इत्युद्धवादयोऽप्येतं वाञ्छन्ति भगवत्प्रियाः।।२८६।।

८१–कामप्राया रतिः किन्तु कुब्जायामेव सम्मता।।२८७।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*(भा० १० ।४७ ।५८) "एताः परं तनुभृतः"* इत्यनुसृत्य, *तत्र हेतुमाह–इतीति। एतं एतादृशेन कान्तत्वाभिमानरूपेण भावेनोपलक्षितो यः प्रेमातिशयस्तमेवेति ज्ञेयं; तादृशेन विशिष्टं तमिति तु न ज्ञेयं; मुमुक्षुमुक्तभक्तानामैकमत्ये भावभेदव्यवस्थानुपपत्तेः, तादृशप्रेमातिशय–प्रापकं तद्भावं विनैव हि तत्प्रेमातिशयं वाञ्छन्तीत्येवोक्त्वा तत्प्राप्तिर्नाभिमतेति।।२८६।। कामप्रायेति। "यत्ते सुजातेत्यादिशुद्धप्रेमरीत्यदर्शनात्"। प्रत्युत (भा० १० ।४२ ।६)* उत्तरीयान्तमकृष्येत्यादि *कामरीतिमात्र दर्शनात्; तथाऽपि रतिस्तदुपाधितयांऽशेन ज्ञेया।।२८७।।*

● ***अनुवाद*–इसलिए श्रीभगवान् के प्रिय श्रीउद्धव आदि भी कामरूपा भक्ति की प्रार्थना करते हैं।।२८६।।**

किन्तु काम–प्रधान रति कुब्जा में ही मानी जाती है।।२८७।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–व्रजगोपियों की कामरूपा रागात्मिका–भक्ति अतिशय प्रेम–विशेष का परमतम फल है। जिसकी श्रीउद्धवादि भगवान् के प्रिय भक्त; मुमुक्षु एवं मुक्तजन भी वाञ्छा करते रहते हैं, किन्तु उनके लिए भी प्राप्त नहीं होती। श्रीमद्भागवत (१० ।४७ ।५८) में व्रजगोपियों की कृष्ण–विरह अवस्था को देखकर श्रीउद्धवजी ने कहा था–

एताः परं तनुभृतो भुवि गोपवध्वो
गोविन्द एव निखिलात्मनि रूढ़भावाः।
वाञ्छन्ति यद् भवभियो मुनयो वयं च
किं ब्रह्मजन्मभिरनन्त–कथारसस्य।।

–इस पृथ्वी पर केवल इन व्रजगोपियों का ही शरीर धारण करना श्रेष्ठ एवं सफल है, क्योंकि ये सर्वात्मा भगवान् श्रीकृष्ण के परम प्रेममय दिव्य महाभाव में स्थित हैं। इस परमोत्कृष्ट अवस्था की संसार के भय से भीत मुमुक्षुजन ही नहीं, बड़े–बड़े मुक्त मुनिजन और हम भक्त भी वाञ्छा करते रहते हैं। इसकी प्राप्ति हमें नहीं हो सकती। व्रजगोपियों की तरह यदि श्रीकृष्ण की लीला–कथा रस का चसका नहीं लगा तो महाकल्पों तक बार–बार ब्रह्मा का जन्म पाने का भी क्या लाभ वृथा है ?

इन वचनों से स्पष्ट हो जाता है कि व्रजगोपियों की भक्ति में काम–गन्ध का लेश भी नहीं है, तभी तो मुमुक्षु–मुक्त, मुनि, भक्त तथा ब्रह्मादि तक भी व्रजगोपियों के भाव की सदा वाञ्छा करते रहते हैं।

कुब्जा में काम–प्रधान रति मानी गई है। उसमें भी श्रीकृष्ण को सुखी करने की तृष्णा विद्यमान है, तभी उसकी रति को "साधारणी–रति" कहा गया है। जहाँ कृष्णसुख–वासना न हो उसे रति नहीं कहा जा सकता। अतः कुब्जा में कृष्णसुख–वासना के साथ–साथ स्वसुख–वासना थी, जो प्रधान थी। कृष्णसुख–वासना गाढ़ न होने के कारण उसे 'कामरूपा–भक्ति' कहा गया है।।२८६–२८७।।

सम्बन्धरूपा–

८२–सम्बन्धरूपा गोविन्दे पितृत्वाद्यभिमानिता।
अत्रोपलक्षणतया वृष्णीनां वल्लवा मताः।
यदैश्यज्ञानशून्यत्वादेषां रागे प्रधानता।।२८८।।
८३–कामसम्बन्धरूपे ते प्रेममात्रस्वरूपके।
नित्यसिद्धाश्रयतया नात्र सम्यग्विचारिते।।२८९।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*पितृत्वाद्यभिमानितेति। तत्प्रभवरागप्रेरितेत्यर्थः (१।२।२७५) ''सम्बन्धादवृष्णय' इत्यत्र। वृष्णीनामुपलक्षणतया ये वल्लवाः प्राप्तास्तास्त्रोव अजहल्लक्षणया मताः, ''अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपीति सूत्रे यथा नुम उपलक्षणत्वेनानुस्वारमात्रं गृह्यते तद्वदिति भावः। तत्र हेतुमाह–यदिति। एषां वल्लवानाम्।।२८८।। प्रेममात्रं स्वरूपं कारणं ययोः, नित्यसिद्धाः श्रीव्रजेश्वरादय एवाश्रया मूलस्थानानि ययोस्तयोर्भावस्तत्ता तया हेतुना, अत्र साधनप्रकरणे, न सम्यग्विचारिते किन्तु तत्प्रकरण एव विचारयिष्येते इत्यर्थः।।२८९।।*

● **अनुवाद**–श्रीकृष्ण में पितृत्व–आदि का अभिमान होना अर्थात् मैं श्रीकृष्ण का पिता हूँ, माता हूँ, सखा या दास हूँ–इस प्रकार मानना ही 'सम्बन्ध–रूपा भक्ति' है। 'सम्बन्धादवृष्णयः' (श्लोक २७५) अर्थात् यादवगण ने सम्बन्ध से श्रीकृष्ण को प्राप्त किया है, ऐसा कहा गया है। यहाँ वृष्णियों के उपलक्षणरूप होने से श्रीनन्दादि गोपगणों की सम्बन्धरूपा–भक्ति मानी गई है, क्योंकि इनमें ऐश्वर्यज्ञान न होने से रागरूप विशेष प्रेम की प्रधानता है।।२८८।।

कामरूपा और सम्बन्धरूपा, इन दोनों भक्ति–परिकरों का प्रेममात्र स्वरूप है। कामरूपा–भक्ति के मूल आश्रय जैसे व्रजगोपीवृन्द हैं, उसी प्रकार श्रीनन्द–यशोदादि नित्यसिद्ध सम्बन्धरूपा भाव–भक्ति के मूल–आश्रय हैं। साधनरूपा–भक्ति के प्रसंग में इनका विचार विशेषरूप से नहीं किया गया है प्रकरणानुसार आगे विचार करेंगे।।२८९।।

८४–रागात्मिकाया द्वैविध्याद द्विधा रागानुगा च सा।
कामानुगा च सम्बन्धानुगा चेति निगद्यते।।२९०।।

● *अनुवाद*–रागात्मिका–भक्ति दो प्रकार की होने से रागानुगाभक्ति के भी 'कामानुगा' तथा 'सम्बन्धानुगा'–ये दो भेद कहे गये हैं।।२६०।।

तत्राधिकारी–

८५–रागात्मिकैकनिष्ठा ये व्रजवासिजनादयः।
तेषां भावाप्तये लुब्धो भवेदत्राधिकारवान्।।२६१।।
८६–तत्तद्भावादिमाधुर्ये श्रुते धीर्यदपेक्षते।
नात्र शास्त्रं न युक्तिं च तल्लोभोत्पत्तिलक्षणम्।।२६२।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*तत्तद्भावादिमाधुर्ये श्रीभागवतादिषु सिद्धनिर्देशशास्त्रेषु श्रुते श्रवणद्वारा यत्किञ्चदनुभूते सति यच्छास्त्रं विधिवाक्यं नोपेक्षते युक्तिं च, किंतु प्रवर्त्तत एवेत्यर्थः; तदेव लोभोत्पत्तेर्लक्षणमिति।।२६२।।*

● **अनुवाद**–रागात्मिका–भक्ति में एकमात्र निष्ठावान् व्रजवासियों का श्रीकृष्ण में जो भाव है, उसको प्राप्त करने के लिए जो व्यक्ति लालयित है, वही इस रागानुगा–भक्ति का अधिकारी है।।२६१।।

व्रजवासियों के भाव–माधुर्य को सुनकर बुद्धि उस विषय में शास्त्र एवं युक्ति की कुछ अपेक्षा नहीं रखती; यही इस भक्ति में लोभ–उत्पत्ति का लक्षण है।।२६२।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*– व्रजवासियों अर्थात् व्रजगोपी, नन्द–यशोदा आदिकों की तरह श्रीकृष्ण की सेवा विधान करने के लिए जिसमें लोभ उत्पन्न हो उठता है, वह इस रागानुगा का अधिकारी है। और लोभ–उत्पत्ति का लक्षण यह है कि वह व्यक्ति श्रीमद्भागवत एवं भागवतार्थ–प्रतिपादक रसिक भक्तों के लीला–ग्रन्थों में व्रजवासियों के भाव, उनके रूप–गुण माधुर्य को सुनकर एवं उसका थोड़ा–सा अनुभव कर फिर शास्त्र एवं किसी युक्ति की अपेक्षा नहीं रखता। तत्काल उसमें वह लोभवश प्रवृत्त ही हो जाता है। उसे यह ज्ञान भी नहीं रहता है कि वह शास्त्रविधि या युक्ति का अनुसरण नहीं कर रहा है।।२६१–२६२।।

८७–वैधभक्त्यधिकारी तु भावाविर्भावनावधिः।
अत्र शास्त्र तथा तर्कमनुकूलमपेक्षते।।२६३।।
८८–कृष्णं स्मरन् जनं चास्य प्रेष्ठं निजसमीहितम्।
तत्तत्कथारतश्चासौ कुर्याद्वासं व्रजे सदा।।२६५।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*ननु रागानुगाधिकारिणो रागात्मिकानुगामित्वाद निरवधिरेव तादृशी भक्तिः, वैधभक्त्यधिकारिणस्तु किमवधिर्वैधी भक्तिस्तत्राह वैधभक्तीति। भावो रतिः। तदुक्तं श्रीभगवता (११/२०/३६) न मयेकान्तभक्तानां गुणदोषोद्भवा गुणाः' इति।।२६३।। अथ रागानुगायाः परिपाटीमाह–कृष्णमित्यादिना। सामर्थ्ये सति व्रजे श्रीमन्नन्दव्रजावासस्थाने वृन्दावनादौ शरीरेण वासं कुर्यात्तदभावे मनसापीत्यर्थः।।२६४।।*

● **अनुवाद**–वैधी–भक्ति का अधिकारी व्यक्ति भगवद्–रति के आविर्भाव समय तक शास्त्र तथा अनुकूल तर्क की अपेक्षा करता है।।२६३।।

सम्बन्ध–रागानुगा भक्ति का अधिकारी श्रीकृष्ण का तथा श्रीकृष्ण के प्रिय भक्त का, जो सजातीय हो, स्मरण करते हुए श्रीकृष्ण–कथा में मन लगाकर सदा व्रज में वास करता है, अथवा उसे ऐसा करना चाहिए।।२६४।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–भक्ति के अधिकारी में साधन करते–करते जब भगवत्–रति आविर्भूत नहीं होती, उसमें शास्त्रशासन का भय बना रहता है और वह सब विषय में अनुकूल तर्क भी करता रहता है और रति उदित होने के बाद फिर वह भी शास्त्र एवं युक्ति की अपेक्षा नहीं रखता। किन्तु रागानुगा–भक्ति का अधिकारी व्रजभाव का लोभ उत्पन्न होने पर प्रवृत्ति के आरम्भकाल से कभी भी शास्त्र–शासन एवं युक्ति की अपेक्षा नहीं रखता; यही रागानुगा–भक्ति का महान् उत्कर्ष है। किन्तु रागानुगा–भक्त में भी जब व्रजभाव का लोभ उत्पन्न होता है, तब वह भाव कैसे प्राप्त होगा, उसके लिए उसे शास्त्र का अनुसन्धान तथा उसके शास्त्रोक्त साधन का अनुसन्धान करना अवश्य कर्तव्य हो जाता है। जैसे रसगुल्ले का गुण–स्वाद सुनकर यदि उसके प्रति लोभ उत्पन्न होता है, तो वह कहाँ मिलता है, अथवा कैसे किस सामग्री से बनता है, उसको प्राप्त करने के लिए यह सब अनुसन्धान करना अर्थात्–रसगुल्ला खाने–बनाने वालों से उस विषय में पूछ–ताछ करना आवश्यक होता है। केवल लोभ उत्पन्न होने पर रसगुल्ला की प्राप्ति नहीं हो जाती। अतः रागानुगा–भक्त के लिए भी उस भाव–प्राप्ति के लिए शास्त्र–अनुसन्धान आवश्यक है। शास्त्र–शासन भय से जो भजन है वह तो है वैधी–भक्ति और लाभवश जो शास्त्रानुकूल भजन है वह है रागानुगा–भक्ति।

रागानुगा की परिपाटी है कि अपने प्रियतम इष्ट नन्दकिशोर नन्दनन्दन श्रीकृष्ण का तथा अपने भावानुसार भजन करने वाले कृष्णप्रिय भक्तजन का स्मरण करते हुए एवं उनकी कथा का श्रवण करते हुए श्रीनन्दराज के व्रज अर्थात् श्रीवृन्दावन में सदा वास करना चाहिये, यदि शरीर से व्रजवास सम्भव न हो तो मन द्वारा सदा व्रजवास करे, इससे रागानुगा–भजन पुष्ट होता है।।२६३–२६४।।

८९–सेवा साधकरूपेण सिद्धरूपेण चात्र हि।
तद्भावलिप्सुना कार्या व्रजलोकानुसारतः।।२६५।।
९०–श्रवणोत्कीर्त्तनादीनि वैधभक्त्युदितानि तु।
यान्यंगानि च तान्यत्र विज्ञेयानि मनीषिभिः।।२६६।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*साधकरूपेण यथावस्थितदेहेन, सिद्धरूपेण अन्तश्चिन्तिताभीष्टतत्सेवोपयोगिदेहेन, तस्य व्रजस्थस्य निजाभीष्टस्य श्रीकृष्णप्रेष्ठस्य यो भावो रतिविशेषस्तल्लिप्सुना, व्रजलोकास्त्वत्र कृष्णप्रेष्ठजनास्तदनुगताश्च; तदनुसारतः।।२६५।। वैधभक्त्युदितानि स्वस्वयोग्यानीति ज्ञेयम्।।२६६।।*

● ***अनुवाद*–व्रजवासीजनों के भाव के लालायित व्यक्ति को व्रजलोक के अनुसार, उनकी प्रथा के अनुसार साधक देह से तथा सिद्ध देह से श्रीकृष्ण की सेवा करनी चाहिए।।२६५।।**

वैधी–भक्ति में कहे गये श्रवण–कीर्तनादि अंगों को इस सम्बन्धरूपा रागानुगा–भक्ति में भी मनीषिगण को उपयोगी जानना चाहिए।।२६६।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–रागानुगा–भक्ति के लोभी व्यक्ति को अपने भाव के व्रज–परिकरों के भाव प्रेमविशेष के अनुसार श्रीकृष्ण की सेवा करनी चाहिए। दास्य–भाव के व्यक्ति को दास्य–भाव के परिकर रक्तक–लक्तकादि के, सख्य–भाव के साधक को सख्य–भाव के परिकर दाम–सुदामादि के, वात्सल्य–भाव के साधक को श्रीनन्द–यशोदादि के भावानुसार श्रीकृष्ण की सेवा का आनुगत्य करना चाहिए।

श्रीकृष्ण–सेवा का विधान भी दो रूपों से है। एक तो, साधकदेह से अर्थात् यथावस्थित–शरीर से अपने–अपने भाव के नित्य रागानुगा–भक्ति के परिकरों का आनुगत्य करते हुए सेवा–भजन करना चाहिए। श्रीरूप–सनातनादि व्रजजन का आनुगत्य लेकर अर्थात् उन्होंने जिस भजन–परिपाटी को अपनाया है, उसका अनुसरण करना चाहिए।

दूसरा है सिद्ध–देह से। यथावस्थित–शरीर प्राकृत होने से चिन्मय नित्य भगवद्धाम में साक्षात् सेवा सम्पादन के उपयोगी नहीं है, अतः उसके लिए श्रीगुरुदेव द्वारा एक ऐसे देह का परिचय दिया जाता है, जिसमें वयस, वर्ण–आकृति, वेश–भूषा, निवास–स्थान तथा सेवा का निर्देश मिलता है, उसे *'सिद्ध–देह' या 'अन्तश्चिन्तित–देह'* कहते हैं। भावनामय उस सिद्ध–देह के द्वारा व्रजधाम में अपने भावानुकूल नित्य–परिकरों का आनुगत्य करते हुए श्रीकृष्ण की सेवाविधान की जाती है।

रागात्मिका–भक्ति के जैसे नित्यसिद्ध परिकर हैं, उसी प्रकार रागानुगा–भक्ति के भी नित्यसिद्ध परिकर हैं, जिनका आनुगत्य लेकर सिद्ध–देह से रागानुगा–भक्ति का आचरण किया जाता है। कान्ताभावमयी कामरूपा रागात्मिका–भक्ति के नित्य व्रजपरिकर हैं–श्रीराधा–ललिता–विशाखा–चन्द्रावलि आदि व्रजगोपीगण। रागा–नुगा के नित्य–परिकर हैं श्रीरूपमञ्जरी, श्रीरतिमञ्जरी आदि। अतः कान्ताभावमयी कामरूपा रागानुगा–भक्ति के साधक को श्रीगुरुप्रदत्त किशोरीरूप सिद्धदेह–द्वारा श्रीरूप–रति मञ्जरी आदि का आनुगत्य लेकर श्रीप्रिया–प्रीतम की सेवा विधान करनी चाहिए।

गुरुपादाश्रय आदि जिन अंगों का वर्णन पहले किया जा चुका है, उनके बिना व्रजपरिकरों का आनुगत्य सम्भव नहीं है। बुद्धिमान साधक को अपने भाव के समुचित अंगों का ही आचरण करना होता है, सब अंगों का अथवा भाव–विरुद्ध अंगों का नहीं। अहंग्रह–उपासना, मुद्रा–न्यास, द्वारका–ध्यान, रुक्मिणी–पूजनादि तथा आगम–शास्त्रों में वर्णित ऐसे अनेक अंगों का आचरण व्रज–भावानुरागी साधक के लिए विधेय नहीं है।।२६५–२६६।।

तत्र कामानुगा–

६१–कामानुगा भवेत्तृष्णा कामरूपानुगामिनी।।२६७।।
६२–सम्भोगेच्छामयी तत्तद्भावेच्छात्मेति सा द्विधा।।२६८।।

६३–केलितात्पर्यवत्येव सम्भोगेच्छामयी भवेत्।
तद्भावेच्छात्मिका तासां भावमाधुर्यकामिता।।२६६।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*कामरूपाऽनुगामिनीतृष्णा तदात्मिका भक्तिः कामानुगा भवेत्। सम्भोगेच्छामयी कामप्रायानुगा ज्ञेया, तत्तद्भावेच्छात्मेति। तस्यास्तस्या निजनिजाभीष्टाया व्रजदेव्या यो भावस्तद्विशेषस्तत्र या इच्छा सैवात्मा प्रवर्तिका यस्याः सेति मुख्यकामानुगा ज्ञेया। तथा च दर्शितम् (भा० १०।८७।२३)*–

स्त्रिय उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्तधियो–
वयमपि ते समाः समदृशोऽङ्घ्रिसरोजसुधाः।।इति।।२६८।।

सम्भोगोऽत्र सम्प्रयोगः केलिरपि स एव; भावमाधुर्यस्य कामिता यस्यां सा।।२६६।।

● ***अनुवाद*–कामरूपा रागात्मिका (साध्य–भक्ति) का अनुगमन करने वाली तृष्णा (प्रेम–विशेष) *'कामानुगा–भक्ति'* कहलाती है। वह दो प्रकार की है–१. सम्भोगेच्छामयी तथा २. तद्भावेच्छात्मिकामयी। सम्भोगेच्छामयी का तात्पर्य मुख्यरूप से केलि–क्रीड़ा में होता है और तद्भावेच्छात्मिका में व्रजगोपियों के प्रेम–माधुर्य को ही प्राप्त करने की इच्छा–प्रधान होती है।।२६७–२६६।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–श्रीकृष्ण–प्रेयसी व्रजसुन्दरीगण कामरूपा–रागात्मिका की आश्रय हैं। उनकी आनुगत्यमयी जो भक्ति है, या साधन–भक्ति है, उसे "कामानुगा–भक्ति" कहा गया है। काम का तात्पर्य कृष्णसुखैकतात्पर्यमयी वासना से है। कामानुगा के दो भेद हैं–'सम्भोगेच्छामयी' एवं 'तत्तद्भावेच्छामयी'। केलिविषय–तात्पर्यमयी जो भक्ति है, उसका नाम 'सम्भोगेच्छात्मिकामयी' है और अपनी–अपनी यूथेश्वरी के भाव–माधुर्य की आस्वादन–कामना को 'तत्तद् भावेच्छात्मिकामयी–भक्ति' कहते हैं।

सम्भोगेच्छामयी–कामानुगा में श्रीकृष्ण के साथ सम्भोग की इच्छा रहती है, किन्तु इस भक्ति के साधन से व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण की सेवा–प्राप्ति नहीं होती है। कारण यह कि यदि साधक में सम्भोग इच्छा उदित होती है तो वहाँ स्वसुख–इच्छा है। जहाँ स्वसुख–इच्छा है, वहाँ व्रजजनों का आनुगत्य नहीं रहता। जहाँ व्रजजनों का आनुगत्य कामानुगा में नहीं है, वहाँ नन्दनन्दन श्रीकृष्ण की प्राप्ति कैसी ? अतः ऐसे साधक रुक्मिणी आदि महिषीवृन्द की दासीरूप को प्राप्त करते हैं। महिषीरूप को भी वे प्राप्त नहीं कर सकते, क्योंकि महिषीवृन्द श्रीकृष्ण की स्वरूप–शक्ति हैं और साधक जीव–शक्ति।

तत्तद्भावेच्छात्मिकामयी कामानुगा भक्ति वह है जो श्रीकृष्ण–माधुर्य की कथा अथवा व्रजसुन्दरियों के साथ श्रीकृष्ण की लीलादि की कथा सुनकर व्रजसुन्दरियों के आनुगत्य में लीला–समय श्रीकृष्ण की सेवा के लिए लुब्ध होकर साधन–भजन किया जाता है। इन साधकों के चित्त में कभी भी सम्भोग–इच्छा उदित नहीं होती। साधन की सिद्धि अर्थात् लीला में साक्षात् प्रवेश प्राप्त करने पर भी अपनी तरफ से उनमें सम्भोग–इच्छा उदित नहीं होती। वास्तव में यही कामानुगा मानी गई है। इस विशुद्ध–कामानुगा के साधन भजन से कान्ताभाव की सेवा के उपयुक्त

गोपीदेह की प्राप्ति होती है, इसका पद्मपुराणोक्त प्रमाण आगे कहते हैं।।२९७–२९९।।

६४–श्रीमूर्तेर्माधुरीं प्रेक्ष्य तत्तल्लीलां निशम्य वा।
तद्भावाकाङ्क्षिणो ये स्युस्तेषु साधनताऽनयोः।
पुराणे श्रूयते पाद्मे पुंसामपि भवेदियम्।।३००।।

यथा–

२०७–पुरा महर्षयः सर्वे दण्डकारण्यवासिनः।
दृष्ट्वा रामं हरिं तत्र भोक्तुमैच्छन् सुविग्रहम्।।३०१।।
२०८–ते सर्वे स्त्रीत्वमापन्नाःसमुद्भूताश्च गोकुले।
हरिं सम्प्राप्य कामेन ततो मुक्ता भवार्णवात्।।३०२।।इति।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*श्रीमूर्तेः श्रीकृष्णप्रतिमायाः माधुरीं तत्प्रेयसीभिरपि प्रतिमारूपाभिः सह लीलादिमाधुर्यविशेषं प्रेक्ष्य; तस्यास्तत्तद्भावादिमाधुर्यं निशम्येति श्रुत्वा, केवलं श्रवणं यत् पूर्वमुक्तम्; अत्र तु तस्याः प्रेक्षणेऽपि तस्य श्रवणस्य साहायमवश्यं मृग्यत इत्यभिप्रेतं; यद्विना मूलतत्तद्रूपलीलाद्य–स्फूर्त्तेः, तत्तल्लीलाश्रवणन्तु तत्तप्रेक्षणं विनाऽपि कार्यकरमित्याह–तदिति। अनयोर्द्विविधकामानुगयोः, तेषु साधनता, अतएव तयोरधिकारिण इत्यर्थः।।३००।। पुरेति। महर्षयोऽत्र श्रीगोकुलस्थश्रीकृष्णप्रेयस्यनुगतवासनाः त एव सर्व इत्यर्थः, ते च रामं दृष्ट्वा ततोऽपि सुन्दरविग्रहं हरिं श्रीकृष्णं–भाव्यवतारमपि तत्प्रतिपादकशास्त्रे विद्वत्प्रसिद्धं गोकुले प्रेयस्याभूत्वोपभोक्तुमैच्छन्, मनसा वरं वृण्वते स्म। ते च सर्वे कल्पवृक्षादिव तस्मादवचनेनैव वरं लब्ध्वा देशान्तरगोपीनां गर्भे स्त्रीत्वमापन्नाः सर्वत्र गोकुलनाम्नाऽतिविख्याते श्रीमन्नन्दगोकुले कथंचित्ताभ्य एवागताभ्यः सम्यगुत्पन्ना हरिं ततोऽपि मनोहरं श्रीकृष्णमेव कामेन संकल्पमात्रेण सम्प्राप्य ततस्तदनन्तरमेव मुक्ता भवार्णवादिति; (भा० १०.२९.९)''अन्तर्गृहगताः काश्चिदित्यादिरीत्या ज्ञेयम्।।३०१–३०२।।*

● *अनुवाद*–श्रीकृष्ण–मूर्ति की माधुरी देखकर एवं उनकी लीलाओं को सुनकर उनके प्रति व्रजवासियों के भाव–प्राप्ति की इच्छा जिनमें उदित होती है, सम्भोगेच्छामयी तथा तत्तद्भावेच्छात्मिकामयी; दोनों प्रकार की कामानुगा के वे अधिकारी हैं। पद्मपुराण में उल्लेख है कि कामानुगा–भक्ति केवल स्त्रियों में नहीं, पुरुषों में भी उदित होती है।।३००।।

पूर्वकाल में दण्डकारण्य में रहने वाले समस्त ऋषियों ने मनोहर भगवान् श्रीराम के दर्शन कर उनके साथ रमण करने की इच्छा की। वे सब देशान्तरों में फिर किसी प्रकार गोपीदेह को प्राप्त हुए गोकुल में विवाहित होकर आयी एवं कामानुगा–भक्ति द्वारा श्रीकृष्ण को प्राप्तकर संसार–सागर से पार उतर गये।।३०१–३०२।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–कामानुगा–भक्ति के प्रवेश के द्वार हैं श्रीकृष्ण–माधुरी का दर्शन एवं लीला–कथाओं का श्रवण। श्लोक (२९२) में केवल श्रवण की बात

कही गई थी। यहाँ श्रीकृष्णमाधुर्य के दर्शन की भी अपेक्षा दीखती है। दर्शन किन्तु श्रवण की सहायता चाहता है, क्योंकि श्रवण के बिना रूपलीला–माधुरी की स्फूर्त्ति नहीं होती। किन्तु मूर्ति–दर्शन के बिना केवल श्रवण भी कामानुगा–भक्ति में प्रवेश कराने में भी पूर्ण समर्थ है; श्रवण ही मूल कारण है।।

कामानुगा–भक्ति की अधिकारी केवल स्त्री–जाति नहीं, पुरुष साधक भी इसके अधिकारी हैं। दण्डकारण्य में जब भगवान् श्रीराम पधारे तो उनके रूप–सौन्दर्य के दर्शन करते ही समस्त महर्षियों के मन में श्रीराम के साथ रमण करने की इच्छा उदित हो उठी। श्रीभगवान् के रूपलावण्य का एक स्वाभाविक गुण है कि–

पुरुष–योषित किंवा स्थावर–जंगम।
सर्वचित्ताकर्षक साक्षात् मनमथमदन।।
आपन माधुर्ये हरे आपनार मन।
आपने आपना चाहे करिते आलिंगन।।

श्रीचैतन्यचरितामृत (२/८/११०–१४)

पुरुष हो चाहे स्त्री जड़ चेतन, समस्त जड़–चेतन के मन को श्रीभगवान् का रूप–सौन्दर्य हरण कर लेता है। साक्षात् कामदेव के मन को भी मर्दन करने वाला है। औरों को तो क्या, श्रीभगवान् का रूप–सौन्दर्य श्रीभगवान् के अपने मन को भी हरण कर लेता है और वे आप अपने को आलिंगन करना चाहते हैं।

श्रीराम तो मर्यादा पुरुषोत्तम हैं, स्पष्ट तो कुछ न बोले, कल्पवृक्ष की भाँति उन्होंने उन समस्त को आगामी स्वयं–भगवान् लीला–पुरुषोत्तम रूप से रमण करने का वर प्रदान किया; उसके फलस्वरूप वे द्वापर में गोपी–देह को प्राप्त हुए। रासोत्सव में वे उस वरदान के कारण श्रीभगवान् से रमण के लिए चञ्चल हो उठीं। किन्तु गृह–स्वामियों ने उन्हें घर में बन्द कर दिया। उनका प्राकृत गुणमय देह तत्काल छूट गया। श्रीव्रजगोपियों के संग प्रभाव से कृष्ण–रमणयोग्य चिन्मय शरीर धारण कर उन्होंने परमानन्द पद की प्राप्ति की। इससे सिद्ध होता है। कि पुरुष भी इस कामानुगा–भक्ति के साधक एवं अधिकारी हैं।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि जिनके मन मलिन हैं, जिन्होंने हरि–गुरु–वैष्णव–पदाश्रय ग्रहण नहीं किया, केवल विद्यालयों में कुछ विद्या प्राप्तकर शब्दों का अर्थ करना जाना है, विशेषतः जो भक्तिहीन, नास्तिक हैं, पुराणों के प्रति जिनका अविश्वास है, जिनका सारा जीवन छात्र–छात्राओं के संग में सिमटता है, वे बुद्धि–जीवी वे इस भक्ति–भेद के रहस्य को कभी भी नहीं जान सकते। वे इसे कामवासना–परक भगवत– आदर्शहीनता, अथवा अशोभनीय भी बता सकते हैं। वस्तुतः इससे उनकी बुद्धि की अशोभनीयता, भक्ति–विषय में प्रवेश–हीनता तथा प्राकृत कामवृत्ति का साम्राज्य ही उनमें ज्ञापित होता है। इस परम–निर्मलतम, उज्ज्वल रस विषय में उन लोगों का कुछ कहना या लेखनी उठाना केवल निन्दनीय अनधिकार–चेष्टा मात्र में पर्यवसित होता है।।३००–३०२।।

६५–रिरंसां सुष्ठु कुर्वन् यो विधिमार्गेण सेवते।
केवलेनैव स तदा महिषीत्वमियात्पुरे।।३०३।।

तथा च महाकौर्मे–

२०६–अग्निपुत्रा महात्मानस्तपसा स्त्रीत्वमापिरे।
भर्त्तारं च जगद्योनिं वासुदेवमजं विभुम्।।३०४।।इति।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*य इति पुल्लिंगत्वेन निर्द्देशो जनमात्रविवक्षया, स्त्री वा पुमान् वेत्यर्थः, रिरंसां कुर्वन्निति, न तु श्रीव्रजदेवीभावेच्छां कुर्वन्नित्यर्थः, किंतु; सुष्ठ्विति। महषीवद्भावस्पृष्टतया कुर्वन्, न तु सैरन्ध्रीवत्तदस्पृष्टतयेत्यर्थः, विधिमार्गेणेति। वल्लवीकान्तत्वध्यानमयेन मन्त्रादिनाऽपि, किमुत महिषीकान्तत्व–ध्यानमयेनेत्यर्थः, केवलेनेति। व्रजादिसम्बन्धलिप्साग्रहं विनेत्यर्थः, महिषीत्वं तद्वर्गानुगामित्वमियादिति। श्रीमद्दशाक्षरादावप्यावरणपूजायां तन्महिषीष्वेव तस्यात्यादरादिति भावः; तदेति कदाचिद्विलम्बेनैव न तु रागानुगावच्छै–घ्र्येणेत्यर्थः।।३०३।। तपसा विधिमार्गेण, अत्र विधिमार्गोपलक्षणत्वेन वासनाविभेदोऽपि ज्ञेयः।।३०४।।*

● ***अनुवाद***–**जो स्त्री या पुरुष अपने रमण की इच्छा को प्रेम द्वारा शुद्ध बनाकर विधि–मार्ग से श्रीकृष्ण का सेवन करते हैं, वे द्वारका में महिषीत्व अर्थात् श्रीरुक्मिणी आदि महिषीवृन्द के केवल किंकरत्व को ही प्राप्त करते हैं।।३०३।।**

महाकूर्म–पुराण में लिखा है कि अग्नि के पुत्र महात्मागण तपस्या करके स्त्रीत्व को प्राप्त हुए और विभु, अज, जगत्कारण भगवान् श्रीवासुदेव को उन्होंने पतिरूप में प्राप्त किया।।३०४।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–स्त्री या पुरुष से जनमात्र का इस भक्ति में अधिकार सूचित किया गया है। केवल श्रीकृष्ण से रमण करने की इच्छा को लेकर जो विधि–मार्ग से उनका भजन करते हैं, वे द्वारका में श्रीकृष्ण की श्रीरुक्मिणी आदि महिषीवृन्द की दासी जाकर बनते हैं। कारण यह है कि उनमें व्रजगोपियों के भाव की इच्छा का अभाव है। रमण–इच्छा को प्रेम से शुद्ध बनाने का तात्पर्य यह है कि सैरन्ध्री कुब्जा की भाँति केवल अपनी सुख वासना को न लेकर श्रीकृष्ण की सुखेच्छा को ही प्रधानता देकर जो उनका विधि–मार्ग से भजन करते हैं, उन्हें ही महिषी–दास्य प्राप्त होता है; क्योंकि विधिमार्ग से यहाँ महिषियों के सम्बन्ध को प्राप्त करने की इच्छा उनमें सूचित होती है। व्रजगोपियों के सम्बन्ध का लाभ उनमें नहीं है। महिषी–दास्य भी विलम्ब से प्राप्त होता है, उन्हें व्रज के रागानुगा–परिकरों की तरह शीघ्र नन्दनन्दन श्रीकृष्ण की प्राप्ति नहीं होती। इसलिए रागानुगा–भक्ति के साधक के लिए द्वारका–ध्यान, श्रीरुक्मिणी पूजा आदि भक्ति–अंगों का अनुष्ठान नहीं करना चाहिए।।३०३–३०४।।

अथ सम्बन्धानुगा–

६६–सा सम्बन्धानुगा भक्तिः प्रोच्यते सद्भिरात्मनि।
या पितृत्वादिसम्बन्धमननारोपणात्मिका।।३०५।।

६७–लुब्धैर्वात्सल्यसख्यादौ भक्तिः कार्याऽत्र साधकैः।
व्रजेन्द्रसुबलादीनां भावचेष्टितमुद्रया।।३०६।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*पितृत्वादिसम्बन्धस्य यन्मननं विशेषचिन्तनं पुनस्तस्यारोपणं स्वस्मिन्नभिमननं तदात्मिकेत्यर्थः।।३०५।। व्रजेन्द्रेति। न तु व्रजेन्द्रादित्वाभिमानेनापीत्यर्थः, पितृत्वाद्यभिमानो हि द्विधा संभवति, स्वतन्त्रत्वेन तत्पित्रादिभिरभेदभावनया च, तत्रान्त्यमनुचितं भगवदभेदोपासनावत्तेषु भगवद्वदेव नित्यत्वेन प्रतिपादयिष्यमाणेषु तदनौचित्यात् तथा तत्परिकरेषु तदुचितभावना–विशेषेणापराधापातात्।।३०६।।*

● ***अनुवाद***–**अपने में श्रीकृष्ण के पितादि के होने का जो मनन एवं आरोपणरूप भक्ति है, उसको भक्तितत्त्ववेत्ता "सम्बन्धानुगा" (साधन–भक्ति) कहते हैं।।३०५।।**

श्रीकृष्ण के प्रति वात्सल्य तथा सख्य आदि भावों में लुब्ध साधकों को श्रीव्रजराज एवं सुबल आदि के भावों तथा चेष्टाओं एवं परिपाटी की तरह श्रीकृष्ण–भक्ति करनी चाहिए।।३०६।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–व्रजराज श्रीनन्दमहाराज माता–यशोदादि वात्सल्यमय रागात्मिका–भक्ति के मूल आश्रय हैं, एवं सुबलादि सख्यमय रागात्मिका–भक्ति के मूल आश्रय हैं। जो साधक वात्सल्यमयी सेवा में लुब्ध होते हैं, उन्हें श्रीव्रजराज के भाव, चेष्टा तथा उनकी सेवा परिपाटी का आनुगत्य लेकर साधक–देह और सिद्ध देह से सेवा करनी चाहिए। इसी प्रकार जो सख्य–भाव के लिए लुब्ध हैं, उन्हें सुबल–सखादि का आनुगत्य लेकर सेवा करनी चाहिए।

अपने में श्रीकृष्ण के पितादि होने का अभिमान भी दो प्रकार का है। एक तो, अपने को श्रीनन्दराज से पृथक् जानकर श्रीकृष्ण के पिता होने का; दूसरा, अपने को ही श्रीव्रजराज मानकर श्रीकृष्ण के पिता होने का मनन–अभिमान। यह दूसरे प्रकार का अभिमान दोषयुक्त है। इसे अहंग्रहोपासना का एक प्रकार–भेद माना गया है। अतः पृथक्‌रूप से श्रीनन्दराज एवं सुबलादि के आनुगत्य में श्रीकृष्ण को पुत्र अथवा सखा मानकर उनकी तरह भावचेष्टादि द्वारा सेवन करना विधेय है।

श्रीचक्रवर्तिपाद ने कहा है, साधक–देह में श्रीनन्दमहाराज या सुबलादिक की भाव–चेष्टा एवं परिपाटी द्वारा सेवा असम्भव है। क्योंकि यदि साधक भी उन नित्य–सिद्ध परिकरों की तरह गुरुपादाश्रयग्रहण, एकादशी व्रतादि भक्ति–अंगों का पालन नहीं करता तो वह अपराध का भागी होता है एवं प्रेम–भक्ति के परमफल को प्राप्त नहीं कर सकता। अतः सिद्ध–देह द्वारा मानसी–सेवा में ही उनकी भाव–चेष्टा एवं सेवा–परिपाटी का कार्यान्वित करना सम्भव है।।३०५–३०६।।

६८–तथा हि श्रूयते शास्त्रे कश्चित्कुरुपुरीस्थितः।
नन्दसूनोरधिष्ठानं तत्र पुत्रतया भजन्।
नारदस्योपदेशेन सिद्धोऽभूद् वृद्धवार्द्धकिः।।३०७।।

अतएव नारायणव्यूहस्तवे–

२१०–पतिपुत्रसुहृद्भ्रातृपितृवन्मित्रवद्धरिम्।
ये ध्यायन्ति सदोद्युक्तास्तेभ्योऽपीह नमो नमः।।३०८।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*अथ पूर्वमेवोचितमिति दर्शयति, तथा हीति। अधिष्ठानं प्रतिमाम्, सिद्धोऽभूदिति। बालवत्साहरणलीलायां तत्पितृणामिव सिद्धिर्ज्ञेया। एवमेव हि स्कान्दे सनत्कुमारप्रोक्तसंहितायां प्रभाकरराजोपाख्यानम्–*

अपुत्रोऽपि स वै नैच्छत्पुत्रं कर्मानुचिन्तयन्।
वासुदेवं जगन्नाथं सर्वात्मानं सनातनम्।।
अशेषोपनिषद्वेद्यं पुत्रीकृत्य विधानतः।
अभिषेचयितुं राजा स्वराज्य उपचक्रमे।
न पुत्रमप्यर्थितवान् साक्षाद्भूताज्जनार्दनात्।।इति।।

इत उद्ध्र्वं भगवद्वरश्च–"अहं ते भविता पुत्र" इत्यादि।।३०७।। सुहृन्निरपेक्षहितकारी, मित्रं सहविहारीति द्वयोर्भेदः; तथा च तृतीये (३।२५।३८) श्रीकपिलदेववाक्यम्–येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च सखा गुरुः सुहृदौ दैवमिष्टमिति।।३०८।।

● *अनुवाद*–शास्त्र में कथित है कि कुरुपुरी में एक वृद्ध बार्द्धकि रहता था। श्रीनारदजी के उपदेश से उसने श्रीकृष्ण–मूर्ति में पुत्र की भावना कर सिद्धि को प्राप्त किया।।३०७।।

श्रीनारायणव्यूहस्तव में लिखा है कि जो सदा उत्साह पूर्वक पति, पुत्र सुहृत (निरपेक्ष–हितकारी) भ्राता, पिता अथवा मित्र (सहचारी) की तरह श्रीकृष्ण का ध्यान या मनन करते हैं, उनको इस संसार में हम बार–बार नमस्कार करते हैं।।३०८।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–सम्बन्धानुगा–भक्ति का साधक किसी भी सम्बन्धभाव पूर्वक श्रीकृष्ण की भक्ति कर सकता है। ऐसी भक्ति करने वाले भक्तों के अनेक उदाहरण शास्त्रों में विद्यमान हैं। बार्द्धकि ने श्रीकृष्ण–मूर्ति में पुत्र–भावना करके भजन किया। उससे उसको सिद्धि प्राप्त हो गई। ब्रह्माजी जब बछड़े एवं गोपबालकों का हरण करके ले गये थे, तो श्रीकृष्ण ने स्वयं ही सब बछड़े एवं बालकों का रूप धारण कर लिया था। समस्त गोपों के पुत्र ही बनकर एक वर्ष तक उनके द्वारा लालित–पालित होते रहे। इस प्रकार पुत्रभाव से भजन करने वालों द्वारा भी वे उनके पुत्ररूप से सेवित होते हैं; यही उनके साधन की सिद्धि है।

सनत्कुमार संहिता में भी प्रभाकर राजा का उपाख्यान वर्णित है। निःसन्तान होने पर भी उसने कभी श्रीभगवान् से पुत्र की प्रार्थना नहीं की। बल्कि श्रीभगवान् जनार्दन में ही पुत्र–भाव कर उन्हें राजाभिषेक कर दिया एवं राज्य–पाट का काम करते थे। श्रीभगवान् ने पुत्र–रूप में ही उनकी सेवा ग्रहण की।

स्वयं भगवान् ने भी इस सिद्धान्त को स्वीकार किया है कि वे भक्तों के

आत्मा, प्रिय, सखा, गुरु, सुहृद–मित्र देवता एवं इष्टदेव हैं, जिस भाव से उन्हें कोई सेवा करता है, वे उसी भाव से भक्तों द्वारा सेवित होते हैं।।३०७–३०८।।

९९–कृष्णतद्भक्तकारुण्यमात्रलाभैकहेतुका।
पुष्टिमार्गतया कैश्चिदियं रागानुगोच्यते।।३०९।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*कृष्णेति–मात्रपदस्य विधिमार्गे कुत्रचित्कर्मादि–समर्पणमपि द्वारं भवतीति तद्विच्छेदार्थः प्रयोगः इति भावः।।३०९।।*

अनुवाद-श्रीकृष्ण तथा श्रीकृष्ण–भक्तों की केवल करुणा ही रागमार्ग में प्रवृत्ति का एकमात्र कारण है। कोई–कोई अर्थात् श्रीवल्लभ–सम्प्रदायी इसी रागानुगा–मार्ग को 'पुष्टि–मार्ग' भी कहते हैं।।३०९।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–इस श्लोक को कहने का एकमात्र अभिप्राय यह है कि इस लहरी में वर्णित रागानुगा–मार्ग में प्रवृत्ति का एकमात्र कारण है श्रीकृष्ण एवं उनके भक्तों की करुणा। अन्य किसी साधन द्वारा इसमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती। अवश्य, कहीं–कहीं निष्काम अथवा कर्मों को कृष्णार्पण करने से वैधी–भक्ति में प्रवेश माना गया है और कर्मार्पण को वैधी–भक्ति का द्वार स्वरूप भी कह दिया गया है, परन्तु रागानुगा–भक्ति मार्ग में प्रवेश केवल भगवत्–कृपा से ही हो सकता है।।३०९।।

इति श्रीभक्तिरसामृतसिन्धौ पूर्वविभागे साधनभक्तिलहरी द्वितीया।।२।।

● ● ●

तृतीय-लहरी : भावभक्तिः

अथ भावः–

१–शुद्धसत्त्वविशेषात्मा प्रेमसूर्यांशुसाम्यभाक्।
रुचिभिश्चित्तमासृण्यकृदसौ भाव उच्यते।।१।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*अथ तदेतद्विविच्यते–पूर्वं तावद्भक्तिसामान्यलक्षणे चेष्टारूपा भावरूपा चेति भक्तिर्द्विविधा दर्शिता। तत्र चेष्टारूपा द्विविधा–भावभक्तेः साधनरूपा कार्यरूपा तु रसावस्थायाः अनुभावरूपा च; तयोः साधनरूपा पूर्वा दर्शिता; उत्तरा रसप्रसंगे दर्शयिष्यते। अथ भावरूपा च द्विविधा–रसावस्थायां स्थायिनाम्नि सञ्चारिरूपा च। तत्र च पूर्वा द्विविधा–क्रीडीकृतप्रणयादिप्रेमनाम्नी, रत्यपरपर्याय–प्रेमांकुररूपा भावनाम्नी च, तदेवं सत्युत्तरा सञ्चारिरूपापि रसप्रसंगे दर्शयिष्यते। सम्प्रति तु स्थायिभावसामान्यरूपं प्रेमनाम्ना प्रणयादिकमपि क्रोडीकुर्वन्तं रत्यपरपर्यायस्थायिभावांकुरारूपं भावं लक्षयति–शुद्धसत्त्वेति भगवतः अत्र शुद्धसत्त्वं नाम स्वप्रकाशिका स्वरूपशक्तेः संविदाख्या वृत्तिः; न तु मायावृत्तिविशेषः, विवृतं त्वेतद् श्रीभागवतसन्दर्भस्य द्वितीयसन्दर्भे श्रीवैष्णवतोषण्यां द्वितीयाध्याये च,*

शुद्धसत्त्वविशेषत्वं चात्र या स्वरूपशक्तिवृत्त्यन्तरलक्षणा–"ह्लादिनी सन्धिनी संवित् त्वय्येका सर्वसंस्थितौ। ह्लादतापकरी मिश्रा त्वयि नो गुणवर्जिते"–इति *विष्णुपुराणानुसारेण ह्लादिनी नाम्नी महाशक्तिस्तदीयसारवृत्तिसमवेत तत्सारांश–त्वमेवेत्यवगन्तव्यं, तयोः, समवेतयोः सारत्वं च तन्नित्यप्रियजनाधिष्ठानकत–दीयानुकूल्येच्छामयपरमवृत्तित्वं, ह्लादिनी साररसमवायित्वं चास्यैव भावस्य परमपरिणामरूप–मोदनाख्ये महाभावे श्रीमदुज्ज्वलनीलमणिमधिकृत्य स्थायिभावप्रकरणे (१७६) व्यक्तीभविष्यति–*

"राधिकायूथ एवासौ मोदनो न तु सर्वतः।
यः श्रीमान् ह्लादिनीशक्तेः सुविलासः प्रियो वरः"।।इति।।

असौ–पदेन चानुकूल्येन कृष्णानुशीलनरूपा सामान्येन लक्षिता भक्तिरेवाकृष्यत इत्यर्थः। सा तु यद्यपि धात्वर्थसामान्यरूपा व्याख्याता तथाप्यत्र चेष्टारूपा न गृह्यते, किंतु भावरूपैव, विधेयस्य भावस्य साक्षान्निर्दिष्टत्वात् वक्ष्यते (२।४।२५१) च स्वयमेव भावमात्रस्य लक्षणम्–

"शरीरेन्द्रियवर्गस्य विकाराणां विधायिकाः।
भावा विभावजनिताश्चित्तवृत्तय ईरिताः"।।इति।।

चित्तवृत्तयश्चात्र प्रकारान्तरेण चित्तस्य स्थितयः, 'विकारो मानसो भाव' इत्यमरः, तथापि वक्ष्यमाणानां व्यभिचारिणामत्राप्राप्तिस्तेषां योजयिष्यमाणानां चित्तमासृण्यकृत्त्वाभावात् प्रेमांकुरत्वेन विशेष्यत्वाच्च, ततश्चायमर्थः–असौ सामान्यतो लक्षिता या भक्तिः सैव निजांशविशेषे भाव उच्यते; स च किं–स्वरूपः ? तत्राह–कृष्णस्य स्वरूपशक्तिरूपः शुद्धसत्त्वविशेषो यः स एवात्मा तन्नित्यप्रियजनाधिष्ठानतया नित्यसिद्धं स्वरूपं यस्य सः, तथाधिष्ठानमात्मसात्कृत्य तत्तादात्मापन्न–त्वेनानुकूल्यलक्षण–चित्तावृत्ति रूपा च। किंच रुचिभिः प्राप्त्यभिलाषस्वकर्तृकानुकूल्याभिलाषसौहार्दाभिलाषैः; चित्तार्द्रताकृदिति, एष च वक्ष्यमाणप्रेम्णोऽङ्कुररूप एवेत्याह–प्रेमेति। सूर्यस्त्वत्राचिरादुदयिष्यमाणावस्थो गृह्यते; ततश्च तदंशुसाम्यभागिति प्रेम्णः प्रथमच्छविरूप इत्यर्थः (१।४।१) "भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते"–इति वक्ष्यते, *अस्याप्राकृतत्वं तादृशशुद्धसत्त्व–विशेषह्लदिनीसाररूपत्वं च मोक्षसुखस्यापि तिरस्कारकत्वात् श्रीभगवतोऽपि प्रकाशकत्वादानन्दकरत्वाच्च, अत्र प्रमाणस्य विशेषजिज्ञासा चेत् प्रीतिसन्दर्भो दृश्यः। तदेवं नित्यतत्प्रियजनानां भावे लक्षिते प्रपञ्चगतभक्तानामपि चित्तवृत्तिः श्रीकृष्णतद्भक्तकृपया तादृशी भवतीति तेनैव लक्षितः स्यादित्यलमतिविस्तरेण*।।१।।

● **अनुवाद–शुद्धसत्त्व विशेष–स्वरूपा प्रेमरूप सूर्य की किरणों के समान, रुचि द्वारा चित्त की द्रवता सम्पादन करने वाली जो प्रीति या भक्ति है, उसको भाव–भक्ति कहते हैं।।१।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु की गत (दूसरी) लहरी में भक्ति के तीन भेद बताये गये हैं–१. साधन–भक्ति, २. भाव–भक्ति तथा ३. प्रेम–भक्ति। साधन–भक्ति के दो भेद कहे गये–१. वैधी–भक्ति तथा २. रागानुगा–भक्ति। रागानुगा के दो भेद बताये गये–१. कामानुगा तथा २. सम्बन्धानुगा।

उनके विषय में यहाँ तक सांगोपांग विवेचन किया जा चुका है। अब इस तीसरी लहरी में *'भाव–भक्ति'* का निरूपण आरम्भ करते हैं–

उत्तमा–भक्ति का लक्षण है आनुकूल्यमय कृष्णानुशीलन। अनुशीलन का अर्थ है, शरीर वाणी से तथा मन या भाव से श्रीकृष्ण के अनुकूल चेष्टायें सम्पादन करना। इससे सामान्य भक्ति के दो भेद हो जाते हैं–१. चेष्टा–रूपा और २. भाव–रूपा। इनमें चेष्टा–रूपा के दो भाग मान गये हैं–१. भाव–भक्ति के साधन–रूप व्यापार तथा २. भाव–भक्ति के फल रूप व्यापार या जिन्हें 'अनुभाव' कहते हैं। भाव–भक्ति के साधनरूप व्यापार पिछली–साधन–लहरी में वैधी–भक्ति तथा रागानुगा–भक्ति के विवेचन द्वारा विस्तारपूर्वक वर्णन किये गये हैं। जो फलरूप या अनुभाव रूप हैं, उनका वर्णन आगे रस–प्रसंग में वर्णन करेंगे।

भाव–भक्ति के भी रस प्रक्रियानुसार दो भेद हैं–१. स्थायी–भावरूपा तथा २. संचारि भावरूपा। संचारि भाव रूपा भाव–भक्ति का वर्णन आगे रस–प्रसंग में किया जायेगा। यहाँ स्थायि भावरूपा भाव–भक्ति का वर्णन करते हैं। भाव ही इस भक्ति का मूलतत्त्व है। उसको रति, प्रेम, स्नेह आदि शब्दों से निर्दिष्ट किया जाता है। यह भाव प्रेम का अंकुर रूप है अर्थात् प्रेम की पूर्व अवस्था का नाम है भाव। सूर्यरूप प्रेम की किरण है भाव। जैसे सूर्योदय से पहले उषाकाल में रश्मि विश्व को प्रकाशित करने लगती है, उसी प्रकार प्रेम उदय से पहले भाव उत्पन्न होने पर चित्त में एक विशेष द्रवता–अनुरागमयी अवस्था प्रकाशित हो उठती है।

श्रवण–कीर्तनादि भजनानुष्ठानों को करते–करते जब चित्त की मलिनता दूर हो जाती है और चित्त जब शुद्ध–सत्त्व के आविर्भाव की योग्यता प्राप्त करता है, ह्लादिनी–प्रधान जिस शुद्ध–सत्त्व को श्रीकृष्ण सदा सर्वदा सब दिशाओं में निक्षेप किया करते हैं, वह शुद्ध–सत्त्व तब साधक के चित्त में आविर्भूत होता है और वह ही श्रीकृष्ण–भाव या रति में परिणत हो जाता है।

शुद्ध–सत्त्व से क्या तात्पर्य है ? श्रीकृष्ण की स्वरूप–शक्ति या चित्–शक्ति स्वप्रकाश है एवं उसकी समस्त वृत्तियाँ भी स्वप्रकाश हैं। स्वरूप–शक्ति की जिस स्वप्रकाश–वृत्ति विशेष के द्वारा स्वयं भगवान् निज स्वरूप से प्रकट होते हैं और स्वरूप–शक्ति के ही दूसरे रूप परिकरों को प्रकट करते हैं, उस वृत्ति विशेष को 'शुद्ध–सत्त्व' कहते हैं। उस वृत्ति का माया से कुछ भी संश्रव नहीं है, अतः उसे 'विशुद्ध–सत्त्व' भी कहा जाता है।

सच्चिदानन्द–स्वरूप श्रीभगवान् की स्वरूप–शक्ति के सत् अंश से सन्धिनी, चित् अंश से संवित् तथा आनन्द–अंश से ह्लादिनी–शक्ति नित्य विद्यमान है। स्वरूप–शक्ति की उस विशेष वृत्ति या विशुद्ध–सत्त्व में भी इन तीनों का समावेश नित्य रहता है। किन्तु कहीं ह्लादिनी अधिक और सन्धिनी संवित् कम रहती हैं, तथा कहीं सन्धिनी, अधिक ह्लादिनी–संवित् कम और कहीं संवित् अधिक मात्रा में और ह्लादिनी–सन्धिनी कम मात्रा में अभिव्यक्त होती हैं।

विशुद्ध–सत्त्व में जब ह्लादिनी–शक्ति की प्रधान अभिव्यक्ति रहती है, तब उसे *'गुह्य–विद्या'* कहते हैं। 'गुह्य–विद्या' की दो वृत्तियाँ हैं–भक्ति एवं भक्ति की

प्रवर्त्तक। विशुद्ध–सत्त्व रूप यह भक्ति–वृत्ति, जिसे भाव या रति भी कहा जाता है, स्वप्रकाश श्रीभगवान् की स्वप्रकाश वृत्ति होने के कारण सदा प्रकाशित होती रहती है। दूसरे शब्दों में परम करुणासागर श्रीकृष्ण उसे सदा सञ्चारित करते रहते हैं। वह शुद्ध–सत्त्वरूपा भक्ति–वृत्ति जब साधक के शुद्ध–चित्त में आविर्भूत होती है, तब उसे 'रति' कहते हैं। इस रति का आविर्भाव किसी साधन के फल से नहीं होता; यह निरपेक्ष एवं स्वप्रकाश है, साधन द्वारा साध्य नहीं है। साधन एवं भजनानुष्ठान की आवश्यकता केवल इस विशुद्ध–सत्त्व को ग्रहण करने के लिए चित्त की योग्यता प्राप्त करने के लिए है। श्रवण–कीर्त्तनादि भजनांगों को आसक्तिपूर्वक अर्थात् निरन्तर निष्ठापूर्वक पालन करने से समस्त अनर्थों की निवृत्ति होकर चित्त की मलिनता दूर होती है और वह शुद्ध होकर विशुद्ध–सत्त्व को ग्रहण करने के योग्य बन जाता है। योग्यता प्राप्त करना ही भजन–साधन का फल है, भक्ति या प्रेम की प्राप्ति नहीं। क्योंकि प्रेम तो स्वप्रकाश नित्य–सिद्ध वस्तु है, किसी साधन के अधीन रहने वाली वस्तु नहीं है। जिस समय चित्त उस शुद्ध–सत्त्व को ग्रहण करने के योग्य बन जाता है, तब स्वतः ही वह आविर्भूत हो उठता है।

भाव–भक्ति का स्वरूप लक्षण है, शुद्ध–सत्त्व विशेषात्मा। उपर्युक्त शुद्ध–सत्त्व विशेष ही इस भाव–भक्ति का आत्मा या सार–स्वरूप है। सूर्य में घनत्व है और किरण में तरलता, इसी प्रकार प्रेम में स्वरूप–शक्तिवृत्ति का घनत्व है और भाव में उसकी तरलता, केवल यही भेद है प्रेम और भाव में। स्वरूपतः दोनों ह्लादिनी प्रधाना स्वरूपशक्ति की वृत्ति विशेष होने से अभेद वस्तु हैं।

भाव–भक्ति का तटस्थ–लक्षण कहा गया है–''रुचिभिश्चित्तमासृण्यकृत्'' अर्थात् श्रीभगवान् की प्राप्ति अभिलाष, उनकी अनुकूलता सम्पादन की अभिलाषा तथा सौहार्द्र की अभिलाषा, इस प्रकार की तीनों अभिलाषों को उदित कर भाव–भक्ति चित्त को द्रवीभूत कर देती है।।१।।

तथा हि तन्त्रे–

१–प्रेम्णस्तु प्रथमावस्था भाव इत्यभिधीयते।
सात्त्विकाः स्वल्पमात्राः स्युरत्राश्रुपुलकादयः।।२।।

स यथा पद्मपुराणे–

२–ध्यायं ध्यायं भगवतः पादाम्बुजयुगं तदा।
ईषद्विक्रियमाणात्मा सार्द्रदृष्टिरभूदसौ।।३।।इति।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*तच्छविरूपत्वमेव (प्रेमांकुरत्वमेव) दर्शयति–तथा हीति।।२।।*

● *अनुवाद*–**प्रेम की पहली अवस्था का नाम 'भाव' है। भाव–अवस्था में अश्रु, पुलकादि सात्त्विक–भाव अति अल्प–मात्रा में प्रकट होते हैं।।२।।**

पद्मपुराण में कहा गया है कि–तब राजा अम्बरीष श्रीभगवान् के चरणकमलों का ध्यान करते–करते कुछ विकृत अवस्था अर्थात् सात्त्विक विकार से युक्त हो उठे और उनके नेत्र अश्रुओं से पूर्ण हो गये।।३।।

इन दोनों श्लोकों में भाव–भक्तियुक्त भक्तों में भाव के लक्षण या अल्प सात्त्विक विकार प्रमाणित किये गये हैं।

२–आविर्भूय मनोवृत्तौ व्रजन्ती तत्स्वरूपताम्।
स्वयंप्रकाशरूपापि भासमाना प्रकाश्यवत्।।४।।
३–वस्तुतः स्वयमास्वादस्वरूपैव रतिस्त्वसौ।
कृष्णादिकर्मकास्वादहेतुत्वं प्रतिपद्यते।।५।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*पूर्वव्याख्यानुसारेण तस्यैव रतिपर्यायस्य भावस्य प्रापञ्चिकतत्प्रियजनेषु किंचिद्विशेषं दर्शयति–आविर्भूयेति द्वाभ्याम्–असौ शुद्ध–सत्त्वविशेषरूपा रतिर्मूलरूपत्वेन मुख्यवृत्त्या तच्छब्दवाच्या सा रतिः, श्रीकृष्णादिसर्वप्रकाशकत्वेन स्वयंप्रकाशरूपापि प्रापञ्चिकतत्प्रियजनानां मनोवृत्तावाविर्भूय तत्स्वरूपतां तत्तादात्म्यं व्रजन्ती तदवृत्त्या प्रकाश्यवद्भासमाना ब्रह्मवत्तस्यां स्फुरन्ती; तथा स्वसात्कृतेन पूर्वोत्तरावस्थायां कारणकार्यरूपेण श्रीभगवदादिमाधुर्यानुभवेन स्वांशेनास्वादरूपाणि यानि कृष्णादिरूपाणि कर्माणि कर्त्तुरीप्सिततमानि तेषामास्वाद–हेतुत्वं संविदंशेन साधकतमतामसौ भावैकपर्याया रतिः प्रतिपद्यते प्राप्नोतीति, ह्लादिन्यंशेन तु स्वयं ह्लादयन्ती तिष्ठतीत्यर्थः। वस्तुत इति–तदेतदेव वस्तुविचारेण सिध्यतीत्यर्थः, तुशब्दोऽपि विशेषप्रतिपत्त्यर्थः, आदिग्रहणात्तत्परिकरलीलादयो गृह्यन्ते।।४–५।।*

● *अनुवाद*–**(वैधी तथा रागानुगा–दोनों प्रकार की साधन–भक्ति के द्वारा) यह शुद्ध–सत्त्व विशेषरूपा रति साधकों की चित्तवृत्ति में आविर्भूत होकर मनोवृत्ति की स्वरूपता को प्राप्त करती है। स्वयं प्रकाशरूपा होकर भी मनोवृत्ति द्वारा प्रकाश्यरूप के समान प्रतीत होती है।।४।।**

वस्तुतः यह भाव या रति स्वयं आस्वादनरूपा है, फिर भी श्रीकृष्ण आदि के माधुर्यादि के आस्वाद या अनुभव का हेतु बन जाती है।।५।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है भाव या रति ह्लादिनी प्रधान स्वरूप–शक्ति की वृत्ति विशेष है। चिन्मय स्वरूपा है, स्वप्रकाश है। यह श्रीकृष्ण एवं उनके लीला–परिकरादि की प्रकाशक है, एवं भक्तों की मनोवृत्ति में आविर्भूत होकर उसके साथ तादात्मता प्राप्त करती है अर्थात् मनोवृत्ति स्वरूप धारण कर लेती है। जैसे ब्रह्म स्वयं प्रकाश है, फिर भी चित्तवृत्ति द्वारा प्रकाश्यरूप में स्फुरित होता है। पूर्व–अवस्था (भावरूप) में कारण, परवर्ती (प्रेमावस्था) में कार्यरूप में श्रीभगवान् के माधुर्य अनुभव में एक अंश से आस्वाद्यरूपा होकर भी श्रीकृष्ण तथा उनके परिकरादि की लीलादि अभीष्टतम वस्तु का आस्वादन कराने वाली बन जाती है। क्योंकि शुद्ध सत्त्व में संवित् का अंश रहता ही है, अतः इसमें साधकता तथा कारणता होने की शक्ति है। ह्लादिनी–अंश से स्वयं आनन्द आस्वादन करने तथा कराने की शक्ति तो इसमें है ही। अतः वस्तु–विचार से भाव प्राकृत मन की वृत्तिमात्र नहीं है।।४–५।।

४–साधनाभिनिवेशेन कृष्णतद्भक्तयोस्तथा।
प्रसादेनातिधन्यानां भावो द्वेधाभिजायते।
आद्यस्तु प्रायिकस्तत्र द्वितीयो विरलोदयः।।६।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*अथास्याः प्रपञ्चगतभक्तेष्वाविर्भावनिदानमाह–साधनेति, अतिधन्यानां प्राथमिकमहत्संगजातमहाभाग्यानां, (भा० १०।५१।५३) "भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवेद्" इत्यादेः (भा० ५।१२।१२) "रहूगणैतत्तपसा न याती" त्यादेश्च, विचारविशेषस्तु भक्तिसंदर्भे दृश्यः।।६।।*

● **अनुवाद–जो व्यक्ति महाभाग्यशाली हैं, उनके चित्त में यह भाव (रति) दो प्रकार से आविर्भूत होता है। एक तो, साधन–अभिनिवेश से, दूसरे, श्रीकृष्ण अथवा श्रीकृष्ण–भक्तों की कृपा से। इन दोनों में, साधनाभिनिवेश से प्रायः सब में भाव का उदय होता है। श्रीकृष्ण–कृपा या उनके भक्तों की कृपा से भाव का उदय किन्हीं विरले भक्तों में होता है।।६।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–भक्ति जिनके हृदय में आविर्भूत होती है, वे महाभाग्यशाली हैं, चाहे उसका उदय साधनों में पूर्ण अभिनिवेश से हो अथवा कृष्ण–कृपा या कृष्णभक्त–कृपा से। महाभाग्यशाली से क्या तात्पर्य है ? –महाभाग्यशाली वही है जिसको पूर्वजन्म में अथवा इस जन्म में महत्संग, भक्तजनों का संग प्राप्त हुआ है। क्योंकि भक्ति का मूलकारण है महत्–संग। इसके बिना कभी भी भक्ति में प्रवेश नहीं हो सकता। अतः पहले जिन्होंने महत्–संग लाभ का सौभाग्य प्राप्त किया है, उनमें ही, साधनाभिनिवेश से हो या कृष्ण–कृष्णभक्त कृपा से हो, भाव का आविर्भाव होता है।।६।।

तत्र साधनाभिनिवेशजः–

५–वैधीरागानुगामार्गभेदेन परिकीर्त्तितः।
द्विविधः खलु भावोऽत्र साधनाभिनिवेशजः।।७।।
६–साधनाभिनिवेशस्तु तत्र निष्पादयन् रुचिम्।
हरावासक्तिमुत्पाद्य रतिं संजनयत्यसौ।।८।।

● **अनुवाद–वैधी तथा रागानुगा–मार्ग के भेद से साधनाभिनिवेशज भाव या रति भी दो प्रकार की है।।७।।**

साधन–अभिनिवेश साधन में रुचि उत्पन्न कर श्रीहरि में आसक्ति पैदा करता है और फिर उससे भाव या रति उत्पन्न होती है।।८।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–साधन में अभिनिवेश से तात्पर्य है भजन–साधन में निष्ठा होना; निष्ठा पैदा होने पर रुचि तथा उसके बाद श्रीभगवान् में आसक्ति होती है। आसक्ति के बाद भाव उदित होता है। वैधी–भक्ति के संसाधन–अभिनिवेश से जो भाव उदित होता है, उसमें ऐश्वर्य–ज्ञान का मिश्रण रहता है, क्योंकि वैधी–मार्ग के साधक के चित्त में भगवान् का ऐश्वर्य–सम्बन्धी ज्ञान ही प्रधानरूप से विद्यमान रहता है, किन्तु रागानुगा–मार्ग के साधन से जो भाव उदित होता है, वह ऐश्वर्य–ज्ञानहीन होता है। वैधी–मार्ग के साधन–अभिनिवेश से आविर्भूत भाव का दृष्टान्त आगे उद्धृत करते हैं–

तत्राद्यो, यथा प्रथमस्कन्धे (१।५।२६)–

३–तत्रान्वहं कृष्णकथाः प्रगायतामनुग्रहेणाशृणवं मनोहराः।
ताः श्रद्धया मेऽनुपदं विशृण्वतः प्रियश्रवस्यांग ममाभवद्रुचिः।।९।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*अनुग्रहेण कृष्णकथेयं भवतापि श्रोतव्येति शास्त्रानुसारितदाज्ञारूपेण। मनोहराः रुच्युत्पादिकाः, श्रद्धा पुनरानुषंगिकीति कारिकायां न दर्शिता।।९।।*

● *अनुवाद*–**श्रीद्भागवत (१।५।२६) में श्रीव्यासदेव के प्रति श्रीनारदजी ने कहा है, वे साधुगण प्रतिदिन कृष्ण–कथा कहते थे, उनके अनुग्रह से उस सर्वमनोहारिणी कथा को मैं भी सुनने लगा। श्रद्धा सहित कृष्ण–कथा के प्रतिपद को सुनने से प्रिय–कीर्त्ति श्रीकृष्ण में मेरी रति उत्पन्न हो गई।।९।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–इस श्लोक में अनुग्रह शब्द से श्रीकृष्ण–कथा के सुनने की शास्त्र–आज्ञा ही सूचित होती है। इसलिए इसे वैधी–भक्ति का दृष्टान्त माना गया है। फिर मनोहरा–शब्द से यह ज्ञात होता है कि मनोहर होने से कथा में रुचि उत्पन्न हुई, श्रद्धा से नहीं। श्रद्धा–शब्द का प्रयोग तो आनुषंगिक है। यद्यपि श्रद्धा से लेकर प्रेम–विकास क्रम में समस्त भूमिकाओं को (श्रद्धा–साधुसंग, भजन–क्रियादि) रति का कारण कहा गया है, तथापि अनर्थ–निवृत्ति के बाद जो अभिनिवेश–निष्ठा उदित होती है, वह अभिनिवेश ही रति का कारण होता है।।९।।

***७–रत्या तु भाव एवात्र न तु प्रेमाभिधीयते।
मम भक्तिः प्रवृत्तेति वक्ष्यते स यदग्रतः।।१०।।***

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*मम भक्तिः प्रवृत्तेति। (भा० १।५।२८) ''भक्तिः प्रवृत्तात्मरजस्तमोपहा'' इत्युक्त्या भक्तिशब्देन सप्रेमैवाग्रे वक्ष्यते इत्यर्थः, रतेः प्रथमावस्थत्वाद्भक्तेस्तत उत्कृष्टत्वात्, अतएव प्रेमसूर्यांशुसाम्यभागित्यत्र भाव–प्रेम्णोस्तारतम्यमुक्तमिति भावः।।१०।।*

● *अनुवाद*–**यहाँ रति–शब्द से भाव अर्थात् प्रेम की पूर्वावस्था ही अभिप्रेत है, प्रेम नहीं; क्योंकि श्रीनारदजी परवर्त्ती 'भक्तिः प्रवृत्त' श्लोक में प्रेम का कथन करते हैं।।१०।।**

यथा तत्रैव (१।५।२८)–

४–इत्थं शरत्प्रावृषिकावृतू हरेर्विशृण्वतो मेऽनुसवं यशोऽमलम्।
संकीर्त्यमानं मुनिभिर्महात्मभिर्भक्तिः प्रवृत्तात्मरजस्तमोपहा।।११।।

तृतीये च (३।२५।२५)–

५–सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति।।१२।।

● *अनुवाद*–तत्पश्चात् (श्रीभा० १।२५।२८) श्रीनारदजी ने कहा–''इस प्रकार शरत् एवं वर्षा–इन दोनों ऋतुओं में प्रातः, मध्याह्न तथा सायं तीनों काल महात्मा मुनिगण सदा संकीर्तन–योग्य श्रीकृष्ण के निर्मल यश को विशिष्टरूप

से मुझे सुनाने लगे, जिससे मेरे मन में रजोगुण, तमोगुण नाशिनी भक्ति अर्थात् प्रेम का उदय हो उठा।।११।।

श्रीमद्भागवत (३।२५।२५) में भी भगवान् श्रीकपिलदेव ने कहा है, महत्–पुरुषों का प्रकृष्टरूप से संग करने से अर्थात् उनके निकट निवास तथा उनकी सेवा करने से मेरी महिमा को प्रकाशित करने वाली मेरी कथायें उदित होती हैं, जो हृदय एवं कानों को रसायन की तरह तृप्त करने वाली हैं। प्रीति–पूर्वक उन कथाओं का आस्वादन करने से अपवर्ग–वर्त्मस्वरूप मुझ (श्रीभगवान्) में श्रद्धा, रति (भाव) तथा भक्ति अर्थात् प्रेम की क्रमशः उत्पत्ति होती है।।१२।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–उपर्युक्त दोनों श्लोकों में भक्ति के श्रवणांग साधन से रति की उत्पत्ति वर्णन की गई है। रति से पहले श्रद्धा की भूमिका है। उसे भी सत्पुरुषों, भगवत्–भक्तों के द्वारा वर्णित श्रीकृष्ण की लीला–कथाओं के श्रवण से प्राप्य कहा गया है। विषयी–पुरुषों के संग या निकट बैठने में विषय–विषयी पुरुषों की बातचीत होती है, इसी तरह भक्तों के निकट निवास करने से, उनसे कथनोपकथन करने पर श्रीभगवान् की ही कथा प्रकाशित होती है, जिससे श्रद्धा, रति और प्रेम की प्राप्ति होती है।

श्रीभगवान् को अपवर्ग–वर्त्म कहा गया है। अपवर्ग नाम है मुक्ति का। वर्त्म का अर्थ है रास्ता। साधक जब श्रीभगवान् की प्राप्ति के लिए साधन–पथ अर्थात् भक्ति–मार्ग पर अग्रसर होता है तो मुक्ति रास्ते में पड़ती है। अतएव श्रीभगवान् का नाम है "अपवर्ग–वर्त्म"।।११–१२।।

८–पुराणे नाट्यशास्त्रे च द्वयोस्तु रतिभावयोः।
सामानार्थतया ह्यत्र द्वयमैक्येन लक्षितम्।।१३।।

● *अनुवाद*–पुराण एवं नाट्य–शास्त्र में रति और भाव दोनों समानार्थक हैं। अतः यहाँ भी दोनों का समान अर्थ मानकर लक्षण किया गया है।।१३।।

द्वितीयो, यथा पाद्मे–

९–इत्थं मनोरथं बाला कुर्वती नृत्य उत्सुका।
हरिप्रीत्या च तां सर्वां रात्रिमेवात्यवाहयत्।।१४।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*मनोरथपूर्वकनृत्यमत्र रागानुगा, तदानीं तच्छ्रीमूर्तिप्रभावेण तस्यां तादृशतत्परिकराणां रागस्फूर्तेः, तथैवोक्तं तया तत्पूर्वत्र–*

"बह्वीष्वन्यासु नारीषु मय्येवाधिकप्रीतिमान्।
नृत्यत्यासौ मया सार्द्धं कण्ठाश्लेषादिभावकृत्।।"इति।।

प्रसंगोऽयं मूलपाद्मगतश्चेत्तर्हि–

"सत्त्वं तत्त्वं परत्वं च तत्त्वत्रयमहं किल।
त्रितत्त्वरूपिणी सापि राधिका मम वल्लभा।।
प्रकृतेः पर एवाहं सापि मच्छक्तिरूपिणी।।"इति।।

बृहद्गौतमीये श्रीकृष्णस्य वचनात्तथा तत्रैव—
"देवी कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका परदेवता।
सर्वलक्ष्मीमयी सर्वकान्तिः संमोहिनी परा।।"इति।।

वचनान्तरान्नित्यतन्महाशक्तिरूपत्तया प्रसिद्धायाः श्रीराधाया विभूतिरूपा बालाशब्देन मन्तव्या; किंतु स्वयं श्रीराधिका तु तस्याः फलावस्थायां तां सखीं विधाय; तस्याः साधनसिद्धिगतं सर्वं कृपयात्मन एवमे न इत्येवाभेदेननिर्देशे कारणं ज्ञेयम्।।१४।।

● **_अनुवाद_—रागानुगा के साधन—अभिनिवेशज भाव का उदाहरण पद्मपुराण में इस प्रकार वर्णित है, इस प्रकार मनोरथ करती हुई नृत्य के लिए उत्सुक वाला (रमणी) ने श्रीकृष्ण के प्रेम में सारी रात उनकी प्रतीक्षा में व्यतीत कर दी।।१४।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—उपर्युक्त बाला श्रीराधाजी की विभूति थी। श्रीराधाजी उसके साधन एवं सिद्धि के समय के समस्त कार्यों को आत्मकृत मानती थीं और उसे निज सखी चन्द्रकान्ति मानती थीं। अतः कहीं—कहीं चन्द्र—कान्ति का श्रीराधाजी से अभेद भी वर्णन किया गया है। अन्यान्य अनेक रमणियों के सामने भी श्रीकृष्ण मुझमें अतिशय प्रीति रखते हैं और मेरे कण्ठ में भुजा डालकर नृत्य कर रहे हैं—इस प्रकार का मनोरथ भावना करते हुए वह सारी रात नृत्य करती रही थी।

श्रीकृष्ण की प्रीति विधान के लिए मनोरथ—कामना करते हुए उसने नृत्य किया—इसलिए इस विषय को रागानुगा का दृष्टान्त माना गया है, क्योंकि श्रीकृष्ण की प्रीति—विधान के लिए जो साधन है, वह रागानुगा का साधन है।।१४।।

यहाँ तक साधनाभिनिवेश—जात भाव का सोदाहरण वर्णन किया गया है, अब आगे श्रीकृष्ण—कृपा एवं श्रीकृष्णभक्तों की कृपा से उदित भाव का वर्णन करते हैं—

अथ कृष्ण—तद्भक्तप्रसादजः—

६—साधनेन विना यस्तु सहसैवाभिजायते।
स भावः कृष्ण—तद्भक्तप्रसादज इतीर्यते।।१५।।

● **_अनुवाद_—साधनों के अनुष्ठान के बिना ही जो सहसा—अचानक उदित हो उठता है, वह भाव श्रीकृष्ण अथवा कृष्ण—भक्तों की कृपा से उत्पन्न होने वाला कहा गया है।।१५।।**

तत्र कृष्णप्रसादजः—

१०—प्रसादा वाचिकालोकदानहार्द्दादयो हरेः।।१६।।

तत्र वाचिकप्रसादजः, यथा श्रीनारदीये—

७—सर्वमंगलमूर्द्धन्या पूर्णानन्दमयी सदा।
द्विजेन्द्र ! तव मय्यस्तु भक्तिरव्यभिचारिणी।।१७।।

आलोकदानजः यथा स्कान्दे—

८—अदृष्टपूर्वमालोक्य कृष्णं जांगलवासिनः।
विक्लिद्यदन्तरात्मानो दृष्टिं नाक्रष्टुमीशिरे।।१८।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*वाचा चरति वाचिकः, स्वालोकस्य दानं यत्र स, तद्द्वाराविर्भूत इत्यर्थः, हृदि भवो हार्दः, यत्तु "स्मेरां भंगी" त्यादिना पूर्वमुक्तं (१.२.२६) तदप्यत्र ज्ञेयम्, एवं वृन्दावनादिकमपि भक्तेष्वन्तर्भाव्यम्।।१६।।*

● *अनुवाद*—श्रीकृष्ण की कृपा मुख्यरूप से तीन प्रकार से होती है—१. वाचिक, २. आलोक—दान से (दर्शन देने से) एवं ३. हार्दिक, जो हृदय से उदित होती है। जैसा पूर्व विभाग साधन—भक्ति लहरी श्लोक सं० २३६ में वर्णित हुआ है। वृन्दावनवासियों का जो भाव है वह कृष्ण—कृपा से उदित है।।१६।।

वाचिक—कृपा से उत्पन्न होने वाले भाव का उदाहरण श्रीनारदीय पञ्चरात्र में इस प्रकार वर्णित है, हे विप्रवर ! समस्त मंगलों में सर्वश्रेष्ठ एवं सदा पूर्ण—आनन्दमयी अव्यभिचारिणी मेरी भक्ति तुम्हें प्राप्त हो (इसमें श्रीभगवान् ने वाणी द्वारा अपनी भक्ति देने की कृपा की है)।।१७।।

दर्शन देकर कृपा करने का उदाहरण स्कन्दपुराण में इस प्रकार कहा गया है, कुरुजांगल प्रदेशवासी लोग अदृष्टपूर्व श्रीकृष्ण के दर्शन करते ही आर्द्रचित्त हो उठे और श्रीकृष्ण की ओर से नेत्रों को न हटा सके। (इसमें चित्त—द्रवता तथा नेत्रों की संलग्नता रूप जो भाव उन लोगों में उदित हो उठा, वह कृष्ण—दर्शन जात ही है)।।१८।।

हार्दः—

११—प्रसाद आन्तरो यः स्यात् स हार्द इति कथ्यते।।१६।।

यथा शुकसंहितायां—

६—महाभागवतो जातः पुत्रस्ते बादरायण !।
विनोपायैरुपेयाभूद्विष्णुभक्तिरिहोदिता।।२०।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*महेति। उपेया उपायेनैव लभ्या, विष्णुभक्तिर्विनोपायै—रुदिताभूद्, अत्र साधनान्तरनिषेधात् महत्प्रसादस्याकथनाच्च भगवत्प्रसाद एव लभ्यते; स च हार्द एव, यतो गर्भस्थस्यैव तस्य यत्तदीया स्मरणयमी भक्तिर्जाता सा दर्शनजा न भवति; न च वाचिकजा, ततो हार्दजैवेत्यवसीयते, तदतत् ब्रह्मवैवर्ताज् ज्ञेयम्।।२०।।*

● *अनुवाद*—जो कृपा श्रीकृष्ण के हृदय में ही रहती है, उसे 'हार्द' कहते हैं।।१६।।

हार्द का उदाहरण श्रीशुक—संहिता में इस प्रकार कथित है—हे व्यासजी ! आपके यहाँ परम भगवद्भक्त पुत्र श्रीशुकदेव उत्पन्न हुआ है, जिसको बिना साधनों के उदित होने वाली विष्णु—भक्ति प्राप्त हुई है।।२०।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—श्रीशुकदेवजी को गर्भ में ही कृष्ण—भक्ति प्राप्त हुई। अतः किसी साधन से वह प्राप्त नहीं, महत्—कृपा से भी प्राप्त नहीं; क्योंकि

महत्–संग की भी साधनों में गिनती आ जाती है। भगवद्दर्शन भी उन्हें गर्भ में प्राप्त नहीं हुआ। इस प्रकार जब वह भक्ति साधन के बिना प्राप्त होने वाली है, और श्रीकृष्ण की वाचिक–कृपा से एवं दर्शनज–कृपा से प्राप्त नहीं हुई तो वह निश्चय ही श्रीकृष्ण की हार्दिक–कृपा से उन्हें प्राप्त हुई है। अतः उसे हार्द–प्रसादज माना गया है। ब्रह्मवैवर्त–पुराण से ही यह बात प्रमाणित होती है।।१६–२०।।

अथ तद्भक्तप्रसादजः, यथा सप्तमस्कन्धे (७।४।३६)–

१०–गुणैरलमसंख्येयैर्माहात्म्यं तस्य सूच्यते।
वासुदेवे भगवति यस्य नैसर्गिकी रतिः।।२१।।इति।।

१२–नारदस्य प्रसादेन प्रह्लादे शुभवासना।
निसर्गः सैव तेनात्र रतिर्नैसर्गिकी मता।।२२।।

स्कन्दे च–

११–अहो धन्योऽसि देवर्षे! कृपया यस्य तत्क्षणात्।
नीचोऽप्युत्पुलको लेभे लुब्धको रतिमच्युते।।२३।।इति।।

● *अनुवाद*–श्रीमद्भागवत (७।४।३६) में श्रीनारदजी ने राजा युधिष्ठिर के प्रति कहा है–हे राजन् श्रीप्रह्लाद की महिमा का वर्णन करने के लिए उनके अगणित गुणों को कहने–सुनने की आवश्यकता नहीं, उनकी तो भगवान् श्रीकृष्ण में स्वाभाविकी रति अर्थात् भक्तप्रसादज भक्ति थी।।२१।।

श्रीनारदजी की कृपा से श्रीप्रह्लाद में शुभ वासना भगवत् भक्ति उदित हो गई थी। अतः उनकी उस शुभवासना को यहाँ 'निसर्ग' शब्द से कहा गया है और निसर्गजनित रति को यहाँ 'नैसर्गिकी–रति' नाम दिया गया है।।२२।।

स्कन्द–पुराण में भी श्रीनारदजी की कृपा से व्याध में भक्ति के उदय होने की बात वर्णित है, हे देवर्षि! आप धन्य हैं, आपकी कृपा से तत्काल नीच व्याध भी पुलकादि सात्त्विक–भावयुक्त कृष्ण–भक्ति को प्राप्त हुआ है।।२३।।

१३–भक्तानां भेदतः सेयं रतिः पञ्चविधा मता।
अग्रे विविच्य वक्तव्या तेन नात्र प्रपञ्च्यते।।२४।।

● *अनुवाद*–भक्तों के (पाँच प्रकार के) भेद होने से कृष्णभक्त–प्रसादजभाव या रति भी पाँच प्रकार की है। उनका आगे वर्णन करेंगे, इसलिए यहाँ उस विषय का विस्तारपूर्वक वर्णन नहीं किया जा रहा है।।२४।।

साधन–जात कृष्ण–प्रसादज और कृष्णभक्तप्रसादज भाव के उदय होने पर भावप्राप्त–भक्तों में जो लक्षण (बाह्य–चिह्न) प्रकाशित होते हैं, उनका वर्णन करते हैं–

१४–क्षान्तिरव्यर्थकालत्वं विरक्तिर्मानशून्यता।
आशाबन्धः समुत्कण्ठा नामगाने सदा रुचिः।।२५।।
१५–आसक्तिस्तद्गुणाख्याने प्रीतिस्तद्वसतिस्थले।
इत्यादयोऽनुभावाः स्युर्जातभावांकुरे जने।।२६।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*तत्र मुख्यानि लिंगान्याह क्षान्तिरिति।।२५।।*

● *अनुवाद*–जिस भक्त के चित्त में भगवद्–भाव का अंकुर उत्पन्न होता है, उसमें ये सब अनुभाव या लक्षण प्रकाशित होते हैं–१. क्षान्ति (क्षोभ–शून्यता या सहनशीलता), २. अव्यर्थकालत्व (किसी समय का भी भगवद्–विषय को छोड़कर प्रयोग न करना), ३. वैरग्य (मोह–राहित्य), ४. मान–शून्यता (अभिमान–राहित्य), ५. आशाबन्ध (सदैव भगवत्–कृपा प्राप्ति का आशायुक्त होना), ६. समुत्कण्ठा (भगवत्–सेवा की तीब्र उत्कण्ठा होना), ७. भगवन्नाम संकीर्तन में सदा रुचि होना, ८. भगवद्गुण–कथन में सदा आसक्ति तथा ६. भगवत्–लीलास्थल (वृन्दावनादि) में प्रीति होना।।२५–२६।।

(आगे प्रत्येक लक्षण का सोदाहरण वर्णन करते हैं)–

तत्र क्षान्तिः–

१६–क्षोभहेतावपि प्राप्ते क्षान्तिरक्षुभितात्मता।।२७।।

यथा प्रथमे (१।१६।१५)–

१२–तं मोपयातं प्रतियन्तु विप्राः गंगा च देवी धृतचित्तमीशे।
द्विजोपसृष्टं कुहकस्तक्षको वा दशत्वलं गायत विष्णुगाथाः।२८।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*तं मेति। प्रतियन्तु अंगीकुर्वन्तु, ततएव हेतोरीशे धृतचित्तं सन्तं मां गंगा देवी चांगीकरोतु यस्मादेवं श्रीपरीक्षितो महाप्रेमित्वात् क्षान्तिरपि महती दृश्यते, तस्माद्भावरूपे प्रेम्णोऽकुंरे जाते तदंकुरोजायत इति भावः, एवमन्यत्रापि।।२८।।*

● *अनुवाद*–क्षोभ का कारण होने पर भी चित्त में क्षोभ का न होना ही 'क्षान्ति' कहलाता है।।२७।।

श्रीमद्भागवत (१।१६।१५) में राजा परीक्षित् के लिए मृत्यु का शाप होने पर भी उनके चित्त की क्षोभ–शून्यता का वर्णन किया गया है; राजा परीक्षित् ने कहा, हे विप्रगण ! मैं आपकी शरण हूँ एवं मैंने श्रीभगवान् में चित्त निविष्ट कर दिया है, आप एवं गंगादेवी मुझे अंगीकार करें। ब्राह्मण के द्वारा प्रेरित कोई माया हो या तक्षक, वह भले मुझे काटे, मुझे उसका कुछ भी क्षोभ नहीं। आप श्रीकृष्ण–कथा का गान कीजिए।।२८।।

अथ अव्यर्थकालत्वं, यथा हरिभक्तिसुधोदये (१२।३७)

१३–वाग्भिः स्तुवन्तो मनसा स्मरन्तस्तन्वा नमन्तोऽप्यनिशं न तृप्ताः।
भक्ताः स्रवन्नेत्रजलाः समग्रमायुर्हरेरेव समर्पयन्ति।।२६।।

● *अनुवाद*–अव्यर्थ–कालत्व के विषय में श्रीहरिभक्तिसुधोदय (१२।३७) में कहा गया है, निरन्तर वाणी द्वारा भगवत्–स्तव, मन द्वारा उनका स्मरण, शरीर द्वारा उनको प्रणाम पूर्वक अतृप्त भक्तगण नेत्रों से प्रेमाश्रु प्रवाहित करते हुए श्रीहरि के लिए ही (उनकी सेवा के लिए ही) अपना समस्त जीवनकाल समर्पण कर देते हैं।।२६।।

अथ विरक्तिः–

१७–विरक्तिरिन्द्रियार्थानां स्यादरोचकता स्वयम्।।३०।।

यथा पञ्चमे (५।१४।४३)–

१४–यो दुस्त्यजान् दारसुतान् सुहृद्राज्यं हृदिस्पृशः।
जहौ युवैव मलवदुत्तम श्लोक लालसः।।३१।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*विरक्तिरिति। अत्र कारणकार्ययोर्विरक्त्यरोचकतयोरभे-दोक्तिरन्योन्याव्यभिचारित्वापेक्षया।।३०।। यः श्रीभरतः।।३१।।*

● *अनुवाद*–इन्द्रियों के विषयों के प्रति (स्वस्थ होने पर भी) तथा मुक्ति और सिद्धियों के प्रति अपने–आप अरुचि हो जाने का नाम *'विरक्ति'* है।।३०।।

श्रीमद्भागवत (५।१४।४३) में श्रीशुकदेवजी ने श्रीभरत महाराज की विरक्ति का उदाहरण दिया है, हे परीक्षित् ! श्रीभरत महाराज ऐसे विरक्त थे कि उन्होंने उत्तमश्लोक–श्रीकृष्ण की प्राप्ति–लालसा में यौवन–काल में ही दुस्त्यज्य, मनोहारी स्त्री–पुत्रों को, सुहृद्जनों को तथा राज्यादि समस्त विषयों को विष्ठा के समान जानकर त्याग कर दिया।।३१।।

अथ मानशून्यता–

१८–उत्कृष्टत्वेऽप्यमानित्वं कथिता मानशून्यता।।३२।।

यथा पाद्मे–

१५–हरौ रत्तिं वहन्नेष नरेन्द्राणां शिखामणिः।
भिक्षामटन्नरिपुरे श्वपाकमपि वन्दते।।३३।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*एष भगीरथः।।३३।।*

● *अनुवाद*–स्वयं उत्कृष्ट होने पर भी अपने को सबसे हीन मानना *'मान–शून्यता'* कहलाती है।३२।।

पद्म–पुराण में मान–शून्यता का उदाहरण इस प्रकार वर्णित है–समस्त राजाओं के शिरोमणि होकर भी महाराज भगीरथ श्रीभगवान् में अनुरक्त थे, वे भिक्षा करने के लिए शत्रुओं के घर भी जाते और नीच–जाति के लोगों को भी प्रणाम करते थे।।३३।।

अथ आशाबन्धः–

१९–आशाबन्धो भगवतः प्राप्तिसम्भावना दृढ़ा।।३४।।

यथा श्रीमत्प्रभुपादानाम्–

१६–न प्रेमा श्रवणादिभक्तिरपि वा योगोऽथवा वैष्णवो–
ज्ञानं वा शुभकर्म वा कियदहो सज्जातिरप्यस्ति वा।
हीनार्थाधिकसाधके त्वयि तथाऽप्यच्छेद्यमूला सती।
हे गोपीजनवल्लभ ! व्यथयते हा हा मदाशैव माम्।।३५।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*योगोऽष्टांगः; तस्य वैष्णवत्वं विष्णु–ध्यानमयत्वं स एव हि सगर्भ उच्यते, ज्ञानं ब्रह्मनिष्ठं, शुभं कर्म वर्णाश्रमाचारादिरूपं, सज्जातिस्तद्योग्यताहेतुः, तत्र योगादीनां तत्प्राप्तिहेतुत्वं भक्त्युपयुक्ततया कृतत्वेन द्रष्टव्यं, तच्च योगस्य तृतीये कापिलेयानुसारेण, ज्ञानस्य "ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा" इति (१८।५४) श्रीगीतानुसारेण, शुभकर्मणश्च "स वै पुंसां परो धर्मः"–इत्यनुसारेण*

ज्ञेयं, मदाशा मम स्वसुखमात्रेच्छया त्वां प्राप्तुं प्रवृत्तस्य याऽऽशा; न तु भगवत्प्रेम्णा प्रवृत्तस्य या आशा काऽपि तृष्णा सा, यतोऽच्छेद्यं मूलं स्वसुखकामत्वं यस्याः सा तर्हि किं करवाणि तत्राह हीनेति। भवता सापि प्रेममयी कर्तुं शक्यत इति विचार्य सैव क्रियत इति भावः, व्यथयत इत्यत्र स्वस्याचित्तत्वमननात् "अणावकर्मकाच्चित्त-वत्कर्तृकात्" इत्यनेन प्राप्तस्य परस्मैपदस्याभावः, तदिदं सर्वं दैन्येनैवोक्तमिति रतावेवोदाहृतम्।।३५।।

● *अनुवाद*—श्रीभगवान् की प्राप्ति की दृढ़ सम्भावना का नाम *'आशा–बन्ध'* है।।३४।।

आशाबन्ध के उदाहरण में श्रीपादसनातन गोस्वामी के वचन उद्धृत करते हैं, मुझमें प्रेम नहीं है, प्रेम–प्राप्ति का कारण श्रवण–कीर्तनादि भक्ति भी नहीं है, धारणा–ध्यानादि वैष्णव–योगानुष्ठान से भी मैं रहित हूँ, ब्रह्मनिष्ठ–ज्ञान तथा वर्णाश्रम –आचरणादि कोई शुभकर्म भी मुझमें नहीं हैं, अधिक क्या कहूँ, साधनों का हेतु अच्छी या श्रेष्ठ जाति–कुलादि भी मेरे नहीं हैं, निज–सुखेच्छा, जिसकी जड़ अच्छेद्य है, वह बहुत पक्की है, वह मुझे दुःखी कर रही है, फिर भी हे गोपजनवल्लभ ! आप हीनार्थ साधक हो, इसलिए मेरा दृढ़ विश्वास है कि आप कृपा कर मेरी स्वेच्छा–वासना को दूर कर अपनी सुखेच्छा–वासना पूर्ण करोगे ही अर्थात् मुझे प्रेम–सेवा प्रदान करोगे।।३५।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—यहाँ श्रेष्ठ जाति–कुलादि को साधन–भक्ति का हेतु कहा गया है। केवल इसलिए कि श्रेष्ठ जाति–कुल में उत्पन्न व्यक्ति के संस्कार स्वभावतः प्रायः श्रेष्ठ होते हैं और धार्मिकता होने की उसमें अधिक सम्भावना रहती है। वरन् कृष्ण–भजन में जाति–कुलादि का कुछ विचार नहीं है। अपने सुख की वासना वस्तुतः हीन–तुच्छ है। श्रीभगवान् करुणावश जीव की उस स्वसुखेच्छा जो अच्छेद्य–मूला है, नष्ट करके भक्ति–कृष्णसुखेच्छा को उदित करने वाले हैं; इसलिए श्रीभगवान् को यहाँ 'हीनार्थाधिकसाधक' कहा गया है।।३५।।

अथ समुत्कण्ठा–

२०–समुत्कण्ठा निजाभीष्टलाभाय गुरुलुब्धता।।३६।।

यथा कृष्णकर्णामृते–

१७–आनम्रामसितभ्रुवोरुचितामक्षीणपक्ष्यांकुरे–
ष्वालोलामनुरागिणोर्नयनयोरार्द्रां मृदौ जल्पिते।।
आताम्रामधरामृते मदकलामम्लानवंशीस्वने–
ष्वाशास्ते मम लोचनं व्रजशिशोर्मूर्तिंजगन्मोहनीम्।।३७।।

● *अनुवाद*—**स्वाभीष्ट–प्राप्ति अर्थात् श्रीकृष्ण–प्राप्ति के लिए जो अति तीव्र लोभ है, उसे *'समुत्कण्ठा'* कहते हैं।।३६।।**

श्रीकृष्णकर्णामृत में समुत्कण्ठा का उदाहरण इस प्रकार है–जिनका कृष्णवर्ण है, भ्रुकुटि जिनकी थोड़ी झुकी हुई एवं सघन पलकों पर उठी हुई हैं, जिनके नेत्र अनुरागियों के देखने के लिए चंचल हो रहे हैं, जिनकी मृदुबोलिन में आर्द्रता भरी हुई है, अधरामृत तथा अधर–बिम्ब स्पर्श के कारण ताम्रवर्णयुक्त

हैं तथा मन्द–ध्वनि और मादकता–विधायक वंशी जिन्होंने धारण कर रखी है, ऐसी जगन्मोहिनी–मूर्ति श्रीव्रजकिशोर–कृष्ण को देखने के लिए मेरे नेत्र छटपटा रहे हैं। ।३७।।

अथ नामगाने सदा रुचिर्यथा–

१८–रोदनबिदुमकरन्दस्यन्दिदृगिन्दीवराऽद्य गोविन्द !।
तव मधुरस्वरकण्ठी गायति नामावलिं बाला।।३८।।

● *अनुवाद–नाम–गान में सदा रुचि* का उदाहरण इस प्रकार है–हे गोविन्द ! मधुरकण्ठ वाली श्रीचन्द्रावलि आज आपके नामों का गान कर रही है। उसके नेत्रकमलों से अश्रुबिन्दुरूपी मकरन्द टपक रहा है।।३८।।

तद्गुणाख्याने आसक्तिर्यथा कर्णामृते–

१९–माधुर्यादपि मधुरं मन्मथता तस्य किमपि कैशोरम्।
चापल्यादपि चपलं चेतो बत हरति हन्त किं कुर्मः ?।।३९।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*माधुर्यादपि मधुरमतिशयेन मधुरमित्यर्थः, मन्मथता तस्य मन्मथोत्पादकस्येत्यर्थः, यद्वा तस्य कैशोरमेव मन्मथता मन्मथस्य धर्म इत्यर्थः।।३९।।*

● *अनुवाद–कृष्णगुणाख्यान में आसक्ति* का उदाहरण श्रीकृष्णकर्णामृत से उद्धृत करते हैं–अहो ! कामदेव के उत्पादक श्रीकृष्ण का कैशोर माधुर्य से भी अधिक मधुर है और चपलता से भी अधिक चपल उनकी अनिर्वचनीय किशोर–अवस्था वरवश मेरे मन को हरण किये जा रही है, मैं क्या करूँ ? ।।३९।।

तद्वसतिस्थले प्रीतिर्यथा पद्यावल्याम्–

२०–अत्रासीत्किल नन्दसद्म शकटस्यात्राभवद्भञ्जनं–
बन्धच्छेदकरोऽपि दामभिरभूद्बद्धोऽत्र दामोदरः।।
इत्थं माधुरवृद्धवक्त्रविगलत्पीयूषधारां पिब–
न्नानन्दाश्रुधरः कदा मधुपुरीं धन्यश्चरिष्याम्यहम्।।४०।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*मधुपुरीं तदुपलक्षितं मथुरामण्डलमित्यर्थः, व्रजभुवमिति वा पाठः।।४०।।*

● *अनुवाद–श्रीकृष्णलीला के स्थान में प्रीति* का उदाहरण पद्यावलि में इस प्रकार वर्णित है–यहाँ पर पहले निश्चय ही श्रीनन्दराज का भवन था, यहाँ ही शकट–भंजन हुआ था, बन्धन काटने वाले–मुक्तिप्रदाता श्रीदामोदर भगवान् का यहाँ ही दाम–बन्धन हुआ था, इस प्रकार (मथुरा) वृन्दावन के वृद्धजनों के मुख से निकली हुई वचनामृत–धारा का पान करते हुए आनन्द–अश्रुओं से परिपूर्ण होकर सौभाग्यशाली मैं कब श्रीवृन्दावन में विचरण करूँगा ? मथुरा शब्द यहाँ वृन्दावन का उपलक्ष मात्र है, क्योंकि मथुरा में श्रीनन्दराज का भवन कहाँ ? शकटासुर–भंजन एवं दामोदर–लीला कहाँ ? कहीं–कहीं ''व्रजभुवं'' ऐसा पाठ भी मिलता है।।४०।।

अपि च–

२१–व्यक्तं मसृणतेवान्तर्लक्ष्यते रतिलक्षणम्।
मुमुक्षुप्रभृतीनां चेद्भवेदेषा रतिर्न हि।।४१।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*तदेवं तदेकस्पृहत्वमेव रतेर्लक्षणं मुख्यमित्युक्तं, यदि त्वन्यस्पृहा स्यात्तदा तल्लक्षणान्तरसात्त्विकादेः सद्भावेऽपि रतिर्न मन्तव्येत्याह, अपि चेति। तु अर्थे "च" शब्दः, व्यक्तमिति। याऽन्तर्मसृणता आर्द्रता सा, अन्यत्र व्यक्तं यद रतिलक्षणं तदिव मुमुक्षुप्रभृतीनां यदि लक्ष्यते तथापि तेषु रतिर्न स्यात् न मन्तव्येत्यर्थः, तत्र हेतुः–मुमुक्षूप्रभृतीनामित्येव, न ह्यत्र स्पृहा अन्यत्र रतिरिति युज्यते इति भावः।।४१।।*

● *अनुवाद*–**यदि मुमुक्षु आदि (कर्म–ज्ञान–योगादि मार्ग के साधकों) के चित्त में द्रवी–भाव या स्निग्धता आदि रति के लक्षण कहीं दिखाई देते हैं, तो वे वास्तविक रति या भाव–भक्ति के चिह्न नहीं हैं।।४१।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–कृष्णरति का मुख्य लक्षण है एकमात्र कृष्ण–सुखेच्छा। वह केवल भक्ति–मार्ग के अनुयायी में सम्भव है। जो मुमुक्षु हैं–वे मुक्ति अर्थात् अपने दुःख की निवृत्ति चाहते हैं। कर्म–मार्ग के पथिक भक्ति–स्वर्गादि लोकों के सुख–भोग चाहते हैं। योग–मार्ग के साधक सिद्धियों को चाहते हैं–भुक्ति के बिना सब मार्ग के अनुयायियों में भगवत्–सेवा के अतिरिक्त अन्यान्य वासनायें हैं। अतः उन मार्ग के अनुयायियों में यदि कहीं चित्त की स्निग्धता या अश्रु–पुलकादि विकार, जो रति के लक्षणरूप में कहे गये हैं, दीखते हैं तो वे वास्तविक रति के लक्षण नहीं हैं।।४१।।

२२–विमुक्ताखिलतर्षैर्या मुक्तैरपि विमृग्यते।
या कृष्णेनातिगोप्याशु भजद्भयोऽपि न दीयते।।४२।।
२३–सा भुक्तिमुक्तिकामत्वाच्छुद्धां भक्तिमकुर्वताम्।
हृदये सम्भवत्येषां कथं भागवती रतिः।।४३।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*हेतुमेव विशिष्य दर्शयति विमुक्तेत्यादिना–भुक्तिमुक्ति–कामत्वात् कथं सा रतिः सम्भवेत् ? तस्मादेव हेतोः साधनगतमपि दोषमाह, शुद्धां भक्तिमकुर्वतामिति। शुद्धां ज्ञानकर्माद्यमिश्राम्।।४२–४३।।*

● *अनुवाद*–**समस्त कामनाओं का परित्याग कर मुक्त–पुरुष भी जिस रति का अन्वेषण करते रहते हैं, एवं जो रति अतिशय गोप्य होने से भक्तगणों को भी श्रीकृष्ण सहसा प्रदान नहीं करते, फिर जो लोग भुक्ति तथा मुक्ति की कामना के कारण शुद्ध–भक्ति का अनुष्ठान ही नहीं करते, उनके चित्त में उस भागवती रति का आविर्भाव भला कैसे सम्भव हो सकता है ?।।४२–४३।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–ज्ञान कर्मादि का मिश्रण जिस भक्ति में नहीं है, वह है शुद्धा–भक्ति। इहलोक–परलोक के सुख–भोंगों की जो कामना करने वाले हैं, वे कर्मकाण्ड के साथ भक्ति का अनुष्ठान करते हैं, अतः उनकी भक्ति कर्म–मिश्रा हो जाती है। इसी प्रकार जो मुक्ति चाहने वाले हैं, वे ज्ञान–मार्ग के साधनों के साथ

भक्ति का अनुष्ठान करते हैं, जिससे उनकी भक्ति ज्ञान–मिश्रा हो जाती है। फिर उनके इन साधनों का लक्ष्य भगवत्–सुख सम्पादन करना नहीं है। अतः उनकी भक्ति, भक्ति के लिए नहीं कही जा सकती, वह शुद्ध भी नहीं है। उन लोगों में रति या भाव का उदय होना असम्भव है। चित्तद्रवता, अश्रु–पुलक–कम्प आदि कभी उनमें दीखते भी हैं, तो वे वास्तविक रति के लक्षण नहीं हैं। क्या हैं वे–उसका वर्णन करते हैं।।४२–४३।।

२४–किन्तु बालचमत्कारकारी तच्चिह्नवीक्षया।
अभिज्ञेन सुबोधोऽयं रत्याभासः प्रकीर्तितः।।४४।।
२५–प्रतिबिम्बस्तथा छाया रत्याभासो द्विधा मतः।।४५।।

● *अनुवाद*–जो बाल–बुद्धि हैं अर्थात् भक्ति तत्त्व से अनभिज्ञ हैं, वे भक्तिमार्ग के अतिरिक्त मार्गानुयायियों में चित्तद्रवता, अश्रु, पुलकादि देखकर उन्हें रति के चिह्न समझकर चमत्कृत हो उठते हैं, परन्तु जो भक्ति–तत्त्वज्ञ हैं, वे रति के लक्षण नहीं, उन्हें *'रति–आभास'* कहते हैं।।४४।।

तत्र प्रतिबिम्बः–

२६–अश्रमाभिष्टनिर्वाही रतिलक्षणलक्षितः।
भोगापवर्गसौख्यांशव्यञ्जकः प्रतिबिम्बकः।।४६।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*तस्मान्निरुपाधित्वमेव रतेर्मुख्यस्वरूपं, सोपाधित्वभासत्वं, तच्च गौण्या वृत्त्या प्रवर्त्तमानत्वमिति प्राप्ते तस्याभासस्य प्रतिबिम्बत्वादि द्वैविध्यमुद्दश्य प्रतिबिम्बं लक्षयति–अश्रमेति। रतिलक्षणलक्षित इति। बाष्पाद्येकद्वयमात्र–दर्शनात् तद्रूपत्वेन प्रतीयमानोऽपि रत्याभासः। भोगापवर्ग–सौख्यांशव्यञ्जकश्चेत्तर्हि प्रतिबिम्बक इत्यन्वयः। भोगापवर्गदातृत्वलक्षणभगवद्गुणद्वयावलम्बनाद् भोगापवर्गलिप्सोपाधित्वं तत्प्रतिबिम्बत्वमित्यर्थः। तथाप्यश्रमाभीष्टनिर्वाहीति माहात्म्य–कथनम्।।४६।।*

● *अनुवाद*–बिना परिश्रम के अभीष्ट को प्रदान करने वाले, रति के लक्षणों से प्रतीत होने वाले और भोग–अपवर्गरूप सुखों के अभिव्यञ्जक उन लक्षणों को *'प्रतिबिम्ब–रत्याभास'* कहते हैं।।४६।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–भागवती–रति का मुख्य स्वरूप यह है कि उसमें कोई उपाधि न रहे। उपाधि का रहना आभास का चिह्न या लक्षण है। यहाँ उपाधि का होना गौणीवृत्ति का प्रवर्त्तक है। मुमुक्षु या कर्मकाण्डी में मुक्ति की कामना तथा स्वर्ग–भोगों की कामना उपाधि है। वे जानते हैं श्रीभगवान् मुक्ति–प्रदाता हैं और भोग–प्रदान करने वाले भी। श्रीभगवान् के इन दो गुणों को लक्ष्य कर मुमुक्षु एवं भुक्तिकामी उनकी भक्ति करते हैं; उनका वह भक्ति अनुष्ठान गौण होता है, मुख्य नहीं। क्योंकि भक्ति या भागवती–रति उनकी काम्य वस्तु नहीं है। तथापि भक्ति–अंगों के अनुष्ठान के प्रभाव से उनमें अश्रु–पुलकादि उदित हो उठते हैं। मुक्ति एवं भुक्ति–वासनारूप उपाधि के रहने के कारण उनके अश्रु–पलक भागवती–रति के प्रतिबिम्ब मात्र होते हैं। फिर भी उनका प्रभाव या महिमा यह

है कि शम–दमादि ज्ञान के साधनों का श्रम उठाये बिना उनको मुक्ति–भुक्ति का आंशिक सुख मिल जाता है।।४६।।

रति का प्रतिबिम्ब–आभास उनमें कैसे उदित होता है, उसका कारण अगली कारिका में कहते हैं–

२७–दैवात्सद्भक्तसंगेन कीर्तनाद्यनुसारिणाम्।
प्रायः प्रसन्नमनसां भोगमोक्षादिरागिणाम्।।४७।।
२८–केषांचिद्धृदि भावेन्दोः प्रतिबिम्ब उदञ्चति।
तद्भक्तहृन्नभःस्थस्य तत्संसर्गप्रभावतः।।४८।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*तत्र प्रक्रियामाह–भोगमोक्षादिरागिणां दैवात् कदाचिदेव न तु मुहुः सद्भक्तसंगेन कीर्तनाद्यनुसारिणां तदर्थान्तरलिप्सयैव तदनुकर्त्तृणां ततः प्रायः प्रसन्नमनसां दोषदर्शित्वाद्यभावेऽपि तत्तदर्थान्तरलिप्साशबलचित्तानां कथंचिद् हृदि तादृक्चित्ते तद्भक्तहृन्नभःस्थस्य तद्भक्तहृदेव नभः वस्त्वन्तरास्पृश्यत्वात् प्रेमेन्दूदययोग्यत्वाच्च। तत्स्थभावेन्दोः प्रतिबिम्ब उदञ्चति न तु स्वरूपं; तत्तल्लिप्सालक्षणोपाधिं विना तत्प्रतिबिम्बस्याप्यनुदयात्, प्रतिबिम्बश्चायं न स्वरूपसदृशः तत्तदेकैकगुणमात्रावलम्बनत्वात् तत्तल्लिप्सयास्वच्छत्वाच्च, शुद्धभावलिप्सा तु शुद्धं पूर्णं च तमाकर्षत्येव विचित्रगुणगणावलम्बनत्वात्तदर्थ–प्रयत्नत्वाच्चेत्यर्थः, तर्हि कथं तादृशभक्तव्यवधाने सति नापयाति ? तत्राह–तत्संसर्गेति। तत्संसर्गप्रभावाच्चिरमुदञ्चत्येव संस्काररूपेणेति भावः।।४७–४८।।*

● *अनुवाद*–**जो लोग भुक्ति–मुक्ति के अनुरागी हैं और अपने अभीष्ट की प्राप्ति के लिए कीर्तनादि भक्ति–अंगों का अनुसरण करते हैं, जो दूसरों के दोष नहीं देखते एवं सरल चित्त होने से प्रायः प्रसन्नचित्त रहते हैं, दैववश (सौभाग्यवश) यदि उन लोगों को किसी ऐसे सद्भक्त का, जिसमें भागवती रति का वास्तविक आविर्भाव हुआ हो, (बार–बार नहीं) एकाध बार संग प्राप्त हो जाये, तो उस सद्भक्त के चित्तरूप आकाश में उदित हुए भावरूपी चन्द्र का प्रतिबिम्ब उन लोगों के चित्त में प्रतिफलित हो जाता है।।४७–४८।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–मुक्ति–भुक्तिकामी यदि मुक्ति–भुक्ति के लिए श्रवण कीर्तनादि भक्ति का अनुष्ठान करते हैं, यदि वे परदोषदर्शी नहीं, सरल चित्त हैं तो ऐसे लोगों को जात–रति भक्त का संग यदि एक आध बार भी प्राप्त हो जाता है, तो जातरति हृदय की रति का प्रतिबिम्ब उन मुक्ति–भुक्तिकामी लोगों के हृदय में पड़ता है, जिससे उनमें अश्रु–पुलकादि लक्षण दीखने लगते हैं, जो वास्तविक नहीं होते, प्रतिबिम्ब मात्र होते हैं। प्रश्न उठता है, चन्द्र के सामने यदि मेघादि का व्यवधान आ जाये तो फिर उसका प्रतिबिम्ब जलाशय में नहीं पड़ता। मुमुक्षु एवं भोग–कामी जब सद्भक्त से रहते ही दूर हैं, तब उनमें यह प्रतिबिम्ब कैसे बना रह जाता है ? उत्तर में कहते हैं कि जात–रति भक्त–संसर्ग या संग का ऐसा अलौकिक प्रभाव है कि उससे दूर हो जाने पर भी उन लोगों में उसका प्रतिबिम्ब बना रहता है अर्थात् संस्कार रूप में वह चिरकाल तक स्थिर रहता है।।४७–४८।।

अथ छाया–

२९–क्षुद्रकौतूहलमयी चञ्चला दुःखहारिणी।
रतेश्छाया भवेत् किञ्चित्तत्सादृश्यावलम्बिनी।।४९।।
३०–हरिप्रिय–क्रिया–काल–देश–पात्रादि–संगमात्।
अप्यानुषंगिकादेषा क्वचिदज्ञेष्वपीक्ष्यते।।५०।।
३१–किंतु भाग्यं विना नासौ भावच्छायाऽप्युदञ्चति।
यदभ्युदयतः क्षेमं तत्र स्यादुत्तरोत्तरम्।।५१।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*अथ छायेति। छायाशब्देनात्र कान्तिरुच्यते; "छाया सूर्य्यप्रिया कान्तिः प्रतिबिम्बमनातपः" इत्यमरस्य नानाऽर्थवर्गात्, सा चात्र प्रतिच्छविरिवोच्यते, तस्याश्च कान्तित्वादाभासशब्दस्य तत्र च प्रसिद्धत्वात्, तदेतदभिप्रेत्य छायां लक्षयति क्षुद्रेति। क्षुद्रकौतूहलत्वं पारमार्थिकेऽपि कौतूहले तस्मिल्लौकिकत्वमननात्, तथापि परमार्थकौतूहलमयरतेस्तत्र यत् किञ्चिच्छविराभासत एवेति छायात्वमत्रेति भावः, रतेश्छाया तु किञ्चिद्यथा स्यात्तथा तस्या रतेः सादृश्यावलम्बिनी भवेदिति तु योजना; अतश्छायात्वाच्चञ्चलापि न तु प्रतिबिम्बवत् स्थिरा भोगादिरागवल्लौकिककौतुकस्य स्थिरत्वाभावात् तथापि वस्तुप्रभावाद् दुःखहारिणी संसारतापस्य क्रमाच्छमनीति, न चात्र विशेषलक्षणे भोगादि–सम्बन्धाभावादाभासगतस्य सामान्यलक्षणस्याव्याप्तिः स्यात् कौतूहलानुभवस्य च भोगविशेषत्वाद्, न चात्र भोगसम्बधेन प्रतिबिम्बेऽतिव्याप्तिः स्यात्, क्षुद्रेत्यनेनैव ततोविच्छिन्नत्वात्।।४९।। हरिप्रियक्रियादीनां संगमाद्युगपन्मिलनादित्यर्थः।।५०।।*

● *अनुवाद*–**छायारूप रति क्षुद्रकौतूहलमयी, चञ्चलता युक्त एवं दुःखहारिणी होती है और रति के साथ कुछ इसकी सदृशता रहती है।।४९।।**

भगवान् के प्रिय भक्तों की (श्रवण–कीर्त्तनादि) क्रिया, (भगवान् से सम्पर्क रखने वाला जन्माष्टमी आदि) काल या समय, (श्रीवृन्दावन आदि भगवत्) देश एवं (भगवद्–भक्त) पात्र इन सबके साथ आनुषंगिक मिलन होने पर कभी–कभी अनजान व्यक्तियों में भी रति–छाया उदित हो उठती है।।५०।।

किन्तु सौभाग्य के बिना यह रति–छाया भी कभी उदित नहीं होती, क्योंकि इस रति–छाया के उदित होने पर ही उत्तरोत्तर मंगल वर्द्धित हो सकता है।।५१।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–यहाँ छाया शब्द का अर्थ है कान्ति। भगवत्‌रति में कीर्तन–नृत्यादि जो कौतूहल होता है, वास्तव में वह परमार्थिक–भगवत् प्रेम से सम्बन्ध रखने वाला होता है, किन्तु उसे सामान्य लौकिक कौतूहल मानने से उसे क्षुद्र कौतूहलमयी कहा गया है। रति की छाया भी रति के सदृश होती है। छाया होने से उसे चञ्चल या अस्थिर कहा गया है, यह प्रतिबिम्ब की तरह स्थिर नहीं होती। भोगादि विषयों में अनुरक्ति की भाँति लौकिक कौतूहल जैसे स्थिर नहीं रहता, उसी तरह रति–छाया भी स्थिर नहीं रहती। फिर भी उनके स्वरूपगत प्रभाव के कारण यह दुःख का हरण करने वाली है, क्रमशः संसारताप

को नाश कर देती है। प्रतिबिम्ब की कुछ क्रिया नहीं होती है। सूर्य–किरण शीत की निवृत्ति करती है। उसी प्रकार इसे दुःख–हारिणी और उत्तरोत्तर बढ़कर मंगल–कारिणी माना गया है। यह रति–छाया मुमुक्षु के चित्त में कभी उदित नहीं होती, उसके चित्त में प्रतिबिम्ब ही पड़ता है। इसलिए यह कहा गया है कि किसी सौभग्यवान को यह रति छाया प्राप्त होती है। पूर्वजन्म का भक्ति–संस्कार, पूर्वजन्म अथवा इस जन्म में किसी भगवत् भक्त का संग होना ही यहाँ सौभाग्य का अर्थ है।।४६–५१।।

भगवद्भक्तों की कृपा से मुमुक्षु आदि के हृदय में जो रति–आभास उदित हुआ करता है, वह स्थिर भी हो सकता है और भक्त–अपराध के कारण उत्तम भावाभास नष्ट भी हो जाता है, इस बात को अगली कारिकाओं में कहते हैं–

३२–हरिप्रियजनस्यैव प्रसादभरलाभतः।
भावाभासोऽपि सहसा भवत्वनुपगच्छति।।५२।।
३३–तस्मिन्नेवापराधेन भावाभासोऽप्यनुत्तमः।
क्रमेण क्षयमाप्नोति खस्थः पूर्णशशी यथा।।५३।।

● *अनुवाद*–श्रीभगवान् के प्रिय भक्त के अतिशय अनुग्रह से रति आभास भी (प्रतिबिम्ब एवं छाया दोनों) रति (वास्तविक–भाव) में परिणत हो जाता है, किन्तु यदि उस भगवद्भक्त के प्रति अपराध बन जाये तो अति उत्तम रति–आभास भी आकाश–स्थित चन्द्र की तरह क्रमशः क्षीणता को प्राप्त हो जाता है।।५२–५३।।

किं च–

३४–भावोऽप्यभावमायाति कृष्णप्रेष्ठापराधतः।
आभासतां च शनकैर्न्यूनजातीयतामपि।।५४।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*अभावं द्विविधस्यैवापराधस्याधिक्येन, एवमाभासतां मध्यमत्वेन; न्यूनजातीतामल्पत्वेन, तत्र न्यूनजातीयत्वं वक्ष्यमाणानां शान्त्यादिपञ्चविधानां रत्याद्यष्टविधानां च तारतम्येन ज्ञेयम्।।५४।।*

● *अनुवाद*–श्रीकृष्ण के प्रियतम भक्तों के प्रति (महान्) अपराध हो जाने से भाव भी अभावता को प्राप्त करता है अर्थात् पूरी तरह लुप्त हो जाता है, अथवा धीरे–धीरे भावाभास बन जाता है या हीन जातीयता को प्राप्त करता है।।५४।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–श्रीभगवान् के प्रियतम भक्तों के प्रति यदि भारी अपराध बन जाता है तो भाव या रति सम्पूर्ण रूप से लुप्त हो जाती है। जैसे श्रीराम भगवान् के पार्षद द्विविदवानर में। उसका श्रीलक्ष्मणजी के प्रति अपराध बन गया था, जिससे उसका भाव बिल्कुल नष्ट हो गया और श्रीबलरामजी के हाथों उसका वध हुआ। यदि मध्यम प्रकार का कोई अपराध बनता है तो बिल्कुल अभाव न होकर भाव या रति आभासरूप में बदल जाते हैं या भक्ति–साधक सालोक्यादि मुक्तियों की कामना करने लगता है। यदि अति अल्प अपराध बनता

है तो रति हीन–जातीयता में बदल जाती है। हीन–जातीयता का तात्पर्य यह है कि पाँच प्रकार की रति में कान्ता–रति सर्वोत्तम है। उससे न्यून है वात्सल्य–रति, उससे न्यून है सख्य–रति, उससे न्यून है दास्य –रति और सबसे न्यून है शान्त–रति। अतः यदि कान्ता–रति के व्यक्ति का भगवान् के परमप्रिय भक्त के प्रति अपराध होता है तो वह कान्ता–रति से गिरकर वात्सल्य, सख्य, दास्य अथवा शान्त–रति की जाति में आ जाता है। इस प्रकार किसी उत्तम–रति से नीचे की किसी रति में आ जाना ही हीन–जातीयता प्राप्ति मानी गई है।।५४।।

३५–गाढासंगात्सदायाति मुमुक्षौ सुप्रतिष्ठिते।
आभासतामसौ किंवा भजनीयेशभावताम्।।५५।।
३६–अतएव क्वचित्तेषु नव्यभक्तेषु दृश्यते।
क्षणमीश्वरभावोऽयं नृत्यादौ मुक्तिपक्षगः।।५६।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*भजनीयो य ईशस्तस्य भावोऽभिमान इव भावोऽभिमानो यस्य तत्तां याति "अहंग्रहोपासनाविशतीत्यर्थः।।५५।। क्षणमित्युपलक्षणं क्वचिच्चिरमभिव्याप्य, मुक्तिस्त्वत्र सारूप्यसार्ष्टिसामीप्यलक्षणा ज्ञेया।।५६।।*

● *अनुवाद*–**सुप्रतिष्ठित मुमुक्षु व्यक्ति में गाढ़ आसक्ति होने से भी रति आभासरूपता को प्राप्त करती है, अथवा भजनीयेश–भावना को प्राप्त करती है।।५५।।**

इसलिए मुमुक्षु का संग करने के कारण किसी–किसी नये भक्तों में नृत्य आदि करने से क्षणिक अथवा दीर्घकाल स्थायी मुक्तिपक्ष में जाने वाला ईश्वर–भाव दीखता है।।५६।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–वास्तविक रति या तो भक्तों के अपराधवश लुप्त या आभासरूप को अथवा हीन–जातीयता को प्राप्त हो जाती है, या जो मुमुक्षु हैं और ज्ञान–शास्त्र की युक्तियों एवं तर्कों द्वारा मुक्ति का सर्वोत्कर्ष स्थापन करने वाले हैं और लोगों में प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके हैं, ऐसे लोगों में गाढ़ अनुराग होने से या उनका संग करने से, उनके द्वारा कथित प्रवचन कथादि में जाने से 'भजनीयेश–भावना' अर्थात् अपने में भजनीय ईश्वर का अभिमान पैदा हो जाता है। साधक अपने को उपास्य भगवत्–स्वरूप जानने लग जाता है–इसका दूसरा नाम है *"अहंग्रहोपासना"*। इस अहंग्रहोपासना से सेव्य–सेवक भाव तिरोहित हो जाने से रति सम्पूर्णरूप से लुप्त हो जाती है। अतः भक्ति–मार्ग के पथिकों को ऐसे प्रतिष्ठित मुमुक्षुओं या ज्ञान–मार्गियों का संग कभी नहीं करना चाहिए। उनका सत्संग करने से नये–नये भक्तों में अर्थात् जिनको अभी भक्ति–तत्त्व का पूरा ज्ञान नहीं है, जब वे नृत्यादि करने लगते हैं, तो उसमें कभी थोड़ी देर के लिए, कभी चिरस्थायी सारूप्य, सार्ष्टि–सामीप्य मुक्ति के लक्षणों का भाव उत्पन्न हुआ दीखता है, अर्थात् वे नृत्य करते–करते कभी वंशी बजाते हुए ललित–त्रिभंग होने लगते हैं अथवा ऐसा अभिनय करने लगते हैं जैसे वे भगवान् के समीप निवास कर रहे हों या चतुर्भुज रूप में अपना ईश्वर–भाव ज्ञापन करने लगते हैं। इन

आन्तरिक भावों को भक्ति–तत्त्वज्ञ व्यक्ति तो जान लेते हैं, परन्तु साधारण लोग वास्तविकता नहीं जान पाते। ज्ञानावलम्बी–व्यक्तियों के प्रति गाढ़ आसक्तिवश रति में ऐसे वैगुण्य उत्पन्न हो जाते हैं।।५५–५६।।

३७–साधनेक्षां विना यस्मिन्नकस्माद्भाव ईक्ष्यते।
विघ्नस्थगितमत्रोह्यं प्राग्भवीयं सुसाधनम्।।५७।।
३८–लोकोत्तरचमत्कारकारकः सर्वशक्तिदः।
यः प्रथीयान् भवेद्भावः स तु कृष्णप्रसादजः।।५८।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*साधनेक्षामिति। साधनानि पूर्वोक्तसाधनाभिनिवेशकृष्ण–प्रसादभक्तप्रसादलक्षणानि कारणानि तेषामीक्षां शास्त्रादिद्वारा ज्ञानं विना यस्मिन् भावो रत्यादिरीक्ष्यते निश्चीयते तस्मिन् वृत्रादिष्विव प्राग्भवीयं साधनमूह्यसू।।५७।। ननु पूर्वं (१।३।६) साधनाभिनिवेशादित्रयेणाधुना च प्राग्भवीयसाधनेन भावजन्मोक्तं तेषां, मध्ये कतमः श्रेष्ठः ? तत्र पूतनादिदृष्टान्तमभिप्रेत्याह लोकेति।।५८।।*

● *अनुवाद*–**साधन के जाने बिना या अनुष्ठान के बिना भी अकस्मात् किसी व्यक्ति में रति का उदय दीखता है। उसका कारण यह है कि उसने पूर्व जन्म में सुन्दर साधन किया था, विघ्नवश अर्थात् कर्मफलवश उसके साधन का फल रति अभी तक प्रकाशित नहीं हो रही थी। अब उसके विघ्न के समाप्त हो जाने पर वह फल अर्थात् रति प्रकाशित हो उठी है–ऐसा जानना चाहिए।।५७।।**

लोकोत्तर चमत्कारजनक एवं सर्वशक्तियों को प्रदान करने वाला जहाँ अत्यन्त प्रबल भाव होता है, उसे कृष्ण–प्रसादज अर्थात् श्रीकृष्ण की कृपा से प्राप्त हुआ जानना चाहिए (वह साधनानुष्ठान–जन्य या कृष्णभक्तकृपा–जन्य नहीं होता)।।५८।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–रति की उत्पत्ति के तीन कारण पहले कह आये हैं–१. साधनाभिनिवेश, २. कृष्ण–कृपा एवं ३. कृष्णभक्त–कृपा। इनके बाद पूर्वजन्म के साधन को भी रति उत्पन्न कराने का कारण कहा गया है। जिसका उदाहरण वृत्रासुर है। असुर होने पर भी श्रीभगवान् में अतिशय भाव उसमें जाग उठा। इन चारों प्रकार के भावों में श्रीकृष्ण–कृपा से उत्पन्न होने वाले भाव की श्रेष्ठता है। उसका उदाहरण है पूतना, जो श्रीकृष्ण की हिंसा करने के लिए आई एवं श्रीकृष्ण को विषाक्त स्तन पान कराया, किन्तु श्रीकृष्ण ने उस पर ऐसी लोकोत्तर चमत्कारी कृपा की कि उसे मातृगति प्रदान कर दी। कृष्ण–कृपा से पूतना को जिस भाव की प्राप्ति हुई, वह चमत्कारजनक तो था ही सर्वशक्तिप्रद भी था, जिससे उसके समस्त पाप समूह, असुरत्व तक नाश हो गये। इसलिए श्रीकृष्णकृपा–जन्य जो भाव है, वह सबसे श्रेष्ठ है।।५७–५८।।

३९–जने चेज्जातभावेऽपि वैगुण्यमिव दृश्यते।
कार्या तथापि नासूया कृतार्थः सर्वथैव सः।।५९।।

यथा नारसिहंहे–

२१–भगवति च हरावनन्यचेता भृशमलिनोऽपि विराजते मनुष्यः।
न हि शशकलुषच्छविः कदाचित्तिमिरपराभवतामुपैति चन्द्रः।।६०।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*वैगुण्यं बहिर्दुराचारता तद् इवेति। तेन लिप्त्त्वाभावात्, तथा चोक्तम्–"अपवित्रः पवित्रो वेत्यादि, कृतार्थत्वं चात्र जातभावत्वादेव।।५६।। भृशं मलिनोऽपि दुराचारत्वेन बहिर्दृश्यमानोऽपि विराजते अन्यापराभूतया अन्तर्गतभक्त्या शोभत एव, तत्रार्थान्तरन्यासो–न हीति। "लोकेच्छायामयं लक्ष्म तवांके शशसंज्ञितमि" ति–हरिवंशोक्ते; शशकलुषच्छवित्वेन बहिर्दृश्यमानोऽपीत्यर्थः।।६०।।*

● *अनुवाद*–जिस व्यक्ति में भाव या रति उत्पन्न हो गई है, यदि उसमें बाह्य दुराचार की तरह कुछ दोष दीखता है तो भी उसके प्रति असूया (निन्दा) या दोष आरोपण नहीं करना चाहिए; क्योंकि (विषयों से अनासक्त होने के कारण) वह जात–रति व्यक्ति सर्वतोभाव से कृतार्थ हो चुका है।।५६।।

जैसा कि नृसिंह–पुराण में कहा गया है कि जिस व्यक्ति के चित्त में एकान्त–भाव से भगवत् निष्ठा विद्यमान है, बाहर से उसमें अत्यन्त दुराचारता दीखने पर भी, अन्तःकरण में भक्ति के प्रभाव से वह उज्ज्वल या शोभायमान ही है, जैसे पूर्णचन्द्र बाहर से मृगचिह्न से कलंकित होता हुआ भी अन्धकार से कभी भी पराभूत या परास्त नहीं होता, सदा उज्ज्वल ही रहता है।।६०।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–भगवती रति–जात व्यक्ति में वस्तुतः दुराचारता का कोई स्थान ही नहीं रहता। अतः दुराचारता नहीं, किन्तु दुराचारता के सदृश यदि कुछ दीखता है, तो भी उसकी असूया नहीं करनी चाहिए। जातरति होना उसमें महान् गुण है, उस गुण में दोष का आरोपण करना ही असूया है। जात–रति भक्त का चित्त श्रीभगवान् में निविष्ट होता है, चन्द्रमा में कालिमा दीखने पर भी जैसे वह अन्धकार से कभी पराभूत नहीं होता, उसी प्रकार जात–रति भक्त भी विषयों, दुराचारतादि से सदा अछूता रहता है, परम उज्ज्वल होता है।।५६–६०।।

४०–रतिरनिशनिसर्गोष्णप्रबलतरानन्दपूररूपैव।
ऊष्माणमपि वमन्ती सुधांशुकोटेरपि स्वाद्वी।।६१।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*उत्तरोत्तराभिलाषवृद्धेः अशान्तस्वभावत्वमुष्णत्व–मुल्लासात्म–कत्वादानन्दत्वमनिशोऽनादित एव यो निसर्गः स्वभावस्तेन, उष्णा चासौ प्रबलतरानन्दरूपा चेति विग्रहः, ऊष्माणं तद्विधनानासंचारिभावलक्षणम्।।६१।।*

● *अनुवाद*–भागवती–रति स्वभावतः उष्ण होते हुए भी अत्यन्त प्रबल आनन्द स्वरूपा होती है। इसलिए ऊष्ण वमन करती हुई भी अर्थात् अनेक संञ्चारि भावों को उदित करती हुई भी चन्द्रकला से भी अधिक ह्लादकारिणी होती है।।६१।।

इति श्रीभक्तिरसामृतसिन्धौ पूर्वविभागे भावभक्तिलहरी तृतीया।।३।।

● ● ●

चतुर्थ-लहरी : प्रेमभक्तिः

अथ प्रेमा–

१–सम्यङ्मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयांकितः।
भावः स एव सान्द्रात्मा बधैः प्रेमा निगद्यते।।१।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*अथ भावमप्युक्त्वा प्रेमाणमाह–सम्यगिति। अत्र सान्द्रात्मकत्वं स्वरूपलक्षणअमन्यद्वयन्यं तटस्थलक्षणम्।।१।।*

प्रेमा–भक्ति–

● *अनुवाद*–**भाव या रति जब गाढ़ता को प्राप्त होती है और उसके फलस्वरूप साधक का चित्त जब सम्यक्रूप से द्रवीभूत होता है तथा श्रीकृष्ण–विषयों में अतिशय ममता–युक्त हो जाता है, तब पण्डित लोग उसे** *'प्रेम'* **कहते हैं।।१।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–दूसरी लहरी में भक्ति के तीन भेद कहे गये थे; साधन–भक्ति, भाव–भक्ति एवं प्रेम–भक्ति। इनमें से साधन–भक्ति तथा भाव–भक्ति का निरूपण करने के बाद अब इस लहरी में प्रेम–भक्ति का निरूपण करते हैं। भक्ति के मुख्यतः साधन–भक्ति और साध्य–भक्ति दो भेद मानने से भाव–भक्ति तथा प्रेम–भक्ति, ये दो भेद साध्य–भक्ति के माने गये हैं। भाव–भक्ति उस साध्य–भक्ति की प्रारम्भिक अवस्था है और प्रेम–भक्ति अन्तिम अवस्था। उस भाव–भक्ति की गाढ़तम अवस्था का नाम है प्रेम–भक्ति। इस अवस्था में भाव–भक्ति निबिड़ स्वरूप में अभिव्यक्त होकर परमानन्द का उत्कर्ष सम्पादन करती है। प्रेम–भक्ति का स्वरूप श्रीभगवान् की ह्लादिनी–संवित् प्रधाना स्वरूपशक्ति ही है। प्रेम का आकृतिगत स्वरूपलक्षण है सान्द्रता या गाढ़ता। भाव से प्रेम का यही वैशिष्ट्य है। प्रेम का तटस्थ लक्षण है चित्त की सम्यक् द्रवीभूतता तथा श्रीकृष्ण में अतिशय ममता।

रति क्रमशः घनीभूत होकर स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव तथा महाभाव नामों को प्राप्त करती है। ये समस्त प्रेम–विकाश के विभिन्न स्तर हैं। प्रेम का सबसे ऊँचा स्तर या अवस्था है महाभाव। सांख्य–मत कहता है कि उपादान कारण ही अपनी पूर्वावस्था का त्याग कर कार्यरूप में परिणत होता है, जैसे दूध अपनी पूर्वावस्था को त्याग कर दही में परिणत हो जाता है। किन्तु प्रेम–विकाश विषय में यह बात नहीं है। रति आदि अपनी–अपनी पूर्वावस्था को त्याग कर प्रेम–अवस्था को प्राप्त नहीं होते। हर स्तर में हर एक की पृथक् स्थिति अक्षुण्ण रहती है। श्रीकृष्ण की अचिन्त्य शक्ति के प्रभाव से पूर्व–पूर्व अवस्था का त्याग किए बिना ही भाव प्रेम–रूप में प्रकाशित होता है। प्रेम–अवस्था में भाव रहता ही है, जैसे श्रीकृष्ण के बाल्य शरीर में, बाल्यावस्था में ही, बिना बाल्यावस्था के परित्याग किये पौगण्ड एवं कैशोर अवस्थाएँ प्रकटित होती हैं। जिस भक्त में जो स्थायि भाव रहता है, वह प्रेम–अवस्था में भी बराबर विद्यमान रहता है।।१।।

यथा पञ्चरात्रे—

१—अनन्यममता विष्णौ ममता प्रेमसंगता।
भक्तिरित्युच्यते भीष्मप्रह्लादोद्धवनारदैः।।२।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*अत्र स्वमतमुदाहरणमवंव्रतः (भा० ११.२.३८) स्वे त्यादिवक्ष्यमाण प्रकारमेव ज्ञेयं, मतान्तरमपि योजनान्तरेण संगमयितुमाह—यथेति। भक्तिरत्र भावः।।२।।*

● *अनुवाद*—श्रीनारद; पञ्चरात्र में प्रेम के लक्षण का इस प्रकार वर्णन है; अन्य वस्तु के प्रति ममता का त्यागपूर्वक भगवान् श्रीविष्णु में जो प्रेमसंगता ममता है, श्रीभीष्म, प्रह्लाद, उद्धव तथा श्रीनारद उसे ही भक्ति अर्थात् भाव कहते हैं।।२।।

२—भक्तिः प्रेमोच्यते भीष्ममुखैर्यत्र तु संगता।
ममतान्यममत्वेन वर्जितेत्यऽत्र योजना।।३।।
३—भावोत्थोऽतिप्रसादोत्थः श्रीहरेरिति स द्विधा।।४।।

● *अनुवाद*—श्रीभीष्म आदि ने उस भक्ति को प्रेम कहा है, जहाँ श्रीकृष्ण में देह गेहादि—रहित ममता संगत होती है, श्रीकृष्ण में अनन्य ममता होना ही 'प्रेम' है।।३।।

वह प्रेम दो प्रकार का है—१. भाव से उत्पन्न, तथा २. भगवत्—कृपा से उत्पन्न।।४।।

तत्र भावोत्थः—

४—भाव एवान्तरंगाणामंगानामनुसेवया।
आरूढः परमोत्कर्षं भावोत्थः परिकीर्तितः।।५।।

तत्र वैधभावोत्थो, यथैकादशे (११।२।४०)—

२—एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गायत्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः।।६।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*वैध्या निर्वृत्तो वैधः, स चासौ भावश्चेति तदुत्थः।।५।। अत्र एवंव्रत इति। वैधीसम्बन्धात्तन्निर्वृतत्वं, प्रियेति भावोत्थत्वं, स्वेति ममतायुक्तत्वं, जातानुराग इति तदतिशयित्वं च ज्ञेयम्।।६।।*

● *अनुवाद*—अन्तरंग भक्ति—अंगों का (निरन्तर) अनुष्ठान करने से जब भाव परम उत्कर्ष को प्राप्त करता है, तब उसी भाव को ही *'भावोत्थ—प्रेम'* कहा जाता है।।५।।

जैसे श्रीमद्भागवत (११।२।४०) में वैध—भावोत्थ अर्थात् वैधीभक्ति के साधन से उत्पन्न प्रेम का वर्णन किया गया है, इस प्रकार जो व्यक्ति अपने प्रिय श्रीभगवान् का व्रतरूप में ग्रहण करके नाम—कीर्तन करता है, उसमें कीर्तन से अनुराग उदय होता है। उस अनुराग के फलस्वरूप वह लोक—अपेक्षा से रहित होकर उच्च स्वर से कभी हँसता है, कभी रोता है, सभी चीत्कार करता एवं कभी उन्मत्त व्यक्ति की तरह नृत्य करने लगता है।।६।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–श्रवण–कीर्तन आदि भक्ति के अन्तरंग अंग हैं। उनका अनुष्ठान करने से भाव उदित होता है। अतिशय निष्ठा और आसक्ति सहित उन अंगों का अनुष्ठान निरन्तर करते रहने से वह भाव गाढ़ता एवं परमोत्कर्ष को प्राप्त करता है, तब चित्त द्रवीभूत होता है और श्रीकृष्ण में अत्यन्त ममता–बुद्धि जाग्रत होती है। तब वह भाव ही प्रेम में परिणत हो जाता है। साधन–भक्ति वैधी एवं रागानुगा दो प्रकार की है। अतः भावोत्थ–प्रेम भी दो प्रकार का है। *वैधभावोत्थ–प्रेम तथा रागानुगीय भावोत्थ–प्रेम।*

श्रीमद्भागवत के उपर्युक्त श्लोक द्वारा वैध भावोत्थ–प्रेम का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है; व्रतरूप में भक्ति–अंगों का अनुष्ठान ही वैधी–भक्ति का सूचक है। प्रिय–शब्द से श्रीकृष्ण में प्रियत्व या ममता की सूचना मिलती है। जातानुराग से अतिशय ममता प्रकाशित होती है। इस अवस्था में जो हँसना–रोना–चीत्कार करना आदि अनुभाव या प्रेम के लक्षण हैं, ये वैधभावोत्थ–प्रेम का ही ज्ञापन करते हैं।।५–६।।

रागानगीभावोत्थ, यथा पाद्मे–

३–न पतिं कामयेत् कंचिद्–ब्रह्मचर्यस्थिता सदा।
तामेव मूर्तिं ध्यायन्ती चन्द्रकान्तिर्वरानना।।७।।
४–श्रीकृष्णगाथां गायन्ती रोमाञ्चोद्भेदलक्षणा।
अस्मिन्मन्वन्तरे स्निग्धा श्रीकृष्णप्रियवार्त्तया।।८।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*तामेव मूर्तिं ध्यायन्तीति तस्यां मूर्तौ पूर्वं भावो जात आसीदिति सूचितम्, कंचिदन्यं पतिं न कामयेन्न कामयेतेति गाढममतया प्रेम दर्शितं; स्निग्धा बभूवेति शेषः।।८।।*

● **अनुवाद–पद्मपुराण में वर्णित है, इस जन्म में श्रीकृष्ण की प्रिय कथा में स्निग्ध–चित्ता होकर ब्रह्मचर्य व्रत–परायण सुन्दरमुखी चन्द्रकान्ति पुलकित शरीर से श्रीकृष्ण–गाथा गान करते हुए और श्रीकृष्ण–मूर्ति के ध्यान में अन्य किसी को भी पतिरूप में कामना नहीं करती है।।७–८।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–श्रीकृष्ण–मूर्ति का ध्यान करते–करते चन्द्रकान्ति नाम्नि रमणी में पहले भाव आविर्भाव हुआ। फिर उसका अन्य किसी को पतिरूप में न चाहना श्रीकृष्ण में उसकी गाढ़ ममता का अथवा प्रेम का सूचक है। उस प्रेम के फल स्वरूप उसमें स्निग्धता आई है। श्रीकृष्ण–ध्यान रागानुगा–मार्ग का साधन है। उससे पहले भाव का उदय, फिर प्रेम का आविर्भाव है, अतः इसे रागानुगीय भावोत्थ–प्रेम के उदाहरण में लिया गया है।।७–८।।

अथ हरेरतिप्रसादोत्थः–

५–हरेरतिप्रसादोऽयं संगदानादिरात्मनः।।९।।

यथैकादशे (११।१२।७)–

५–ते नाधीतश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमाः।
अव्रतातप्ततपसः सत्संगान्मामुपागताः।।१०।।इति।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*संगदानमादिर्यस्य सः।।६।। त इति।। पूर्वोक्तेषु ते केचिद्वलिप्रभृतयः इत्यर्थः, ते च मत्प्राप्त्यर्थं नाधीताः श्रुतिगणा यैः; तथा अध्ययनार्थं नोपासिता महत्तमास्तत्पारगा यैः; मत्संगादिति। तेषां सतां मध्ये प्रधानस्य मम संगात्प्रेमाणं प्राप्य मामुपागता इत्यर्थः, किंतु श्रीभगवतः स्वतन्त्रत्वेऽपि सतां मध्ये स्वयंगणनं विनयस्वभावादेव कृतमिति श्रीभगवत्प्रसादोत्थ एवायं ज्ञेय इति।।१०।।*

● *अनुवाद*—श्रीभगवान् की यह अति—कृपा उनके ही अर्थात् श्रीभगवान् के संग—दान से ही आरम्भ होती है।।६।।

श्रीमद्भागवत (११।१२।७) में श्रीकृष्ण ने श्रीउद्धव के प्रति कहा है, सुग्रीव, हनुमान, यज्ञपति आदिक ने वेदाध्ययन नहीं किया, वेदाध्ययन के लिए इन्होंने वेद—निष्णात महत्पुरुषों की भी उपासना नहीं की, किसी प्रकार का व्रताचरण भी नहीं किया, कष्टसाध्य कोई तपस्या भी नहीं की; केवल मेरे संग के कारण ही उन्होंने मुझे प्राप्त कर लिया।।१०।।

६—माहात्म्यज्ञानयुक्तश्च केवलश्चेति स द्विधा।।११।।

तत्र आद्यो, यथा पञ्चरात्रे—

६—माहात्म्यज्ञानयुक्तस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया सार्ष्ट्यादि नान्यथा।।१२।।

केवलो, यथा तत्रैव—

७—मनोगतिरविच्छिन्ना हरौ प्रेमपरिप्लुता।
अभिसंधि—विनिर्मुक्ता भक्तिर्विष्णुवशंकरी।।१३।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*पुनश्च तस्यैव प्रेम्णो भेदद्वयमाह—माहात्म्येति। केवलो माधुर्यमात्रज्ञानयुक्त इत्यर्थः।।११।। अत्र पाञ्चरात्रिकपद्यद्वय माह माहात्म्यज्ञानसद्भावांश एव न तु लक्षणांशे।।१२।।*

● *अनुवाद*—वह भगवत् अति—प्रसादोत्थ प्रेम दो प्रकार का है—१. *माहात्म्यज्ञानयुक्त प्रेम* तथा २. *केवल* अर्थात् माधुर्यमात्र ज्ञानयुक्त प्रेम।।११।।

नारद पञ्चरात्र में माहात्म्यज्ञानयुक्त—प्रेम के सम्बन्ध में इस प्रकार कहा गया है, माहात्म्यज्ञानयुक्त, सुदृढ़ एवं सर्वतोभाव से अधिक जो स्नेह है, उसे प्रेम—भक्ति कहा जाता है। उससे सार्ष्टि आदि चार प्रकार की मुक्ति प्राप्त की जा सकती है और कोई उपाय उस मुक्ति को पाने का नहीं।।१२।।

अन्य फलकामना से रहित तथा श्रीकृष्ण प्रेम से परिप्लुत अर्थात् मन की जो श्रीकृष्णसुखैकतात्पर्यमयी अविच्छिन्न गति है, उसे प्रेम—भक्ति कहते हैं और वह श्रीकृष्ण को वशीभूत करने वाली है।।१३।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—साधन—भेद से प्रेम के भी दो भेद कहे गये हैं। विधि—मार्ग के साधक के चित्त में भगवान् के माहात्म्य तथा ऐश्वर्य का ज्ञान प्रधान रूप से रहता है। अतः विधि—मार्ग के साधनों से जो प्रेम उदित होता है, वह *"माहात्म्यज्ञानयुक्त—प्रेम"* कहलाता है। रागानुगा—मार्ग के साधन का मूल कारण है श्रीकृष्ण—सेवा का लोभ। इस मार्ग के साधनों की परिपक्वता में साधक के चित्त में भगवान् के माहात्म्य या ऐश्वर्य का ज्ञान रहते हुए भी माधुर्य की प्रबलता रहती

है। ऐसे साधकों से जो प्रेम उदित होता है, वह है *'केवल प्रेम'*। माहात्म्य ज्ञानयुक्त प्रेम में सख्य, वात्सल्य तथा मधुर–भाव के परिकरों की प्रीति सदा संकुचित रहती है, क्योंकि वे जानते हैं–"यह श्रीभगवान्" हैं। इस ज्ञानयुक्तप्रेम से सार्ष्टि, सालोक्य, सारूप्य एवं सामीप्य–इन चारों में से कोई सी एक मुक्ति प्राप्त होती है। केवल–प्रेम के परिकरों में कोई भी संकोच नहीं रहता। इसमें प्रेम की ही अतिशयता रहती है। अतः श्रीकृष्ण भी इस प्रेम के वशीभूत रहते हैं।।११–१३।।

७–महिमज्ञानयुक्तः स्याद्विधिमार्गानुसारिणाम्।
रागानुगाश्रितानां तु प्रायशः केवलो भवेत्।।१४।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*प्रायश इति। वै ध्यंशयुक्तत्वेऽपि न केवलः स्यादित्यर्थः।*

● ***अनुवाद*–विधि–मार्ग के अनुयायी साधकों का प्रेम महिमा–ज्ञानयुक्त होता है और रागानुगा–मार्ग के साधक भक्तों का तो प्रेम प्रायशः 'केवल–प्रेम' होता है। (प्रायशः का तात्पर्य है कि वैधी–भक्ति का थोड़ा–सा भी अंश रहने पर 'केवल–प्रेम' की प्राप्ति नहीं होती।।१४।।**

८–आदौ श्रद्धा ततः साधुसंगोऽथ भजनक्रिया।
ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः।।१५।।
९–अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदञ्चति।
साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत् क्रमः।।१६।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*तत्र बहुष्वपि क्रमेषु सत्सु प्रायिकमेकं क्रममाह–आदाविति द्वयेन, आदौ प्रथमे साधुसंग शास्त्रश्रवणद्वारा श्रद्धा तदर्थविश्वासः। ततः प्रथमानन्तरं द्वितीयः साधुसंगो भजनरीति–शिक्षानिबन्धनः। निष्ठा तत्राविक्षेपेण सातत्यम्, रुचिरभिलाषः किन्तु बुद्धिपूर्विकेयम् आसक्तिस्तु स्वारसिकी।।१५।।*

● ***अनुवाद*–सर्वप्रथम श्रद्धा अर्थात् शास्त्र–वचनों में विश्वास होता है, उसके बाद साधु–संग, फिर भजन–क्रिया (भजन करने की रीति–नीति), भजन–क्रिया के बाद अनर्थ–निवृत्ति, फिर निष्ठा, फिर रुचि तदनन्तर आसक्ति, फिर भाव (रति) का उदय होता है। भाव के गाढ़ होने पर प्रेम उदय होता है। साधकों के चित्त में प्रेम के आविर्भाव होने का यही क्रम है।।१५–१६।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–प्रेम–आविर्भाव के अनेक क्रम हो सकते हैं, फिर भी साधारणतः जिस क्रम से प्रेम का आविर्भाव होता है, उसका इन दो श्लोकों में उल्लेख किया गया है। *'आदौ'*–शब्द से प्राथमिक साधु–संग अभिप्रेत है। सर्वप्रथम किसी साधु अर्थात् कृष्ण–भक्त का संग प्राप्त होता है; इस जन्म में हो अथवा पूर्वजन्म में। उसमें शास्त्रों को सुनने का अवसर मिलता है। उसके बाद *''श्रद्धा''* पैदा होती है, श्रद्धा के बाद भजन–रीति शिक्षा के लिए पुनः *''साधु–संग''* की अपेक्षा रहती है। साधु–संग से तात्पर्य है श्रीकृष्णभक्त–महत्पुरुषों के पास निरन्तर आना–जाना, उनके मुख से भगवत्–कथा श्रवण करना, उनकी दण्डवत् प्रणाम पूर्वक सेवा–परिचर्या करना, उनसे पारमार्थिक जिज्ञासा करना, उनके उपदेशों के अनुसार आचरण करना, यह सब साधु–संग कहलाता है। साधु–संग के फलस्वरूप साधक को ''भजन–क्रिया'' अर्थात् भजन करने की रीति की शिक्षा

प्राप्त होती है। *भजन–क्रिया* से नवविधा–भक्ति अंगों का आचरण, विशेषतः श्रवण–कीर्तनादि पूर्वक मानसी उपासना का अनुशीलन अभिप्रेत है।

भजन–क्रया से *"अनर्थ–निवृत्ति"* अर्थात् दुष्कृत–जात, सुकृतजात, अपराध–जात एवं भक्ति–जात; इन चार प्रकार के अनर्थों की निवृत्ति होती है। अनर्थों की निवृत्ति के बाद *"निष्ठा"* उदित होती है। निष्ठा का तात्पर्य है–विक्षेप रहित निरन्तर अविचलित और अविच्छिन्न भाव से सदा साधन के अनुष्ठान में तत्पर रहना। निष्ठा के बाद *"रुचि"* अर्थात् बुद्धिपूर्वक दृढ़ अभिलाष अथवा श्रीकृष्ण–प्राप्ति की सुदृढ़ कामना जिससे श्रीकृष्णनाम–गुण–लीला माधुर्य का स्वाद–अनुभव होता है। रुचि के पैदा होने पर *"आसक्ति"* अर्थात् श्रीकृष्ण–विषय में तत्परता या अभिनिवेश उदित होता है। भजनानुष्ठान में इस आसक्ति के गाढ़ होने पर ही *'भाव या रति'* उदित होती है। निष्ठा एवं आसक्तिपूर्वक श्रवण–कीर्तनादि का अनुष्ठान करते–करते चित्त के विशुद्ध–सत्त्व (स्वरूप–शक्ति की वृत्ति विशेष) को प्राप्त करने की योग्यता प्राप्त करने पर स्वयं प्रकाश नित्य–सिद्ध वस्तु *"प्रेम"* का आविर्भाव हो उठता है।

१०–धन्यस्यायं नवः प्रेमा यस्योन्मीलति चेतसि।
अन्तर्वाणिभिरप्यस्य मुद्रा सुष्ठु सुदुर्गमा।।१७।।

अतएव नारदपञ्चरात्रे यथा–

८–भावोन्मत्तो हरेः किंचिन्न वेद सुखमात्मनः।
दुःखं चेति महेशानि ! परमानन्दमाप्लुतः।।१८।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*अन्तर्वाणिभिः शास्त्रविद्भिः मुद्रा परिपाटी।।१७।। सदुर्गमत्वमेव दर्शयति–अत एवेति। अयं भावः–शास्त्रविद्भिर्हि सुखप्राप्ति–दुःखहानी एव पुरुषार्थत्वेन निर्णीते; ते च तादृशभक्तानां बहिरेव तैर्ज्ञायेते नान्तः; तेषामन्तस्तु सुखदुःखे भगवत्प्राप्त्यप्राप्तिकृते एव, यथोक्तं (३।१५।४८) "नात्यन्तिकं विगणयन्त्यपि ते प्रसादम्" इत्यादि, (भा० ३।१५।४९) "कामं भवः स्ववृजिनैर्निरयेषु नस्ताच्चेतोऽलिवद्यदि नु ते पदयो रमेतेत्यादि च"।।१८।।*

● ***अनुवाद***–**जिनके चित्त में नवीन प्रेम का उदय होता है, वे धन्य हैं। उनकी मुद्रा अर्थात् परिपाटी, वाक्य एवं क्रियादि को शास्त्रवेत्ता भी नहीं समझ सकते।।१७।। श्रीनारद–पञ्चरात्र में इसलिए श्रीमहादेवजी ने पार्वतीजी के प्रति कहा है कि हे महेशानि ! जो भगवान् श्रीकृष्ण के प्रेम में उन्मत्त हो उठे हैं, वे अपने सुख–दुःख को कुछ भी जान नहीं पाते, वे सर्वदा परमानन्द में निमग्न रहते हैं।।१८।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–देहादि के सुखजनक तथा दुःखजनक जितने व्यापार लोगों में दीखते हैं,जिस व्यक्ति में भाव–प्रेम का उदय होता है उसमें भी वे सब दीख सकते हैं, किन्तु भेद इतना है कि साधारण लोगों के अन्तःस्थल को वे स्पर्श करते हैं। उन्हें उनकी सुखमय या दुःखमय अनुभूति होती है, परन्तु जात–प्रेम भक्तों में वे केवल बाहरी व्यापारमात्र के रूप में रहते हैं, वे उनके चित्त को स्पर्श नहीं करते। वे उनका कुछ अनुभव भी नहीं करते, क्योंकि वे प्रेमजनित

आनन्द में ही विभोर रहते हैं और उस आनन्द–रस से वे सम्यक्रूप से प्लावित रहते हैं। उनके चित्त में सुख होता है भगवत्–प्राप्ति से और यदि दुःख होता है तो भगवान् की अप्राप्ति में। इसके अतिरिक्त कोई सुख–दुःख उनके चित्त को स्पर्श नहीं करता। जो शास्त्रज्ञ हैं किन्तु प्रेम के रहस्य को नहीं जानते, वे जातप्रेम भक्त की चेष्टाओं के मर्म को समझने में असमर्थ हैं। केवल पढ़–लिख लेने या बड़ी–बड़ी उपाधियाँ प्राप्त करने से शब्दों का अर्थ तो जाना जा सकता है, परन्तु भक्ति या प्रेम के मर्म को कदाचित् नहीं। प्रेमी–भक्त लोकातीत होते हैं, अतः उन्हें धन्य–धन्य कहा गया है।।१७–१८।।

११–प्रेम्ण एव विलासत्वाद्वैरल्यात्ससाधकेष्वपि।
अत्र स्नेहादयो भेदा विविच्य न हि शंसिताः।।१९।।
१२–श्रीमत्प्रभुपदाम्भोजैः सर्वा भागवतामृते।
व्यक्तीकृताऽस्ति गूढ़ाऽपि भक्तिसिद्धान्तमाधुरी।।२०।।

● *अनुवाद*–जो स्नेहादि प्रेम के विलास हैं, वे समस्त साधकों में प्रकाशित नहीं होते; अतः उन स्नेहादि भेदों की विवेचना नहीं की जा रही है।।१९।। ग्रन्थकार श्रीरूपगोस्वामी कहते हैं, मेरे प्रभुपाद श्रीसनातन गोस्वामी ने उनके द्वारा रचित श्रीबृहद्भागवतामृत ग्रन्थ में इस अति गूढ़ भक्तिसिद्धान्त–माधुरी का स्पष्टरूप से वर्णन किया है।।२०।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–रति, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव एवं महाभाव; ये प्रेम के विलास हैं, अर्थात् गाढ़ता के न्यूनाधिक्य अनुसार प्रेम की विभिन्न वैचित्री है। रागानुगा–मार्ग के साधकों के यथावस्थित शरीर में रति या प्रेम पर्यन्त ही आविर्भाव होता है। स्नेहादि वर्तमान शरीर में उदित नहीं हो सकते। अतः उनका विवेचन भी यहाँ श्रीग्रन्थकार महोदय ने नहीं किया है। श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु के परिशिष्टरूप श्रीउज्ज्वलनीलमणि ग्रन्थ में उन्होंने उन सबकी धारावाहिक आलोचना की है।

१३–गोपालरूपशोभां दधदपि रघुनाथभावविस्तारी।
तुष्यतु सनातनात्मा प्रथमविभागे सुधाम्बुनिधे।।२१।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**– *गोपालेति। श्लिष्टमिदं, तत्र कृष्णपक्षे रघुनाथ–भावस्य रघुनाथत्वस्य विस्तारी रघुनाथादीनामप्यवतारीत्यर्थः, तत्र तदुपासकानामभीष्टपूरणायेति भावः, अहो कृपामाहात्म्यमिति विवक्षितं, पक्षे स्ववर्गस्य नामचतुष्टयमुद्दिष्टं, तत्र द्वितीयं श्रीमद्ग्रन्थकृच्चरणानां नाम; प्रथमतृतीये तन्मित्रयोः; चतुर्थं च श्रीमत्तदग्रज–चरणानां, भावः श्रीकृष्णप्रेमा।।२१।।*

● *अनुवाद*–श्रीगोपालस्वरूप (कृष्ण) की शोभा धारण करने पर जो श्रीराम भाव का भी विस्तार करते हैं, वे सनातन (सच्चिदानन्द) स्वरूप श्रीकृष्ण (श्लेष पक्ष में–श्रीसनातन गोस्वामी) इस श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुः के प्रथम विभाग से प्रसन्न हों।।२१।।

।।इति श्रीभक्तिरसामृतसिन्धौ पूर्वविभागे प्रेमभक्तिलहरी चतुर्थी।।४।।

● ● ●

सामान्य भगवद्भक्तिरस-निरूपको—दक्षिण विभागः

प्रथम-लहरी : विभावाख्या

१—प्रबलमनन्याश्रयिणा निषेवितः सहजरूपेण।
अघदमनो मथुरायां सदा सनातनतनुर्जयति।।१।।

● *अनुवाद*—मथुरा में अपने अनन्याश्रयी सहजरूप से जो—सेवित हैं—उपास्य हैं, पापों का नाश करने वाले उन सनातन—स्वरूप (सच्चिदानन्द—स्वरूप) श्रीकृष्ण की जय हो।।१।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—श्रीरूपगोस्वामिपाद ने ग्रन्थ के इस दूसरे विभाग के आरम्भ मे इस श्लोक द्वारा मंगलाचरण किया है। मथुरा—शब्द से यहाँ मथुरा—मण्डल ही अभिप्रेत है। भगवान् श्रीकृष्ण का रूप भूषण—अलंकार आदि अन्य वस्तुओं से सुन्दरता को प्राप्त नहीं होता, बल्कि अनन्याश्रयी सहज रूप में ही अति सुन्दर एवं माधुर्य मण्डित है। वे सनातन स्वरूप हैं एवं समस्त पापहारी हैं। श्रीकृष्ण मथुरा—मण्डल में सर्वोत्कर्षरूप से सेवित हैं, उनकी सदा जय हो।

श्लेशपक्ष में श्रीपादगोस्वामी जी ने अपने बड़े भाई श्रीसनातन गोस्वामिपाद का जयगान किया है, जो अनन्याश्रित मुझ रूप के द्वारा मथुरा—मण्डल में सहजरूप—सहोदररूप अर्थात् बड़े भाई के रूप में सेवित हैं, वे पापहारी श्रीसनातनगोस्वामी जययुक्त हों।१।।

अगले श्लोकों में दक्षिण—विभाग के प्रतिपाद्य विषय का निर्देश करते हैं—

२—रसामृताब्धेर्भागेऽस्मिन् द्वितीये दक्षिणाभिधे।
सामान्यभगवद्भक्तिरसस्तावदुदीर्यते।।२।।
३—अस्य पञ्च लहर्यः स्युर्विभावाख्याग्रिमा मता।
द्वितीया त्वनुभावाख्या तृतीया सात्त्विकाभिधा।।३।।
४—व्यभिचार्य्यभिधा तुर्या स्थायि—संज्ञा च पञ्चमी।
अथास्याः केशवरतेर्लक्षिताया निगद्यते।
सामग्रीपरिपोषेण परमा रसरूपता।।४।।

● *अनुवाद*—श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु के दक्षिणविभाग नामक दूसरे विभाग में सामान्यरूप से भगवद्भक्तिरस का निरूपण किया जा रहा है। इसमें पाँच लहरियाँ हैं। पहली 'विभाव—लहरी', दूसरी 'अनुभाव—लहरी', तीसरी 'सात्त्विकविभाव—लहरी' चौथी 'व्यभिचारि—भावलहरी' तथा पांचवीं 'स्थायि—भाव लहरी' है। विभाव—अनुभाव आदि सामग्री के द्वारा पुष्ट होकर श्रीकृष्ण—विषयक रति परम रसरूपता को प्राप्त होती है, यह बात निरूपण की गई है।।२—४।।

५—विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः।
५—स्वाद्यत्वं हृदि भक्तानामानीता श्रवणादिभिः।
एषा कृष्णरतिः स्थायी भावो भक्तिरसो भवेत्।।५।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–विभावैरिति; *एषा कृष्णरतिरेव स्थायी भावः, सैव च भक्तिरसो भवेत्। कीदृशी सती तत्राह–विभावैरिति। श्रवणादिभिः कर्तृभिःविभावादिभिः करणैर्भक्तानां हृदि स्वाद्यत्वमानीता सम्यक् प्रापिता चमत्कारविशेषेण पुष्टेत्यर्थः। रतिश्चात्रोपलक्षणमेव तेन महाभावपर्यन्तः सर्वोऽपि ग्राह्यः। तस्या एवोत्कर्ष–रूपत्वात्।।५।।*

● **अनुवाद–विभाव, अनुभाव, सात्त्विक एवं व्यभिचारि भावों के द्वारा श्रवण–मननादि की सहायता से स्थायीभाव–रूप श्रीकृष्ण–रति भक्तों के हृदय में आस्वाद्यता को प्राप्त करती है एवं *"भक्ति–रस"* कहलाती है।।५।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुर से पाँचों कृष्ण–रति के स्थायी–भाव हैं। विभाव–अनुभाव आदि (विस्तरशः वर्णन आगे किया जायेगा) के साथ मिलकर यह स्थायी–भावरूप कृष्ण–रति चमत्कारी परम–आस्वाद्यता को प्राप्त होकर 'रस' में परिणत हो जाती है। इस प्रकार शान्तरति शान्तरस में, दास्यरति दास्यरस में, सख्यरति सख्यरस में, वात्सल्यरति वात्सल्यरस में तथा मधुररति मधुररस में परिणत हो जाती है।

रस–शब्द के दो अर्थ हैं–*रस्यते (आस्वाद्यते) इति रसः* अर्थात् जिसका आस्वादन किया जाता है, वह "रस" है और *रसयति (आस्वादयति) इति रसः।* अर्थात् जो आस्वादन करता है वह "रस" है। रस का प्राण है चमत्कारिता। जहाँ चमत्कारिता नहीं है, उसे रस नहीं कहा जा सकता (अलंकार कौस्तुभ ५।७)–

रसे सारश्चमत्कारो यं विना न रसो रसः।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्रैवाद्भुतो रसः।।

जो पहले कभी नहीं देखी, सुनी एवं अनुभव की गयी हो, ऐसी किसी भी वस्तु को देखने, सुनने तथा अनुभव करने से मन में जो एक विस्मयात्मक भाव उत्पन्न होता है, उसे 'चमत्कारिता' कहते हैं। यह *चमत्कारिता* ही रस का सार या प्राण है। किन्तु केवल उस चमत्कारिता के रहने पर आस्वाद्य वस्तु को रस नहीं कहा जाता, आस्वादन–चमत्कारिता की अपूर्वता भी अनिवार्य है। वह अपूर्वता है कि आस्वादन करने में बहिरिन्द्रिय तथा अन्तरिन्द्रिय दोनों का ही व्यापार उनके स्वाभाविक कार्य में स्तभित हो जाये। समस्त इन्द्रियों की वृत्तियाँ आस्वादन की चमत्कारिता में केन्द्रीभूत होकर दूसरे विषय को बिल्कुल न जान सकें। आस्वाद्य वस्तु जब ऐसी आस्वादन–चमत्कारिता धारण करे तब उसे 'रस' कहा जाता है। रस के सम्पूर्ण लक्षण आनन्दस्वरूप ब्रह्म में हैं, अतः उसे श्रुति (२।७) 'रसो वै सः' कहकर वर्णन करती है, श्रीकृष्ण ही परब्रह्म रसस्वरूप हैं।

अतएव श्रवण–कीर्तनादि करते हुए जब इन्द्रियों की समस्त क्रियाएँ स्तम्भित होकर श्रीकृष्ण की अदृष्ट, अश्रुत एवं अननुभूत या नित्य नवायमान वर्द्धनशील माधुरी की चमत्कारितामय आस्वाद्यता प्राप्त करती है, जैसे दधि आस्वाद्य वस्तु है, उसमें यदि चीनी, घी, काली मिर्च एवं कर्पूर मिला दिया जाय तो उस मिश्रण का नाम 'रसाला' हो जाता है, जो अत्यन्त मधुर अमृत तुल्य आस्वाद्य बन जाता है, उसी प्रकार कृष्णरति स्वाभाविक आस्वादनीय है, उसके साथ विभाव, अनुभावादि

के मिलने से अति आस्वादनीय भक्तिरसरूपी अमृत की उपलब्धि होती है।।५।।

६–प्राक्तन्याधुनिकी चास्ति यस्य सद्भक्तिवासना।
एष भक्तिरसास्वादस्तस्यैव हृदि जायते।।६।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*यद्यपि रतेरस्तित्वेनाधुनिकी वासनाऽस्त्येव तथापि रसतापत्तौ प्राक्तनीति चावश्यं मृग्यत इत्याह, प्राक्तनीति। प्राग्जन्मजाता, प्राक्तनी, आधुनिकी जन्मन्यस्मिन्नुद्भूता चेति मध्ये तिरोधानापेक्षयैव वासनाभेदो विवक्षितः। इदमपि प्रायिकम्। तात्पर्यन्तु रत्यतिशय एव ज्ञेयः।।६।।*

● ***अनुवाद*–जिस व्यक्ति के भीतर उत्तमाभक्ति के लिए पूर्वजन्म की तथा इस जन्म की वासना विद्यमान होती है, उसके हृदय में ही भक्तिरस का आस्वादन हो सकता है।।६।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–इस श्लोक में भक्तिरसास्वादन के अधिकारी के विषय में कहा गया है। यद्यपि रति के अस्तित्व में इस जन्म की वासना का होना लक्षित होता है, तो भी रस–निष्पत्ति के लिए पूर्वजन्म की वासना का होना भी आवश्यक है। यदि कोई अपराध रहित व्यक्ति श्रीगुरुपादाश्रय ग्रहणपूर्वक साधन करते–करते इसी जन्म में रति प्राप्त कर लेता है, तो अगले जन्म में ही उसे भक्ति–रसास्वादन प्राप्त होता है, इस जन्म में नहीं।।६।।

७–भक्तिनिर्धूतदोषाणां प्रसन्नोज्ज्वलचेतसाम्।
श्रीभागवतरक्तानां रसिकासंग–रंगिणाम्।।७।।
८–जीवनीभूत–गोविन्दपादभक्तिसुखश्रियाम्।
प्रेमान्तरंगभूतानि कृत्यान्येवानुतिष्ठताम्।।८।।
९–भक्तानां हृदि राजन्ती संस्कारयुगलोज्ज्वला।
भरतिरानन्दरूपैव नीयमाना तु रस्यताम्।।९।।
१०–कृष्णादिभिर्विभावाद्यैर्गतैरनुभवाध्वनि।
प्रौढ़ानन्दचमत्कारकाष्ठामापद्यते पराम्।।१०।।
११–किंतु प्रेमा विभावाद्यैः स्वल्पैर्नीतोऽप्यणीयसीम्।
विभावनाद्यवस्थां तु सद्य आस्वाद्यतां व्रजेत्।।११।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*पुनस्तस्यां रसोत्पत्तौ साधनं सहायं प्रकारञ्चाह–भक्तीति चतुर्भिः। तत्र साधनमनुतिष्ठतामित्यन्तं, सहायं संस्कारयुगलं, प्रकारस्तु रतिरित्यादिको ज्ञेयः। निर्धूतदोषत्वादेव प्रसन्नत्वं शुद्धसत्त्वविशेषस्याविर्भावयोग्यत्वं ततश्चोज्ज्वलत्वं, तदाविर्भावात् सर्वज्ञानसम्पन्नत्वम्। अनुभवाध्वनि गतैरिति न तु लौकिकरसवदत्र सत्कविनिबद्धतापेक्षेति भावः; किंत्विति–प्रेम्णो वैशिष्ट्यं विभावनाद्यवस्थां तत्तदास्वादविशेषयोग्यताऽवस्थाम्, एवं प्रणयस्नेहादीनामपि ज्ञेयं। रतेरेवोत्कर्षरूपा एव इति तदग्रहणेनैव विभावैरित्यादिलक्षणे प्रवेश इति भावः। अणीयसीमपीति योज्यम्।।७।।११।।*

● ***अनुवाद*–भक्ति के प्रभाव से जिन लोगों के समस्त दोष समूल नष्ट हो गये हैं, जिनके चित्त प्रसन्न अर्थात् शुद्धसत्त्व–विशेष के आविर्भाव की**

योग्यता प्राप्त कर चुके हैं, जो उज्ज्वल अर्थात् सर्वज्ञान सम्पन्न हैं, जो श्रीभागवतों में अनुरक्त हैं, रसिकजनों के नित्य संग में जो उल्लसित रहते हैं, एवं जो श्रीगोविन्द के चरणकमलों की भक्ति–सुख सम्पत्ति को ही अपना जीवन जानते हैं तथा प्रेम के अन्तरंग अर्थात् भावोत्थ और अति–प्रसादोत्थ श्रवण कीर्तनादि *(रसोत्पत्ति के साधनों)* का निष्ठापूर्वक अनुष्ठान करते हैं, उन समस्त भक्तों के हृदय में रहने वाली पूर्वजन्म की एवं इस जन्म की *(रसोपत्ति की सहायक)* वासनाओं से उज्ज्वल आनन्दस्वरूपा रति अनुभववेद्य श्रीकृष्णादि–विभावों की सहायता से आस्वादनीयता को प्राप्त होती है और परम प्रौढ़ आनन्द की चरमसीमा अर्थात् प्रेम (अवस्था) को प्राप्त करती है। किन्तु यह प्रेम अति अल्प विभावादि के सहयोग से अति अल्प आस्वाद विशेष–योग्य अवस्था को प्राप्त करने पर भी तत्काल आस्वादनीय है। पूर्ण सहयोग पाने पर तो अत्यन्त पुष्ट होता ही है।।७–११।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–उपरोक्त पाँच कारिकाओं में रसोत्पत्ति के साधन, रसोत्पत्ति के सहायक तथा रसोत्पत्ति का प्रकार तथा यह रसोत्पत्ति कैसे होती है, इस विषय का निरूपण किया गया है। निरपराध श्रवण–कीर्तन द्वारा चित्तशुद्धि या शुद्धसत्त्वाविर्भाव की योग्यता, श्रीभागवत–प्रेम, रसिकजन संग तथा प्रेम के अन्तरंग अंगों के अनुष्ठान रसोत्पत्ति के साधन हैं। पूर्वजन्म तथा आधुनिक जन्म की सुदृढ़ भक्ति–वासनायें रसोत्पत्ति की सहायक हैं। तथा ऐसे भक्तों के उज्ज्वल चित्त में अवस्थित रति के साथ श्रीकृष्णादि विभावों के मिलन से रसोत्पत्ति होती है। उस अवस्था में भक्तों को भक्तिरस आस्वादनीयता प्राप्त होती है। प्रेमप्राप्त–भक्तों में थोड़ा–सा ही विभावादि का संयोग होने पर प्रेम उच्छलित एवं परमपुष्ट हो कर परमास्वादनीयता विधान करता है।।७–११।।

अत्र विभावादि सामान्यलक्षणम्–

१२–ये कृष्णभक्तमुरलीनादाद्या हेतवो रतेः।
कार्यभूताः स्मिताद्याश्च तथाऽष्टौ स्तब्धतादयः।।१२।।
१३–निर्वेदाद्याः सहायाश्च ते ज्ञेया रसभावने।
विभावा अनुभावाश्च सात्त्विका व्यभिचारिणः।।१३।।

● *अनुवाद*–श्रीकृष्ण, कृष्ण–भक्त तथा मुरलीध्वनि रति आदि के कारण हैं। हास्यादि एवं स्तम्भादि आठों रति के कार्य हैं, तथा निर्वेद आदि सहायक हैं। ये सब रसास्वादन के समय क्रमशः विभाव, अनुभाव, सात्त्विक तथा व्यभिचारि–भाव नाम से कहे जाते हैं।।१२–१३।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–श्रीकृष्ण एवं श्रीकृष्ण–भक्त विभाव हैं, नृत्य–गीत, हास्यादि अनुभाव हैं। स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग कम्प, विवर्णता, अश्रुपात एवं प्रलय, ये आठ सात्त्विक–भाव हैं। निर्वेद, विषाद आदि तेतीस व्यभिचारि या संञ्चारि–भाव कहे गये हैं। चारों प्रकार के भावों का विस्तरशः वर्णन आगे किया जायेगा।।१२–१३।।

अथ विभावाः—

१४—तत्र ज्ञेया विभावास्तु रत्यास्वादनहेतवः।
ते द्विधालम्बना एके तथैवोद्दीपनाः परे।।१४।।

तदुक्तमग्निपुराणे—

१—विभाव्यते हि रत्यादिर्यत्र येन विभाव्यते।
विभावो नाम स द्वेधालम्बनोद्दीपनात्मकः।।१५।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*तत्र विभावाः, लक्ष्यन्ते इति शेषः। केन ? तदाह—तत्र ज्ञेया इति। हेतुत्वमत्र विषयाश्रयत्वेनोद्बोधकत्वेन च ज्ञेयं, तथैवाह—ते द्विधा इति।।१४।।*

● ***अनुवाद***—**जो रति—आस्वादन के कारण हैं, उन्हें *'विभाव'* कहते हैं। वे दो प्रकार के हैं—१. *आलम्बन—विभाव* तथा २. *उद्दीपन—विभाव*।।१४।।**

अग्नि—पुराण में भी कहा गया है, जिसमें रति का आस्वादन किया जाता है तथा जिसके द्वारा रति का आस्वादन किया जाता है—उसे 'विभाव' कहा जाता है। वह विभाव दो प्रकार का है, आलम्बन—विभाव तथा उद्दीपन—विभाव।।१५।।

तत्रालम्बनाः—

१५—कृष्णश्च कृष्णभक्ताश्च बुधैरालम्बना मताः।
रत्यादेर्विषयत्वेन तथाधारतयाऽपि च।।१६।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*कृष्णश्च कृष्णभक्ताश्चेति अत्रायं विवेकः—यमुद्दिश्य रतिः प्रवर्तते स विषयः। स च श्रीकृष्ण एवात्र। आधारस्तु रतेराश्रयः। स चात्र मूलं रतेः पात्रं गृह्यते, तन्निष्यन्देन ह्याधुनिका अपि भक्ताः स्निग्धा भवन्ति। स पुनः स्थापयिष्यमाणमहारसमूर्तिस्तल्लीलापरिकरगणएव। अन्यत्राश्रयता तु स्वस्वमत्यनुसारेण, तदेवं द्विविधालम्बनशालिता च तल्लीलापरिकरादन्येषां, तस्मिन् लीलापरिकरगणेऽपि परममुख्यमुख्यादितेषां परममुख्यमुख्यस्य तु केवलश्रीकृष्णालम्बनशालिता ज्ञेयेति। रत्यादेरिति—आदिशब्दाद् गौणा वक्ष्यमाणा हासादयो गृहीताः। रतिश्चात्र सजातीयैव ज्ञेया, न तु विजातीया, अनुभवितुस्तत्—संस्काराभावात्, विजातीया त्वविविरोधिनी चेदुद्दीपन एव तदाधारो भवति, न त्वालम्बनः। कुतस्तरां विरोधी रत्याश्रय इत्यग्रिमग्रन्थानुसारेण ज्ञेयम्।।१६।।*

● ***अनुवाद***—**रसज्ञजनों ने श्रीकृष्ण तथा श्रीकृष्ण—भक्तों को 'आलम्बन—विभाव' माना है। श्रीकृष्ण भक्तिरस के विषय हैं और भक्त भक्तिरस के आश्रय पात्र हैं।।१६।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—श्रीकृष्ण एवं श्रीकृष्ण—भक्त आलम्बन—विभाव हैं। आलम्बन—विभाव के दो भेद हैं—विषय—आलम्बन विभाव तथा आश्रय—आलम्बन विभाव। जिसको उद्देश्य कर रति प्रवृत्त होती है या जिनके प्रति रति या भक्ति की जाती है, वह है विषय—आलम्बन विभाव; वे हैं श्रीकृष्ण। जो रति के आश्रय या पात्र हैं, अर्थात् जिनमें रति रहती है, वे हैं आश्रय—आलम्बन विभाव, वे हैं श्रीकृष्णभक्त। श्रीकृष्ण के भक्तों से अभिप्रेत हैं, महारसमूर्ति श्रीकृष्ण के लीला—परिकरगण; उनके कृपानुगत्य में ही अन्यान्य समस्त अर्वाचीन भक्त भी उस रति

के आश्रय रूप को प्राप्त करते हैं। आदि–शब्द से यहाँ हास्य, अद्‌भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक, वीभत्स, ये गौण–रतियाँ अभिप्रेत हैं। उनके भी विषयालम्बन–विभाव श्रीकृष्ण हैं तथा इन रतियों के आश्रय–आलम्बन विभाव श्रीकृष्ण–भक्त हैं। गौणरतियाँ भी सजातीय हैं, विजातीय या विरोधी नहीं। जहाँ विरोधी रति को उद्दीपन करने वाले आश्रय होते हैं, वे कृष्ण–शत्रु होते हैं न कि कृष्णभक्त। विरोधी रति के विषय में आगे विवेचना करेंगे।।१६।।

तत्र श्रीकृष्णः–

१६–नायकानां शिरोरत्नं कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।
यत्र नित्यतया सर्वे विराजन्ते महागुणाः।
सोऽन्यरूपस्वरूपाभ्यामस्मिन्नालम्बनो मतः।।१७।।

● *अनुवाद*–स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही समस्त नायकों के शिरोमणि हैं। उनमें समस्त महागुण नित्य विराजमान हैं। वे 'अन्य स्वरूप' तथा निजस्वरूप से अवस्थान करते हुए रति के विषयालम्बन–विभाव हैं।।१७।।

तत्रान्यरूपेण, यथा–

२–हन्त मे कथमुदेति सवत्से वत्सपालपटले रतिरत्र।
इत्यनिश्चितमतिर्बलदेवो विस्मयस्तिमितमूर्तिरिवासीत्।।१८।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*हन्ते। अत्र श्रीकृष्णे या रतिः सा कथं वत्सपाल पटले उदेतीत्यर्थः। स्तिमितम् स्तब्धत्वम्। इवेत्यत्र वाक्यालंकारे।।१८।।*

● *अनुवाद–अन्यरूप* का उदाहरण देखिये, वत्सपालकों के समूह में बछड़े को पकड़े हुए इस गोप–बालक में मेरी प्रीति क्यों उत्पन्न हो रही है, इसका निश्चय न कर सकने पर श्रीबलराम आश्चर्य से स्तब्ध हो गये।।१८।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–ब्रह्ममोहन लीला में श्रीकृष्ण ने ही असंख्य बछड़ों एवं गोपबालक के रूप धारण कर लिए थे। इस रहस्य का पता श्रीबलरामजी को न था, क्योंकि वे उस दिन वन में गैया चराने श्रीकृष्ण के साथ न गये थे। एक दिन उन्होंने एक गोपबालक को देखा, जो बछड़े को पकड़े हुए था। श्रीबलरामजी की उसके प्रति ऐसी प्रीति उमड़ उठी, जैसी प्रीति उनकी श्रीकृष्ण के प्रति है। ऐसा क्यों ? वे इसका निश्चय न कर सकने पर विस्मित एवं स्तब्ध हो गये। तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण गोपबालक रूप में भी अर्थात् अन्यरूप में भी प्रीति के विषय बन जाते हैं।।१८।।

अथ स्वरूपम्–

१७–आवृतं प्रकटं चेति स्वरूपं कथितं द्विधा।।१६।।

तत्रावृतम्–

१८–अन्यवेषादिनाच्छन्नं स्वरूपं प्रोक्तमावृतम्।।२०।।

● *अनुवाद*–श्रीकृष्ण का स्वरूप भी दो प्रकार से विराजमान है–
१. *आवृत–रूप* तथा २. *प्रकट रूप*।।१६।।

आवृतरूप वह है जो अन्य वेश–भूषादि द्वारा आच्छादित होता है।।२०।।

तेन यथा–

३–मां स्नेहयति किमुच्चैर्महिलेयं द्वारकावरोधेऽत्र।
आं विदितं कुतुकार्थी वनितावेषो हरिश्चरति।।२१।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*मामिति श्रीमदुद्धववाक्यम्। उच्चैरिति, सर्वतः परमं श्रीहरियोग्यं यथा स्यात्तथेत्यर्थः। अत्र प्रमाणं योगयावैभवदर्शने यथा (भा० १० ।६६ ।३६)–*

अव्यक्तलिंगं प्रकृतिष्वन्तःपुरगृहादिषु।
क्वचिच्चरन्तं योगेशं तत्तद्भावबुभुत्सया।।२१।।इति

● **अनुवाद–'आवृतरूप' में रति के विषय होने का उदाहरण देते हैं, श्रीउद्धवजी ने कहा–द्वारका के अन्तःपुर में यह महिला मुझमें विशेष प्रीति क्यों उत्पन्न कर रही है ?–अहो ! मैं समझ गया, कौतुक या मनोरञ्जन के लिए स्त्री का *वेश* धारण कर श्रीकृष्ण ही विचरण कर रहे हैं।।२१।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–एक बार श्रीकृष्ण कौतुकवश सुन्दर रमणी का वेश सजाकर द्वारका के अन्तःपुर में विचरण कर रहे थे। श्रीउद्धवजी वहाँ पहुँचे। उस रमणी को देखते ही, जो प्रेम उनका श्रीकृष्ण के प्रति था, वह जाग उठा। वे सोचने लगे कि इस महिला के प्रति क्यों मेरा ऐसा स्नेह उपज रहा है ?–फिर वे जान गये कि यह तो श्रीकृष्ण ही रमणी–वेश में विचरण कर रहे हैं। इस लीला का इंगित श्रीभागवत (१० ।६६ ।३६) में मिलता है। तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण कैसी भी वेष–भूषा से आच्छादित क्यों न हों, उनका रूप प्रीति का विषय–आलम्बन रहता ही है।।२१।।

प्रकटस्वरूपेण, यथा–

४–अयं कम्बुग्रीवः कमलकमनीयाक्षिपटिमा।
तमालश्यामांगद्युतिरतितरां छत्रितशिराः
दरश्रीवत्सांकः स्फुरदरिदराद्यंकितकरः,
करोत्युच्चैर्मोदं मम मधुरमूर्तिर्मधुरिपुः।।२२।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*अयमित्यपि तद्वाक्यं, कमलैरपि कमनीयोऽक्षिपटिमा नेत्रयोः सौन्दर्यातिशयो यस्य सः। तमालवत् श्यामा श्यामलतया विराजन्ती अंगस्य द्युतिर्यस्य सः। पाठान्तरं त्यक्तं। दर ईषद् यत्नादेव निरीक्ष्यः श्रीवत्सरूपोऽको लक्षणं यत्र, अरि चक्रं, दरः शंखः तावेतौ करस्थाबंकत्वेन ज्ञेयौ, अतितरामिति सर्वत्रान्वितम्।।२२।।*

● **अनुवाद–*'प्रकट स्वरूप'* से श्रीकृष्ण के विषयालम्बनत्व का उदाहरण इस प्रकार है–"शंख की सी त्रिवलियुक्त गर्दन वाले, कमल के समान कमनीय नेत्र–कान्ति वाले, श्याम तमाल के समान अंगकान्तियुक्त, सिर पर अति काले बालों का मानो छत्र धारण करने वाले, वक्ष पर अति सूक्ष्म श्रीवत्सचिह्न धारण करने वाले तथा जिनके हाथों पर शंख–चक्र आदि शोभित हो रहे हैं, वे मधुरिपु मधुरमूर्ति श्रीकृष्ण मुझे अत्यन्त आनन्द प्रदान कर रहे हैं"–ऐसा श्रीउद्धवजी ने श्रीकृष्ण के 'प्रकटरूप' के दर्शन करके कहा।।२२।।**

अथ तद्गुणाः

१६–अयं नेता सुरम्यांगः सर्वसल्लक्षणान्वितः।
रुचिरस्तेजसा युक्तो बलीयान् वयसान्वितः।।२३।।

■ ***दुर्गमसंगमनी टीका***–अथ तद्गुणा इति। तत्र गुणा द्वेधा निरूप्यन्ते, प्राधान्ये–नोपसर्जनत्वेन च, क्वचित्सुरम्यांगत्वमित्यादिना तथा क्वचित्सुरम्यांग–मित्यादिना चेति, यत्र प्रथमेन निरूप्यन्ते, तत्र तेषामुद्दीपनत्वं यत्र द्वितीयेन तत्रालम्बनत्वं। तदेवमत्रालम्बनप्रकरणे द्वितीयेनैवाह। अयमिति। अयं श्रीकृष्णाख्यो नेता नायकः।।२३।।

● *अनुवाद*–यह नायक श्रीकृष्ण–(१) *सुरम्यांग* अर्थात् इनका अंगसन्निवेश अत्यन्त रमणीय है; (२) यह *सर्वसल्लक्षणयुक्त* हैं; (३) *रुचिर*– अर्थात् इनकी सुन्दरता नेत्रों को आनन्द देने वाली है; (४) तेजसान्वित– अर्थात् या तेज राशि तथा अतिशय प्रभावयुक्त हैं; (५) *बलीयान्*–अतिशय बलयुक्त हैं; (६) व*यसान्वित*–नानाविध विलासमय नवकिशोरावस्थायुक्त हैं।।२३।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–जो वस्तुएँ चित्त में श्रीकृष्ण के प्रति भाव को उद्दीप्त अर्थात् उत्कृष्ट रूप से उज्ज्वल करती हैं, उनको *'उद्दीपन विभाव'* कहा जाता है। यहाँ कुछ विशिष्ट उद्दीपन विभावों का किञ्चित् परिचय दिया गया है। उनके सबन्ध में आगे (२।१।१५०) विस्तारपूर्वक वर्णन करेंगे। श्रीकृष्ण के अनन्त गुण हैं। उनमें चौंसठ गुण विशेषरूप से श्रीगोस्वामिपाद ने निरूपण किये हैं; जिनमें से यहाँ पहले पचास गुणों का वर्णन किया गया है। उपर्युक्त कारिका में छः गुण कहे गये हैं।

श्रीकृष्ण के शारीरिक सल्लक्षण भी दो प्रकार के हैं–१. *गुणोत्थ* तथा २. *अंगोत्थ*। लालिमा, गुणोत्थ–सल्लक्षण हैं। उनमें नेत्रान्त, पादतल, करतल, तालु अधरोष्ठ, जिह्वा तथा नख–इन सात स्थानों पर लालिमा है। वक्ष, स्कन्ध, नख, नासिका, कटि एवं वदन–इन छः स्थानों पर तुंगता–उच्चता है। कटि, ललाट एवं वक्षःस्थल–इन तीनों पर विशालता है। ग्रीवा, जंघा एवं मेहन–इन तीन स्थानों पर गम्भीरता है। नासिका, भुज, नेत्र, हनु तथा जानु–इन पाचों पर दीर्घता है। त्वक्, केश, लोम, दन्त एवं अंगुलियों के पोटे–इन पर सूक्ष्मता है। नाभि, स्वर एवं बुद्धि–इन तीनों में गभीरता है; ये बत्तीस सल्लक्षण गुणोत्थ हैं।

करतल एवं पदतलों में जो रेखामय चक्रादि चिह्न हैं, उन्हें 'अंकोत्थ–सल्लक्षण' कहा जाता है। श्रीकृष्ण के वामचरण में शंख, आकाश, ज्या–हीन धनुष, गोष्पद, त्रिकोण, चार कलश, अर्द्धचन्द्र एवं मत्स्य के चिह्न हैं। दक्षिणपद में चक्र, ध्वजा, अंकुश, वज्र, यव, ऊर्ध्वरेखा, छत्र, चार स्वास्तिक, जम्बुफल एवं अष्टकोण के चिह्न हैं। इसी प्रकार उनके दाहिने हाथ में परमायु रेखा, सौभाग्य रेखा, भोग रेखा एवं पांच अंगुलियों के पुरों पर पांच शंख, जौ, चक्र, गदा, ध्वजा, तलवार, बरछी, अंकुश, कल्पवृक्ष तथा बाण के चिह्न हैं। बायें हाथ में परमायु, सौभाग्य एवं भोग रेखाएँ, नन्द्यावर्त्त, कमल तथा छत्र, हल, यूप, स्वास्तिक, प्रत्यञ्चारहित धनुष, अर्द्धचन्द्र तथा मत्स्य के चिह्न हैं–ये सब श्रीकृष्ण में अंकोत्थ–गुण हैं।।२३।।

२०–विविधादभुतभाषावित् सत्यवाक्यः प्रियंवदः।
वावदूकः सुपाण्डित्यो बुद्धिमान् प्रतिभाऽन्वितः।।२४।।
२१–विदग्धश्चतुरो दक्षः कृतज्ञः सुदृढव्रतः।
देशकालसुपात्रज्ञः शास्त्रचक्षुः शुचिर्वशी।।२५।।
२२–स्थिरो दान्तः क्षमाशीलो गम्भीरो धृतिमान् समः।
वदान्यो धार्मिकः शूरः करुणो मान्यमानकृत्।।२६।।
२३–दक्षिणो विनयी ह्रीमान् शरणागतपालकः।
सुखी भक्तसुहृत् प्रेमवश्यः सर्वशुभंकरः।।२७।।
२४–प्रतापी कीर्तिमान् रक्तलोकः साधुसमाश्रयः।
नारीगणमनोहारी सर्वाराध्यः समृद्धिमान्।।२८।।
२५–वरीयानीश्वरश्चेति गुणास्तस्यानुकीर्तिताः।
समुद्रा इव पञ्चाशद् दुर्विगाहा हरेरमी।।२९।।

● *अनुवाद*–श्रीकृष्ण (७) *विविध अद्भुत भाषावित्*–नानादेशीय भाषाओं के सुपण्डित हैं, (८) *सत्यवाक्य*–उनके वचन कभी मिथ्या नहीं होते। (९) *प्रियंवद*–अपराधी के प्रति भी प्रिय वाक्य बोलने वाले हैं; (१०) *वावदूक्*–उनके वाक्य कानों को प्रिय हैं एवं वे रसभावादियुक्त हैं; (११) *सुपाण्डित्य*–वे विद्वान् एवं नीतिज्ञ हैं; (१२) *बुद्धिमान्*–मेधावी एवं सूक्ष्म–बुद्धि हैं; (१३) *प्रतिभान्वित*–नवनवोल्लेखि ज्ञानयुक्त हैं तथा नूतन–नूतन विषय के उद्भावन में समर्थ हैं; (१४) *विदग्ध*–चौंसठ विद्याओं एवं विलासादि में निपुण हैं; (१५) *चतुर*–एक ही समय में अनेक कार्य साधन करने वाले हैं; (१६) *दक्ष*–दुष्कर कार्यों को भी अति शीघ्र सम्पादन करने वाले हैं; (१७) *कृतज्ञ*–दूसरे के द्वारा की हुई सेवा को जानने वाले हैं; (१८) *सुदृढ़व्रत*–उनकी प्रतिज्ञा एवं नियम सदा सत्य होते हैं; (१९) *देशकाल सुपात्रज्ञ*–देश–काल–पात्रानुसार कार्य करने में निपुण हैं; (२०) *शास्त्रचक्षु*–वे शास्त्रानुसार कार्य करने वाले हैं; (२१) *शुचि*–पापनाशक एवं दोषरहित हैं; (२२) *वशी*–जितेन्द्रिय हैं; (२३) *स्थिर*–फलोदय न देखकर कार्य से निवृत्त होने वाले नहीं हैं; (२४) *दान्त*–दुःसह होते हुए भी उपयुक्त क्लेश सहन करने वाले हैं; (२५) *क्षमाशील*–दूसरों के अपराध क्षमा करने वाले हैं; (२६) *गम्भीर*–उनका अभिप्राय दूसरों के पक्ष में दुर्बोध हैं; (२७) *धृतिमान्*–क्षोभ का तीव्र कारण होते हुए भी वे क्षोभशून्य हैं; (२८) *सम*–रागद्वेषशून्य हैं; (२९) *वदान्य*–दानवीर हैं; (३०) *धार्मिक*–वे स्वयं धर्म का आचरण कर दूसरों को भी धर्माचरण कराने वाले हैं; (३१) *शूर*–युद्ध के उत्साही तथा अस्त्र प्रयोग में निपुण हैं; (३२) *करुण*–वे दूसरे का दुःख सहन नहीं कर सकते; (३३) *मान्यमानकृत्*–गुरु, ब्राह्मण एवं वृद्धजनों का सम्मान करने वाले हैं; (३४) *दक्षिण*–सुस्वभाववश कोमल चित्त हैं; (३५) *विनयी*–उद्धताशून्य हैं; (३६) *ह्रीमान*–दूसरों के द्वारा स्तुत्य होने पर संकुचित होने वाले हैं; (३७) *शरणागत पालक*– शरण में आये हुए का पालन करते हैं; (३८) *सुखी*–वे सुख–भोग करने

वाले हैं एवं उन्हें दुःख की गन्धमात्र भी स्पर्श नहीं करती; (३६) *भक्त–सुहृद्*–सुसेव्य एवं बन्धुभेद से वे दो प्रकार से भक्तसुहृद् हैं। चुल्लू भर जल एवं तुलसीदल अर्पण करने वाले भक्तों को श्रीकृष्ण आत्म–समर्पण करने वाले हैं,–यह उनका सुसेव्यत्व है। अपनी प्रतिज्ञा को भंग करके भी श्रीकृष्ण भक्तों की प्रतिज्ञा की रक्षा करते हैं–यह उनका दास–बन्धुत्व है। (४०) *प्रेमवशीभूत;* (४१) *सर्वशुभंकर*–सबके मंगलकारी हैं; (४२) *प्रतापी*–वे अपने प्रभाव से शत्रु को ताप देने में प्रसिद्ध हैं; (४३) *कीर्तिमान्*–वे निर्मल यश राशि में विख्यात हैं; (४४) *रक्तलोक*–वे समस्त लोकों के अनुराग के पात्र हैं; (४५) *साधुसमाश्रय*–साधु भक्तों के प्रति विशेष कृपा के कारण उनका वे पक्षपात करने वाले हैं; (४६) *नारीगण–मनोहारी*–सौन्दर्य, माधुर्य, वैदग्ध्यादि के द्वारा वे रमणीवृन्द का चित्त हरने वाले हैं; (४७) *सर्वाराध्य* सभी के आराध्य हैं; (४८) *समृद्धिमान्*–वे अत्यन्त सम्पत्शाली हैं; (४६) *वरीयान्*–वे ब्रह्मा, शिवादि से भी श्रेष्ठ हैं; (५०) *ईश्वर*–वे स्वतन्त्र, अन्यनिरपेक्ष हैं तथा उनकी आज्ञा दुर्लङ्घ्य है; ये पचास गुण श्रीकृष्ण में समुद्रवत् असीम–रूप से नित्य विराजमान रहते हैं।।२४–२६।।

२६–जीवेष्वेते वसन्तोऽपि बिन्दुबिन्दुतया क्वचित्।
परिपूर्णतया भान्ति तत्रैव पुरुषोत्तमे।।३०।।
२७–तथा हि पाद्मे पार्वत्यै शितिकण्ठेन तद्गुणाः।
कन्दर्पकोटिलावण्या इत्याद्याः परिकीर्तिताः।।३१।।
२८–एत एव गुणाः प्रायो धर्माय वनमालिनः।
पृथिव्या प्रथमस्कन्धे प्रथयाञ्चक्रिरे स्फुटम्।।३२।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–क्वचिदति भगवदनुगृहीतेष्वित्येव मुख्यतयांगीकृतम्। अतएव बिन्दुत्वमपि, अन्येषु तु तदाभासत्वमेव ज्ञेयम्।।३०।। धर्माय धर्मरूपं देवं बोधयितुमित्यर्थः। "क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिन" इति स्मरणाच्चतुर्थी।।३२।।

● *अनुवाद*–उपर्युक्त गुण किन्हीं–किन्हीं मनुष्यों में भी रहते हैं अर्थात् भगवत् द्वारा अनुगृहीत पुरुषों में बिन्दु–बिन्दु रूप में रहते हैं, किन्तु पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण में ही परिपूर्णता से नित्य विराजमान रहते हैं। साधारण लोगों में इनके बिन्दु का भी आभास मात्र ही जानना चाहिए।।३०।।

पद्मपुराण में श्रीशिवजी ने पार्वती के प्रति श्रीकृष्ण के 'कन्दर्प–कोटि–लावण्यादि'' गुणों का वर्णन किया है।।३१।।

श्रीमद्भागवत (१।१६।२७–३०) में पृथ्वी ने भी धर्मराज देव के प्रति बनमाली श्रीकृष्ण के अनेक गुणों का प्रायशः स्पष्ट रूप से वर्णन किया है।।३२।।

यथा प्रथमे (१।१६।२७–३०)–

५–सत्यं शौचं दया क्षान्तिः त्यागः सन्तोष आर्जवम्।
शमो दमस्तपः साम्यं तितिक्षोपरतिः श्रुतम्।।३३।।
६–ज्ञानं विरक्तिरैश्वर्यं शौर्यं तेजो बलं स्मृतिः।
स्वातन्त्र्यं कौशलं कान्तिर्धैर्यं मार्दवमेव च।।३४।।

७–प्रागल्भ्यं प्रश्रयः शीलं मह ओजो बलं भगः।
गाम्भीर्यं स्थैर्यमास्तिक्यं कीर्तिर्मानोऽनहंकृतिः।।३५।।
८–एते चान्ये च भगवन्नित्या यत्र महागुणाः।
प्रार्थ्या महत्त्वमिच्छद्भिर्न वियन्ति स्म कर्हिचित्।।३६।।इति

● *अनुवाद*–श्रीमद्भागवत (१।१६।२७–३०) में पृथ्वी की अधिष्ठात्रीदेवी ने धर्म के प्रति श्रीकृष्ण के इन गुणों का वर्णन किया है– (१) सत्य, (२) शौच, (३) दया, (४) क्षान्ति, (५) त्याग (६) सन्तोष, (७) आर्जव (सरलता) (८) शम, (६) दम, (१०) तपः (क्षत्रियत्वादि एवं लीलानुरूप स्वधर्म) (११) साम्य (शत्रु–मित्रादि रूप भेद–बुद्धि का अभाव), (१२) तितिक्षा, (१३) उपरति (लाभ–प्राप्ति में उदासीनता), (१४) श्रुत (शास्त्र–विचार), (१५) ज्ञान–बुद्धिमत्ता, कृतज्ञता, देश–पात्रज्ञता, सर्वज्ञता एवं आत्मता–यह पाँच प्रकार का ज्ञान, (१६) विरक्ति (असदविषय वितृष्णा), (१७) ऐश्वर्य (नियन्तृत्व), (१८) शूरता, (१६) तेज, (२०) बल, (२१) स्मृति (कर्तव्यार्थ का अनुसन्धान), (२२) स्वातन्त्र्य, (२३) कौशल (क्रिया–नैपुण्य, एक समय अनेक कार्य समाधान करने की निपुणता, तथा कला–विलास विज्ञतारूप वैदग्धी–यह तीन प्रकार का कौशल), (२४) कान्ति (हस्तादि अंगों की कमनीयता–वर्ण, रस अर्थात् अधर–चरण– स्पृष्टगत रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द की कमनीयता तथा नारीगण–मनोहारिता, यह चार प्रकार की कमनीयता), (२५) धैर्य (अव्याकुलता), (२६) मार्दव (मृदुता–प्रेमार्द्र चित्तता), (२७) प्रागल्भ्य (प्रतिभातिशयता), (२८) प्रश्रय (विनय–लज्जाशीलता, अन्य प्रति दानदातृत्व तथा प्रियंवदत्व), (२६) शील (सुन्दर स्वभाव), (३०) मह (मन की पटुता) (३१) ओज (ज्ञानेन्द्रिय की पटुता), (३२) बल (कर्मेन्द्रिय की पटुता), (३३) भग (भगास्पदत्व, सुखित्व एवं सर्वसमृद्धिमयत्व; तीन प्रकार के भग), (३४) गाम्भीर्य (अभिप्राय की दुर्ज्ञेयता), (३५) स्थैर्य (अचञ्चलता), (३६) आस्तिक्य (समस्त विषयों को शास्त्रानुसार जानना), (३७) कीर्ति (सद्गुणों की ख्याति), (३८) मान (पूज्यत्व) तथा (३६) अनहंकृति (पूज्य होकर भी गर्व राहित्य)–ये समस्त एवं अन्यान्य अनेक गुण जिनके लिए महत्त्वाभिलाषी व्यक्ति प्रार्थना करते रहते हैं, हे भगवन्! वे सब नित्य–महागुण समूह श्रीकृष्ण को कभी भी त्याग नहीं करते, सदा उनमें विराजमान रहते हैं।।३३–३६।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*– श्लोक २३ से २६ सं० तक जिन पचास गुणों का वर्णन श्रीगोस्वामिपाद ने किया, उसकी सम्पुष्टि के लिए उपर्युक्त ४ श्लोक श्रीमद्भागवत के उद्धृत किये गये हैं। इनमें गुणों की संख्या ३६ है। किन्तु बाकी के ११ गुण इनमें ही अन्तर्भुक्त हैं। श्रीप्रीति–सन्दर्भ में इनका विस्तारपूर्वक निरूपण किया गया है।

२६–अथ पञ्चगुणा ये स्युरंशेन गिरिशादिषु।।३७।।
३०–सदास्वरूपसम्प्राप्तः सर्वज्ञो नित्यनूतनः।
सच्चिदानन्दसान्द्रांगः सर्वसिद्धिनिषेवितः।।३८।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*अंशेन यथासम्भवं स्वांशेन, गिरिशादिषु श्रीशिवादिषु। आदिग्रहणात् क्वचिद् द्विपरार्द्धदौ साक्षाद्–भगवदवतारा ब्रह्मादयो गृह्यन्ते।।३७।। सच्चिदानन्देति। श्रीभगवत्पक्षे सच्चिदानन्दरूपञ्च तत् सान्द्रं वस्त्वन्तराप्रवेश्यं चांगं यस्य स इति विग्रहः, शिवपक्षे सच्चिदानन्देन श्रीभगवता सान्द्रं तादात्म्यं प्राप्तमंगं यस्य सः।।३८।।*

● *अनुवाद*—अब उन पाँच गुणों का वर्णन करते हैं, जो (सदा) शिवादि में आंशिकरूप से प्रकाशित होते हैं। (१) सदास्वरूप सम्प्राप्त– अर्थात् जो माया–कार्य के वशीभूत नहीं होते, (२) सर्वज्ञ (जो दूसरे के चित्त की बात तथा देश–कालादि द्वारा व्यवहारित समस्त विषयों को जानते हैं), (३) नित्यनूतन होकर भी अननुभूत की भाँति अपने माधुर्यादि द्वारा चमत्कारिता सम्पादन करने वाले हैं), (४) सच्चिदानन्द–सान्द्रांग (जिनकी आकृति चिदानन्दघन है, सत्, चित् एवं आनन्द को छोड़कर और किसी भी वस्तु का स्पर्श उनमें नहीं है) एवं (५) सर्वसिद्धि–निषेवित–(अर्थात् सर्वसिद्धियाँ जिनकी सेवा करती हैं)–वह पाँच गुण श्रीकृष्ण में परिपूर्ण रूप से विराजमान रहते हैं। (किन्तु सदा–शिवादि में आंशिकरूप में रहते हैं)।।३७–३८।।

३१–अथोच्यन्ते गुणाः पंच ये लक्ष्मीशादिवर्तिनः।
अविचिन्त्य–महाशक्तिः कोटिब्रह्माण्डविग्रहः।।३९।।
३२–अवतारावलीबीजं हतारिगतिदायकः।
आत्मारामगणाकर्षीत्यमी कृष्णे किलाद्भुताः।।४०।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*अथोच्यन्त इति युगलं। लक्ष्मीशोऽत्र परव्योमाधिनाथः श्रीनारायणः। आदिशब्दान्महापुरुषादयोऽपि गृह्यन्ते, तत्राविचिन्त्य महाशक्तित्वं लक्ष्मीशे ज्ञेयं, महापुरुषाद्यवतारकर्तृत्वात्। कोटिब्रह्माण्डव्यापरी विग्रहो यस्येति मध्यमपदलोपी समासः। तन्मात्रव्यापिविग्रहत्वं महापुरुषे मायाद्रष्टुस्तस्यैव तदुपाधित्वाद्। यथाः ब्रह्मसंहितायां*—

यस्यैकनिश्वसितकालमथावलम्व्य;।
जीवन्ति लोमविलजा जगदण्डनाथाः।
विष्णुर्महान् स इह यस्य कलाविशेषो–
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।।३९।।इति

अवतारावलीबीजत्वं पूर्वयोर्द्वयोर्यथासम्भवमन्यत्र च। गतिः स्वर्गादिरूपोऽर्थः। स तु भगवद्द्वेषिणामन्येन केनापि कर्मणा न सम्भवतीति यथोक्तं गीतासु (१६।१९)

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु।।
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्।।

आत्मारामगणाकर्षित्वं श्रीमद्विकुण्ठासुतादावपि तृतीयस्कन्धादिषु प्रसिद्धं। कृष्णे किलाद्भुता इति नरलीलामयत्वेनैव तत्तदाविर्भावनात्, किञ्चाविचिन्त्येति; अवतारेति स्वयं भगवत्त्वात्, स्वयंभगवत्त्वेऽपि जिज्ञासा चेत् कृष्णसंदर्भो दृश्यः। कोटीति–तानि

व्याप्यापि वैकुण्ठादिव्यापित्वात्, हतेति–मोक्षभक्तिपर्यन्तगतिदातृत्वाददद्भुतत्वं ज्ञेयम्। तदेवं परमव्योमनाथादीनतिक्रम्य श्रीकृष्णस्यैव विस्मयकारित्वे स्थिते भवतु नाम गिरिशादिश्वंशेन तत्तद्गुणत्वं, किंतु सुतरामेव श्रीकृष्णानुभविषु न तेषां विस्मयकारित्वमिति व्यञ्जितं, यथोक्तं "यन्मर्त्यलीलौपयिकमिति", (भा० १० ।४४ ।१४) "गोप्यस्तपः किमचरन् यदमुष्य रूपमिति च।।४०।।

● **अनुवाद**–अब उन पाँच गुणों का वर्णन करते हैं, जो श्रीलक्ष्मीपति परव्योमाधिपति तथा महाविष्णु–कारणसमुद्रशायी महापुरुष में रहते हैं –(१) *अविचिन्त्य–महाशक्ति* अर्थात् ब्रह्मण्डान्तर्यामि पर्यन्त समस्त दिव्य सृष्टि करने की शक्ति रखने वाले, ब्रह्मा–रुद्रादि को मोहित करने वाले तथा भक्तों की प्रारब्ध को खण्डन करने की शक्ति रखने वाले (२) *कोटिब्रह्माण्ड–विग्रह* अर्थात् जिनके विग्रह में अनगणित कोटि ब्रह्माण्ड अवस्थान करते हैं (३) *अवतारावलीबीज* अर्थात् जिनसे समस्त अवतार प्रकाशित होते हैं (४) *हतारिगतिदायक* अर्थात् जो शत्रुओं को मारकर मुक्ति दान करने वाले हैं तथा (५) *आत्मारामगणाकर्षी* अर्थात् जो ब्रह्मानन्द–निमग्न आत्माराम मुनियों तक को भी आकर्षण करने वाले हैं। ये पांच गुण श्रीनारायणादि में रहते हुए भी श्रीकृष्ण में अति अद्‌भुत रूप में वर्तमान हैं।।३६–४०।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–उपर्युक्त पाँचों गुण परव्योमाधिपति श्रीनारायण में हैं। महापुरुषादि अर्थात् कारण–समुद्रशायी महाविष्णु आदि जो अवतारों के कर्ता हैं,उनमें भी अविचिन्त्य महाशक्ति है; जिसका निर्णय, विचार–बुद्धि द्वारा नहीं किया जा सकता। श्रीमहाविष्णु में कोटि–कोटि ब्रह्माण्ड अवस्थान करते हैं। वे माया के द्रष्टा होने से मायोपाधियुक्त कहे जाते हैं। अतः उनका व्यापकत्व मायातीत वैकुण्ठादि में सम्भव नहीं है। किन्तु श्रीकृष्ण स्वीय विग्रह द्वारा कोटि ब्रह्माण्डों में और वैकुण्ठादि समस्त भगवद्धामों में भी व्याप्त हैं। अतः इनमें यही अद्‌भुतता है।

श्रीनारायण, भगवान् महापुरुषादि अवतारों के मूल हैं और महापुरुष–महाविष्णु, द्वितीय पुरुष गर्भोदकशायी तथा तृतीय पुरुष क्षीरसमुद्रशायी के मूल हैं। श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् होने से श्रीनारायण तथा महापुरुषादि अवतारों के भी मूल बीज हैं। अतः श्रीकृष्ण का अवतारावली–बीजत्व अद्‌भुत है।

महापुरुष के युगावतार रूप में श्रीवासुदेव कृष्ण श्रीगीता (१६ ।१६–२०) में कहते हैं कि मैं क्रूर स्वभाव, द्वेषी अधम व्यक्तियों को आसुरी योनि में डाल देता हूँ एवं वे जन्म–जन्मान्तर में आसुरी योनि में पड़े हुए मुझको प्राप्त नहीं कर सकते, अतः अधम गति को प्राप्त होते हैं, किन्तु स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण व्रजेन्द्रनन्दन अपने प्रति द्वेष करने वाले एवं अपने द्वारा निहत शत्रुओं को भी सायुज्य मुक्ति, यहाँ तक कि भक्ति, धातृ–गति (माता की गति) प्रदान करने वाले हैं, जिसकी साक्षिणी पूतना है। अतः इनमें जो हतारिगतिदायकत्व है, वह भी अद्‌भुत है।

श्रीमद्भागवत तृतीय स्कन्ध में आत्मारामगण श्रीसनकादिक का श्रीवैकुण्ठनाथ की चरणतुलसी–सौरभ में आकर्षित होने का प्रसंग विख्यात है, किन्तु नरलीला

परायण स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने इस गुण का सर्वातिशायी विकाश है–

कोटि ब्रह्माण्ड परव्योम, ताहाँ ये स्वरूपगण, तासभार बले हरे मन।
पतिव्रता शिरोमणि, जारे कहे वेदवाणी, आकर्षये सेई लक्ष्मीगण।।

–श्रीकृष्ण कोटि–कोटि ब्रह्माण्ड–स्थित एवं परव्योम–स्थित भगवत् स्वरूपों का भी मन, यहाँ तक श्रीनारायण–वक्षविलासिनी पतिव्रता श्रीलक्ष्मीजी का भी मन वरवश हरण करने वाले हैं। यहाँ तक कि (भा० ३।२।१२) "वे अपने मन का भी स्वयं हरण करने वाले हैं।" अतः उनका आत्मारामगणाकर्षी गुण भी अति अद्‌भुत है।।३६–४०।।

३३–सर्वाद्‌भुतचमत्कारलीलाकल्लोलवारिधिः।
अतुल्यमधुरप्रेममण्डितप्रियमण्डलः।।४१।।
३४–त्रिजगन्मानसाकर्षी मुरलीकलकूजितैः।
असमानोर्ध्वरूपश्रीर्विस्मापितचराचरः।।४२।।
३५–लीलाप्रेम्णा प्रियाधिक्यं माधुर्ये वेणुरूपयोः।
इत्यसाधारणं प्रोक्तं गोविन्दस्य चतुष्टयम्।।४३।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*सर्वाद्‌भुतेत्यादिकं तूदाहरणेषु विवेचनीयम्। अतुल्येत्यादिपदद्वये षष्ठ्यर्थान्यपदार्थो बहुब्रीहिः।।४१।। तानेव चतुरो गुणान् संक्षिप्य दर्शयति–लीलेति। तत्र लीलेति प्रथमः। प्रेम्णा प्रियाणामाधिक्यमिति तादृशप्रियजन–विराजमानत्वमित्यर्थः। तच्च द्वितीयः। वेणुमाधुर्यमिति तृतीयः। रूपमाधुर्यमिति चतुर्थः। तदेवं निरूप्यानुभवविशेषात् प्रौढिवादेनाह–इत्यसाधारणमिति। तदेवमपि (१।२।५६) सिद्धान्ततस्त्वभेदेऽपीत्यादौ रसेनोत्कृष्यते कृष्णरूपमिति यदुक्तं तत्तूपलक्षणमेव ज्ञेयम्।।४३।।*

● *अनुवाद*–श्रीकृष्ण सर्वविध अद्‌भुत चमत्कारी लीला तरंगों के समुद्रतुल्य हैं। (लीला–माधुर्य), अनुपम मधुर प्रेम (महाभाव–पर्यन्त) द्वारा प्रियजनों को मण्डित–विभूषित करने वाले हैं; (प्रेम–माधुर्य), मधुर मुरली की कल–ध्वनि द्वारा तीनों लोकों के मन को आकर्षित करने वाले हैं, (वेणु–माधुर्य) तथा अपने असमोद्ध्र्व रूप लावण्य द्वारा चराचर को विस्मित करने वाले हैं (रूप–माधुर्य)–इस प्रकार (१) *लीला–माधुर्य* (२) *प्रेम –माधुर्य* (३) *वेणु–माधुर्य* तथा (४) *रूप–माधुर्य;* ये चारों गुण श्रीकृष्ण के असाधारण गुण हैं। ये चारों गुण और किसी भी भगवत्स्वरूप में नहीं हैं। सिद्धान्ततः श्रीकृष्ण तथा श्रीनारायण या अन्यान्य भगवत्स्वरूपों में अभेद होते हुए भी रसोत्कर्ष से श्रीकृष्णरूप में यह असाधारणता विद्यमान है।।४१–४३।।

३६–एवं गुणाश्चतुर्भेदाश्चतुःषष्टिरुदाहृताः।
सोदाहरणमेतेषां लक्षणं क्रियते क्रमात्।।४४।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*चतुर्भेदा इति। तत्र पञ्चाशत्तमपर्यन्तः प्रथमः, पञ्चपञ्चाशतपर्यन्तो द्वितीयः, षष्टितमपर्यन्तस्तृतीयः, चतुषष्टितमपर्यन्तश्चतुर्थः, इति भेदो वर्गः। सोदाहरणमिति–अत्रोदाहरणानि चतुर्भिः प्रमाणैर्लब्धानि। शास्त्रेण,*

तत्तात्पर्येण, तदनुसारिमहाजनप्रसिद्धा, तत्तदनुसारिसम्भवेन च। पुनर्द्विविधानि भगवत्तया चमत्कारकराणि, मनुष्यलीलया चेति। तत्र भगवत्त्वेऽपि मनुष्यलीलया चमत्कारकरत्वं; (भा० १० ।५० ।३०) 'तथापि मर्त्यानुविधस्य वर्ण्यत' इति, (भा० १० ।१४ ।३७) प्रपञ्चे निष्प्रपञ्चोऽपीत्यादिन्यायेन च। तथैव वर्णितं पृथिव्या (भा० १ ।१६ ।२७) सत्यं शौचमित्यादिना। यथा चात्रैव (२ ।१ ।६१) दर्शयिष्यते। "पश्य विन्ध्यागिरितोऽपि गरिष्ठामित्यादिभिः" ।४४ ।।

● **अनुवाद–इस प्रकार चार भेदों या वर्गों में श्रीकृष्ण के चौंसठ गुणों का उल्लेख किया गया है। अब उन सबके उदाहरण सहित लक्षणों का निरूपण करते हैं।।४४।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–कारिका श्लोक २३ से २६ तक प्रथम वर्ग के पचास गुणों का वर्णन है, जिनको श्रीमद्भागवत (१ ।१६ ।२७–३०) के प्रमाण द्वारा पुष्ट किया गया। उसके बाद कारिका ३८ में दूसरे वर्ग के पाँच गुणों का निरूपण किया गया, उसके बाद कारिका ३६–४० में तीसरे वर्ग के पाँच गुणों का वर्णन है तथा कारिका ४१–४२ में चतुर्थ वर्ग के पांच असाधरण गुणों का निरूपण किया गया है। इस प्रकार श्रीकृष्ण के कुल ६४ गुणों का निरूपण किया गया है। वस्तुतः श्रीकृष्ण के गुणों का यहाँ दिग्दर्शन मात्र कराया गया है। उनके गुण असंख्य, अनन्त हैं। पृथ्वी के धूलि–कण, आकाश के हिमकण तथा सूर्य के रश्मि–परमाणु कोई निपुण व्यक्ति कालक्रम से गिन ले तो माना जा सकता है, किन्तु श्रीभगवान् के गुणों की गणना करना नितान्त असम्भव है; ऐसा श्रीब्रह्माजी ने कहा है (श्रीभा० १० ।१४ ।७)।।

अब आगे प्रत्येक गुण का उदाहरणों सहित वर्णन करते हैं। उदाहरण भी कुछ शास्त्र–प्रमाणानुसार, कुछ शास्त्र–तात्पर्यानुसार, कुछ तात्पर्यानुसार महाजनों द्वारा वर्णित तथा कुछ महाजन मतानुसार उद्धृत किये गये हैं। उन उदाहरणों से विषय अति सुबोध्य हो जाता है।।४४।।

तत्र सुरम्यांगः(१)–

३७–श्लाघ्यांगसंनिवेशो यः सुरम्यांगः स कथ्यते।।४५।।

यथा–६–मुखं चन्द्राकारं करभनिभमूरुद्वयमिदं–
भुजौ स्तम्भारम्भौ सरसिजवरेण्यं करयुगम्।
कपाटाभं वक्षःस्थलमविरलं श्रोणिफलकं–
परिक्षामो मध्यः सफुरति मुरहन्तुर्मधुरिमा।।४६।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*मुखमिति। यद्यपि पूर्वानुसारेण चन्द्रादयस्तस्य दृष्टान्ततालेशमपि नार्हन्ति; तथापि साधारणलोकानां ततेद्वारा तन्महिमप्रवेशार्थमेव दृष्टान्तिताः। यत्र तु तदन्तरंगपरिकिरैरपि तादृशं वर्ण्यते तत्र साक्षाद्भगवद्विभूतिरुप–तल्लीलापरिकरा एव चन्द्रादयो दृष्टान्त्यते इति ज्ञेयं। तदेतदभिप्रेत्यैव तदप्यनादृत्य केवलानुवादेनैवाह–अविरलमित्यादि, अविरलमिति। अतिस्थूलत्वाद्विभक्तावयवत्वेन विवेक्तुमशक्यमित्यर्थः।।४६।।*

● *अनुवाद*—पहला गुण है *"सुरम्यांग"*। जिसके अवयवों का संनिवेश (गठन) श्लाघनीय होता है, उसे 'सुरम्यांग' कहते हैं।।४५।।

श्रीकृष्ण सुरम्यांग हैं; उसका दृष्टान्त उद्धृत करते हैं। श्रीकृष्ण का मुख चन्द्रमा के समान है, उनकी दोनों जंघायें करभ (कलाई से लेकर कनिष्ठिका अंगुली तक हाथ का बाहरी भाग) के समान हैं, भुजायें स्तम्भ की भाँति, दोनों हाथ प्रस्फुटित कमलों की तरह, वक्षस्थल कपाट की तरह विशाल, दोनों नितम्ब एक दूसरे से सटे हुए तथा उनकी कमर अति पतली है—इस प्रकार श्रीमुरारिकृष्ण के अंगों की मधुरिमा प्रकाशित हो रही है।।४६।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—यद्यपि चन्द्रादि के साथ श्रीकृष्ण की उपमा नहीं दी जा सकती, तथापि उनकी महिमा में साधारण लोगों की बुद्धि प्रवेश कराने के लिए ऐसा कहा जाता है। जहाँ श्रीकृष्ण के लीला—परिकर भी श्रीकृष्ण को चन्द्रादि की उपमा देकर वर्णन करते हैं, वहाँ श्रीकृष्ण के विभूतिरूप अप्राकृत चन्द्रादि समझने चाहिए, वहाँ प्राकृत चन्द्रादि का कथन नहीं है।।४६।।

सर्वसल्लक्षणान्वितः (२)—

३८—तनौ गुणोत्थमंकोत्थमिति सल्लक्षणं द्विधा।।४७।।

● *अनुवाद*—श्रीकृष्ण सर्व सत्—लक्षणों से युक्त हैं। शरीर में दो प्रकार के सल्लक्षण होते हैं—१. गुणोत्थ तथा २. अंकोत्थ।।४७।।

तत्र गुणोत्थम्—

३६—गुणोत्थं स्याद् गुणैर्योगो रक्ततातुंगताऽऽदिभिः।।४८।।

यथा— १०—रागः सप्तसु हन्त षट्स्वपि शिशोरंगेष्वलंगता।
विस्तारस्त्रिषु खर्वता त्रिपु तथा गम्भीरता च त्रिषु।।
दैर्ध्यं पञ्चसु किञ्च पञ्चसु सखे ! सम्प्रेक्ष्यते सूक्ष्मता ।
द्वात्रिंशद्वरलक्षणः कथमसौ गोपेषु सम्भाव्यते ?।।४६।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*राग इति। श्रीमद्व्रजेश्वरं प्रति कस्यचित् सवयसो गोपस्य वाक्यमिदं। सप्तसु नेत्रान्तपादकरतलताल्वधरोष्ठजिह्वानखेषु, षट्सु वक्षः—स्कन्धनखनासिकाकटिमुखेषु। त्रिषु कटिललाटवक्षः, सुकेचित्कटिस्थाने शिरः पठन्ति, पुनस्त्रिषु ग्रीवाजंघामेहनेषु, पुनश्च त्रिषु नाभिस्वरसत्त्वेषु, पञ्चसु नासाभुजनेत्रहनुजानुषु, पुनः पञ्चसु त्वक्केशांगुलिदन्तांगुलिपर्वसु, तथैव महापुरुषलक्षणं सामुद्रकप्रसिद्धेः, द्वात्रिंशद्वराणि तत्तल्लक्षणेभ्यो गोपेभ्योऽपि श्रेष्ठानि लक्षणानि यस्य सः, गोपेषु कथमिति भगवदवतारादिष्वप्येततादृशत्वाश्रवणादिति भावः।।४६।।*

● *अनुवाद*—शरीर की रक्तता तथा ऊँचाई आदि गुणों के योग से *"गुणोत्थ—सल्लक्षणत्व"* होता है।।४८।।

जैसे कि (श्रीउपनन्दजी ने) कहा है, इस सामने उपस्थित गोपवेशधारीकृष्ण के सात अंगों में लाली है, इस बालकृष्ण के छः अंगों में तुंगता है, तीन अंगों में विशालता पाई जाती है। तीन में लघुता और तीन में गंभीरता है। पाँच अंगों में लम्बाई तथा पाँच में सूक्ष्मता है। हे सखे ! महापुरुषों के इन बत्तीस लक्षणों से युक्त बालक गोपों में कैसे उत्पन्न हो सकता है ? ऐसे लक्षण तो भगवद्

अवतारों में सुने जाते हैं। (कारिका सं० २३ की हरिकृपा–बोधिनी टीका में, कौन से अंग में क्या गुण हैं–द्रष्टव्य है)।।४८–४६।।

अंकोत्थम्–

४०–रेखामयं रथांगादि स्यादंकोत्थं करादिषु।।५०।।

यथा (११)–करयोः कमलं तथा रथांगं स्फुटरेखामयमात्मजस्य पश्य।
पदपल्लवयोश्च वल्लवेन्द्र ! ध्वजवज्रांकुशमीनपंकजानि।।५१।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*करयोरिति कस्याश्चिद् वृद्धगोप्या वचनम्। उपलक्षणान्येवैतानि चिह्नानि। पद्मपुराणादिदृष्ट्यान्यान्यप्यसाधारणानि ज्ञेयानि तानि च यथा पद्मपुराणे ब्रह्मोवाच–*

श्रृणु नारद ! वक्ष्यामि पादयोश्चिह्नलक्षणम्।
भगवत्कृष्णरूपस्य ह्यानन्दैकघनस्य च।।
अवतारा ह्यसंख्याताः कथिता मे तवाग्रतः।
परं सम्यक् प्रवक्ष्यामि कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।।
देवानां कार्यसिद्ध्यर्थमृषीणां च तथैव च।
आविर्भूतस्तु भगवान् स्वानां प्रियचिकीर्षया।।
यैरेवा ज्ञायते देवो भगवान्भक्तवत्सलः।
तान्यहं वेद नान्योऽस्ति सत्यमेतन्मयोदितम्।।
षोड़शैव तु चिह्नानि मया दृष्टानि तत्पदे।
दक्षिणे चाष्ट चिह्नानि इतरे सप्त एव च।।
ध्वजः पद्मं तथा वज्रमंकुशो यव एव च।
स्वास्तिकं चोद्र्ध्वरेखा च अष्टकोणं तथैव च।।
दृश्यन्ते वैष्णवश्रेष्ठ दक्षिणे भगवत्पदे।
सप्तान्यानि प्रवक्ष्यामि साम्प्रतं वैष्णवोत्तम !।।
इन्द्रचापं त्रिकोणं च कलसं चार्द्धचन्द्रकम्।
अम्बरं मत्स्यचिह्नं च गोष्पदं सप्तमं स्मृतम्।।
अंकान्येतानि भो वत्स ! दृश्यन्ते तु यदा कदा।
कृष्णख्यं तु परं ब्रह्म भुवि जातं न संशयः।।
द्वयं वाऽथ त्रयं वाऽथ चत्वारः पंच चैव च।
दृश्यन्ते वैष्णवश्रेष्ठ ! अवतारे कथञ्चन।। इत्यादि
षोडशं तु तथा चिह्नं श्रृणु देवर्षिसत्तम !।
जम्बूफलसमाकारं दृश्यते यत्र कुत्रचिद्।।

इत्यन्तं शास्त्रान्तरेषु तापन्यागमवाराहादिषु शंखचक्रच्छत्राणि च ज्ञेयानि।।५१।।

● *अनुवाद*–हाथों एवं चरणों में रेखाओं से बने हुए चक्रादि चिह्न *"अंकोत्थ सल्लक्षणत्व"* प्रकाशित करते हैं।।५०।।

जैसा कि (श्रीभागुरि पुरोहित ने) कहा है–हे गोपराज ! अपने पुत्र के हाथों में स्पष्ट रेखाओं से बने हुए कमलों और चक्रों को देखो तथा चरणकमलों

में ध्वज, वज्र, अंकुश, मीन और कमलों के चिह्न देखो।।५१।। (इन चिह्नों का विस्तृत वर्णन का० २३ की हरिकृपा–बोधिनी टीका में द्रष्टव्य है)।।

रुचिरः (३)–४१–सौन्दर्येण दृगानन्दकारी रुचिर उच्यते।।५२।।

यथा तृतीये (३।२।१३)

१२–यद्धर्मसूनोर्वत राजसूये निरीक्ष्य दृक्स्वस्त्ययनं त्रिलोकः।
कार्त्स्न्येन चाद्येह गतं विधातुरर्वाक्सृतौ कौशलमित्यमन्यत।।५३।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*सौन्दर्येण कान्त्या।।५२।। विधातुरर्वाक्सृतौ यत्कौशलं तदिह श्रीकृष्णसौन्दर्येत् कार्त्स्न्येन गतं प्रविष्टमित्यमन्यत अन्वभूत्। तदेकदेशान्तर्भूतमेव तत्सर्वमित्यर्थः। अमंस्तेति पाठस्तु लिखनभ्रमादेव।।५३।।*

● *अनुवाद*–सौन्दर्य के द्वारा नेत्रों को आनन्द प्रदान करने वाला '*रुचिर*' कहलाता है।।५२।।

श्रीकृष्ण का रुचिरत्व श्रीमद्भागवत (३।२।१३) में इस प्रकार वर्णित है–प्रसन्नता का विषय है कि धर्मराज श्रीयुधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में नेत्रों को आनन्द प्रदान करने वाले, श्रीकृष्ण के दर्शन कर तीनों लोकों के निवासियों ने ऐसा अनुभव किया कि पूर्व सृष्टियों में संचित विधाता का सारा कौशल श्रीकृष्ण के शरीर की रचना में समा गया है। (वस्तुतः विधाता का जो यावतीय कौशल है वह तो श्रीकृष्ण–सौन्दर्य के लेशमात्र के बराबार भी नहीं है)।।५३।।

यथा वा–

१३–अष्टानां दनुजभिदंगपंकजाना–
मेकस्मिन्कथमपि यत्र बल्लवीनाम्।।
लोलाक्षिभ्रमरततिः पपात तस्मा,
न्नोत्थातुं द्युतिमधुपंकिलात्क्षमासीत्।।५४।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*पूर्वत्र सुरम्यांगत्वमिश्रं रुचिरत्वं वर्णितमित्यपरितोषा–च्छुद्धोदाहरणं पुनराह–यथा, वेति। अष्टानां मुखनेत्रयुगकरयुगनाभिचरणयुगरूपाणाम्, उपलक्षणानि चैतान्यन्येषामंगनाम्।।५४।।*

● *अनुवाद*–पूर्व श्लोक में सुरम्यांगत्व से मिश्रित रुचिर उदाहरण दिया गया है। उससे पूर्ण तुष्ट न होकर रुचिरत्व का शुद्ध उदाहरण इस श्लोक में पुनः उल्लेख करते हैं–श्रीकृष्ण के (दो नेत्र, दो हस्त, दो चरण एक मुख तथा एक नाभि–ये) आठों अंग कमल हैं। यदि इन आठों में से किसी एक में भी गोपियों के चंचल नेत्ररूप भ्रमर किसी प्रकार जा पड़ें तो उस कान्ति के मधु से पंकिल–कमल से फिर निकलने की सामर्थ्य उनमें नहीं है।।५४।।

तेजसा युक्तः (४)–

४२–तेजो धाम प्रभावश्चेत्युच्यते द्विविधं बुधैः।।५५।।
तत्र धाम–४३–दीप्तराशिर्भवेद्धाम।।५६।।

यथा वा, १४–अम्बरमणिनिकुरम्बं विडम्बयन्नपि मरीचिकुलैः।
हरिवक्षसि कौस्तुभमणिरुडुरिव स्फुरति।।५७।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*अम्बरेति। यद्यप्येतदेव तत्त्वं, तथापि लौकिकलीला–रक्षणार्थं स्वस्य तस्य च तेजोगोपनमपि करोति श्रीभगवानिति, सूर्यादितेजसामपि तत्र भावनं ज्ञेयम्'' नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः इति श्रीगीतोक्तेः (७.२५) एवमन्यत्रापि ज्ञेयम्, मणिराडयमुडुरिवेत्यत्र कौस्तुभमणिरुडुरिवेति वा पाठः।।५७।।*

● *अनुवाद*—विद्वान् लोग तेज के दो प्रकार कहते हैं—१. 'धाम' तथा २. 'प्रभाव'।।५५।।

दीप्ति–राशि को 'धाम' कहते हैं। श्रीकृष्ण के तेजयुक्तत्व को उद्धृत करते हैं, अपनी रश्मियों के समूह से सूर्य–समूह का भी तिरस्कार करने वाला कौस्तुभ मणि श्रीकृष्ण के वक्षस्थल पर एक तारे के समान लगता है—अर्थात् श्रीकृष्ण का वक्षःस्थल अत्यधिक तेज युक्त है।।५६–५७।।

प्रभावः—४४—प्रभावः सर्वजित् स्थितिः।।५८।।

यथा, १५—दूरतस्तमवलोक्य माधवं कोमलांगमपि रंगमण्डले।
पर्वतोद्भटभुजान्तरोऽप्यसौ कंसमल्लनिवहः स विव्यथे।।५६।।

● *अनुवाद*—सबको पराजित करने वाली स्थिति का नाम *'प्रभाव'* है।।५८।।

श्रीकृष्ण के प्रभाव का दृष्टान्त इस प्रकार है—कोमल अंगयुक्त होते हुए भी श्रीकृष्ण को रणभूमि में देखकर कंस के मल्लों का समूह पर्वत के समान विशाल वक्षस्थलयुक्त होने पर भी घबड़ा गया।।५६।।

बलीयान् (५)—

४५—प्राणेन महता पूर्णो बलीयानिति कथ्यते।।६०।।

यथा, १६—विन्ध्यगिरितोऽपि गरिष्ठं दैत्यपुंगवमुदग्रमरिष्टम् पश्य।
तूलखण्डमिव पिण्डितमारात् पुण्डरीकनयनो विनुनोद।।६१।।

यथा वा, १७—वामस्तामरसाक्षस्य भुजदण्डः स पातु वः।
क्रीडाकन्दुकतां येन नीतो गोवर्द्धनो गिरिः।।६२।।

● *अनुवाद*—महान् प्राण अर्थात् पौरुष से परिपूर्ण व्यक्ति 'बलवान्' कहलाता है।।६०।।

श्रीकृष्ण का बलीयान् (बलवानत्व) इस प्रकार वर्णन किया गया है—देखो, विन्ध्याचल से भी अधिक बड़े भारी भयंकर निकट आये हुए अरिष्टासुर को कमलनयन श्रीकृष्ण ने रुई के पिण्ड के समान अनायास उड़ा दिया।।६१।।

और भी कहा गया है—कमलपत्रनेत्र श्रीकृष्ण का वह भुजदण्ड तुम सबकी रक्षा करे, जिसने गोवर्धन–गिरि को खेल की गेंद–सा बना लिया।।६२।।

वयसाऽन्वितः (६)—

४६—वयसो विविधत्वेऽपि सर्वभक्तिरसाश्रयः।
धर्मी किशोर एवात्र नित्यनाना–विलासवान्।।६३।।

यथा—१८—तदत्वाभिव्यक्तीकृततरुणिमारम्भरभस
स्मितश्रीनिर्धूतस्फुरदमलराकापतिमदम्।

दरोदञ्चत्पञ्चाशुग–नवकलामेदुरमिदं–
मुरारेर्माधुर्यं मनसि मदिराक्षीर्मदयति।।६४।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*वयोऽत्र कौमारपौगण्डकैशोराख्यत्रयात्मकं क्रमप्राप्तं ज्ञेयम्, तेनान्वितः सदृशतया लब्ध इति वयस्तद्वतोर्द्वयोरपि प्राशस्त्यमुक्तं, "पश्चात्सा–दृश्ययोरनुरित्यमरः", धर्माः सर्वे गुणाः सन्त्यस्मिन्निति धर्मी पूर्णाविर्भाव इत्यर्थः। यतः सर्वभक्तिरसाश्रयः। अतएव भक्तिसामान्यरसे वर्ण्यत इति शेषः।।६३।। तथापि शृंगाराख्यस्य महारसस्य तु परमोद्‌बोधकं तदित्याशयेनाह–तदात्वेति "तत्कालं तु तदात्वं स्मादित्यमरः। "ईषदर्थे दराव्ययमिति" च।।६४।।*

● *अनुवाद*–आयु के (बाल्य, पौगण्ड तथा किशोरादि) अनेक भेद होने पर भी किशोर–स्वरूप ही नित्य अनेकविध विलासों से युक्त एवं सब भक्तिरसों का आश्रय है।।६३।।

सर्वभक्तिरसाश्रय होते हुए भी श्रृंगार नामक महारस का श्रीकृष्णकिशोर स्वरूप परमाश्रय है, जैसा कि कहा गया है, किशोरावस्था में अभिव्यक्त यौवन के आरम्भ में ही मुसकराहट से, सौन्दर्य से, निर्मल चन्द्रमा के मद को नष्ट कर देने वाला, अर्द्धप्रफुल्लित कामदेव की कला के समान सुन्दर श्रीकृष्ण का माधुर्य खञ्जन–नैनियों के मन को उन्मत्त बना रहा है।।६४।।

विविधाद्‌भुतभाषावित् (७)–

४७–विविधाद्‌भुतभाषावित् स प्रोक्तो यस्तु कोविदः।
नानादेश्यासु भाषासु संस्कृते प्राकृतेषु च।।६५।।

यथा–१६–व्रजयुवतिषु शौरिः शौरिसेनी सुरेन्द्रे।
प्रणतशिरसि सौरीं भारतीमातनोति।
अहह पशुषु कीरेष्वप्यपभ्रंशरूपां–
कथमजनि विदग्धः सर्वभाषावलीषु।।६६।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*चकारः पश्वादिभाषामपि गृह्णाति।।६५।। व्रजयुवतिष्विति। व्रजस्थविदग्धवृद्धावचनम्। अत्र शौरिरिति (भा० १० ।८ ।१४) "प्रागयं वसुदेवस्येत्यादि श्रीगर्गवाक्यानुसारेण, तत्र च व्रजयुवतयो मुख्यत्वेनोपलक्षणान्येव, व्रजवासिष्विति तु विज्ञेयं। शौरसेनीं तद्देश्यां प्राकृतविशेषञ्च, प्रायस्तयोरैक्यात्। सौरीं दैवीं संस्कृतरूपां। पशुषु गोमहिष्यादिषु। कीरेषु कश्मीरदेशीयमनुष्येषु शुकेषु च, अपभ्रंशरूपां पैशाचिकाख्यप्राकृतविशेषं तत्तद्भाषां च यथासम्भवम्।।६६।।*

● *अनुवाद*–जो व्यक्ति अनेक देशों की भाषाओं में, संस्कृत तथा प्राकृत आदि (पशुओं की) भाषा में निपुण होता है, उसे *'विविधाद्‌भुत–भाषावित्'* कहा जाता है।।६५।।

श्रीकृष्ण की भाषा–विज्ञता का इस प्रकार उल्लेख करते हैं, व्रज की एक विदग्ध–वृद्धा ने कहा, श्रीकृष्ण व्रजयुवतियों (व्रजवासियों) के साथ शौरसेनी (शूरोनवंशज श्रीवसुदेवजी जिस भाषा को बोलते हैं) भाषा बोलता है, देवराज इन्द्र जब उसे नमस्कार करता है तो वह सौरी–भाषा अर्थात् देववाणी या संस्कृत भाषा बोलता है, पशुओं तथा तोता आदि पक्षियों के साथ

वह प्राकृत (अपभ्रंश भाषा—श्रीविदग्धमाधव नाटक ग्रन्थ में द्रष्टव्य) बोलता है, बड़े आश्चर्य की बात है, वह सारी भाषाओं में कैसे निपुण हो गया है ? ।।६६।।

सत्यवाक्यः (८)—

४८—स्यान्नानृतं वचो यस्य सत्यवाक्यः स भण्यते।।६७।।

यथा—२०—पृथे ! तनयपञ्चकं प्रकटमर्पयिष्यामि ते
रणोर्वरितमित्यभूत्तव यथार्थमेवोदितम्।
रविर्भवति शीतलः कुमुदबन्धुरप्युष्णल—
स्तथाऽपि न मुरान्तक! व्यभिचरिष्णुरुक्तिस्तव।।६८।।

यथा वा—

२१—गूढोऽपि वेषेण महीसुरस्य हरिर्यथार्थं मगधेन्द्रमूचे।
संसृष्टमाभ्यां सह पाण्डवाभ्यां मां विद्धि कृष्णं भवतः सपत्नम्।।६६।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*वक्ष्यमाणसत्यप्रतिज्ञत्वेन पौनरुक्त्यमाशंक्याह यथावेति। संसृष्टं मिलितम्।।६६।।*

● *अनुवाद*—जिसका वचन कभी झूँठ न हो, वह 'सत्यवाक्' कहलाता है।।६७।।

श्रीकुन्तीदेवी ने श्रीकृष्ण की सत्यवाक्यता रण के बाद इस प्रकार कही है—"हे कुन्ती ! मैं तुम्हारे पाँचों पुत्रों को रण में से सुरक्षित लाकर सबके सामने तुमको सौंप दूँगा"—यह जो वचन हे कृष्ण ! तुमने कहे थे, वे सत्य ही सिद्ध हुए। सूर्य भले ही शीतल हो जाये और चन्द्र भले ही गरम हो जाये किन्तु, हे मुरारे ! आपका वचन कभी भी असत्य नहीं हो सकता।।६८।।

(सत्यप्रतिज्ञ—गुण के साथ इस उदाहरण का मेल होने से पुनरुक्ति की सम्भावना देखकर श्रीगोस्वामिपाद एक और उदाहरण उद्धृत करते हैं—"श्रीकृष्ण ब्राह्मणवेश में छिपे हुए थे फिर भी मगधराज जरासन्ध को उन्होंने कहा कि भीम और अर्जुन इन दोनों पाण्डु पुत्रों के साथ आया मुझको अपना शत्रु कृष्ण ही समझ लो।।६६।।

प्रियंवदः (६)—

४६—जने कृतापराधेऽपि सान्त्ववादी प्रियंवदः।।७०।।

यथा, २२—कृतव्लीकेऽपि न कुण्डलीन्द्र ! त्वया विधेया मयि दोषदृष्टिः।
प्रवास्यमानोऽसि सुरार्च्चितानां परं हितायाद्य गवां कुलस्य।।७१।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*'पीड़ार्थेऽपि व्यलीकं सयादित्यमरः'।।७१।।*

● *अनुवाद*—अपराधी व्यक्ति के प्रति भी शान्तिपूर्वक बात करने वाला *'प्रियंवद'* कहलाता है।।७०।।

श्रीकृष्ण की प्रियंवदता का उदाहरण इस प्रकार है—श्रीकृष्ण ने कालिय नाग से कहा, हे नागराज ! मैंने तुम्हें पीड़ा दी है, परन्तु तुम मेरे प्रति दोष—दृष्टि न करना, क्योंकि आज तुम देवताओं द्वारा पूजित गौओं के कुल के कल्याण के लिए यहाँ से निकाले जा रहे हो।।७१।।

वावदूकः (१०)

५०–श्रुतिप्रेष्ठोक्तिरखिलवाग्गुणान्वितवागपि।
इति द्विधा निगदितो वावदूको मनीषिभिः।।७२।।

तत्रा आद्यो, यथा–

२३–अश्लिष्टकोमलपदावलिमञ्जुलेन प्रत्यक्षरक्षरदमन्दसुधारसेन।
सख्यः ! समस्तजनकर्णरसायनेन नाहारि कस्य हृदयं हरिभाषितेन।।७३।।

द्वितीयो, यथा–

२४–प्रतिवादिचित्तपरिवृत्तिपटुर्जगदेकसंशयविमर्दकरी।
प्रमिताक्षराऽद्य विविधार्थमयी हरिर्वागियं मम धिनोति धियः।।७४।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*श्रुतीति। शब्दमाधुरी दर्शिता, अखिलेत्यर्थ–परिपाटी।।७२।। अश्लिष्टेत्यादिकं व्रजेन्द्रगोष्ठीषु महेन्द्रमखभंगार्थं श्रीहरिवचनहृत–मनस्कायाः कस्याश्चिद्वन्दिजनांगनायाःस्वसखीः प्रति वचनम्। अत्राश्लिष्टे त्युच्चारणमाधुरी, प्रत्यक्षरेति वर्णविशेषविन्यासमाधुरी, समस्तेति स्वरमाधुरी।।७३।। प्रतिवादीत्यादीकं श्रीमदुद्धववाक्यम्। अत्र प्रतिवादीत्युपन्यासपरिपाटी। जगदिति युक्तिपरिपाटी। प्रकर्षेण मितानि अव्यर्थानि सप्रमाणानि वाक्षराणि यस्यामिति याथार्थ्यपरिपाटी। विविधः नानोहापोहसमाधानविचित्रोऽर्थो यस्यां सेति प्रतिभापरिपाटी च दर्शिता।।७४।।*

● *अनुवाद*–कानों को सुन्दर लगने वाले वचन तथा वाणी के समस्त गुणोंयुक्त वचन बोलने वाला, यह दो प्रकार का *'वावदूक'* विद्वानों ने कहा है।।७२।।

कानों को सुन्दर लगने वाले वचन बोलने में श्रीकृष्ण का उदाहरण (जिसमें शब्द माधुरी का दर्शन है) इस प्रकार कहा गया है, सरल एवं कोमल पदावलियों से मनोहर तथा जिसके प्रत्येक अक्षर से प्रचुरमात्रा में सुधारस टपक रहा है और सब लोगों के कानों के लिए रसायन के समान श्रीकृष्ण का जो भाषण है, हे सखियो ! उसने किसका मन नहीं हरण किया ?।।७३।।

वाणी के समस्त गुणोंयुक्त अर्थात्–परिपाटी की मधुरता–युक्त श्रीकृष्ण–वचनों का उदाहरण इस प्रकार है, प्रतिवादियों के चित्त को अपनी युक्तियों के द्वारा परिवर्तित कर देने वाली, समस्त संसार के लोगों के संशयों को नष्ट कर देने वाली तथा थोड़े अक्षरों में होने पर अनेक अर्थों या अभिप्रायों युक्त श्रीकृष्ण की यह वाणी मेरे चित्त को आनन्दित कर रही है।।७४।।

सुपाण्डित्यः (११)–

५१–विद्वान् नीतिज्ञ इत्येष सुपाण्डित्यो द्विधा मतः।
विद्वानखिलविद्याविन्नीतिज्ञस्तु यथाऽर्हकृत्।।७५।।

तत्र आद्यो, यथा–

२५–यं सुष्ठु पूर्व परिचर्य गौरवात् पितामहाद्यम्बुधरैः प्रवर्तिताः।
कृष्णार्णवं काश्यगुरुक्षमाभृतस्तमेव विद्यासरितः प्रपेदिरे।।७६।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*अखिलविद्याविदित शास्त्रीयज्ञानमात्रमुक्तं। यथाऽर्हकृदिति। तत्रापि कर्तव्येषु निश्चयज्ञानं दर्शितम्।।७५।। यं सुष्ठ्विति श्रीनारदवाक्यं—काश्यः माथुरवंशवत् काशीदेशीयोद्भवः सान्दीपनिः।।७६।।*

● **अनुवाद**—सुपाण्डित्य समस्त विद्याओं को जानने वाला *'विद्वान्'* तथा यथोचित कार्य करने वाला *'नीतिज्ञ'* कहलाता है।।७५।।

श्रीकृष्ण के सुपाण्डित्य गुण के अन्तर्भुक्त विद्वत्ता का उदाहरण इस प्रकार है, अतिशय गौरव से श्रीकृष्ण का अच्छी प्रकार सेवन करके पितामह (ब्रह्मा) आदि रूप मेघों द्वारा प्रवाहित की गई विद्यारूप नदियाँ सान्दीपनि रूप पर्वत से निकलकर श्रीकृष्णरूप समुद्र में पहुँची हैं।।७६।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—समुद्र ही जलराशि का भण्डार है। उसमें से मेघ जल को उड़ाकर ले जाते हैं और गौरव को भी प्राप्त करते हैं। मेघ फिर पर्वतों पर वर्षा कर नदियों को प्रवाहित करते हैं और नदियाँ फिर उस जलराशि के मूल भाण्डार सागर में आकर पहुँचती है।—इसी प्रकार श्रीकृष्ण ही समस्त विद्याओं के सागर हैं। मेघरूपी श्रीब्रह्मादिक उनसे विद्या ग्रहण कर गौरवान्वित होते हैं। फिर वे वेद—पुराणादि विद्यारूपी जल को काशीवासी सान्दीपनि आदि पर्वतों पर बरसाते हैं—अर्थात् श्रीब्रह्मादिक द्वारा रचित वेदादि विद्या सान्दीपनि आदि प्राप्त करते हैं। फिर सान्दीपनि रूप पर्वत से वह विद्यारूपी नदियाँ समुद्ररूपी श्रीकृष्ण में आकर प्राप्त हुईं। तात्पर्य यह है श्रीकृष्ण ही एकमात्र समस्त विद्याओं के भण्डार हैं।।७६।।

यथा वा—

२६—आम्नायप्रथितान्वया स्मृतिमती बाढं षडंगोज्जवला
न्यायेनानुगता पुराणसुहृदा मीमांसया मण्डिता।
त्वां लब्धावसरा चिराद् गुरुकुले प्रेक्ष्य स्वसंगार्थिनं—
विद्या नाम वधूश्चतुर्दशगुणा गोवन्द ! शुश्रूषते।।७७।।

द्वितीयो, यथा—

२७—मृत्युस्तस्करमण्डले सुकृतिनां वृन्दे वसन्तानिलः।
कन्दर्पो रमणीषु दुर्गतकुले कल्याणकल्पद्रुमः।
इन्दुर्बन्धुगणे विपक्षपटले कालाग्निरुद्राकृतिः।
शास्ति स्वस्तिधुरन्धरो मधुपुरीं नीत्या मधुनां पतिः।।७८।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*आम्नायेति सिद्धचारणानां स्तुतिः। विद्यापक्ष आम्नायैश्चतुर्भिर्वेदैः प्रथितो विस्तारितोऽन्वयो व्युत्पत्तिर्यस्याः, स्मृतिर्मन्वादिः—*

शिक्षा कल्पो व्याकरणं ज्योतिषं छन्द एव च।
निरुक्तं च निरुक्तानि षड़ंगानि मनीषिभिः।।

न्यायस्तर्कशास्त्रं। पुराणं श्रीभागवतादि। तत्सहाया मीमांसा पूर्वोत्तररूपा। तदेतदनुसारेण चतुर्दशगुणाः—

अंगानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः।
धर्मशास्त्रं पुराणं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश।।

इति प्रमाणप्राप्ताः। वधूपक्षे–आम्नायः सत्कुलता। अन्वयो वंशः। स्मृतिर्मेधा। षडंगानि शिरोमध्यभागौ हस्तौ पादौ चेति, न्यायो नीतिः। पुराणा वृद्धाः तद्रूपतया सुहृदः सहाया यस्यां तया मीमांसया विचारेण मण्डितां गुरुरत्र पित्रादिः, तत्कुले वर्तमानमित्यर्थः, चतुर्दश तावद्विद्यात्मका गुणा यस्याः इति।।७७।। "मधपुरीं नीत्या मधूनां पतिरि" ति पाठ एवात्र योग्यः। महाराजौचित्यवर्णनात्। तत्र मधुपुरीमिति पुरद्वयस्योपलक्षणत्वेन द्वारकापि मधूनां पुरी भवतीति, योगवृत्त्या वा द्वारकापि ज्ञेया।।७८।।

● *अनुवाद*–एक और उदाहरण देखिये; वेदों से विस्तार पाने वाली स्मृति से युक्त :, छः अंगों से उज्ज्वल, न्याय से अनुगत, पुराण रूप सुहृदों और मीमांसा से मण्डित, इस प्रकार चौदह गुणों युक्त विद्यानामक वधू बहुत समय से आपको गुरुकुल में देखकर एवं अवसर पाकर, हे गोविन्द ! अब आपका संग प्राप्त कर आपकी सेवा कर रही है।।७७।।

नीतिज्ञता रूप सुपाण्डित्य का उदाहरण इस प्रकार वर्णन किया गया है; तस्करों (चोर–डाकुओं) के मण्डल में मृत्यु के समान, पुण्यात्मा–भक्तजनों के बीच वसन्त–वायु के समान–आनन्ददायक, रमणियों के बीच कामदेव के समान, दीन–हीनजनों के बीच कल्याण कल्पतरु के समान, बन्धु–बान्धवों में चन्द्रमा के समान हर्षदायक तथा शत्रुओं में भयंकर रूपधारी कालाग्नि के समान मथुरानाथ श्रीकृष्ण नीतिपूर्वक मथुरा का शासन कर रहे हैं।।७८।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–पूर्व श्लोक में विद्या को वधू रूप में प्रस्तुत किया गया है। वधू जैसे विद्याभ्यास के बाद गुरुकुल से आने वाले पति की सेवा की प्रतीक्षा करती है, उसी प्रकार मानों विद्या भी श्रीकृष्ण की सेवा के लिए उत्कण्ठित हो रही है। विद्यापक्ष में चौदह गुण माने गये हैं, यथा–चार वेद, (ऋग्–यजुः–साम एवं अथर्व) छः वेदांग (शिक्षा,कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष) मीमांसा, न्याय, धर्म–शास्त्र तथा पुराण–ये १४ विद्या के भेद हैं, जो विद्या के १४गुणों के रूप में ग्रहण किये गये हैं। वधू पक्ष में चौदह गुण इस प्रकार ग्रहण किये हैं–(१) वेद की तरह पवित्र पितृ–श्वसुर–वंशवाली, (३) मेधावी, (६) सुन्दर दो हाथ, दो पैर, शिर, कटि, (१०) नीति पूर्णा (११) वृद्धजन, आज्ञाकारी (१२) सुहृद (१३) विचार शीला (१४) जिसके माता–पिता कुल वर्तमान हों।

श्रीकृष्ण की नीतिज्ञता को दिखाने के लिए द्वितीय श्लोक में उनका भिन्न–भिन्न व्यक्तियों के साथ भिन्न–भिन्न प्रकार का व्यवहार वर्णन किया गया है।।७७–७८।।

बुद्धिमान् (१२)–

५२–मेधावी सूक्ष्मधीश्चेति प्रोच्यते बुद्धिमान् द्विधा।।७६।।

तत्र मेधावी, यथा–

२८–अवन्तिपुरवासिनः सदनमेत्य सान्दीपने–
र्गुरोर्जगति दर्शयन् समयमत्र विद्यार्थिनाम्।
सकृन्निगदमात्रतः सकलमेव विद्याकुलं–
दधौ हृदयमन्दिरे किमपि चित्रवन् माधवः।।८०।।

सूक्ष्मधीः यथा–

२९–यदुभिरयमवध्यो म्लेच्छराजस्तदेनं
तरलतमसि तस्मिन्विद्रवन्नेव नेष्ये।
सुखमयनिजनिद्रा–भञ्जन–ध्वंसिदृष्टि–
झरमुचि मुचुकुन्दः कन्दरे यत्र शेते।।८१।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*समयमाचारं दर्शयन् शिक्षयन् ''समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविद'' इत्यमर–नानार्थवर्गात्।।८०।। कथम्भूते कन्दरे तरलं भासुरं वस्त्वन्तराच्छादकप्रकाशं तमो यत्र तादृशे। मत्प्रवेशमात्रेण चञ्चलीभूततमसीति वाऽर्थः। तरलश्चञ्चले खड्गे हारमध्यमणावपि भासुरे चेति विश्वः। झरमुचीति निद्रासौख्यसामग्रीणामुपलक्षणम्। ताश्च तदीययोगप्रभावाद्यथावसरमेव जायन्त इति ज्ञेयम्, किन्त्वत्र नेत्रस्य सूक्ष्मदर्शित्ववद्बुद्धेरपि सूक्ष्मविचारित्वं ज्ञापितं; तेन च सहसा न्याय–परामृश्ये वस्तूनि प्रवेशिबुद्धित्वं सूक्ष्मधीत्वमुदाहृतम्।।८१।।*

● *अनुवाद*–बुद्धिमान् के दो भेद कहे जाते हैं–१. *मेधावी* एवं २. *सूक्ष्मबुद्धि*।।७९।।

'मेधावी'–श्रीकृष्ण का उदाहरण इस प्रकार है–अवन्तिपुरी में रहने वाले गुरु सान्दीपनि मुनि के आश्रम में आकर समस्त लोगों के सामने विद्यार्थियों की मर्यादा को स्थापन करते हुए श्रीकृष्ण ने गुरु के एकबार कहने मात्र से समस्त विद्याओं को चित्र के समान हृदय में अंकित कर लिया।।८०।।

श्रीकृष्ण के *'सूक्ष्म–बुद्धि'* होने का उदाहरण इस प्रकार है, कालयवन द्वारा मथुरा के घेरे जाने पर श्रीकृष्ण ने इस प्रकार विचार किया, यदुवंशी लोग इस म्लेच्छराज को मारने में असमर्थ हैं, इसलिए इसके आगे–आगे भागता हुआ मैं इसे उस कन्दरा में ले जाऊँगा, जो सकल सुख के झरने को प्रवाहित करने वाली है। उसमें अपनी सुखमय निद्रा के भंग होने पर देवताओं के वरदानानुसार श्रीमुचुकुन्द अपनी दृष्टि से इस म्लेच्छ को भस्मकर देगा।।८१।।

प्रतिभान्वितः (१३)–

५३–सद्यो नवनवोल्लेखिज्ञानः स्यात् प्रतिभान्वितः।।८२।।

यथा पद्यावल्याम्–

३०–वासः संप्रति केशव ! क्व भवतो मुग्धेक्षणे ! नन्विदं।
वासं ब्रूहि शठ ! प्रकामसुभगे ! त्वद्गात्रसंसर्गतः।।
यामिन्यामुषितः क्व धूर्त ! वितनुर्मुष्णाति किं यामिनी–
त्येवं गोपवधूं छलैः परिहसन् कृष्णश्चिरं पातु वः।।८३।।

● *अनुवाद*–तत्काल नवीन–नवीन बातों को कहने वाला *'प्रतिभान्वित'* कहलाता है।।८२।।

श्रीकृष्ण के प्रतिभान्वित होने का एक उदाहरण (श्रीरूपगोस्वामी द्वारा संगृहीत) पद्यावली से उद्धृत करते हैं–एक व्रजगोपी ने श्रीकृष्ण से पूछा, आज कल (रात को) आपका वास कहाँ रहता है ? श्रीकृष्ण ने कहा, अरी

मुग्धनेत्रा ! यह रहा मेरा वास (पीताम्बर)। व्रजगोपी बोली, ''अरे शठ ! अपने वासस्थान को बताओ ? श्रीकृष्ण बोले, अरी अति सुन्दरि ! तुम्हारे अंगों के संसर्ग से मुझे यह वास (सुगन्ध) प्राप्त हुआ है।'' गोपी बोली, अरे धूर्त ! आप रात को कहाँ रहे ? श्रीकृष्ण बोले, हे सुन्दरि ! क्या रात्रि भी चोरी करती है ? इस प्रकार गोपवधू से छल–परिहास करते हुए श्रीकृष्ण आपकी रक्षा करें।।८३।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–यहाँ व्रजवधू ने पहले ''वासः'' शब्द का प्रयोग किया जो अकारान्त पुल्लिंग शब्द है और प्रथमा विभक्ति का एक वचन है–इसका अर्थ था–निवास–स्थान। अतः उसने निवास–स्थान का पूछा, हे कृष्ण ! तुम रात को कहाँ रहे ? किन्तु श्रीकृष्ण ने 'वासः'–शब्द को नपुंसक–लिंग हलन्त 'वासस्'–शब्द के प्रथमा के एक वचन मानकर उत्तर दिया। इस रूप में वासः का अर्थ होता है वस्त्र। अतः श्रीकृष्ण ने कहा, ''यह रहा मेरा पीतवस्त्र; भोली आँखों वाली ! क्या तुम्हें दीखता नहीं है ?'' गोपी श्रीकृष्ण की धूर्तता को जान गई और फिर उसने 'वासं'–शब्द का प्रयोग किया। वासं शब्द अकारान्त पुलिंग वास–शब्द के द्वितीया विभक्ति का वचन है, जो पहले वासः की तरह भ्रममूलक नहीं। इसका अर्थ होता है निवास। किन्तु श्रीकृष्ण ने 'वासं'–शब्द का अर्थ 'सुगन्ध' ले लिया और बोले, 'सुन्दरि ! तुम्हारे संसर्ग से मुझमें ऐसी सुगन्ध आ रही है; और कहीं से नहीं।'' व्रजगोपी खीझ उठी और दूसरे शब्दों में पूछने लगी, धूर्त ! तुमने ''यामिन्यां उषितः क्वः'' रात कहाँ बिताई ? इसका रूप–''यामिन्या मुषितः क्व'' ग्रहण कर श्रीकृष्ण बोले, ''क्या रात्रि भी चोरी करती है ?''–मुष् धातु का अर्थ है चोरी करना। इस प्रकार एक शब्द के अनेक अर्थ तत्काल करते हुए हाजिर–जबाब होना श्रीकृष्ण के प्रतिभान्वित गुण को प्रकाशित करता है।।८२–८३।।

विदग्धः (१४)–

५४–कलाविलासदिग्धात्मा विदग्ध इति कीर्त्यते।।८४।।

यथा–३१–गीतं गुम्फति ताण्डवं घटयति ब्रूते प्रहेलाक्रमं।
वेणुं वादयते स्रजं विरचयत्यालेख्यमभ्यस्यति।
निर्माति स्वयमिन्द्रजालपटलीं द्यूते जयत्युन्मदान्।
पश्योद्दामकलाविलासवसतिश्चित्रं हरिः क्रीडति।।८५।।

● *अनुवाद*–गीत–वाद्यादि विविध कलाओं के विलासयुक्त व्यक्ति को *'विदग्ध'* कहते हैं।।८४।।

श्रीकृष्ण की विदग्धता का उदाहरण इस प्रकार है–श्रीकृष्ण कभी गीत रचना अथवा गान करते हैं, कभी नाचते, कभी पहेलियाँ बुझाते हैं, कभी बीणा बजाते, कभी मालायें गूँथते तथा कभी चित्रकला का अभ्यास करते हैं। कभी अनेक प्रकार के इन्द्रजाल के (जादूगर–मदारियों जैसे) कार्य प्रदर्शन करते हैं और कभी पासा के विकट खिलाड़ियों को द्यूत में जीतते हैं। देखो तो कितना आश्चर्य है, अनेक कला विलासों के आश्रय ये श्रीकृष्ण क्रीड़ा कर रहे हैं, अपना मनोरंजन कर रहे हैं।।८५।।

चतुरः (१५)–

५५–चतुरो युगपद् भूरिसमाधानकृदुच्यते।।८६।।

यथा, ३२–पारावतीविरचनेन गवां कलापं
गोपांगनागणमपांगतरंगितेन।
मित्राणि चित्रतरसंगरविक्रमेण–
धिन्वन्नरिष्टभयदेन हरिर्बिरजे।।८७।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*पारावती गोपगीतिः। अरिष्टभयदेनेति सर्वत्र योज्यम्।।८७।।*

● *अनुवाद*–एक ही समय अनेकों कार्यों के समाधान करने वाले व्यक्ति को 'चतुर' कहते हैं।।८६।।

श्रीकृष्ण के चतुरतागुण का उदाहरण इस प्रकार है–वृषासुर को भयभीत करने वाली गोप–गोपियों की रचना के द्वारा गौओं को, नेत्र कटाक्षों द्वारा गोपियों को तथा नाना प्रकार के युद्ध–पराक्रम के द्वारा मित्रों को आह्लादित करते हुए श्रीकृष्ण वृषासुर–वध के समय ही अत्यन्त शोभित हो रहे थे। (एक समय में वे इतने कार्यों का समाधान कर रहे थे)।।८७।।

दक्षः (१६)–

५६–दुष्करे क्षिप्रकारी यस्तं दक्षं परिचक्षते।।८८।।

यथा श्रीदशमे (१०।५६।१७)–

३३–यानि योधैः प्रयुक्तानि शस्त्रास्त्राणिकुरूद्वह !।
हरिस्तान्यच्छिनत्तीक्ष्णैः शरैरेकैकशस्त्रिभिः।।८६।।

यथा वा ३४–अघहर ! कुरु युग्मीभूय नृत्यं मयैव
त्वमिति निखिलगोपीप्रार्थनापूर्तिकामः।
अतनुत गतिलीलालाघवोर्मि तथाऽसौ
ददृशुरधिकमेतास्तं यथा स्व–स्वपार्श्वे।।६०।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*अधिकमत्यर्थं निःसंशयं यथा स्यात्तथा ददृशुः।।६०।।*

● *अनुवाद*–कठिन कार्य को भी तुरन्त या अनायास करने वाला व्यक्ति *'दक्ष'* कहलाता है।।८८।।

श्रीकृष्ण की दक्षता का उदाहरण श्रीमद्भागवत (१०।५६।१७) में इस प्रकार वर्णित है–हे कुरुराज परीक्षित् ! अनेक योद्धाओं ने अनेक प्रकार के शस्त्र और अस्त्रों का जो प्रयोग किया, उन सबको श्रीकृष्ण ने एक–एक शस्त्र के द्वारा अनायास ही काट डाला।।८६।।

और भी कहा गया है–हे पापनाशक कृष्ण ! आप केवल मेरे साथ ही मिलकर नाचो, इस प्रकार की समस्त गोपियों की प्रार्थना को पूर्ण करने की इच्छा से उन्होंने ऐसी तीव्रता से गति–लीला की परम्परा का विस्तार किया कि जिससे उन सब गोपियों ने उन्हें निःसन्देह अपने पास बगल में ही देखा।।६०।।

कृतज्ञः (१७)–

५७–कृतज्ञः स्यादभिज्ञो यः कृवसेवादिकर्मणाम्।।६१।।

यथा महाभारते–३५–ऋणमेतत्प्रबृद्धं मे हृदयान्नापसर्पति।
यद् गोविन्देति चुक्रोश कृष्णा मां दूरवासिनम्।।६२।।

यथा वा–३६–अनुगतिमतिपूर्वां चिन्तयन्नृक्षमौले–
रकुरुत बहुमानं शौरिरादाय कन्याम्।
कथमपि कृतमल्पं विस्मरेन्नैव साधुः।
किमुत स खलु साधुश्रेणिचूड़ाग्ररत्नम्।।६३।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*अनुगतिमित्यत्रातिपूर्वमिति साम्प्रतं महापराधमप्य–चिन्तयन्निति ध्वन्यर्थः।।६३।।*

● *अनुवाद*–जो अपने प्रति किये गये सेवादि कार्यों को जानने–मानने वाला होता है, उसे 'कृतज्ञ' कहते हैं।।६१।।

श्रीकृष्ण की कृतज्ञता का महाभारत में यह उदाहरण हैं–चीरहरण के समय जिस दौपदी ने अति दूर रहने पर भी "हे गोविन्द ! मेरी लाज रखो"–ऐसा कहकर मुझे पुकारा था, उसका वह ऋण मेरे हृदय से दूर नहीं हो सकता।।६२।।

और भी कहा गया है–वानर श्रेष्ठ जाम्बवान् की रामावतार–काल की पुरानी सेवा को विचार कर श्रीकृष्ण ने उसकी कन्या जाम्बन्ती को स्वीकार कर उसका अत्यन्त आदर किया (चाहे उसने मणि चुराकर श्रीकृष्ण के प्रति महापराध भी किया था)। साधुपुरुष अपने प्रति किये हुए थोड़े से उपकार को भी किसी प्रकार भी नहीं भूलते, फिर श्रीकृष्ण तो साधु–श्रेणी में भी चूड़ामणि हैं, इनके विषय में तो कहना ही क्या ?।।६३।।

सुदृढ़व्रतः (१८)–

५८–प्रतिज्ञानियमौ यस्य सत्यौ स सुदृढ़व्रतः।।६४।।

यत्र सत्यप्रतिज्ञो यथा हरिवंशे–

३७–न देव गन्धर्वगणा न राक्षसा न चासुरा नैव च यक्षपन्नगाः।
मम प्रतिज्ञामपहन्तुमुद्यता मुने! समर्थाः खलु सत्यमस्तु ते।।६५।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*मुने! हे नारद! सत्यं शपथतथ्ययोरित्यमरः।।६५।।*

● *अनुवाद*–जिसके प्रतिज्ञा तथा नियम दोनों सदा सत्य हों, उसे *'सुदृढ़व्रत'* कहते हैं।।६४।।

श्रीहरिवंश में श्रीकृष्ण की सत्य प्रतिज्ञा का इस प्रकार वर्णन है–हे नारद ! देवता, गन्धर्वगण, राक्षस, असुर, यक्ष और पुन्नगगण उद्यत होने पर भी सब मेरी प्रतिज्ञा को भंग नहीं कर सकते। इसको तुम शपथ–सत्य समझो।।६५।।

यथा वा–३८–सखेलामाखव्डलपाण्डुपत्रो विधाय कंसारिरपारिजातौ।
निजप्रतिज्ञां सफलां दधानः सत्यांच कृष्णांच सुखामकार्षीत्।।६६।।

सत्यनियमो, यथा–

३६–गिरेरुद्धरणं कृष्ण ! दुष्करं कर्म कुर्वता।
मद्भक्तः स्यान्नदुःखीति स्वव्रतं विवृतं त्वया।।६७।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*इन्द्रपक्षेऽपारिजातत्वं, पारिजातराहित्यं। पाण्डवपक्षे अपगतशुत्र–समूहत्वं, सुखामिति। अथ "त्रिषु द्रव्ये पापं पुण्यं सुखादि च" इत्यमरकोशात्। सुखमहस्वाप्समित्यादौ क्रियायास्तुल्याधिकरणत्वाद्धर्मिपरत्वेनापि सुखशब्दस्य दृष्टत्वात्। तच्चार्श आदित्वान्मन्तव्यम्।।६६।। सत्यनियम इति। सर्वदातनत्वात्। कादाचित्क्याः प्रतिज्ञाया भिद्यतेऽसौ, गिरेरुद्धरणमिति महेन्द्रवाक्यम्।।६७।।*

● *अनुवाद*–श्रीकृष्ण ने अनायास ही इन्द्र तथा पाण्डव दोनों को अपारिजात कर दिया; अर्थात् इन्द्र के नन्दनवन से पारिजात वृक्ष लाकर उसे पारिजात रहित कर दिया तथा पाण्डवों को–अपगतं अरिजातं शत्रुसमूहो"–जिनका शत्रुसमूह न रहा–इस प्रकार उन्हें अपारिजात कर दिया। इस प्रकार आपने सत्यभामा तथा द्रौपदी का सुख सम्पादन कर अपनी प्रतिज्ञा को सत्य किया।।६६।। श्रीकृष्ण के सत्यनियम विषय में यह उदाहरण है–हे कृष्ण ! आपने गोवर्धनगिरि को उठाने का अति दुष्कर कार्य करके यह सिद्ध कर दिया कि आपका भक्त कभी दुःखी नहीं रहता।।६७।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–श्रीकृष्ण ने जब भौमासुर का वध किया, तो उस समय सत्यभामाजी भी आपके साथ थीं। अमरावती में इन्द्र ने उन दोनों का स्वागत किया। जब वहाँ से चलने लगे तो सत्यभामाजी की प्रेरणा से पारिजात वृक्ष वहाँ से लेकर द्वारका चले आये और सत्यभामाजी के महल में लगाकर उनका आनन्दवर्द्धन किया था। (श्रीभागवत १०।५६ अध्याय द्रष्टव्य) इसी प्रकार द्रौपदी को भी श्रीकृष्ण ने वचन दिया था कि मैं तुम्हारे समस्त शत्रुओं का नाश करूँगा। इस सन्दर्भ में उन्होंने पाण्डवों को समस्त शत्रुओं से रहित कर द्रौपदी का सुख–विधान किया था।।६६–६७।।

देशकालसुपात्रज्ञः (१६)–

५६–देशकालसुपात्रज्ञस्तत्तद्योग्यक्रिया–कृती।।६८।।

यथा–४०–शरज्ज्योत्स्नीतुल्यः कथमपि परो नास्ति समय–
स्त्रिलोक्यामाक्रीडः क्वचिदपि न वृन्दावनसमः।
न काऽप्यम्भोजाक्षी व्रजयुवतिकल्पेति विमृशन्
मनो मे सोत्कण्ठं मुहुरजनि रासोत्सवरसे।।६६।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*देशकालसुपात्रज्ञ इति देशकालग्रहणं पात्रार्थमेव कृतं। ततः पात्रस्यैवात्र प्राधान्यं विवक्षितं। यतस्तादृशपात्राभावे देशकालयोरप्य–किञ्चित्करत्वमभिप्रेतम्। अतएव सुशब्दोऽप्यत्रैव कृतः। अतः समुदायापेक्षितत्वादेक एव गुण उदाहृतः। अन्यत्र तु देशज्ञत्वादिकाः पृथग्गुणा अपि भवेयुरिति*

विवेचनीयम्।।९८।। तथैवोदाहृतं शरदिति। मथुरायामुद्धवं प्रति श्रीभगवतः स्वचरितकथनान्तःपातिवाक्यमिदम्।।९९।।

● *अनुवाद*–जो व्यक्ति देश–काल एवं पात्र का जानकार है और उनके अनुकूल क्रिया करता है, उसे *'देशकालपात्रज्ञ'* कहते हैं।।९८।।

इस विषय में श्रीकृष्ण के वचनों का उदाहरण उल्लेख करते हैं–श्रीकृष्ण ने श्रीउद्धव के प्रति कहा, हे उद्धव ! शारदीय ज्योत्स्नामयी रात्रियों के समय से और अच्छा समय नहीं हो सकता, त्रिभुवन में वृन्दावन के समान और कोई देश क्रीड़ास्पद नहीं है। व्रजयुवतियों के समान पद्मनयना रमणियाँ और कहीं नहीं हैं; अतः यह सोचकर मेरा मन वृन्दावन में रासोत्सव के लिए बार–बार उत्कण्ठित हो रहा है।।९९।।

शास्त्रचक्षुः (२०)–

६०–शास्त्रानुसारिकर्मा यः शास्त्रचक्षुः स कथ्यते।।१००।।

यथा–४१–अभूत् कंसरिपोर्नेत्रं शास्त्रमेवार्थदृष्टये।
नेत्राम्बुजंतु युवतिवृन्दोन्मादाय केवलम्।।१०१।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*अभूदिति कस्यचित् परिहासोक्तिः। अर्थदृष्टये अर्थस्य शुभाशुभत्वज्ञानाय।।१०१।।*

● *अनुवाद*–जो शास्त्र के ही अनुसार काम करता है, उसे 'शास्त्रचक्षु' कहते हैं। हास्योक्ति में श्रीकृष्ण के शास्त्रचक्षु होने का उदाहरण इस प्रकार दिया गया है–किसी कार्य के शुभ–अशुभ विषय में तो श्रीकृष्ण शास्त्रचक्षु थे, किन्तु कमलचक्षु थे वे केवल व्रजयुवतियों को उन्मत्त करने के लिए।।१०१।।

शुचिः (२१)–

६१–पावनश्च विशुद्धश्चेत्युच्यते द्विविधः शुचिः।
पावनः पापनाशी स्याद्विशुद्धस्त्यक्तदूषणः।।१०२।।

तत्र पावनो, यथा पाद्मे–

४२–तं निर्व्याजं भज गुणनिधिं पावनं पावनानां–
श्रद्धारज्यन्मतिरतितरामुत्तम श्लोकमौलिम्।
प्रोद्यन्नन्तःकरणकुहरे हन्त यन्नामभानो–
राभासोऽपि क्षपयति महापातकध्वान्तधाराम्।।१०३।।

विशुद्धो, यथा–

४३–कपटंच हठश्च नाच्युते बत सत्राजिति नाप्यदीनता।
कथमद्य वृथा स्यमन्तक प्रसभं कौस्तुभसख्यमिच्छसि।।१०४।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*तं निर्व्याजमिति प्रायो धृतराष्ट्रं प्रति श्रीविदुरोपदेशः। नाम्नि चाभासत्वं–"नामैकं यस्य वाचि स्मरणपथगतं श्रोत्रमूलं गतं वा, शुद्धं वाऽशुद्धवर्णं व्यवहितरहितं तारयत्येव सत्यमित्यनुसारेण ज्ञेयम्।।१०३।। कपटमिति सत्राजितमुद्दिश्य श्रीमदुद्धवस्य सोत्प्रासोक्तिः। "प्रसभस्तु बलात्कारो हठ" इत्यमरपाठात् हठ इति पुंस्येव। प्रसममित्यर्श आदित्वेन मन्तव्यम्।।१०४।।*

● *अनुवाद*–'*शुचि*' व्यक्ति दो प्रकार का होता है–१. पावन अर्थात् दूसरों के पाप नाश कर उनको पवित्र बनाने वाला तथा २. 'विशुद्ध' अर्थात् स्वयं जो समस्त पापों से रहित हो।।१०२।।

पद्मपुराण में श्रीकृष्ण के पावन होने का उदाहरण इस प्रकार है–पावनों को भी पावन करने वाले, उन गुणनिधि और उत्तम कीर्ति वालों में भी सर्वश्रेष्ठ श्रीकृष्ण का श्रद्धा से शुद्धमति–रति पूर्वक निष्कपट होकर भजन करो, जिनके नामरूप सूर्य की किरणों के आभास मात्र के हृदय में उदय होते ही महान् पापरूप अन्धकार नाश हो जाता है।।१०३।।

श्रीकृष्ण के विशुद्धत्व का उदाहरण इस प्रकार है–श्रीउद्धवजी ने कहा है, श्रीकृष्ण में न तो कपट है और न हठ (कि सत्राजित की कन्या को वे कपट या हठ से जबरदस्ती ले लें और न सत्राजित में ही दीनता है कि वह स्वयं श्रीकृष्ण के लिए उसे पत्नीरूप में सौंप दे) तो फिर हे स्यमन्तक मणि! तू आज कौस्तुभ मणि (जो सदा श्रीकृष्ण के वक्षःस्थल पर विराजमान है) के साथ वृथा मित्रता करने को क्यों उत्सुक हो रहा है ? (स्यमन्तकमणि का प्रसंग श्रीभागवत (१०।५६) अध्याय में द्रष्टव्य है)।।१०४।।

वशी (२२)–६२–वशी जितेन्द्रियः प्रोक्तः।।१०५।।

यथा प्रथमे (१।११।३६)–

४४–उद्दामभावपिशुनामलवल्गुहास।
व्रीडावलोकनिहतो मदनोऽपि यासाम्
सम्मुह्य चापमजहात् प्रमदोत्तमास्ता।
यस्येन्द्रियं विमथितुं कुहकैर्न शेकुः।।१०६।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*उद्दामेति। मदनः कामोऽप्युद्भटभावसूचकाभ्यां निर्मलमनोहाराभ्यां हासव्रीडावलोकाभ्यां स्मितसलज्जदृष्टिभ्यां निहतः तन्महिमदर्शने–नोक्तार्थीकृतस्वास्त्रादिवलोऽभूत्। अतएव सम्मुह्य चापमजहात्।*

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*तत्र निजास्त्रप्रयोगं न कुरुत एवेत्यर्थः। तदेवं 'भ्रूपल्लवं धनुरपांगतरंगितानि बाणा'' इत्यादिवन्महिमदर्शनार्थमुत्प्रेक्षामात्रं तथाभूता अपि प्रमदोत्तमाः प्रमदेन प्रकृष्ट–प्रेमानन्दविशेषेण परमोत्कृष्टास्ताः स्ववृन्द एव याः स्वतोऽप्युत्कृष्टप्रेमवत्यस्तासां साम्येच्छया कुहकैस्तादृशप्रेमाभावेन कपटांशप्रयुक्तैः सद्भिः कटाक्षादिभिर्यस्येन्द्रियं विमथितुंतद्विशेषेण मथितुं न शेकुः किंतु स्वप्रेमानुरूपमेव शेकुरिति भावः।।१०६।।*

● *अनुवाद*–जिसने अपनी इन्द्रियों को जीत लिया है, वह '*वशी*' कहलाता है।।१०५।।

श्रीमद्भागवत (१।११।३६) में श्रीकृष्ण के *वशित्व* का उदाहरण इस प्रकार है–जिनकी निर्मल और मधुर मुसकान उनके हृदय के उन्मुक्त भावों को सूचित करने वाली थी, जिनकी लजीली चितवन की चोट से बेसुध होकर विश्वविजयी कामदेव ने भी अपने धनुष का परित्याग कर दिया था, कमनीय व्रजरमणियाँ अपने कामविलासों से श्रीकृष्ण के मन (इन्द्रियों) को तनिक भी क्षुब्ध न कर सकीं। (किन्तु अपने प्रेमानुरूप ही उन्हें सेवन कर सकीं)।।१०६।।

स्थिरः (२३)–

६३–आफलोदयकृत् स्थिरः।।१०७।।

यथा, ४५–निर्वेदमाप न वनभ्रमणे मुरारि–
र्नाचिन्तयद् व्यसनमृक्षविलप्रवेशे।
आहृत्य हन्त मणिमेव पुरं प्रपेद
स्वादुद्यमः कृतधियां हि फलोदयान्तः।।१०८।।

● *अनुवाद*–फल–प्राप्ति पर्यन्त तो काम करता है, उसे 'स्थिर' कहते हैं।।१०७।।

श्रीकृष्ण की स्थिरता का उदाहरण देखिए; स्यमन्तक मणि को ढूँढ़ते समय श्रीकृष्ण न तो वन में घूमने से घबराये, और न जाम्बवान्–रीछ की कन्दरा में घुसने से डरे, किन्तु उस मणि को प्राप्त करके ही द्वारका में प्रवेश किया। निश्चय ही स्थिर–लोगों का परिश्रम फलप्राप्ति पर्यन्त चलता ही रहता है।।१०८।।

दान्तः (२४)–

६४–स दान्तो दुःसहमपि योग्यं क्लेशं सहेत यः।।१०६।।

यथा, ४६–गुरुमपि गुरुवासक्लेशमव्याजभक्त्या
हरिरजगणदन्तः कोमलांगोऽपि नायम्।
प्रकृतिरतिदुरूहा हन्त लोकोत्तराणां–
किमपि मनसि चित्रं चिन्त्यमाना तनोति।।११०।।

● *अनुवाद*–जो व्यक्ति उचित होने पर दुसह क्लेश को भी सहन करता है, वह *'दान्त'* कहलाता है।।१०६।।

श्रीकृष्ण के दान्त होने का उदाहरण कहते हैं–श्रीकृष्ण ने कोमलांग होते हुए भी श्रीगुरु की निष्कपट भक्ति के कारण गरुकुल–सान्दीपनि के घर रहने के महान् क्लेश को कुछ भी नहीं गिना। लोकोत्तर व्यक्तियों का स्वभाव साधारण लोगों की समझ में कठिनाई से आता है। अतः विचार करने पर मन में कुछ अपूर्व आश्चर्य पैदा करता है।।११०।।

क्षमाशीलः (२५)–

६५–क्षमाशीलोऽपराधानां सहनः परिकीर्त्यते।।१११।।

यथा माघकाव्ये शिशुपालवधे (१६।२५)–

४७–प्रतिवाचमदत्त केशवः शपमानाय न चेदिभूभृते।
अनुहुंकुरुते घनध्वनिं न हि गोमायुरुतानि केशरी।।११२।।

यथा वा यामुनाचार्यस्तोत्रे–

४८–रघुवर ! यदभूस्त्वं तादृशो वायसस्य।
प्रणत इति दयालुर्यच्च चैद्यस्य कृष्ण !।
प्रतिभवमपरादधुर्मुग्ध ! सायुज्यदोऽभू–
र्वद किमपदमागस्तस्य तेऽस्ति क्षमायाः।।११३।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*रघुवरेति—पुनरुदाहरणमिदं पूर्वस्यावज्ञायामेव पर्यवसानं स्यान्न तु क्षमावत्त्वे घनध्वनावसहनत्वादिति विचार्यम्। अत्र "प्रतिभवमपराद्धुरि" त्यादिना रघुवरादप्युत्कर्षो दर्शितः।।११३।।*

● *अनुवाद*—अपराधों को सहन कर लेने वाला व्यक्ति 'क्षमाशील' कहलाता है।।१११।।

माघ—काव्य में श्रीकृष्ण की क्षमाशीलता का इस प्रकार उदाहरण है—गाली देने वाले शिशुपाल को भी श्रीकृष्ण ने कोई प्रत्युत्तर नहीं दिया। सिंह मेघ की गर्जना को सुनकर हुँकार करता है, गीदड़ों के शब्दों को सुनकर नहीं।।११२।।

यामुनाचार्य स्तोत्र में कहा गया है—हे रघुवर ! श्रीराम अवतार में अपने शरणागत—हुए उस कौए (जयन्त) के प्रति आप दयालु बन गये और फिर श्रीकृष्णरूप में आप शिशुपाल को जो प्रति जन्म का अपराधी था, आपने सुन्दर सायुज्य मुक्ति प्रदान कर दी। फिर आप ही बतलाइये ऐसा कौन सा अपराध है, जिसे आप क्षमा नहीं कर सकते ?।।११३।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—एकवार वनवास के समय श्रीराघवेन्द्र ने श्रीजानकी जी का अपने हाथों फूल शृंगार किया और दोनों सुखपूर्वक स्फटिक शिला पर विराजमान थे। देवराज इन्द्र का पुत्र जयन्त श्रीराघवेन्द्र का बल देखने के लिए कौए का रूप धरकर वहाँ आया और श्रीसीता जी की कंचुकी में चोंच मारकर भाग गया, श्रीराम ने उसे बाण मारा। वह प्राण रक्षा के लिए त्रिभुवन में भागा—भागा फिरा, परन्तु किसी ने शरण नहीं दी। अन्त में श्रीराम जी के चरणों में शरण ली और अपराध की क्षमा मांगी। श्रीराम तो परम दयालु ठहरे, आपने उसे क्षमा कर दिया, उसी चरित—संकेत का उल्लेख है उपर्युक्त श्लोक में।।११३।।

गम्भीरः (२६)—

६६—दुर्विबोधाशयो यस्तु स गम्भीर इतीर्यते।।११४।।

यथा, ४९—वृन्दावने वराभिः स्तुतिभिर्नितरामुपास्यमानोऽपि।
शक्तो न हरिर्विधिना रुष्टस्तुष्टोऽथवा ज्ञातुम्।।११५।।

यथा वा—५०—उन्मदोऽपि हरिर्नव्यराधा—प्रणयसीधुना।
अभिज्ञेनापि रामेण लक्षितोऽयमविक्रियः।।११६।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*वृन्दावन इति। तत्स्तुतिविशेषस्य स्पष्टताऽर्थमुक्तं, रुष्टस्तुष्टो वेति ज्ञातुमशक्तः शक्यो नाभूत्।।११५।।*

● *अनुवाद*—जिस व्यक्ति के मन के आशय को कठिनता पूर्वक समझा जा सके, उसको *'गम्भीर'* कहते हैं।।११४।।

श्रीकृष्ण की गम्भीरता का उदाहरण इस प्रकार है; श्रीवृन्दावन में (ब्रह्म मोहन लीला के समय) उत्तम स्तुतियों के द्वारा निरन्तर आराधना किये जाने पर भी श्रीकृष्ण रुष्ट हैं अथवा सन्तुष्ट यह बात श्रीब्रह्माजी न जान पाये।।११५।।

और भी देखिए, गोवर्द्धन धारण के समय श्रीराधा के नवीन प्रेमामृत से उन्मत्त होने पर भी सर्वज्ञ श्रीबलराम जी ने श्रीकृष्ण को विकार—रहित ही समझा।।११६।।

धृतिमान् (२७)–

६७–पूर्णस्पृहश्च धृतिमान् शान्तश्च क्षोभकारणे।।११७।।

तत्र आद्यो, यथा–५१–स्वीकुर्वन्नपि नितरां यशःप्रियत्वं।
कंसारिर्मगधपतेर्वधप्रसिद्धाम्।
भीमाय स्वयमतुलामदत्त कीर्त्तिं–
किं लोकोत्तरगुणशालिनामपेक्ष्यम्।।११८।।

द्वितीयो, यथा–

५२–निन्दितस्य दमघोषसूनुना संभ्रमेण मुनिभिः स्तुतस्य च।
राजसूयसदसि क्षितीश्वरैः कोप नास्य विकृतिर्वितर्किता।।११९।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*पूर्णेति। धृतिर्मनःसंयमनं तद्वान् तत्र पूर्णा सर्वस्पृहणीयलाभात् कृतार्था स्पृहा यस्य स पूर्णस्पृहः पूर्णस्पृहताकारणधृत्या इत्यर्थः, शान्त इति। पूर्णस्पृहत्वाभावेऽपि धृत्या क्षोभाव्याप्त इत्यर्थः।।११७।। स्वीकुर्वन्निति। पूर्णस्पृहत्वमत्र लोकोत्तरगुणशालित्वेन लम्भते, तत्र च सति भीमाय यशोदाने निरुपाधितया स्निग्धस्वभावत्वमपि लभ्यते, यद्विना सर्वेऽप्यन्ये गुणा जनायारोचमानाः स्वरूपाद् भ्रश्यन्ति। ततश्चोपसन्नमात्रेषु तस्य निरुपाधितया स्निग्धत्वे लब्धे निरुपाधिभक्तेषु सुतरामेव तादृशत्वं स्यात्, तत्सुखार्थमेव यशःप्रियत्वमप्युद्भवति, ते हि तद्यशसाऽधिकमानन्दं यान्ति। तदेवं स्थिते तेषु निजयशश्च्चः संक्रमयति स इत्यतो यशःप्रियत्वेऽपि पूर्णस्पृहत्वमेव सेषिद्धयत इति।।११८।। निन्दितस्येति। अत्रेदमेवोदाहरणं, न तु सम्भ्रमेणेत्यपि, परत्र खलु गाम्भीर्यमेव लक्ष्यते, मुनयो ह्यत्र भक्तास्तत्कृतस्तवान्तर्बहिः सुखप्राप्तिरस्त्येव, गाम्भीर्यधृत्योः खल्वावृतत्वासत्त्वाभ्यामेव भेद इति।।११९।।*

● *अनुवाद*–जिसकी इच्छायें पूर्ण हो चुकी हैं तथा जो क्षोभ का कारण उपस्थित होने पर भी शान्त रहता है, वह "धृतिमान" कहलाता है।।११७।।

पूर्णस्पृहता का उदाहरण श्रीकृष्ण में देखिए; यश को प्रियरूप में स्वीकार करते हुए भी श्रीकृष्ण ने मगधपति जरासन्ध को मारने की अतुलनीय कीर्ति भीम को दे दी। क्योंकि अलौकिक गुणवान् व्यक्तियों को किस बात की अपेक्षा है ?।।११८।।

क्षोभ उत्पन्न होने पर भी शान्त रहने का दूसरा उदाहरण इस प्रकार है–राजा श्रीयुधिष्ठिर की राजसूय यज्ञ–सभा में शिशुपाल द्वारा निन्दा किये जाने पर, दूसरी ओर भक्तजनों द्वारा आदर–स्तुति किये जाने पर–श्रीकृष्ण में किसी ने भी क्षोभ या प्रसन्नतारूपी परिवर्तन नहीं अनुभव किया; अर्थात् वे दोनों अवस्थाओं में समान चित्त रहे।।११९।।

समः (२८)–

६८–रागद्वेषविमुक्तो यः समः स कथितो बुधैः।।१२०।।

यथा श्रीदशमे (१०।१६।३३)–

५३–न्याय्यो हि दण्डः कृतकिल्बिषेऽस्मिंस्तवावतारः खलनिग्रहाय।
रिपोः सुतानामपि तुल्यदृष्टेर्धत्से दमं फलमेवानुशंसन्।।१२०।।

यथा वा–५४–रिपुरपि यदि शुद्धो मण्डनीयस्तवासौ।
यदुवर ! यदि दुष्टो दण्डनीयः सुतोऽपि।
न पुनरखिलभर्त्तुः पक्षपातोज्झितस्य।
क्वचिदपि विषमं ते चेष्टितं जाघटीति।।१२२।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*रिपोः सुतानामिति। स्वस्यरिपुरयमिति सुतोऽयमिति वा न विषमदृष्टिरेव किंतु तुल्यदृष्टिरेव यतो; न्याय–अन्यायाभ्यामेव विषमदृष्टिरसि तत्रान्यायस्वभावस्य रिपोर्षद्दमं धत्से तच्च फलमेवानुशंसन् लब्धं। आयत्यान्तस्यापि मोक्षादिसुख–प्रापणात्। अतएव रिपु सुतयोस्तुल्यदर्शित्वं लब्धं। लोके पित्रादौ तथा दुष्टपुत्रशासनदृष्टेरित्यर्थः । अत्र रिपुर्जरासन्धसुतादिः। कालिकापुराणे वराहावतारगत–तादृगितिहासत्, सुतो नरकासुरादिः।।१२१ रिपुरपीति। शुद्धः कस्मिंश्चिन्नायविशेषे दोषरहित इत्यर्थः। दुष्टस्तद्विपरीत इत्यर्थः, पक्षपातोत्र स्वातन्त्र्येण कस्यचित् पक्षस्य ग्रहणम् ।।१२२।।*

● *अनुवाद*–जो व्यक्ति राग और द्वेष से रहित होता है उसे विद्वान् लोग *'सम'* कहते हैं ।।१२०।।

श्रीमद्भागवत (१० ।१६ ।३३) में श्री कृष्ण के अपराधी को नाग–पत्नियों ने इस प्रकार प्रतिपादन किया है–हे कृष्ण ! अपराधी को दण्ड देना उचित ही है, क्योंकि आपका अवतार ही दुष्टों के दमन के लिए हुआ है। आप अपने शत्रुओं और पुत्रों दोंनों में समान दृष्टि रखते हैं और उनके कल्याण की भावना से उन्हें दण्ड देते है ।।१२१।।

और भी कहा गया है – हे युदवर कृष्ण ! शत्रु भी यदि शुद्ध है तो आपके द्वारा वह समादृत होता है और यदि आपका पुत्र है और दुष्ट है, तो आप उसको दण्ड देते हैं। पक्षपात से रहित और समस्त जगत् के पालक! आपमें किसी के प्रति विषम व्यवहार संगत नहीं बैठाता।।१२२!!.

वदान्यः (२६)

६६–दानवीरो भवेद्यस्तु स वदान्यो निगद्यते ।।१२३।।

यथा, ५५ सर्वार्थिनां बाढमभीष्टपूर्त्त्या व्यर्थीकृताः कंसनिषूदनेन।
ह्रियेव चिन्तामणिकामधेनु–कल्पद्रुमा द्वारवतीं भजन्ति।।१२४।।

यथा, वा–५६–येषां षोडश पूरिता दशशती स्वान्तःपुराणां तथा।
चाष्टश्लिष्टशतं विभाति परितस्तत्संख्यपत्नीयुजाम्।।
एकैकं प्रति तेषु तर्णकभृतां भूषाजुषामन्वहं।
गृष्टीनां युगपच्च बद्धमददाद्यस्तस्य वा कः समः ?।।१२५।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*सर्वार्थिनामिति बन्दिजनस्तुति।।१२५।। उक्तामेव दानक्रियामेकदेशदर्शनिया पुष्णाति–येषामिति। पूरितत्वं, गुणितत्वं, श्लिष्टत्वं युक्तत्वं, गृष्टीनां प्रथमप्रसूतानां बद्धं चतुरशीत्यग्रसहस्राणि त्रयोदशेति। (१३०८४)।। प्रकारान्तरमेतत्पद्यं त्यक्तम्।।१२५।।*

● *अनुवाद*–जो दान देने में वीर हो उसे *'वदान्य'* कहते हैं।।१२३।।

श्रीकृष्ण की वदान्यता का इस प्रकार उल्लेख है–श्रीकृष्ण ने समस्त याचकों

के अभीष्टों की अतिशय पूर्त्ति कर दी। जिससे चिन्तामणि, कामधेनु एवं कल्पवृक्ष अपने को व्यर्थ जानकर अब द्वारका का भजन करते हैं।।१२४।।

और भी कहा गया है– श्रीकृष्ण की सोलह हजार एक सौ आठ रानियों के सोलह हजार एक सौ आठ अन्तःपुर हैं और उनमें उतनी ही महिषिवृन्द निवास करती हैं। प्रति अन्तःपुर में श्रीकृष्ण प्रतिदिन सुन्दर अलंकारों से सुसज्जित तथा बछड़ों के सहित प्रथम प्रसूता (पहलौठी) गौओं को १३०८४ संख्या में एक ही समय दान करते हैं। अतः श्रीकृष्ण के समान वदान्य त्रिभुवन में और कौन हो सकता है ?।।१२५।।

धार्मिकः (३०)–

७०–कुर्वन् कारयते धर्मं यः स धार्मिक उच्यते।।१२६।।

यथा, ५७–पादैश्चतुर्भिर्भवता वृषस्य गुप्तस्य गोपेन्द्र ! तथाभ्यवर्द्धि।
स्वैरं चरन्नेष यथा त्रिलोक्यामधर्म्मशस्यानि हठाज्जघास।१२७।।

यथा वा–

५८–वितायमानैर्भवता मखोत्करैराकृष्यमाणेषु पतिष्वनारतम्।
मुकुन्द ! 'खिन्नः सुरसुभ्रुवां गणस्तवावतारं नवमं नमस्यति।।१२८।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*पादैश्चतुर्भिरित्यादि द्वयं श्रीनारदस्य नर्म्मवचनं, कुर्वन् कारयत इत्यनयोर्व्यतिक्रमेणोदाहरणे ज्ञेये, यथावेत्यत्र तु चार्थे वाशब्दः गोपेन्द्रेति श्लिष्टं, गां पृथिवीं पातीति गोपः, "गोपो भूप" इत्यमरनानार्थवर्गात् पाठात्।।१२७।।*

● *अनुवाद*–जो स्वयं धर्म का अनुष्ठान करता है और दूसरों से भी करवाता है, उसको *'धार्मिक'* कहते हैं।।१२६।।

श्रीकृष्ण की (स्वयं) धार्मिकता का उदाहरण इस प्रकार है– हे गोविन्द ! आपके द्वारा रक्षित इस धर्मरूप बैल के (यज्ञ, अध्ययन, तप और दान–ये) चारों पांव इस प्रकार वृद्धि को प्राप्त हुए हैं कि तीनों लोकों में उसने स्वच्छन्दता पूर्वक विचरण कर अधर्मरूप शस्यों (खेतियों) को जबरदस्ती नष्ट कर डाला है।।१२७।।

दूसरों से धर्मानुष्ठान कराने का उदाहरण देखिये–हे मुकुन्द ! आपके द्वारा (गणमान्य राजाओं से) करवाये जाने वाले यज्ञों में देवता लोग सदा आकृष्ट रहते हैं, अपने घरों में नहीं रह पाते। किन्तु अब समस्त देवरमणियां नवम् अवतार बुद्ध–भगवान् को ही नमस्कार करेंगी, (क्योंकि वे तो यज्ञों के विरोधी हैं, न यज्ञ होंगे, न देवता घर से बाहर रहेंगे। अतः सुररमणियां प्रसन्न होकर आपको नमस्कार करेंगी)। तात्पर्य यह है कि श्रीभगवान् इतने यज्ञ कराते थे कि देवताओं को घर जाने की फुरसत न रहती थी जिससे उनकी पत्नियां दुःखी रहती थीं।।१२८।।

शूरः (३१)–

७१–उत्साही युधि शूरोऽस्त्रप्रयोगे च विचक्षणः।।१२९।।

तत्र आद्यो यथा–

५९–पृथु समरसरो विगाह्य कुर्वन् द्विषदरविन्दवने विहारचर्य्याम्।
स्फुरसि तरलराहुदण्डशुण्डस्त्वमघविदारण–वारणेन्द्रलीलः।।१३०।।

द्वितीयो, यथा–

६०–क्षणादक्षौहिणीवृन्दे जरासन्धस्य दारुणे।
दष्टः कोऽत्र न वा दष्टो हरेः प्रहरणाहिभिः।।१३१।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*उत्साहीति। उदाहरणवैचित्र्यार्थमेकस्यैव शूरस्य द्विधा निरूपणम्, एवं यथाऽर्हमुत्तरत्रापि ज्ञेयं, पृथ्वित्याद्युदाहरणपद्ये तु द्विषदित्यादौ; "अविरलशैबलगामिति" पाठान्तरं योग्यमिति।।१२९–१३०।।*

● *अनुवाद*–शूर दो प्रकार के होते हैं–१. युद्ध में उत्साह रखने वाला एवं २. अस्त्रों का प्रयोग करने में निपुण।।१२९।।

श्रीकृष्ण के युद्ध में उत्साह का उदाहरण इस प्रकार है–हे पापनाशक श्रीकृष्ण ! विशाल युद्धरूप सरोवर में अवगाहन करके शत्रुरूप कमलों के वन में विहार करते हुए चञ्चल भुजदण्ड रूप सूँड से युक्त आप गजराज के समान शोभित हो रहे हैं।।१३०।।

अस्त्रों के प्रयोग में निपुणता का उदाहरण देखिये, श्रीकृष्ण के अस्त्ररूप सर्पों ने जरासंध की विशाल अक्षौहिणी सेना के समूह को क्षण भर में कब किसको डसा, यह जानना असम्भव हो गया अर्थात् क्षण भर में श्रीकृष्ण के अस्त्रों ने अक्षौहिणी सेना का नाश कर डाला।।१३१।।

करुणः (३२)

७२–परदुःखासहो यस्तु करुणः स निगद्यते।।१३२।।

यथा, ६१–राज्ञामगाधगतिभिर्मगधेन्द्रकारा–
दुःखान्धकारपटलैः स्वयमन्धितानाम्।
अक्षीणि यः सुखमयानि घृणी व्यतानीद्–।
वन्दे तमद्य यदुनन्दनपद्मबन्धुम्।।१३३।।

यथा वा, ६२–स्खलन्नयनवारिभिर्विरचिताभिषेकश्रिये।
त्वराभरतरंगतः कवलितात्मविस्फूर्त्तये।
निशातशरशायिना सुरसरित्सुतेन स्मृतेः
सपद्यवशवर्ष्मणै भगवतः कृपायै नमः।।१३४।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*राज्ञामिति। निर्याणसमये भीष्मवचनं, स्वयमिति कर्मकर्तृत्वद्योतकं 'जुगुप्साकरुणे घृणे' इत्यमरः।।१३३।। स्खलन्निति सुरसरित्सुतेन कर्त्रा या स्मृतिस्तस्याः हेतोर्या भगवतः कृपा तस्यै नमः। कीदृश्यै त्वराभरतरंगतो हेतोः कवलिता आत्मनो भगवतो विस्फूर्त्तिरियमहमस्मीति ज्ञानं यस्यां तादृश्यै।।१३४।।*

● *अनुवाद*–जो दूसरों के दुःख को सहन नहीं कर सकता, उसे *'करुण'* कहते हैं।।१३२।।

श्रीकृष्ण के करुण होने का उदाहरण देखिए, निर्वाण के समय श्रीभीष्म पितामह ने कहा–"अगाध गति वाले मगधराज जरासन्ध के कारागृह के

दुःखरूप अन्धकार समूह में स्वयं अन्धे हुए कैद में पड़े राजाओं के नेत्रों को जिन करुणामय श्रीकृष्ण ने सुख प्रदान किया, उन यदुनन्दन रूप सूर्य को मैं नमस्कार करता हूँ'।।१३३।।

और भी कहा है, तीक्ष्ण बाणों की शय्या पर सोते हुए गंगापुत्र श्रीभीष्म के स्मरण करने पर श्रीकृष्ण को नेत्रजल से स्नान कराने वाली, शीघ्रता के कारण उनको सुध–बुध भुला देने वाली तथा उनके शरीर को भी अवश बना देने वाली कृष्ण–कृपा की मैं वन्दना करता हूँ।।१३४।।

मान्यमानकृत् (३३)–

७३–गुरुब्राह्मणवृद्धादिपूजको मान्यमानकृत्।।१३५।।

यथा, ६३–अभिवाद्य गुरोः पदाम्बुजं पितरं पूर्वजमप्यथानतः।
हरिरञ्जलिना तथा गिरा यदुवृद्धाननमत् क्रमादयम्।।१३६।।

● *अनुवाद*–गुरु, ब्राह्मण, वृद्धजन आदि का सम्मान करने वाला *'मान्यमानकृत'* कहलाता है।।१३५।।

श्रीकृष्ण के *'मान्यमानकृत'* गुण का उदाहरण श्रीकृष्ण ने श्रीसान्दीपनि गुरु के चरणों का स्पर्श किया और मथुरा आकर पिताजी और बड़े भाई को भी नमस्कार किया। फिर श्रीकृष्ण ने हाथ जोड़कर विनय वाणी पूर्वक यदुवंश के वृद्धों को भी क्रम से नमस्कार किया।।१३६।।

दक्षिणः (३४)–

७४–सौशील्य–सौम्यचरितो दक्षिणः कीर्त्यते बुधैः।।१३७।।

यथा, ६४–भृत्यस्य पश्यति गुरूनपि नापराधान्
सेवां मनागपि कृतां बहुधाभ्युपैति।
आविष्करोति पिशुनेष्वपि नाभ्यसूयां–
शीलेन निर्मलमतिः कमलेक्षणोऽयम्।।१३८।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*सौशील्येन सुस्वभावेन सौम्यं सुकोमलं चरितं यस्य।।१३७।। भृत्यस्येति। स्यमन्तकं गृहीत्वा काश्यां गतमक्रूरं प्रति श्रीमदुद्धवस्य वर्णदूतः, "पिशुनौ खलसूचकावित्यमरः"।।१३८।।*

● *अनुवाद*–सुशील स्वभाव के कारण कोमल चरित्र वाले व्यक्ति को विद्वान् *'दक्षिण'* कहते हैं।।१३७।।

श्रीकृष्ण के दक्षिण गुण का उदाहरण, (श्रीउद्धवजी ने श्रीअक्रूर के प्रति अपने दूत के हाथों सन्देह भेजा था, जब वह स्यमन्तक मणि को लेकर काशी भाग गये थे)–श्रीकृष्ण अपने सेवकों के बहुत बड़े अपराधों पर भी ध्यान नहीं देते हैं और उनकी थोड़ी–सी सेवा को भी बहुत मानते हैं। ये विशुद्ध मति कमलनयन श्रीकृष्ण अपने सुशील स्वभाव के कारण दुष्टों के प्रति भी घृणा नहीं करते।।१३८।।

विनयी (३५)–

७५–औद्धत्यपरिहारी यः कथ्यते विनयीत्यसौ।।१३६।।

यथा माघकावधे (शिशुपाल वधे १३।७)–

६५–अवलोक एव नृपतेः सुदूरतो रभसाद्रथादवतरीतुमिच्छतः।
अवतीर्णवान् प्रथममात्मना हरिः विनयं विशेषयति संभ्रमेण सः।।१४०।।

● *अनुवाद*–जो औद्धत्य को निवारण करता है, वह *"विनयी"* कहलाता है।।१३६।।

माघ–काव्य में श्रीकृष्ण के विनयी गुण का इस प्रकार वर्णन है–श्रीयुधिष्ठिर को दूर से देखते ही जल्दी से श्रीकृष्ण रथ से उतरने की इच्छा करने लगे और उनके कुछ कहने से पहले अपने–आप ही रथ से उतर पड़े। उन्होंने तो अतिशय आदर द्वारा विनय को भी विभूषित कर दिया, अर्थात् श्रीकृष्ण ने अतिशय विनय का प्रदर्शन किया।।१४०।।

ह्रीमान् (३६)–

७६–ज्ञातेऽस्मररहस्येऽन्यैः क्रियमाणे स्तवेऽथवा।
शालीनत्वेन संकोचं भजन् ह्रीमानुदीर्यते।।१४१।।

यथा ललितमाधवे–

६६–दरोदञ्चद्गोपीस्तनपरिसरप्रेक्षणभवात्–
करोत्कम्पादीषच्चलति किल गोवर्धनगिरौ।
भयार्त्तैरारब्धस्तुतिरखिलगोपैः स्मितमुखं
पुरो दृष्ट्वा रामं जयति नमितास्यो मधुरिपुः।।१४२।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*ज्ञात इति। अस्मर–रहस्ये स्मररहस्याभावेऽप्यन्यैर्ज्ञाति स्वयमेव ज्ञातेन तेन संकोचं भजन्। अथवा स्तवेऽपि क्रियमाणे संकोचं भजन् ह्रीमानुदीर्यते, तत्र हेतुः शालीनत्वेन–अधृष्टतास्वभावेन, शालीनत्वेन–अनधिगम्य–स्वभावेन वेति, तथैवोदाहरति दरोदञ्चदिति। तथाहि तत्कोमलत्वदृष्ट्या भयेनार्त्तैर्व्यग्रैरखिलगोपैः, प्रभावदृष्ट्या त्वारब्धा स्तुतिः शौर्यवर्द्धनविरुद्यस्य तथाविधः सन्, तत्र स्वमहिमज्ञतया स्मितमुखं रामं पुरोऽग्रत एव दृष्ट्वा शालीनत्वेन नमितास्यो मधुरिपुर्जयति, परमोत्कर्षेण भक्तहृदये स्फुरत्वित्यर्थः, तत्र कस्मात् क्व किल सति? स्मितमुखं रामं दृष्ट्वा नमितस्य इत्युत्प्रेक्ष्यतामित्यपेक्षायामुक्तम्–दरोदञ्चदिति। दरेत्यादि लक्षणात्कम्पाद गोवर्द्धनगिरौईषच्चलति सति, किलेत्युत्प्रेक्षितमेव, वस्तुतस्त्वेनेन रामाज्ञाततादृशनिजस्मररहस्यत्वेऽपि शालीनत्वेनैव संकुचतिस्मेति ध्वनितं, यदग्रजरामस्य तत्कृततदीयस्तनान्तदर्शनानुसन्धानस्यानौचित्यं। गाम्भीर्यगुणेन च पूर्वोक्ततदलक्ष्य–तादृशतद्भावत्वं, पूर्वार्द्धे च किलेत्युक्त्या तदर्थस्योत्प्रेक्षितमात्रत्वमिति व्याख्याऽन्तरं नांगीकृतम्।।१४१–१४२।।*

● *अनुवाद*–कन्दर्प विलास के रहस्य को अन्य द्वारा न जानने पर भी जो मानता है कि दूसरे ने उसे जान लिया है और इसलिए संकोच मानता है तथा दूसरे के द्वारा स्तुत्य होने पर जो सुशील स्वभाव के कारण संकुचित होता है, उसे *'ह्रीमान्'* कहते हैं।।१४१।।

श्रीकृष्ण के ह्रीमान् गुण का उदाहरण श्रीललित–माधव नाटक में वर्णित है–गोवर्धन लीला में, किसी गोपी के स्तन पट के तनिक दर्शन के कारण

श्रीकृष्ण का हाथ (सात्त्विक–विकार से) कांपने लगा और गोवर्द्धन भी कम्पित हुआ। यह देखकर समस्त गोपगण (गोवर्द्धन के गिर जाने के भय से) आर्त्त होकर श्रीकृष्ण की (वीर्यवर्द्धक) स्तुति करने लगे। सामने खड़े हुए श्रीबलराम, जो श्रीकृष्ण की महिमा को जानते थे, मुसकरा गये। (श्रीकृष्ण ने जाना कि भैया ने मेरे मनोभाव को जान लिया है, हालांकि श्रीबलराम गोपीस्तन दर्शन के रहस्य को न जानकर श्रीकृष्ण के कौतुक को ही देखकर मुसकराये थे) परन्तु श्रीकृष्ण ने संकोच से मस्तक झुका लिया, ऐसे श्रीकृष्ण परमोत्कर्ष से भक्तों के हृदय में स्फुरित हों।।१४२।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–एक आधुनिक विद्वान् सम्पादक ने इस श्लोक में 'ज्ञातेऽस्मररहस्य' का पाठ बदलकर 'ज्ञाते स्मररहस्य' कर अपनी भक्तिरस अनभिज्ञता का परिचय दिया है, काम–रहस्य दूसरों के द्वारा न जानने पर भी शीतलता के कारण श्रीकृष्ण का जो यह समझ लेना है कि श्रीबलराम जी ने उसे जान लिया है, अतः संकोच मानना–यही उनका हीमान गुण है। दूसरे के द्वारा काम रहस्य को जान लेने पर जो संकोच है, वह तो आत्मग्लानि का सूचक होता है। विशेषतः श्रीकृष्ण के एक गुण 'गम्भीर' का भी वर्णन कर आये हैं, उनके मनाशय को कोई भी नहीं जान सकता। अतः श्रीबलराम जी का उनके मनोभाव को भांप लेना असंगत है। अतः 'ज्ञातेऽस्मरहस्य' पाठ ही संगत है।।१४२।।

शरणागतपालकः (३७)–

७७–पालयन् शरणापन्नान् शरणागतपालकः।।१४३।।

यथा, ६७–ज्वर ! परिहर वित्रासं त्वमत्र समरे कृतापराधोऽपि।
सद्यः प्रपद्यमाने यदिन्दवति यादवेन्द्रोऽयम्।।१४४।।

● *अनुवाद*–शरण में आने वाले की पालना करने वाला *''शरणागतपालक'* कहलाता है।।१४३।।

''शरणागतपालक' का उदाहरण–हे ज्वर ! इस युद्ध में अपराधी होने पर भी तुम भय का त्याग करो। क्योंकि यह यादवराज श्रीकृष्ण शरण में आये व्यक्तियों के लिए चन्द्रमा के समान शीतल आनन्ददायक हो जाते हैं।।१४४।।

सुखी (३८)

७८–भोक्ता च दुःखगन्धैरप्यस्पृष्टश्च सुखी भवेत्।।१४५।।

तत्र आद्यो, यथा–

६८–रत्नालंकारभारस्तव धनदमनोराज्यवृत्याप्यलभ्यः
स्वप्ने दम्भोलिपाणेरपि दुरधिगमं द्वारि तौर्यत्रिकञ्च।
पार्श्वे गौरीगरिष्ठाः प्रचुरशशिकलाः कान्तसर्वांगभाजः
सीमन्तिन्यश्च नित्यं यदुवर ! भुवने कस्त्वदन्योऽस्ति भोगी ? १४६

द्वितीयो, यथा–

६९–न हानिं न ग्लानिं न निजगृहकृत्यव्यसनितां–
न घोरं नोद्घूर्णां न किल कदनं वेत्ति किमपि।
वरांगीभिः सांगीकृतसुहृदनंगाभिरभितो।
हरिर्वृन्दारण्ये परमनिशमुच्चैर्विहरति।।१४७।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*रत्नेति बन्दिजनस्तुतिः, स्वपक्षे शशिकला नखांका नखाग्रभागा वा, गौर्यात्वेकैव शशिकला चन्द्रलेखा, स्वपक्षे कान्तसम्बन्धीनि मनोहराणि वा सर्वांगानि भजन्ते यास्ताः, गौरी तु स्वकान्तस्याद्धांगभागिति श्लेषेण युक्तमेव गौरीगरिष्ठत्वमिति दर्शितम्।।१४६।। न हानिमिति यज्ञपत्नीः प्रति कस्याश्चित् श्रीगोपीकृष्णदूत्या; स्नेहवशात्तास्वपि गतागतं कुर्वत्या रहस्योक्तिः, घोरं भय हेतुं, ततोभयं तु सर्वथैव नेति व्यञ्जितम्, उद्घूर्णां चिन्तां सांगीकृताः पूर्णिताः सुहृदः सहचर्या यत्र तादृगनंगो यासाम्। अत्र तत्तद्ध्याकारे सत्यपि तत्तदज्ञानोक्तिर्न सम्भवतीत्यर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनिना तत्र तत्रावैयग्र्यकारिपरमतेजस्वित्मेव विवक्षितमिति ज्ञेयम्।।४७।।*

● *अनुवाद*—१. सुख का भोग करने वाला—*''भोगी''* तथा २. दुःख के सम्पर्क से सदा अछूता रहने वाला *''सुखी'*' कहलाता है।।१४५।।

श्रीकृष्ण के सुख—भोग का उदाहरण, बन्दिगण ने कहा है—''हे यदुवर! आपके पास जो रत्न—अलंकार की राशि है, वह तो कुबेर के मानस राज्य के भी अगोचर है, आपके द्वार पर जो नृत्यगीत—वाद्यादि होता है, इन्द्र उसे स्वप्न में भी नहीं प्राप्त कर सकता। आपके पार्श्वदेश में जो महिषीगण विराजमान रहती हैं, वे गौरी—पार्वती से भी अति उत्तम हैं, क्योंकि गौरी के शरीर में तो महादेव जी के ललाट के आधे चन्द्रमा की एक कला मात्र ही प्रतिबिम्बत होती है, किन्तु आपकी महिषियों के शरीर में तो आप द्वारा प्रदत्त नखचिन्ह अनेक शशिकला विराजती हैं। गौरी अपने कान्त के अर्द्धअंग की भागिनी मात्र है और ये पुरसुन्दरीगण तो आपके सर्वांगोंका भोग करती हैं। अतएव त्रिभुवन में, हे कृष्ण ! आपके समान और कौन भोगी, सुख भोग करने वाला हो सकता है?।।१४६।।

श्रीकृष्ण के दुःखगन्ध—राहित्य का उदाहरण, यज्ञपत्नियों के पास जाकर एक दूती ने कहा—श्रीकृष्ण को किसी विषय में भी हानि एवं ग्लानि नहीं है। वे अपने गृहकाज में भी व्यस्त नहीं हैं, भय का कोई कारण उनके लिए नहीं है, न चिन्ता का कोई कारण, दुःख या मानापमान को वे तो जानते ही नहीं हैं। सहचरियों के साथ अनंगोपभोगरत सुन्दरियों के साथ श्रीकृष्ण वृन्दावन में दिन—रात बिहार करते रहते हैं।।१४७।।

भक्तसुहृत् (३६)—

७६—सुसेव्यो दासबन्धुश्च द्विधा भक्तसुहृन्मतः।।१४८।।

तत्र आद्यो, यथा विष्णुधर्मे—

७०—तुलसीदलमात्रेण जलस्य चुलुकेन च।
विक्रीणीते स्वमात्मानं भक्तेभ्यो भक्तवत्सलः।।१४६।।

द्वितीयो, यथा प्रथमे (१।६।३७)—

७१—स्वनिगममपहाय मत्प्रतिज्ञामृतमधिकर्तुमवप्लुतो रथस्थः।
धृतरथचरणोऽभ्ययाच्चलद्गुर्हरिरिव हन्तुमिभं गतोत्तरीयः।।१५०।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*तत्राद्यो यथा विष्णुधर्म इत्येव पाठः, विक्रीणीते मुहुरपि वशीकरोतीत्यर्थः।।१४६।। स्वनिगममित्यन्तिमसमये श्रीभीष्मवाक्यं, स्वनिगमं शस्त्रसंन्यासलक्षणां स्वप्रतिज्ञामपहाय; "तमेतं शस्त्रं ग्राहयिष्यामीति" मत्प्रतिज्ञां सत्यां कुर्तुं रथस्थोऽपि धृतचक्रः सन् भुव्यवतीर्णस्तश्चावेशेन स्खलितोत्तरीयस्तेनैव चाविष्कृतबलतया चलन्ती गौः पृथ्वी येन तादृशो भूत्वा मां हन्तुमाभिमुख्येन य आगाद्, न त्ववधीत्; स मे मुकुन्दो गतिर्भवत्वित्युत्तरेणान्वयः, कं कमिव ? हरिः सिंह इभमिवेति वाक्यार्थः, तदा त्वेतं प्रति; एतस्य परममित्रं चार्जुनं प्रति दुर्दैववशान्महदपराधवत्यपि मयि पुरातनं भक्तिलेशाभासं भक्तित्वेनानुसन्धाय; य इत्थं बन्धुत्वं स्वमाहात्म्यहानिसहनेनापि मन्माहात्म्यवर्द्धनलक्षणं व्यञ्जितवान्, सोऽयं शुद्धदासानां सर्वथैव बन्धुत्वं कुर्यादिति भावः।।१५०।।*

● *अनुवाद*—*"भक्तसुहृत्"* दो प्रकार के माने गये हैं—१. सुसेव्य अर्थात् सरलतापूर्वक सेवन करने योग्य तथा २. दास–बन्धु अर्थात् भक्तों के बन्धु।।१४८।।

श्रीकृष्ण के सुसेव्यत्व का उदाहरण विष्णु–धर्म में इस प्रकार है—केवल तुलसी के एक पत्र और चुल्लू भर जल के श्रद्धा सहित प्रदान करने से भक्तवत्सल श्रीकृष्ण अपने को भक्तों के हाथ बेच देते हैं।।१४६।।

श्रीकृष्ण के दास–बन्धुत्व का उदाहरण श्रीमद्भागवत (१।६।३७) में इस प्रकार वर्णित है—अन्तिम समय श्रीभीष्म ने कहा, युद्ध में शस्त्र न उठाने की अपनी प्रतिज्ञा को त्यागकर मेरी प्रतिज्ञा को अमर रखने के लिए श्रीकृष्ण व्याकुल होकर रथ के पहिये को लेकर रथ से ऐसे कूद पड़े, कि जैसे हाथी को मारने के लिए सिंह पृथ्वी को कम्पाता हुआ उछल पड़ता है। कूदते समय उनका पीताम्बर भी गिर गया। तात्पर्य यह है कि उनके सखा श्रीअर्जुन के प्रति श्रीभीष्म का महद्–अपराध होते हुए भी श्रीकृष्ण ने उनकी प्राक्तन भक्ति को जानकर उनकी प्रतिज्ञा को सत्य कर दिया और अपनी प्रतिज्ञा को त्याग दिया। अपराधी के प्रति उनका ऐसा बन्धुत्व है तो जो उनके शुद्ध भक्त हैं, उनके प्रति उनके बन्धुत्व का क्या कहना ?।।१५०।।

प्रेमवश्यः (४०)—

८०—प्रियत्वमात्रवश्यो यः प्रेमवश्यो भवेदसौ।।१५१।।

यथा श्रीदशमे (१०।८०।१६)—

७२—सख्युः प्रियस्य विप्रर्षेरंगसंगातिनिर्वृतः।
प्रीतो व्यमुञ्चदब्बिन्दून्नेत्राभ्यां पुष्करेक्षणः।।१५२।।

यथा वा तत्रैव (भा० १०।६।१८)

७३—स्वमातुः स्विन्नगात्राया विस्रस्तकबरस्रजः।
दृष्ट्वा परिश्रमं कृष्णः कृपयासीत् स्वबन्धने।।१५३।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*प्रियत्वमात्रेण वश्यो, न तु सेवाद्यपेक्षयेत्यर्थः। तत्र प्रेमातिशयेन वश्यताधिक्यमपि दर्शयति—यथावेति।।१५१–५३।।*

● *अनुवाद*—जो केवल प्रेम के वशीभूत होता है, उसे *'प्रेमवश्य'* कहते हैं।।१५१।।

श्रीभागवत (१०।८०।१६) में वर्णित है—अपने प्रिय मित्र ब्रह्मर्षि सुदामा के अंगों का स्पर्श पाकर—गलकण्ठ होकर श्रीकृष्ण अत्यन्त आनन्दित हुए और कमलनयनों से प्रेमाश्रु प्रवाहित करने लगे।।१५२।।

श्रीमद्भागवत (१०।६।१८) में कहा गया है—अपनी माता यशोदाजी के (अपने पीछे भागती हुई) बालों को बिखरा हुआ तथा शरीर को परिश्रम के कारण पसीने से तर देखकर श्रीकृष्ण कृपापूर्वक अपने—आप ही उसके बन्धन में आ गये।।१५३।।

सर्वशुभंकरः (४१)—

८१—सर्वेषां हितकारी यः स स्यात्सर्वशुभंकरः।।१५४।।

यथा, ७४—कृताः कृतार्था मुनयो विनोदैः खलक्षयेणाखिलधार्मिकाश्च।
वपुर्विमर्देन खलाश्च युद्धे न कस्य पथ्यं हरिणा व्यधायि ?।।१५५।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*कृता इत्युत्तरावस्थायां श्रीमदुद्धवोक्तिः, मुनयो आत्मारामाः, विनोदैस्तदद्वारकगुणप्रचारैः। "आत्मारामाश्च मुनय" इत्यादे।।१५५।।*

● *अनुवाद*—जो सबका हितकारी हो, उसे *'सर्वशुभंकर'* कहते हैं।।१५४।।

श्रीकृष्ण के सर्वशुभंकरत्व का उदाहरण श्रीउद्धवजी ने इस प्रकार कहा है—श्रीकृष्ण ने अपने गुणों से मनोविनोद के द्वारा मुनियों को, दुष्टों को नाश करके समस्त धार्मिकजनों को, युद्ध में दुष्टों को मारकर फिर उन्हें परम गति देकर कृतार्थ किया। इस प्रकार श्रीकृष्ण ने किसका कल्याण विधान नहीं किया ? वे सबके कल्याणकारी हैं।।१५५।।

प्रतापी (४२)—

८२—प्रतापी पौरुषोद्भूतशत्रुतापिप्रसिद्धिभाक्।।१५६।।

यथा, ७५—भवतः प्रतापतपने भुवनं कृष्ण ! प्रतापयति।
घोरासुरघूकानां शरणमभूत्कन्दरातिमिरम्।।१५७।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*प्रतापयति प्रकाशयति, सति। उपनिषद्विशेषनृसिंह—तापन्यादिशब्देषु तथैव तपेरर्थः। प्रकाशयतीत्येव वा पाठः, पूर्वं (२।१।५८) स्थितिरेव सर्वजेत्री सती भगवतः 'प्रभाव' इति लक्षितं। प्रतापस्तु तत्ख्यातिरिति ततो भिद्यते यथानन्तरमेव "सादगुण्यैर्निर्मलैः ख्यातः कीर्तिमानि" त्यत्र सादगुण्यख्यातिरेव कीर्तिरिति प्रतिपद्यते न तु सादगुण्यमात्रं तद्वत्।।१५७।।*

● *अनुवाद*—अपने पराक्रम से शत्रुओं को तप्त या भयभीत करने वाली प्रसिद्धि से युक्त व्यक्ति को *'प्रतापी'* कहते हैं।।१५६।।

उदाहरण; हे कृष्ण ! आपके प्रतापरूप सूर्य के संसार में प्रकाशित होने पर भयंकर असुर, रूप उलूकों के लिए कन्दराओं का अन्धकार ही शरण वन गया है, अर्थात् वे कन्दराओं में ही जा छिपे हैं।।१५७।।

कीर्तिमान्–(४३)–

८३–सादगुण्यैर्निर्मलैः ख्यातः कीर्तिमानिति कीर्त्यते।।१५८।।

यथा, ७६–त्वद्यशः कुमुदबन्धुकौमुदी शुभ्रभावमभितो नयन्त्यपि।
नन्दनन्दन ! कथं नु निर्ममे कृष्णभावकलिलं जगत्त्रयम्।।१५६।।

यथा वा ललितमाधवे–

७७–भीता रुद्रं त्यजति गिरिजा श्याममप्रेक्ष्य कण्ठं।
शुभ्रं दृष्ट्वा क्षिपति वसनं विस्मितो नीलवासाः
क्षीरं मत्वा श्रपयति यमीनीरमाभीरिकोत्का।
गीते दामोदर ! यशसि ते वीणया नारदेन।।१६०।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*भीता रुद्रमित्यादिकं कविसमयानुसारेण नर्ममयमेव, न तु वस्तुतः, वस्तुतस्तेषां तत्यागादिकन्तु तद्यशः श्रवणादेव, आभीरिकेत्यत्रा अभीररामेति पाठान्तरम्।।१६०।।*

● *अनुवाद*–उज्ज्वल शुभगुणों के कारण विख्यात व्यक्ति को *'कीर्तिमान'* कहा जाता है।।१५८।।

उदाहरण–हे नन्दनन्दन श्रीकृष्ण ! आपके यशरूप चन्द्रमा की कौमुदी–(ज्योत्स्ना) त्रिभुवन को निरन्तर उज्ज्वल कर रही है, फिर भी न जाने उसे वह क्यों कृष्ण–भाव से व्याप्त कर रही है ? कृष्ण–भाव का अर्थ यहाँ काला–वर्ण लेने से विरोधाभास अलंकार भी व्यक्त होता है, उज्ज्वल करते हुए भी कृष्णता–कालिमा कैसी ? अतः कृष्ण–भाव से कृष्ण–कीर्ति ही अभिप्रेत है।।१५६।।

ललितमाधव नाटक में कहा गया है, हे दामोदर कृष्ण ! श्रीनारद जब आपकी उज्ज्वल कीर्ति का गान वीणा पर करते हैं, तब उज्ज्वलता के कारण श्रीशिव का कण्ठ नीला नहीं दीखता, अतः भयवश (परपुरुष की शंका से) पार्वती शिवजी का त्याग कर देती हैं। श्रीबलराम अपने नीलाम्बर को सफेद देखकर फेंक देते हैं और गोपीजन यमुना जल को दूध जानकर उत्कण्ठा–पूर्वक उसे समेटने लगती हैं। (यहाँ भ्रान्तिमान अलंकार द्वारा अति उज्ज्वल कृष्ण–कीर्ति का वर्णन किया गया है)।।१६०।।

रक्तलोकः (४४)–

८४–पात्रं लोकानुरागाणां रक्तलोकं विदुर्बुधाः।।१६१।।

यथा प्रथमे (१।११।६)–

७८–यर्ह्यम्बुजाक्षापससार भो भवान्
कुरून् मधून् वाथ सुहृद्दिदृक्षया
तत्राब्दकोटिप्रतिमः क्षणो भवे–
द्रविं विनाक्ष्णोरिव नस्तवाच्युत।।१६२।।

यथा वा, ७६–आशीस्तथ्या जय जय जयेत्याविरास्ते मुनीनां–
देवश्रेणीस्तुतिकलकलो मेदुरः प्रादुरस्ति।

हर्षोद्घोषः स्फुरति परितो नागरीणां गरीयान्
के वा रंगस्थलभुवि हरौ भेजिरे नानुरागम्।।१६३।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*न केवलं क्षण एव तादृशो भवेत्, किन्तु रवि विना यथाक्ष्णोर्मोहो भवेत् तथैव त्वदीयानां नोऽस्माकं भवेदित्यर्थः।।१६२।।*

आशीरिति। रंगस्थः कश्चिद्वर्तमानप्रयोगं मुहुरभ्यस्य किं बहुनेत्याह—के वेति। अत्र च सुखमोहानन्तरं परोक्षभूतत्वेन प्रयुङ्क्तेऽभेजिर इति, नानुरागं भजन्तीति पाठस्तु सुगमः।।१६३।।

● *अनुवाद*—समस्त लोगों के अनुराग या प्रेम के पात्र को विद्वान् *'रक्तलोक'* कहते हैं।।१६१।।

श्रीमद्भागवत (१।११।६) में द्वारकावासियों ने कहा हे कमलनयन कृष्ण! जब आप मित्रों से मिलने के लिए हस्तिनापुर या ब्रज प्रदेश में चले जाते हैं, तब जैसे सूर्य के बिना आँखों को एक क्षण भी कल्प के समान भारी हो जाता है, वैसे आपके बिना हमारे लिए एक—एक क्षण कोटि वर्षों के समान हो जाता है।।१६२।।

और भी कहा गया है—श्रीकृष्ण के रंगभूमि में आने पर मुनियों द्वारा "जय हो, आप विजयी हों"—इस प्रकार का सत्य आशीर्वाद उद्घोषित होने लगा। देवताओं का प्रचण्ड स्तुति कोलाहल होने लगा और चारों ओर से नगरवासियों की प्रबल हर्षध्वनि प्रकाशित हो उठी। इस प्रकार श्रीकृष्ण के प्रति किसने अनुराग प्रदर्शित नहीं किया ? अर्थात् सबने श्रीकृष्ण के प्रति अनुराग प्रकाशित किया।।१६३।।

साधुसमाश्रयः (४५)—

८५—सदेकपक्षपाती यः स स्यात्साधुसमाश्रयः।।१६४।।

यथा—

८०—पुरुषोत्तम! चेदवातरिष्यद्भुवनेऽस्मिन्न भवान् भुवः शिवाय।
विकटासुरमण्डलान्न जाने सुजनानां बत का दशाभविष्यत्।।१६५।।

● *अनुवाद*—जो केवल सज्जनों का पक्षपात करने वाला है, उसे *'साधुसमाश्रय'* कहा जाता है।।१६४।।

हे पुरुषोत्तम कृष्ण! यदि आप जगत् के कल्याण के लिए अवतीर्ण न होते तो हाय, भयंकर असुरों के द्वारा सज्जनों की न जाने क्या दशा होती?।।१६५।।

नारीगणमनोहारी (४६)—

८६—नारीगणमनोहारी सुन्दरीवृन्दमोहनः।।१६६।।

यथा श्रीदशमे (१०।६०।२६)—

८१—श्रुतमात्रोऽपि यः स्त्रीणां प्रसह्याकर्षते मनः।
उरुगायोरुगीतो वा पश्यन्तीनां कुतः पुनः।।१६७।।

यथा वा, ८२— त्वं चुम्बकोऽसि माधव! लोहमयी नूनमंगनाजातिः।

धावति ततस्ततोऽसौ यतो यतः क्रीडया भ्रमसि।।१६८।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*नारीगणमनोहारीति। यथा शीलार्थे णिनिस्तथैव सुन्दरीत्यादौ ल्युट् प्रयुक्तः, ततः स्वभावेनैव तादृशत्वात् सुरम्यांगत्वादिभ्योधिक एवायं गुणः, यथोक्तं श्रीव्रजदेवीभिः (भा० १०।२१।१२) ''कृष्णं निरीक्ष्य वनितोत्सवरूपशीलमिति'', गणवृन्दशब्दाभ्यामत्र तासां समूहविशेष उच्यते; तेन तद्भावायोग्यासु नातिव्याप्तिः।।१६६।। अतएव स्त्रीणां स्त्री श्रीविशेषाणां श्रुतमात्रोऽपि यो मनः प्रसह्याकर्षति स एव उरुगायैर्भक्तविशेषैररुधा गीतः सन् तासां प्रसह्याकर्षतीति कुतः पुनरिति किं पुनर्वक्तव्यं स एव च पश्यन्तीनां तासां मनः प्रसह्याकर्षतीति किन्तरां वक्तव्यमित्यर्थः।।१६७।। तादृशशीलत्वमेव दृष्टान्तस्तेनः स्पष्टयन्नाह–यथा वेति। अंगना–जाति– स्तद्विशेषः।।१६८।।*

● *अनुवाद*–जो सुन्दरियों के समूह को मोहन करने वाला है, उसे *'नारीगणमनोहारी'* कहते हैं।।१६६।।

श्रीमद्भागवत (१०।६०।२६) में श्रीकृष्ण के इस गुण का इस प्रकार वर्णन है–उत्तम भक्तों द्वारा अनेकविध गान की हुई जिनकी कीर्ति को सुनकर ही सुन्दरियों का चित्त वरवश हरण हो जाता है, उन श्रीकृष्ण के साक्षात् दर्शन जो रमणीगण प्राप्त करती हैं, उनके विषय में तो कहना ही क्या है?।।१६७।।

और भी कहा गया है कि हे कृष्ण! आप चुम्बक हो और नारीगण निश्चय ही लौह सदृश हैं। अतः आप क्रीड़ा करते हुए जिधर–जिधर जाते हैं, उधर–उधर ही वे आपके पीछे दौड़ती चली आती हैं।।१६६।।

सर्वाराध्यः (४७)–

८७–सर्वेषामग्रपूज्यो यः स सर्वाराध्य उच्यते।।१६६।।

यथा प्रथमे (१।६।४१)–

८३–मुनिवरनृपवर्यसंकुलेऽन्तःसदसि युधिष्ठिरराजसूय एषाम्।
अर्हणमुपपेद ईक्षणीयो मम दृशिगोचर एष आविरात्मा।।१७०।।

● *अनुवाद*–जो व्यक्ति सबके लिए सबसे पहले पूजनीय होता है, उसे *'सर्वाराध्य'* कहा जाता है।।१६६।।

श्रीमद्भागवत (१।६।४१) में श्रीकृष्ण की सर्वाराध्यता का कथन इस प्रकार है–श्रीभीष्मजी ने कहा, श्रीयुधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के समय मुनियों एवं बड़े–बड़े राजाओं से भरी सभा में सबसे पहले सबकी तरफ से, सबके दर्शनीय इन्हीं श्रीकृष्ण की मेरी आँखों के सामने पूजा हुई थी। वे ही सबके आत्मा एवं प्रभु मेरी मृत्यु के समय आज सामने खड़े हैं।।१७०।।

समृद्धिमान् (४८)–

८८–महासंपत्तियुक्तो यो भवेदेष समृद्धिमान्।।१७१।।

यथा–८४–षट्पञ्चाशद्यदुकुलभुवां कोटयस्त्वां भजन्ते।
वर्षन्त्यष्टौ किमपि निधयश्चार्थजातं तवामी।
शुद्धान्तश्च स्फुरति नवभिर्लक्षितः सौधलक्षै–
लक्ष्मीं पश्यन् मुरदमन! ते नात्र चित्रीयते कः।।१७२।।

यथा वा कृष्णकर्णामृते—

८५—चिन्तामणिश्चरणभूषणमंगनाना
श्रृंगारपुष्पतरवस्तरवः सुराणाम्
वृन्दावने व्रजधनं ननु कामधेनुवृन्दानि—
चेति सुखसिन्धुरहो विभूतिः।।१७३।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*षट्पञ्चाशदिति। अत्र कोटय इति बहुत्वं तत्तदवान्तरभेदविवक्षया। तदिदं प्रकटलीलोदाहरणम्, उक्तोदाहरणं त्वप्रकटलीलागतमपि (भा० १०/५/१८) "तत आरभ्य नन्दस्य व्रजः सर्वे" त्यास्तदिच्छया प्रकटमपि भवेदिति ज्ञेयम्।।१७२।।*

● *अनुवाद*—जो महान् वैभव से युक्त हो, उसे *'समृद्धिमान्'* कहते हैं।।१७१।।

श्रीकृष्ण के समृद्धिमान् गुण का उदाहरण—हे मुरविनाशी कृष्ण ! छप्पन करोड़ यदुवंशी आपके आश्रित रहते हैं और आठों निधियाँ निरन्तर आपके यहाँ धनराशि का वर्षण कर रही हैं तथा नौ लाख आपके महल सुशोभित हो रहे हैं, अतः आपके वैभव को देखकर कौन है जो विस्मित नहीं होता ?।।१७२।।

श्रीकृष्णकर्णामृत में कहा गया है—श्रीवृन्दावन में चिन्तामणियां ही व्रजांगनाओं के चरण—भूषण (पायल) हैं, कल्पवृक्ष के फूलों का ही वे श्रृंगार करती हैं, कामधेनुगण ही श्रीवृन्दावन में गोधन है; सुखसागर श्रीकृष्ण का कैसा विस्मयकारी वैभव है ?।।१७३।।

वरीयान् (४९)—

८६—सर्वेषामाभिमुख्यो यः स वरीयानितीर्यते।।१७४।।

यथा—८६—ब्रह्मन्नत्र पुरद्विषा सह पुरः पीठे निषीद क्षण
तूष्णीं तिष्ठ सुरेन्द्र ! चाटुभिरलं वारीश ! दूरीभव
एते द्वारि मुहुः कथं सुरगणाः कुर्वन्ति कोलाहलं—
हन्त द्वारवतीपतेरवसरो नाद्यपि निष्पद्यते।।१७५।।

● *अनुवाद*—जिसको मिलने के लिए सब उत्सुक रहते हैं, उसे *'वरीयान्'* कहा गया है।।१७४।।

उदाहरण-श्रीकृष्ण के द्वारपाल ने ब्रह्मादिक (जो श्रीकृष्ण को मिलने के लिए उनके पास आये थे) को कहा, हे ब्रह्माजी ! आप श्रीशिवजी के साथ थोड़ी देर सामने चौकी पर बैठिये। हे देवेन्द्र ! आप चुपचाप बैठ जाओ (अभी आपसे मिलने का प्रभु को समय नहीं है), हे बृहस्पति ! आप तो यहाँ से दूर चले जाओ, यहाँ हल्ला—गुल्ला करना व्यर्थ है। देवतागण ! आप दरवाजे पर क्यों शोर मचा रहे हो, अभी श्रीद्वारकानाथ को आपसे मिलने की फुरसत नहीं है।।१७५।।

ईश्वरः (५०)—

९०—द्विधेश्वरः स्वतन्त्रश्च दुर्लङ्घ्याज्ञश्च कीर्त्यते।।१७६।।

तत्र स्वतन्त्रो, यथा–

८७–कृष्णः प्रसादमकरोदपराध्यतेऽपि
पादांकमेव किल कालियपन्नगाय।
न ब्रह्मणे दृशमपि स्तुवतेऽप्यपूर्वं–
स्थाने स्वतन्त्रचरितो निगमैर्नुतोऽयम्।।१७७।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*कृष्ण इति। तस्मात् स्थाने युक्तमेवायं स्वतन्त्रचरिततया निगमैर्नुत इत्यर्थः।।१७७।।*

● *अनुवाद*–जो (१) स्वतन्त्र हो तथा (२) जिसकी आज्ञा का उल्लंघन न किया जा सके, उसे *"ईश्वर"* कहा जाता है।।१७६।।

श्रीकृष्ण की स्वतन्त्रता का उदाहरण; श्रीकृष्ण ने अपराध करने पर भी कालियनाग को अपना चरण–चिह्न प्रसादरूप में प्रदान कर दिया, किन्तु नवीन–नवीन स्तुतियों के करने वाले ब्रह्माजी की ओर आँख उठाकर भी (ब्रह्ममोहन–लीला में) नहीं देखा। अतः शास्त्र ने श्रीकृष्ण को जो स्वतन्त्र–चरित्र कहा है, ठीक ही है।।१७७।।

दुर्लङ्घ्याज्ञो, यथा तृतीय (३।२।२१)–

८८–स्वयं त्वसाम्यातिशयस्त्र्यधीशः
स्वाराज्यलक्ष्म्याप्तसमस्तकामः।
बलिं हरिद्भिश्चिरलोकपालैः।
किरीटकोट्येडितपादपीठः।।१७८।।

यथा वा–८६–नव्ये ब्रह्माण्डवृन्दे सृजति विधिगणः सृष्टये यः कृताज्ञो
रुद्रौघः कालजीर्णे क्षयमवतनुते यः क्षयायानुशिष्टः।
रक्षां विष्णुस्वरूपा विदधति तरुणे रक्षिणो ये त्वदंशाः
कंसारे! सन्ति सर्वे दिशि दिशि भवतःशासनेऽजाण्डनाथाः।।१७६।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*त्रयाणां ब्रह्मादीनां महत्स्रष्ट्रादीनां वाधीशः, स्वराज्यं स्वेनैव राजमानत्वं तेन या लक्ष्मीस्तयेडितत्वं वन्दितत्वम्।।१७८।। कृताज्ञ इति। अंगीकृताज्ञ इत्यर्थः, तस्मिन्नेव ब्रह्माण्डवृन्दे कालजीर्णे सति। तस्मिन्नेव च तरुणे सति; तारुण्यस्य पश्चान्निर्देशः सांप्रतं वृत्तविज्ञापनायामस्यावधानं स्थिरीभवत्वित्यपेक्षया,सन्तीति सर्गादिसमये पालनाद्यंशस्य सद्भावान्तरशासने सर्वदा ते सन्त्येव किन्तु नव्येत्यादिविशेषणत्रयं तु प्राचुर्येणैवोक्तमिति भावः।।१७६।।*

● *अनुवाद*–श्रीकृष्ण के ईश्वरत्व के और भी दो उदाहरण उल्लेख करते हैं। श्रीकृष्ण के समान कोई नहीं और उनसे अधिक भी कोई नहीं, स्वराज्य लक्ष्मी के द्वारा उनकी समस्त मनोकामनायें परिपूर्ण हैं, लोकपाल अपने–आप उपहार लाकर उनकी चरण–पीठ को अपने मुकुटों के अग्रभाग से वन्दना करते हैं।।१७८।।

नवीन ब्रह्माण्डों की सृष्टि–रचना की ब्रह्मागणों को जो आज्ञा प्रदान करते हैं, कालवश सृष्टि के जीर्ण हो जाने पर जो रुद्रगण को सृष्टि के नाश करने की आज्ञा देते हैं, और सृष्टि की तरुणावस्था में जिनके अंशरूप विष्णु

इस सृष्टि की रक्षा करते हैं, हे कंसारि कृष्ण ! इस प्रकार प्रत्येक दिशा में सारे ब्रह्माण्डों के जो नित्य स्वामी हैं, वे भी सब आपकी ही आज्ञा के अधीन हैं।।१७६।।

अथ सदास्वरूपसंप्राप्तः (५१)–

६१–सदास्वरूपसंप्राप्तो मायाकार्यावशीकृतः।।१८०।।

यथा प्रथमे (१।११।३६)–

६०–एतदीशनमीशस्य प्रकृतिस्थोऽपि तद्गुणैः।
न युज्यतेसदात्मस्थैर्यथा बुद्धिस्तदाश्रया।।१८१।।

द दुर्गमसंगमनी टीका–*ईशस्य सर्ववशीकारिणः श्रीभगवत एतदीशनं, किं तत्राह मायातत्कार्याभ्यामवशीकृतत्वमित्यर्थः, यदसावन्तर्यामितया अवतीर्णतया वा प्रकृतौ स्थितोऽपि तस्या गुणैः सत्त्वादिभिस्तत्कार्यैश्च न युज्यते न लिप्यते; तत्र हेतुः–असन्तो ये आत्मानो जीवास्तेष्वेव स्थितैराधिकारिभिः, तत्र दृष्टान्तो–यथेति। स एवाश्रयो यस्याः सा भक्तानां बुद्धिर्यथा न लिप्यते तद्वत्, तस्मात् सदा स्वरूपसंप्राप्तत्वं स्वरूपशक्तिविलासलक्षणरूपगुणाद्यव्यभिचारित्वं मायाकार्यावशी–कृतत्वमित्येव यावत, तदुक्तं श्रुतिभिः (भा० १०।८७।३८) ''स यदजया त्वजामित्यादिना''।।१८१।।*

● *अनुवाद*–जो माया के कार्य के वशीभूत नहीं होता, वह *'सदास्वरूपसम्प्राप्त'* कहलाता है।।१८०।।

श्रीमद्भागवत (१।११।३६) में वर्णन है, परमात्मा श्रीकृष्ण का यह ईश्वरत्व है कि माया में–प्राकृत जगत् में अवतीर्ण होकर भी वे माया के सत्त्वरजतमादि गुणों से कभी लिप्त नहीं होते। जैसे भगवान् की शरण में रहने वाले भक्तों की बुद्धि अपने में रहने वाले प्राकृत गुणों में लिप्त नहीं होती।।१८१।।

सर्वज्ञः (५२)–

६२–परिचित्तस्थितं देशकालाद्यन्तरितं तथा।
यो जानाति समस्तार्थं स सर्वज्ञो निगद्यते।।१८२।।

यथा प्रथमे (१।१५।११)–

६१–यो नो जुगोप वनमेत्व दुरन्तकृच्छ्राद्
दुर्वाससोऽरिविहतादयुताग्रभुग्यः।
शाकान्नंशिष्टमुपभुज्य यतस्त्रिलोकीं
तृप्साममंस्त सलिले विनिमग्नसङ्घः।।१८३।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*'यो नो जुगो पेति'' श्रीमदर्जुनवाक्यं। यः श्रीकृष्णोऽस्माकं कृच्छ्रं सर्वज्ञत्वादेव ज्ञात्वा वनमेत्याअस्मान् पाडण्वान् जुगोप। कस्माद् दुर्वाससो हेतोर्यद् दुरन्तकृच्छ्रं शापमयं तस्माद्, दुर्वाससः कीदृशात् अरिरचिताद् दुर्योधनप्रेरितादित्यर्थः, कीदृशो दुर्वासाः यः अयुतसंख्यानामग्रभुक् तैः सह श्रीयुधिष्ठिरेण निमन्त्रितस्तेन च कामधुक् स्थाल्यन्नसमापकभोजनया द्रौपद्या भुक्तं न ज्ञातमिति ज्ञेयं, ततः कुत्रासौ गतः ? तत्राह सलिले विनिमग्नः स्वसहितः संघो यस्य सः, तत्रावश्यककृत्यार्थं* *स्थितः, ततः किं कृत्वा जुगोप ? तत्राह*

स्थालीलग्नं शाकान्नं शिष्टमुपयुज्येति भवतु तस्य तदुपयोजनं ततः किं ? तत्राह यतस्तदुपयोगाद्धेतोस्त्रिलोकीमपि तृप्साममंस्त दुर्वासाः किं पुनः स्वानित्यर्थः।।१८३।।

● *अनुवाद*–दूसरे के चित्त की बात, तथा देश कालादि को अर्थात् अतीत और अनागत की सब बात या वस्तुओं को जो जानता है, वह *'सर्वज्ञ'* कहलाता है।।१८२।।

श्रीमद्भगावत (१।१५।११) में महाभारत वर्णित कथा का संकेत देते हुए श्रीकृष्ण की सर्वज्ञता का श्रीअर्जुन ने इस प्रकार निरूपण किया है–"वनवास के समय हमारे शत्रु दुर्योधन के षड्यन्त्र से दस हजार शिष्यों को साथ लेकर भोजन करने वाले महर्षि दुर्वासा ने हमें कठिन दुस्तर संकट में डाल दिया था। उस समय श्रीकृष्ण ने द्रौपदी के पात्र में लगी हुए शाक की पत्ती को ही खाकर हमारी रक्षा की। उनके ऐसे करते ही नदी में स्नान करती हुई मुनिमण्डली ने तो क्या सारी त्रिलोकी ने ही अपने को तृप्त हुआ माना।।१८३।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–तात्पर्य यह है श्रीकृष्ण ने दुर्योधन के मन की कुटिलता जान ली और दुर्वासा के शाप को भी जान लिया। द्रौपदी के भोजन कर चुकने को जान लिया एवं थाली में लगे पत्ते को भी उन्होंने जान लिया–ऐसे सर्वज्ञ हैं श्रीकृष्ण।।१८३।।

नित्यनूतनः (५३)–

६३–सदाऽनुभूयमानोऽपि करोत्यननुभूतवत्।
विस्मयं माधुरीभिर्यः स प्रोक्तो नित्यनूतनः।।१८४।।

यथा प्रथमे (१।११।३३)

६२–यद्यप्यसौ पार्श्वगतो रहोगतस्तथाऽपि तस्याङ्घ्रियुगं नवं नवम्।
पदे पदे का विरमेत तत्पदाच्चलापि यं श्रीर्न जहाति कर्हिचित्।।१८५।।

यथा वा ललितमाधवे–

६३–कुलवरतनुधर्मग्राववृन्दानि भिन्दन्
सुमुखि! निशितदीर्घापांगटकंच्छटाभिः।
युगपदयमपूर्वः कः पुरो विश्वकर्मा
मरकतमणिलक्षैर्गोष्ठकक्षां चिनोति।।१८६।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**– *चलापीति। पूर्णस्वरूपतदाभासयोरभेदाभिप्रायेणोक्तं; तच्च या खल्वन्यत्र स्वाभासमात्रेणापि स्थिरा न भवति। सैव स्वस्वरूपेण तत्र परमस्थिरेति तन्माहात्म्यविशेषदर्शनाय।।१८५।। मुहुः श्रीकृष्णमनुभूतवत्याः श्रीवृन्दावनेश्वर्याः कुलवरेति वाक्यमिदं, ततस्तत्रप्रकरणबलान्नवनवत्वं गम्यते तोत्राप्युदाहरणं अकृतं, छटाऽत्र सूक्ष्माग्रभागः "सटाच्छटाभिन्नघनेति" माध कात्यात् (१।४७) कक्षा प्रकोष्टं कक्षा प्रकोष्टमिति" नानार्थवर्गाद्। मरकत मणिलक्षैरिति तत्तुल्यतदंशूनां तत्तया मननात्। किंत्वत्रापूर्वत्वं तत्तद्दुष्करकर्मणो युगपन्निर्माणेन तथा तादृग्ग्राववृन्दानि भिनत्ति मरकतमणिलक्षैस्तु गोष्ठकक्षां चिनोतीत्यप्रयोजन– तद्भेदनेन ज्ञेयम।।१८६।।*

● *अनुवाद*–सदा अनुभूत होने पर भी जो अपने सौन्दर्य के कारण अननुभूत के समान आश्चर्य उत्पन्न करता है, उसे *'नित्य–नूतन'* कहते हैं।।१८४।।

श्रीमद्भागवत (१।११।३३) में कथित है– यद्यपि उन्हें श्रीकृष्ण एकान्त में सर्वदा ही व्रजसुन्दरियों के पास रहते हैं, तथापि उन्हें श्रीकृष्ण के चरणकमल हर क्षण नित्य–नवीन अनुभूत होते हैं। जब स्वभाव से ही चंचल लक्ष्मी उन्हें एक क्षण के लिए भी कभी नहीं छोड़ती, फिर उनके पास रहकर और किस रमणी गोपी की तृप्ति हो सकती है?।।१८५।।

श्रीललितमाधव नाटक में भी कहा गया है, हे सुमुखि ! यह सामने अपूर्व विश्वकर्मा कौन है? यह तो अपने विशाल नेत्ररूप तीक्ष्ण कटाक्षों के प्रहार से कुलवती सुन्दरियों के समस्त धर्मरूप पत्थरों को तोड़ते हुए इस समय लाख–लाख मरकत मणियों के द्वारा गोष्ठ के प्रकोष्ठ को खचित कर रहा है ?।।१८६।।

सच्चिदानन्दसान्द्रांगः (५४)–

६४–सच्चिदानन्दसान्द्रांगः।।१८७।।

यथा ६४–क्लेशे क्रमात्पञ्चविधे क्षयं गते यद्–
ब्रह्मसौख्यं स्वयमस्फुरत् परम्
तद् व्यर्थयन् कः पुरतो नराकृतिः
श्यामोऽयमामोदभरः प्रकाशते।।१८८।।

यथा वा –ब्रह्मसंहितायामादिपुरुषरहस्ये (५।५१।)–
६५–यस्य प्रभा प्रभवतो जगदण्डकोटि–
कोटिष्वशेषवसुधादिविभूतिभिन्नम्
तद् ब्रह्म निष्कलमनन्तमशेषभूतं।
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।।१८९।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*सदिति। सर्वकालदेशव्यापकत्वाद् (भा० १०।३।२६) "योऽयं कालस्तस्य तेव्यक्तबन्धोश्चेष्टामाहुरित्याद्युक्तं" (भा० १०।९।१३) "न चान्तर्न बहिर्यस्येत्यादि च। चिदिति। स्वप्रकाशत्वेनाजड़त्वाद्, यदुक्तं (भा० १०।१३।४६) "पश्यतोऽजस्य तत्क्षणाश्यन्ते" इति। अत्र ह्यजस्यद् कर्तृत्वादि निर्देशाणाद्व्यूहश्यन्तेति कर्मकर्तृ प्रयोगः, "न चक्षुषी पश्यति रूपमस्य" यमेष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वामिति श्रुतेः। आनन्देति निरूपाधिप्रेमास्पद– सर्वांशत्वात्, तदुक्तं (भा० १०।१३।३६) "किमेतदद्भुतमिव वासुदेवेऽखिलात्मनीत्यादि", "आनन्दं ब्रह्मणो रूपमिति" श्रुतेः। सान्द्रेति तदितरास्पृष्टरूपत्वात्। तदुक्तं (गी०९।४–५)–*

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्त्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरमिति।।

चिदानन्दघनाकृतिरिति च, तत्समानार्थसच्छब्दप्रयोगश्चात्र तत्तद्रूपत्वेनोपलक्षितत्वान्न कृतः।१८७। क्लेश इति। "अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पंच क्लेशाः"

(इति पातञ्जलदर्शने साधनपादे तृतीयसूत्रम्) व्यर्थयन्नावृण्वन्नित्यर्थः।।१८८।। यस्य प्रभेति, पूर्वं (१।२। २७८) योजितमस्ति, ततश्च प्रभात्वे योजिते विभूतित्वमपि योजितं स्यात्; तथा च श्रुतिः–''यस्य पृथिवी शरीरं यस्यात्मा शरीरं यस्याव्यक्तं शरीरं यस्याक्षरं शरीरं सर्वभूतान्तरात्मा दिव्यो देव एको नारायण'' इत्याद्या। ''यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तम'' इति (गी० १५।१८) श्रीभगवदुपनिषदश्च, तथा चैकादशे (१६।३७) श्रीभगवता विभूतिप्रसंग एवोक्तं–

पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतिरहं महान्।
विकारः पुरुषोव्यक्तं रजः सत्त्वं तमः परम्।।इति

टीका च–परं ब्रह्म चेत्येषा।।१८६।।

● *अनुवाद*–सर्वदेश में, सर्वकाल में स्वप्रकाश चिन्मय आनन्दघनमूर्ति होने से श्रीकृष्ण *''सच्चिदानन्दसान्द्रांग''* कहलाते हैं।।१८७।।

उदाहरण, अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश रूप पंचविध क्लेशों के क्रमशः क्षय होने पर जो ब्रह्मसुख अपने–आप प्रकाशित होता है, उसे भी व्यर्थ या पराभूत करते हुए सामने यह श्यामवर्ण नराकृति आनन्दराशि रूप कौन प्रकाशित हो रहा है? अर्थात् ये सच्चिदानन्द–सान्द्रांग श्रीकृष्ण ही हैं।।१८८।।

ब्रह्मसंहिता में आदिपुरुष के रहस्य में भी श्रीकृष्ण के इस स्वरूप का वर्णन किया गया है– श्रीब्रह्माजी ने कहा, अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों में अनन्त पृथिवी आदिक विभूतियों के द्वारा जो भेद या वैचित्री को प्राप्त हो रहा है, वह निष्कल (पूर्ण), अनन्त एवं अशेषभूत (सबका मूल कारण) प्रभावशाली ब्रह्म जिनकी प्रभा या अंगकान्ति है, उन आदिपुरुष श्रीगोविन्द का मैं स्मरण करता हूँ।।१८६।।

६५–अतः श्रीवैष्णवैः सर्वश्रुतिस्मृतिनिदर्शनैः।
तद् ब्रह्म श्रीभगवतो विभूतिरिति कीर्त्यते।।१६०।।

तथा हि यामुनाचार्यस्तवे–

६६–यदण्डमण्डान्तरगोचरं च यद्दशोत्तराण्यावरणानि यानि च।
गुणाः प्रधानं पुरुषः परं पदं परात्परं ब्रह्म च ते विभूतयः।।१६१।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*अत इति। यद्यप्येतैर्ब्रह्मशब्देनापि भगवानेव वाच्यते निर्विशेषं ब्रह्म तु पृथक् नांगीक्रियते; तथापि मतान्तरमंगीकृत्य तदिदं प्रोक्तमिति ज्ञेयम्।।१६०।। यदण्डमिति। अण्डस्यान्तरं मध्यभागो गोचरो विषयो यस्य तत् सर्वमित्यर्थः, दशेति– दश–दशगुणान्युत्तराण्युत्तरोत्तरप्रमाणानि येषां तानि यानि, पुरुषः समष्टिजीवः परं पदं वैकुण्ठं, ब्रह्म तु भगवत एवं क्वचिदधिकारिणि निर्विशेषत्वेनाविर्भावविशेषः।।१६१।।*

● *अनुवाद*–इसलिए सर्वश्रुति–स्मृति के निदर्शन या प्रमाण द्वारा शास्त्रवेत्ता श्रीवैष्णवगण उस ब्रह्म को श्रीभगवान् की विभूति कह कर वर्णन करते हैं। (श्रीपाद रामानुजाचार्य ने ब्रह्म शब्द से श्रीभगवान् को ही लक्ष्य किया है, पृथक् भाव से उन्होंने निर्विशेष स्वीकार ही नहीं किया है)।।१६०।।

श्रीयामुनाचार्य–स्तव में कहा गया है–हे भगवन् ! ब्रह्माण्ड तथा ब्रह्माण्ड–अन्तर्गत जो कुछ भी वर्त्तमान है, क्रमशः एक –दूसरे से दश–दश गुणाधिक महत्त्व वाले–सत्त्व, रजः तम आदि तीन गुण, उनसे दश गुणा अधिक प्रधान (प्रकृति), उससे दश गुणा अधिक पुरुष अर्थात् समष्टि जीव, परमपद (वैकुण्ठ) तथा परात्पर ब्रह्म अर्थात् निर्विषेष आविर्भाव–ये सब आपकी (श्रीकृष्ण की) विभूति हैं।१६१।।

सर्वसिद्धिनिषेवितः (५५)

६६–स्ववशाखिलसिद्धिः स्यात्सर्वसिद्धिनिषेवितः ।।१६२।।

यथा–६७–दशभिः सिद्धसखीभिर्वृता महासिद्धयः क्रमादष्टौ।
अणिमादयो लभन्ते नावसरं द्वारि कृष्णस्य।।१६३।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*दशभिः अणूर्मिमत्वादिभिः क्रमात् स्वस्वक्रमं प्राप्य सेविता इत्यर्थः, सिद्धयश्चैता एकादशस्कन्धे ज्ञेयाः १६३।*

● *अनुवाद*–समस्त सिद्धियों को जिसने अपने वश में कर लिया हो, उसे *'सर्वसिद्धि–निषेवित'* कहा जाता है।।१६२।।

श्रीकृष्ण 'सर्वसिद्धि निषेवित' हैं-इसका उदाहरण इस प्रकार है-अणूर्मिमत्वादि दश सिद्धिरूपा सखियों के साथ अणिमादि आठों महा सिद्धियाँ क्रम से श्रीकृष्ण के द्वार पर खड़ी ही रहती हैं, परन्तु सेवा का अवसर नहीं पातीं।।१६३।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–१. *अणिमा* (अणुवत् क्षुद्र हो जाना), २. *लघिमा* (अत्यन्त लघु या हलका हो जाना), ३. *महिमा* (पर्वतवत् बहुत बड़ा हो जाना), ४. *प्राप्ति* (जो इच्छा हो, उसे प्राप्त कर लेना), ५. *ईशत्व* (भूत–भौतिक सृष्टि को उत्पन्न कर सकना), ६. *वशित्व* (भूत–भौतिक सृष्टि को वशीभूत कर लेना), ७. *प्रकाम्य* (मिट्टी में भी जल की भांति डुबकी लगा लेना, अथवा असम्भव कार्यों की पूर्त्ति कर लेना) तथा ८. *प्रकाम्यकामवसायिता* (सत्य–संकल्पता प्राप्त कर लेना) ये आठ महा सिद्धियां मानी गई हैं, जो भगवदाश्रित रहती हैं।

१. क्षुत्–पिपासादि रहित होना, २. दूर की बात सुन लेना, ३. दूर की वस्तु देख सकना, ४. मन के समान वेग प्राप्त करना, ५. इच्छानुसार रूप धारण कर लेना, ६. दूसरे की काया में प्रवेश कर जाना, ७. इच्छानुसार मृत्यु प्राप्त करना, ८. देवताओं के समान क्रीड़ा प्राप्त कर लेना, ९. अपने संकल्पानुरूप सिद्धि प्राप्त करना तथा १०. न टाली जा सकने वाला आज्ञा की सामर्थ्य प्राप्त कर लेना; ये दश सिद्धियाँ उपयुक्त आठ महा सिद्धियों की सखियाँ हैं। इस प्रकार अठारह सिद्धियाँ भगवान् श्रीकृष्ण के द्वार पर खड़ी–खड़ी सेवा के अवसर प्राप्त करने की प्रतीक्षा करती रहती हैं।।१६२–१६३।।

अथ अविचिन्त्यमहाशक्तिः (५६)–

६७–दिव्यस्वर्गादिकर्तृत्वं ब्रह्मरुद्रादिमोहनम्।
भक्तप्रारब्धविध्वंस इत्याद्यचिन्त्यशक्तिता।।१६४।।

तत्र दिव्यस्वर्गादिकर्त्तृत्वं, यथा–

६८–आसीच्छायाद्वितीयः प्रथममथ विभुर्वत्सडिम्भानशेषान्
स्वांशांशेनाशु कृत्वा परमपुरुषतायोग्यरूपानमूंश्च।
भूयः क्लृप्तैः सतत्त्वैः सगणविधिगणैरप्यजाण्डैरखण्डैः
प्रत्येकं सेव्यमानानकृत लधुतरं यः प्रपद्ये तमीशम्।।१६५।।

ब्रह्मरुद्रादिमोहनं यथा–

६९–मोहितः शिशुहृतौ पितामहो हन्त शम्भुरपि जृम्भितो रणे।
येन कंसरिपुणाऽद्य तत्पुरः के महेन्द्र ! विबुधा भवद्विधाः।।१६६।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*दिव्येत्युत्तरोत्तरन्यूनक्रमः, ब्रह्मरुद्रादीत्यादि शब्द ग्रहणात् संकर्षणोऽपि ज्ञेयः, उत्तरोत्तरज्ञानप्रकर्षक्रमाद्, यथा तद्वाक्यं (भा० १०।१३।३७)–"प्रायो माया तु मे भर्त्तुर्नान्या मेऽपि विमोहिनीति" दिव्यत्वमत्र ब्रह्माण्डान्तर्यामिपर्यन्तत्वं ज्ञेयं, विध्वंस इति विध्वंसनमित्यर्थः।।१६४। आसीच्छायाद्वितीय इत्यनेन नर लीलामयत्वात् स्वयं भगवत्त्वव्यञ्जकात् तात्कालिकात्वाच्च, पूर्वप्रतिज्ञातमद्भुतत्वमुदाहृतम्, एवमुत्तरत्रापि, वत्सडिउम्भा–दिदेहानंशेनेत्येव पाठः। तदेतच्च (भा० १०।१४।१८) "अद्यैव त्वदृतेऽस्य किं मम न त" इत्याद्यनुसारेणाधिगम्यम्। प्रकारान्तरमेतत् पद्यं त्यक्तम्।।१६५।। मोहित इति, बाणयुद्धानन्तरं, कदाचित् पारिजातप्रत्यानयनाय कृतप्रौढ़िप्रलापमिन्द्रं प्रति श्रीनारदस्य हास्यवचनम्, अद्येति तस्य पूर्वपराजयोऽपि सूचितः।।१६६।।*

● *अनुवाद*–दिव्य स्वर्गादि अर्थात् अप्राकृत ब्राह्माण्डों के अन्तर्यामी पर्यन्त सृष्टि करने की सामर्थ्य, ब्रह्म–रुद्र तथा संकर्षणादि को मोहन करने की शक्ति तथा भक्तों के प्रारब्ध कर्मों को विध्वंस करने की सामर्थ्य जिसमें रहती है, उसे *'अविचिन्त्यमहाशक्ति'* कहते हैं।।१६४।।

दिव्य स्वर्गादि कर्तृत्व का गुण श्रीकृष्ण में इस प्रकार वर्णन किया गया है; ब्रह्म–मोहन लीला में श्रीकृष्ण पहले अकेले थे, फिर विभु श्रीकृष्ण ने अपने अंशांशों से बछड़े तथा गोपबालकों के देह की रचना की। फिर उनके शरीर में परमपुरुषता योग्य चतुर्भुज मूर्ति प्रकट की। उसके बाद अनेक ब्रह्माओं द्वारा स्तुत्य होकर विश्वात्मा भगवान् श्रीकृष्ण उन समस्त ब्रह्माण्डों द्वारा सेव्य रूप में प्रकाशित हुए, मैं उन ईश्वर श्रीकृष्ण की शरण ग्रहण करता हूँ।।१६५।।

श्रीकृष्ण ब्रह्म–रुद्रादिक को भी मोहित करने वाले हैं; इसका उदाहरण इस प्रकार है–हे महेन्द्र ! जिन कंसारि श्रीकृष्ण ने बछड़ों के हरण करने पर श्रीब्रह्माजी को मोहित कर दिया था, और युद्ध में श्रीशिवजी को जम्भाई लिवा दी, उनमें आलस्य उत्पन्न कर दिया, उनके सामने आप जैसे देवताओं की क्या चले?।।१६६।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–जिस समय ब्रह्माजी गोवत्स तथा गोपबालकों को चुराकर ले गये तो श्रीकृष्ण वन में अकेले ही रह गये थे। वे जान गये यह सब ब्रह्मा की करतूत है। झट उन्होंने समस्त गो–वत्स एवं गोपबालकों की पूर्ववत् सृष्टि की। उनके वेष–भूषा, स्वभाव तक स्वयं बने एवं अपने अंशांश

अन्तर्यामी रूप से उनमें विराजमान हो गये। ब्रह्माजी का गर्व दूर हुआ और क्षमा याचना करते हुए श्रीकृष्ण की अनेक स्तुति करने लगे। उन्होंने देखा प्रत्येक गोपबालक चतुर्भुज मूर्ति है। अनन्त ब्रह्मा वहां उपस्थित होकर भगवान् श्रीकृष्ण की स्तुति–नति करने लगे (श्रीभागवत् १० ।१४ अध्याय द्रष्टव्य है)–इससे श्रीकृष्ण में अनन्त ब्रह्माण्ड, उनके अनन्त ब्रह्माओं तथा अनन्त गोवत्स–गोपबालकों की सृष्टि करने की सामर्थ्य का प्रमाण मिलता है।

श्रीब्रह्मा को उक्त ब्रह्म–मोहन लीला में श्रीकृष्ण ने मोहित किया; उसी लीला में श्रीसंकर्षण–श्रीबलरामजी को भी मुग्धकर दिया। वे भी वर्ष भर तक यह न जान सके कि श्रीकृष्ण स्वयं गोवत्स बनकर घास–तृण चबा रहा है और समस्त गोपबालक वे ही बन रहे हैं। इसी प्रकार भगवान् ने श्रीशिवजी को भी मोहित कर दिया था। बाणासुर की कन्या उषा के पास जब उसकी सखी चित्रलेखा अपने योग द्वारा श्रीकृष्ण के पौत्र श्रीअनिरुद्ध को महलों में सोता–सोता उड़ा ले गई' तब बाणासुर के शोणितपुर पर श्रीकृष्ण ने चढ़ाई की। बाणुसर के इष्ट थे श्रीशिवजी, उन्हें उसने अति सन्तुष्ट कर रखा था। वे भी बाणासुर की ओर से श्रीकृष्ण के विरुद्ध युद्ध में आये। श्रीकृष्ण ने श्रीशिवजी के तिजारी–ज्वर रूप बाण के प्रत्युत्तर में वैष्णव–ज्वर रूप बाण छोड़ा, जिसके तेज से श्रीशिवजी का ज्वर प्रशान्त हो गया और श्रीशिव जी जम्भाई पर जम्भाई लेने से पराभूत हो गये। अन्त में उन्होंने श्रीभगवान् की बहुत स्तुति की। (श्रीभागवत १० ।६३ अध्याय में विस्तरशः लीला का वर्णन द्रष्टव्य है) इस प्रकार श्रीकृष्ण श्रीरुद्र को भी मोहित करने वाले हैं। ।१६५–६६ ।।

भक्तप्रारब्धविध्वंसो, यथा दशमे (१० ।४५ ।४५)–

१००–गुरुपुत्रमिहानीतं निजकर्मनिबन्धनम् ।
आनयस्व महाराज ! मच्छासनपुरस्कृतः । ।१६७ ।।

आदिशब्देन दुर्घटघटनाऽपि (५७)–

१०१–अपि जनिपरिहीनः सूनुराभीरभर्त्तु–
र्विभुरपि भुजयुग्मोत्संगपर्याप्तमूर्तिः ।
प्रकटित बहुरूपोऽप्येकरूपः प्रभुमे
धियमयमविचिन्त्यानन्तशक्तिर्धिनोति । ।१६८ ।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*निजं तदीयं कर्म्मैव तन्निबन्धनं तन्नयने निमित्तं यस्य तं; तर्हि कथं तत्प्रारब्धकर्मातिक्रमितम्? तत्राह –मच्छासनेति। भक्तत्वमस्य पितृसम्बन्धाज्ज्ञेयम्। ।१६७ ।। दुर्घटघटना नाम स्वीयदुरूहावस्थितेः प्रकाशनम्, अपीति। श्रीशुकदेववाक्यम्–अपि जनीति। अजोऽपि "जातो जगतः शिवाये" इति, श्रीमदुद्धववचनादिभ्यः, सूनुराभीरभर्त्तुरिति (भा० १० ।८ ।१४) "प्रागयं वसुदेवस्य क्वचिज्जातस्तवात्मज" इत्यादिगर्गवाक्यात्, स्वप्रसूगर्भजन्मेति तु पाठान्तरं, विभुरपि तयैव मूर्त्या सर्वं व्याप्नुवन्नपि श्रीजनन्यादीनां भुजयुग्मोत्संगेन पर्याप्ता पूर्णत्वेन प्रकाशमाना मूर्तिर्यस्य सः (भा० १० ।६ ।१३) "न चान्तर्न बहिर्यस्येत्यादे"; प्रकटितेति (भा० १० ।६६ ।२)*

चित्रं बतैतदेकेन वपुषा युगपत् पृथक्।
गृहेषु द्व्यष्टसाहस्रं स्त्रिय एक उदावहदिति।।

श्रीनारदवाक्यात्।।१६८।।

● *अनुवाद*–अविचिन्त्यशक्ति गुणान्तर्गत श्रीकृष्ण में भक्तप्रारब्धविध्वंस के गुण का उदाहरण श्रीभागवत (१० ।४५ ।४५) में इस प्रकार वर्णित है–संयमिनी नामक यमपुरी में श्रीकृष्ण ने यमराज से कहा, महाराज ! अपने कर्मों के कारण यहाँ आये हुए मेरे गुरु–पुत्र को मेरी आज्ञा से यहाँ बुलवा दीजिए।।१६७।।

दुर्घट–घटना को घटित करने की अचिन्त्य सामर्थ्य भी श्रीकृष्ण में है। उसका उदाहरण इस प्रकार कहा गया है–जन्मरहित होने पर भी श्रीकृष्ण आभीरराज श्रीनन्द के पुत्र होकर प्रकटित होते हैं, सर्वव्यापक होकर भी वे दोनों भुजाओं के बीच गोदी में समा जाने वाली मूर्ति धारण करते हैं। अनेक स्वरूप धारण करते हैं। अनेक स्वरूप धारण करने पर भी वे सदा एक रूप (अद्वय) हैं ऐसे अविचिन्त्य शक्ति वाले भगवान् श्रीकृष्ण मेरी बुद्धि को आह्लादित करें।।१६८।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–श्रीकृष्ण में भक्तों की प्रारब्ध को नाश करने की अविचिन्त्य शक्ति है। उसका प्रमाण है उनका यमपुरी से अनेक समय पूर्व मरे हुए गुरु सान्दीपनि के पुत्र का वापिस ले आना। श्रीगुरु ने दक्षिणा रूप में अपने उस मृतक पुत्र को माँगा था। श्रीकृष्ण उसे ले आये। (विस्तरशः चरित्र श्रीभागवत (१० ।४५) अध्याय में द्रष्टव्य है) इसी प्रकार उनमें ऐसी अविचिन्त्य शक्ति है कि वे न घट सकने वाली बात को भी सम्भव कर देते हैं एवं सम्भव को भी असम्भव कर सकते हैं। उनके चरित्र ही इसका ज्वलन्त प्रमाण है।।१६८।।

कोटि ब्रह्माण्डविग्रहः (५७)–

६८–अगण्यजगदण्डाढ्यः कोटिब्रह्माण्डविग्रहः।
इति श्रीविग्रहस्यास्य विभुत्वमनुकीर्तितम्।।१६६।।

यथा तत्रैव (भा० १० ।१४ ।११)–

१०२–क्वाहं तमोमहदहंखचराग्निवार्भू–
संवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिकायः
क्वेदृग्विधाविगणिताण्डपराणुचर्या–
वाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वम्।।२००।।

यथा वा–१०३–तत्त्वैर्ब्रह्माण्डमाढ्यं सुरकुलभुवनैश्चांकितं योजनानां
पञ्चाशत्कोट्यखर्वक्षितिचितमिदं यच्च पातालपूर्णम्।
तादृग्ब्रह्माण्डलक्षायुतपरिचयभागेककक्षं विधात्रा
दृष्टं यस्यात्र वृन्दावनमपि भवतः कः स्तुतौ तस्य शक्तः।।२०१।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*अगण्यैर्जगदण्डैराढ्यो युक्त इत्यत्र क्वाहं तम इति दर्शयित्वा महापुरुषत्वेऽपि सर्वब्रह्माण्डव्यापिविग्रहत्वमुदाहृत्य श्रीकृष्णत्वे कैमुत्यमानीतं, तच्च सर्ववैकुण्ठव्यापित्वाज्ज्ञेयं, तथाऽपि तेभ्यस्तस्य पृथक्त्वमत्यद्भुतं, यदुक्तं–गीतासु (९ ।४) मया ततमित्यादि। क्वाहमिति तु व्याख्यायते:, तमः प्रकृतिः, महत् महत्तत्त्वम्,*

अहम् अहंकारः, खम् आकाशं, चरो वायुः, भूः पृथ्वी, सेयं ब्रह्माण्डखर्पररूपैवान्यत्र मन्यते, अत्र ततो भिन्नत्वेन निर्देशस्तु शिलापुत्रस्य शरीरमिति वज्ज्ञेयः, एताभिः संवेष्टितं यदण्डं घटः तस्य च समष्टिजीवरूपेणाभिमान्यहं क्व, चतुर्मुखशरीराभिमानित्वेन सप्तवितस्तिकायरूपश्च सुतरामहं क्व ? विशेषणयोः कर्मधारयः, ईदृग्विधेत्यादिरूपस्य ते तव महित्वं क्व, तत्राणवः परमावस्तेषां चर्य्या तु परमाणुपक्षे बहिरन्तर्गत्यागतिरूपा; ब्रह्माण्डपक्षे यथाकालमाविर्भावलयरूपा, वाताध्वा गवाक्षः, भगवत्पक्षे रोमविवरः इव सूक्ष्मतमैकदेशः यदुक्तं विष्णुपुराणे–"यस्यायुतायुतांशांशे विश्वशक्तिरयं स्थिते" इति।।२००।। तदेवं वृन्दावन–दृष्टान्तेन दर्शयति–यथा वेति।।२०१।।

● *अनुवाद*–अगणित ब्रह्माण्डों से युक्त (तथा सर्व वैकुण्ठ–व्यापक) होने से श्रीकृष्ण *'कोटिब्रह्माण्ड–विग्रह'* कहलाते हैं। अतः श्रीकृष्ण–विग्रह का विभुत्व निरूपण किया गया है।।१९९।।

श्रीमद्भागवत (१०।१४।११) में श्रीब्रह्मा ने कहा है, हे भगवन् ! प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी द्वारा संवेष्टित ब्रह्माण्डरूप अण्ड या घट में विचरण करने वाला साढ़े तीन हाथ के शरीर युक्त मैं ब्रह्मा कहाँ ? और आपकी महिमा कहाँ ? जिनके रोमकूप–रूप गवाक्षों में इस प्रकार के अगणित विश्वब्रह्माण्ड परमाणु की भाँति विचरण करते हैं ?।।२००।।

और भी कहा गया है, पच्चीस तत्त्वों से सम्मिलित, देवताओं के निज–निज धामों से चिह्नित, पचास कोटि योजन की सम्पूर्ण पृथ्वी से जो व्याप्त हो रहा है तथा सप्त पातालों से परिपूर्ण यह ब्रह्माण्ड है, इस प्रकार के अयुत लक्ष ब्रह्माण्ड जिसके एक कक्ष में समा जाते हैं, ऐसा श्रीवृन्दावन जिसे मैंने देखा है, ऐसे वृन्दावन–विहारी आपकी महिमा को कौन वर्णन कर सकता है ?।। तात्पर्य यह है कि कोटि–कोटि ब्रह्माण्ड श्रीकृष्णविग्रह में व्याप्त हो रहे हैं।।२०१।।

अवतारावलीबीजम् (५८)–

६६–अवतारवलीबीजमवतारी निगद्यते।।२०२।।

यथा श्रीगीतगोविन्दे–

१०४–वेदानुद्धरते जगन्निवहते भूगोलमुद्विभ्रते
दैत्यं दारयते बलिं छलयते क्षत्रक्षयं कुर्वते।
पौलस्त्यं जयते हलं कलयते कारुण्यमातन्वते
म्लेच्छान्मूर्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नमः।।२०३।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*अवतारीति। भूमार्थे मत्वर्थीयः, सर्वेभ्योऽवतारिभ्यः पूर्णत्वाद, (भा० १।३।२८) "एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयमित्युक्तेः"।।२०२।। अतिप्रसिद्धप्रमाणस्य परमशास्त्रस्य श्रीभागवतवाक्यस्य तस्यैव महति लोकेऽपि दिग्दर्शनमस्तीत्याह–यथा श्रीगीतगोविन्द इति।।२०३।।*

● *अनुवाद*–समस्त अवतारों का अवतारी *'अवतारावली–बीज'* कहलाता है।।२०२।।

श्रीगीतगोविन्द में कहा गया है—१, वेदों का उद्धार करने वाले (मत्स्यावतार), २. जगत् का वहन करने वाले (कूर्मावतार), ३. भूमण्डल को दांतों पर धारण करने वाले (वराहावतार), ४. दैत्यराज हिरण्यकशिपु को फाड़ डालने वाले (नृसिंहावतार), ५. बलि को छलने वाले (वामनावतार), ६. क्षत्रियों का इक्कीस बार नाश करने वाले (परशुरामावतार), ७. रावण को जीतने वाले (रामावतार), ८. हल को धारण करने वाले (बलरामावतार), ९. दया को प्रसारित करनेवाले (बुद्धावतार) और १०. म्लेच्छों का नाश करनेवाले (कल्कि अवतार)—इन दश अवतारों को धारण करने वाले आप श्रीकृष्ण को नमस्कार है।। (श्रीमद्भागवत में समस्त अवतारों के नाम गिनाने के बाद स्पष्ट रूप से कहा गया है कि वे समस्त अवतार श्रीकृष्ण के अंश—कला अवतार हैं)।।२०३।।

हतारिगतिदायकः (५९)—

१००—मुक्तिदाता हतारीणां हतारिगतिदायकः।।२०४।।

यथा—१०५—पराभवं फेनिलवक्त्रतां च बन्ध च भीतिं च मृतिं च कृत्वा
पवर्गदाताऽपि शिखण्डमौले ! त्वं शात्रवाणामपवर्गदोऽसि।।२०५।।

यथा वा—१०६—चित्रं मुरारे ? सुरवैरिपक्षस्त्वा समन्तादनुबद्धयुद्धःय।
अमित्रवृन्दान्यविभिद्य भेदं मित्रस्य कुर्वन्नमृतं प्रयाति।।२०६।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*मुक्तीत्युपलक्षणं पूतनादिषु भक्तिदातृत्वमपि ज्ञेयम्। तदेवमप्युक्तममी'' कृष्णे किलादभुता'' इति (भ०र० २।१।४०)।।२०४।। अमित्रवृन्दान्यविभिद्येत्येव पाठः, पक्षे मित्रः सूर्यः।।२०६।।*

● *अनुवाद*—शत्रुओं को मारकर उन्हें मुक्ति प्रदान करने से श्रीकृष्ण को *'हतारि—गतिदायक'* कहा जाता है।।२०४।।

जैसा कि कहा गया है, हे मोरपंखधारी श्रीकृष्ण ! आप शत्रुओं को पराभूत करने वाले हैं, फेनिल—वक्त्रता अर्थात् उनके मुँह में से झाग निकलवा देने वाले हैं; बन्धन तथा मृत्यु देने वाले हैं। अतः पवर्ग देने वाले होकर भी आप उन्हें अपवर्ग—मुक्ति ही प्रदान करते हैं।।२०५।।

और भी कहा गया है, हे मुरारे ! आपके चारों ओर युद्ध में जुटा हुआ देवताओं के शत्रुओं (असुरों) का समूह अपने शत्रुओं (देवताओं) का नाश किए बिना सूर्यमण्डल का भेदन कर अमृतत्व अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता है, यह बड़े आश्चर्य की बात है।।२०६।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—भगवान् श्रीकृष्ण मारे गये शत्रुओं को भी मुक्ति एवं उत्तम गति प्रदान करते हैं। वे शत्रुओं को मुक्ति देते हैं और कभी भक्ति भी प्रदान कर देते हैं; जैसे कि उन्होंने पूतना को मातृगति प्रदान कर दी। श्रीकृष्ण पवर्ग देने वाले होकर भी शत्रुओं को अपवर्ग, प्रदान करते हैं। प—फ—ब—भ एवं म, यह 'पवर्ग' कहलाता है। पकार से 'पराभव', फकार से फेनिल—वक्त्रता, बकार से बन्धन, भकार से भय तथा मकार से मृत्यु—इन पांचों को अर्थात् पवर्ग को देने वाले होकर भी असुरों को अपवर्ग अर्थात् मुक्ति प्रदान करने वाले हैं। पवर्गदाता होकर भी अपवर्गदाता हैं, यहाँ विरोधाभास का उदाहरण है।

श्लोक नं० २०६ में "मित्र"–शब्द के दो अर्थ लिए गये हैं। एक तो मित्र या सुहृत् तथा दूसरा सूर्य। अमित्रों या शत्रुओं को मारकर कोई मोक्ष या स्वर्ग–लोकादि को प्राप्त करे तो यह बात ठीक है। किन्तु असुरगण अपने शत्रु–देवताओं का नाश किये बिना मोक्ष को प्राप्त करते हैं। इससे भी अधिक आश्चर्य की बात यह है कि वे मित्र–भेदन करके अर्थात् सूर्यमण्डल को भेद करके मोक्ष को प्राप्त करते हैं। तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण देवताओं के शत्रुओं–असुरों को मारकर उन्हें मुक्ति एवं कभी भक्ति तक भी प्रदान कर देते हैं। श्रीनारायणादि अन्यान्य भगवत् स्वरूपों में गतिदायकत्व–मुक्तिदायकत्व गुण सामान्यतः रहता है किन्तु भक्तिदायकत्व–गुण केवल श्रीकृष्ण में ही विकसित होता है।।२०४–२०६।।

आत्मारामगणाकर्षी (६०)–

१०१–आत्मारामगणाकर्षीत्येतद्व्यक्तार्थमेव हि।।२०७।।

यथा–१०७–मां पूर्णपरमहंसं माधव ! लीलामहौषधिर्घ्राता।
कृत्वा बत सारंगं व्यधितं कथं सारसे तृषितम्।।२०८।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*सारंगश्चातको भक्तश्च, सारं गायत्रीत्युक्तया, "सारंगाणां पदाम्बुजमित्युक्तेः", भक्तपक्षे सेति पृथक् पदं, पक्षान्तरे सारसं कमलम्, अत्र चातकीकरणं तत्रापि कमले तृषितीकरणमिति श्लेषेऽपि द्विगुणीभाव्याश्चर्यं गमितम्।।२०८।।*

● *अनुवाद*–**आत्मारामगण को भी श्रीकृष्ण आकर्षण करने वाले होने से "*आत्मारामगणाकर्षी*" कहे गये हैं।।२०७।।**

जैसा कि कहा गया है, हे माधव ! बड़े आश्चर्य की बात है कि आपकी लीलारूप महौषधि की सुगन्धि ने मुझ पूर्ण परमहंस को भी सारंग अर्थात् भक्त बनाकर रस में तृषावन्त कैसे बना दिया ?।।२०८।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–इस श्लोक में 'परमहंस' 'सारंग' तथा 'सारस' शब्द श्लिष्ट हैं–इनके दो–दो अर्थ हैं। परमहंस का एक अर्थ है आत्मा में रमण करने वाला ब्रह्मानुभवी। दूसरा अर्थ है श्रेष्ठ हंस (पक्षी)। सारंग का एक अर्थ है चातक, दूसरा अर्थ है भक्त। सारस का एक अर्थ है कमल तथा दूसरे अर्थ में 'सा' पद अलग कर महौषधि के साथ जोड़ा गया है तथा 'रस' पद का अर्थ जल है। इस प्रकार प्रथम अर्थ तो ऊपर कह दिया गया है। पक्षान्तर अर्थ यह है कि हे माधव ! आपकी लीलारूप महौषधि की सौरभ ने मुझे हंस से चातक बना दिया है और फिर चातक होकर भी कमल के प्रति मेरी तृष्णा उदित हो उठी है। हंस को चातक बना देना, एक आश्चर्य है। चातक तो स्वांतिजल के लिये सतृष्ण रहता है, किन्तु मुझ चातक की कमल में तृष्णा जाग उठी है, यह कैसा आश्चर्य ? तात्पर्य यह है कि हंस मुक्ता अर्थात् अति कठोर नीरस वस्तु का आस्वादन करता है, किन्तु चातक स्वातिजल को ही अपना प्राण समझता है, उस सरसता में भी कमल के प्रति तृष्णा एक परम आश्चर्य है। निर्विशेष ब्रह्मानुभवी आत्मारामगण को चातक अर्थात् भक्त श्रीकृष्ण पदपद्म–जीवातु बनाकर भक्तिमाधुर्य–सरसता का आस्वादक बना देना है उसमें भी श्रीकृष्णचरण–कमलों

के प्रति वह लालायित कर देती है श्रीकृष्ण–लीला की दिव्य सौरभ।।२०७–२०८।।

अब आगे श्रीकृष्ण के असाधारण चार गुणों का वर्णन करते हैं–

अथ असाधारणचतुष्के लीला–माधुर्यम् (६१)–यथा बृहद्वामने–

१०८–सन्ति यद्यपि मे प्राज्या लीलास्तास्ता मनोहराः।
न हि जाने स्मृते रासे मनो मे कीदृशं भवेत्।।२०६।।

यथा वा–१०६–परिस्फुरतु सुन्दरं चरतमत्र लक्ष्मीपते–
स्तथाभुवननन्दिनस्तदवतारवृन्दस्य च।
हरेपि चमत्कृतिप्रकरवर्द्धनः किंतु म
विभर्त्ति हृदि विस्मयं कमपि रासलीलारसः।।२१०।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*सन्तीत्युदाहरणद्वयं परमोत्कर्षदर्शनार्थमेव लीलाविशेषमयतया दर्शितं, तदीयलीलासामान्यमपि सर्वोत्कृष्टतया प्रसिद्धमिति तत्तु न दर्शितं, तथाहि श्रीपरीक्षिद्वाक्यं (भा० १० ।७ ।१–२) ''येन येनावतारेणेति'', ''यत् शृण्वतोऽपैत्यरतिर्वितृष्णे'' त्यादि च। प्राज्याः प्रचुराः।।२१०।।*

● **अनुवाद**–श्रीकृष्ण के असाधारण चार गुणों में पहला गुण है–*''लीला–माधुर्य''* श्रीबृहद्वामन में कहा गया है–यद्यपि मेरी अनेक प्रकार की लीलाएँ हैं एवं सब ही मनोहारिणी हैं, तथापि रास–लीला का स्मरण करते ही मेरा मन न जाने कैसा उत्सुक हो उठता है।।२०६।।

श्रीउद्धव जी ने कहा है–लक्ष्मीपति श्रीनारायण के और जगदानन्ददायक उनके समस्त अवतारों के सुन्दर चरित्र प्रकृष्ट रूप से क्यों न कितने स्फुरित हों, किन्तु जो मेरे प्रभु श्रीद्वारकानाथ की भी चमत्कारिता को वर्द्धन करने वाला है, वह रासलीलारस मेरे हृदय में अनिर्वचनीय विस्मय उत्पादन करता है।।२१०।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–श्रीकृष्ण की प्रत्येक लीला, अप्रकट गोलोक संबंधी हो चाहे प्रकट–वृन्दावन सम्बन्धी हो, अद्‌भुत दिव्यातिदिव्य रस–प्रवाही है। रसिकशेखर रसस्वरूप श्रीकृष्ण प्रकट–वृन्दावन धाम में जिन लीलाओं का रसास्वादन करते हैं; वे निश्चय ही अप्रकट–धाम की लीलाओं से कहीं अधिक रसोत्कर्षमयी हैं, क्योंकि श्रीकृष्ण के अवतार का मुख्य कारण ही है–*'रसनिर्यासस्वादार्थमवतारिणी''*–समस्त रसों के निर्यास रस का आस्वादन करना। दास्य, सख्य, वात्सल्यादि समस्त रसों का सन्निवेश है मधुर रस में। अतः समस्त रस चूड़ामणि है मधुररस। स्वकीय तथा परकीया दोनों से मधुररस का अशेष विशेष रूप से आस्वादन ही वास्तव रसनिर्यास है श्रीरासलीला में ही समस्त रसों की पूर्ण अभिव्यक्ति है–*''रसानां समूहो रासः।''* इस प्रकार की सर्वरसास्वाद–प्रदायिनी मधुर–लीला की अभिव्यक्ति किसी धाम में एवं किसी भी भगवत् स्वरूप में नहीं है। अतः रासलीला को ही लक्ष्य करके उक्त श्लोक में श्रीकृष्ण के एक असाधारण गुणलीला–माधुर्य का दिग्दर्शन कराया गया है।।२१०।।

प्रेम्णा प्रियाधिक्यं (६२)–यथा दशमे (१० ।३१ ।१५)–

११०–अटति यद्‌भवानह्नि काननं त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम्
कुटिलकुन्तलं श्रीमुखं च ते जड उदीक्षतां पक्ष्मकृद्‌दृशाम्।।२११।।

यथा वा १११—ब्रह्मरात्रिततिरप्यघशत्रो सा क्षणार्द्धवदगात्तव संगे।
क्षणार्ध बल्लविकानां ब्रह्मरात्रिततिवद्विरहेऽभूत।।२१२।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*अटतीत्दाहरणमुत्कण्ठाद्वारा तद्बोधकम् अन्यत्राश्रवणाद् विशेषोदाहरणानि चैतानि ज्ञेयानि (भा० १०।१४।३२) "अहो भाग्यमहोभाग्यमित्यादि" (भा० १०।६।२०) "नेमं विरिञ्च" इत्यादि, (भा० १०।१२।११)" इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्ये" इत्यदि, (भा० १०।४७।६०) 'नायं श्रियोऽंग उ नितान्तरतेः प्रसाद" इत्यादि, च।।२११।। ब्रह्मरात्रीति। केषांचिद् "ब्रह्मरात्र उपावृत्ते" इत्यस्य रासान्तपद्यस्य (१०।३३।३८) तथा व्याख्यानात्। तथैव चानुमतं श्रीस्वामिचरणैः। (भा० १०।३३।१८) 'शशांकश्च सगणो विस्मितोऽभवदित्यत्र"; किन्तु (भा० १०।१२।११) "तास्ताः क्षपाः प्रेष्ठतमेनेत्यादौ श्रीभगवद्वाक्यं निर्विवादमेव।।२१२।।*

● *अनुवाद*—श्रीकृष्ण का दूसरा असाधारण गुण है—*'प्रेम्णा प्रियाधिक्य'* अर्थात् प्रेम से प्रियजनों की मण्डनकारिता। श्रीमद्भागवत (१०।३१।१५) में प्रियजनों—ब्रजगोपियों की प्रेमाविष्टता का इस प्रकार वर्णन है—हे प्रियतम ! दिनकाल में जब आप वन में विहार करने चले जाते हैं, तो आपके दर्शनों के बिना एक क्षण काल भी हमें एक युग के समान होकर बीतता है। सन्ध्या समय लौटने पर घुंघरारी अलकावली से वेष्टित आपके श्रीमुख का दर्शन करते समय आंखों पर पलकों के लगाने वाले विधाता को हम मूर्ख जानकर उसकी निन्दा करती हैं, क्योंकि इन पलकों के बार—बार लगने से आपके दर्शन में रुकावट पड़ती है।।२११।।

और भी कहा है—हे पापहारी ! आपके साथ संगमकाल में ब्रजगोपियों को उन समस्त ब्रह्मरात्रियों का समय भी आधे क्षण के समान बीता, किन्तु हाय ! आपके वियोग में अब आधा क्षण भी उन्हें ब्रह्मरात्रियों की तरह सुदीर्घ काल होकर व्यतीत हो रहा है।।२१२।।

वेणुमाधुर्यम् (६३) —यथा तत्रैव (भा० १०।३५।१५)—

११२—सवनशस्तदुपधार्य सुरेशाः शक्रशर्वपरमेष्ठिपुरोगाः।
कवय आनतकन्धरचित्ताः कश्मलं ययुरनिश्चिततत्त्वाः।।२१३।।

यथा वा विदग्धमाधवे—

११३—रुन्धन्नम्बुभृतश्चमत्कृतिपरं कुर्वन्मुहुस्तुम्बुरुं
ध्यानादन्तरयन् सनन्दनमुखान्विस्मेरयन् वेधसम्।
औत्सुक्यावलिभिर्बलिं चटुलयन् भोगीन्द्रमाघूर्णयन्
भिन्दन्नण्डकटाहभित्तिमभितो बभ्राम वंशीध्वनिः।।२१४।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका— *'सवनशास्तदुपधार्य" इत्याद्यन्ते, 'नद्यस्तदा तदुपधार्ये" त्यादीनि, च ज्ञेयानि, सवनशः बारं—बारं, तद् वेणुगीतं, कश्मलं मोहम्, अनिश्चिततत्त्वाः किमिदमिति निश्चेतुमशक्ताः।।२१३।। रुन्धन्निति। अत्र फलरूपत्वेनैव सर्वत्र प्रसरणमण्डकटाहभेदश्च ज्ञेयं, तत्तु तुम्बुरुचमत्कारादिना दर्शितम् अलौकिक स्वभावत्वात्, तच्चोक्तं "सवनश" इत्यादिना, विस्मेरयन्नित्यत्र विस्माययन्निति पाठः शिष्टः।।२१४।।*

● *अनुवाद*–श्रीकृष्ण का तीसरा असाधारण गुण है– *"वेणुमाधुर्य"*। जैसा कि श्रीमद्भागवत (१० ।३५ ।१५) में वर्णित है–श्रीकृष्ण की मधुर वंशीध्वनि को सुनकर इन्द्र, शिव एवं ब्रह्मादिक स्वयं सुपण्डित होते हुए भी राग–ताल–स्वरादि के तत्त्व–निर्णय में असमर्थ हो जाते हैं और मोह को प्राप्त होकर अपनी गर्दन को झुकाकर तन्मय–चित्त हो जाते हैं। ।२१३। ।

श्रीविदग्धमाधव नाटक में कहा गया है–श्रीकृष्ण की वंशीध्वनि मेघों की गति स्तम्भित करते हुए, तुम्बुक मुनि को बार–बार आश्चर्य में डालते हुए, सनक–सनन्दनादि योगीगणके ध्यान को विच्छेदित एवं ब्रह्माजी को विस्मित करते हुए, बलि राजा को उत्कण्ठित कर चञ्चल करते हुए, तथा अनन्तदेव–शेषजी के शिर को कंपाते हुए ब्रह्माण्ड–कटाह का भेदन कर दशों दिशाओं में व्याप्त हो रही है। ।२१४। ।

रूपमाधुर्यम् (६४)–यथा तृतीये (३ ।२ ।१२)

११४–यन्मर्त्त्यलीलौपयिकं स्वयोगमायाबलं दर्शयता गृहीतम्।
विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धे परं पदं भूषणभूषणांगम्। ।२१५। ।

श्रीदशमे च (१० ।२९ ।४०)–

११५–का स्त्रंग ! ते कलपदायतमूर्च्छितेन–
संमोहितार्यचरितान्न चलेत्त्रिलोक्याम्।
त्रैलोक्यसौभगमिदं च निरीक्ष्य रूपं
यद् गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन्। ।२१६। ।

यथा वा ललितमाधवे–

११६–अपरिकलितपूर्वः कश्चमत्कारकारी
स्फुरति मम गरीयानेष माधुर्यपूरः।
अयमहमपि हन्त प्रेक्ष्य यं लुब्धचेताः
सरभसमुपभोक्तुं कामये राधिकेव। ।२१७। ।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*यद्रूपमिति पूर्वेणान्वयः। स्वयोगमाया स्वस्वरूपभूताचिन्त्यशक्तिः, तस्या बलं दर्शयता एतावदप्यस्तीति तत् प्रकटयता ग्रहीतम् आकृष्टं जगत्यामानीतं प्रकटितमित्यर्थः। तदेवमेवंभूतं भगवन्मर्त्यलीलौ–पयिकमिति तल्लीलाया अपि माहात्म्यं तथाविधमेव दर्शितम्, मर्त्येषु लीला मर्त्य लीला तस्यमौपयिकं तत्सदृशलीलायोग्यद्विभुजादित्वादतिमनोहरमित्यर्थः, किं बहुना, सर्वदेशकालगत–तत्तद्रूपवेत्तुरपि स्वस्य च विस्मापनं तादृगननुभवात्, यतः सौभगर्द्धेः परं पदं परमा प्रतिष्ठा। यत् खलु भूषणस्यापि भूषणमगं यत्र तादृशम्। ।२१५। । अपरिकलितेति। मणिभित्तौ स्वप्रतिबिम्बं लब्धातिशयं स्ववपुश्चित्रं दृष्ट्वा श्रीभगवन्मनोरथः प्रतिक्षणं नवनवायमानतन्माधुर्यत्वात्। ।२१७। ।*

● *अनुवाद*–श्रीकृष्ण का चौथा असाधारण गुण है *"रूपमाधुर्य"* जैसा कि श्रीमद्भागवत (३ ।२ ।१२) में वर्णित है–श्रीभगवान् ने अपनी योगमाया नामक चित्शक्ति के प्रभाव को प्रदर्शित करने के लिए मर्त्यलीला अर्थात् मर्त्यलोक में मनुष्यों के उपयोगी अतिशय आश्चर्यमय माधुर्यादि पूरित परम मनोहर द्विभुज

मुरलीधारी मूर्ति स्वीकार की। अहो ! वह रूप इतना मनोहर कि उसे देखकर स्वयं श्रीकृष्ण भी विस्मित हो उठे। उनके अंग ही कौस्तुभ मणि एवं कुण्डलादि भूषणों के भूषण–स्वरूप हैं।।२१५।।

श्रीमद्भागवत (१०।२६।४०) में कहा गया है, हे कृष्ण ! आपकी सुंदर बोलिनि, वंशी तथा गीत–ध्वनि से मोहित तीनों लोकों मे कौन–सी रमणी है जो आर्य–चरित्र से विचलित नहीं हो जाती ? आपके त्रिभुवन–सौन्दर्यमय रूप को देखकर गौ, पक्षी, वृक्ष और मृग आदि भी तो रोमांचित हो जाते हैं।।२१६।।

श्रीललित–माधव में कथित है–श्रीगोवर्द्धन की एक स्वच्छ शिला या मणिमय भित्ति में अपने रूप को देखकर श्रीकृष्ण बोले, अहो ! अदृष्टपूर्व चमत्कार कारी यह कैसा माधुर्य मेरे सामने स्फुरित हो रहा है। हाय ! इसे देखकर मेरा मन भी लालायित होकर श्रीराधिका की भाँति आनन्दातिरेक पूर्वक इसे उपभोग करने की इच्छा कर रहा है।।२१७।।

१०२–समस्तविविधाश्चर्यकल्याणवारिधेः।
गुणानामिह कृष्णस्य दिङ्मात्रमुपदर्शितम्।।२१८।।

यथा च श्रीदशमे (१०।१४।७)–

११७–गुणात्मनस्तेऽपि गुणान् विमातुं हितावतीर्णस्य क ईशिरेऽस्य।
कालेन यैर्वा विमिताः सुकल्पैर्भूपांशवः खे मिहिका द्युभासः।।२१९।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*गुणा आत्मानः स्वभावा यस्य तस्य प्रकटित–प्राकृतातीत–स्वाभाविकानन्तगुणस्य तवास्तां तावत्तत्दगुणानां समस्तानां तथा प्रत्येकमप्यवान्तरवृत्तिकोटीनां गणनवार्त्ता; अस्य जगतो हितावतीर्णस्य जगद्गतानन्तजीवहिताय तद्गुणैकदेशमप्यवतीर्य प्रकटयतस्तव ये गुणांशास्तत्र तत्र प्रकटितास्तानपि गणयितुं क ईशिरे न केऽपीत्यर्थः, तत्र संभावनानिरासार्थमाह–यैर्वेति।।२१९।।*

● *अनुवाद*–अनेक प्रकार के आश्चर्यजनक समस्त कल्याणकारी गुणों के सागर श्रीकृष्ण के अनन्त गुणों में से यहाँ कुछ गुण दिङ्मात्र दिखाये गये हैं।।२१८।।

जैसे कि श्रीमद्भागवत (१०।१४।७) में कहा गया है–जगत् के कल्याण के लिए अवतीर्ण हुए अनन्त नित्य–अप्राकृत गुण विशिष्ट श्रीकृष्ण ! आपके गुणों को कौन गिन सकता है ? महा चतुर व्यक्ति भले ही यथासमय पृथ्वी के धूलि कणों एवं हिमकणों तथा आकाश के तारों के रश्मि–परमाणुओं को गिन लें, किन्तु आपके गुणों की गणना करने में कोई भी समर्थ नहीं है।।२१९।।

१०३–नित्यगुणो बनमाली यदपि शिखामणिरशेषनेतृणाम्।
भक्तापेक्षिकमस्य त्रिविधत्वं लिख्यते तदपि।।२२०।।
१०४–हरिः पूर्णतमः पूर्णतरः पूर्ण इति त्रिधा।
श्रेष्ठमध्यादिभिः शब्दैर्नाट्ये यः परिपद्यते।।२२१।।

● *अनुवाद*–नित्य गुणों से युक्त यद्यपि श्रीकृष्ण समस्त नायकों के शिरोमणि हैं, फिर भी भक्तों की भक्ति के अनुरूप अधिकाधिक होने के कारण उनके तीन रूपों का यहाँ वर्णन किया जाता है।।२२०।।

श्रीकृष्ण के पूर्णतम, पूर्णतर एवं पूर्ण–ये तीन रूप हैं। नाट्यशास्त्र में श्रेष्ठ मध्य, आदि (कनिष्ठ) शब्दों से वर्णन किये गये हैं।।२२१।।

१०५–प्रकाशिताखिलगुणः स्मृतः पूर्णतमो बुधैः।
असर्वव्यञ्जकः पूर्णतरः पूर्णोऽल्पदशकः।।२२२।।
१०६–कृष्णस्य पूर्णतमता व्यक्ताऽभूद् गोकुलान्तरे।
पूर्णता पूर्णतरता द्वारकामथुरादिषु।।२२३।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*प्रकाशितेति। अत्राखिलत्वमन्यद्वयापेक्षया ज्ञेयं, भक्तभक्त्यनुरूपाधिकाधिकप्रकाशात, असर्वत्वं पूर्वापेक्षया, अल्पत्वं च स्वपूर्वापेक्षया तथापि पूर्णतरत्वादिकमन्यतरापेक्षया।।२२२।। कृष्णस्येति। अत्र पूर्णतमता चैश्वर्यगता। (भा० १० ।१३ ।४६) तावत् सर्वे वत्सपालाः पश्यतोऽजस्य तत्क्षणात्। व्यदृश्यन्त घनश्यामाः पीतकौशेयवासवासम्।। इत्यादिषु, माधुर्यगता–(१० ।८ ।४६)– नन्दः किमकरोद् ब्रह्मन् श्रेय एव महोदयमित्यादिषु। कृपागता च (भा० ३ ।२ ।२३) अहो बकी यं स्तनकालकूटमित्यादिषु, द्वारकामथुरादिष्विति न यथासंख्यतया प्रयोगः, समसंख्यत्वेनाप्रयोगात्, किंतु यथासम्भवतयैव कुत्रचित् कस्यापि विशेष–दर्शनात्।।२२३।।*

● *अनुवाद*–विद्वानों द्वारा निखिल गुणों को प्रकाशित करने वाले स्वरूप को पूर्णतम, उसकी अपेक्षा थोड़े गुण प्रकाशित करने वाले स्वरूप को पूर्णतर तथा उसकी अपेक्षा भी कम गुण प्रकाशित करने वाले स्वरूप को पूर्ण कहा गया है।।२२२।।

श्रीकृष्ण की पूर्णतमता गोकुल–वृन्दावन में प्रकट हुई है, एवं पूर्णतरता मथुरा (अवन्तीपुर) में तथा पूर्णता द्वारका (हस्तिनापुर, कुण्डिनपुर) में प्रकट हुई।।२२३।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–श्रीकृष्ण की पूर्णतमता, पूर्णतरता तथा पूर्णता–यह भेद ऐश्वर्यगत, माधुर्यगत एवं कृपागत दृष्टि से वर्णित है। लीला स्थलियों में भी स्वरूप तथा समृद्धि के कारण तारतम्य स्वीकार किया गया है।

श्रीकृष्ण की ऐश्वर्यगत पूर्णतमता श्रीभागवत (१० ।१३ ।४६) में इस प्रकार वर्णित है कि ब्रह्माजी के देखते–देखते उसी क्षण सब वत्सपालक गोप–बालक घनश्याम मूर्ति एवं पीताम्बरधारी हो गये।

उनकी माधुर्यगत पूर्णतमता का वर्णन इस प्रकार है (श्रीभा० १० ।८ ।४६)–राजा परीक्षित्‌जी ने पूछा–हे भगवन् ! श्रीनन्दराज एवं भाग्यवती यशोदाजी ने ऐसा कौन–सा महान् मंगलमय साधन किया था कि जिसके फलस्वरूप स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने श्रीमुख से यशोदा का स्तनपान किया ?–स्वयं भगवान् समस्त कारण–कारण परब्रह्म द्वारा स्तनपान करना माधुर्य की परमावधि है।

इसी प्रकार श्रीकृष्ण की कृपागत पूर्णतमता, (श्रीभा० ३।२।२३) मारने की इच्छा से स्तनपान कराने वाली पूतना को परमगति के प्रदान करने में प्रकाशित हो रही है, ऐसी कृपा का विकास और कहीं भी नहीं है।

द्वारका–मथुरादि लीला–स्थलियों में ऐश्वर्य–माधुर्य एवं कृपा के यथा सम्भव कुछ–कुछ विकास प्रकट होते हैं, किन्तु पूर्णतमरूप से नहीं।।२२२–२२३।।

१०७–स पुनश्चतुर्विधः स्याद्धीरोदात्तश्च धीरललितश्च।
धीरप्रशान्तनामा तथैव धीरोद्धतः कथितः।।२२४।।

१०८–बहुविधगुणक्रियाणामास्पदभूतस्य पद्मनाभस्य।
तत्तल्लीलाभेदाद्विरुध्यते न हि चतुर्विधता।।२२५।।

● **_अनुवाद_–फिर वे श्रीकृष्ण १. धीरोदात्त, २. धीरललित, ३,. धीरप्रशान्त तथा ४. धीरोद्धत, इन चार नायक रूपों से विराजमान् है।।२२४।।**

अनेकविध गुणों तथा लीलाओं के आधारभूत होने पर भी (उनकी चतुरविधता कही गई है) उन–उन लीलाओं के भेद के कारण उनकी उस चतुरविधता में कोई विरोध नहीं आता।।२२५।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–साहित्य दर्पणादि से यह जाना जाता है कि प्राकृत–रसके विद्वान् मधुर–रस के अनेक नायक तथा नायिकाएँ भी स्वीकार करते हैं। अनेक नायकों के गुणादि सर्वतोभाव से एक जैसे होना सम्भव नहीं है, इसलिए प्राकृत–रस के विद्वान् गुणादि भेद से नायक भेद स्वीकार करते हैं। उनके स्वीकृत नायक भेद में अलग–अलग नायक व्यक्ति ही अलग–अलग श्रेणी में आता है, किन्तु एक ही नायक पृथक्–पृथक् श्रेणी–भुक्त नहीं माना जाता।

किन्तु वैष्णवाचार्यों के मधुर–भक्तिरस का विषयालम्बन एवं नायक एक ही श्रीकृष्ण हैं। श्रीकृष्ण के बिना और कोई दूसरा नायक नहीं है। श्रीकृष्ण एक एवं अद्वितीय होते हुए भी गुण–क्रियादि के भेद से उनके भेद भी सम्भव हैं। उनके अनन्तगुण, लीलायें हैं। समस्त गुण एक साथ सर्वोत्कर्ष से प्रकटित नहीं होते और न ही समस्त लीलायें एक साथ प्रकटित होती हैं। प्रयोजन के अनुसार लीला–शक्ति भिन्न–भिन्न लीलाओं को विभिन्न भावों में प्रकटित करती है। अतः एक ही श्रीकृष्ण में नायक–भेद भी स्वीकार किये गये हैं; और फिर श्रीकृष्ण विरुद्ध धर्माश्रय भी तो हैं।

इसलिए गुण–क्रियादि की अभिव्यक्ति के अनुसार श्रीकृष्ण के उपर्युक्त चार नायक भेद स्वीकार किये गये हैं, उनका आगे सोदाहरण निरूपण करते हैं–

तत्र धीरोदात्तः–

१०९–गम्भीरो विनयी क्षन्ता करुणः सुदृढ़व्रतः।
अकत्थनो गूढ़गर्वो धीरोदात्तः सुसत्त्वभृत्।।२२६।।

यथा–११८–वीरमन्यमदप्रहारिहसितं धौरेयमार्त्तोद्धृतौ
निर्व्यूढ़व्रतमुन्नतक्षितिधरोद्धारेण धीराकृतिम्।
मय्युच्चैः कृतकिल्विषेऽपि मधुरं स्तुत्या मुहुर्यन्त्रितं
प्रेक्ष्य त्वां मम दुर्वितर्क्यहृदयं धीगीश्च न स्यन्दते।।२२७।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*वीरमिति महेन्द्रवाक्यं, तत्र वीरमन्येति गूढ़ गर्वत्वं, धौरेयमिति करुणत्वं, निर्व्यूढ़ेति सुदृढ़व्रत्वम्, उन्नतेति सुत्त्वभृत्त्वं, मयीति क्षन्तृत्वं, स्तुत्येति विनयित्वमकत्थनञ्च च, दुर्वितर्क्यहृदयमिति गम्भीरत्वं दर्शितं, मम धीरित्यादिरन्वयः।।२२७।।*

● *अनुवाद*—जो नायक गम्भीर—स्वभाव, विनयी, क्षमाशील, करुण, सुदृढ़—व्रत तथा अकत्थन अर्थात् आत्मश्लाघारहित, गूढ़गर्व तथा सुसत्त्वभृत अर्थात् अतिशय बलवान होता है, उसे *"धीरोदात्त"* कहते हैं।।२२६।।

श्रीकृष्ण के धीरोदात्त रूप का वर्णन करते हुए महेन्द्र ने कहा है, जिनकी मुसकान वीर—अभिमानी लोगों के गर्व को हरण करने वाली है, (इसके द्वारा गूढ़गर्वत्व सूचित होता है); जो आर्त्तजनों के उद्धार करने का भार वहन करने वाले हैं, (करुणत्व सूचित होता है); जो विशाल पर्वत—गिरिराज को ऊँचा उठाने में दृढ़व्रत हैं, (अतिशय बलवत्ता तथा दृढ़व्रतत्व सूचित होता है); अति अपराधी मेरे प्रति भी जो मधुर (क्षमाशील) हैं, दूसरे द्वारा स्तुति करने में जो बार—बार अति संकोच अनुभव करते हैं, (विनय एवं आत्मश्लाघाहीन) और जो दुर्वितर्क्य—हृदय (गम्भीर—स्वभाव) हैं, उन धीराकृति आप श्रीकृष्ण के दर्शन करने पर मेरी बुद्धि तथा वाणी कुछ भी तो काम नहीं कर रही है।।२२७।।

११०—गम्भीरत्वादि सामान्यगुणा यदिह कीर्तिताः।
तदेतेषु तदाधिक्यप्रतिपादनहेतवे।।२२८।।
१११—इदं हि धीरोदात्तत्वं पूर्वैः प्रोक्तं रघूद्वहे।
तत्तद्भक्तानुसारेण तथा कृष्णे विलोक्यते।।२२६।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*गम्भीरत्वादीति। एतेषु धीरोदात्तादिषु त्रिषु तेषां गाम्भीर्यादीनाम, आधिक्यप्रतिपादनहेतवे तदन्यान् सर्वान् गुणानुपमर्द्य समुदयेनाविर्भूतानां तेषां स्पष्टत्वज्ञापनार्थमित्यर्थः।।२२८।।*

● *अनुवाद*—यहाँ गम्भीरत्वादि सामान्य गुणों का उल्लेख होते हुए भी धीरोदात्तादि चार प्रकार के नायक में उनका आधिक्य प्रतिपादन करना ही उद्देश्य है; अर्थात् श्रीकृष्ण के पूर्ववर्णित समस्त गुणों में भी गम्भीरत्वादि का उल्लेख हो चुका है। उनके पुनः उल्लेख का उद्देश्य यह है कि धीरोदात्तादि नायक रूप श्रीकृष्ण में ये गुण अधिक उभरे हुए रूप में अभिव्यक्त रहते हैं।।२२८।।

इस धीरोदात्त गुण को भगवान् श्रीराम में भी पूर्व आचार्यों ने वर्णन किया है, उन—उन भक्तों के अनुसार यह गुण श्रीकृष्ण में भी देखा जाता है।।२२६।।

अथ धीरललितः

११२—विदग्धो नवतारुण्यः परिहासविशारदः।
निश्चिन्तो धीरललितः स्यात्प्रायः प्रेयसीवशः।।२३०।।

यथा—११६—वाचा सूचितशर्वरीरतिकलाप्रागल्भ्याराधिकां
ब्रीडाकुञ्चितलोचनां विरचयन्नग्रे सखीनामसौ।

तद्वक्षोरुहीचित्रकेलिमकरीपाण्डित्यपारं गतः
कैशोरं सफलीकरोति कलयन् कुञ्जे विहारं हरिः ।।२३१।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*प्रेयसीवशः प्रेयसीनां प्रेमविशेषयुक्तानांतारतम्येन वशीभूतः। यथोक्तं (भा० १० ।३२ ।२२) या माभजन् दुर्जरगेहशृंखलाः सम्वृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुनेति, (भा० १० ।३० ।२८) "अनयाराधितो नूनमित्यादि" च।।२३०।। वाचेति। यज्ञपत्नीसदृशीः प्रति तत्तल्लीलान्तरंगदूत्या वाक्यम्।।२३१।।*

● *अनुवाद*—जो नायक विदग्ध या रसिक है, नवतरुण, परिहास—विशारद, निश्चिन्त और प्रायशः प्रेयसी के वशीभूत रहता है अर्थात् प्रेमविशेषयुक्त प्रेयसियों के प्रेम के तारतम्यानुसार जिसकी प्रेयसी—वश्यता में भी तारतम्य है; उसे *धीरललित'* नायक कहते हैं।।२३०।।

इस गुण का उदाहरण इस प्रकार है—एकदिन श्रीराधिकाजी कुञ्ज में अपनी सखियों के साथ विराजमान थीं, उस समय श्रीकृष्ण वहाँ आ पहुँचे और सखियों के सामने प्रगल्भ वाणी से रात्रि में घटित श्रीराधा के सहित कला का वृत्तान्त कहने लगे। उससे लज्जा के कारण श्रीराधिका के दोनों नेत्र नीचे हो गये। उस अवस्था में श्रीकृष्ण श्रीराधा के दोनों पयोधरों पर चित्रकेलि रचना कर पाण्डित्य की पराकाष्ठा प्रदर्शन करने लगे—इस प्रकार कुञ्ज में विहार करते—करते श्रीकृष्ण ने कैशोर अवस्था को सफल किया।।२३१।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—श्लोकस्थ 'कैशोर' पद से नवतारुण्य, 'श्रीराधा—पयोधरों पर चित्र—रचना से' विदग्धत्व तथा प्रेयसीवशत्व, 'सखियों के सामने रजनी—विलास के वर्णन से' परिहास—विशारदत्व और 'कुञ्ज' विहार द्वारा कैशोर के सफलीकरण में निश्चिन्तता का प्रदर्शन हुआ है।।२३०—२३१।।

११३—गोविन्दे प्रकटं धीरललित्वं प्रदृश्यते।
उदाहरन्ति नाट्यज्ञाः प्रायोऽत्र मकरध्वजम्।।२३२।।

● *अनुवाद*—श्रीकृष्ण में स्पष्ट भाव से धीरललितत्व दीखता है। नाट्यशास्त्रकार किन्तु धीरललित नायक के उदाहरण में कन्दर्प (कामदेव) को ग्रहण करते हैं।।२३२।।

अथ धीरशान्तः—

११४—शमप्रकृतिकः क्लेशसहनश्च विवेचकः।
विनयादिगुणोपेतो धीरशान्त उदीर्यते।।२३३।।

यथा—१२०—विनयमधुरमूर्तिर्मन्थरस्निग्धतारो
वचनपटिमभंगीसूचिताशेषनीतिः।
अभिदधदिह धर्मं धर्मपुत्रोपकण्ठे
द्विजपतिरिव साक्षात्प्रेक्ष्यते कंसवैरी।।२३५।।

११५—युधिष्ठिरादिको धीरैर्धीरशान्तः प्रकीर्त्तितः।।२३४।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*विनयमधुरमूर्तिरित्यत्र विनयेन तत्क्लेशसहनत्वमपि लक्ष्यते। यथोक्तस्तत्रैव तथा तद्व्यवहारः (भा० १ ।१६ ।१७)—*

सारथ्यपारषदसेवनसख्यदौत्यवीरासनानुगमनस्तवनप्रणामम्।
स्निग्धेषु पाण्डुषु जगत्प्रणतिं च विष्णोर्भक्तिं करोति नृपतिश्चरणार विन्दे, इति।।

अत्र शृण्वन्निति पूर्वेणान्वयः, वीरासनं खड्गहस्ततया स्थितस्य रात्रौ जागरणं। नृपतिः परीक्षित्। उदाहरणे धर्मपुत्रोपकण्ठम् इत्येव पाठः।।२३४।।

● *अनुवाद*–जो नायक शान्त–प्रकृति, क्लेश–सहिष्णु, विवेचक तथा विनयादि गुणों से सम्पन्न होता है, उसे "धीरशान्त" (या धीरप्रशान्त नायक कहा जाता है)।।२३३।।

इसका उदाहरण इस प्रकार है, विनययुक्त मनोहर स्वरूप वाले, प्रेममय स्थिर नेत्रों युक्त, बोलने में सुन्दर शैली के द्वारा समस्त नीति को प्रकाशित करने वाले, कंस–वैरी श्रीकृष्ण यहाँ राजा युधिष्ठिर के समीप बैठकर धर्म का उपदेश करते हुए साक्षात् विद्वान् ब्राह्मण के समान शोभित हो रहे हैं।।२३४।।

प्राचीन विद्वान् नाट्याचार्यों ने युधिष्ठिर आदि को *धीरशान्त* नायक कहा है।।२३५।।

अथ धीरोद्धतः–

११६–मात्सर्यवानहंकारी मायावी रोषणश्चलः।
विकत्थनश्च विद्वद्भिर्धीरोद्धत उदाहृतः।।२३६।।

यथा–१२१–आः पापिन्! यवनेन्द्र! दर्दुर! पुनर्व्याघुट्य सद्यस्त्वया
वासः कुत्रचिदन्धकूपकुहरक्रोड़ेऽद्य निर्मीयताम्।
हेलोत्तानितदृष्टिमात्रभसितब्रह्माण्डभाण्डः पुरो
जागर्मि त्वदुपग्रहय भुजगः कृष्णोऽत्र कृष्णाभिधः।।२३७।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*आः पापिन्निति पत्रिकेयं, व्याघुट्य, विनिवृत्य, हेलेत्यादिनाऽत्र मायावित्वं चायातं वस्तुतस्तथात्वाभावात्।।२३७।।*

● *अनुवाद*–जो मात्सर्ययुक्त, अहंकारी, मायावी, क्रोधी, चंचल तथा आत्मश्लाघी होता है, पण्डितगण उसे *"धीरोद्धत"* नायक कहते हैं।।२३६।।

श्रीकृष्ण ने कालयवन को जो पत्र लिखा, उसमें उनके उक्त सब गुण प्रदर्शित किये गये हैं; अरे पापी यवनराज! तू मेंढक तुरन्त लौटकर किसी अन्धे कुँए के बीच की गुफा में जाकर अपना निवासस्थान बना, नहीं तो मेरे खाने के लिए अनायास टेढ़ी दृष्टिमात्र से ब्रह्माण्डों को भस्म कर देने वाला मैं कृष्ण–नामक काला सांप तैयार बैठा हूँ।।२३७।।

११७–धीरोद्धतस्तु विद्वद्भिर्भीमसेनादिरुच्यते।।२३८।।

प्राचीन नाट्यकारों ने भीमसेन आदि को धीरोद्धत नायक माना है, किन्तु श्रीकृष्ण में भी धीरोद्धत्त नायक के सब गुण विद्यमान हैं।।२३८।।

११८–मात्सर्याद्या प्रतीयन्ते दोषत्वेन यदप्यमी।
लीलाविशेषशालित्वान्निर्दोषेऽत्र गुणाः स्मृताः।।२३९।।

यथा वा–१२२–अम्भोभारभरप्रणम्रजलदभ्रान्ति वितन्वन्नसौ
घोराडम्बरडम्बरः सुविकटामुत्क्षिप्य हस्तार्गलाम्।

दुर्वारः परवारणः स्वयमहं लब्धोऽस्मि कृष्णः पुरो
रे श्रीदामकुरंग ! संगरभुवो भंगं त्वमंगीकुरु।।२४०।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*लीलाविशेषोऽत्र भक्तरक्षणाय दुष्टदमनरूपः, तच्छालित्वात्तदुपयोगित्वादित्यर्थः। आः पापिन्नित्यत्र भक्तिरसत्वाव्यक्ति-माशंक्योदाहरणान्तरं मात्सर्याभामयतद्रसत्वेन दर्शयति–यथा वेति। अम्भोभार-भरप्रणम्रेत्येव पाठः। अम्भोभारनमन्नवीनजलदेतिपाठान्तरे शत्रन्तेन सह तत्पुरुषो न स्यात्। आडम्बर समारम्भे गजगर्जिततूर्ययोरिति विश्वः। ततश्च घोरो भयानक आडम्बरस्य डम्बर आटोपो यस्य सः।।२४०।।*

● *अनुवाद*–यद्यपि मात्सर्यादि दोष रूप में प्रतीत होते हैं, तथापि लीला–विशेष शाली होने के कारण निर्दोष भगवान् श्रीकृष्ण में ये समस्त गुण रूप में गृहीत होते हैं।।२३६।।

श्रीकृष्ण के धीरोद्धत्व का उदाहरण इस प्रकार है–जल से भरे होने के कारण भार से झुके हुए मेघ की भ्रान्ति उत्पन्न करने वाले भयंकर गर्जना से आटोप आवेशयुक्त, अपने अत्यन्त भयानक हाथ या सूँड रूप अर्गला को उठाते हुए, शत्रुओं का नाश करने वाले उत्तम हस्तीरूप मुझ कृष्ण को सामने देखो, इसलिए हे श्रीदाम रूप हरिण ! तू युद्धभूमि से भाग जा।।२४०।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–श्रीकृष्ण सब प्रकार के दोषों से रहित हैं। उनके विषय में जो मात्सर्यादि दोषों की बात कही गई है, भक्तों की रक्षा के लिए दुष्टों का नाश करने की लीला में मात्सर्यादि की उपयोगिता है–अतः उन लीलाओं में इनके प्रकटित होने पर वे सब उनके गुण ही कहे जाते हैं। दोष रूप में प्रतीत होते हुए भी वे वास्तव दोष नहीं हैं। वे भक्त–रक्षा के निमित्त हैं, विशेषतः अपनी किसी स्वार्थ सिद्धि के लिए नहीं हैं।।२४०।।

११६–मिथोविरोधिनोऽप्येते केचिन्निगदिता गुणाः।
हरौ निरंकुशैश्वर्यात्कोऽपि न स्यादसम्भवः।।२४१।।

तथा च कौम्र्मे–

१२३–अस्थूलश्चानणुश्चैव स्थूलोऽणुश्चैव सर्वतः
अवर्णः सर्वतः प्रोक्तः श्यामो रक्तान्तलोचनः
ऐश्वर्ययोगाद्भगवान्विरुद्धार्थोऽभिधीयते।।२४२।।
१२४–तथाऽपि दोषाः परमे नैवाहार्याः कथंचन।
गुणा विरुद्धा अप्येते समाहार्याः समन्ततः।।२४३।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*पुनर्मात्सर्याद्या इत्यादिकं स्थापयन् गुणवैचित्रीं दर्शयति मिथ इति। निरंकुशैश्वर्यात् सर्वाश्रयत्वादित्यर्थः।।२४१।।*

● *अनुवाद*–यहाँ जो कुछ परस्पर विरोधी गुणों का भी वर्णन किया गया है, लोक दृष्टि से उनकी असम्भावना आंकी जा सकती है। परन्तु निरंकुश ऐश्वर्यशाली भगवान् श्रीकृष्ण में उनमें से कोई भी गुण असम्भव नहीं है।।२४१।। कूर्म–पुराण में कहा गया है–भगवान् श्रीकृष्ण न स्थूल हैं न सूक्ष्म, फिर भी उन्हें सब ओर से स्थूल और अणु कहा गया है, सब प्रकार वे वर्णहीन हैं, फिर

भी उन्हें श्याम–वर्ण एवं रक्त नेत्र प्रान्त वाला कहा जाता है। ऐश्वर्य योग के कारण श्रीभगवान् विरुद्ध धर्मों से युक्त कहे गये हैं।।२४२।।

गुण समूह परस्पर विरुद्ध होने पर भी उन महान् श्रीभगवान् में दोषों का सम्बन्ध किसी प्रकार भी ग्रहण नहीं करना चाहिए, परन्तु गुणों को पूर्णरूप से ग्रहण करना चाहिए।।२४३।।

महावाराहे च–

१२५–सर्वे नित्याः शाश्वताश्च देहास्तस्य परात्मनः।
हानोपादानरहिता नैव प्रकृतिजाः क्वचित्।।२४४।।
१२६–परमानन्दसंदोहा ज्ञानमात्राश्च सर्वतः।
सर्वे सर्वगुणैः पूर्णा सर्वदोषविवर्जिताः।।२४५।।

वैष्णवतन्त्रेऽपि–

१२७–अष्टादशमहादोषै रहिता भगवत्तनुः।
सर्वैश्वर्यमयी सत्यविज्ञानानन्दरूपिणी।।२४६।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*शाश्वता जगति पुनः पुनराविर्भाविनः, सर्वगुणैरित्यत्र स्वस्वापेक्षितैरिति ज्ञेयम्। (भा० १।३।२८) "एते चांशकलाः पुंस" इत्युक्तेः।।२४४–४५।।*

● *अनुवाद*–महावाराह पुराण में कहा गया है कि श्रीभगवान् परमात्मा के जितने भी देह या स्वरूप हैं, वे समस्त ही नित्य एवं शाश्वत हैं, माया के उपादान रहित हैं, प्राकृत या पंचभूतात्मक नहीं हैं। वे समस्त सर्वतोभाव से परमानन्द और ज्ञान स्वरूप हैं। वे समस्त सर्वगुणों से परिपूर्ण हैं तथा सब दोषों से रहित हैं। (जिस अवतार में जिस–जिस गुण की अपेक्षा होती है, उस–उस गुण से वे परिपूर्ण होते हैं।।२४४–४५।।

वैष्णव–तन्त्र में भी वर्णित है–भगवान् श्रीकृष्ण का देह अठारह प्रकार के दोषों से रहित है। समस्त ऐश्वर्यमय, सत्य तथा विज्ञान से युक्त और आनन्द–स्वरूप है।।२४६।।

अष्टादश महादोषाः, यथा विष्णुयामले–

१२८–मोहस्तन्द्रा भ्रमो रूक्षरसता काम उल्वणः।
लोलता मदमात्सर्ये हिंसा खेदपरिश्रमौ।।२४७।।
१२९–असत्यं क्रोध आकाङ्क्षा आशंका विश्वविभ्रमः।
विषमत्वं परापेक्षा दोषा अष्टादशोदिता।।२४८।।इति

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*मोहस्तन्द्रेति। भक्तप्रेमसम्बन्धेन त्वेते च गुणत्वाय, कल्पन्ते। यथा (भा० १०।१३।१६) "ततो वत्सानदृष्ट्वैत्य पुलिनेऽपि च वत्सपानित्यादौ" मोहः, (भा० १०।१५।१६)–*

क्वचित् पल्लवतल्पेषु नियुद्धश्रमकर्शितः।
वृक्षमूलाश्रयः शेते गोपोत्संगोपबर्हणः।।

इत्यादौ तन्द्राखेदश्रमाः, (भा० १०।८।२२) "तावद्ङ्घ्रियुग्ममनुकृष्ये"–त्यारभ्य; "अनुस्मृत्य लोकं मुग्धप्रभीतवदुपेयतुरन्ति मात्रोरि"–त्यादौ भ्रमः, रूक्षरसता नाम

प्रेमसम्बन्धं विना रागः, स तु नास्त्येव। उल्वणो दुःखदः कामो लौकिकः, तस्य प्रेमरूपकामत्वात् स च नास्त्येव। लोलता चाञ्चल्यं, सा च गुणो–यथा (भा० १० ।८ ।२६) "वत्सान्मुञ्चन् क्वचिदसमये" इत्यादौ। मदोऽपि यथा (भा० १० ।२५ ।२४) "मदविघूर्णितलोचन ईषदि" –त्यादौ' तथा मात्सर्यं–(भा० १० ।२५ ।१६) "लोकेशमानिनां मौढ्याद्धरिष्ये श्रीमदं तम"–इत्यादौ। हिंसा तु स्फुटैव बहुत्र। असत्यं (भा० १० ।८ ।६५) "नाहं भक्षितवानम्बे" त्यादौ; जरासन्धच्छलनादौ च, क्रोधोऽपि तत्र तत्र प्रसिद्ध एव, आकांक्षा (भा० १० ।६ ।४) "तां स्तन्यकाम आसाद्ये" त्यादौ, आशंका (भा० १० ।१३ ।१७) "क्वाऽप्यदृष्ट्वान्तर्विपिन" इत्यादौ, विश्वविभ्रमो जगदावेशः, स च ब्रह्मादिभक्तसम्बन्धेन जगत्पालनेच्छामयः'वैषम्यं (गी० ६ ।२६) "समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः। ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहमि" त्यादौ, परापेक्षा च (भा० ६ ।४ ।६३) "अहं भक्तपराधीन" इत्यादाविति, तस्मात् (भा० १० ।७७ ।३१) "क्व शोकमोहौ स्नेहो वा भयं वा येऽज्ञसम्भवा" इत्यत्र त्वज्ञसम्भवा ये त एव न सन्ति न तु विज्ञसम्भवा तेऽपीति मतं, विज्ञसम्भत्वन्तु च तेषां श्रीशुकदेवादिषु (भा० १० ।१२ ।४४) तत्स्मारितानन्तह्यताखिलेन्द्रियः" इत्याद्युक्तेर्भगवत्प्रेममोहादौ दृष्टमिति।।२४७–४८।।

● **अनुवाद–विष्णुयामल में अठारह महादोषों का वर्णन इस प्रकार किया है–१. मोह, २. तन्द्रा, ३. भ्रम, ४. रूक्षरसता अर्थात् प्रेम–सम्बन्ध के बिना भी राग, ५. उत्कट काम, ६. चंचलता, ७. मद, ८. मात्सर्य, ९. हिंसा, १०. खेद, ११. परिश्रम, १२. असत्य बोलना, १३. क्रोध, १४. प्रबल आकांक्षा, १५. आशंका, १६. विश्वविभ्रम अर्थात् विश्वपालनेच्छा–आवेश, १७. विषमता और १८. परापेक्षा।।२४७–४८।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–उपर्युक्त अठारह मुख्य–मुख्य महादोष हैं। श्रीकृष्ण में भक्त–प्रेम के सम्बन्ध के कारण ये कभी–कभी प्रकट होते हैं, जिससे ये भी उनमें गुण माने गये हैं। श्रीकृष्ण–लीला में इन सबका प्रदर्शन स्थान–स्थान पर हुआ है–जैसे मोह (भा० १० ।१३ ।१६) ब्रह्ममोहन लीला में। तन्द्रा, खेद एवं श्रम, (भा० १० ।१५ ।१६ में)। भ्रम (भा० १० ।८ ।२२ में) रूक्षरसता नामक दोष श्रीकृष्ण स्वरूप में है ही नहीं, कारण कि उनका समस्त विश्व से सम्बन्ध है, क्योंकि सम्बन्ध–तत्त्व हैं। अतः उनका सबके प्रति राग है। लौकिक प्रबल काम भी उनमें नहीं है, वह दुःखरूप होता है। उनका काम प्रेम रूप ही है, जो सुखस्वरूप है। चंचलता– (भा० १० ।८ ।२६ में), मद –(भा० १० ।३५ ।२४ में), मात्सर्य– (भा० १० ।२५ ।१६ में), हिंसा तो उनके द्वारा असुर संहार लीला में स्पष्ट दीखती है, परन्तु वह वास्तविक हिंसा नहीं। असुरों को मारकर भी मुक्ति–भक्ति प्रदान करने से यह वस्तुतः कृपा ही है। असत्य बोलना– (भा० १० ।८ ।३५ में), क्रोध– (भा० १० ।६ ।६ में), आकांक्षा– (भा० १० ।६ ।६ में), आशंका– (भा० १० ।१३ ।१७ में), विश्वविभ्रम– श्रीकृष्ण में ब्रह्मादि भक्तों के सम्बन्ध से जगत् पालनेच्छामय आवेश होता है। विषमता, गी० ६ ।२६, परापेक्षा, (भा० ६ ।४ ।६३) मैं सदा भक्त के पराधीन हूँ–इन वचनों से स्पष्ट है। अज्ञ लोगों की भाँति ये दोष श्रीकृष्ण में नहीं रहते,

क्योंकि इन सबका स्थान–स्थान पर वर्णन करने पर भी श्रीशुकदेवजी ने (भा० १० ।७७ ।३१) स्पष्ट कहा है " कि श्रीकृष्ण में अज्ञों में रहने वाले शोक–मोह, स्नेह, भयादि दोष नहीं हैं। श्रीकृष्ण विज्ञ–सम्भव हैं, अर्थात् लीलावशतः जहाँ उनकी आवश्यकता रहती है, वे उनका प्रदर्शन मात्र करते हैं। उनके स्वरूप में कोई भी दोष नहीं है। ।२४७–४८ ।।

१२०–इत्थं सर्वावतारेभ्यस्ततोऽप्यत्रावतारिणः।
व्रजेन्द्रनन्दने सुष्ठु माधुर्यभर ईरितः । ।२४६ ।।

तथा च ब्रह्मसंहितायामादिपुरुषरहस्ये (५।५६)–

१३०–यस्यैकनिश्वसितकालमथावलम्ब्य
जीवन्ति रोमविलजा जगदण्डनाथाः।
विष्णुर्महान् स इह यस्य कलाविशेषो
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि। ।२५० ।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*पूर्वोक्तपूर्णतमत्वं व्यञ्जन्नुपसंहरति–इत्थमिति। पूर्वप्रकरणोक्तप्रकारेणेत्यर्थः, ततस्तस्मात्प्रसिद्धादवतारिणो नानाऽवतारकर्तुर्महा–विष्णुतोऽपि, अत्र सुष्ठ्विति माधुर्यस्य प्राचुर्यादेवोक्तिरैश्वर्यमपि ज्ञेयमित्यर्थः । ।२४६ ।। तदेवाह तथा चेति। "यस्यैकनिश्वसितकालमि" त्यत्र गोविन्दशब्देन च तत्र श्रीव्रजेन्द्रनन्दन एवोच्यते "सुरभीरभिपालयन्तमि" त्यादिना वेणुं क्वणन्तमित्यादिना च पूर्वं तस्यैव वर्णनात्, ततस्तन्महामाधुर्यमपि सूचितं, न चायं श्रीनन्दनन्दनादन्य एव मन्तव्यः। गौतमीये दशार्णाष्टादशार्णयोर्व्याख्यायाम्–*

"अनेकजन्मसिद्धानां गोपीनां पतिरेव वा।
नन्दनन्दन इत्युक्तस्त्रैलोक्यानन्दवर्द्धन" । ।इति । ।

बहुष्वर्थेष्वप्यस्यैवार्थस्य पर्यवसायित्वात्, "सकललोकमंगलो नन्दगोपतनयो देवता" इति ऋष्यादिस्मरणाच्च। ।२५० ।।

● *अनुवाद*–इस प्रकार समस्त अवतारों से तथा सर्वावतारी महाविष्णु से भी सब विध अधिक माधुर्य व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण में है। ।२४६ ।।

जैसा कि ब्रह्मसंहिता के आदि पुरुष–निरूपण में कहा गया है–जिन महाविष्णु के एक निःश्वास काल का अवलम्बन करके, उनके ही रोमकूप–रूप बिल में उत्पन्न होने वाले ब्रह्माण्डों के स्वामी ब्रह्मादि जीवित रहते हैं, वे महाविष्णु भी जिनके कला भी विशेष या अंश हैं, उन आदि पुरुष श्रीगोविन्द को मैं नमस्कार करता हूँ। तात्पर्य यह है कि ऐसे श्रीकृष्ण में दोषों की कैसी सम्भावना ?–वे सदा समस्त दोषों से रहित हैं)। ।२५० ।।

१२१–अथाष्टावनुकीर्त्यन्ते सद्गुणत्वेन विश्रुताः।
मंगलालंक्रियारूपाः सत्त्वभेदास्तु पौरुषाः । ।२५१ ।।
१२२–शोभा विलासो माधुर्यं मांगल्यं स्थैर्यतेजसी।
ललितौदार्यमित्येते सत्त्वभेदास्तु पौरुषाः । ।२५२ ।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*मंगलेति। मंगलस्वरूपशोभाभूता इत्यर्थः। सत्त्वभेदाः अन्तःकरणवृत्तिविशेषाः।।२५१।।*

● *अनुवाद*—अब जो सद्‌गुणों रूप में प्रसिद्ध हैं, मंगल—स्वरूप के जो अलंकार शोभाभूत हैं, पुरुषनिष्ठ अन्तःकरण वृत्तिविशेष रूप उन आठ गुणों का वर्णन करते हैं।।२५१।।

वे हैं—१. शोभा, २. विलास, ३. माधुर्य, ४. मांगल्य, ५. स्थिरता, ६. तेज, ७. लालित्य एवं ८. औदार्य।।२५२।। अब इन गुणों का सोदाहरण वर्णन करते हैं। अब इन गुणों का सोदाहरण वर्णन करते हैं—

तत्र शोभा—

१२३—नीचे दयाऽधिके स्पर्द्धा शौर्योत्साहौ च दक्षता।
सत्यं च व्यक्तिमायाति यत्र शाभेति तां विदुः।।२५३।।

यथा—१३१—स्वर्गध्वंसं विधित्सुर्व्रजभुवि कदनं सुष्ठु वीक्ष्यातिवृष्टया
नीचानालोच्य पश्चान्नमुचिरिपुमुखानूढकारुण्यवीचिः।
अप्रेक्ष्य स्वेन तुल्यं कमपि निजरुषामत्र पर्याप्तिपात्रं—
बन्धूनानन्दयिष्यन्नुदहरत हरिः सत्यसंधो महाऽद्रिम्।।२५४।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*अत्राधिक इत्यधिकम्मन्य इत्यर्थः, यत्र मंगलालंक्रिया—याम्।।२५३।। तथाऽपि दुर्जनमुख्यमेकं मारत्यत्वियाशंक्याह—अप्रेक्ष्येति।।२५४।।*

● *अनुवाद*—१. अपने से दुर्बल के प्रति दया, २. अपने से अधिक के प्रति स्पर्द्धा, ३. शूरवीरता, ४. उत्साह, ५. दक्षता और ६. सत्य—ये छः गुण जहाँ प्रकाशित होते हैं, उसे *'शोभा'* कहते हैं।।२५३।।

जैसा कि कहा गया है—अति वृष्टि के कारण व्रजभूमि में होने वाले विनाश को देखकर, स्वर्ग को नाश करने के लिए उद्धत हुए श्रीकृष्ण ने जब इन्द्र को नीचा मुँह किये हुए देखा तो उनके भीतर दया की हिलोर उठने लगीं। इस प्रकार सत्यप्रतिज्ञ श्रीकृष्ण ने अपने क्रोध के किसी पात्र को अपने समान न पाकर बन्धुओं को आनन्दित करते हुए गोवर्धन को धारण कर लिया। इस श्लोक में दया, स्पर्द्धा, शौर्य, उत्साहादि शोभा के सब लक्षण प्रकाशित हो रहे हैं।।२५४।।

अथ विलासः—

१२४—वृषभस्येव गम्भीरा गतिर्धीरञ्च वीक्षणम्।
सस्मितं च वचो यत्र स विलास इतीर्यते।।२५५।।

यथा—१३२—मल्लश्रेण्यामविनयवतीं मन्थरां न्यस्य दृष्टिं
व्याधुन्वानो द्विप इव भुवं विक्रमाडम्बरेण।
वागारम्भे स्मितपरिमलैः क्षालयन्मञ्चकक्षां
तुंगे रंगस्थलपरिसरे सारसाक्षः ससार।।२५६।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*वृषभस्येति गतौ वीक्षणे च योज्यम्।।२५५।। यतो मन्थरा नम्रतावैयग्र्यादिशून्या तत एवाविनयवतीति ज्ञेयं, द्विप एवेत्यत्र वृष इवेति पाठान्तरम्।।२५६।।*

● *अनुवाद*—वृषभ की तरह गम्भीर गति, धीर—दृष्टि तथा मुसकराते हुए बात करना जहाँ पाया जाता है, उसको "विलास" कहते हैं।।२५६।।

इसका उदाहरण इस प्रकार है—मल्लों की पंक्ति पर क्रूर और स्थिर दृष्टि डालकर, हाथी के समान भयंकर पाद—प्रहार से भूमि को कँपाते हुए, फिर अपनी मुसकराहट युक्त बोलिन की कान्ति से मंचभूमि को उज्ज्वल करते हुए कमलनयन श्रीकृष्ण ऊँचे रंगमंच पर चढ़ गये।।२५६।।

माधुर्यम्—

१२५—तन्माधुर्यं भवेद्यत्र चेष्टादेः स्पृहणीयता।।२५७।।

यथा—१३३—वरामध्यासीनस्तटभुवमवष्टम्भरुचिभिः
कदम्बैःप्रालम्बं प्रवलितविलम्बं विरचयन्।
प्रपन्नाायामग्रेमिहिरदुहितुस्तीर्थपदवीं
कुरंगीनेत्रायां मधुरिपुरपांगं विकिरति।।२५८।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*अवष्टम्भः सुवर्णं, प्रालम्बम् ऋजुलम्बि माल्यं, प्रवलितो बिलम्बो यत्र तद्यथा स्यात् तद्व्याजेनैव तत्र स्थितिः स्यादित्यभिप्रायादिति भावः, पाठान्तरं तु नात्युपयुक्तम्।।२५८।।*

● *अनुवाद*—जहाँ चेष्टादि की स्पृहणीयता रहे, उसे 'माधुर्य' कहते हैं।।२५७।।

जैसा कि वर्णित है—यमुना के किनारे की सुन्दर भूमि पर बैठे हुए, सुवर्ण की कान्ति के समान कदम्ब पुष्पों से धीरे—धीरे माला बनाते हुए श्रीकृष्ण यमुना के घाट पर सामने पानी भरने के लिए आई हुई मृगनैनियों पर कटाक्ष कर रहे हैं।।२५८।।

मांगल्यम्—

१२६—मांगल्यं जगतामेव विश्वासास्पदता मता।।२५६।।

यथा—१३४—अन्याय्यं न हराविति व्यपगतद्वारार्गला दानवा—
रक्षी कृष्ण इति प्रमत्तमभितः क्रीडासु रक्ताः सुराः।
साक्षी वेत्ति स भक्तिमित्यवनतव्राताश्च चिन्तोज्झिताः
के विश्वंभर ! न त्वदंघ्रियुगले विस्रम्भितां भेजिरे।।२६०।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*कृष्ण इत्यत्र सोऽयमिति वा पाठः, प्रमत्तमनवहितं यथा स्यात्तथा, रक्ता इति प्रमादरूपः कर्तृधर्मः क्रियायामारोप्यते क्रियाकर्त्रोरासक्त्या तादात्म्यबोधनाय, अन्याय्यमित्यत्र भक्तिर्यथा कथंचिदाश्रयमात्रं "साक्षी वेत्ति ममाप्यसावगतितामित्याश्रितां स्वस्थिता" इति वा तृतीयश्चरणः।।२६०।।*

● *अनुवाद*—निखिल जगत् की विश्वासपात्रता ही "मांगल्य" कहलाती है।।२५६।।

श्रीकृष्ण के यहाँ किसी के प्रति अन्याय नहीं है, इसलिए दानवों ने निर्भय होकर अपने दरवाजे खोल रखे हैं, श्रीकृष्ण हमारे रक्षक हैं, यह सोचकर देवतागण चारों ओर निर्भय होकर क्रीड़ा में लगे हुए हैं। श्रीकृष्ण अन्तर्यामी होने से भक्तों को जानते हैं, इसलिए भक्तगण निश्चिन्त हो रहे हैं,

इसलिए हे विश्वम्भर ! कौन ऐसा है जिसका आपके चरणों में विश्वास नहीं है (आप सबके विश्वासपात्र हैं)।।२६०।।

स्थैर्य–

१२७–व्यवसायादचलनं स्थैर्यं विघ्नाकुलादपि।।२६१।।

यथा–१३५–प्रतिकूलेऽपि सशूले शिवे शिवायां निरंशुकायां च।
व्यलुनादेव मुकुन्दो बिन्ध्यावलिनन्दनस्य भुजान्।।२६२।।

● *अनुवाद*–अनेक विघ्नों के उपस्थित होने पर भी अपने निश्चय से विचलित न होना *"स्थैर्य"* कहलाता है।।२६१।।

जिसका उदाहरण इस प्रकार है–त्रिशूलधारी श्रीशिव के प्रतिकूल होने पर भी पार्वती की प्रतिमूर्ति बाणासुर की धर्ममाता कोटरा के नग्न अवस्था में सामने आने पर भी श्रीकृष्ण ने बाणासुर की भुजाओं को काट ही दिया।।२६२।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–उपर्युक्त श्लोक बाणासुर एवं श्रीकृष्ण के परस्पर युद्ध आख्यान पर आधारित है। श्रीअनिरुद्ध को बाणासुर की लड़की उषा की सखी चित्रा योगविद्या द्वारा द्वारका से उठाकर शोणितपुर ले गई थी। श्रीकृष्ण ने बाणासुर पर चढ़ाई की। बाणासुर शिवभक्त था, श्रीशिव भी श्रीकृष्ण के सामने युद्ध में आ उपस्थित हुए। बाणासुर को एक दिन युद्ध में अति व्याकुल तथा उस पर प्राण संकट आया देखकर उसकी धर्ममाता कोटरा नंगी होकर श्रीकृष्ण के सामने भागती चली आई। श्रीकृष्ण ने झट मुँह फेर लिया। मौका पाकर बाणासुर युद्ध से भाग गया। फिर जब वह युद्ध में आया तो श्रीभगवान् ने उसकी ६६६ भुजायें काट डालीं। इस अवस्था में श्रीशिवजी ने आकर श्रीकृष्ण की स्तुति की और बाणासुर के प्राणों की रक्षा की। (विस्तृत आख्यान श्रीमद्भागवत (१०।६३ अध्याय) में द्रष्टव्य है)। यहाँ शिवजी की प्रतिकूलता तथा शिवा के नग्न होने पर भी श्रीकृष्ण की युद्ध में स्थिरता का उदाहरण दिखाया गया है।।२६२।।

तेजः–

१२८–सर्वचित्तावगाहित्वं तेजः सद्भिरुदीर्यते।।२६३।।

यथा दशमे (१०।४३।१७)–

१३६–मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः।
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रंगं गतः साग्रजः।।२६४।।

● *अनुवाद*–सब लोगों के चित्त में समा जाने को सज्जन पुरुष *"तेज"* कहते हैं।।२६३।।

श्रीमद्भागवत (१०।४३।१७) में श्रीकृष्ण के तेज का उदाहरण इस प्रकार कथित हैं–श्रीबलरामजी के साथ जब भगवान् श्रीकृष्ण कंस की रंगभूमि में पधारे तो मल्लों को वज्र के समान भयंकर, सामान्य लोगों को नर–रत्न तथा स्त्रियों को मूर्तिमान कामदेव रूप में प्रतीत हुए। गोपों के लिए अपने बान्धव, दुष्ट राजाओं को दण्ड देने वाले शासक, अपने माता–पिता को शिशु, कंस

को यमराज, अज्ञानियों को विराट्, योगियों को परमतत्त्व तथा यदुवंशियों को परम देवता के समान प्रतीत हुए। (अर्थात् सबके अन्तःकरण की वृत्तियों के अनुकूल रूप में श्रीकृष्ण सबके चित्त में प्रतीत हुए—यह उनका *'तेज'* गुण है)।।२६४।। (तेज का दूसरा लक्षण आगे कहते हैं)—

यथा १२६—तेजो बुधैरवज्ञादेरसहिष्णुत्वमुच्यते।।२६५।।

यथा १३७— आक्रुष्टे प्रकटं दिदण्डयिषुणा चण्डेन रंगस्थले
नन्दे चानकदन्दुभौ च पुरतः कंसेन विश्वद्रुहा।
दृष्टिं तत्र सुरारि—मृत्यु—कुलटा—संपर्कदूतीं क्षिपन्
मञ्चस्योपरि संचुकूर्दिषुरसौ पश्याच्युतः प्राञ्चति।।२६६।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*तत्र कंसे, सुरारीणां या मृत्युरूपा कुलटा तस्याः संपर्काय दूतीरूपां दृष्टिं क्षिपन् प्रेरयन्नित्यनुसारेणैव पाठस्तेषामभीष्टः, दानववर्यादिशब्दास्तु कंसस्य नापकर्षव्यञ्जकाः।।२६६।।*

● *अनुवाद*—अपमान आदि के सहन न करने को भी विद्वान् लोग *"तेज"* कहते हैं।।२६५।।

उदाहरण— श्रीनन्द तथा श्रीवसुदेव के सामने श्रीकृष्ण को दण्ड देने की इच्छा करने वाले अत्यन्त उग्र एवं विश्व को सन्तप्त करने वाले कंस ने जब रंग भूमि में श्रीकृष्ण को फटकारा तो श्रीकृष्ण ने कंस के प्रति असुरों के नाशरूप कुलटा के सम्पर्क के लिए दूतीरूपा दृष्टि को निक्षेप किया तथा एक छलांग लगाकर मंच के ऊपर जाने के लिए कुछ पीछे हटकर वे आगे बढ़े। (यहाँ अपमान को सहन न कर श्रीकृष्ण के आगे बढ़ते को 'तेज' में ग्रहण किया गया है)।।२६६।।

ललितम्—

१३०—श्रृंगारप्रचुरा चेष्टा यत्र तं ललितं विदुः।।२६७।।

यथा—१३८—विधत्ते राधायाः कुचमुकुलयोः केलिमकरीं
करेण—व्यग्रात्मा सरभसम सव्येन रसिकः।
अरिष्टे साटोपं कटु रुवति सव्येन विहस—
न्नुदञ्चद्रोमाञ्चं रचयति च कृष्णः परिकरम्।।१६८।।

● *अनुवाद*—जहाँ श्रृंगार—बहुल चेष्टायें होती हैं, वहाँ "ललित" गुण जानना चाहिए।।२६७।।

उदाहरण—रसिक श्रीकृष्ण स्थिर चित्त से आनन्दपूर्वक दायें हाथ से श्रीराधा के उरोज—मुकुलद्वय पर केलिमकरी की रचना कर रहे थे, उसी समय अरिष्टासुर दर्प के साथ कटु चीत्कार करने लगा। श्रीकृष्ण रोमांचित—तनु होकर मुसकुराते हुए युद्ध के लिए बायें हाथ से कमर कसने लगे। (युद्ध की तैयारी के समय भी श्रृंगारमयी चेष्टा का श्रीकृष्ण में प्रकाशित रहना उनका *'ललित'* गुण है।।२६८।।

औदार्यम्—

१३१—आत्माद्यर्पणकारित्वमौदार्यमिति कीर्त्यते।।२६९।।

यथा—१३२—वदान्यः को भवेदत्र वदान्यः पुरुषोत्तमाद्।
अकिञ्चनाय येनात्मा निर्गुणायापि दीयते।।२७०।।

● *अनुवाद*—अपने को भी (भक्तों को) अर्पण कर देने का नाम *"औदार्य"* है।।२६६।।

जो अकिञ्चन और निर्गुण (भक्तों) को भी अपने—आप को दे डालते हैं, उन पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण से बढ़कर और कौन उदार है ? तुम ही बताओ; अर्थात् उनसे बढ़कर कोई उदार नहीं है।। (पुराने संस्करणों में इस श्लोक को कारिका रूप में लिया गया है, वास्तव में यह उदाहरण रूप है)।।२७०।।

१३३—सामान्या नायकगुणाः स्थिरताद्या यदप्यमी।
तथापि पूर्वतः किंचिद्विशेषात्पुनरीरिताः।।२७१।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*पूर्वतः (२।१।१०७) "आफलोदयकृत्—स्थिर" इत्यादितः' किंचिद्विशेषात् परस्परषोणात् कुत्रापि स्वतः पोषणाच्च, पुनः सत्त्वभेदेष्वीरिताः।।२७१।।*

● *अनुवाद*—यद्यपि उपर्युक्त स्थिरता आदि सामान्य—नायक के गुण हैं, तथापि पहले (२।१।१०७) से इनमें कुछ विशेषता होने के कारण इन्हें यहाँ दुबारा कहा गया है।।२७१।।

अब आगे मुख्य—नायक भगवान् श्रीकृष्ण के सहायकों का वर्णन करते हैं— अथास्य सहायाः—

१३४—अस्य गर्गादयो धर्मे ययुधानादयो युधि।
उद्धवाद्यास्तथा मन्त्रे सहायाः परिकीर्तिताः।।२७२।।

● *अनुवाद*—गर्गाचार्य आदि धर्म—कार्य में, युयुधान—सात्यकि आदि युद्ध में तथा श्रीउद्धवादि मन्त्रणा—कार्य में श्रीकृष्ण के सहायक माने गये हैं।।२७२।।
अथ कृष्णभक्ताः—

१३५—तद्भावभावितस्वान्ताः कृष्णभक्ता इतीरिताः।।२७३।।
१३६—ये सत्यवाक्य इत्याद्या ह्रीमानित्यन्तिमा गुणाः।
प्रोक्ताः कृष्णेऽस्य भक्तेषु ते विज्ञेया मनीषिभिः।।२७४।।
१३७—ते साधकाश्च सिद्धाश्च द्विविधाः परिकीर्तिताः।।२७५।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*तद्भावेति। तेन सर्वोत्कृष्टेन निजाभीष्टेन च भावेन रत्यादिविशेषेण भावितं वासितं स्वान्तं येषां ते तथा, सजातीयतदीयमहाभक्तविशेषा आलम्बना इत्यर्थः, अन्ये तूद्दीपना इति भावः, तथैवोद्दीपनेष्वपि भक्ता गणयिष्यन्ते।।२७३।। विज्ञेया विशेषेण ज्ञेया इत्यन्येऽपि यथासंभवं ज्ञेया इत्यर्थः।।२७४।। तद्वैशिष्ट्यज्ञापनार्थं भक्तभेदान् दर्शयति—ते साधका इति।।२७५।।*

● *अनुवाद*—रति आदि से लेकर महाभाव पर्यन्त श्रीकृष्ण—भाव द्वारा जिनका अन्तःकरण यथोचित भावित है, वे *'श्रीकृष्ण—भक्त'* कहे गये हैं।।२७३।।

श्रीकृष्ण—विषय में (२।१।६७ से १४१) सत्यवाक्य से लेकर ह्रीमान पर्यन्त जो २६ गुण कहे गये हैं, मनीषिगण भक्तों में भी उन समस्त गुणों का यथासम्भव समाहार किया करते हैं।।२७४।।

श्रीकृष्ण–भक्त दो प्रकार के हैं–१. साधक–भक्त तथा २. सिद्धभक्त।।२७५।।

तत्र साधकाः–

१३८–उत्पन्नरतयः सम्यङ् नैर्विघ्न्यमनुपागताः।
कृष्णसाक्षात्कृतो योग्याः साधका इति कीर्तिताः।।२७६।।

यथैकादशे (११।२।४६)–

१३९–ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च।
प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः।।२७७।।

यथा वा–१४०–सिक्ताऽप्यश्रुजलोत्करेण भगवद्वार्ता–नदीजन्मना
तिष्ठत्येव भवाग्निहेतिरिति ते धीमन्नलं चिन्तया।
हृद्व्योमन्यमृतस्पृहाहर–कृपावृष्टेः स्फुटं लक्ष्यते
नेदिष्ठः पृथुरोम–ताण्डवभरात्कृष्णाम्बुदस्योद्गमः।।२७८।।

१३९–बिल्वमंगलतुल्या ये साधकास्ते प्रकीर्तिताः।।२७९।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*पूर्वस्य विघ्नकारणभावमाशंक्यान्यदुदाहरणमाह–यथा वेति। हेतिर्ज्वाला, पक्षे पृथुरोमाणो मत्स्याः।।२७८।।*

● *अनुवाद*–जिनके भीतर अच्छी प्रकार से कृष्ण–रति उत्पन्न हो चुकी है, किन्तु जो निर्विघ्नता को प्राप्त नहीं हुए हैं; परन्तु जो श्रीकृष्ण के साक्षात्कार करने की योग्यता रखते हैं, वे *"साधक–भक्त"* कहलाते हैं।।२७६।।

जैसा कि श्रीमद्भागवत (११।२।४६) में कहा गया है–श्रीभगवान् में प्रेम भगवद्भक्तों में मैत्री, अज्ञानियों तथा शत्रुओं के प्रति प्रेम, पर कृपा उपेक्षा रखता है, वह मध्यम–भक्त अर्थात् साधक–भक्त है।।२७७।।

साधक–भक्तों का परिचय इस प्रकार भी दिया गया है–हे विद्वन्! आप इस बात की चिन्ता न करें कि श्रीकृष्ण कथा रूप नदी से प्राप्त होने वाली अश्रुजल धारा से भी संसार–अग्नि की ज्वाला शान्त नहीं हो रही है, क्योंकि विस्तीर्ण रोमावली (मयूर) के ताण्डव से तुम्हारे हृदयाकाश में अमृतत्व की इच्छा और कृपादृष्टि के वर्षक श्रीकृष्णमेघ का उदय शीघ्र ही होने वाला दीखता है।। (अर्थात् जिन भक्तों में कृष्ण–कथा श्रवण–कीर्तन से अश्रु–पुलकादि सात्त्विक विकार होने लगते हैं, संसार–तापके पूर्णतः निवृत्त होने पर उनमें श्रीकृष्ण के साक्षात्कार की योग्यता होती है, अतः वे साधक–भक्त हैं।।२७८।।

श्रीबिल्वमंगल के समान जो भक्त हैं वे *'साधक–भक्त'* कहलाते हैं।।२७९।।

अथ सिद्धाः–

१४०–अविज्ञाताखिलक्लेशाः सदा कृष्णाश्रितक्रियाः।
सिद्धाः स्युः सन्तप्रेमसौख्यास्वादपरायणाः।।२८०।।
१४१–संप्राप्तसिद्धयः सिद्धा नित्यसिद्धाश्च ते द्विधा।।२८१।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*अथ महाभक्तान् दर्शयति अथ सिद्धा इति।।२८०।।*

● *अनुवाद*–समस्त क्लेशों (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश) से रहित, सदा कृष्ण–विषयक सेवा–कार्यरत तथा निरन्तर प्रेमानन्द का आस्वादन करने वाले भक्त *'सिद्ध–भक्त'* हैं।।२८०।।

सिद्ध–भक्त दो प्रकार के हैं–१. सम्प्राप्त–सिद्धि तथा २. नित्य–सिद्ध।।२८१।।

तत्र सम्प्राप्तसिद्धयः–

१४२–साधनैः कृपया चास्य द्विधा संप्राप्तसिद्धयः।।२८२।।

तत्र साधनसिद्धाः यथा तृतीये (३।१५।२५)–

१४१–यच्च व्रजन्त्यनिमिषामृषभानुवृत्त्या
दूरेयमा ह्युपरि नः स्पृहणीयशीलाः।
भर्तुर्मिथः सुयशसः कथनानुराग–
वैक्लव्यबाष्पकलया पुलकीकृतांगाः।।२८३।।

यथा–वा–१४२–ये भक्तिप्रभविष्णुताकवलितक्लेशोर्म्मयः कुर्वते
दृक्पातेऽपि घृणां कृतप्रणतिषु प्रायेण मोक्षादिषु।
तान् प्रेमप्रसरोत्सवस्तवकितस्वान्तान् प्रमोदाश्रुभि–
र्निर्धौतास्यतटान्मुहुः पुलकिनो धन्यान्नमस्कुर्महे।।२८४।।

१४३–मार्कण्डेयादयः प्रोक्ताः साधनैः प्राप्तसिद्धयः।।२८५।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*प्रायेणेति। "कथंचिद्यदि वाञ्छति" इतिवत्।।२८४।।*

● *अनुवाद*–सम्प्राप्त सिद्ध–भक्ति फिर दो प्रकार के हैं–१. साधनों के द्वारा सिद्ध तथा २. कृपा के द्वारा सिद्धि प्राप्त करने वाले।।२८२।।

श्रीमद्भागवत (३।१५।२५) में साधन–सिद्धों का उदाहरण–श्रीब्रह्माजी ने कहा है, देवाधिदेव श्रीकृष्ण का निरन्तर चिन्तन करते रहने के कारण जिनसे यमराज दूर रहते हैं, परस्पर कृष्ण–गुण कथा कहने–सुनने पर अनुरागवश विह्वलता के कारण जिनके नेत्रों से अविरल अश्रुधारा प्रवाहित होने लगती है, तथा शरीर में पुलकावलि होने लगती है और जिनके समान शील स्वभाव की हम ब्रह्मादिक भी इच्छा करते हैं, वे परम–भागवत ही हमारे लोकों से ऊपर उस वैकुण्ठ धाम को गमन करते हैं।।२८३।।

और भी कहा गया है, भक्ति के प्रभाव से जिनके समस्त क्लेश नष्ट हो गये हैं, मोक्षादि पर्यन्त चतुर्वर्ग के स्वयं आकर प्रणाम करने पर भी जो उन पर दृष्टिपात करने में भी घृणा करते हैं, प्रेमविस्तार से जिनके हृदय प्रफुल्लित रहते हैं, जो पुलकादि से शोभित हैं तथा जिनके मुख आनन्दाश्रु–धारा से सदा धुले हुए हैं–अभिषिक्त रहते हैं, ऐसे भक्तों को हम नमस्कार करते हैं।। (ये सब साधन–सिद्ध भक्तों के लक्षण हैं)।।२८४।।

मार्कण्डेय आदि साधन के द्वारा सिद्धि प्राप्त करने वाले भक्त माने गये हैं।।२८५।।

अथ कृपासिद्धाः–यथा श्रीदशमे (१०।२३।४२–४३)–

१४३–नासां द्विजातिसंस्कारो न निवासो गुरावपि।
न तपो नात्ममीमांसा न शौचं न क्रियाः शुभाः।।२८६।।

१४४—अथापि ह्युत्तमश्लोके कृष्णे योगेश्वरेश्वरे।
भक्तिर्दृढा न चास्माकं संस्कारादिमतामपि।।२८७।।

यथा वा—१४५—न काचिदभवद् गुरोर्भजनयन्त्रणेऽभिज्ञता
न साधनविधौ च ते श्रमलवस्य गन्धोऽप्यभूत्।
गतोऽसि चरितार्थतां परमहंसमृग्यश्रिया
मुकुन्दपदपद्मयोः प्रणयसीधुनो धारया।।२८८।।

१४४—कृपासिद्धा यज्ञपत्नीवैरोचनिशुकादयः।।२८६।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*तासु यज्ञपत्नीषु भगवद्गुणकथन सत्संग-कारणमनुस्मृत्य संस्कारादीनां प्रेमसाधनत्वं च संदिह्याह—यथेति। न काचिदिति श्रीशुकदेवमुद्दिश्य श्रीनारदवाक्यम्।।२८६।। कृपासिद्धा यज्ञपत्नीति यदुक्तं तत्त्वापातप्रतीत्यपेक्षयेति ज्ञेयम्।।२८६।।*

● *अनुवाद*—श्रीमद्भागवत (१०।२३।४२—४३) में कृपा से सिद्धि लाभ करने वाले भक्तों का उदाहरण; श्रीशुकदेवजी ने कहा—इन यज्ञ—पत्नियों के न तो द्विजाति योग्य यज्ञोपवीत आदि संस्कार हुए और न इन्होंने गुरुकुल में ही निवास किया, न कोई तप किया, न आत्मा के सम्बन्ध में विवेक—विचार ही किया, न इनमें पवित्रता है, न कोई शुभ कर्म किया, फिर भी समस्त योगेश्वरों के ईश्वर पुण्यकीर्ति भगवान् श्रीकृष्ण के चरणों में इनका दृढ़ प्रेम है। हमने तो सब संस्कारादि भी किये हैं, फिर भी हमारी श्रीकृष्ण—चरणों में भक्ति नहीं है। (इससे यज्ञ—पत्नियों की भगवत्—कृपा से सिद्धि अर्थात् भगवत्—साक्षात्कारादि सिद्ध होता है)।।२८६—८७।।

कृपासिद्ध भक्तों का परिचय इस प्रकार भी वर्णन किया गया है—गुरु की सेवा का एवं उन द्वारा नियन्त्रण का परिश्रम तुमको कभी नहीं हुआ, और न साधन—सिद्धि में तुमको कभी गन्ध मात्र भी श्रम उठाना पड़ा, फिर भी परम हंस व्यक्ति जिसका अनुसन्धान करते हैं, उस सौभाग्य—सम्पति रूप श्रीमुकुन्द के चरणकमलों की प्रेमरस मधुधारा को तुमने प्राप्त कर सफलता पा ली है।।२८८।।

यज्ञ—पत्नियाँ, वैरोचनि—बलि—राजा तथा श्रीशुकदेव मुनि आदि कृपा—सिद्ध भक्तों के उदाहरण हैं। (इनकी सिद्धि या कृपा—प्राप्ति कथा श्रीभागवत में प्रसिद्ध है)।।२८६।।

अथ नित्यसिद्धाः—

१४५—आत्मकोटिगुणं कृष्णे प्रेमाणं परमं गताः।
नित्यानन्दगुणाः सर्वे नित्यसिद्धा मुकुन्दवत्।।२६०।।

यथा पाद्मे श्रीभगवत् सत्यभामादेवी—संवादे—

१४६—अथ ब्रह्मादिदेवानां तथा प्रार्थनया भुवः।
आगताऽहं तमा सर्वे जातास्तेऽपि मया सह।।२६१।।

१४७—एते हि यादवाः सर्वे मद्गणा एव भामिनि !
सर्वदा मत्प्रिया देवि ! मत्तुल्यगुणशालिनः ।।२६२।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*मुकुन्दवद् ये नित्यानन्दगुणास्ते नित्यसिद्धा इत्यन्वयः, नित्याश्च आनन्दरूपाश्च गुणास्तदुपलक्षितदेहाश्च येषां ते इति, तेषां मुख्यलक्षणमाह—आत्मेति। आत्मप्रेमतोऽपि कोटिगुणमित्यर्थः, मध्यपदलोपात्।।२६०।। मत्प्रिया इति। अहमेव प्रियो येषां न तथात्मादय इत्यर्थः।।२६२।।*

● *अनुवाद*—जो अपनी आत्मा से भी श्रीकृष्ण में कोटि गुणाधिक परम प्रेम रखते हैं, श्रीकृष्ण के समान नित्य हैं तथा आनन्द स्वरूप हैं, वे *"नित्यसिद्ध भक्त"* हैं।।२६०।।

श्रीपद्मपुराण में श्रीभगवान् तथा श्रीसत्यभामादेवी के संवाद में वर्णित है, हे भामिनि ! ब्रह्मादि देवतागण की तथा पृथ्वी की प्रार्थना से मैं जगत् में अवतीर्ण हुआ हूँ। मेरे सब परिकरगण भी मेरे साथ आविर्भूत हुए हैं। ये सब यादवगण मेरे ही परिकर हैं और मेरे प्रिय हैं तथा मेरे समान गुणों से युक्त हैं।।२६१—६२।।

श्रीदशमे (१०।१४।३२)—

१४८—अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्।।२६३।।

तत्रैव (भा० १०।२६।१३)—

१४६—दुस्त्यजश्चानुरागोऽस्मिन् सर्वेषां नो व्रजौकसाम्।
नन्द ते तनयेऽस्मासु तस्याप्यौत्पत्तिकः कथम्।।२६४।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*अहो भाग्यमहो भाग्यमिति, विस्मयाधिक्ये वीप्सा, तेन द्वयोरेव पदयोर्न पौनरुक्त्यम्, अथवा नन्दगोपव्रजौकसां भाग्यमहः प्रकाशकं यावद्भाग्यद्योतकमित्यर्थः, अहो इति विस्मये, यद् यस्माद् येषां वा ब्रह्म त्वं मित्रं कीदृशं। ब्रह्म पूर्णं मूर्तपूर्णानन्दत्वाद् अमूर्तानन्दस्तु तथा पूर्णो न भवति, तदपेक्षया श्रीविग्रहस्यैव प्रचुरानन्दत्वात् तथा च, "संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोरिति" (भा. ३।१५।४३) ब्रह्मज्ञाननिपुणानामपि चित्ततनुसंक्षोभसूचनात्, पुनः कीदृशस्त्वं ब्रह्म परमानन्दं परम आनन्दो यस्माद्। अमूर्तानन्दात् मूर्त्तानन्दस्य परमत्वं श्रेष्ठत्वमुक्तप्रकारसनकाद्युक्तेः, अतोऽत्र पूर्णत्वं परमानन्दत्वं च द्वयमेव मूर्तानन्दत्वबोधकम् अन्यथा ब्रह्मेत्यनेनैव तदुभयमुपलभ्येत, किमपरं तथानिर्देशेन, एवं ब्रह्मणो विशेषणमुक्त्वा मित्रविशेषणमाह—सनातनमिति। कीदृशं मित्रं सनातनं नित्यं त्रैकालिकमिति यावत्, यथा त्वं त्रिकालसिद्धस्तथा व्रजलोकोऽपीऽति भावः, येन हि तेषां सनातनं मित्रं त्वमसि अत एषां भाग्यं किं वक्तव्यमिति भावः।।२६३।।*

● *अनुवाद*—नित्यसिद्ध परिकरों के सम्बन्ध में श्रीमद्भागवत (१०।१४।३२) में कहा गया है—"अहो ! श्रीनन्दराज, गोपगण तथा व्रजवासियों का परम सौभाग्य है कि जिनका पूर्ण आनन्द स्वरूप ब्रह्म (श्रीकृष्ण) सनातन मित्र है। अर्थात् नित्य त्रैकालिक मित्र है।।२६३।।

श्रीमद्भागवत (१०।२६।१३) में भी कहा गया है—हे नन्दराज ! आपके पुत्र इस श्रीकृष्ण में हम सब व्रजवासियों का कभी न छूटने वाला अर्थात् नित्यसिद्ध प्रेम है। तब उसका हमारे प्रति अनित्य प्रेम कैसे हो सकता है।।२६४।।

१४६—सनातनं मित्रमिति तस्याप्यौत्पत्तिकः कथम्।
स्नेहोऽस्मास्विति चैतेषां नित्यप्रेष्ठत्वमागतम्।।२६५।।
१४७—इत्यतः कथिताः नित्यप्रिया यादवबल्लवाः।
एषां लौकिकवच्चेष्टा लीला मुररिपोरिव।।२६६।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*सनातनं मित्रमितित्येतादृशयोजनयेत्यर्थः, अन्यथा सनातनपदवैयर्थ्यं स्यात्, पूर्णत्वेनैव तत्सिद्धेः, यदि च ब्रह्मणो विशेषणं तत् सनातनं स्यात् तथापि मित्रता—वैशिष्ट्यर्थमेव तद्विशिष्यते समानमेव। मनोरमं सुवर्णमिदं कुण्डलं जातमित्यत्र यथा कुण्डलस्यैव मनोरमत्वं साध्यं तद्वत्, तस्यापीति स्वभावसम्बन्धसूचनान्नित्यत्वमाक्षिप्यते। तदेवमत्र (भा० १०।२५।१८) तस्मान्मच्छरणं गोष्ठमित्याद्यपि ज्ञेयम्, अत्र विशेषजिज्ञासाचेच्छ्रीकृष्णसंदर्भो दृश्यः।।२६५।।*

● *अनुवाद*—पूर्व श्लोक में श्रीकृष्ण को व्रजवासियों का सनातन मित्र कहा गया है, "इसलिए हमारे प्रति उनका अनित्य प्रेम कैसे हो सकता है ?"—इसलिए समस्त व्रजवासियों का नित्य प्रियत्व सिद्ध होता है।।२६५।।

इसलिए यादवगण तथा गोपगण श्रीकृष्ण के नित्यप्रिय कहे गये हैं। श्रीकृष्ण की लीलाओं के समान इनकी चेष्टायें भी अलौकिक होते हुए लौकिक सी प्रतीत होती है।।२६६।।

हरिकृपा—बोधिनी टीका—उपर्युक्त श्लोकों में पूर्ण ब्रह्म का श्रीनन्दादि व्रजवासियों के साथ सम्बन्ध दिखाते हुए उनके भाग्यों की सराहना की गई है, फिर भी 'सनातन—मित्र' का विशेषण ब्रह्म को दिया गया है। ब्रह्म का स्वरूप अमूर्त पूर्णानन्द है, उससे मूर्त पूर्णानन्द का अर्थात् पूर्णानन्द श्रीविग्रह का सर्वोत्कर्षमय वैशिष्ट्य है। इससे व्रजवासियों के सौभाग्य का और भी महत्त्व प्रदर्शित होता है। जैसे सोने का कुण्डल कहने से सोने से कुण्डल की अधिक मनोरमता प्रकाशित होती है, उसी प्रकार पूर्ण ब्रह्म के साथ सनातन—मित्र विशेषण देने से ब्रह्म से भी कहीं अधिक मनोरमता—उत्कर्ष श्रीकृष्ण का ज्ञापित होता है, जिससे व्रजवासियों का असमोर्द्ध्व प्रियत्व सिद्ध होता है।।२६५—६६।।

तथा हि पाद्मोत्तरखण्डे—

१५०—यथा सौमित्रिभरतौ यथा संकर्षणादयः।
तथा तेनैव जायन्ते निजलोकाद्यदृच्छया।।२६७।।
१५१—पुनस्तेनैव गच्छन्ति तत्पदं शाश्वतं परम्।
न कर्मबन्धनं जन्म वैष्णवानां च विद्यते।।२६८।।इति

१४८—ये प्रोक्ताः पंचपंचाशत् क्रमात्कंसरिपोर्गुणाः।
ते चान्ये चापि सिद्धेषु सिद्धिदत्वादयो मताः।।२६६।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*तेनैव भगवता सह जायन्ते; यादवादय इति शेषः। यदृच्छया स्वैरितया, यदृच्छा स्वैरितेत्यमरः।।२६७।।*

● *अनुवाद*—पद्मपुराण के उत्तर खण्ड में वर्णित है कि श्रीलक्ष्मण, भरत एवं संकर्षणादि जैसे श्रीभगवान् के साथ आविर्भूत होते हैं, उसी प्रकार यादव तथा व्रजगोपगण भी श्रीकृष्ण के साथ नित्यधाम से यदृच्छा क्रम से—स्वच्छन्दता से आविर्भूत होते हैं। फिर उनके साथ ही परम शाश्वत निजधाम में चले जाते हैं। अतः वैष्णवों का कर्म—बन्धन के कारण या प्रारब्धवश जन्म नहीं होता।।२६७—६८।।

क्रम से श्रीकृष्ण के जो ५५ गुण कह आये हैं, वे और अन्यान्य सिद्धि—प्रदत्वादि गुण भक्तों में माने गये हैं।।२६६।।

१४६—भक्तास्तु कीर्तिताः शान्तास्तथा दाससुतादयः।
सखायो गुरुवर्गाश्च प्रेयस्यश्चेति पञ्चधा।।३००।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*अथ भावभेदेन तेषामेव भेदान्तराण्याह—भक्तास्त्विति। अत्र दासादयो द्विधाः—भावमयाः, साक्षात्प्राप्तदास्यादयश्च, तत्रोत्तरेषामेव सम्यगालम्बनत्वमभिप्रेतम्।।३००।।*

● *अनुवाद*—भाव की पृथक्ता के कारण पाँच प्रकार के भक्त कहे गये हैं—१. शान्त, २. दास—पुत्रादि, ३. सखा, ४. माता—पितादि गुरुवर्ग तथा ५. प्रेयसीवर्ग।। (दासादि दो प्रकार के हैं, एक तो भावमय, दूसरे साक्षात् दास्यता करने वाले। गुरुवर्ग से यहाँ वात्सल्य—भाव के परिकर अभिप्रेत हैं)।।३००।।

अथ उद्दीपनाः—

१५०—उद्दीपनास्तु ते प्रोक्ता भावमुद्दीपयन्ति ये।
ते तु श्रीकृष्णचन्द्रस्य गुणाश्चेष्टाः प्रसाधनम्।।३०१।।
१५१—स्मितांगसौरभे वंशशृंगनूपुरकम्बवः।
पदांकः क्षेत्रतुलसीभक्ततद्वासरादयः।।३०२।।

● *अनुवाद*—जो श्रीभगवान् के प्रति प्रेम को उद्दीप्त करते हैं, उन्हें *'उद्दीपन—विभाव'* कहते हैं। वे हैं—श्रीकृष्णचन्द्र के १. गुण, २. चेष्टा तथा ३. प्रसाधन या अलंकारादि। इनके अतिरिक्त श्रीकृष्ण की ४. मन्दमुसकान, ५. अंग—सौरभ, ६. वंशी, ७. शृंग, ८. नूपुर, ६. शंख, १०. पदांक, ११. मथुरादि क्षेत्र, १२. तुलसी, १३. भक्तगण, तथा १४. जन्माष्टमी—एकादशी के दिन आदि मिलाकर कुल १४ प्रकार के 'उद्दीपन—विभाव' कहे गये हैं।।३०१—३०२।।

अब आगे उद्दीपन—विभावान्तर्गत गुणों का वर्णन करते हैं—

तत्र गुणाः—

१५२—गुणास्तु त्रिविधा प्रोक्ताः कायवाङ्मानसाश्रयाः।।३०३।।

तत्र कायिकाः—

१५३—वयःसौन्दर्यरूपाणि कायिका मृदुताऽऽदयः।।३०४।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*वयःसौन्दर्य्यरूपाणि कायिका गुणा, मृदुतादयश्च कायिका गुणा इत्यर्थः ।।३०४।।*

● *अनुवाद*—'*गुण*' तीन प्रकार के हैं—१. कायिक, २. वाचिक तथा ३. मानसिक।।३०३।। उनमें कायिक—गुण इस प्रकार हैं—१. वयस, २. सौन्दर्य, ३. रूप तथा ४. मृदुतादि।।३०४।।

१५४—गुणाः स्वरूपमेवास्य कायिकाद्या यदप्यमी।
भेदं स्वीकृत्य वर्ण्यन्ते तथाऽप्युद्दीपना इति।।३०५।।
१५५—अतस्तस्य स्वरूपस्य स्यादालम्बनतैव हि।
उद्दीपनत्वमेव स्याद् भूषणादेस्तु केवलम्।।३०६।।
१५६—एषामालम्बनत्वं च तथोद्दीपनताऽपि च।।३०७।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*गुणाः स्वरूपमेवेति। स्वरूपधर्मत्वात्स्वरूपान्तःप्रविष्टा इत्यर्थः, भेदं स्वरूपादत्यन्तपृथकत्वं स्वीकृत्योपचर्येत्यर्थः, यदा कृष्णः सुरम्यांग इति त्वमति भाव्यते तदालम्बनकोटौ प्रवेशः, यदा तु कृष्णस्य सुरम्यांगत्वमिति भाव्यते, तदोद्दीपनकोटौ प्रवेश इति भावः, 'अत' इति। स्वरूपस्य श्रीविग्रहरूपस्ये—त्यर्थः ।।३०५—३०६ ।।एषां गुणानां विशिष्टस्यालम्बन—त्वाद्विशेषणरूपेषु गुणेष्वप्यंशेनपालम्बनत्वं प्रवर्त्तते इति भावः।।३०७।।*

● *अनुवाद*—यद्यपि ये कायिकादि गुण श्रीकृष्ण के स्वरूपभूत ही हैं, तथापि उद्दीपन—विभाव होने से उनका भेद स्वीकार कर वर्णन किया जाता है।।३०५।।

इसलिए श्रीकृष्ण स्वरूप का आलम्बनत्व ही हो सकता है, केवल भूषणादिक का उद्दीपनत्व होता है। किन्तु इन समस्त गुणों का आलम्बनत्व तथा उद्दीपनत्व भी कहा गया है।।३०६—३०७।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—श्रीकृष्ण के समस्त गुण उनके स्वरूपगत धर्म हैं, स्वरूप में वे प्रविष्ट हैं। अतः कृष्णगुण स्वरूप से भिन्न नहीं हैं। केवल औपचारिक भेद स्वीकार किया गया है। अतः कृष्णगुणों को आलम्बन—विभाव तथा उद्दीपन—विभाव दोनों ही रूपों में स्वीकार किया जाता है। जब "श्रीकृष्ण सुरम्यांग" हैं—इस रूप में चिन्ता की जाती है, तब तो सुरम्यांगता आलम्बन मानी जाती है और जब श्रीकृष्ण की सुरम्यांगता की चिन्ता की जाती है, तब वह उद्दीपन मानी जाती है। जब गुण—विशिष्ट रूप से श्रीकृष्ण का चिन्तन किया जाता है तब वे गुण आलम्बन होते हैं और जब केवल गुणों का चिन्तन किया जाता है, वे उद्दीपन कहे जाते है,—इस प्रकार इनका अभेद और भेद तथा आलम्बनत्व और उद्दीपनत्व दोनों स्वीकृत हैं।।३०५—३०७।।

तत्र वयः—

१५७—वयः कौमारपौगण्डकैशोरमिति तत् त्रिधा।।३०८।।
१५८—कौमारं पंचमाब्दान्तं पौगण्डं दशमावधि।
आषोडशाच्च कैशोरं यौवनं स्यात्ततः परम्।।३०६।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*कौमारमित्यादिकं दृष्टान्तमात्रं श्रीकृष्णे तु विशेषो ज्ञेयः, यथा (भा० १० ।८ ।२६)—*

कालेनाल्पेन राजर्षे ! रामः कृष्णश्च गोकुले।
अघृष्टजानुभिः पद्भिर्विचक्रमतुरोजसेत्यादिकम् ।।

● *अनुवाद*—वयस भी तीन प्रकार की है—१. कौमार, २. पौगण्ड तथा ३. कैशोर। ।३०८ ।।

कौमार या बाल्य पाँच वर्ष तक, दस वर्ष तक पौगण्ड तथा सोलह वर्ष से पहले अर्थात् पन्द्रह वर्ष तक कैशौर अवस्था मानी गई है, उसके बाद यौवन—अवस्था आरम्भ हो जाती है। ।३०६ ।।

१५६—औचित्यात्तत्र कौमारं वक्तव्यं वत्सले रसे।
पौगण्डं प्रेयसि तथा तत्तत्खेलादि योगतः । ।३१० ।।
१६०—श्रैष्ठ्यमुज्ज्वल एवास्य कैशोरस्य तथाऽप्यदः ।
प्रायः सर्वरसौचित्यादत्रोदाह्रियते क्रमात् । ।३११ ।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*तत्र तत्तत्खेलादियोगतो यदौचित्यं योग्यतातिशय-स्तस्तस्मादिति त्रिष्वपि योजनीयं, प्रायो बाहुल्येन । ।३१०—११ ।।*

● *अनुवाद*—औचित्य के कारण वात्सल्य में कौमार की श्रेष्ठता है और सख्यरस में उस अवस्थानुकूल क्रीड़ाओं के साथ पौगण्ड की श्रेष्ठता है। कैशोर की श्रेष्ठता यद्यपि उज्ज्वल अर्थात् शृंगाररस में होती है, तो भी प्रायः सब रसों में औचित्य के कारण उसकी श्रेष्ठता है। इसलिए आगे उसका क्रम से वर्णन करते हैं। ।३१०—११ ।।

१६१—आद्यं मध्यं तथा शेषं कैशोरं त्रिविधं भवेत् । ।३१२ ।।

तत्राद्यं कैशोरम्—

१६२—वर्णस्योज्ज्वलता काऽपि नेत्रान्ते चारुणच्छविः ।
रोमावलिप्रकटता कैशोरे प्रथमे सति । ।३१३ ।।

यथा—१५२—हरति शितिमा कोऽप्यंगानां महेन्द्रमणिश्रियं
प्रविशति दृशोरन्ते कान्तिर्मनागिव लोहिनी।
सखि ! तनुरुहां राजिः सूक्ष्मा दराऽस्य विरोहते
स्फुरति सुषमा नव्येदानीं तनौ वनमालिनः । ।३१४ ।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*शिष्यते नित्यमेकरूपतया तिष्ठतीति शेषं परमपूर्णावस्थमित्यर्थः, तदेवं निरुक्तिबलाद्वक्ष्यमाणेन (२ ।१ ।३२७) चरमशब्देनापि तादृगवस्थं वाचनीयं, चरति स्वाविर्भावोत्तरं सर्वकालं संचरति न तु कौमारादिवद् व्यभिचरति मा लक्ष्मीर्यस्मिन्निति । ।३१२ ।। शितिमा श्यामतातिशयः तालब्यादिरयं "शिती धवलमेचकावि"—त्यमरः, लोहिनी रक्तवर्णा, तदिदं तस्याग्रजभ्रातृजायाया वचनम् । ।३१४ ।।*

● *अनुवाद*—'*कैशोर*' अवस्था तीन प्रकार की है—१. आद्यकैशोर, २. मध्य—कैशोर तथा ३. शेष—कैशोर। ।३१२ ।।

आद्य–कैशोर वर्ण की अनिर्वचनीय उज्ज्वलता, नेत्र–प्रान्तों में अरुण वर्ण कान्ति तथा रोमावलि प्रकटित हो जाती है।।३१३।।

जैसा कि वर्णन किया गया है–हे सखि ! अब श्रीकृष्ण के शरीर की कुछ अपूर्व श्यामलता इन्द्र नीलमणि की कान्ति का अपहरण करने लगी है, थोड़ी सी लालिमा उनके आँखों के भीतर प्रवेश कर रही है। हल्की सी सूक्ष्म रोमावलि उनके शरीर पर प्रकट हो आई है। इस प्रकार वनमाली श्रीकृष्ण के शरीर में अभिनव सौन्दर्य प्रस्फुटित हो रहा है।।३१४।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–शेष–कैशोर से अभिप्राय यह है कि यह कैशोर–अवस्था नित्य एकरूप से, परम पूर्ण रूप में श्रीकृष्ण में विराजमान रहती है, क्योंकि वस्तुतः श्रीकृष्ण नित्य किशोर हैं। कौमार एवं पौगण्ड अवस्थायें तो कैशोर का धर्म हैं। वात्सल्य एवं सख्यरस की वैचित्री विशेष श्रीकृष्ण को आस्वादन कराने के लिए कैशोर ही कौमार तथा पौगण्ड को अंगीकार करती है। श्रीकृष्ण 'पुराण–पुरुष' हैं। उनकी वयस का आदि अन्त कुछ नहीं हो सकता। अप्रकट धाम में वे नित्य किशोर रूप से विराजमान रहते हैं, प्रकट लीला में वे कौमार तथा पौगण्ड को धर्मरूप में अंगीकार करते हैं।।३१२–१४।।

१६३–वैजयन्तीशिखण्डादिनटप्रवरवेषता।
वंशीमधुरिमा वस्त्रशोभा चात्र परिच्छदः।।३१५।।

यथा श्रीदशमे (१०।२१।५)–

१५३–बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं–
बिभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम्।
रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दै–
र्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः।।३१६।।

● *अनुवाद*–इस किशोर–अवस्था में (पंच रंगोंयुक्त तथा आजानुलम्बित) वैजयन्ती माला, मोरपंख तथा नटवर वेष, वंशीमाधुरी तथा वस्त्र–शोभादि श्रीकृष्ण की पोशाक होती है।।३१५।।

जैसे कि श्रीमद्भागवत (१०।२१।५) में वर्णित हुआ है–नटवर वेष में सुसज्जित श्रीकृष्ण ने मोरपंखों का मकुट धारण कर रखा है, कानों में कनेर के फूल–भूषण, सुवर्ण वर्ण जैसा पीताम्बर तथा वैजयन्ती माला धारण की हुई है। वंशी के छिद्रों को अपनी अधरसुधा से पूर्ण करते हुए प्रसिद्ध–कीर्ति श्रीकृष्ण गोपबालकों के साथ वृन्दावन में प्रविष्ट हो रहे हैं।।३१६।।

१६४–खरताऽत्र नखाग्राणां धनुरान्दोलिता भ्रुवोः।
रदानां रंजनं रागचूर्णैरित्यादि चेष्टितम्।।३१७।।

यथा–१५४–नवं धनुरिवातनोर्नटदघद्विषोर्भ्रूयुगं
शरालिरिव शाणिता नखरराजिरग्रे खरा।
विराजित शरीरिणी रुचिरदन्तलेखाऽरुणा
न का सखि ! समीक्षणाद्युवतिरस्य वित्रस्यति।।३१८।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*नखाग्राणां खरता रदानां रंजनमिति तच्छोभाविशेषज्ञापनाय लोकरीतिकथनमात्रं, तत्र तु स्वभावत एव तादृशनखसौष्ठवं शिखरमणि-लावण्यतिरस्कारि-दन्तलावण्यं चाविर्भवतीति ज्ञेयम्, अतएवैते परिच्छदमध्ये न पठिते, धनुषी इवान्दोलिन्यौ धनुरान्दोलिन्यौ तयोर्भावः धनुरान्दोलिता।।३१७–१८।।*

● *अनुवाद*—इस किशोरावस्था में नखाग्रों की तीक्ष्णता, भौंहों में धनुष की भाँति वक्रता तथा चपलता और दाँतों में रागजनक चूर्णों की लालिमा इत्यादि चेष्टायें होती हैं।।३१७।।

जैसा कि एक सखी ने श्रीकृष्ण की इस किशोर छटा का वर्णन करते हुए कहा है—श्रीकृष्ण की भ्रुकुटि—द्वय कामदेव के धनुष की तरह घूम रही हैं, नख पंक्तियों के अग्रभाग ऐसे तीक्ष्ण हैं, मानो सान पर धार लगे हुए बाण हों और मूर्तिमती लालिमा के समान दंतपंक्ति शोभित हो रही है। हे सखि ! इनको देखकर कौन युवति है जो भयभीत नहीं होती ?।।३१८।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—श्रीकृष्ण के नखाग्र तथा दंतपंक्ति की तीक्ष्णता एवं लालिमा की यहाँ शोभा विशेष को जताना लोकरीति के लिए कथन मात्र है। उनमें बनावटी किसी चूर्ण की लालिमा सजावट के रूप में नहीं है, स्वाभाविक ही उनका ऐसा सौष्ठव और लालिमा है—ऐसा जानना चाहिये।।३१७–१८।।

अस्य मोहनता यथा—

१५५—कर्तुं मुग्धाः स्वयमचटुला न क्षमन्तेऽभियोगं
न व्यादातुं क्वचिदपि जने वक्तुमप्युत्सहन्ते।
दृष्ट्वा तास्ते नवमधुरिमस्मेरतां माधवार्ताः
स्वप्राणेभ्यस्त्रयमुदसृजन्नद्य तोयाञ्जलीनाम्।।३१९।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*कर्तुमिति वृन्दाया वचनं, तत्र प्रथमं तस्य संदेहं विरचयोत्कण्ठां वर्द्धयन्ती कारणं विनैव कार्यमाह पूर्वार्द्धेन, ततश्च कुत इति तत्प्रश्नानन्तरं तमेव कारणत्वेन; विन्यस्य सम्यगार्द्रयन्त्याह तृतीयेन चरणेन, पुनश्च तर्हि किं कुर्वन्तीति सगद्गदं तत्प्रश्नानन्तरं तमतिव्याकुलयन्त्याह चतुर्थेनेति योजनीयम्, अभियोगं भावाभिव्यक्तिम्।।३१९।।*

● *अनुवाद*—श्रीकृष्ण के कैशोर की मोहनता का वर्णन करते हुए श्रीवृन्दा ने कहा है—हे माधव ! गोपीगण तुम्हारी नवमाधुरी के विकाश का दर्शन कर ऐसी मुग्ध एवं अचञ्चल हो गई हैं कि वे अपने मन के भावों या अभिलाष को प्रकाश करने में समर्थ नहीं हैं और न किसी और व्यक्ति के आगे अपने मन की बात खोलकर कह सकती हैं। अब व्याकुल होकर वे अपने प्राणों के लिए तीन जलांजलियां देने लगी हैं अर्थात् प्राण त्यागने को तैयार हो गई हैं।।३१९।।

अब आगे मध्यम कैशोर का वर्णन करते हैं—

१६५—ऊरुद्वयस्य बाह्वोश्च काऽपि श्रीरुरसस्तथा।
मूर्तेर्माधुरिमाद्यं च कैशोरे सति मध्यमे।।३२०।।

यथा—१५६—
स्पृहयति करिशुण्डादण्डनायोरुयुग्मं गरुडमणिकपाटीसख्यमिच्छत्युरश्च।
भुजयुगमपि धित्सत्यर्गलावर्गनिन्दामभिनवतरुणिम्नः प्रक्रमे केशवस्य।।३२१।।

● *अनुवाद*—मध्यम कैशोर के आनेपर दोनों जंघाओं, दोनों भुजाओं तथा वक्षःस्थल में अनिर्वचनीय सौन्दर्य आ जाता है और श्रीविग्रह में मधुरिमा प्रकाशित हो उठती है।।३२०।।

जैसा कि कहा गया है—कैशोर आरम्भ होने पर श्रीकृष्ण की दोनों जँघां हाथी की सूँड को पराजित करना चाहती हैं, उनकी छाती तो इन्द्रनीलमणि की किवाड़ों के साथ मित्रता करना चाहती है। दोनों भुजायें अर्गला की अतिशय निन्दा कर रही हैं, अर्थात् श्रीकृष्ण की जंघायें हाथी की सूंड़ के समान, वक्ष कपाटों की तरह विस्तीर्ण तथा भुजायें अर्गला के समान शोभित हो रही हैं।।३२१।।

१६६—मुखं स्मितविकासाढ्यं विभ्रमोत्तरले दृशौ।
त्रिजगन्मोहनं गीतमित्यादिरिह माधुरी।।३२२।।

१५७—अनंगनयनचातुरीपरिचयोत्तरंगे दृशौ
मुखाम्बुजमुदञ्चितस्मरविलासरम्याधरम्।
अचञ्चलकुलांगनाव्रतविडम्बिसंगीतकं
हरेस्तरुणिमांकुरे स्फुरति माधुरी काप्यभूत्।।३२३।।

● *अनुवाद*—मुख सदा मुसक्यान से युक्त तथा नेत्र सदा हावभाव में चंचल रहते हैं। गीत—ध्वनि आदि तीन लोकों को मोहित करने वाली होती है। श्रीकृष्ण की मध्य कैशोर में माधुरी का यह स्वरूप है।।३२२।।

जैसा कि कहा गया है—श्रीकृष्ण के नयनद्वय अनंगविद्या की चातुरी का परिचय प्रदान करने में अति चंचल हो उठे हैं, उनका मुखकमल मृदुमधुर हास्योदगम के विलास से रमणीय अधर—पल्लवों से शोभित हो रहा है, उनके संगीत से धीरस्वभावा कुल—कामिनियों का पातिव्रत्य भंग हो रहा है। अहो ! श्रीकृष्ण के तारुण्यांकुर के विकसित होने पर कैसी अनिर्वचनीय माधुरी स्फुरित हो उठी है ?।।३२३।।

१६७—वैदग्धीसारविस्तारः कुंजकेलिमहोत्सवः।
आरम्भो रासलीलादेरिह चेष्टादिसौष्ठवम्।।३२४।।

यथा—१५८—व्यक्तालक्तपदैः क्वचित्परिलुठत्पिच्छावतंसैः क्वचित्
तल्पैर्विच्युतकाञ्चिभिः क्वचिदसौ व्यकीर्णकुञ्जोत्करा।
प्रोद्यन्मण्डलबन्धताण्डवघटालक्ष्मोल्लसत्सैकता
गोविन्दस्य विलासवृन्दामधिकं वृन्दाटवी शंसति।।३२५।।

● *अनुवाद*—वैदग्धी—सार का विस्तार, कुंजों में केलि—महोत्सव तथा रासलीला आदि का आरम्भ आदि इस मध्यम कैशोर की चेष्टादि का सौन्दर्य है।।३२४।।

उदाहरण-श्रीवृन्दावन की किसी–किसी कुंज में स्पष्ट अलक्तक (महावर) के चिह्न, कहीं मोरपंखों के द्वारा और कहीं टूटी काञ्ची समूह शोभित शय्या द्वारा कुंजें व्याप्त हो रही हैं। यमुना पुलिन में बालुका प्रदेश में एक साथ मण्डल बनाकर रासनृत्य के सुन्दर चिह्न दीख रहे हैं–इस प्रकार यह श्रीवृन्दावन श्रीगोविन्द के अनेक प्रकार के विलास–समुदाय की अधिक सूचना दे रहा है।।३२५।।

तन्मोहनता यथा–

१५६–विदूरान्मारागिनं हृदयरविकान्ते प्रकटय–
न्नुदस्यन् घर्मेन्दुं विदधदभितो रागपटलाम्।
कथं हा नस्त्राणं सखि ! मुकुलयन् बोधकुमुदं
तरस्वी कृष्णाभ्रे मधुरिमभरार्कोऽभ्युदयते।।३२६।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*विदूरादिति। अभ्रं नभः, रागोऽत्र मारागिनकृत–तृष्णाऽतिशयः।।३२६।।*

● *अनुवाद*–मध्यम कैशोर की मोहनता का उदाहरण, हृदयरूप सूर्यकान्त–मणि में दूर से कन्दर्पाग्नि को उत्पन्न करता हुआ, घर्मरूप चन्द्रमा को दूर करता हुआ, चारों ओर रागपटल को प्रकट करता हुआ एवं बोध या ज्ञानरूप कुमुद को मुदित करता हुआ कृष्ण–मेघ में माधुर्य प्रवाहरूपी तीव्र सूर्य का उदय हो रहा है। हे सखि ! अब हमारी रक्षा कैसे हो सकती है ?।।३२६।।

अथ शेषं कैशोरं–

१६८–पूर्वतोऽप्यधिकोत्कर्षं बाढमंगानि बिभ्रति।
त्रिवलिव्यक्तिरित्याद्यं कैशोरे चरमे सति।।३२७।।

यथा–१६०–मरकतगिरेर्गण्डग्रावप्रभाहरवक्षसं
शतमखमणिस्तम्भारम्भप्रभाथिभुजद्वयम्।
तनुतरणिजावीचीछायाविडम्बिवलित्रयं–
मदनकदलीसाधिष्ठोरुं स्मराम्यसुरान्तकम्।।३२८।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*साधिष्ठत्वं परमातिशयित्वम्।।३२८।।*

● *अनुवाद*–शेष कैशोर में सब अंग पहले की अपेक्षा अतिशय उत्कर्ष या चकत्कारिता धारण करते हैं और त्रिवलि–रेखादि स्पष्ट रूप से प्रकाशित होने लगती हैं।।३२७।।

शेष कैशोर की शोभा का उदाहरण; मरकतमणि के पर्वत की विशाल शिला की कान्ति को हरण करने वाले वक्षःस्थल से युक्त, इन्द्रनीलमणि के स्तम्भ को तिरस्कृत करने वाली दोनों भुजाओं से युक्त और यमुना की हलकी तरंगों के समान त्रिवली से विभूषित तथा कामकदली से भी अधिक सुन्दर जंघाओं वाले श्रीकृष्ण की आज मुझे स्मृति आ रही है।।३२८।।

तन्माधुर्य यथा–

१६१–दशार्धशरमाधुरीदमनदक्षयाऽंगश्रिया
विधुनितवधूधृतिं वरकलापिलस्यापतम्।

दृगंचलचमत्कृतिक्षपितखंजरीटद्युतिं
स्फुरत्तरुणिमोद्गमं तरुणि ! पश्य पीताम्बरम्।।३२६।।

● *अनुवाद*–शेष कैशोर के माधुर्य का वर्णन करते हुए कहा गया है–कामदेव के सौन्दर्य को पराजित करने वाले, अंग–शोभा से रमणियों के धैर्य को हिला देने वाले, सुन्दर मयूर की तरह नृत्य करने वाले' और नेत्र प्रान्तों की शोभा से खंजरीटों की कान्ति को पराजित करने वाले नव यौवन का जिनमें उदय हो रहा है, हे तरुणि ? उन पीताम्बरधारी श्रीकृष्ण का जरा दर्शन तो कर।।३२६।।

१६६–इदमेव हरेः प्राज्ञैर्नवयौवनमुच्यते।।३३०।।
१७०–अत्र गोकुलदेवीनां भावसर्वस्वशालिता।
अभूतपूर्वकन्दर्पतन्त्रलीलोत्सवादयः।।३३१।।

यथा–१६२–कान्ताभिः कलहायते क्वचिदयं कन्दर्पलेखान् क्वचित्
कीरैरर्पयति क्वचिद्वितनुते क्रीड़ाऽभिसारोद्यमम्।
सख्या भेदयति क्वचित्स्मरकलाषाड्गुण्यवानीहते
सन्धि क्वाप्यनुशास्ति कुंजनृपतिः श्रृंगारराज्योत्तमम्।।३३२।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*भावस्य यत्सर्वस्वं सर्वोऽप्यर्थस्तेन प्रशंसावत्ता।।३३१।। अत्र कैशोर–भेदाश्चतुर्धा वर्ण्यन्ते–लक्षणेन परिच्छदेन, चेष्टितेन, मोहनतावैशिष्ट्येन च, यद्यपि परिच्छदादीन्यपि लक्षणान्येव तथापि विशेषस्तद्वर्णयितुमेव पृथग्निर्देशः, तदेवमाद्य कैशोर तानि स्पष्टान्येव, मध्यशेषयोस्तु परिच्छदस्य प्रायः सर्वत्र समानत्वात्पृथङ्नोक्तिः, माधुरी च मोहनताया एव कारणावस्था पृथग्दर्शिता, सा चाद्येऽपि व्यञ्जिताऽस्ति "नवमधुरिमस्मेरतामि"–त्यनेन (२।१।३१६), "नवं धनुरिवातनोर्नटदघद्विषोभ्रूयुगमित्यनेन" (२।१।३१८) "रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन्नित्यनेन" (२।१।३१६) च। मध्ये चेष्टादिसौष्ठवमिति चेष्टाया आदि श्रैष्ठ्यं सौष्ठवमित्यर्थः, चरमेऽपि चात्र गोकुलेऽतिमोहनता, तस्मात्सौष्ठवमाधुर्यमोहनतानां भेदेप्यभेदनिर्देशःपरस्परमव्यतिरेकितयाऽवगन्तव्यः, अत्र सौष्ठवं तद्द्वयोर्योग्यांग–शोभाविशेषः, माधुर्यं तेन रोचकता, मोहनता तु तयानुभवान्तरमाच्छिद्याकर्षितेति ज्ञेयम्। तदेवं प्रकरणार्थो व्याख्यातः, अभूतपूर्वेति चेष्टितमुद्दिष्टं, तत्र च सति यथा कान्ताभिरित्यादिना चेष्टितमुदाहरति–षाड्गुण्येति। क्वचित् शृंगारराज्योत्तमानुशासन इत्येव लभ्यते। अत्र नीतिशास्त्रानुसारो ज्ञेयः। यथोक्तम्–"सन्धिर्ना विग्रहो यानमासनं द्वैधमाश्रयः षड्गुणा" इति, अत्र कान्ताभिरिति विग्रहः। कन्दर्पलेखानिति द्वैधं। क्रीडेति यानं, सख्येत्याश्रयः, सन्धिमिति सन्धिः, कुंजनृपतिरित्यासनमिति षट्कं व्यञ्जितम्।।३३२।।*

● *अनुवाद*–इसी शेष कैशोर को विद्वानों ने श्रीकृष्ण का 'नवयौवन' कहा है।।३३०।।

इसमें गोकुल की रमणियों की भाव–विषयक सर्वार्थ पूर्ति तथा कन्दर्पाधीन अभूतपूर्व लीला–उत्सवादि प्रकाशित होते हैं।।३३१।।

उदाहरण, श्रीकृष्ण कभी किन्हीं गोपियों से कलह करते हैं (निग्रह), किन्हीं के पास शुकपक्षी के द्वारा कन्दर्प–लेख (प्रेमपत्र) भेजते हैं (द्वैधीभाव),

कहीं रमण के लिए अभिसार का यत्न करते हैं, (यान), कहीं किसी सखी के द्वारा (वार्ता से) भेद उत्पन्न करते हैं (भेद), और किसी के साथ सन्धि करना चाहते हैं (सन्धि)। इस प्रकार कामकला के (निग्रह, वैध, यान, भेद, सन्धि, एवं संश्रय) षड्गुणों के पण्डित कुंज–नृपति (आसन) श्रीकृष्ण शृंगार के उत्तमराज्य का सञ्चालन कर रहे हैं।।३३२।।

तन्मोहनता यथा–

१६३–कर्णाकर्णि सखीजनेन विजने दूतीस्तुतिप्रक्रिया
पत्युर्वञ्चनचातुरी गुणनिका कुंजप्रयाणे निशि।
बाधिर्य्यं गुरुवाचि वेणुविरुतावुत्कर्णतेति व्रतान्
कैशोरेण तवाद्य कृष्ण ! गुरुणा गौरीगणः पाठ्यते।।३३३।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*अथ मोहनतामुदाहरति–तन्मोहता यथेति। तदेवं त्रिष्वपि कैशोरेषु साम्येनैव वर्णनं ज्ञेयं, कर्णाकर्णीति प्रणयेन विसम्वादप्रायत्वात्। परस्परं कर्णेन–कर्णेन युद्धमिव प्रवृत्तमित्यर्थः।।३३३।।*

● *अनुवाद*–नव कैशोर की मोहनता का उदाहरण; एक दूती श्रीकृष्ण के प्रति कहती हैं, हे कृष्ण ! आपका यह कैशोर गुरु बनकर आज गौरियों (आठ–आठ वर्ष की लड़कियों) अथवा सुन्दर नारियों को सखीजनों के द्वारा कर्ण–परम्परा से एकान्त में दूतियों की खुशामद करने की प्रक्रिया की शिक्षा दे रहा है, रात्रि में कुंजों में गमन करने के लिए पतियों की वंचना करने की चतुरता तथा माता–पितादि गुरुजनों की बात न सुनने की आदत और वेणु–ध्वनि सुनने के लिए कान लगाये रखने कर शिक्षा दे रहा है।।३३३।।

१७१–नेतुः स्वरूपमेवोक्तं कैशोरमिह यद्यपि।
नानाकृतिप्रकटनात्तथाऽप्युद्दीपनं मतम्।।३३४।।
१७२–बाल्येऽपि नवतारुण्यप्राकट्यं श्रूयते क्वचित्।
तत्रातिरसवाहित्वान्न रसज्ञैरुदाहृतम्।।३३५।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*पूर्वं (२।१।३०५) गुणाः स्वरूपमित्यादिना यं भेदमंगीकृत्य गुणानामुद्दीपनत्वं दर्शितं तमेव कैशोरमुपलक्ष्य स्थापयंस्तेषां स्वत उद्दीपनत्वमेवेति द्रढयति–नेतुरिति। स्वरूपधर्मत्वाद्यद्यपि नेतुर्नायकस्य स्वरूपमेव कैशोरं तथाऽपि नानाकृतीनां, कौमारपौगण्डकैशोराणां यथावसरमेव प्रकटनात् प्राकट्यात्कृष्णाख्यधर्मिस्तु तत्र तत्रानुगतत्वात् कैशोरमप्युद्दीपनमेवेत्यर्थः, आलम्बनः खलु सर्वदानुगत एव; उद्दीपनास्तु कादाचित्का इति।।३३४।। श्रयत इति। बाल्येऽपि भगवान् कृष्णस्तरुणं रूपमाश्रितः। रेमे विहारैर्विविधैः प्रियया सह राधयेत्यादि व्रतरत्नाकरधृतभविष्णुराणवचनादौ। तत्रातिरसवाहित्वादिति। क्रमयोगेनैव रसाः सम्पद्यन्ते नेतरथेति भावः।।३३५।।*

● *अनुवाद*–यद्यपि कैशोर को नायक श्रीकृष्ण का स्वरूप धर्म कहने से उनका स्वरूप (२।१।३०५) ही कहा गया है, तथापि कौमार, पौगण्ड तथा कैशोर आदि यथावसर नाना आकृतियों के प्रकट होने से धर्मी श्रीकृष्ण उनके अनुगत होकर रहते हैं। अतः उसे उद्दीपन–विभाव भी माना गया है। (आलम्बन

सदा अनुगत ही रहता है, किन्तु उद्दीपन कभी–कभी, यही इनका भेद है)।।३३४।।

भविष्य–पुराण आदि में कहीं–कहीं कौमार में भी श्रीकृष्ण के नव तारुण्य का वर्णन–मिलता है। किन्तु नातिरसवाहि (रसमय न) होने से रसज्ञों ने उसे ग्रहण नहीं किया है, अर्थात् क्रम से प्राप्त होने वाला गौरव ही अति रसवाहि होता है, किन्तु बालपन में यौवन का प्रकाश रसमय नहीं माना गया है।।३३५।।

अथ सौन्दर्यम्–

१७३–भवेत्सौन्दर्य्यमंगानां सन्निवेशो यथोचितम्।।३३६।।

यथा, १६४–मुखं ते दीर्घाक्षं मरकततटीपीवरमुरा
भुजद्वन्द्वं स्तम्भद्युति सुवलितं पार्श्वयुगलम्।
परिक्षीणो मध्यः प्रथिमलहरीहारी जघनं
न कस्या कंसारे! हरति हृदयं पंकजदृशः।।३३७।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*अत्र सौन्दर्यं सुरम्यांगत्वपर्य्यायम्।।३३६।। मुखमिति। लहर्यत्रोत्तरोत्तरमाधुर्याविर्भावः, जघनशब्दः पुंस्कट्यग्रभागेऽपि प्रयुज्यते। "महीतलं तज्जघनमिति" द्वितीयस्कन्धे (२।१।२७) विराड्वर्णनात्। प्रथिम–ललितं श्रोणिफलकमिति तु पाठान्तरम्।।३३७।।*

● *अनुवाद*–समस्त अंगों के यथायोग्य सन्निवेश को 'सौन्दर्य' कहते हैं।।३३६।।

सौन्दर्य का उदाहरण हैं, हे कृष्ण! विशाल नेत्रों युक्त आपका मुख, मरकतमणि की शिला समान आपका चौड़ा वक्षस्थल, स्तम्भ द्युति के समान दोनों भुजायें, सुवलित पार्श्वद्वय, पतली कमर एवं मनोहारी लहरियों के समान आपकी जंघायें किस कमलनैनी के मन को हरण नहीं करते हैं?।।३३७।।

अथ रूपम्–

१७४–विभूषणं विभूष्यं स्याद्येन तद्रूपमुच्यते।।३३८।।

यथा, १६५–कृष्णस्य मण्डनततिर्मणिकुण्डलाद्य
नीताऽङ्गसंगतिमलकृतये वरांगि!
शक्ता बभूव न मनागति तद्विधाने
सा प्रत्युत स्वयमनल्पमलंकृतासीत्।।३३९।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*येनेति। तत्तत्पोषयोग्येन तादृशसौन्दर्यकान्त्योः समवायविशेषेणेत्यर्थः।।३३८।। कृष्णस्येति। पंचात् त्वलंकृता सती शक्ता वभूवेति भावः, वक्ष्यते हि (२।१।३६०) "अंगैरेवाभरणपटली भूषिता दोग्धि भूषामिति"।।३३९।।*

● *अनुवाद*–जिससे भूषण विभूष्य बन जाये, अर्थात् अलंकार जिसकी शोभा न बढ़ाकर स्वयं जिसके द्वारा अलंकृत या शोभा को प्राप्त हो, उसे 'रूप' कहते हैं।।३३८।।

उदाहरण, एक सखी ने कहा–हे वरांगि! श्रीकृष्ण के शरीर को अलंकृत करने के लिए, उनकी शोभा बढ़ाने के लिए मणिकुण्डलादि धारण कराये गये

थे, किन्तु वे तनिक भी उनकी शोभा को न बढ़ा सके, प्रत्युत वे अलंकार ही श्रीकृष्ण के रूप से अलंकृत हो उठे।।३३६।।

अथ मृदुता–

१७५–मृदुता कोमलस्यापि संस्पर्शासहतोच्यते।।३४०।।

यथा, १६६– अहह नवाम्बुदकान्तेरमुष्य सुकुमारता कुमारस्य।
अपि नवपल्लवसंगादंगान्यपरज्य शीर्यन्ति।।३४१।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*अपरज्य निर्विद्य दुःखितीभूयेति यावत् विविर्णीभूयेति वा।।३४१।।*

● *अनुवाद*–कोमल स्पर्श को भी सहन न कर सकने को 'मृदुता' कहते हैं।।३४०।।

मृदुता का उदाहरण, अहह ! अभिनव मेघ कान्ति इस श्रीकृष्णकुमार की सकुमारता–मृदुता तो देखो, नवीन पल्लव के स्पर्श से भी इसके अंग विवर्ण होकर मुरझा गये हैं।।३४१।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–उद्दीपन–विभाव के प्रसंगारम्भ (श्लोक सं० ३०१–३०२) में गुण–नामक उद्दीपन का उल्लेख कर कायिक, वाचिक तथा मानसिक–ये तीन भेद गुण के बताये गये थे। यहाँ तक वयस, सौन्दर्य, रूप एवं मृदुता–इन चार कायिक गुणों का वर्णन किया गया है। वाचिक तथा मानसिक गुणों का सामान्य रूप से अगली कारिका (३४२) में निरूपण करते हैं। उनका पहले नायक प्रकरण में वर्णन किया जा चुका है। श्रीउज्ज्वलनीलमणि में वाचिक गुणों का इस प्रकार वर्णन है। *"वाचिकास्तु गुणाः प्रोक्ताः कर्णानन्दकतादयः।"* (उद्दीपन/३) कानों को आनन्द प्रदान करना आदि श्रीकृष्ण के वाचिक गुण हैं। मानसिक गुणों के सम्बन्ध में कहा गया है–'गुणाः कृतज्ञताक्षान्तिकरुणाद्यास्तु मानसाः (उद्दीपन/२)।।–कृतज्ञता, क्षमा, करुणादि श्रीकृष्ण के मानसिक गुण हैं।।३४०–४१।।

*१७६–ये नायकप्रकरणे वाचिका मानसास्तथा।
गुणाः प्रोक्तास्त एवात्र ज्ञेया उद्दीपना बुधैः।।३४२।।*

दुर्गमसंगमनी टीका–किं बहुनेत्याह–ये नायकेति।।३४२।।

● *अनुवाद*–नायक के प्रकरण में जो वाचिक तथा मानसिक गुण कहे गये हैं, विद्वानों द्वारा वे ही यहाँ–उद्दीपन। उद्दीपन–विभाव माने गये हैं।।३४२।।

अब आगे चेष्टा, प्रसाधन आदि उद्दीपन–विभावों का सोदाहरण वर्णन करते हैं–

अथ चेष्टा–

१७७–चेष्टा रासादिलीलाः स्युस्तथा दुष्टवधादयः।।३४३।।

तत्र रासो यथा–

१६७–नृत्यद्गोपनितम्बिनीकृतपरीरम्भस्य रम्भादिभि–
र्गीर्वाणीभिरनंगरंगविवशं संदृश्यमानश्रियः।

क्रीडाताण्डवपण्डितस्य परितः श्रीपुण्डरीकाक्ष ! ते।
रासारम्भरसार्थिनो मधुरिमा चेतांसिनः कर्षति।।३४४।।

दुष्टवधो यथा ललितमाधवे–

१६८–शम्भुर्वृषं नयति मन्दरकन्दरान्त–
म्र्लानः सलीललमपि यत्र शिरो धुनाने।
आः कौतुकं कलय केलिलवादरिष्टं
तन्दुष्टपुंगवमसौ हरिरुन्ममाथ।।३४५।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*नृत्यद्गोपनितम्बिनीति। श्रीव्रजदेवीभिर्मथुरायां प्रेषिता पत्रीयम्।।३४४।। शम्भुरिति। आः इति कोपे, कोपश्चायमन्यचित्तं श्रोतारं प्रत्येव, "आस्तु स्यात् कोपपीडयोरिति" कोषकाराः।।३४५।।*

● *अनुवाद*–रासादि लीला तथा दुष्टवध आदि "चेष्टायें" हैं, जो कृष्ण–भक्ति के उद्दीपन विभाव हैं।।३४३।।

रासलीला–चेष्टा का उद्दीपन–विभावत्व, श्रीव्रजदेवीगण द्वारा मथुरा भेजी हुई एक पत्रिका में इस प्रकार दिखाया गया है–हे श्रीकमलनयन ! जब आप नृत्य परायणा व्रज–सुन्दरियों के साथ परस्पर आलिंगन कर रहे थे, उस समय रम्भादि सुररमणीवृन्द भी अनंगरंग में विह्वल होकर आपकी शोभा का सम्यक् दर्शन कर रही थीं। अहो ! क्रीड़ा–ताण्डव पण्डित ! रास रहस्यार्थी आपकी वह मधुरिमा हमारे चित्त का सर्वथा आकर्षण कर रही है।।३४४।।

श्रीललितमाधव नाटक में दुष्टवधचेष्टा का उद्दीपन–विभावत्व इस प्रकार वर्णित है–जिस अरिष्टासुर के सहज में सिर हिलाने पर श्रीशिव अपने नादिया वृषभ को पहाड़ की गुफा में ले जाते थे, (अर्थात् इस डर से कि कहीं यह अरिष्टासुर मेरे वृषभ को मार न दे, श्रीशिव उसे गिरिकन्दरा में छिपा ले जाते हैं) अहो ! देखो तो उस दुष्टराज अरिष्टासुर को इस श्रीकृष्ण ने खेल–खेल में ही मार डाला।।३४५।।

अथ प्रसाधनम्–

१७८–कथितं वसनाकल्पमण्डनाद्यं प्रसाधनम्।।३४६।।

तत्र वसनम्–

१७९–नवार्करश्मिकाश्मीरहरितालादिसन्निभम्।
युगं चतुष्कं भूयिष्ठं वसनं त्रिविधं हरेः।।३४७।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*चतुष्कमित्यत्रोत्तरीयमपि कदाचिज्ज्ञेयं, वसनस्य युगत्वादिभेदाः समयविशेषोचितत्वात्।।३४७।।*

● *अनुवाद*–वस्त्र–विन्यास, आकल्प (सज्जा) तथा अलंकारादिक को *'प्रसाधन'* कहते हैं।।३४६।।

उनमें श्रीकृष्ण के वस्त्रों का इस प्रकार वर्णन किया गया है–नवीन सूर्य की किरणों के, केसर एवं हरितालादि की कान्ति के समान पीतवर्ण युक्त युग (जोड़ा), चतुष्क (चौकड़ी) तथा भूयिष्ठ (बहुत से) इन तीन प्रकारों के वस्त्र हैं।।३४७।।

तत्र युगम्–

१८०–परिधानं ससंव्यानं युगरूपमुदीरितम्।।३४८।।

यथा स्तवावल्यां मुकुन्दाष्टके–

१६६–कनकनिवहशोभानिन्दि पीतं नितम्बे
तदुपरिनवरक्तं वस्त्रमित्थं दधानः।
प्रियसखि ! किल वर्णं रागयुक्तं प्रियायाः
प्रणयतु मम नेत्राभीष्टपूर्तिं मुकुन्दः।।३४६।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*"इत्थं वस्त्रं दधान" इति यदुक्तं तत्कथं ? तत्राह–कनकनिवहेति। कनकनिवहशोभानिन्दि वस्त्रं नितम्बे" परिष्टान्नव्यबाल्हीकवल्गु। तनुरुचिमनुरागेणान्वितां वा प्रियाया इति तु परिदधदु पाठान्तरम्।।३४६।।*

● *अनुवाद*–उत्तरीय रूप परिधान (ऊपर का दुपट्टा) तथा संव्यान (नीचे की धोती)–ये दोनों मिलकर *'युग'* (जोड़ा) कहलाता है।।३४८।।

स्तवावली के मुकुन्दाष्टक में कहा गया है, हे सखि ! नितम्बदेश में स्वर्णराशि की शोभा को निन्दित करने वाला पीतवसन और ऊपर नव रक्तवर्ण का उत्तरीय धारण करते हुए जो प्रियतमा श्रीराधा के प्रिय गौरवर्ण तथा तद्‌विषयक अनुराग युक्त राग को ही वहन कर रहे हैं, वे मुकुन्द मेरे नेत्रों की अभीष्ट पूर्ति करें।।३४६।।

चतुष्कम्–

१८१–चतुष्कं कंचुकोष्णीषतुन्दबन्धोत्तरीयकम्।।३५०।।

यथा–१७०–स्मेरास्यः परिहितपाटलाम्बरश्री–
श्छन्नांगः'पुरटरुचोरुकंचुकेन।
उष्णीषं दधदरुणं धटीं च चित्रां–
कंसारिर्वहति महोत्सवे मुदं नः।।३५१।।

● *अनुवाद*–१. कंचुक (कुर्त्ता), २. उष्णीय (पगड़ी), ३. तुन्दबन्ध (धोती) तथा ४. उत्तरीय (दुपट्टा)–ये चारों *'चतुष्क'* कहलाते हैं।।३५०।।

जैसा कि कहा गया है, मुसकराते हुए, पीतवर्ण के उत्तरीय को धारण किये हुए, स्वर्ण के समान कान्ति वाले लम्बे कुर्त्ते से शरीर को ढके हुए, लाल पगड़ी धारण किये हुए तथा विचित्र धोती को पहने हुए श्रीकृष्ण हमें अतिशय आनन्द प्रदान कर रहे हैं।।३५१।।

भूयिष्ठम्–

१८२–खण्डिताखण्डितं भूरि नटवेषक्रियोचितम्।
अनेकवर्णवसनं भूयिष्ठं कथितं बुधैः।।३५२।।

यथा–१७१–अखण्डितविखण्डितैः सितपिशंगनीलारुणैः
पटैः कृतयथोचित्प्रकृतसन्निवेशोज्ज्वलैः।
अयं कलभराट्प्रभः प्रचुररंगशृंगरतिः
करोति करभोरु ! मे घनरुचिर्मुदं माधवः।।३५३।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*सन्निवेशो रचना, कलभराट्प्रभ इति कलभराज इव प्रभा यस्य सः, अखण्डितविखण्डितैरिति। वस्त्रमयतत्तदलंकारभेदात्, यथा मथुरायां वायकेन दत्तमासीमिति ज्ञेयं, शृंगारशब्दोऽत्र कलभसादृश्येन तत्रापि वेषतया लक्ष्यते।।३५३।।*

● *अनुवाद*—नट के वेश तथा क्रिया के योग्य, खण्डित तथा अखण्डित अनेक वर्ण के बहुत से वस्त्रों को *"भूयिष्ठ"* कहते हैं।।३५२।।

उदाहरण, हे करभोरु ! खण्डित और विखण्डित सफेद, पीले, नीले और लाल वस्त्रों से बनाये हुए समयानुकूल यथोचित मनोहर वेषधारी, अनेक रंगों से सुशोभित हाथी—शावक के समान मेघ—श्यामल श्रीकृष्ण मुझे आनन्द प्रदान कर रहे हैं।।३५३।।

अथ आकल्पः

१८३—केशबन्धनमालेपो मालाचित्रविशेषकः।
ताम्बूलकेलिपद्मादिराकल्पः परिकीर्तितः।।३५४।।
१८४—स्याज्जूटः कबरी चूड़ा वेणी च कचबन्धनम्।
पाण्डुरः कर्बुरः पीत इत्यालेपस्त्रिधा मतः।।३५५।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*जूटो घाटोपरि धम्मिल्लः, कबरी पुष्पादिना केशवेशः, चूड़ा ऊर्ध्वबद्धाः कचाः, वेणी पृष्ठभागे दीर्घतया केशगुम्फनम्।।३५५।।*

● *अनुवाद*—१. केश—बन्धन, २. अंगराग (इत्र आदि लगाना), ३. माला, ४. चित्र, ५. तिलक, ६. ताम्बूल, ७. लीला—कमल—ये सात *'आकल्प'* (सजावट) कहे जाते हैं।।३५४।।

केश—विन्यास चार प्रकार का है—१. जूड़ा, २. कबरी (पुष्पों के साथ केश बन्धन), ३. चूड़ा (ऊँचा करके केश बाँधना) तथा ४. वेणी (नीचे की ओर लम्बाई में केश—गुन्थन)। आलेप के तीन प्रकार हैं—१. सफेद, २. चितकबरा तथा ३. पीले रंग का।।३५५।।

१८५—माला त्रिधा वैजयन्ती रत्नमाला वनस्रजः।
अस्या वैकक्षकापीडप्रालम्बाद्या भिदा मताः।।३५६।।
१८६—मकरीपत्रभंगाद्यं चित्रं पीनसितारुणम्।
तथा विशेषकोऽपि स्यादन्यदूह्यं स्वयं बुधैः।।३५७।।

यथा, १७२—ताम्बूलस्फुरदाननेन्दुरमलं धम्मिल्लमुल्लासयन्
भक्तिच्छेदलसत्सुघृष्टघुसृणालेपश्रिया पेशलः।
तुंगोरःस्थलपिंगलस्रगलिकभ्राजिष्णुपत्रांगुलिः
श्यामांगद्युतिरद्य मे सखि ! दृशोर्दुग्धे मुदं माधवः।।३५८।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*वैजयन्ती पञ्चवर्णमयी जानुपर्यन्तलम्बिता च, वनमाला पत्रपुष्पमयी पादपर्यन्तलम्बिता च, पुनर्माला—भेदानाह अस्या इति। वैकक्षकंतु तत्स्यादयत्तिर्यक् क्षिप्तमुरसि माल्यं चूड़ावेष्टनमाल्यमापीड़ं, कण्ठादृजुलम्बि माल्यं प्रालम्बम्।।३५६।। तथेति। पीतासितारुण इत्यर्थः। विशेषकस्तिलकम्।।३५७।। ताम्बूलेत्यादिवर्णितरूपः सन् दृशोराधार— अलिकं ललाटं,*

भूतयोर्मुदं दुग्धे प्रपूरयति।।३५८।।

● *अनुवाद*–माला तीन प्रकार की होती हैं–१. *वैजयन्ती* (पाँच रंगों के पुष्पादि से लम्बी गूँथीमाला घुटनों तक), २. *रत्नों* की माला तथा ३. *वनमाला* (पत्रपुष्पों से गुथी चरणों पर्यन्त लम्बी माला)। इन मालाओं के भी धारण करने के तीन भेद हैं–१. *वैकक्ष* (जो यज्ञोपवीत की तरह बायें कन्धे के ऊपर तथा दाहिने हाथ की बगल के नीचे से निकल कर पहनी गई हो), २. *आपीड़* (सिर में चूड़ में लपेटी हुई माला) तथा आलम्ब (गले में सीधी पड़ी हुई)।।३५६।।

पीले, सफेद और लाल रंग के मकरी (तिलक) तथा पत्रभंगादि *'चित्र'* कहलाते हैं। इस प्रकार पीले, सफेद तथा लाल रंग के *'विशेषक'* तिलक होते हैं। ताम्बूलादि अन्य आकल्पों को विद्वान् स्वयं समझ लें।।३५७।।

भगवान् श्रीकृष्ण के समस्त आकल्पों का इस प्रकार वर्णन करते हैं; पान से जिनका मुखचन्द्र सुशोभित हो रहा है, सुन्दर बालों को काढ़े हुए, अच्छी तरह घिसी हुई केसर के पृथक्–पृथक् तिलकलेप से सुन्दर शोभायुक्त, ऊँचे वक्षस्थल पर माला तथा ललाट् पर पत्र–रेखा धारण किये हुए श्यामल कान्ति श्रीकृष्ण, हे सखि ! आज मेरे नयनों को अतिशय आनन्द प्रदान कर रहे हैं।।३५८।।

अथ मण्डनम्–

१८७–किरीटं कुण्डले हारचतुष्कीवलयोर्म्मयः।
केयूरनूपुराद्यं च रत्नमण्डनमुच्यते।।३५६।।

यथा, १७३–काञ्ची चित्रा मुकुटमतुलं कुण्डले हारिहीरे
हारस्तारो वलयममलं चन्द्रचारुश्चतुष्की।
रम्या चोर्मिर्मधुरिमपुरे नूपुरे चेत्यघारे–
रंगैरेषाभरणपटलीं भूषिता दोग्धि भूषाम्।।३६०।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*तार शुद्धमुक्तामयः, ऊर्मिरंगुरीयकं "नूपुरे चेत्याघारेरि" त्यत्र नूपुरे शौरेरिति वा पाठः, वलयमित्यत्रोर्मिरित्यत्र च बहुत्वेऽप्येकवचनं जातिविवक्षया, सम्पन्नो यव इतिवत्तथा बहुत्वं बोधयत्येव जात्या व्यक्तीनां व्यंगयत्वात्। अतएव "जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्यामिति (१।२।५८) पाणिनिसूत्रम्।।३६०।।*

● *अनुवाद*–प्रसाधन के चतुर्थ भेद मण्डन का अब वर्णन करते हैं–१. मुकुट; २. कुण्डल, ३. हार, ४. चतुष्क (चौलड़ा हार या पादक), ५. कड़े, ६. बाजूबन्द, ७. बिछुए–नूपुर आदि रत्नों के आभूषण माने गये हैं।।३५६।।

भगवान् श्रीकृष्ण के रत्नाभरणों का इस प्रकार वर्णन किया गया है–विचित्र तगड़ी, अनुपम मुकुट, हीरों से जड़ित मनोहर कुण्डल, चञ्चल हार, चमकीले बाजूबन्द, चन्द्र के समान उज्ज्वल पदक, सुन्दर कड़े तथा सौन्दर्य–आकर नूपुर श्रीकृष्ण के अंगों पर भूषित ये आभरण समूह सौन्दर्य का दोहन कर रहे हैं।।३६०।।

१८८–कुंकुमादिकृतं यत्तु चन्दमण्डनमीरितम्।
धातुक्लृप्तं च तिलकं पत्रभंगलतादिकम्।।३६१।।

● *अनुवाद*–पुष्पादि से रचित आभूषण–*''वन्य–मण्डन''* कहलाते हैं तथा गैरिक आदि धातुओं से किया हुआ मण्डन *''पत्रभंगलता''* कहलाता है।।३६१।।

अथ स्मित, यथा कर्णामृते–

१७४–अखण्डनिर्वाणरसप्रवाहैर्विखण्डिताशेषरसान्तराणि।
अयन्त्रितोद्वान्तसुधाऽर्णवानि जयन्ति शीतानि तव स्मितानि।।३६२।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*निर्वाणं परमानन्दः, शीतानि सर्वतापहारीणि।।३६२।।*

● *अनुवाद*–स्मित रूप चौथे उद्दीपन–विभाव का इस प्रकार श्रीकृष्णकर्णामृत में वर्णन किया गया है–हे कृष्ण ! अखण्ड परमानन्द प्रवाहों से अन्यान्य समस्त रसों को खण्डित कर देने वाली तथा अपरिमितशीतल–तापहर सुधासागरों को प्रवाहित करने वाली, तुम्हारी 'स्मित' मन्द मुस्क्यान की जय हो।।३६।।

अंगसौरभं यथा–

१७५–परिमलसरिदेषा यद्वहन्ती समन्तात
पुलकयति वपुर्नः काऽप्यपूर्वा मुनीनाम्।
मधुरिपुरुपरागे तद्विनोदाय मन्ये
कुरुभुवमनवद्यामोदसिन्धुर्विवेश।।३६३।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*कुरुभुवंकुरुक्षेत्रं, विनशनमिति तु पाठो नेष्टः।।३६३।।*

● *अनुवाद*–पञ्चम उद्दीपन–विभाव *'अंग–सौरभ'* का उदाहरण, श्रीकृष्ण के अंगों से चारों ओर प्रवाहित होने वाली यह सौरभरूपा अपूर्व नदी जो हम जैसे मुनियों के शरीरों को पुलकित कर रही है, ऐसा लगता है कि ये अविच्छिन्न आनन्द सागर स्वरूप श्रीकृष्ण हमारे आनन्द विधान के लिए ही कुरुक्षेत्र में पधारे हैं।।३६३।।

अथ वंशः

१७६–ध्यानं बलात्परमहंसकुलस्य भिन्दन्
निन्दन् सुधामधुरिमाणमधीरधर्मा।
कन्दर्पशासनधुरां मुहुरेष शंसन
वंशध्वनिर्जयति कंसनिषूदनस्य।।३६४।।

● *अनुवाद*–छठे उद्दीपन–विभाव *'वंशी'* का उदाहरण, कंस विनाशी श्रीकृष्ण की धर्म विपर्ययकारी (चेतन को जड़ तथा जड़ को चेतन कर देने वाली) यह वंशी–ध्वनि बलात् परमहंस मुनियों के ध्यान को भी भंग करके, अमृत माधुरी को निन्दित करते हुए कामदेव के शासनातिशय की बार–बार घोषणा करते हुए सर्वोत्कर्षशालिनी हो रही है।।३६४।।

१८६–एष त्रिधा भवेद्वेणुर्मुरली वंशीकेत्यपि।।३६६।।

तत्र वेणुः–

१६०–पाविकाख्यो भवेद्वेणुर्द्वादशांगुलदैर्घ्यभाक्।।
स्थौल्येऽङ्गुष्ठमितः षड्भिरेष रन्ध्रैः समन्वितः।।३६६।।

मुरली–

१६१–हस्तद्वयमितायामा मुखरन्ध्रसमन्विता।
चतुःस्वरच्छिद्रयुक्ता मुरली चारुनादिनी।।३६७।।

● *अनुवाद–वंशी* तीन प्रकार की होती है–१. वेणु, २. मुरली तथा ३. वंशिका।।३६५।।

बारह अंगुली लम्बा, मोटाई में अँगूठे के बराबर, छः छिद्रों से युक्त 'वेणु' होता है, जिसका नाम *'पाविका'* है।।३६६।।

दो हाथ लम्बी, चार स्वर–छिद्रोंयुक्त तथा मुखछिद्र सहित सुन्दर ध्वनि करने वाली *'मुरली'* कहलाती है।।३६७।।

वंशी–

१६२–अर्द्धांगुलान्तरोन्मानं तारादिविवराष्टकम्।
ततः सार्द्धांगुलाद्यत्र मुखरन्ध्रं तथाऽंगुलम्।।३६८।।
१६३–शिरो वेदांगुलं पुच्छं त्र्यंगुलं सा तु वंशिका।
नवरन्ध्रा स्मृता सप्तदशांगुलमिता बुधैः।।३६६।।
१६४–दशांगुलान्तरा स्याच्चेत् सा तारमुखरन्ध्रयोः।
महानन्देति विख्याता तथा संमोहनीति च।।३७०।।
१६५–भवेत्सूर्यान्तरा सा चेत्तत आकर्षणी मता।
आनन्दनी तदा वंशी भवेदिन्द्रान्तरा यदि।।३७१।।
१६६–गोपानां वल्लभा सेयं वंशुलीति च विश्रुता।
क्रमान्मणिमयी हैमी बैणवीति त्रिधा च सा।।३७२।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*अर्द्धांगुलमन्तरं छिद्रयोर्मध्यभागस्तथोन्मानं छिद्रस्य विस्तारो यत्र तत्। ततोऽगुल्यन्तर इत्यत्र ततः सार्द्धांगुलादित्येव पाठः, अन्यथा सप्तदशांगुलत्वानुपपत्तेः योग्यत्वाच्च ततोऽगुल्यन्तर इति पाठे ग्रन्थितो बहिरर्द्धांगुलं ज्ञेयं, तथाऽंगुलमित्यत्र "प्रमाणे लुगि" ति मात्रचो लुक्, अर्द्धांगुलादिशब्दास्तु "संख्याव्ययाभ्यामंगुले" रिति समासान्तविधानात्।।३६६।। दशांगुलेत्यादावंगुलीनां वृद्धिर्मुखरन्ध्रतदव्यवहितरन्ध्रयोरन्तराल एव ज्ञेया।।३७०।।*

● *अनुवाद–'वंशी'* के लक्षण इस प्रकार कहे गये हैं; आधे–आधे अंगुल के अन्तर से तारा आदि नामक आठ छिद्रोंयुक्त, फिर डेढ़ अंगुल के अन्तर पर एक अंगुल का मुख–छिद्र इस प्रकार जिसमें कुल नौ छिद्र होते हैं और शिर का भाग चार अंगुल और पिछला भाग तीन अंगुल है। इस प्रकार सत्रह अंगुल लम्बी वेणु को विद्वान् वंशी कहते हैं।।३६८–६६।। (सत्रह अंगुल लम्बाई में उपर्युक्त उल्लिखित १२ अंगुल तथा नौ छिद्रों की गोलाई की लम्बाई पांच अंगुल शामिल है)।

तार रन्ध्र अर्थात् स्वर के प्रथम छिद्र से तथा मुख के रन्ध्र में यदि दस अंगुल की दूरी रहे तो वह वंशी *'महानन्दा'* तथा *'सम्मोहिनी'* नामों से विख्यात होती है।।३७०।।

यदि वह दूरी सूर्यान्तरा अर्थात् १२ अंगुल की हो तो वह *'आकर्षणी'* कहलाती है। यदि इन्द्रान्तरा अर्थात् १४ अंगुल की उन दोनों रन्ध्रों में दूरी रहे तो वह *'आनन्दनी'* कही जाती है।।३७१।।

गोपगणों को यही 'आनन्दनी' वंशी प्रिय है। सम्मोहनी वंशी मणिमय होती है, आकर्षणी स्वर्णमयी होती है तथा आनन्दनी, बांस निर्मित इस प्रकार वंशी तीन प्रकार की मानी गई है।।३७२।।

अथ श्रृंगम्–

१६७–श्रृंगं तु गबलं हेमनिबद्धाग्रिमपश्चिमम्।
रत्नजालस्फुरन्मध्यं मन्द्रघोषाभिधं स्मृतम्।।३७३।।

यथा १७७–तारावलीवेणुभुजंगमेन तारावलीलागरलेन दष्टा।
विषाणिकानादपयो निपीय विषाणि कामं द्विगुणी चकार।।३७४।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*गबलमत्र वनमहिषश्रृंगम्, उपलक्षणं चेदं कृष्णसारादि–श्रृंगाणाम्, अग्रिमः अग्रभागः, एवं पश्चिमः।।३७३।। तारावलीनाम्नी, तारस्योच्च–ध्वनेर्याऽवलीला अल्पप्रयत्नः सैव गरलं यस्य तेन तस्य साहाचर्य्या विषाणीति। विषतुल्यभावानीत्यर्थः।।३७४।।*

● *अनुवाद–अब श्रृंग* रूप सातवें उद्दीपन–विभाव का वर्णन करते हैं, जिसका अगला और निचला–दोनों सिरे सोने से मढ़े हों, और बीच में रत्नों से जड़ा हो, जंगली भैंस के ऐसे सींग को *'मन्द्रघोष'* नाम से पुकारा जाता है।।३७३।।

श्रृंग के सम्बन्ध में कहा गया है कि वेणु रूप सांप के उच्च स्वर निकालने में अल्प प्रयत्न रूप विष द्वारा डसी तारावली नामक गोपी ने श्रृंग के नादरूप दूध को पिया, तो हे श्रृंगधारी कृष्ण ! उसका काम दुगना बढ़ गया है; अर्थात् वेणु ध्वनि को सुनकर ही तारावली कामातुर हो रही थी, उस पर श्रृंग नाद को सुनकर उसकी आतुरता द्विगुणी हो उठी है।।३७४।।

अथ नूपुरं, यथा–

१७८–अघमर्द्दनस्य सखि ! नूपुरध्वनिं–निशमय्य संभूतगभीरसंभ्रमा।
अहमीक्षणोत्तरलिताऽपि नाभव बहिरद्य हन्त गुरवः पुरः स्थिता।।३७५।।

● *अनुवाद*–आठवें उद्दीपन–विभाव *'नूपुर'* का उदाहरण; हे सखि ! श्रीकृष्ण के नूपुरों की ध्वनि सुनकर अतिशय उत्सुक होकर उनके दर्शन के लिए अधीर होने पर भी आज मैं घर के बाहर नहीं गई, क्योंकि सामने गुरुजन खड़े थे।।३७५।।

अथ कम्बुः

१६८–कम्बुस्तु दक्षिणावर्त्तः पाञ्चजन्यतयोच्यते।।३७६।।

यथा–१७६–अमररिपुवधूटीभ्रूणहत्याविलासी
त्रिदिवपुरन्ध्रीवृन्दनान्दीकरोऽयम्।
भ्रमति भुवनमध्ये माधवाध्मातधाम्नः
कृतपुलककदम्बः कम्बुराजस्य नादः।।३७७।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*कम्बुस्तु दक्षिणावर्त्त इत्येव पाठः। भ्रूणहत्येति। कौतुकेन निन्दावत्प्रयुक्तं, नान्दीकरो मंगलपाठकरः, माधवेनाध्मातः शब्दायमानो देहो यस्य।।३७७।।*

● *अनुवाद*—भगवान् श्रीकृष्ण का दक्षणावर्त्त शंख *'पाञ्चजन्य'* नाम से विख्यात है।।३७६।।

श्रीकृष्ण द्वारा बजाये हुए शंखराज पाञ्चजन्य की ध्वनि असुरों की स्त्रियों के गर्भों का पात करती हुई एवं सुर–रमणियों के मंगल के पाठ पूर्वक–मंगल विधानपूर्वक समस्त लोगों को पुलकित करते हुए त्रिभुवन में भ्रमण कर रही है।।३७७।।

पदांको, यथा दशमे (१० ।३८ ।२६)—

१८०—तद्दर्शनाह्लादविवृद्धसंभ्रमः प्रेम्णोर्ध्वरोमाऽश्रुकलाकुलेक्षणः।
रथादवस्कन्द्य स तेष्वचेष्टत प्रभोरमून्यङ्घ्रिरजांस्यहो इति।।३७८।।

यथा वा—१८१—कलयत हरिरध्वना सखायः।
स्फुटममुना यमुनातटीमयासीत्।
हरति पदततिर्यदक्षिणी मे
ध्वजकुलिशांकुशपंकजांकितेयम्।।३७६।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*तदृर्शनेति, तच्छब्देन पदांक एवाकृष्यते।।३७८।।*

● *अनुवाद*—श्रीमद्भागवत (१० ।३८ ।२६) में नवम उद्दीपन—विभाव चरण—चिह्नों का इस प्रकार वर्णन किया गया है, श्रीअक्रूर जी उन चरणचिह्नों का दर्शन कर अत्यन्त आदरभाव में पूर्ण होकर प्रेम से रोमांचित हो उठे, उनके नेत्रों में अश्रु भर आये। रथ से उतर पड़े—'अहो ! यह श्रीभगवान् के चरणों की धूलि है'—ऐसा मानकर उन पर लोटने लगे।।३७८।।

और भी कहा गया है; हे मित्रों ! निश्चय ही श्रीकृष्ण इस मार्ग में किनारे की तरफ गये हैं, क्योंकि ध्वज, कुलिश, अंकुश और कमलों से अंकित ये चरणचिह्नों की पंक्ति मेरी दृष्टि का हरण कर रही है।।३७६।।

अथ क्षेत्रं, यथा—

१८२—हरिकेलिभुवां विलोकनं बत दूरेऽस्तु सुदुर्लभश्रियाम्।
मथुरेत्यपि कर्णपद्धतिं प्रविशन्नाम मनो धिनोति नः।।३८०।।

अथ तुलसी, यथा बिल्वमंगले—

१८३—अयि पंकजनेत्रमौलिमाले ! तुलसीमञ्जरि ! किञ्चिदर्थयामि।
अवबोधय पार्थसारथेस्त्वं चरणाब्जे शरणाभिलाषिण माम्।।३८१।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*अवबोधयेत्यत्र पार्थसारथिमेवेत्यर्थात्, अर्थयामि प्रार्थये, परस्मैपदमत्र पारायणमते चुरादिमात्रस्योभयपदित्वात्।।३८१।।*

● *अनुवाद*—दसवें उद्दीपन—विभाव *"क्षेत्र"* का इस प्रकार वर्णन किया गया है, अरे ! दुर्लभ सौन्दर्यपूर्वक श्रीकृष्ण की केलि—भूमियों के दर्शन की बात तो रहने दीजिये, केवल 'मथुरा' यह नाम भी कान में पड़ते ही हमारे मन को आनन्दित कर देता है।।३८०।।

ग्यारहवें उद्दीपन–विभाव *'तुलसी'* के सम्बन्ध में श्रीविल्वमंगल जी ने कहा है; हे कमलनयन–श्रीकृष्ण के मुकुट की मालारूपिणी तुलसि–मञ्जरि ! मैं तुमसे कुछ याचना करता हूँ, वह यह कि पार्थ–सारथि श्रीकृष्ण के चरणों में मुझ शरण चाहने वाले की खबर पहुँचा दो अर्थात् मैं उनकी चरणशरण चाहता हूँ यह उनके बात चरणों में जना दो।।३८१।।

अथ भक्तो, यथा चतुर्थे (४।१२।२१)–

१८४–विज्ञाय तावुत्तमगायकिंकरावभ्युत्थितः साध्वसविस्मृतक्रमः।
ननाम नामानि गृणन् मधुद्विषः पार्षत्प्रधानाविति संहताञ्जली।।३८२।।

यथा वा, १८५–सुबल ! भुजभुजंगं न्यस्य तुंगे तवांसे
स्मितविलसदपांगः प्रांगणे भ्राजमानः।
नयनयुगमसिञ्चद्यः सुधावीचिभिर्नः
कथय स दयितस्ते क्वायमास्ते वयस्यः।।३८३।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*उत्तमगायः श्रीमधुद्विट् तस्य किंकरौ तौ विज्ञाय; तत्रापि मधुद्विषः पार्षदप्रधानाविति विज्ञाय; अभ्युद्यतस्तदाभिमुख्येनोद्यत उत्थितः सन्नित्यादि योज्यं, ध्रुव इति प्रकरणलब्धम्।।३८२।।*

● *अनुवाद*–बारहवें उद्दीपन–विभाव 'भक्त' के विषय में श्रीमद्भागवत (४।१२।२१) में इस प्रकार कहा है–श्रीसुनन्द एवं नन्द दोनों को श्रीकृष्ण के सेवक (भक्त) जानकर श्रीध्रुवजी हड़वड़ाहट में पूजा आदि का क्रम भूलकर सहसा उठ खड़े हुए और ये दोनों भगवान् के पार्षदों में प्रधान हैं, ऐसा जानकर उन्होंने श्रीमधुसूदन के नामों का कीर्तन करते हुए उन्हें हाथ जोड़कर प्रणाम किया।।३८२।।

और भी कहा गया है, हे सुबल ! जो तुम्हारे उच्च कन्धों पर अपने भुजारूप भुजंग को विन्यस्त कर मृदुमधुर मुस्कान से सुशोभित होकर कटाक्ष–भंगीपूर्वक प्रांगण में विराजमान रहते हैं और अमृत–लहरियों के सिंचन द्वारा हमारे नेत्रों को रसायित करते हैं, वे तुम्हारे प्रियसखा श्रीकृष्ण इस समय कहाँ हैं ?।।३८३।।

अथ तद्वासरो, यथा–

१८६–अद्‌भुता बहवः सन्तु भगवत्पर्ववासराः।
आमोदयति मां धन्या कृष्णा भाद्रपदाष्टमी।।३८४।।

इति श्रीभक्तिरसामृतसिन्धौ दक्षिणविभागे भक्तिरससामान्यनिरूपणे विभावलहरी प्रथमा।।१।।

● *अनुवाद*–तेरहवें उद्दीपन–विभाव श्रीकृष्ण के *'जन्मदिन'* के विषय में इस प्रकार कहा गया है, श्रीभगवान् के उत्सवों के अनेक अद्‌भुत दिवस हैं, हुआ करें, किन्तु भाद्रपद की सौभाग्यशालिनी कृष्णजन्माष्टमी मुझको सबसे अधिक आमोद प्रदान करती है।।३८४।।

इस प्रकार श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु के दक्षिण–विभाग में भक्तिरस के सामान्य निरूपणान्तर्गत में प्रथम विभाव–लहरी समाप्त हुई।।१।।

● ● ●

द्वितीय-लहरी : अनुभावाख्या

अथ अनुभावाः—

१—अनुभावास्तु चित्तस्थभावानामवबोधकाः।
ते बहिर्विक्रियाप्रायाः प्रोक्ता उद्भास्वराख्यया।।१।।
२—नृत्यं विलुठितं गीतं क्रोशनं तनुमोटनम्।
हुंकारो जृम्भणं श्वासभूमा लोकानपेक्षिता।
लालास्त्रवोऽट्टहासश्च घूर्णा हिक्कादयोऽपि च।।२।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*एतेष्वनुभावेषु (१.१.१२) कार्यभूताः स्मिताद्याश्चेत्यनेन स्मितमुक्तमेव, अत्र त्वाद्यग्रहणगृहीतान् गणयति नृत्यमिति।।२।।*

● *अनुवाद*—**'अनुभाव' चित्त में स्थित भावों के अर्थात् कृष्ण—रति के अवबोधक या परिचायक होते हैं। वे प्रायः बाह्य विकाररूप में जब प्रकाशित होते हैं, उन्हें 'उद्भास्वर' नाम से कहा जाता है।।१. नृत्य, २. विलुंठन, (लोटना), ३. गान, ४. चिल्लाना, ५. देह मरोड़ना, ६. हुंकार करना, ७. जंमाई लेना, ८. लम्बे सांस लेना, ९. लोक की परवाह न करना, १०. लार टपकाना, ११. अट्टहास करना १२. घूर्णा और १३. हिचकी लेना आदि भक्तिरस के अनुभाव हैं।।२।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—दक्षिण विभाग की प्रथम लहरी में भक्तिरस के आलम्बन तथा उद्दीपन विभावों का वर्णन किया गया था। इस लहरी में भक्तिरस के अनुभावों का वर्णन करेंगे। 'अनुभाव'—शब्द की व्युत्पत्ति है, अनु+भाव इन दो पदों से। अनु का अर्थ है पश्चात्। अतः पश्चात् जो उत्पन्न होता है, उसे 'अनुभव' कहते हैं, अथवा किसी वस्तु के प्रभाव को ही 'अनुभाव' कहते हैं। प्रभाव के द्वारा किसी वस्तु का परिचय मिलता है। इसलिए वस्तु के परिचय देने वाले लक्षणों को भी 'अनुभाव' कहते हैं। अनेक वस्तुयें ऐसी हैं, जिनके प्रभाव या अनुभव को देखकर उस वस्तु का ज्ञान होता है, वह स्वयं स्वरूपतः गोचरीभूत नहीं होती। जैसे ज्वर; ज्वर आँखों से नहीं दीखता, किन्तु वह जो ताप—दर्द आदि शरीर में पैदा करता है, उनसे ज्वर का अस्तित्व जाना जाता है। इसी प्रकार क्रोध दीखने में नहीं आता, किन्तु क्रोध के प्रभाव से आँखों का, मुख का लाल होना, वाणी का लड़खड़ाना आदि लक्षणों को देखकर या उससे पैदा हाने वाले बाहरी विकारों को देखकर क्रोध का पता लगता है।

इसी प्रकार कृष्णरति या भक्ति आँखों से देखने की वस्तु नहीं है। चित्त में कृष्णरति के आविर्भूत होने पर समय—समय पर भक्तों के शरीर पर अथवा उनके आचरण में जो विकार या लक्षण प्रकाशित होते हैं, वे चित्तस्थित कृष्णरति का परिचय देते हैं। अतः उन्हें कृष्णरति के अनुभव या कृष्णरति उदित होने के बाद प्रकाशित होने वाले रति के परिचायक लक्षण कहा गया है। नृत्य—गानादि उपर्युक्त समस्त भक्तिरस के अनुभाव हैं।

नृत्य–गीतादि अनुभावों को *'उद्भास्वर'* कहा गया है। अनुभाव दो प्रकार के हैं, उद्भास्वर तथा सात्त्विक। सात्त्विक अनुभावों का अगली लहरी में वर्णन करेंगे, जो अश्रु–पुलक–कम्पादि आठ माने गये हैं। चाहे अश्रु–पुलक–कम्पादि सात्त्विक भाव भी अनुभाव ही हैं कृष्ण–भक्तिरस के, किन्तु उन्हें उद्भास्वर नहीं माना गया है। कारण यह है कि इन दोनों में सूक्ष्म अन्तर है। केवल सत्त्व से जिन समस्त अनुभावों का उद्भव होता है, वे तो हैं *'सात्त्विक'*, किन्तु सत्त्व से उत्पन्न होने पर भी जिनमें बुद्धि का योग रहता है अर्थात् जिनकी बुद्धिपूर्वक चेष्टा करने से उत्पत्ति होती है, वे हैं *'उद्भास्वर'*। अश्रुपुलक–कम्प–स्तम्भादि सात्त्विक अनुभावों की प्रवृत्ति में बुद्धि का कोई सम्पर्क नहीं रहता वे स्वतः स्फूर्त होते हैं। किन्तु नृत्य–गान आदि जितने अनुभाव हैं, उनमें बुद्धि पूर्वक चेष्टायें होती हैं, उनकी स्फूर्ति बुद्धि पूर्विका होती है। इसलिए यह कहा गया है कि उद्भास्वर का प्रायः विकार बाहर प्रकाशित होता है। स्तम्भ–पुलकादि सात्त्विक विकार बाहर इतने नहीं प्रकाशित होते, जितने नृत्य–गीतादि।।१–२।।

३–ते शीताः क्षेपणाश्चेति यथाऽर्थाख्या द्विधोदिताः।
शीताः स्युर्गीतजृम्भाद्या नृत्याद्याः क्षेपणाभिधाः।।३।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*गीतजृम्भाद्या इति। गीतञ्जृम्भाद्याश्चेत्यर्थः, आद्यग्रहणाच्छ्वासभूमा लोकानपेक्षिता लीलास्त्रवा ज्ञेयाः, पूर्वोक्तत्वात् स्मितमपि।।३।।*

● ***अनुवाद***–**ये अनुभाव दो प्रकार के हैं–१. *'शीत'* तथा 'क्षेपण'। गीता–जृम्भा आदि शीत–अनुभाव हैं तथा नृत्यादि क्षेपण अनुभाव हैं।।३।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–आदि शब्द से श्वासभूमा, लोकानपेक्षिता तथा लालस्राव ग्रहणीय हैं; (रोमाञ्चों से रक्तोद्गम एवं उत्फुल्लता प्रभृति ग्रहण किये जाते हैं।) अर्थात् गीत, जम्भाई लेना, लम्बी सांसें लेना, लोकों की अपेक्षा न रखना, लार टपकाना, ये पांच शीत–अनुभाव हैं और नृत्य विलुण्ठनादि बाकी के आठ अनुभाव तथा मन्द मुसकान (जिसका पूर्व वर्णन किया जा चुका है) ये नौ *'क्षेपण–अनुभाव'* हैं।।३।।।

आगे इन समस्त अनुभावों के उदाहरणों का उल्लख करते हैं–

तत्र नृत्यं, यथा–

१–मुरलीखुरलीसुधाकिरं हरिवक्त्रेन्दुमवेक्ष्य कम्पितः।
गगने सगणे सडिण्डिमध्वनिभिस्ताण्डवमाश्रितो हरः।।४।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*मुरलीपदेन तन्नादो लक्ष्यते, खुरली तस्या अभ्यासः "खुरली योग्ये" ति त्रिकाण्डशेषात्।।४।।*

● ***अनुवाद***–*१. 'नृत्य'* **का उदाहरण; पुनः–पुनः मुरली–ध्वनि के अभ्यास रूप अमृतवृष्टि करने वाले श्रीकृष्ण के मुखचन्द्र को देखकर कम्पयुक्त होकर श्रीशिवजी गणेशादि अपने गणों के साथ आकाश में डमरू बजाते हुए नृत्य करने लगे।।४।।**

विलुठितं, यथा तृतीये (३।१।३२)–

२–कच्चिद् बुधः स्वस्त्यनमीव आस्ते श्वफल्कपुत्रो भगवत्प्रपन्नः।
यः कृष्णपादाकिंतमार्गपांशुष्वचेष्टत प्रेमविभिन्नधैर्यः।।५।।

यथा वा–

३–नवानुरागेण तवावशांगी वनस्रगामोदमवाप्य मत्ता।
व्रजांगने सा कठिने लुठन्ती गात्रं सुगात्रा व्रणयाञ्चकार।।६।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*व्रणयाञ्चकार व्रणवच्चकार "विन्मतोर्लुक् चेति (पाणि–५।३।६५) लुग्विधानात्।।५।।*

● *अनुवाद*–श्रीमद्भागवत (३।१।३२) में *'विलुष्ठन'* का उदाहरण; (श्रीविदुरजी दुर्योधन द्वारा अनादृत एवं हस्तिनापुर से निकाले जाने के बाद जब श्रीउद्धवजी से मिले, तो सबकी कुशल पूछने के बाद श्रीअक्रूर जी के बारे में उन्होंने ऐसा पूछा–) श्रीभगवान् के शरणागत विशुद्ध भक्त बुद्धिमान श्रीअक्रूरजी प्रसन्न तो हैं न ? जो श्रीकृष्ण के चरणचिह्नों से अंकित व्रजमार्ग की धूलि में प्रेम से अधीर होकर लोटने लगे थे।।५।।

और भी वर्णन आता है; हे श्यामसुन्दर ! आपमें नवानुराग के वश श्रीराधा जी अवश हो उठीं और आपकी वनमाला की सौरभ में उन्मत्त होकर उन्होंने कठिन व्रजांगन में लोटते–लोटते अपने सुन्दर शरीर को घायल कर दिया।।६।।

गीतं, यथा–

४–रागडम्बरकरम्बितचेताः कुर्वती तव नवं गुणगानम्।
गोकुलेन्द्र ! कुरुते जलतां सा राधिकाऽद्य दृषदां सुहृदां च।।७।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*रागेऽनुरागः श्रीरागादिश्च, सुहृदां सहचरीणां, जडतां स्तम्भं दृषदां जलतां जलत्वं। डलयोर्विनिमयात्।।७।।*

● *अनुवाद*–३. *'गीत'* का उदाहरण; हे गोकुलेन्द्र ! नवानुराग सागर में निमग्नचित्त श्रीराधा आपके अपूर्व गुणों का गान करती हुई आज पत्थरों को जल के समान द्रवीभूत तथा सखियों को स्तम्भित कर रही हैं।।७।।

क्रोशनं, यथा–

५–हरिकीर्तनजातविक्रियः स विचुक्रोश तथाऽद्य नारदः।
अचिरान्नरसिंहशंकया दनुजा येन धुता विलिल्यिरे।।८।।

यथा वा–

६–उररीकृतकाकुराकुला कुररीव व्रजराजनन्दन!।
मुरलीतरलीकृतान्तरा मुहुराक्रोशदिहाद्य सुन्दरी।।९।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*तरलीकृतान्तरेति चिव्प्रत्ययान्त एव पाठः।।९।।*

● *अनुवाद–क्रोशन* (चीत्कार) का उदाहरण; आज श्रीनारदजी ने श्रीहरिकीर्तन के आवेश में ऐसा चीत्कार किया कि श्रीनृसिंहजी को आया समझकर दानव कांपते हुए भाग खड़े हुए।।८।।

दूसरा उदाहरण; हे व्रजराजनन्दन ! आपकी मुरली ध्वनि को सुन कर श्रीराधा जी कुररी (चील) पक्षी की तरह व्याकुल एवं अत्यन्त अस्थिर होकर बार–बार चीत्कार करने लगीं।।९।।

तनुमोटनं, यथा—

७—कृष्णनामनि मुदोपवीणिते प्रीणिते मनसि वैणिको मुनिः।
उद्भटं किमपि मोटयन् वपुस्त्रोटयत्यखिलयज्ञसूत्रकम्।।१०।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*मुदा हर्षेणोपवीणिते वीणयोपगीते सति, अर्थात् स्वयमेवोद्भटं यथा स्यात्तथा वपुर्मोटयन् किमप्यनिर्वचनीयं यथा स्यात्तथाऽखिलयज्ञसूत्रं त्रोटयति।।१०।।*

● *अनुवाद—'तनु—मोटन'* का उदाहरण; वीणावादन करने वाले श्रीनारद मुनि ने श्रीकृष्ण नाम का गान करते—करते आनन्दित होकर ऐसे उत्कट भाव से अंगों को मरोड़ा कि अपने यज्ञोपवीत के सारे सूत्र तोड़ डाले।।१०।।

हुंकारो, यथा—

८—बैणवध्वनिभिरुद्भ्रमद्धियः शंकरस्य दिवि हुंकृतिस्वनः।
ध्वंसयन्नपि मुहुः स दानवं साधुवृन्दमकरोत्सदा नवम्।।११।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*यथार्थत्वे सहुंकृतिस्वन इति योज्यं, मुहुरपीति च, प्रतिक्षणमेव परमानन्ददानेन नवमिवाकरोदिति च विरोधालंकाराय तु ध्वंसयन्नपीति दानवसहितमिति च व्याख्येयम्।।११।।*

● *अनुवाद—'हुंकार'* का उदाहरण; श्रीकृष्ण की वेणुध्वनि सुनते ही श्रीशंकर की बुद्धि भ्रान्त हो उठी और आकाश में वे ऐसा हुंकार करने लगे कि उससे दानवकुल ध्वंस होने लगा और प्रतिक्षण साधुगण को नवीन परमानन्द प्रदान करने लगी।।११।।

जृम्भर्ण, यथा—

९—विस्तृतकुमुदवनेऽस्मिन्नुदयति पूर्णे कलानिधौ पुरतः।
तव पद्मिनि ! मुखपद्मं भजते जृम्भामहो चित्रम्।।१२।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*विस्तृतेति। कृष्णपक्षे विस्तृतं कोः पृथिव्या मुदाऽवनं पालनं येन तथा तस्मिन्; पक्षे जृम्भामालस्य—व्यञ्जिकां भजत इति चित्रमेव।।१२।।*

● *अनुवाद—जृम्भण'* अनुभाव का उदाहरण; हे पद्मिनि राधिके ! इस कुमुदवन में (श्रीकृष्ण) पूर्णचन्द्र के सामने उदित होने पर तुम्हारा मुखकमल जृम्भा (विकास) को प्राप्त कर रहा है, यह बड़े आश्चर्य की बात है।।१२।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—इस श्लोक में 'पद्मिनी', 'कुमुदवन' तथा 'जृम्भा' शब्द श्लिष्ट हें, अतः श्लेषालंकार है। पद्मिनी का एक अर्थ कमलिनी होता है, दूसरा पद्मिनी एक नायिका भेद है। कुमुदवन का एक अर्थ है कुमुदवन तथा दूसरा अर्थ है पृथ्वी का पालन करने वाला श्रीकृष्ण, जृम्भा का एक अर्थ है विकास या विकसित होना एवं दूसरा अर्थ है जम्भाई लेना।

उपर्युक्त अर्थ में आश्चर्य की बात यह है कि श्रीकृष्ण रूप पूर्ण चन्द्र को देखकर राधिका—मुख कमल का विकसित होना। चन्द्र को देखकर कमल मुदित हो जाता है, विकसित या प्रफुल्लित नहीं होता। दूसरे अर्थ में आश्चर्य यह है कि श्रीकृष्ण के सामने आने पर पद्मिनी नायिका होकर भी जम्भाई लेना। अतः इस श्लोक में चमत्कारी श्लेषालंकार है।।१२।।

भूश्वासभमा, यथा–

१०–उपस्थिते चित्रपटाम्बुदागमे विवृद्धतृष्णा ललिताख्यचातकी।
निश्वासझञ्जामरुताऽपवाहितं कृष्णाम्बुदाकारमवेक्ष्य चुक्षुभे।।१३।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*अम्बुदागमः प्रावृट् वातूलो वातगुल्मः स्यात्खचारवायु–र्निदाघजः, झञ्जानिलः प्रावृषिको वासन्तो मलयानिलः, इति त्रिकाण्डशेषदृष्ट्या श्वास एव झञ्जामरुत् प्रावृड्वायुः दृगम्बुमिश्रत्वात्प्रबलत्वाच्च तेनापवाहितं नेत्रपथाद्–दूरे क्षिप्तं पटस्य परिवर्तित्वात्।।१३।।*

● *अनुवाद–निश्वास'* का उदाहरण; चित्रपट के समान (अथवा रंग–बिरंगे वस्त्र धारण करने वाले) मेघ (श्यामसुन्दर) के उपस्थित होने पर ललिता–चातकी की तृष्णा वर्द्धित हो गई, किन्तु अपने निश्वास रूप झञ्झावात के कारण कृष्णमेघ के अदृश्य हो जाने से वह क्षुब्ध हो उठीं।।१३।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–इस श्लोक में श्रीललिता जी पर चातकी का, श्रीकृष्ण पर मेघ का तथा निश्वासों पर झञ्झावात का आरोप किया गया है। चातकी एकमात्र स्वाति नक्षत्र वर्षा का जलपान करती है। काले मेघों के दर्शन से तथा उनसे बरसने वाले वर्षा जल से उसकी तृष्णा नहीं मिटती। श्रीकृष्ण रूप मेघ को देखते ही श्रीललिता रूप चातकी की तृष्णा जाग उठी। परन्तु जैसे झंझावात से मेघ अपसारित हो जाते हैं, उसी प्रकार श्रीललिता में निश्वास रूप झंझावात उदित हो उठा, जिससे कृष्णरूप मेघ दूर चले गये। नेत्रों में अश्रु आ जाने से वह उनके दर्शन भी न कर सकी। अतः तृषित रहने से वह क्षुब्ध हो उठी।।१३।।

लोकानपेक्षिता, यथा श्रीदशमे (१० ।२३ ।४१)

११–अहो पश्यत नारीणामपि कृष्णे जगद्गुरौ।
दुरन्तभावं योऽविध्यन्मृत्युपाशान् गृहाभिधान्।।१४।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*अहो इति। याज्ञिकानामुक्तिः।।१४।।*

● *अनुवाद–'लोकानपेक्षिता'* का उदाहरण; श्रीमद्भागवत (१० ।२३ ।४१) में; अहो ! जगद्गुरु श्रीकृष्ण के प्रति स्त्रियों के अपार प्रेम को तो देखो; जिसने गृहनामक मृत्यु–पाश को भी तोड़ डाला है।। (ये वचन याज्ञिक ब्राह्मणों के हैं)।।१४।।

यथा वा पद्यावल्यां (७३)–

१२–परिवदतु जनो यथा तथाऽयं ननु मुखरो न वयं विचारयामः।
हरिरसमदिरामदातिमत्ता भुवि विलुठाम नटाम निर्विशाम।।१५।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*निर्विशाम भोगं करवाम, पर्यटामेति तु पाठः संगत त्रिष्वपि लोडुत्तम पुरुष बहु वचनं तु परमसंगतं, वयमित्युक्तत्वान्मता इति च पठनीयम्।।१५।।*

● *अनुवाद–'लोकानपेक्षिता'* का उदाहरण पद्यावली में कथित है; संसार के लोग चाहे सो कहें, वे तो वाचाल हैं, हम उनकी कुछ भी परवाह नहीं करतीं। कृष्ण–प्रेम रस की मदिरा का पान कर हम तो उन्मत्त होकर पृथ्वी पर लोटती हैं, नाचती हैं और आनन्द भोग करती हैं।।१५।।

लालास्रवो, यथा—

१३—शंके प्रेमभुजंगेन दष्टः कष्टं गतो मुनिः।
निश्चलस्य यदेतस्य लाला स्रवति वक्त्रतः।।१६।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*शंके प्रेमेति। मुनित्वेन प्रेमानुमानं निश्चलत्व—कारणादिना तत्र भुजंगरूपकम्।।१६।।*

● *अनुवाद—'लालास्राव'* का उदाहरण; ऐसा लगता है कि कृष्णप्रेम रूप सांप के द्वारा यह मुनि डसा गया है, और इतना कष्ट पा रहा है कि यह निश्चल पड़ा हुआ है, और इसके मुख से लार टपक रही है।।१६।।

अट्टहासः—

४—हासादभिन्नोऽट्टहासोऽयं चित्तविक्षेपसम्भवः।।१७।।

यथा, १४—शंके चिरं केशवकिंकरस्य चेतस्तटे भक्तिलता प्रफुल्ला।
येनाधितुण्डस्थलमट्टहासप्रसूनपुञ्जाश्चटुलं स्खलन्ति।।१८।।

● *अनुवाद*—'अट्टहास' चित्त विक्षेप से होता है। यह हास से पृथक् है।।१७।।

जैसा कि कहा गया है, ऐसा जान पड़ता है कि श्रीकृष्ण के इस पुराने सेवक के चित्त में भक्तिलता प्रफुल्लित हो रही है, क्योंकि उसके मुख के ऊपर अट्टहास रूप पुष्पों का समुदाय बार—बार झर रहा है।।१८।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*अट्टहासस्य लक्षणं चेदम्—*

उत्फुल्लनासिकारंध्रमालोड़ितमुखेक्षणम्।
उद्धतं विकृताकारं नाट्येऽट्टहसितं विदुः।।इति।।

विपक्षं प्रत्याक्षेपमयतया यद्यप्यट्टहासः सर्वत्राप्युग्र एव वर्ण्यते; तथापि स एव सपक्षं प्रति रोचमानस्तेन केनचित्कोमलतयाऽपि वर्णयितुं शक्यते; तत्र सति भक्तिनिन्दकानामवज्ञाज्ञापकं कस्यचिद्भक्तस्याट्टहासं कश्चित्तत्सपक्षो वर्णयति—शंके इति।।१८।

घूर्णा, यथा—

१५—ध्रुवमघरिपुरादधाति वात्यां ननु मुरलि ! त्वयि फूत्कृतिच्छलेन।
किमयमितरथा ध्वनिर्विघूर्णन् सखि ! तव घूर्णयति व्रजाम्बुजाक्षीः।।१६।।

● *अनुवाद—'घूर्णा'* अनुभाव का उदाहरण; हे सखि मुरलि ! जान पड़ता है कि श्रीकृष्ण तुम्हारे अन्दर फूँक मारने के छल से आँधी—का सा प्रवेश करा देते हैं, वरना हे सखि ! तुम्हारी ध्वनि घूमती हुई व्रजवनिताओं को क्यों चक्कर दिलाने लगती है ?।।१६।।

हिक्का, यथा—

१६—न पुत्रि ! रचयौषधं विसृज रोदमत्युद्धतं
मुधा प्रियसखीं प्रति त्वमशिवं किमाशंकसे।
हरिप्रणयविक्रियाकुलतया ब्रुवाणा मुहु—
र्वराक्षि ! हरिरित्यसौ वितनुतेऽद्य हिक्काभरम्।।२०।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*न पुत्रीति। पौर्णमास्या वचनं ललितां प्रति, सा च*

तादृशभावेत्युज्ज्वलनीलमणावेव व्यज्या, ततश्चाहमेवोपायं करिष्यामीति ध्वनितम्, अत्र रोदमत्युद्धतमित्येव पाठः सभ्यः।।२०।।

● *अनुवाद–'हिचकी'* अनुभाव का उदाहरण–पौर्णमासी ने कहा; हे पुत्रि! तुम वृथा किस लिए प्रिय सखी श्रीराधा के विषय में अनिष्ट की आशंका कर रही हो ? इसके लिए किसी औषधि की आवश्यकता नहीं है। तुम उद्धत्त रोना परित्याग करो। हे वराक्षि ! यह श्रीकृष्ण के प्रेम विकार से व्याकुल होकर बार–बार 'हरि–हरि' कहकर हिचकियां भर रही है।।

५–वपुरुत्फुल्लतारक्तोद्गमाद्याः स्युः परेऽपि ये।
अतीव विरलत्वात्ते नैवात्र परिकीर्तिताः।।२१।।

इति श्रीभक्तिरसामृतसिन्धौ दक्षिणविभागे भक्तिरससामान्यनिरूपणे–अनुभावलहरी द्वितीया।।२।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*वपुरिति। वस्तुतस्तु वपुरुत्फुल्लता पुलकस्यैवातिशयो ज्ञेयः, रक्तोद्गमः स्वेदस्य।।२१।।*

● *अनुवाद*–उपर्युक्त अनुभावों के अतिरिक्त शरीर का फूल जाना, रोमकूपों से रक्त का बह निकलना आदि और भी कई एक अनुभाव हैं (जिनका श्रीउज्ज्वलनीलमणि ग्रन्थ में श्रीग्रन्थकार ने वर्णन किया है। वे बहुत विरले होते हैं, इसलिए यहाँ उनका उल्लेख नहीं किया गया है।।२१।।

इस प्रकार श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु के सामान्य भक्तिरसनिरूपणान्तर्गत दक्षिण–विभाग में अनुभाव–नामक द्वितीय–लहरी समाप्त हुई।।२।।

● ● ●

तृतीय-लहरी : सात्त्विकाख्या

अथ सात्त्विकाः–

१–कृष्णसम्बन्धिभिः साक्षात्किञ्चिद्वा व्यवधानतः।
भावैश्चित्तमिहाक्रान्तं सत्त्वमित्युच्यते बुधैः।।१।।
२–सत्त्वादस्मात् समुत्पन्ना ये भावास्ते तु सात्त्विकाः।
स्निग्धा दिग्धास्तथा रूक्षा इत्यमी त्रिविधा मताः।।२।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*सत्त्वादिति। केवलादेवेति भावः, ततश्च नृत्यादीनां सत्यपि सत्त्वोत्पन्नत्वे बुद्धिपूर्विका प्रवृत्तिः; स्तम्भादीनां तु स्वत एव प्रवृत्तिरित्यस्य लक्षणस्य नृत्यादिषु नातिव्याप्तिः।।२।।*

● *अनुवाद*–साक्षात् अथवा किञ्चित् व्यवधान से श्रीकृष्ण के सम्बन्धी भावों से आक्रान्त चित्त को विद्वान् *'सत्त्व'* कहते हैं।।१।।

उस सत्त्व से जो भाव उदित होते हैं उन्हें *"सात्त्विक–भाव"* कहा जाता है। वे तीन प्रकार के हैं–१. स्निग्ध, २. दिग्ध तथा ३. रूक्ष।।२।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–जैसे कि पहले कह आये हैं, कृष्णरति बारह प्रकार की है। १. शान्त, २. दास्य, ३. सख्य, ४. वात्सल्य तथा ५. मधुर, ये पाँच मुख्यरति हैं; और १. हास्य, २. करुण, ३. अद्‌भुत, ४. वीर, ५. रौद्र, ६. भयानक तथा ७. वीभत्स, ये सात गौणरति हैं। पाँच मुख्य रतियों द्वारा जब चित्त आक्रान्त होता है तब चित्त को 'साक्षाद् भाव' से कृष्णरति द्वारा आक्रान्त होना माना जाता है और जब गौण रतियों से चित्त आक्रान्त होता है, तो उसे कुछ व्यवधान या व्यवहित–भाव से कृष्णरति द्वारा आक्रान्त कहा जाता है। साक्षात् अथवा व्यवहित जैसा भी हो कृष्णरति द्वारा आक्रान्त चित्त को *'सत्त्व'* कहा जाता है। सत्त्व–शब्द एक पारिभाषिक शब्द है। यह मायिक सत्त्वगुण नहीं है। एक विशेष अवस्थापन्न या कृष्णरति द्वारा आक्रान्त चित्त ही 'सत्त्व' है।

पूर्व लहरी में वर्णन किये गये जितने नृत्य–गीतादि अनुभाव हैं, वस्तुतः वे भी कृष्ण–सम्बन्धी भावों से या कृष्ण–सम्बन्धी भावों से आक्रान्त चित्त से उत्पन्न होते हैं, परन्तु नृत्य–गीतादि में बुद्धि–पूर्विका प्रवृत्ति रहने से उन्हें *'उद्‌भास्वर'* कहा गया था। परन्तु सात्त्विक भावों में बुद्धि–पूर्विका प्रवृत्ति नहीं रहती, ये स्वतः स्फुरित हो उठते हैं। इनमें नृत्य–गीतादि की तरह वैसा करने की इच्छा के अनुसार चेष्टा नहीं रहती। केवल सत्त्व से उदित होने के कारण इन्हें 'सात्त्विक–भाव' कहा गया है। आगे स्निग्ध, दिग्ध तथा रूक्ष–इन तीन प्रकार के सात्त्विक–भावों के सोदाहरण लक्षण वर्णन करते हैं।।१–२।।

तत्र स्निग्धाः–

३–स्निग्धास्तु सात्त्विका मुख्या गौणाश्चेति द्विधा मताः।।३।।

तत्र मुख्याः–

४–आक्रमान्मुख्यया रत्या मुख्याः स्युः सात्त्विका अमी।
विज्ञेयः कृष्णसम्बन्धः साक्षादेवात्र सूरिभिः।।४।।

यथा, १–कुन्दैर्मुकुन्दाय मुदा सृजन्ती स्रजं वरां कुन्दविडम्बिदन्ती।
बभूव गान्धर्वरसेन वेणोर्गान्धर्विका स्पन्दनशून्यगात्री।।५।।

५–मुख्यः स्तम्भोऽयमित्थं ते ज्ञेयाः स्वेदादयोऽपि च।।६।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*तत्र स्निग्धा इति। एषां लक्षणं वक्ष्यमाणानुसारेण मुख्यगौणरत्याक्रान्तचित्तभवतया ज्ञेयं, तदेवं सामान्यतः स्निग्धानां लक्षणमप्यायातम्–उभयैकतररत्याक्रान्तचित्तभवतया स्निग्धा इति।।३।।*

● *अनुवाद*–*'स्निग्ध–सात्त्विक'* भाव दो प्रकार के हैं। १. मुख्य तथा २. गौण।।३।।

दास्य–सख्यादि मुख्य रतियों से आक्रान्त जो सात्त्विक–भाव हैं, उन्हें *'मुख्य स्निग्ध सात्त्विक–भाव'* कहा जाता है। इनमें श्रीकृष्ण का सम्बन्ध साक्षात्–भाव से होता है, ऐसा विद्वानों को समझना चाहिए।।४।।

उदाहरण; कुन्दकली को निन्दित करने वाले दांतों वाली श्रीराधा श्रीमुकुन्द के लिए कुन्द–कुसुम की माला रचना कर रही थीं कि उस समय वेणु की

मधुर ध्वनि सुनकर वे निश्चल–गात्री हो गईं अर्थात् उनका शरीर स्तम्भित हो गया।।५।।

यह स्तम्भ मुख्य स्निग्ध सात्त्विक भाव का उदाहरण है। स्वेदादि अन्य सात्त्विक भावों को भी इसी प्रकार जान लेना चाहिए।।६।।

अथ गौणाः–

६–रत्याक्रमणतः प्रोक्ता गौणास्ते गौणभूतया।
अत्र कृष्णस्य सम्बन्धः स्यात् किञ्चिद्व्यवधानतः।।७।।

यथा, २–स्वविलोचनचातकाम्बुदे पुरि नीते पुरुषोत्तमे पुरा।
अतिताम्रमुखी सगद्गदं नृपमाक्रोशति गोकुलेश्वरी।
इमौ गौणौ वैवर्ण्यस्वरभेदो।।८।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*इमाविति गौणभूतया क्रोधरत्याक्रमणादिति भावः।।८।।*

● अनुवाद–गौणी रति द्वारा अर्थात् हास्य–विस्मयादि सात गौण रतियों में से किसी एक रति द्वारा भी चित्त आक्रान्त होने पर जो सात्त्विक–भाव उदय होते हैं, उनको 'गौण–स्निग्ध' सात्त्विक–भाव' कहा जाता है। यहाँ श्रीकृष्ण का सम्बन्ध कुछ व्यवधान रूप से होता है, साक्षात् भाव से नहीं।।७।।

उदाहरण, अपने लोचन–रूप चातकों के लिए मेघ स्वरूप पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण को मथुरापुरी में ले जाने के बाद गोकुलेश्वरी श्रीयशोदा क्रोध में भरकर लाल मुँह वाली होकर गद्गद वचनों से ब्रजराज का तिरस्कार करने लगीं। यहाँ वैवर्ण्य तथा स्वरभेद दोनो 'गौण स्निग्ध सात्त्विक भाव' हैं। (क्योंकि इन दोनों का गौणीरति क्रोध से उदय हुआ है)।।८।।

अथ दिग्धाः–

७–रतिद्वयविनाभूतैर्भावैर्मनस आक्रमात्।
जने जातरतौ दिग्धास्ते चेद्रत्यनुगामिनः।।९।।

यथा, ३–पूतनामिह निशाम्य निशायां सा निशान्तलुठदुद्भटगात्रीम्।
कम्पितांगलतिका व्रजराज्ञी पुत्रमाकुलमतिर्विचिनोति।।१०।।

८–कम्पो रत्यनुगामित्वादसौ दिग्ध इतीर्यते।।११।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*पूतनामिति–स्वाप्निकंचरितं लक्ष्यते, निशान्ते तस्या लोठनाश्रुतेः, अतएव निद्रामोहेन पुत्रस्य प्रथमं तत्रास्तित्वास्फूर्तेः स्वविषयमेव भयं जातम्।।१०।। कम्प इति पूर्वं तु केवल–भयानकदर्शनाज्जातोऽयं, न तु (२।३।८) स्वविलोचनेत्यादौ वैवर्ण्यादिरिव रतिमूल इति भावः।।११।।*

● *अनुवाद*–मुख्या एवं गौणी रति के बिना जात–रति भक्त में भाव के द्वारा मन आक्रान्त होने पर यदि भाव रति का अनुगामी हो, तो उसे '*दग्धसात्त्विक*' कहते हैं।।९।।

एक बार रात्रि के अन्तकाल में स्वप्न में पृथ्वी पर लेटी हुई भयानक शरीर वाली पूतना को देख कर व्रजेश्वरी श्रीयशोदा काँप उठीं और व्याकुल चित्त होकर अपने पुत्र श्रीकृष्ण को ढूँढने लगीं।।१०।।

रति का अनुगामी होने से यहाँ जो कम्प है, यह दिग्ध सात्विकभाव है।।११।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–उक्त उदाहरण में श्रीयशोदा श्रीकृष्ण के विषय में जात–रति हैं, अनादि सिद्ध वात्सल्य रति विशिष्टा हैं। नींद में सोने के कारण उनमें श्रीकृष्ण–स्फूर्ति नहीं थी, इसलिए वात्सल्य रति भी उनमें उस समय उद्‌बुद्ध नहीं थी। स्वप्न में पूतना को देखकर जो भय पैदा हुआ वह भी उनका अपने विषय में था, कृष्ण–विषयक न था, क्योंकि नींद में उन्हें कृष्ण–स्मृति नहीं थी। इससे यह जाना जाता है कि मुख्यारति वात्सल्य तथा गौणी रति भय–इन दोनों के बिना ही यशोदाजी में कम्प–नामक सात्त्विक–भाव उदय हुआ। किन्तु निद्रा के कारण पहले श्रीकृष्ण–स्मृति न रहने पर भी, स्वविषयक भय तथा कम्प उदित होने पर भी पूतना को देखते ही वात्सल्य रतिमती श्रीयशोदा अपने पुत्र श्रीकृष्ण के विषय में भी पूतना से भय करने लगीं और उस भय से उनमें कम्प हुआ। यह जो कम्प है उनकी वात्सल्य रति का अनुगामी है। वात्सल्य रति के जाग्रत होने पर ही पूतना से श्रीकृष्ण के भय की आशंका करके वह काँपने लगीं और श्रीकृष्ण को ढूँढ़ने भी लगीं। रति का अनुगामी होने से इस कम्प को दिग्ध सात्त्विक–भाव कहा गया है।।६–११।।

अथ रूक्षाः–

६–मधुराश्चर्यतद्वार्त्तोत्पन्नैर्मुद्विस्मयादिभिः।
जाता भक्तोपमे रूक्षा रतिशून्ये जने क्वचित्।।१२।।

यथा, ४–भोगैकसाधनजुषा रतिगन्धशून्यं स्वं ।१३।।
चेष्टया हृदयमत्र विवृण्वतोऽपि।
उल्लासिनः सपदि माधवकेलिगीतै–
स्तस्यांगमुत्पुलकितं मधुरैस्तदासीत्।।१३।।

रूक्ष एष रोमाञ्चः–

१०–रूक्षोऽयं रतिशून्यत्वाद्रोमाञ्चः कथितो बुधैः।
१०–मुमुक्षुवप्रभृतौ पूर्व यो रत्याभास ईरितः।।१४।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–जाता इति। भक्तोऽत्र जातरतिः प्रकरणात्।।१२।।

● *अनुवाद*–मधुर तथा आश्चर्यमयी भगवत्कथा को सुनने से कभी–कभी रतिशून्य लोगों में भक्तों के समान भावों का उदय होता है, उन भावों को *'रूक्ष–सात्त्विक–भाव'* कहा जाता है।।१२।।

उदाहरण–जो लोग केवल भोग–साधनों में लगे हुए हैं एवं वैसी चेष्टाओं जिनका रतिशून्य हृदय है, श्रीकृष्ण के आनन्ददायक केलि गीतों की सुनकर उसी क्षण उनका भी शरीर उत्पुलकित हो उठता हैं ये उत्पुलकित होना या रोमाञ्चित होना रूप–सात्त्विक–भाव ही है।।१३।।

ऐसे रतिशून्य पुलकादि को विद्वान् लोग रूक्ष–सात्त्विक कहते हैं। पहले (१।३।४७–५५) मुमुक्षु आदिक लोगों में जिसे रत्याभास कहकर वर्णन किया गया है, वही रूक्ष–सात्त्विक है।।१४।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–श्लोकस्थ 'भक्तोपम'–शब्द का अर्थ श्रीपाद जीवगोस्वामी ने जातरति–भक्त के सदृश किया है। श्रीचक्रवर्तीपाद ने 'सिद्ध–भक्तों

के सदृश' किया है। तात्पर्य यह है कि जिनमें रूक्ष–सात्त्विक भाव उदित होते हैं, वे न तो वास्तविक जात–रति भक्त हैं न सिद्ध–भक्त; अर्थात् उनमें कृष्णरति नहीं होती। *'रतिशून्य'* शब्द से भी यह बात स्पष्ट हो जाती है। अतः उन लोगों में सत्त्वता का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु उनमें जो कभी–कभी अश्रु–पुलकादि सात्त्विक–भाव दिखाई देते हैं, वे वास्तव में सत्त्व से उत्पन्न नहीं होते। वे श्रीकृष्ण की मधुर–लीलाओं के सुनने से आनन्द और विस्मय के कारण ही उदित होते हैं। उनमें कृष्णरति की गन्ध भी नहीं रहती। अतः उन्हें रूक्ष–सात्त्विक कहा गया है। सत्त्व से उत्पन्न न होने पर भी सात्त्विक भावों जैसी बहिरंग सदृशता के कारण उन्हें सात्त्विक कहा ही जाता है। संन्यासियों में जो अश्रु–पुलक कृष्ण–कथा के श्रवण–कीर्तन के समय देखे जाते हैं, वे रूक्ष–सात्त्विक–भाव ही होते हैं, क्योंकि उनमें कृष्णरति नहीं होती। (श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती की उद्धार–लीला में श्रीमन्महाप्रभु के दर्शन करते ही संन्यासियों में कम्प–पुलकादि भाव उदित हो उठे थे, वे सब रूक्ष–सात्त्विक–भाव ही थे।।१४।।

रुक्ष एष रोमाञ्चः

११–चित्तं सत्त्वीभवत् प्राणे न्यस्यत्यात्मानमुद्भटम्।
प्राणस्तु विक्रियां गच्छन् देहं विक्षोभयत्यलम्।
तदा स्तम्भादयो भावा भक्तदेहे भवन्त्यमी।।१५।।
१२–ते स्तम्भस्वेदरोमाञ्चाः स्वरभेदोऽथ वेपथुः।
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः।।१६।।
१३–चत्वारि क्ष्मादिभूतानि प्राणो जात्ववलम्बते।
कवाचित्स्वप्रधानः सन् देहे चरति सर्वतः।।१७।।
१४–स्तम्भं भूमिस्थितः प्राणस्तनोत्यश्रु जलाश्रयः।
तेजस्थः स्वेदवैवर्ण्ये प्रलयं वियदाश्रितः।।१८।।
१५–स्वस्थ एव क्रमान्मन्दमध्यतीब्रत्वभेदभाक्।
रोमाञ्चकम्पवैस्वर्याण्यत्र त्रीणि तनोत्यसौ।।१९।।
१६–बहिरन्तश्च विक्षोभविधायित्वादतः स्फुटम्।
प्रोक्ताऽनुभावताऽमोषां भावता च मनीषिभिः।।२०।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*स्तम्भमिति। तत्तद्भावस्य स्वभावभेद एवात्र कारणं ज्ञेयम्।।१८।। अतः पूर्वोक्ताद्धेतोर्बहिरन्तश्च स्फुटमुच्चैर्विक्षोभविधायित्वादित्सुद्रास्वरेषु तु न तादृशत्वमित्यभिप्रायः, भावता–पक्षे त्वमीषां व्यभिचारित्वमेव ज्ञेयम्।।२०।।*

● *अनुवाद*–**(सात्त्विक भावों का मूल कारण है कृष्णसम्बन्धी भावों द्वारा चित्त का आक्रान्त होना। उस आक्रमण से चित्त क्षुब्ध हो उठता है। किन्तु वह चित्त विक्षोभ किस प्रकार बहिरंग भक्तों के शरीर पर दीखने वाले स्तम्भादि रूप में अभिव्यक्त होता है, उस सम्बन्ध में कहते हैं)–**

चित्त सत्त्व–भावापन्न होने पर अर्थात् कृष्ण–सम्बन्धी भावों द्वारा आक्रान्त होने पर अत्यन्त चञ्चल हो उठता है। वह चञ्चल चित्त जब अपने को प्राणों

के समर्पण कर देता है, उससे प्राण भी विकारापन्न होकर देह को अत्यधिक रूप से क्षुब्ध करते हैं; तब भक्तदेह पर स्तम्भादि सात्त्विक–भावों का उदय होता है। स्तम्भादि सात्त्विक–भाव आठ हैं–१. स्तम्भ, २. स्वेद, ३. रोमाञ्च, ४. स्वरभेद, ५. कम्प, ६. वैवर्ण्य, ७. अश्रु तथा ८. प्रलय। प्राणवायु कभी–कभी क्षिति, अप, तेज एवं वायु, इन चारों का अवलम्बन करती है और कभी स्वयं प्रधान होकर अर्थात् वायु का आश्रय कर शरीर में सर्वत्र विचरण करने लगती है। वह प्राण में जब क्षिति में स्थित होता है तब स्तम्भ प्रकाशित होता है, जब जल का आश्रय लेता है तब अश्रु प्रकाशित होते हैं, जब तेज में स्थित होता है तब स्वेद और वैवर्ण्य प्रकाशित होते हें और जब आकाश में अवस्थित होता है तब मन्द, मध्य एवं तीव्रादि भेदों को प्राप्त होकर यथाक्रम रोमाञ्च, कम्प तथा स्वरभेद–ये तीनों प्रकाशित होते हैं। ये सब सात्त्विक–भाव स्पष्ट रूप से बाहर शरीर पर तथा अन्दर भी क्षोभ उत्पन्न करते हैं। अतः पण्डितगण इनका अनुभावत्व तथा भावत्व दोनों कहते हैं।।१५–२०।।

तत्र स्तम्भः–

१७–स्तम्भो हर्षभयाश्चर्यविषादामर्षसम्भवः।
तत्र वागादिराहित्यं नैश्चल्यं शून्यतादयः।।२१।।

तत्र हर्षाद्यथा तृतीये (३।२।१४)–

५–यस्यानुरागप्लुतहासरासलीलावलोकप्रतिलब्धमानाः।
व्रजस्त्रियो दृग्भिरनुप्रवृत्तधियोऽवतस्थुः किल कृत्यशेषाः।।२२।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*स्तम्भ इति। स्तम्भो मनसोऽवस्थाविशेषः, वागादिराहित्यामित्यादिकास्तु देहस्य, स च स्तभ एव सात्त्विकानां तत्तवदेकनामतयाऽन्तर्बहिर्व्याप्य स्थितत्वात्; किन्तु पूर्वः सूक्ष्मावस्थः, उत्तरस्तु स्थूलावस्थः पूर्वस्य बोधक इति यथाक्रमं द्वयोर्भावानुभावत्वं, तदेवं हर्षादिसम्भवो भावविशेषः स्तम्भ उच्यते, तत्र वागादिराहित्यादयो भवन्तीति योज्यम्, एवमुत्तरत्रापि। अत्र तु वागादीनां राहित्यं यत्र तादृशं नैश्चल्यं कर्मेन्द्रियाणां, शून्यत्वं तं ज्ञानेन्द्रियव्यापारान्तराणां, व्यापारोऽस्ति मनस्तु प्रलये पुनस्तदेकलीनत्वान्मनसोऽपि नास्तीति भेदः।।२१।।*

● *अनुवाद*– हर्ष, भय, आश्चर्य, विषाद तथा क्रोध–इनसे स्तम्भ उत्पन्न होता है। इस स्तम्भ में वाणी का अभाव, निश्चलता अर्थात् हस्तपादादि कर्मेन्द्रियों के व्यापार का स्थगित होना और शून्यता अर्थात् नेत्रादि ज्ञानेन्द्रियों की क्रियाओं का स्थगित होना लक्षण प्रकाशित होते हैं।।२१।।

हर्षजनित स्तम्भ का उदाहरण, श्रीमद्भागवत (३।२।१४) में श्रीउद्धव जी ने श्रीविदुरजी को कहा है, श्रीविदुरजी ! श्रीकृष्ण की उस अनुराग–रसभरी मुसकान एवं लीला का दर्शन कर व्रजसुन्दरीगण ने अति मान या आदर प्राप्त किया, हर्ष से आनन्दित हो उठीं। किन्तु श्रीकृष्ण के यहाँ चले जाने पर उनकी दृष्टि और बुद्धि भी उनके पीछे चली गई। उनके घर का काम–काज ज्यों का त्यों पड़ा रह गया और वे चेष्टारहित होकर वहाँ बैठी रह गईं।।२२।।

भयाद्यथा–

६–गिरिसन्निभमल्लचक्ररुद्धं पुरतः प्राणपरार्द्धतः परार्ध्यम्।
तनयं जननी समीक्ष्य शुष्यन्नयना हन्त बभूव निश्चलांगी।।२३।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*प्राणपरार्द्धतोऽपि परार्द्ध्यमनन्तमूल्यं परमाधिमित्यर्थः।।२३।।*

● *अनुवाद–भयजनित स्तम्भ का उदाहरण,* पहाड़ के समान मल्ल समुदाय से घिरे हुए प्राणों से भी अधिक प्रिय पुत्र श्रीकृष्ण को सामने देखकर माता देवकी के नेत्र निश्चल हो गये और उनका शरीर निश्चेष्ट हो गया। (श्रीदेवकी में वात्सल्य रति वर्तमान होने से भयजनित इस स्तम्भ को सात्त्विक भाव माना गया है)।।२३।।

आश्चर्याद् यथा दशमे (१०।१३।५६)

७–ततोऽतिकुतकोद्वृत्तस्तिमितैकादशेन्द्रियः।
तद्धाम्नाऽभूदजस्तूष्णीं पूर्देव्यन्तीव पुत्रिका।।२४।।

यथा, वा–८ शिशोः श्यामस्य पश्यन्ती शैलमभ्रंलिहं करे।
तत्र चित्रार्पितेवासीद्गोष्ठी गोष्ठनिवासिनाम्।।२५।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*तत इति कुतुकेति अतिकुतकेनोद्वृत्तमुत्सन्नचेष्टं पुनः स्तिमितं प्रेम्णार्द्रीभूतं चैकादशमिन्द्रियं मनो यस्य सः।।२४।। चित्रार्पितेति चित्रजातावर्पिता अचित्तवत्त्वं प्रापितेत्यर्थः, चित्रायमाणेति वा पाठः।।२५।।*

● *अनुवाद–आश्चर्य–जनित स्तम्भ* का उदाहरण श्रीभागवत (१०।१३।५६) में, अपने चुराये हुए वत्स एवं गोपबालकों को पुनः श्रीकृष्ण के साथ देखकर श्रीब्रह्मा श्रीकृष्ण–तेज प्रभाव से अत्यन्त आश्चर्य में पड़ गये एवं उनकी समस्त–इन्द्रियाँ आनन्दजनित स्तब्धता को प्राप्त हो गईं। वे चुप ही रह गये, एक भी शब्द वे बोल न पाये। निश्चल होकर खड़े रहे। व्रजाधिष्ठात्री किसी देवता के सामने स्थापित निश्चल मूर्ति की तरह श्रीब्रह्मा भी चतुर्मुख स्वर्ण मूर्ति की भाँति अवस्थित रहे आये।।२४।।

और भी कहा गया है, उस समय बालक श्रीकृष्ण के हाथ पर गगनचुम्बी गोवर्द्धन–पर्वत को देखकर व्रजगोष्ठ–निवासीजन समुदाय चित्र–सा लिखा रह गया अर्थात् सबके सब स्तम्भित हो गये।।२५।।

विषादाद्यथा–

९–बकसोदरदानवोदरे पुरतः प्रेक्ष्य विशन्तमच्युतम्।
दिविषन्निकरो विषण्णधीः प्रकटं चित्रपटायते दिवि।।२६।।

अमर्षाद्यथा–

१०–कर्तुमिच्छति मुरद्विषे पुरः पत्रिमोक्षमकृपे कृपीसुते।
सत्वरोऽपि रिपुनिष्क्रिये रुषा निष्क्रियः क्षणमभूत्कपिध्वजः।।२७।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*चित्रपटायत इति, चित्रस्थानीयानां दिविषदां निकरः पटस्थानीयतया दृश्यते इत्यर्थः, चित्रततीयत इति वा पाठः।।२६।।*

● *अनुवाद–विषादजात स्तम्भ* का उदाहरण; सामने खड़े हुए बकासुर के भाई अघासुर के उदर में श्रीकृष्ण को प्रवेश करते देख स्वर्ग में खड़े समस्त देवता विषादयुक्त हो चित्र–लिखित पुतली की तरह स्तम्भित हो गये।।२६।।

क्रोधजनित स्तम्भ–का उदाहरण; कृपाशून्य कृपी (द्रोणाचार्य की पत्नी) के पुत्र अश्वत्थामा को, सामने खड़े श्रीकृष्ण के ऊपर बाण छोड़ने के लिए उद्यत देखकर कपिध्वज श्रीअर्जुन शत्रु को मारने में तीव्रगति रखते हुए भी कुछ देर के लिए चेष्टा शून्य–स्तम्भित हो गया।।२७।।

अथ स्वेदः–

१८–स्वेदो हर्षभयक्रोधादिजः स्वेदकरस्तनौ।।२८।।

तत्र हर्षाद्यथा–

११–किमत्र सूर्यातपमाक्षिपन्ती मुग्धाक्षि ! चातुर्यमुरीकरोषि।
ज्ञातं पुरः प्रेक्ष्य सरोरुहाक्षं स्विन्नाऽसि भिन्ना कुसुमायुधेन।।२६।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*किं ज्ञातं ? तत्राह–कुसुमायुधेन भिन्नासीति, ज्ञाने हेतुः। पुरः सरोरुहाक्षं प्रेक्ष्य स्विन्नेति।।२६।।*

● *अनुवाद*–हर्ष भय तथा क्रोधादि से उत्पन्न होने वाले शरीर के क्लेद (पसीना) को 'स्वेद' सात्त्विक–भाव कहते हैं।।२८।।

हर्षजनित–स्वेद का उदाहरण, (श्रीकृष्ण–दर्शन से श्रीराधाजी स्वेद से आर्द्र हो गईं, किन्तु उनके कारण को गुप्त रखने के लिए सूर्य के ताप का तिरस्कार करने लगीं अर्थात् सूर्य ताप से उन्हें पसीना आ रहा है, ऐसा प्रकट करने लगीं।) यह देख एक सखी बोली, अहो मुग्धाक्षि राधे ! तुम चतुरतापूर्वक सूर्य की धूप का क्यों तिरस्कार कर रही हो ? मैं तो जान गई हूँ, सामने खड़े कमल–लोचन श्रीकृष्ण का दर्शन करकन्दर्प के पुष्प–बाण से पीड़िता होकर तुम पसीना–पसीना हो रही हो।।२६।।

भयाद्यथा–

१२–कुतुकादभिमन्युवेषिणं हरिमाक्रुश्य गिरा प्रगल्भया।
विदिताकृतिराकुलः क्षणादजनि स्विन्नतनुः स रक्तकः।।३०।।

क्रोधाद्यथा–

१३–यज्ञस्य भंगादतिवृष्टिकारिणं समीक्ष्य शक्रं सरुषो गरुत्मतः।
घनोपरिष्टादपि तिष्ठतस्तदा निपेतुरंगाद् घननीरबिन्दवः।।३१।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*अभिमन्युः श्रीराधायाः पतिमन्यः कश्चिद् गोपः (१०।३३।३७) "नासूयन् खलु कृष्णाये" त्युक्तदिशा मायानिर्मिततत्प्रतिकृतेरेव पतिर्ह्यसौ, रक्तकस्तन्नामा श्रीकृष्णस्य सवयस्को दासविशेषः।।३०।। घनोपरिष्टादपि तिष्ठत इत्यस्य सहजार्थे दूरस्थितस्यापि, न तु तल्लीलां प्रविष्टस्येति; अपिस्तु योज्यः, विरोधालंकारे तु योज्य एव।।३१।।*

● *अनुवाद–भयजनित–स्वेद* का उदाहरण; एक दिन श्रीकृष्ण ने कौतुकवश अभिमन्यु का वेशधारण किया। उसको देखकर श्रीकृष्ण के दास रक्तक ने कठोर वचनों से उसका तिरस्कार कर दिया। बाद में जानने पर कि वे तो

श्रीकृष्ण थे, (अभिमन्यु नहीं था) तब वह व्याकुल चित्त हो उठा और कुछ देर तक पसीना में भीग गया।।३०।।

क्रोधजनित–स्वेद का उदाहरण; यज्ञ (इन्द्र–पूजा) के भंग हो जाने से व्रज पर अतिशय वृष्टि करने वाले इन्द्र को देखकर मेघों के भी ऊपर स्थित गरुड़जी क्रोधित हो उठे और उनके शरीर से पसीने की बूँदें टपकने लगीं।।३१।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–श्लोक (३०) में वर्णित अभिमन्यु एक गोप का नाम है, जो योगमाया प्रभाव से अपने को श्रीराधाका पति मानता है और योगमाया निर्मित एक राधा–मूर्ति भी उसके पास अवस्थान करती है, जिसका संकेत श्रीमद्भागवत (१०।३३।३७) में स्पष्ट मिलता है। उसी योगमाया–निर्मित राधा का पति है यह अभिमन्यु। श्रीकृष्ण को इस अभिमन्यु वेश में देखकर श्रीकृष्ण के दास रक्तक को क्रोध आ गया, जिससे उसने उसका तिरस्कार किया, बाद में वह जान गया कि वे तो मेरे प्रभु श्रीकृष्ण ही थे। अतः भयभीत होने से वह पसीने से में तर हो गया।

अथ रोमाञ्च–

१६–रोमाञ्चोऽयं किलाश्चर्यहर्षोत्साहभयादिजः।
रोम्णामभ्युद्गमस्तत्र गात्रसंस्पर्शनादयः।।३२।।

● *अनुवाद*–श्रीकृष्ण सम्बन्धी लीला–चेष्टा में आश्चर्य देखने पर हर्ष, उत्साह तथा भयादि से *'रोमाञ्च'* सात्त्विक–भाव उदित होता है। रोमाञ्च में शरीर के रोम खड़े हो जाते हैं और अंगों में किसी वस्तु के स्पर्श का सा अनुभव होने लगता है।।३२।।

तत्राश्चर्याद्यथा–

१४–डिम्भस्य जृम्भां भजतस्त्रिलोकीं विलोक्य वैलक्ष्यवती मुखान्तः।
बभूव गोष्ठेन्द्रकुटुम्बिनीयं तनूरुहैः कुड्मलितांगयष्टिः।।३३।।

हर्षाद्यथा श्रीदशमे (१०।३०।१०)–

१५–किं ते कृतं क्षिति ! तपो बत केशवाङ्घ्रि–
स्पर्शोत्सवोत्पुलकितांगरुहैर्विभासि।
अप्यङ्घ्रिसम्भव उरुक्रमविक्रमाद्वा
आहो वराहवपुषः परिरम्भणेन।।३४।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*वैलक्षयं विस्मयः। "विलक्षो विस्मयान्वित" इत्यमरः।।३३।। किं ते कृतमिति। केशवोऽत्र श्रीकृष्णः, अपीति किमर्थः, उरुक्रमस्य त्रिविक्रमस्य विक्रमाच्चरणविन्यासाद्योऽङ्घ्रिसंभवः स्पर्शोत्सवः सोऽपि किमीदृशः; अहो किंवा वराहवपुषः परिरम्भणेन यः स्पर्शोत्सवः सोऽपि किमीदृशः ? नहि नहीत्यर्थः।।३४।।*

● *अनुवाद–'आश्चर्यजनित–रोमांच'* का उदाहरण; बालक श्रीकृष्ण के जम्भाई लेते समय उसके मुख में तीन लोकों का दर्शन कर नन्दपत्नि श्रीयशोदा विस्मित हो उठीं और उनके शरीर में रोमाञ्च हो उठा।।३३।।

हर्षजनित–रोमांच का उदाहरण श्रीमद्भागवत (१० ।३० ।१०) में ; रासस्थलि से श्रीकृष्ण के अन्तर्हित हो जाने पर गोपीगण वन–वन में उनको ढूँढ़ रही थीं। पृथ्वी में स्निग्ध दुर्वांकुर देखकर उन्हें पृथ्वी के शरीर पर रोमाञ्च मानकर उससे पूछा, हे पृथ्वी ! तुमने कौन–सी अनिर्वचनीय तपस्या की है कि जिसके फल–स्वरूप श्रीकृष्ण के चरण–स्पर्श से तुम अतिशय हर्ष को प्राप्त हो रही हो ?–रोमावली द्वारा उत्पुलकित होकर तुम अपूर्व शोभा धारण कर रही हो। तुम्हारा यह हर्षोत्सव क्या अभी के श्रीकृष्णचरण–स्पर्श से उत्पन्न हुआ है यापहले के चरण–स्पर्श से ? भगवान् वामन ने अपना ऐश्वर्य विस्तार करते हुए जब पाद–विक्षेप किया था, उस समय से है या वराह भगवान् के दृढ़ आलिंगन से तुम्हारा यह हर्षोत्सव है ?।।३४।।

उत्साहाद्यथा–

१६–शृंगं केलिरणारम्भे रणयत्यघमर्दने।
श्रीदाम्नो योद्धुकामस्य रेजे रोमाञ्चितं वपुः।।३५।।

भयाद्यथा–

१७–विश्वरूपधरमद्भुताकृतिं प्रेक्ष्य तत्र पुरुषोत्तमं पुरः।
अर्जुनः सपदि शुष्यदाननः शिश्रिये विकटकण्टकां तनुम्।।३६।।

● *अनुवाद–उत्साह–जनित रोमांच* का उदाहरण; (सखाओं के साथ) क्रीड़ायुद्ध के आरम्भ काल में अघमर्दन श्रीकृष्ण की शृंगध्वनि को सुनकर युद्ध आकांक्षी श्रीदाम का शरीर रोमाञ्चित होकर शोभा पाने लगा।।३५।।

भय–जनित रोमांच का उदाहरण–अपने आगे विश्वरूपधारी अद्भुत मूर्ति पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के दर्शन कर श्रीअर्जुन का मुख सूख गया और उसके शरीर में भारी रोमांच हो उठा।।३६।।

अथ स्वरभेदः–

२०–विषादविस्मयामर्षहर्षभीत्यादिसम्भवम्।
वैस्वर्य्यं स्वरभेदः स्यादेष गद्गदिकादिकृत्।।३७।।

तत्र विषादाद्यथा–

१८–व्रजराज्ञि ! रथात्पुरो हरिं स्वयमित्यर्द्धविशीर्णजल्पया।
ह्रियमेणदृशा गुरावपि श्लथयन्त्या किल रोदिता सखी।।३८।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*वैस्वर्य्यमिति। स्वरभेदस्य पर्यायन्तरम्, एवमन्यत्रापि ।।३७।। स्वयमित्येतस्य निवर्त्तयेति वाक्यशेषः।।३८।।*

● *अनुवाद*–(श्रीकृष्ण सम्बन्धी किसी भी चेष्टा में) विषाद, विस्मय, क्रोध, आनन्द तथा भय उत्पन्न होने पर *'स्वरभेद'* सात्त्विकभाव प्रकाशित होता है। स्वरभेद में गद्गदवाणी हो जाती है।।३७।।

विषाद–जनित स्वरभेद का उदाहरण; (मथुरा जाते समय जब श्रीकृष्ण अक्रूर के रथ पर चढ़ बैठे, उस समय श्रीयशोदादि गुरुजनों के सामने लज्जा को छोड़कर) "हे व्रजरानी ! श्रीहरि को तुम स्वयं रथ से"–इतना आधा वाक्य

ही श्रीराधाजी बोल पायीं,–स्वरभेद हो गया, जिससे उनकी प्रिय सखी ललितादि रोने लगीं।।३८।।

विस्मयाद्यथा श्रीदशमे (१०।१३।६४)–

१९–शनैरथोत्थाय विमृज्य लोचने मुकुन्दमुद्वीक्ष्य विनम्रकन्धरः।
कृताञ्जलिः प्रश्रयवान् समाहितः सवेपथुर्गद्गदयैलतेलया।।३९।।

अमर्षाद्यथा तत्रैव (भा० १०।२९।३०)–

२०–प्रेष्ठं प्रियेतरमिव प्रतिभाषमाणं
कृष्णं तदर्थविनिवर्तितसर्वकामाः।
नेत्रे विमृज्य रुदितोपहते स्म–
किञ्चित्संरम्भगद्गदगिरोऽब्रुवतानुरक्ताः।।४०।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*इलया वाण्या, ऐलत स्तुतवानित्यर्थः।।३९।।*

● *अनुवाद–विस्मयजनित स्वरभेद* का उदाहरण श्रीमद्भागवत (१०।१३।६४) (ब्रह्म मोहन लीला में); ब्रह्माजी श्रीकृष्ण को प्रणाम करने के बाद धीरे–धीरे उठे, अपनी आंखों को पोंछा और सिर झुकाकर श्रीकृष्ण के प्रति देखा। विनीत भाव से हाथ जोड़कर एकाग्रचित्त से काँपते–काँपते गद्गद रुकती हुई वाणी से श्रीकृष्ण की स्तुति करने लगे। (यहाँ ब्रह्माजी का स्वरभेद श्रीकृष्ण की अद्भुत माधुरी के दर्शन से विस्मय के कारण हुआ है।।३९।।

क्रोधजनित–स्वरभेद का उदाहरण श्रीमद्भागवत (१०।२९।३०) में; रासरजनी में श्रीकृष्ण की वंशी ध्वनि सुनकर आर्य–स्वजनों को त्याग कर व्रजगोपीगण श्रीकृष्ण के निकट पहुँची। श्रीकृष्ण उन्हें घरों को वापस लौट जाने को कहने लगे–उस समय की अवस्था का वर्णन करते हुए श्रीशुकदेवजी ने कहा–महाराज परीक्षित् ! गोपीगण श्रीकृष्ण के प्रति अति अनुरक्त थीं, श्रीकृष्ण के लिए उन्होंने अन्य समस्त कामनाओं का त्यागकर दिया था, वे श्रीकृष्ण की अति प्रिय थीं, किन्तु श्रीकृष्ण के मुख से अप्रिय वचन सुनकर रोते–रोते उनके नेत्र अन्धप्राय हो गये। वे नेत्रों को पोंछकर तनिक क्रोध में भर गद्गद् वचन (स्वरभंग वाणी) कहने लगीं।।४०।।

हर्षाद्यथा तत्रैव (भा०१०।३९।५६–५७)–

२१–विलोक्य सुभृशं प्रीतो भक्तया परमया युतः।
हृष्यत्तनूरुहो भावपरिक्लिन्नात्मलोचनः।
गिरा गद्गदयाऽस्तौषीत् सत्त्वमालम्ब्य सात्त्वतः।
प्रणम्य मूर्द्धावहितः कृताञ्जलिपुटः शनैः।।४१।।

भीतेर्यथा–

२२–त्वय्यर्पितं वितर वेणुमिति प्रमादी
श्रुत्वा मदीरितमुदीर्णविवर्णभावः।
तूर्णं बभूव गुरुगद्गदरुद्धकण्ठः
पत्री मुकुन्द ! तदनेन स हारितोऽस्ति।।४२।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*सात्त्वतोऽत्राक्रूरः।।४१।। उदीर्णेति। निष्ठायां क्रैयादिक ऋगतावित्यस्य दीर्घस्य रूपं, पत्री पूर्ववत्तन्नामा श्रीकृष्णसेवकविशेषः, हारितः स्वानवधानेन नाशितोऽस्तीत्यर्थः।।४२।।*

● *अनुवाद—हर्षजनित—स्वरभेद* का उदाहरण श्रीभागवत (१०।३६।५६—५७) में; (श्रीकृष्ण—बलराम को मथुरा ले जाते समय अक्रूर जी जब रास्ते में उन्हें रथ पर बैठा छोड़ यमुना स्नान करने लगे, तब उन्होंने यमुना में भी श्रीकृष्ण—बलराम के दर्शन किये तथा उनका अनेकविध ऐश्वर्य भी देखा) उस समय श्रीअक्रूर का शरीर पुलकित हो उठा, भावपूर्वक उनका शरीर पसीने से और नेत्र आंसुओं से तर हो गये। ये श्रीकृष्ण ही परमेश्वर हैं—यह जानकर परम प्रतिपूर्वक मस्तक झुकाकर वे प्रणाम करने लगे और सत्त्वगुण अवलम्बन कर हाथ जोड़कर धीरे—धीरे गद्‌गद वाणी से उनकी स्तुति करने लगे।।४१।।

भयजनित—स्वरभेद का उदाहरण—(एक सखा ने श्रीकृष्ण से कहा, हे सखे !) 'मैंने तुम्हारे पत्री नामक दास को कहा कि अरे ! मैंने जो वेणु तुमको दी थी, उसे मुझे लौटा दो।' मेरी यह बात सुनकर उस प्रमादी का रंग उड़ गया और उसी समय उसका कण्ठ रुक गया और वह गद्‌गद वचन बोलने लगा। अतएव हे मुकुन्द ! उस पत्री की लापरवाही से तुम्हारी वेणु गुम हो गई है।।४२।।

अथ वेपथुः—

२१—वित्रासामर्षहर्षाद्यैर्वेपथुर्गात्रलौल्यकृत।।४३।।

तत्र वित्रासेन, यथा—

२३—शंखचूड़मधिरुढविक्रमं प्रेक्ष्य विस्तृतभुजं जिघृक्षया।
हा व्रजेन्द्रतनयेति वादिनी कम्पसम्पदमधत्त राधिका।।४४।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*शंखचूड़मित्यत्र पद्ये विस्तृतभुजमित्येव पाठः।।४४।।*

● *अनुवाद*—वित्रास (विशेष भय), अमर्ष (क्रोध) तथा हर्षादि से शरीर में जो चञ्चलता उत्पन्न होती है उसे *'वेपथु'* या *'कम्प'* कहते हैं।।४३।।

वित्रास—जनित कम्प का उदाहरण; (श्रीराधा आदि सखियों के सहित श्रीकृष्ण खेल रहे थे, कि वहाँ शंखचूड़ आया और हाथ फैलाकर श्रीराधाजी को उठा ले जाने लगा) तब महान् पराक्रमशाली एवं उठा ले जाने के लिए हाथ फैलाये हुए शंखचूड़ को देखकर 'हा व्रजेन्द्रनन्दन !' इतना मात्र कहकर श्रीराधाजी अत्यधिकरूप से काँपने लगीं।।३४।।

अमर्षेण यथा—

२४—कृष्णाधिक्षेपजातेन व्याकुला नकुलानुजः।
चकम्पे द्रागमर्षेण भूकम्पे गिरिराडिव।।४५।।

हर्षेण, यथा—

२५—विहससि कथं हताशे ! पश्य भयेनाद्य कम्पमानाऽस्मि।
चञ्चलसुपसीदन्तं निवारय ब्रजपतेस्तनयम्।।४६।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*कृष्णेत्यत्र पद्ये भूकम्पेनेव भूधर इति वा पाठः।।४५।।*

● *अनुवाद—अमर्ष—जात कम्प* का उदाहरण; शिशुपाल द्वारा श्रीकृष्ण की निन्दा को सुनकर नकुल का अनुज सहदेव व्याकुलचित्त होकर क्रोध से अधीर हो उठा और भूमिकम्प में जैसे पर्वत कम्पायमान होता है, उसी प्रकार वह कांपने लगा।।४५।।

हर्ष—जात कम्प का उदाहरण इस प्रकार है, (श्रीकृष्ण दर्शन के आनन्द से एक गोपी कांपने लगी। उसे देखकर उसको एक सखी उसका परिहास करने लगी। तब वह गोपी अपनी सखी से कहती है)—हे हताशे ! परिहास क्यों कर रही है? देख, आज मैं भय से कांप रही हूँ। (अपने भाव का गोपन करते हुए आनन्द की बजाय भय कह रही है)। तुम निकटस्थ इस चंचल व्रजेन्द्रनन्दन को निवारण करो ना।।४६।।

अथ वैवर्ण्यम्—

२२—विषादरोषभीत्यादेर्वैवर्ण्यं वर्णविक्रिया।
भावज्ञैरत्र मालिन्यकार्श्याद्याः परिकीर्त्तिताः।।४७।।

तत्र विषादाद्यथा—

२६—श्वेतीकृताखिलजनं विरहेण तवाधुना।
गोकुलं कृष्ण ! देवर्षेः श्वेतद्वीपभ्रमं दधे।।४८।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*श्वेतीकृतेति। मोक्षधर्मस्य नारायणीये श्वेतद्वीपस्य जनवर्णने। "श्वेताः पुमांसो गतसर्वदुःखाश्चक्षुर्मुषः पापकृतां नराणामिति"। यदि च "श्वेतद्वीपपतौ चित्तं शुद्धे धर्ममये मयि। धारयन् श्वेततां याती" रित्येकादशस्य पद्यस्य(११।१५।१८) टीकायां श्वेततां शुद्धरूपतामित्यनुसारेण श्वेतशब्दस्य शुद्धसत्त्वमेव व्याख्येयं; तदा तु श्लेषकाव्यमेवेदं ज्ञेयम्।।४८।।*

● *अनुवाद*—विषाद, क्रोध तथा भयादि से वर्ण—विकार का नाम *'वैवर्ण्य'* है। भावज्ञजन कहते हैं कि इस वैवर्ण्य से मलिनता और कृशतादि उत्पन्न होती है।।४७।।

विषाद—जात वैवर्ण्य का उदाहरण,—हे कृष्ण ! आपके विरह में समस्त गोकुलवासी सफेद पड़ गये हैं—उनका रंग उड़ गया है, इसलिए देवर्षि नारद को गोकुल में श्वेतद्वीप का भ्रम होने लगा है। (श्वेतद्वीप में सब कुछ श्वेतवर्ण का होता है) ।।४८।।

रोषाद्यथा—

२७—कंसशत्रुमभियुञ्जतः पुरो वीक्ष्य कंससहजानुदायुधान्।
श्रीबलस्य सखि ! तस्य रुष्यतः प्रोद्यदिन्दुनिभमानन बभौ।।४९।।

भीतेर्यथा—

२८—रक्षिते व्रजकुले बकारिणा पर्वतं वरमुदस्य लीलया।
कालिमा बलरिपोर्मुखे भवन्नूचिवान्मनसि भीतिमुत्थिताम्।।५०।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*अभियुञ्जतः युद्धार्थमाभिमुख्येन मिलतः, कंससहजान्*

कंक–न्यग्रोधादीन्, तस्येत्यत्र पश्येति पाठस्त्यक्तः।।४६।। कालिमा कर्ता बलरिपोरिन्द्रस्य मुखे भवन्नुद्भवन्मनस्युत्थितां भीति–मूचिवान् सूचितवान्।।५०।।

● *अनुवाद–क्रोध–जात वैवर्ण्य* का उदाहरण–(कंस के मर जाने के बाद उसके भाई कंक–न्यग्रोधादि श्रीकृष्ण के साथ युद्ध करने के लिए आते देख पुरनारी परस्पर कहने लगीं)–

हे सखि ! देख ! देख श्रीकृष्ण के साथ युद्ध करने के लिए अस्त्रधारी कंस के भाइयों को आते आता देख क्रोध से श्रीबलदेव का मुख उदीयमान चन्द्र की तरह लाल वर्ण होकर शोभित हो रहा है। (यहां क्रोध से श्रीबलरामजी के वैवर्ण्य का वर्णन किया है।)।।४६।।

भय–जात वैवर्ण्य का उदाहरण; पर्वतराज गोवर्धन को अनायास उठाकर श्रीकृष्ण द्वारा व्रजमण्डल की रक्षा कर लिए जाने पर बलरिपु अर्थात् इन्द्र के मुख पर उदित हुई कालिमा ने उसके मन में उत्पन्न हुए भय को सूचित कर दिया। (यहाँ भयवश इन्द्र के मुख का वैवर्ण्य दिखाया गया है) ।।५०।।

२३–विषादे श्वेतिमा प्रोक्तो धौसर्य्यं कालिमा क्वचित्।
रोषे तु रक्तिमा भीत्यां कालिमा क्वापि शुक्लिमा।।५१।।
२४–रक्तिमा लक्ष्यते व्यक्तो हर्षोद्रेकेऽपि कुत्रचित्।
अत्रासार्वत्रिकत्वेन नैवास्योदाहृतिः कृता।।५२।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*अस्य रक्तिम्नः।।५२।।*

● *अनुवाद*–विषाद–जात वैवर्ण्य में श्वेतिमा (सफेदी), धूसरता (मिट्यालापन), कभी–कभी कालिमा प्रकाशित होती है। रोष–जात वैवर्ण्य में रक्तिमा (लाली) और भय–जनित वैवर्ण्य में कभी कालिमा और कभी सफेदी प्रकाशित होती है।।५१।।

अतिशय हर्ष में कहीं–कहीं स्पष्टरूप से रक्तिमा देखी जाती है, किन्तु यह सर्वत्र नहीं होती, इसलिए इस (हर्ष–जात वैवर्ण्य) का उदाहरण नहीं कहा गया है।।५२।।

अथाश्रु–

२५–हर्षरोषविषादाद्यैरश्रु नेत्रे जलोद्गमः।
हर्षजेऽश्रुणि शीतत्वमौष्ण्यं रोषादिसम्भवे।।
सर्वत्र नयनक्षोभरागसंमार्जनादयः।।५३।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*नेत्रे जलोद्गमः इत्यत्र; यत्रेति शेषः । सात्त्विका–नामन्त–र्बहिर्विकाररूपत्वाद, एवमन्यत्रापि ज्ञेयं, नासिकास्रवोऽप्स्यैवांगविशेषो ज्ञेयः।।५३।।*

● *अनुवाद*–हर्ष, क्रोध एवं विषादादि के कारण बिना प्रयत्न किये नेत्रों में जो जल भर आना है, उसे 'अश्रु' कहते हैं। हर्षजनित अश्रुओं में शीतलता और क्रोध–जनित अश्रुओं में उष्णता रहती है। हर प्रकार के अश्रु–सात्त्विक

भाव में नेत्रों में चंचलता, लाली और बार–बार उनका पौंछना होता है। नासिका से स्राव का होना भी अश्रु का अंग विशेष है।।५३।।

तत्र हर्षेण यथा–

२६–गोविन्दप्रेक्षणाक्षेपिवाष्पपूराभिवर्षिणम्।
उच्चरनिन्ददानंदमरविन्दलोचना।।५४।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*आनन्दस्य वाष्पपूराभिवर्षित्वमेव निन्द्यत्वेन विवक्षितं, न तु स्वरूपं; "सविशेषणे विधिनिषेधौ विशेषणमुपसंक्रामत" इति न्यायात्।।५४।।*

● *अनुवाद–हर्ष–जात अश्रु* का उदाहरण; कमलनयनी रुक्मिणी श्रीगोविन्द के दर्शनों में विघ्न करने वाले अश्रु–वर्षणकारी आनन्द की अतिशय रूप से निन्दा करने लगीं।।५४।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–इस उदाहरण में आनन्द की निन्दा नहीं की गई है, क्योंकि आनन्द स्वरूपतः अनिन्दनीय है। आनन्द के द्वारा नेत्रों का अश्रुपूर्ण होने से बार–बार पोंछना ही निन्दनीय है। दर्शनानन्द से इतने अश्रु बहने लगे कि रुक्मिणीजी को कृष्ण–दर्शन में विघ्न पड़ने लगा। अतः कृष्ण–दर्शन के विघ्नजनक अत्यधिक आनन्दाश्रुओं की ही यहाँ निन्दा की गई है। दुर्गमसंगमनी में एक न्यायवचन का उल्लेख किया गया है, किन्तु यह पूरा वचन नहीं है। श्रीमद्भागवत (११।३०।१) श्लोक की टीका में श्रीपाद विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इस प्रकार पूरे वचन का उल्लेख किया है–

"सविशेषणे हि विधिनिषेधौ विशेषणमुपसंक्रामतः सति विशेष्यबाधे" अर्थात् विशेषणयुक्त विशेष्य के साथ विधि और निषेध का योग रहने पर यदि विशेष्य के साथ उस विधि व निषेध का संबंध बाधित हो तो विशेषण के ऊपर ही उस विधि व निषेध का प्रभुत्व संक्रामित होता है। इस श्लोक में विशेष्य है 'आनन्दम्', उसके साथ –अन्दित्' क्रिया पदरूप विधि का संबंध बाधित होता है, क्योंकि आनन्द स्वरूपतः निन्दनीय नहीं है। इसलिए आनन्द का विशेषण 'वाष्पपूराभिमर्षिणम्' पद के साथ ही अनिन्दत्–पद का संबंध स्वीकार करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि यहां अश्रु कृष्ण–दर्शन में बाधा डाल रहे हैं, अतः निन्दनीय हैं, आनन्द नहीं।।५४।।

रोषेण यथा हरिवंशे–

३०–तस्याः सुस्राव नेत्राभ्यां वारि प्रणयकोपजम्।
कुशेशयपलाशाभ्यामवश्यायजलं यथा।।५५।।

यथा वा–

३१–भीमस्य चेदीशवधं विधित्सो रेजेऽस्रुविस्रावि रुषोपरक्तम्।
उद्यन्मुखं वाधिकणावकीर्णं सान्ध्यत्विषा ग्रस्तमिवेन्दुबिम्बम्।।५६।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*तस्याः श्रीसत्यभामायाः, तत्र शोभांश एव दृष्टान्तो न तु शैत्यांशे।।५५।। भीमस्य मुखं रेजे, उद्यदिन्दुबिम्बमिवेति बिम्बपदेन पूर्णत्वं बोध्यते, पाठान्तराणि नेष्टानि।।५६।।*

● *अनुवाद–रोष–जनित अश्रु* का उदाहरण हरिवंश में इस प्रकार है–सत्यभामा के कमलनेत्रों से प्रणय कोप के कारण अश्रुधारा नीहार की बूंदों की तरह प्रवाहित होने लगीं।।५५।।

और भी कहा गया है, शिशुपाल का वध करने के लिए जब भीमसेन तैयार हुए तो उनका मुख क्रोध के कारण लाल और नेत्र आंसुओं से भर उठे। लगता था, उदय कालीन चन्द्र सन्ध्या कालीन लालिमा से और जल कणों से जैसे शोभित हो रहा है।।५६।।

विषादेन यथा श्रीदशमे (१०।६०।२३)–

३२–पदा सुजातेन नखारुणश्रिया
भुवं लिखन्त्यश्रुभरञ्जनासितैः।
आसिञ्चती कुंङ्कुमरूषितौ स्तनौ
तस्थावधोमुख्यतिदुःखरुद्धवाक्।।५७।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*पदा सुजातेनेत्यत्र रुक्मिणीति शेषः।।५७।।*

● *अनुवाद*–श्रीमद्भागवत (१०।६०।२६) में *विषाद–जात अश्रु* का उदाहरणों; (एक बार श्रीकृष्ण ने परिहास करते हुए श्रीरुक्मिणी जी से इस प्रकार के अप्रिय वचन कह दिये कि रुक्मिणि! तुमने शिशुपालादि वीर्यशाली राजाओं को छोड़कर मुझे वरणकर बड़ी भूल की। अब भी तुम कहीं जा सकती हो, मैं तो निष्काम व्यक्ति हूँ। यह सुनकर श्रीरुक्मिणी जी की जो अवस्था हुई, उसका इस श्लोक में वर्णन किया गया है)–श्रीकृष्ण के वचन सुनकर रुक्मिणी सुशोभित सुकोमल चरणों के लाल–नखों से पृथिवी को खोदने लगीं। नेत्रों के अञ्जनयुक्त काले अश्रुओं से उनके कुंकुमाक्त उरोजद्वय अभिषिक्त हो गये एवं वह कण्ठ–अवरुद्ध होकर नीचे की तरफ देखने लगीं।।५७।।

अथ प्रलयः–

२६–प्रलयः सुखदुःखाभ्यां चेष्टाज्ञाननिराकृतिः।
तत्रानुभावाः कथिता महीनिपतनादयः।।५८।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*ज्ञाननिराकृतिरत्रालम्बनैकलीनमनस्त्वम् ।।५८।।*

● *अनुवाद*–सुख और दुःख के कारण चेष्टारहित हो जाना तथा ज्ञान (सुध–बुध) रहित हो जाना *'प्रलय'* या *मूर्च्छा* कहलाती है।।५८।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–यहाँ चेष्टा तथा ज्ञान के अभाव हो जाने का कारण है आलम्बन–विभाव अर्थात् प्रेमास्पद श्रीकृष्ण में मन का लय–प्राप्त हो जाना। श्रीकृष्ण में मन के सम्यक् लीन हो जाने के कारण मनोवृत्ति क्रियाहीन हो जाती है और इसलिए किसी प्रकार की सुध–बुध भी नहीं रहती है।

स्तम्भ–भाव में भी यह लक्षण मिलता–जुलता है, परन्तु पार्थक्य इतना है कि स्तम्भ में ज्ञानेन्द्रियों का व्यापार स्तम्भित या लुप्त हो जाता है, परन्तु मन का नहीं। किन्तु मूर्च्छा में मन का व्यापार भी लुप्त हो जाता है। एकमात्र श्रीकृष्ण में मन में लीन हो जाता है।।५८।।

तत्र सुखेन यथा–

३३–मिलितं हरिमालोक्य लतापुञ्जादतर्कितम्।
ज्ञप्तिशून्यमना रेजे निश्चलांगी व्रजांगना।।५६।।

दुःखेन यथा श्रीदशमे (१०।३६।१५)–

३४–अन्याश्च तदनुध्याननिवृत्ताशेषवृत्तयः।
नाभ्यजानन्निमं लोकमात्मलोकं गता इव।।६०।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*अन्याः श्रीहरेर्मथुराप्रस्थाने शोचन्त्यः श्रीगोप्यः "तदनुध्याने'ति "नाभ्यजानन्नि"ति द्वयेन नाना भावना निषिद्धाः, आत्मलोकमात्मस्वरूपं स्वस्मिन् समाधिमित्यर्थः।।६०।।*

● *अनुवाद–सुख–जात प्रलय'* का उदाहरण इस प्रकार है; लता पुंज से अचानक बाहर आकर श्रीकृष्ण एक व्रजांगना के साथ मिलने के लिए उसकी ओर आ रहे हैं, यह देखकर वह ज्ञानशून्य (सुध–बुध रहित) तथा निश्चलांगी (चेष्टा रहित) होकर रह गई ।।५६।।

श्रीमद्भागवत (१०।३६।१५) में *'दुःख–जात प्रलय'* का उदाहरण; (श्रीकृष्ण को मथुरा ले जाने के लिए अक्रूर आये हैं, यह जानकर गोपियों में श्वास, वैवर्ण्यादि अनेक सात्त्विकभाव उत्पन्न हो उठे) और अन्यान्य किन्हीं गोपियों में नेत्रादि इन्द्रियों की समस्त वृत्तियाँ लुप्त हो गईं, अतः इस जगत् की किसी वस्तु की, यहाँ तक कि अपने शरीरादिक की भी उन्हें सुध–बुध न रही, उनकी अवस्था मानो जीवन–मुक्त व्यक्ति की समाधि अवस्था जैसी हो गई।।६०।।

*२७–सर्वे हि सत्त्वमूलत्वाद्भावा यद्यपि सात्त्विकाः।
तथाऽप्यमीषां सत्त्वकमूलत्वात्सात्त्विकप्रथा।।६१।।
२८–सत्त्वस्य तारतम्यात्प्राणतनुक्षोभतारतम्यं स्यात्।
तत एव तारतम्यं सर्वेषां सात्त्विकानां स्यात्।।६२।।*

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*सर्वे हीति। भावा अत्रानुभावाः सत्त्वैकमूलत्वादिति (२।३।२) सत्त्वादस्मात्" इत्यत्र व्याख्यातमस्ति, अमीषां स्तम्भादीनां सात्त्विकनाम्ना प्रथा सात्त्विकप्रथा।।६१।।*

● *अनुवाद*–यद्यपि सब ही अर्थात् नृत्य–विलुण्ठनादि उद्भास्वर भाव तथा स्तम्भादि भाव सत्त्व से उत्पन्न होने के कारण सात्त्विक भाव ही हैं, फिर भी स्तम्भादि उपर्युक्त आठ भाव एकमात्र सत्त्व से उत्पन्न होने के कारण अर्थात् इनमें बुद्धि का योग न रहने के कारण ये ही सात्त्विक–भाव कहलाते हैं।।६१।।

सत्त्व के तारतम्य के कारण प्राणों के और शरीर के क्षोभ में भी तारतम्य होता है। इसलिए समस्त सात्त्विक भावों में तारतम्य होता है।।६।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–स्वेद–स्तम्भादि ही सात्त्विक –भाव हैं, किन्तु हर प्रकार के स्वेद स्तम्भादि–भाव नहीं माने जाते; लौकिक जगत् में व्यवहारिक विषय संबंधी अतिशय दुःख, सुख, क्रोध, भयादि से भी लोगों में अश्रु, कम्प, पुलक मूर्च्छा आदि होने लगते हैं वे सात्त्विक भाव नहीं कहलाते। एकमात्र सत्त्व से

अर्थात् श्रीकृष्ण–सम्बन्धी भावों से चित्त के आक्रान्त होने पर उदय होने वाले स्वेद स्तम्भादि ही सात्त्विक–भाव कहलाते हैं। नृत्य–लुष्ठनादि भाव भी सत्त्व से ही उदित होते हैं, परन्तु बुद्धि प्रवृत्तिक–चेष्टा होने के कारण उन्हें भी सात्त्विक न कहकर उद्भास्वर कहा गया है। अवश्य नृत्यादि श्रवणकीर्त्तनादि–भजन के आधार पर उदित होते हैं, किन्तु स्तम्भादि का आधार केवल वह नहीं रहता।

सत्त्व के तारतम्य से कृष्ण–सम्बन्धी भावों के द्वारा आक्रान्त चित्त का तारतम्य अभिप्रेत है; अर्थात् भावों के आक्रमण की तीव्रता के कम–वेशी होने को ही सत्त्व का तारतम्य कहा गया है। उस आक्रमण की तीव्रता के अनुसार प्राणों तथा शरीर के क्षोभ में भी तारतम्य या तीव्रता अथवा मृदुता रहती है। अतः कृष्ण–सम्बन्धी भावों द्वारा चित्त के आक्रमण की तीव्रता जितनी ही अधिक या वर्द्धित होती है, सात्त्विक भावों की अभिव्यक्ति की भी उज्ज्वलता उतनी ही अधिक हुआ करती है। तदनुसार प्रत्येक सात्त्विक–भावों के चार स्तर या वैचित्रता आगे वर्णन करते हैं।।६२।।

२९–धूमायितास्ते ज्वलिता दीप्ता उद्दीप्तसंज्ञिताः।
वृद्धिं यथोत्तरं यान्तः सात्त्विकाः स्युश्चतुर्विधाः।।६३।।
३०–सा भूरिकालव्यापित्वं बह्वंगव्यापिताऽपि च।
स्वरूपेण तथोत्कर्ष इति वृद्धिस्त्रिधा भवेत्।।६४।।

● *अनुवाद*–अधिकाधिक बढ़ते हुए सात्त्विक–भाव चार प्रकार के हैं–१. धूमायित, २. ज्वलित, ३. दीप्त तथा ४. उद्दीप्त।।६३।। (लकड़ी के साथ अग्नि के संयोग होने पर धुँआ की अवस्था से लेकर लकड़ी के लाल–अग्निरूप में उज्ज्वलता की जिस क्रम से वृद्धि होती है, सात्त्विक –भावों के विकाश की उज्ज्वलता की वृद्धि भी उसी प्रकार होती है)।

वह वृद्धि १. अधिक काल तक टिकने के कारण, २. अधिक अंगों में व्याप्त होने के कारण तथा ३. स्वरूप में अधिक होने के कारण–इस प्रकार तीन तरह की होती है।।६४।।

३१–तत्र नेत्राम्बुवैस्वर्यवर्जानामेव युज्यते।
बह्वंगव्यापिताऽमीषां तयोः काऽपि विशिष्टता।।६५।।
३२–तत्राश्रूणां दृगौच्छून्यकारित्वमवदातता।
तथा ताराऽतिवैचित्रीवैलक्षण्यविधायिता।
वैस्वर्य्यस्य तु भिन्नत्वे कौण्ठ्यव्याकुलतादयः।।६६।।
३३–भिन्नत्वं स्थानविभ्रंशः कौण्ठ्यं स्यात्सन्नकण्ठता।
व्याकुलत्वं तु नानोच्चनीचगुप्तविलुप्तता।।६७।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*तत्रैत्यत्रामीषां स्तम्भादीनां, तयोः नेत्राम्बु–वैस्वर्य्ययोः।।६५।। अतिवैचित्र्या अपि वैलक्षण्यमतिशयः।।६६।। स्थानविभ्रंश इति यतो घर्घरादिशब्दाः स्युरिति भावः। सन्नकण्ठ–तेति। यतः शब्दो नोदयत इत भावः, नानोच्चेति प्रतिलवं तत्तन्नानाप्रकारतेतिभावः।।६७।।*

● *अनुवाद*—नेत्राश्रु तथा स्वरभेद को छोड़कर और समस्त सात्त्विक भावों की सब अंगों में व्यापित होती है। अश्रु तथा स्वर भंग, इन दोनों की कोई एक विशिष्टता है।।६५।।

अश्रुओं से नेत्र स्फीत (सूज) जाते हैं, सफेद रंग के हो जाते हैं तथा नेत्रों के तारा भी एक विचित्रता धारण करते हैं—(अश्रुओं की इस प्रकार अवदातता तथा विचित्रता—ये दो विशेषतायें हैं) स्वरभेद के भिन्नत्व के कारण 'कौण्ठ्य' तथा ''व्याकुलता'' ये दो विशेषतायें रहती हैं।।६६।।

स्वरभेद के भिन्नत्व से स्थान—विभ्रंश अभिप्रेत है अर्थात् कण्ठ से घर्घरादि शब्द सा होने लगता है। कौण्ठ्य से सन्नकण्ठता अभिप्रेत है अर्थात् कण्ठ से कोई शब्द नहीं निकल पाता है। व्याकुलता से ऊँचा, नीचा, गुप्त व विलुप्त आदि कण्ठस्वर नाना प्रकारता समझनी चाहिए।।६७।।

३४—प्रायो धूमायिता एव रूक्षास्तिष्ठन्ति सात्त्विकाः।
स्निग्धास्तु प्रायशः सर्वे चतुर्द्धैव भवन्त्यमी।।६८।।
३५—महोत्सवादिवृत्तेषु सदगोष्ठीताण्डवादिषु।
ज्वलन्त्यल्पासिनः क्वापि ते रूक्षा अपि कस्यचिद्।।६९।।
३६—सर्वानन्दचमत्कारहेतुर्भावो वरो रतिः।
एते हि तद्विनाभावान्न चमत्कारिताश्रयाः।।७०।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*यस्मात्सर्वानन्दचमत्कारहेतुस्तस्माद्रतिरेव वरो भाव इत्यर्थः, पद्यान्ते स्तेनात्युपादेयताश्रया इत्येव पाठः।।७०।।*

● *अनुवाद*—सब रूक्ष सात्त्विक—भाव प्रायशःधूमायित ही रहते हैं। स्निग्ध सात्त्विकभाव सब प्रायशः धूमायित, ज्वलित, दीप्त एवं उद्दीप्त—इन चार प्रकार के होते हैं।।६८।। महोत्सवादिक में भक्तों के साथ नृत्यादि करते समय किसी—किसी के रूक्ष भाव भी कभी—कभी ज्वलित हो उठते हैं।।६९।।

रति (कृष्ण—प्रीति) ही सर्वानन्द—चमत्कार का कारण है, इसलिए रति ही श्रेष्ठ भाव है। रति—विहीन होने से रूक्ष सात्त्विक—भाव चमत्कारिता का आश्रय नहीं हो सकती।।७०।।

तत्र धूमायिताः—

३७—अद्वितीया अमी भावा अथ वा सद्वितीयकाः।
ईषद्व्यक्ता अपह्नोतुं शक्या धूमायिता मताः।।७१।।

यथा—३५—आकर्णयन्नघहरामघवरिकीर्ति
पक्ष्माग्रमिश्रविरलाश्रुरभूत्पुरोधाः।
यष्टा दरोच्छ्वसितलोमकपोलमीषत्
प्रस्विन्ननासिकमुवाह मुखारविन्दम्।।७२।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*अमी इति। बहुवचनमत्र प्रतिव्यक्ति प्राधान्यस्य विवक्षयाः, तच्चेतरेतरेयोगद्वन्द्वस्यैकशेषात्, तेन ह्यसौ स्तम्भोऽद्वितीयः सद्वितीयो रोमाञ्चोऽद्वितीयः कम्पो वासौ यर्गद्वितीयोऽथवा सद्वितीयोइति गम्यते; अमी*

आनीयन्तामिति वत्, ततश्चामीषु भावेषु यः कश्चिदद्वितीयः सद्वितीयो वा भवत्वित्यर्थः, अपह्नोतुमित्यपकृष्टेन रत्याद्युदासीनेन भावेन निह्नोतुं गोपयितुं शक्या इत्यर्थः, रत्यन्तरंगभावेन तु समुद्भूतवतीनामपि दृश्यते (भा० १.१.१४) "न्यरुन्धन्नुद्गलद्वष्पमौत्कण्ठ्याद्देवकीसुते। निर्यात्यगारान्नोभद्रमिति स्याद्वान्धवस्त्रिय" इत्यत्र।।७१।।

● *अनुवाद*–जो सात्त्विक–भाव स्वयं अथवा किसी द्वितीय सात्त्विक–भाव के साथ मिलकर अति अल्प परिमाण में प्रकाशित हो और जिसको छिपाया जा सके, उसे *'धूमायित'* भाव कहा जाता है।।७१।।

उसका उदाहरण इस प्रकार है–यज्ञकर्त्ता पुरोहित ने पापहारी श्रीकृष्ण की पापनाशिनी कीर्ति को सुना, उससे उसके नेत्र–पलकों में थोड़े–थोड़े आँसू भर आये, कपोल स्थित रोम थोड़े पुलकित हो उठे एवं नासिका पर कुछ पसीना आ गया। इस प्रकार उसका मुख कमल ईषन्दुन्मीलित सात्त्विक–भावों से शोभित होने लगा।।७२।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–जैसे एकमात्र स्तम्भ जब अति अल्प रूप से अभिव्यक्त हो, किंवा स्तम्भ के साथ अश्रु–कम्प आदि में से कोई और भी भाव प्रकाशित हो, तथा उस प्रकाश को भक्त गोपन कर सके तो उसे धूमायित–भाव कहा जाता है।।७१।।

उदाहरण में अश्रु, रोमाञ्च तथा स्वेद–ये तीनों एक साथ पुरोहित में उदित हुए, किन्तु तीनों ही अति अल्प रूप में। अश्रु केवल पलकों में, रोमाञ्च केवल कपोलों पर तथा स्वेद केवल नासिका पर ही प्रकाशित हुआ। अतः इनको धूमायित भाव कहा गया है।।७२।।

अथ ज्वलिताः–

३८–ते द्वौ त्रयो वा युगपद्यान्तः सुप्रकटां दशाम्।
शक्याः कृच्छ्रेण निन्होतुं ज्वलिता इति कीर्त्तिताः।।७३।।

यथा, ३६–गुंजामादातुं प्रभवति करः कम्पतरलो
दृशौ सास्रे पिच्छं न परिचिनुतः सत्वरकृति।
क्षमावूरू स्तब्धौ पदमपि न गन्तुं तव सखे!
वनाद्वंशीध्वाने परिसरमवाप्ते श्रवणयोः।।७४।।

यथा वा, ३७–निरुद्धं वाष्पाम्भः कथमपि मया गद्गदगिरो
ह्रिया सद्यो गूढाः सखि! विघटितो वेपथुरपि।
गिरिद्रोण्यां वेणौ ध्वनति निपुणैरिगिंतमये
तथाऽप्यूहांचक्रे मम मनसि रागः परिजनैः।।७५।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*ते सात्त्विका, द्वौ वा त्रयो वा भूत्वा ।।७३।। सत्वरकृति यथा स्यात्तथा, न गुंजमादातुं प्रभवतीत्यादिना विलम्बेन प्रभवतीति प्राप्ते कम्पादेः कृच्छ्रेण निह्नोतुं शक्यत्वमायातम् प्रार्थितमपीति पाठस्त्यक्तः।।७४।।*

● *अनुवाद*–यदि दो या तीन सात्त्विक–भाव एक ही समय अच्छी प्रकार

प्रकाशित हों और यदि उन्हें बहुत कष्टपूर्वक छिपाया जा सके, तो उनको *'ज्वलित'* भाव कहा जाता है। ।७३।।

उदाहरण; किसी एक गोपबालक ने श्रीकृष्ण से कहा, हे सखे ! वन में से तुम्हारी वंशी की ध्वनि कान में पड़ने के बाद मेरे हाथ कांपने लगे, इसलिए शीघ्र गुंजा को ग्रहण नहीं कर सका, मेरे नेत्र अश्रुओं से भर गये जिससे मैं मोरपुच्छ को नहीं पहिचान सका। मेरी जांघें स्तब्ध हो गईं और मैं एक कदम भी चल न सका। (यहाँ हाथ कांपने से शीघ्र गुंजा के ग्रहण न कर सकने से यह अभिप्राय है कि कुछ देर में फिर वह गुंजा को पकड़ सका अर्थात् उस कम्प को यत्न करने पर गोपन कर पाया। अतः इसे 'ज्वलित–भाव' माना गया है)। ।७४।।

दूसरा उदाहरण; हे सखि ! पर्वत की तलहटी में कृष्णवंशी ध्वनि के सुनने पर मैंने बड़ी मुश्किल से अश्रुओं को रोका, लज्जित होकर अपनी गद्गद वाणी को भी जैसे–तैसे छिपाया, परन्तु गात्र–कम्प को मैं रोक न पाई। अतएव निपुण परिजनों ने मेरे मनस्थित कृष्ण–अनुराग को भांप ही लिया। ।७५।।

अथ दीप्ताः–

३९–प्रौढां त्रिचतुरा व्यक्तिं पंच वा युगपद्गताः।
संवरीतुमशक्यास्ते दीप्ता धीरैरुदाहृता। ।७६।।

यथा, ३८–न शक्तिमुपबीणने चिरमधत्त कम्पाकुलो
न गद्गदनिरुद्धवाक् प्रभुरभूदुपश्लोकने।
क्षमोऽजनि न वीक्षणे विगलदश्रुपूरः पुरो
मुरद्विषि परिस्फुरत्यवशमूर्त्तिरासीन्मुनिः। ।७७।।

यथा वा, ३९–किमुन्मीलत्यस्त्रे कुसुमजरजो गञ्जसि मुधा
सरोमाञ्चे कम्पे हिममनिशमाक्रोशसि कुतः।
किमूरुस्तम्भे वा वनविहरणं द्वेक्षि सखि ? ते
निराबाधा राधे ! वदति मदनाधिं स्वरभिदा। ।७८।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*किमिति कथमित्यर्थः "किं विश्राम्यसि कृष्णभोगिभवने भाण्डीरभूमी" त्यादिषु दर्शनात्, राधे इति संबोध्य तन्नाम्नैव तस्याः कृष्णभावत्व–प्रसिद्धिव्यञ्जनया तद्धेतुकमदनाधित्वं स्फुटीकृतं; निराबाधा छलेन नान्यथा कर्त्तुमशक्या। ।७८।।*

● *अनुवाद*–तीन, चार अथवा पाँच सात्त्विक–भाव यदि एक ही समय वृद्धि को प्राप्त होकर उदित हों और उनकी अभिव्यक्ति को सम्वरण न किया जा सके, तो उनको *'दीप्त–सात्त्विक'* भाव कहते हैं। ।७६।।

उदाहरण; श्रीकृष्ण के सामने दर्शन कर नारद मुनि ऐसे विवशांग हो गये कि कम्प के कारण बीणा बजाने में असमर्थ हो गये, स्वरभंग से उनकी वाणी रुक जाने से वे भगवान् की स्तुति न कर सके, नेत्रों से अजस्र अश्रुधारा प्रवाहित होने से वे उनके दर्शन करने में भी असमर्थ हो गये। ।७७।।

दूसरा उदाहरण; श्रीकृष्ण की वंशी-ध्वनि सुनने पर श्रीराधाजी की जो अवस्था हुई, उसे देखकर एक सखी ने उन्हें कहा) हे सखि ! नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित होने के कारण वृथा क्यों पुष्प पराग को दोष दे रही हो? तुम्हारे शरीर में कम्प उदित हुआ है तुम फिर शीतल वायु के प्रति वृथा क्रोध क्यों कर रही हो ? जांघों में स्तम्भ हुआ है, वन-विहार के प्रति वृथा क्यों द्वेष दिखा रही हो ? तुम क्यों न कितने बहाने बनाओ, हे राधे ! तुम्हारा स्वरभेद ही मदन-वेदना को प्रकाशित किये दे रहा है। (यहाँ श्रीराधाजी के भाव ऐसे तीव्र हैं कि वह किसी का भी संवरण नहीं कर सकीं)।।७८।।

अथोद्दीप्ताः-

४०-एकदा व्यक्तिमापन्नाः पञ्चषा सर्व एव वा।
आरुढाः परमोत्कर्षमुद्दीप्ता इति शब्दिताः।।७६।।

यथा, ४०-अद्य स्विद्यति वेपते पुलकिभिर्निःस्पन्दतामंगकै-
र्धत्ते काकुभिराकुलं विलपति म्लायत्यनल्पोष्मभिः।
स्तिम्यत्यम्बुभिरम्बकस्तवकितैः पीताम्बरोड्डामरं-
सद्यस्त्वद्विरहेण मुह्यति मुहुर्गोष्ठाधिवासी जनः।।८०।।

४१-उद्दीप्ता एव सुदीप्ता महाभावे भवन्त्यमी।
सर्व एव परां कोटिं सात्त्विका यत्र बिभ्रति।।८१।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका-*अम्बकस्तवकितैर्नेत्रेषु स्थिरत्वात् स्तवकवदाचरद्भिः, स्मियति तदंशेन पततार्द्रीभवति, उड्डामरम् उद्भटं यथा स्यात् तथा।।८०।।*

● *अनुवाद*-एक ही समय यदि पाँच छः अथवा आठों (समस्त) सात्त्विक-भाव प्रकाशित होकर परमोत्कर्ष को प्राप्त करें, तब उन्हें उद्दीप्त-सात्त्विक-भाव कहा जाता है।।७६।।

उदाहरण; हे पीताम्बर (कृष्ण) ! आज आपके विरह में समस्त गोकुलवासी पसीना से युक्त हो कांप रहे हैं, पुलकित अंगों से स्तम्भ को धारण कर रहे हैं। वे व्याकुल होकर अनेक दुःखभरी वाणी से विलाप कर रहे हैं, अत्यधिक सन्ताप के कारण म्लानता को प्राप्त हो रहे हैं। नेत्रों से गुच्छों के समान मोटे-मोटे अश्रु प्रवाहित कर भीगे जा रहे हैं तथा उद्भट मूर्च्छा को बार-बार प्राप्त हो रहे हैं।।८०।।

महाभाव में अर्थात् व्रजगोपियों की कृष्णरति में समस्त सात्त्विक -भाव ही अत्यन्त उद्दीप्त होकर जब पराकाष्ठा को प्राप्त करते हैं, तब उन्हें 'सुद्दीप्त' कहा जाता है। (ब्रजसुन्दरियों को छोड़कर किसी में भी महाभाव नहीं है, अतः एकमात्र उनमें ही सुद्दीप्त भाव प्रकाशित होते हैं)।।८१।।

किञ्च-

४२-अथात्र सात्त्विकाभासा विलिख्यन्ते चतुर्विधाः।।८२।।

४३-रत्याभासभवास्ते तु सत्त्वाभासभवास्तथा।
निःसत्त्वाश्च प्रतीपाश्च यथापूर्वममी वराः।।८३।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*सात्त्विकाभासा इति। सात्त्विकवदा भासन्ते प्रतीयन्ते न तु वस्तुतस्तथा भवन्तीति शब्देनैव लक्षणमायातमितीत्यर्थ तद्भेदानेव गणयति चतुर्विधा इति।।८२।। रतेः प्रतिबिम्बत्वे छायात्वे च सति रत्याभासभवत्वम्, मुद्विस्मयाद्याभासमात्राक्रान्त चित्तत्वे सत्त्वाभासभवत्वं, मुद्विस्मायाद्याभा–सस्याप्यन्तरस्पर्शे वहिरप्यस्पर्शे निःसत्त्वत्वं, प्रतीपास्तु विरोधिभावभवत्वात्द्वेष्या एवेति भावः।।८३।।*

● *अनुवाद*–अब आगे चार प्रकार के *सात्त्विकाभासों* का उल्लेख करते हैं। (जो वस्तुतः सात्त्विक–भाव नहीं हैं, किन्तु सात्त्विक भावों जैसे प्रतीत होते हैं, उन्हें सात्त्विकाभास कहते हैं)।।८२।।

१. रत्याभासभव (जो रति के आभास से पैदा होते हैं।) , २. सत्त्वाभास–भव (जो सत्त्व के आभास से उत्पन्न होते हैं), ३. निःसत्त्व (सत्त्वरहित) तथा ४. प्रतीप (विपरीत) –ये चार प्रकार के सात्त्विकाभास हैं। इनमें पूर्व–पूर्व आभास दूसरे–दूसरे की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं; अर्थात् पहला दूसरे से, दूसरा तीसरे से, तीसरा चौथे से श्रेष्ठ है।।८३।।

तत्राद्याः–

४४–मुमुक्षुप्रमुखेष्वाद्या रत्याभासात्पुरोदितात्।।८४।।

यथा, ४१–वाराणसीनिवासी कश्चिदयं व्याहरन् हरेश्चरितम्।
यतिगोष्ठ्यामुत्पुलकः सिञ्चति गण्डद्वयीमस्रैः।।८५।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*वाराणसीति। अत्र तन्निवासादिना मुमुक्षुत्वं गम्यते।।८५।।*

● *अनुवाद*–पहले (१।३ श्लोक ४५ में) जिस रत्याभास का उल्लेख कर आये हैं, वही रत्याभास मुमुक्षु आदिक में 'रत्याभासभव' सात्त्विकाभास है।।८४।।

उदाहरण; वाराणसीवासी कोई एक व्यक्ति संन्यासियों की सभा में हरिचरित गान करते–करते पुलकित हो उठा और नेत्रजल से अपने कपोलों को अभिषिक्त करने लगा।।८५।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–मुक्ति चाहने वाले ही प्रायः वाराणसी में निवास करते हैं, प्राचीन काल में एक ऐसी प्रथा थी। वहाँ रहने वाले संन्यासी मुमुक्षु कहे जाते हैं। ज्ञानी अथवा योगीजन को मुक्ति के इच्छुक होने पर अपने साधन काल में आनुषंगिक भाव से भक्ति–अंगों का अनुष्ठान करना ही पड़ता है। भक्ति–अंगों का अनुष्ठान करते हुए भी उनका अभीष्ट भक्ति या कृष्णरति नहीं होती। हरिकथा, नामगुण–गान करते समय उनमें कभी–कभी पुलक अश्रु आदि प्रकाशित होते हैं। वे रत्याभास जनित सात्त्विकाभास माने गये हैं। उनमें वास्तविक रति नहीं, सत्त्व भी नहीं। अतः वे केवल आभास मात्र हैं। इससे यह भी ज्ञात होता है कि कृष्ण सम्बन्धी किसी वस्तु के प्रभाव से यदि अश्रु–कम्प आदि उदित होते हैं तो वे भी समस्त सात्त्विकाभास मात्र हैं।।८४–८५।।

अथ सत्त्वाभासभवाः—

४५—मुद्विस्मयादेराभासः प्रोद्यन् जात्या श्लथे हृदि।
सत्त्वाभास इति प्रोक्तः सत्त्वाभासभवास्ततः।।८६।।

यथा, ४२—जरन्मीमांसकस्यापि श्रृण्वतः कृष्णविभ्रमम्।
हृष्टायमानमनसो बभूवोत्पुलकं वपुः।।८७।।

यथा वा, ४३—मुकुन्दचरितामृतप्रसरवर्षिणस्ते मया
कथं कथनचातुरीमधुरिमा गुरुर्वर्ण्यताम्।
मुहूर्त्तमतदर्थिनो विषयिणोऽपि यस्यानना—
न्निशम्य विजयं प्रभोर्दधति वाष्पधाराममी।।८८।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*भावाक्रान्तचित्तस्यैव सत्त्वतया संकेतितत्वान् मुद्विस्मयादेराभासो यस्मिंस्तच्चित्तमिति वक्तव्ये मुदाद्याभास एव सत्त्वाभास इत्युक्ति—स्तत्कारणतातिशयविवक्षया, आयुर्घृतमिति वत्।।८६।। मुकुन्देति। अमी इति सद्य एवागतत्वं व्यञ्जयति।।८८।।*

● *अनुवाद*—शिथिल या कोमल प्रकृति हृदय में उत्पन्न होने वाले हर्ष तथा विस्मयादि का जो आभास है, उसे 'सत्त्वाभास' कहते हैं, उस सत्त्वाभास से उत्पन्न होने वाले पुलकाश्रु आदि को *'सत्त्वाभासभव सात्त्विकाभास'* कहते हैं।।८६।।

जैसे कहा गया है कि कृष्ण—जन्म लीला श्रवण करते—करते मीमांसकजनों में अर्थात् भक्तिरहित व्यक्तियों का चित्त आनन्दित हुआ और इसलिए उनका शरीर पुलक से परिपूर्ण हो गया।।८७।।

दूसरा उदाहरण, श्रीमुकुन्द—चरितामृत वर्षणकारी आपकी कथन—चातुरी की महान् मधुरिमा की बात मैं कैसे वर्णन करूँ ? आपके मुख से श्रीकृष्ण की विजय को सुनकर, उस कथा से सम्बन्ध न रखने वाले और विषय भोगों में फँसे हुए ये लोग भी जब प्रेम में भरकर अश्रु प्रवाहित कर रहे हैं। (यहाँ ये अश्रु सात्त्विकाभास हैं, क्योंकि विषयासक्त चित्त लोग रति विहीन होते हैं)।।८८।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—जिन लोगों का चित्त जन्म से ही कोमल होता है, उनके चित्त में कृष्ण—सम्बन्धी किसी बात को सुनने से हर्ष—विस्मयादि का आभास उदित होता है। उसको यहाँ 'सत्त्वाभास' कहा गया है। कृष्ण—सम्बन्धी भाव से जातरति भक्त के चित्त में जो हर्ष—विस्मयादि पैदा होते हैं, उनके द्वारा आक्रान्त चित्त को भी 'सत्त्व' कहते हैं और कृष्ण—सम्बन्धी भावों द्वारा आक्रान्त चित्त को भी 'सत्त्व' कहते हैं। जहाँ उस प्रकार का हर्ष—विस्मयादि नहीं है, केवल आभास मात्र है, वहाँ उस आभास द्वारा आक्रान्त चित्त को 'सत्त्वाभास' कहा जाता है। जैसे आयुवर्द्धक होने के कारण घी को 'आयु' कहा जाता है, उसी प्रकार सत्त्वाभास का कारण होने से हर्ष—विस्मयादि के आभास को सत्त्वाभास कहा गया है। उस सत्त्वाभास से पैदा होने वाले अश्रु—पुलकादि को 'सत्त्वाभासभव—सात्त्विकाभास' कहा जाता है। सात्त्विकाभास में भी कृष्ण—सम्बन्धी वस्तु (कृष्ण—लीला श्रवण) की अपेक्षा है।

अथ निःसत्त्वाः—

४६—निसर्गपिच्छिलस्वान्ते तदभ्यासपरेऽपि च।
सत्त्वाभासं विनाऽपि स्युः क्वाप्यश्रुपुलकादयः।।८९।।

यथा, ४४—निशमयतो हरिचरितं न हि सुखदुःखादयोऽस्य हृदि भावाः।
अनभिर्निवेशाज्जाताः कथमस्त्रवदस्त्रमश्रान्तम्।।९०।।

४७—प्रकृत्या शिथिलं येषां मनः पिच्छिलमेव वा।
तेष्वेव सात्त्विकाभासः प्रायः संसदि जायते।।९१।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*उपरि श्लथमन्तः कठिनं पिच्छिलं तद्रूपत्वान्न कुत्रापि स्थिरं, श्लथत्वं त्वन्तर्बहिरप्यकठिनं तद्रूपत्वाद्यत्र कुत्रापि संसज्जमानमिति भेदः, तत्र सति; निसर्गेति व्याख्यायतें यः कोऽपि निसर्गपिच्छिलस्वान्तो भवति सात्त्विकोदयार्थं धारणाविशेषेणाभ्यासपरोऽपि भवति; तस्मिन् सत्त्वाभासं विनाऽप्यश्रुपुलकादयो भवन्ति, बहिरन्तःकठिनेषु तदभ्यासेनापि न भवन्तीत्येवार्थः, सत्त्वाभासं विनापीत्यस्य निसर्गेत्यनेनान्वये धारणाविशेषस्यापेक्ष्यस्य विशेषणत्वापातान्न पृथक् घटत इति, अतएवास्योदाहरणमेकमेव करिष्यते निःसत्त्वानामेषां सात्त्विकाभासे गणना त्वज्ञेषु सात्त्विकवदाभासन्ते इत्यपेक्षया।।८९।। निशमयत इति। अनभिनिवेशात् पिच्छलत्वान्न हि भावा जाताः, अनभिनिवेशस्तु मयास्य मुहुरेवानुभूतोस्तीति भावः; तथापि "कथमस्त्रमश्रान्तमस्त्रवदिति" यदुक्तं तत् खल्वभ्यासपत्वादेवेति व्यञ्जितम्।।९०।। संसद्येवेत्यन्वयः, प्राय इति। शिथिलस्यान्यत्रापि संभवात् शिथिलं श्लथं संसदि महोत्सवकीर्त्तनसभायाम्।।९१।।*

● ***अनुवाद***—**जिनका चित्त स्वभावतः ही पिच्छिल है एवं जो अश्रु—कम्पादि के अभ्यास—परायण भी हैं, सत्त्वाभास के बिना भी उनमें कहीं—कहीं अश्रु—पुलकादि दीखने में आते हैं, वे अश्रु—पुलकादि 'निःसत्त्व सात्त्विकाभास' कहे जाते हैं।।८९।।**

उदाहरण; अभिनिवेश के बिना हरिकथा सुनने वाले इस व्यक्ति के हृदय में सुख—दुःख भावों का उदय नहीं हो रहा है, फिर भी न जाने कैसे इसके नेत्रों से अविरल जलधारा प्रवाहित हो रही है ?।।९०।।

जिनका मन स्वभावतः शिथिल व पिच्छिल होता है, महोत्सव कीर्तन सभा में प्रायः उन सब लोगों को ही सात्त्विकाभास प्रकाशित होता है।।९१।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—सत्त्वाभासजात सात्त्विकभास में 'श्लथ' चित्त की बात कही गई थी और यहाँ 'पिच्छिल' चित्त की बात कही गई थी। श्लथ चित्त वह है जो भीतर—बाहर कोमल हो। पिच्छिल चित्त वह है जो बाहर से तो कोमल हो, परन्तु भीतर कठोर हो। पिच्छिल का अर्थ होता है फिसलनयुक्त स्थान; फिसलने वाले स्थान पर जाने से हर समय व्यक्ति नहीं गिरता, किसी स्थल विशेष पर गिर जाता है, उसी प्रकार कृष्ण—कथादि के सुनने में हर समय पिच्छिल चित्त वाले व्यक्ति में अश्रु—पुलकादि उदित नहीं होते, किसी—किसी समय होते हैं, किन्तु जो श्लथ—चित्त हैं, उनमें हर समय कृष्ण—कथा सुनने पर अश्रु—पुलकादि उदित हो उठते हैं। सत्त्व नहीं, सत्त्वाभास भी नहीं, हर्ष—विस्मयादि का स्पर्श न भीतर है न बाहर, इसलिए उसे निःसत्त्व

सात्त्विकाभास कहा गया है। कोई–कोई लोग लोगों के मनोरंजन अथवा अपने प्रेम को दिखाने के लिए भी अश्रु–कम्प का अभ्यास करते हैं। सात्त्विकाभास केवल इसलिए कहा जाता है कि जो अनभिज्ञ लोग हैं, वे निःसत्त्व सात्त्विकाभास को भी सात्त्विक के समान समझ लेते हैं और इसलिए ही उनका सात्त्विकाभास के प्रसंग में वर्णन किया गया है। निःसत्त्व भाव सत्त्वाभासजात–सात्त्विकाभास से भी निकृष्ट होते हैं। श्लथ चित्तवालों में महोत्सव–कीर्तन सभा के बिना भी सात्त्विकाभास प्रकाशित होते हैं, परन्तु पिच्छिल चित्त वालों के केवल सभा में ही प्रकाशित होते हैं।।८६–९१।।

अथ प्रतीपाः–

४८–हितादन्यत्र कृष्णस्य प्रतीपाः क्रुद्भयादिभिः।।९२।।

तत्र क्रुधा यथा हरिवंशे–

४५–तस्य प्रस्फुरितौष्ठस्य रक्ताधरतटस्य च।
वक्त्रं कंसस्य रोषेण रक्तसूर्यायते तदा।।९३।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*कृष्णस्य हितादन्यत्र वैरिप्रभृतिषु क्रुद्भयादिभिर्हेतुभिः सात्त्विकाभासाः प्रतीपाः स्युरित्यर्थः।।९२।।*

● *अनुवाद*–श्रीकृष्ण के शत्रुओं में क्रोध–भयादि से जो वैवर्ण्यादि उत्पन्न होते हैं, उनको *'प्रतीप'* सात्त्विकाभास कहते हैं।।९२।।

उदाहरण; श्रीकृष्ण के प्रति क्रोध के कारण कंस का ऊपर का होंठ फड़कने लगा तथा नीचे का होंठ लाल हो रहा था, जिससे उसका मुख लाल सूर्य के समान हो गया।।९३।।

भयेन यथा–

४६–म्लानाननः कृष्णमवेक्ष्य रंगे सिष्वेद मल्लस्त्वधिभालशुक्ति।
मुक्तिश्रियां सुष्ठु पुरो मिलन्त्यामत्यादरात् पाद्यमिवाजहार।।९४।।

यथा वा, ४७–प्रवाच्यमाने पुरतः पुराण निशम्य कंसस्य मदातिरेकम्।
परिप्लवान्तःकरणः समन्तात्कश्चित्परिम्लानमुखस्तदासीत्।।९५।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*म्लानानन इति मुक्तिश्रियामित्यादिना तस्माद्भीतस्तमेव शरणमाश्रितवानिति ध्वनितं, म्लानास्यगोविन्दमित्यादि पाठान्तर पद्यं त्यक्तम्।।९४।।*

● *अनुवाद–(उदाहरण)*–रंगस्थल में श्रीकृष्ण को देखकर मल्ल का मुख म्लान हो गया और उसके माथे पर पसीना आ गया, मानो भावी मुक्ति (मरकर सद्गति) सम्पत्ति को वह मस्तक रूपी सीपी में आदरपूर्वक अर्घ्यपाद्य ही दान कर रहा था।। (यहाँ भय के कारण कृष्णशत्रु मल्ल में वैवर्ण्य तथा स्वेद का जो उदित होना है, वह भयजात प्रतीप नामक सात्त्विकाभास है।) इसमें कृष्ण विरोधी भाव है, किन्तु निःसत्त्व में विरोधी भाव नहीं है। अतः यह निःसत्त्व से निकृष्ट माना गया है।।९४।।

और भी कहा गया है–अपने सामने श्रीभागवत–पुराण का पाठ होते समय कंस के अभिमान के चूर–चूर होने की कथा सुनकर एक व्यक्ति के हृदय में उथल–पुथल होने लगी और उस कृष्ण–विरोधी का मुख मलिन हो गया। (यहाँ भी भयजात प्रतीप का उदय है)।।९५।।

४६–नास्त्यर्थः सात्त्विकाभासकथने कोऽपि यद्यपि।
सात्त्विकानां विवेकाय दिक् तथाऽपि प्रदर्शिता।।६६।।

● *अनुवाद*–ग्रन्थकार कहते हैं, यद्यपि सात्त्विकाभास के कहने का कोई भी यहाँ प्रयोजन नहीं, तथापि समस्त सात्त्विक–भावों के विशेष ज्ञान के लिए सात्त्विकाभास का भी वर्णन किया गया है। तात्पर्य यह है कि हर प्रकार के अश्रु–पुलक–कम्पादि को देखते ही कोई उन्हें सात्त्विकभाव न जान ले, इसलिए यहाँ वास्तविक सात्त्विक–भावों के प्रसंग में अवास्तविक सात्त्विकभावों का भी वर्णन कर दिया गया है।।६६।।

इति श्रीश्रीभक्तिरसामृतसिन्धौ दक्षिणविभागे भक्तिरससामान्यनिरूपणे सात्त्विकलहरी तृतीया।।३।।

● ● ●

चतुर्थ-लहरी : व्यभिचार्याख्या

अथ व्यभिचारिणः–

१–अथोच्यन्ते त्रयस्त्रिंशद्भावा ये व्यभिचारिणः।
विशेषेणाभिमुख्येन चरन्ति स्थायिनं प्रति।।१।।
२–वागंगसत्त्वसूच्या ये ज्ञेयास्ते व्यभिचारिणः।
संचारयन्ति भावस्य गतिं संचारिणोऽपि ते।।२।।
३–उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति स्थायिन्यमृतवारिधौ।
ऊर्मिवद्वर्द्धयन्त्येनं यान्ति तद्रूपतां च ते।।३।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*वाचाअंगेन भ्रूनेत्रादिना सत्त्वेन च सत्त्वोत्पन्नेनानुभावेन सूच्याः ज्ञाप्याः।।२।। कुत्र किंवत्? अमृतवारिधांबूर्मिवदिति पश्चादेव योजनीयम्।।३।।*

● *अनुवाद*–सात्त्विक–भावों के वर्णन के बाद तेंतीस व्यभिचारि भावों का वर्णन करते हैं। विशेष आभिमुख्य के साथ स्थायी–भावों के प्रति विचरण करने से इन्हें *'व्यभिचारि भाव'* कहा जाता है। ये वाक्य, भ्रू–नेत्रादि अंग तथा सत्त्व अर्थात् सत्त्वोत्पन्न अनुभावों के द्वारा सूचित होते हैं या इनका आविर्भाव जाना जाता है। ये सब व्यभिचारि–भाव भावों की गति को संचारित करते हैं, अतः इन्हें *'संचारि–भाव'* भी कहा जाता है। स्थायी–भावरूप अमृत समुद्र में ये उन्मज्जित तथा निमज्जित होते हैं। ये तरंगों की तरह स्थायी–भावों को वर्द्धित करते हैं एवं फिर स्थायीभावरूपता को ही प्राप्त करते हैं, अर्थात् तरंग जैसे समुद्र से उठकर समुद्र को वर्द्धित करती है, उसी तरह व्यभिचारिभाव स्थायी भाव से उत्पन्न होकर स्थायी–भाव को ही वर्द्धित करते हैं। और समुद्र से उठी तरंग जैसे समुद्र में लीन हो जाती है–समुद्ररूपता को प्राप्त हो जाती है, उसी प्रकार स्थायी–भाव से उत्पन्न व्यभिचारि–भाव फिर स्थायी–भावों में लीन हो जाते हैं; स्थायी भावरूपता को प्राप्त करते हैं।।१–३।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–व्यभिचार का साधारण अर्थ होता है कदाचार या भ्रष्टाचार, तदनुसार व्यभिचारि–परायण व्यक्ति को व्यभिचारी कहा जाता है। किन्तु यहाँ व्यभिचारी–शब्द साधारण आभिधानिक अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। व्यभिचार–शब्द का यहाँ एक विशेष पारिभाषिक अर्थ है। वि+अभि+चारी–व्यभिचारि। अर्थात् विशेष रूप से स्थायीभाव के अभिमुख गमन करने वाला भाव *'व्यभिचारि'* कहलाता है। स्थायि–भाव से यह उत्पन्न होता है और स्थायिभाव को वर्द्धित करता है, तथा स्थायि–भाव का ही रूप बन जाता है। स्थायि–भाव को छोड़कर इसका और किसी वस्तु से सम्बन्ध नहीं होता।

स्थायि–भावों का विवरण अगली लहरी में विस्तारपूर्वक कहा जायेगा। यहाँ इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि कृष्णरति को ही स्थायि–भाव कहते हैं। अतः कृष्णरति से उत्पन्न होकर, उसको बढ़ाता हुआ जो स्थायिभाव–रूपता को प्राप्त करता है, उसे 'व्यभिचारि भाव' कहते हैं। भाव की गति को संचारित करने से उसका नाम *'संचारि–भाव'* भी है।।१–३।।

४–निर्वेदोऽथ विषादो दैन्यं ग्लानिश्रमौ च मदगर्वौ।
शंकात्रासावेगा उन्मादापस्मृती तथा व्याधिः।।४।।
५–मोहो मृतिरालस्यं जाड्यं ब्रीडाऽवहित्था च।
स्मृतिरथ वितर्कचिन्तामतिधृतयो हर्ष उत्सुकत्वं च।।५।।
६–औग्रयामर्षासूयाश्चापल्यं चैव निद्रा च।
सुप्तिर्बोध इतीमे भावा व्यभिचारिणः समाख्याताः।।६।।

● *अनुवाद*–व्यभिचारि भाव तेतीस हैं–१. निर्वेद, २. विषाद, ३. दैन्य, ४. ग्लानि, ५. श्रम, ६. मद, ७. गर्व, ८. शंका, ९. त्रास, १०. आवेग, ११. उन्माद, १२. अपस्मृति, १३. व्याधि, १४. मोह, १५. मृति (मृत्यु), १६. आलस्य, १७. जड़ता, १८. ब्रीड़ा, १९. अवहित्था, २०. स्मृति, २१. वितर्क, २२. चिन्ता, २३. मति, २४. धृति, २५. हर्ष, २६. उत्सुकता, २७. उग्रता, २८. अमर्ष, २९. असूया, ३०. चपलता, ३१. निद्रा, ३२. सुप्ति तथा ३३. बोध।।४–६।।

आगे इन व्यभिचारी भावों की क्रमशः सोदाहरण आलोचना करते हैं–

तत्र निर्वेदः (१)–

७–महार्त्तिविप्रयोगेर्ष्यासद्विवेकादिकल्पितम्।
स्वावमाननमेवात्र निर्वेद इति कथ्यते।।
अत्रचिन्ताऽश्रुवैवर्ण्यदैन्यनिश्वसितादयः।।७।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*सद्विवेकोऽत्राकर्त्तव्यस्य कृतत्वे कर्त्तव्यस्य चाकृतत्वे शोचनमयो ज्ञेयः।।७।।*

● *अनुवाद*–महादुःख विप्रयोग (विच्छेद या विरह), ईर्ष्या तथा सद्विवेकादि कल्पित अर्थात् कर्त्तव्य के न पालन करने और अकर्त्तव्य के करने के सोच से कल्पित अपनी अवमानना (अनादर) को *'निर्वेद'* कहते हैं। इस निर्वेद में चिन्ता, अश्रु, वैवर्ण्य, दीनता तथा दीर्घ–निश्वासादि अनुभाव प्रकाशित होते हैं।।७।।

तत्र महार्त्या यथा–

१–हन्त देहहतकैः किममीभिः पालितैर्विफलपुण्यफलैर्नः।
एहि कालियह्रदे विषवह्नौ स्वं कुटुम्बिनि ? हठाज्जुहवाम।।८।।

विप्रयोगेण यथा–

२–असंगमान्माधवमाधुरीणामपुष्पिते नीरसतां प्रयाते।
वृन्दावने शीर्यति हा कुतोऽसौ प्राणित्यपुण्यः सुबलो द्विरेफः।।६।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*न इति। द्वित्वेऽपि बहुवचनम् "अस्मदोद्वयोश्चेति" पाणिनिस्मरणाद्, देहहतकैरित्यत्र तु बहुवचनं बहुजन्मताऽपेक्षया।।८।।*

● *अनुवाद*–(श्रीकृष्ण के कालियदह में कूद जाने पर एक रमणी माता यशोदा को कहती है)–हे गृहकुटुम्बिनी यशोदे ! हाय ! अनेक जन्म के पुण्य रहित इस शरीर को पालन करने से हमें अब क्या लाभ ? आओ, विषाग्नि से दहकते हुए कालिय ह्रद में इस शरीर की शीघ्र ही आहुति प्रदान करें। *महार्त्ति–जनित निर्वेद* का उदाहरण है यह; पुण्यरहित शरीर कहकर यहाँ अपना अवमानन सूचित हो रहा है)।।८।।

विप्रयोगजनित–निर्वेद का उदाहरण–श्रीमाधव (बसन्त) की माधुरी के अभाव में वृन्दावन पुष्पहीन और नीरस होकर सूख गया है, तथापि हाय ! यह सुबलरूप मूर्ख (भ्रमर) यहाँ कैसे जीवित है ? (यहाँ द्विरेफ–भ्रमरतुल्य मूर्ख शब्द से स्वीय अवमानन सूचित हो रहा है)।।६।।

यथा वा दानकेलिकौमुद्या (२०)–

३–भवतु माधवजल्पमशृण्वतोः श्रवणयोरलमश्रवणिर्मम
तमविलोकयतोरविलोचनिः सखि ! विलोचनयोश्च किलानयोः।

ईर्ष्यया यथा हरिवंशे सत्यादेवीवाक्यं–।१०।।

४–स्तोतव्या यदि तावत् सा नारदेन तवाग्रतः।
दुर्भगोऽयं जनस्तत्र किमर्थमनुशब्दितः।।११।।

सद्विवेकेन यथा श्रीदशमे (१०।५१।४८)–

५–ममैष कालोऽजित ! निष्फलो गतो राज्यश्रियोन्नद्धमदस्य भूपतेः।
मर्त्यात्मबुद्धेः सुतदारकोशभूष्वासज्जमानस्य दुरन्तचिन्तया।।१२।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*अश्रवणिरित्यादिरूपम् "आक्रोशे नञयनिः।।१०।। सा रुक्मिणी, अयं मल्लक्षणः।।११।।*

● *अनुवाद*–दानकेलिकौमुदी (२०) में विप्रयोग–निर्वेद का उदाहरण, हे सखि ! माधव श्रीकृष्ण की कथा जो मेरे कान नहीं सुन पा रहे हैं, उनका यह बहरा हो जाना ही अच्छा है और जो नेत्र श्रीमाधव के दर्शन प्राप्त नहीं कर रहे हैं, उनका अन्धा हो जाना ही अच्छा है।।१०।।

ईर्ष्या–जनित निर्वेद का उदाहरण हरिवंश में सत्यभामा के श्रीकृष्ण के प्रति वचनों में इस प्रकार वर्णित है, नारदमुनि यदि आपके सामने रुक्मिणी की प्रशंसा करते हैं, तब मुझ दुर्भागिनी के बोलने का क्या प्रयोजन है ?।। (यहाँ

रुक्मिणीदेवी के प्रति सत्यभामा की ईर्ष्या प्रकाशित होने से अवमानन सूचित होता है।)।।११।।

श्रीमद्भागवत (१०।५१।४७) में *सद्विवेक–जनित निर्वेद* का उदाहरण इस प्रकार है–श्रीमुचुकुन्द ने भगवान् श्रीकृष्ण से कहा, हे अजित ! इस शरीर में मेरी आत्मबुद्धि है, इसलिए दुरन्त चिन्ता द्वारा पुत्र, कलत्र, कोष एवं राजत्व आदि में आसक्त होकर अपने को राजा मानने से राजलक्ष्मी का मेरा मद बढ़ गया है। अतः मेरा यह आयु–जीवन निष्फल है।।१२।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–भगवत् चरणारविन्द में अनुरक्ति ही कर्त्तव्य है। महाराज मुचुकुन्द विचार करते हैं कि मैंने इस कर्त्तव्य का तो पालन नहीं किया और देह में आत्मबुद्धि एवं स्त्री–पुत्र–सम्पत्ति में अनुरक्त होकर मैंने अकर्त्तव्य ही किया है। इस प्रकार के भाव में उनका सद्विवेक सूचित हो रहा है, जिससे उनमें निर्वेद उत्पन्न हुआ है।

श्रीजीवगोस्वामिपाद ने प्रीति–सन्दर्भ में कहा है–भगवत् प्रीति में अधिष्ठान् के कारण निर्वेदादि समस्त व्यभिचारि भाव लौकिक दुःखमय भावों की तरह होते हुए भी वास्तव में वे सब गुणातीत हैं, प्राकृतगुणों से रहित हैं।।१२।।

८–अमंगलमपि प्रोच्य निर्वेदं प्रथमं मुनिः।
मेनेऽमुं स्थायिनं शान्त इति जल्पन्ति केचन।।१३।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–केचनेति। स्वमते तु शान्तरसे शान्त्याख्याया रतेरेव स्थायिभावत्वात्, अत्र तु निर्वेदस्य प्रथमोक्तिस्तु मुनिवचनानुवादरूपत्वादिति भावः।।१३।।

● *अनुवाद*–कोई–कोई समझते हैं कि अमंगल होते हुए भी भरतमुनि ने निर्वेद का सर्वप्रथम शान्तरस में उल्लेख कर इसे स्थायिभाव समझा था।।१३।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–भरतमुनि ने व्यभिचारि भावों का वर्णन करते हुए सर्वप्रथम उल्लेख कर निर्वेद को प्रधानता दी है। इसलिए कोई–कोई–(अभिनव गुप्तादि) यह कहते हैं कि भरतमुनि ने निर्वेद को शान्तरस का स्थायिभाव माना है। वे यह भी कहते हैं कि भरतमुनि के गौरव की रक्षा के लिए श्रीरूपगोस्वामिपाद ने भी व्यभिचारि भावों के प्रसंग में निर्वेद का सर्वप्रथम वर्णन किया है। किन्तु श्रीजीवगोस्वामिपाद ने लिखा है कि अन्यमत वालों की यह विचारधारा है। परन्तु श्रीगोस्वामिपाद के मत में शान्तरस का शान्तरति ही स्थायिभाव है न कि निर्वेद। यहाँ निर्वेद का प्रथम उल्लेख केवल मुनि वचनों की पुनरुक्ति मात्र ही है।।१३।।

अथ विषादः (२)–

९–इष्टानवाप्तिप्रारब्धकार्यासिद्धिविपत्तितः।
अपराधादितोऽपि स्यादनुतापो विषण्णता।।१४।।
१०–अत्रोपायसहायानुसंधिश्चिन्ता च रोदनम्।
विलापश्वासवैवर्ण्यमुखशोषादयोऽपि च।।१५।।

● *अनुवाद*–इष्टवस्तु के प्राप्त न होने से, प्रारब्ध कार्य की असिद्धि, विपत्ति तथा अपराधादिक से जो अनुताप होता है, उसे 'विषाद' कहते हैं। इस

विषाद में उपाय एवं सहायता का अनुसन्धान, चिन्ता, रोदन, विलाप, श्वास, वैवर्ण्य और मुख का सूखना आदि लक्षण होते हैं।।१४–१५।।

तत्र इष्टानवाप्तितो यथा–

६–जरां याता मूर्तिर्मम विवशतां वागपि गता
मनोवृत्तिश्चेयं स्मृतिविधुरतापद्धतिमगात्।
अघध्वंसिन्! दूरे वसतु भनदालोकनशशी
मया हन्त प्राप्तो न भजनरुचेरप्यवसरः।।१६।।

प्रारब्धकार्यासिद्धेर्यथा–

७–स्वप्ने मयाऽद्य कुसुमानि किलाहृतानि
यत्नेन तैर्विरचिता वनमालिका च।
यावन्मुकुन्दहृदि हन्त निधीयते सा
हा तावदेव तरसा विरराम निद्रा।।१७।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*विधुरता रहितत्वम्।।१६।।*

● *अनुवाद–इष्टवस्तु की अप्राप्ति–जनित विषाद* का उदाहरण; हे अघनाशक श्रीकृष्ण! मेरा शरीर जरा–ग्रस्त हो गया है, वाणी भी विश हो गई है, मनोवृत्ति भी स्मृति रहित हो गई है। आपका दर्शनरूप चन्द्रमा भी दूर अवस्थान करता है, हाय! अभी तक आपके भजन में रुचि का अवसर भी मुझे प्राप्त न हुआ।।१६।।

प्रारब्ध कार्य असिद्धि–जनित विषाद का उदाहरण; आज मैंने स्वप्न में फूल चुने। बड़े यत्न के साथ उन फूलों की नवीन सुन्दर माला भी बनाई। किन्तु हाय! जब मैं उस माला को श्रीकृष्ण के गले में डालने को थी, ठीक उसी समय मेरी निद्रा भंग हो गई।। (श्रीकृष्ण थे कण्ठ में माला अर्पण करना प्रारब्ध–कार्य था जो सिद्ध न हुआ, अतः विषाद उदित हुआ)।।१७।।

विपत्तेर्यथा–

८–कथमनायि पुरे मयका सुतः कथमसौ न निगृह्य गृहे धृतः।
अमुमहो बत दन्तिविधुन्तुदो विधुरितं विधुमत्र विधित्सति।।१८।।

अपरा धात् यथा श्रीदशमे (१०।१४।६)

९–पश्येश! मेऽनार्यमनन्त आद्ये परात्मनि त्वय्यपि मायिमायिनि।
मायां वितत्येक्षितुमात्मवैभवं ह्यहं कियानैच्छमिवार्चिरग्नौ।।१९।।

यथा वा, १०–स्यमन्तकमहं हृत्वा गतो घोरास्यमन्तकम्।
करवै तरणीं कां वा क्षिप्तो वैतरणीमनु।।२०।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*कथमनायीति। श्रीव्रजेन्द्रवचनं; तच्च मञ्चाना–मत्युच्चत्वेन दूरेऽपि दर्शनसंभवात्, विधुरितं दुःखितं, विधित्सति कर्तुमिच्छति, हरिरित्यादि पाठान्तरं त्यक्तम्।।१८।। अर्य्यः सुजनस्तस्य भाव आर्यम्, अतस्तद्विपरीतं दौर्जन्यमनार्यं, किंतद? आत्मनस्तव वैभवं माहात्म्यमीक्षितुमैच्छं यद, (भा० १०।१३।१५) द्रष्टुं मंजु महित्वमित्युक्तेः। नन्वेवं चेत्तर्हि को दोषस्तत्राह–त्वन्माहात्म्यं द्रष्टुं तत्रापि मायां वितत्य द्रष्टुं कियान् को वराकोऽहमित्यर्थः कियत्त्वे दृष्टान्तः–*

अग्नौअर्चिरिवेति, ।।१६।। स्यमन्तकमहमिति–अक्रूरचिन्ता कां वेत्यत्र किं वेति तु पाठः सभ्यः।।२०।।

● *अनुवाद–विपत्ति–जनित विषाद* का उदाहरण; (कंस के रंगस्थल में बैठे श्रीनन्दराज श्रीकृष्ण को कुवलयापीड़ हाथी से युद्ध करता देख बोले)–हाय! मैं कृष्ण को मथुरा क्यों ले आया ? मैंने इसे घर में ही क्यों न रोक दिया ? मेरे इस पुत्र रूप चन्द्र को यह कुवलयापीड़ हाथीरूप राहु दुःख देना चाहता है।।१८।।

श्रीमद्भागवत (१०।१४।६) में *अपराध–जनित विषाद* का ब्रह्माजी के वचनों में इस प्रकार उल्लेख है–(ब्रह्ममोहन–लीला में अपने अपराध की क्षमा याचना करते हुए ब्रह्माजी ने कहा)–हे प्रभो ! अग्नि राशि की चिनगारी जैसे आग्नराशि के सामने अति तुच्छ होती है, वैसे मैं भी आपके सामने अति तुच्छ हूँ; तथापि हे अनन्त ! मेरी मूर्खता तो देखिये, आप सर्वकारण–कारण परमात्मा हैं, मायावियों को भी मोहित करने वाले हैं, उन आपके सामने मैं अपनी माया का विस्तार कर अपना वैभव दिखाने की इच्छा कर रहा था।।१६।।

अथवा, श्रीकृष्ण के प्रति अपराध के कारण अक्रूरजी चिन्तापूर्वक विषाद करते हुए कहते हैं, स्यमन्तक मणि का हरण कर मैं तो यमराज के भयानक मुख में जा पड़ा। इस अपराध के फल से मुझे वैतरणी नदी में जा डूबना होगा। उस वैतरणी से पार जाने के लिए मैं किसको नौका बनाऊँ।।२।।

अथ दैन्यं (३)–

११–दुःखत्रासापराधाद्यैरनौर्ज्जित्यं तु दीनता।
चाटुकृन्मान्द्यमालिन्यचिन्ताऽगजडिमादिकृत्।।२१।।

तत्र दुःखेन, यथा श्रीदशमे (१०।५१।५८)–

११–चिरमिह वृजिनार्तस्तप्यमानोऽनुतापै–
रवितृषषडमित्रोऽलब्धशान्तिः कथंचित्।
शरणद ! समुपेतस्त्वत्पदाब्जं परात्म–
न्नभयमृतमशोकं पाहि मापन्नमीश !।।२२।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*अनौजित्यमात्मन्यतिनिकृष्टतामननं, चाटुस्तन्मयी यांचा, हृदयस्य मान्द्यमपाटवं, मालिन्यमस्वाच्छ्यं, चिन्ता नानाभावना।।२१।।*

● *अनुवाद*–दुःख, त्रास एवं अपराधादि से अपने को जो निकृष्ट मानना है, उसको 'दैन्य' कहते हैं। इस दैन्य में चाटुकारिता, मन्दता (चित्त की अपटुता) मालिन्य, चिन्ता एवं अंगों की जड़ता (निष्क्रियता) आदि प्रकाशित होते हैं।।२१।।

श्रीमद्भागवत (१०।५१।५७) में *"दुखजात–दैन्य'* का उदाहरण; श्रीकृष्ण मुचुकुन्द को वरदान देने के बाद बोले, तुम भोग्य वस्तुओं का जाकर भोग करो। कैवल्य मुक्ति तुम्हारे हाथ में है ही। तब मुचुकुन्द कृष्णचरणों में पड़कर प्रार्थना करने लगे)–हे प्रभो ! कर्मफल से मैं चिरकाल से पीड़ित हूँ, उस

कर्मफलजनित वासनाओं से सन्तप्त हूँ, तथापि मेरे छः इन्द्रियाँ–रूप शत्रु तृष्णारहित नहीं हुए। सौभाग्यवश कुछ शान्ति प्राप्त कर मैंने आपके अभय, अशोक एवं अमृत स्वरूप चरणकमलों को प्राप्त किया है। हे शरणागतपाल ! हे परमात्मन् ! हे स्वामि ! आपद में पड़े मेरी आप रक्षा करें।।२२।।

त्रासेन, यथा प्रथमे (१।८।१०)–

१२–अभिद्रवित मामीश ! शरस्तप्तायसो प्रभो !।
कामं दहतु मां नाथ ! मा मे गर्भो निपात्यताम्।।२३।।

अपराधेन, यथा श्रीदशमे (१०।१४।१०)–

१३–अतः क्षमस्वाच्युत ! मे रजोभुवोह्यजानतस्त्वत्पृथगीशमानिनः।
अजावलेपान्धतमोऽन्धचक्षुष एषोऽनुकम्प्यो मयि नाथवानिति।।२४।।

आद्यशब्देन लज्जयाऽपि यथा तत्रैव (भा० १०।२२।१४)–

१४–माऽनयं भोः ! कृथास्त्वां तु नन्दगोपसुतं प्रियम्।
जानीमोऽङ्गः ! व्रजश्लाध्यं देहि वासांसि वेपिताः।।२५।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*श्रीपरिक्षिन्माता तं गर्भस्थितं श्रीकृष्णसेवायामर्हिष्यन्तं मत्वा स्वंतु तत्रायोग्यं मत्वान तद्रक्षार्थं निवेदयति–अभिद्रवतीति। तप्तमग्निमुद्गिरत् आयसं लोहशल्यं यस्य सः।।२३।। अजो जगत्कर्ताहमिति मदेन गाढतमोरूपेणा अन्धीभूतनेत्रस्यातस्त्वत् पृथगीशमानिनः, अन्यत्र प्रभुं मन्यत्वेन वर्तमानोऽपि; एषोऽहमनुकम्प्यः, कथं ? नाथवानिति दास इत्येवम्, ननु परमेष्ठिनस्तव दास्यं किमर्थं ? तत्राह मयि भगवति निमित्तं मदेकप्राप्त्यर्थमित्यर्थः।।२४।।*

● *अनुवाद*–श्रीमद्भागवत (१।८।१०) में *त्रासजनित–दैन्य* का उदाहरण–(उत्तरा के गर्भस्थित परीक्षित् को मारने के लिए जब अश्वत्थामा का ब्रह्मास्त्र उत्तरा की ओर जाने लगा, तब भयभीत होकर उत्तरा ने श्रीकृष्ण की प्रार्थना करते हुए कहा)–हे प्रभो ! जलता हुआ लोहवाण मेरी ओर तीव्र गति से आ रहा है, हे नाथ ! यह मुझे अपनी इच्छानुसार जला दे, इसका मुझे खेद नहीं है, परन्तु मेरे गर्भ का नाश न हो।।२३।।

श्रीमद्भागवत (१०।१४।१०) में *'अपराध–जनित 'दैन्य''* का उदाहरण है, श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए ब्रह्माजी के वचनों में; हे अच्युत ! मैं रजोगुण से उत्पन्न हूँ, इसलिए अज्ञ हूँ, आपकी महिमा कुछ भी नहीं जानता। मैं अज हूँ, जगत् की सृष्टि करने वाला हूँ–इस मदरूप गाढ़ तिमिर से मैं अन्धा हो रहा हूँ। इसलिए मैंने अपने को ईश्वर समझ रखा था। ''यह ब्रह्मा कहीं दूसरी जगह प्रभुत्व रखते हुए भी मेरा दास है, और मेरी कृपा का पात्र है''–यह जानकर हे प्रभो ! आप मुझे क्षमा कीजिए।।२४।।

श्रीमद्भागवत (१०।१२।१४) में *'लज्जा–जनित दैन्य'* का उदाहरण; (चीरहरण लीला में गोपकन्यागण लज्जित होकर श्रीकृष्ण से कहने लगीं)–हे कृष्ण ! अन्याय क्यों कर रहे हो ? हम जानती हैं तुम नन्दगोप के पुत्र हो, व्रज में प्रशंसनीय हो और हमारे प्रिय हो। हे अंग ! हमारे वस्त्र दीजिए, हम सर्दी से काँप रही हैं।।२५।।

अथ ग्लानिः (४)–

१२–ओजः सोमात्मकं देहे बलपुष्टिकृदस्य तु।
क्षयाच्छ्रमाधिरत्याद्यैर्ग्लानिर्निष्प्राणता मता।
कम्पांगजाड्यवैवर्ण्यकार्श्यदृग्भ्रमणादिकृत्।।२६।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*ओजः शुक्रादप्युत्कृष्टो धातुविशेषः।।२६।।*

● *अनुवाद*–जो शरीर का बलबर्द्धक तथा पुष्टिकारी है, जिसका अधिष्ठात्री देवता चन्द्र है, शुक्र से भी उत्कृष्ट उस धातु विशेष को 'ओज' कहते हैं। श्रम, मनः–पीड़ा तथा रत्यादि द्वारा ओज के क्षय होने पर जो निष्प्राणता या दुर्बलता उत्पन्न होती है, उसे 'ग्लानि' कहते हैं। इस ग्लानि से कम्प, अंगों की निष्क्रियता, वैवर्ण्य, कृशता तथा नयनों की चपलता आदि पैदा होते हैं।।२६।।

तत्र श्रमेण यथा–

१५–आघूर्णन्मणिवलयोज्ज्वलप्रकोष्ठा
गोष्ठान्तर्मधुरिपुकीर्तिनर्त्तितौष्ठी।
लोलाक्षी दधिकलसं विलोलयन्ती
कृष्णाय क्लमभरनिःसहा बभूव।।२७।।

यथा वा, १६–गुम्फितुं निरुपमां वनस्रजं चारुपुष्पपटलं विचिन्वती।
दुर्गमे क्लमभरार्तिदुर्बला कानने क्षणमभून्मृगेक्षणा।।२८।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*लोलाक्षीति। मधुरिपुकीर्तिगाने श्वश्रू–प्रभृतित आशंकया। निःसहा विवशांगी।।२७।।*

● *अनुवाद–श्रमजात–ग्लानि* का उदाहरण; (श्रीनन्दगृह की अध्यक्षा धनिष्ठा श्रीकृष्ण के लिए दधि मन्थन कर रही है)–तब उसके हाथों (कलाई) में जो मणिमय उज्ज्वल कंकण थे, वह थोड़े–थोड़े हिल रहे थे, और श्रीकृष्ण गुणगान से उसके होठ मानों नृत्य कर रहे थे। उसके मन में आया कि मैं श्रीकृष्ण के गुण गा रही हूँ, कहीं मेरी सास ने न सुन लिया हो–ऐसी आशंका में उसके नेत्र चपल हो उठे और दधिकलश को मन्थन करते–करते श्रम के कारण विवशांगी हो गई। (यहाँ श्रम के कारण अंगजड़ता, विवशता एवं नयनचापल्य आदि ग्लानि के लक्षण कहे गये हैं)।।२७।।

श्रमजात–ग्लानि का एक और उदाहरण; एक मृगनयना किसी व्रजगोपी ने श्रीकृष्ण के लिए निरुपम माला गुन्थन के लिए दुर्गम वन में प्रवेश किया। वहाँ मनोहर पुष्पों को चुनते–चुनते अतिशय क्लान्ति–वश कुछ देर के लिए दुर्बल हो गई।।२८।।

आधिना यथा–

१७–सा रसव्यतिकरेण विहीना क्षीणजीवनतयोच्चलहंसा।
माधवाद्य विरहेण तवाम्बा शुष्यति स्म सरसी शुचिनेव।।२९।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*सा तवाम्बेत्यन्वयः, रसः सुखव्यतिकरः सम्पर्क आसंगः। पक्षे सारसानि पक्षिविशेषाः, पद्मानि चेत्येकशेषात्। शुचिस्त्वयमाषाढ इत्यमारः।।२९।।*

● *अनुवाद–मनःपीड़ा या आधि–जात ग्लानि* का उदाहरण; हे माधव ! ग्रीष्मकाल में जलविहीन एवं क्षीणजल सरोवर जैसे शुष्क हो जाता है, वैसे आपके विरह में आपकी माता यशोदा भी आज सूखी जा रही है।।२६।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–इस श्लोक में श्लेष है। श्लोकस्थ रस, जीवन, हंस तथा शुचि शब्दों के दो–दो अर्थ हैं। रस का एक अर्थ आनन्द है, दूसरा जल। जीवन का एक अर्थ है जल, दूसरा अर्थ है जीवन। हंस का एक अर्थ है हंस पक्षी तथा दूसरा अर्थ प्राण या आत्मा। शुचि का एक अर्थ है शोक–चिन्ता और दूसरा अर्थ है ग्रीष्म ऋतु। यहाँ श्रीयशोदाजी में सरसि का आरोप किया गया है। जो कृष्ण–वियोग में उसी प्रकार सूखी जा रही हैं जैसे ग्रीष्म ऋतु में सरसि जल से रहित एवं क्षीणजीवना अर्थात् स्वल्प जल वाली रह जाती है और हंस पक्षी वहाँ से उड़कर अन्यत्र चले जाते हैं। इसी प्रकार श्रीकृष्ण के वियोग में श्रीयशोदा 'रसव्यतिकर' अर्थात् आनन्दरहित हो गई हैं। क्षीण–जीवना' अर्थात् उनकी जीवन–शक्ति क्षीण हो गई है तथा 'उच्चलद् हंसा' अर्थात् उसके प्राण उड़ जाना चाहते हैं–यह तात्पर्य है।।

रत्या यथा रससुधाकरे–

१८–अतिप्रयत्नेन रतान्ततान्तां कृष्णेन तल्पादवरोपिता सा।
आलम्ब्य तस्यैव करं करेण ज्योत्स्नाकृतानन्दमलिन्दमाप।।३०।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*अलिन्दं गृहाग्रकुट्टिमम्।।३०।।*

● ***अनुवाद–रति–जनित ग्लानि*** **का दृष्टान्त रससुधाकर में इस प्रकार है–श्रीकृष्ण ने रति क्रीड़ा के पश्चात् अत्यन्त यत्नपूर्वक श्रीराधाजी को शय्या से नीचे उतारा (क्योंकि वह स्वयं उतरने में समर्थ न हो पा रही थीं) श्रीराधा जी ने अपने हाथ से श्रीकृष्ण का हाथ पकड़ा और वह घर के अग्रवर्ती चाँदनी से मनोहर बरामदे में आकर बैठ गयीं।।३०।।**

अथ श्रमः (५)–

१३–अध्वनृत्यरताद्युत्थः खेदः श्रम इतीर्य्यते।
निद्रास्वेदांगसंमर्दजृम्भाश्वासादिभागसौ।।३१।।

तत्राध्वनो यथा–

१६–कृतागसं पुत्रमनुव्रजन्ती व्रजाजिरान्तर्व्रजराजराज्ञी।
परिस्खलत्कुन्तलबन्धनेयं बभूव घर्माम्बुकरम्बितांगी।।३२।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*व्रजे राजते या राज्ञी सेत्यर्थः, एवमन्यत्रापि, व्रजराजपत्नीति वा पाठः।।३२।।*

● ***अनुवाद***–**पथभ्रमण, नृत्य तथा रमणादि–जनित जो खेद होता है, उसे '*श्रम*' कहते हैं। श्रम में निद्रा, स्वेद, अंगटूटना, जम्भाई तथा दीर्घश्वासादि आ करते हैं।।३१।।**

पथभ्रमण–जनित **श्रम का उदाहरण, दधि–मटुकी तोड़ने का अपराध करके श्रीकृष्ण भाग रहे हैं, व्रज राज्ञी श्रीयशोदाजी पुत्र के पीछे–पीछे व्रजांगन में भाग रही हैं। उससे उनके केश–बन्धन खुल गये तथा सारा शरीर पसीना–पसीना हो गया।।३२।।**

नृत्याद्यथा–

२०–विस्तीर्योत्तरलितहारमंगहारं संगीतोन्मुख मुख रैर्वृतः सुहृद्भिः।
अस्विद्यद्विरचितनन्दसूनुपर्वाकुर्वाणस्तटभुवि ताण्डवानि रामः।।३३।।

रताद्यथा श्रीदशमे (१०।३३।२१)–

२१–तासां रतिविहारेण श्रान्तानां वदनानि सः।
प्रामृजत्करुणः प्रेम्णा शन्तमेनांग ! पाणिना।।३४।।

● *अनुवाद–नृत्य–जनित श्रम* का उदाहरण; श्रीकृष्ण–सम्बन्धी किसी उत्सव उपलक्ष्य में संगीत परायण सुहृदगणों के साथ मिलकर श्रीबलराम अंग–भंगि सहित यमुना तट पर ताण्डव नृत्य कर रहे थे। उनके वक्षस्थल पर मनोहर हार आन्दोलित हो रहा था एवं श्रमवश उनके अंगों से पसीना बह रहा था।।३३।।

श्रीमद्भागवत (१०।३३।२०) में *रति–जनित श्रम* का उदाहरण; श्रीशुकदेवजी ने कहा, राजा परीक्षित् ! गोपीगण रतिक्रीड़ा में थक गईं और परम करुण श्रीकृष्ण ने अत्यन्त प्रीति सहित अपने मंगलमय हाथों से उनके मुख के पसीना को पोंछा।।३४।।

अथ मदः (६)–

१४–विवकहर उल्लासो मदः स द्विविधो मतः।
मधुपानभवोऽनंगविक्रियाभरजोऽपि च।
गत्यंगवाणीस्खलनदृग्घूर्णारक्तिमादिकृत्।।३५।।

तत्र मधुपानभवो यथा ललितमाधवे (५–४१)

२२–बिले क्व नु विलिल्यिरे नृपपिपीलिकाः पीड़िताः
पिनष्मि जगदण्डकं ननु हरिः क्रुध धास्यति।
शचीगृहकुरंग रे ! हससि किं त्वमित्युन्नद–
न्नुदेति मदडम्बरस्खलितचूडमग्रे हली।।३६।।

● *अनुवाद*–ज्ञान–नाशक आह्लाद का नाम 'मद' है। मद दो प्रकार का है–१. मधुपान–जनित तथा २. कन्दर्प–विक्रियातिशय–जनित। मद में गति का, अंगों का तथा वाक्यों का स्खलन होता है, नेत्रों का घूमना तथा लालिमा होती है।।३५।।

मधुपान–जनित मद का उदाहरण 'ललितमाधव नाटक' में इस प्रकार है; रुक्मिणी–हरण प्रसंग में जरासन्धादि के साथ युद्ध के समय मधुपान के मद में श्रीबलरामजी के केश खुल गये और कहने लगे, अरे चींटियों के समान राजाओ ? डरकर तुम किस बिल में जा घुसे हो ? अरे शची के क्रीड़ामृग इन्द्र ! तू हँस रहा है ? कृष्ण क्रोधित हो जायेंगे, वरना मैं अभी सारे ब्रह्माण्ड को चूर्ण ही कर देता।।३६।।

यथा वा प्राचाम्–

२३–भभभ्रमति मेदिनी लललम्बते चन्द्रमाः
कृकृष्ण ! ववद द्रुतं हहहसन्ति किं वृष्णयः।

सिसीधु मुमुमुञ्च मे पपपपानपात्रे स्थितं–
मदस्खलित मालपन् हलधरः श्रियं वः क्रियात्।।३७।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*भभ भ्रमतीति पद्यं तस्य गृह एव स्थितस्य तत्तत्कल्पनया वचनं ज्ञेयं, वास्तवत्वे श्रीकृष्णादीनां संकोचापत्तेः, मदस्खलितमित्यतः प्रागितीत्यध्याहार्यम्।।३७।।*

● *अनुवाद*–प्राचीन लोगों द्वारा मधुपान–जनित मद का उदाहरण हे कृ–कृ–कृष्ण ! शीघ्र ब–बोलो, पृथ्वी क्या भ–भ–भ्रमण कर रही है ? चन्द्र क्या पृथ्वी पर ल–ल–लटक रहा है ? अरे यदुगण तुम ह–ह–हँस क्यों रहे हो ? मेरा प–प–प–पानपात्र में रखा कदम्ब पुष्पों का मधु छोड़ दीजिए। इस प्रकार मदस्खलित वचन बोलने वाले श्रीबलरामजी तुम्हारा (सबका) मंगल करें। (श्रीजीवगोस्वामि का कहना है–ये वचन वास्तव में अपने घर में ही बैठे–बैठे कहे गये हैं श्रीकृष्ण तथा यदुगण की कल्पना करके। श्रीकृष्ण के सामने ऐसे वचन श्रीबलरामजी के लिए सम्भव नहीं हैं)।।३७।।

१५–उत्तमस्तु मदाच्छेते मध्यो हसति गायति।
कनिष्ठः क्रोशति स्वैरं परुषं वक्ति रोदिति।।३८।।
१६–मदोऽपि त्रिविधः प्रोक्तस्तरुणादिप्रभेदतः।
अत्र नात्युपयोगित्वाद्विस्तार्य्य न हि वर्णितः।।३६।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*प्रकरणंचेदं नात्यादृतं करिष्यते मदोऽपि त्रिविध इत्यादिना।।३६।।*

● *अनुवाद*–इस मद में, जो उत्तम व्यक्ति है वह सो जाता है, मध्यम व्यक्ति हँसता और गान करने लगता है, और कनिष्ठ व्यक्ति स्वच्छन्दता पूर्वक चीत्कार करता है, कठोर वचन बोलता है तथा रोने लगता है।।३८।।

उत्तम मध्यम एवं तीव्र आदि भेद से मद तीन प्रकार का होता है। यहाँ उसकी विशेष उपयोगिता न रहने से वर्णन नहीं किया जा रहा है।।३६।।

अनंगविक्रियाभरजो यथा–

२४–व्रजपतिसुतमग्रे प्रेक्ष्य भुग्नीभवद्भ्रू–
भ्रमति हसति रोदित्यास्यमन्तर्दधाति।
प्रलपति मुहुरालीं वन्दते पश्य वृन्दे !
नवमदनमदान्धा हन्त गान्धर्विकेयम्।।४०।।

● *अनुवाद–कन्दर्प विकारातिशय–जनित* मद का उदाहरण, हे वृन्दे ! देखो, कैसा आश्चर्य है, नवमदन–मद में अन्ध होकर श्रीराधाजी अपने सामने व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण के दर्शन कर कभी तो भ्रुकुटि तानती हैं, कभी भ्रमण करती, कभी हँसती, कभी रोती हैं, और कभी अपना मुख ढकने लगती हैं तो कभी प्रलाप करती हैं और फिर कभी सखियों को बार–बार प्रणाम करती हैं।।४०।।

अथ गर्वः (७)–

१७–सौभाग्यरूपतारुण्यगुणसर्वोत्तमाश्रयैः।
इष्टलाभादिना चान्यहेलनं गर्व ईर्य्यते।।४१।।
१८–तत्र सोल्लुण्ठवचनं लीलाऽनुत्तरदायिता।
स्वांगेक्षा निन्हवोऽन्यस्य वचनाश्रवणादः।।४२।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*निन्हवः स्वाभिप्रायादेर्गोपनम्।।४२।।*

● *अनुवाद*–सौभाग्य, रूप, यौवन, गुण, सर्वश्रेष्ठ वस्तुओं के आश्रय तथा इष्टवस्तु की प्राप्ति के कारण दूसरों की जो अवहेलना है, उसको *'गर्व'* कहते हैं।।४१।।

इस गर्व में उलाहने भरी वाणी, लीलावश (हाव–भाव के कारण) उत्तर न देना, अपने अंगों को देखना, अपने अभिप्राय आदि को गोपन रखना तथा दूसरे की बात न सुनना–यह लक्षण प्रकाशित होते हैं।।४२।।

तत्र सौभाग्येन यथा श्रीकृष्णकर्णामृते–

२५–हस्तमुत्क्षिप्य यातोऽसि बलात्कृष्ण ! किमद्भुतम्।
हृदयाद्यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते।।४३।।

रूपयौवनाभ्यां यथा–

२६–यस्याः स्वभावमधुरां परिषेब्य मूर्ति
धन्या बभूव नितरामपि यौवनश्रीः।
सेयं त्वयि व्रजवधूशतभुक्तमुक्ते
दृक्पातमाचरतु कृष्ण ! कथं सखी मे।।४४।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*हस्तमुक्षिप्येति न स्वार्थप्रधानं तादृक्प्रेम्णस्तस्यात्र दुःखस्यैव योग्यत्वात् गर्वस्यानुपपत्तेः; सुतरां तु तन्मयेदृशपरिहासस्येति; किन्तु व्यंग्यप्रधानमेवार्थान्तरसंक्रमितत्वात्, तच्च व्यंग्यं यदि मय्युदासीनतां गतोऽसि तथाप्यहं न त्वां त्यजामीति।।४३।।*

● *अनुवाद*–श्रीकृष्णकर्णामृत में *सौभाग्य जनित गर्व* का उदाहरण; श्रीबिल्वमंगल ने कहा, हे कृष्ण ! बलपूर्वक तुम मेरा हाथ छुड़ाकर चले जा रहे हो, इसमें क्या बड़ी बात है ? यदि तुम मेरे हृदय से चले जा सको तब तुम्हारा पौरुष जानूँ।।४३।।

रूप–यौवन जनित गर्व का उदाहरण; हे कृष्ण ! जिसकी स्वभाविक मधुर मूर्ति की सेवा कर यौवनश्री अतिशय धन्य हुई है, मेरी वह सखी श्रीराधा, सौ–सौ व्रजवधूओं द्वारा भोगकर छोड़े हुए तुम्हें क्यों देखने लगीं ?।।४४।।

गुणेन यथा–

२७–गुम्फन्तु गोपाः कुसुमैः सुगन्धिभि–
र्दामानि कामं धृतरामणीयकैः।
निधास्यते किन्तु सतृष्णमग्रतः
कृष्णो मदीयां हृदि विस्मितः स्रजम्।।४५।।

सर्वोत्तमाश्रयेण यथा श्रीदशमे (१०।२।३३)–

२८–तथा न ते माधव ! तावकाः क्वचिद्
भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः।
त्वयाऽभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया
विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो !।।४६।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*तथेति पूर्वार्थविरोधे यथा त्वं मूर्खस्तथाऽहं नेतिवत्, यद्वा किंचेत्यर्थः, मार्गादपि किं पुनर्मृग्यात्, त्वदाश्रयेण विघ्नान्न गणयन्तीति तात्पर्यार्थः।।४६।।*

● *अनुवाद–गुणजनित– गर्व* का उदाहरण; गोपगण सुन्दर–सुन्दर सुगन्धित पुष्पों से भले ही मालायें बनायें, किन्तु श्रीकृष्ण लालायित होकर केवल मेरी माला के सौन्दर्य को देखकर विस्मित होकर मेरी ही माला को हृदय पर धारण किया करते हैं।।४५।।

श्रीमद्भागवत (१०।२।३०) में *'सर्वोत्तमाश्रय–जनित गर्व'* का उदाहरण; हे माधव ! आपसे प्रेम करने वाले आपके भक्तजन कभी भी मार्ग से भ्रष्ट नहीं होते (जैसे अभक्त भ्रष्ट हो जाते हैं), आपके द्वारा सुरक्षित होकर वे सदा विघ्नराज विनायक के सेनापतियों के सिर पर निर्भय होकर विचरण करते हैं। (सर्वोत्तम श्रीकृष्ण के आश्रय रहने वाले किसी विघ्न की चिन्ता नहीं करते–किसी को कुछ नहीं गिनते)।।४६।।

इष्टलाभेन यथा–

२९–वृन्दावनेन्द्र ! भवतः परमं प्रसाद
मासाद्य नन्दितमतिर्मुहुरुद्धतोऽस्मि।
आशंसते मुनिमनोरथवृत्तिमृग्यां
वैकुण्ठनाथकरुणामपि नाद्य चेतः।।४७।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*वृन्दावनेन्द्रेति। मथुरावायकस्यैषोक्तिः।।४७।।*

● *अनुवाद–इष्टलाभ–जनित गर्व* का उदाहरण; मथुरा के जुलाहे ने कहा, हे वृन्दावनेन्द्र ! आपका परम अनुग्रह प्राप्त कर मैं आनन्दपूर्वक पुनः–पुनः उद्धत हो रहा हूँ। मुनिगण जिनको मनोवृत्ति द्वारा खोजते रहते हैं, उन वैकुण्ठनाथ की करुणा के लिए भी मेरा मन अब प्रार्थना नहीं करता।।४७।।

अथ शंका (८)–

१९–स्वीयचौर्यापराधादेः परक्रौर्यादितस्तथा।
स्वानिष्टोत्प्रेक्षणं यत्तु सा शंकेत्यभिधीयते।
अत्रास्यशोषवैवर्ण्यदिक्प्रेक्षालीनतादयः।।४८।।

● *अनुवाद*–अपने को चोरी लगने के अपवाद, अपराध तथा दूसरे की क्रूरता आदि से अपने अनिष्ट की सम्भावना को 'शंका' कहते हैं। इस शंका में मुख का सूखना, वैवर्ण्य, इधर–उधर देखना तथा छिपना आदि लक्षण हुआ करते हैं।।४८।।

तत्र चौर्याद्यथा–

३०–सतर्णकं डिम्भकदम्बकं हरन् सदम्भमम्भोरुहसम्भवस्तदा।
तिरोभविष्यन् हरितश्चलेक्षणैरष्टाभिरष्टौ हरितः समीक्षते।।४६।।

यथा वा, ३१–स्यमन्तकं हन्त वमन्तमर्थं निन्हुत्य दूरं यदहं प्रयातः।
अवद्यमद्यापि तदेव कर्म शर्माणि चित्ते मम निर्मिनत्ति।।५०।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*हरितः हरेः सकाशात्, पुनर्हरितो दिशः।।४६।।*

● *अनुवाद–'चौर्यजनित–शंका'* का उदाहरण; पद्मयोनि श्रीब्रह्मा कपट–पूर्वक बछड़े तथा गोपबालकों का हरण करके श्रीकृष्ण से छिपने की इच्छा करते हुए शंकापूर्वक आठों नेत्रों से आठों दिशाओं में देखने लगे।।४६।।

और भी कहा है–(श्रीअक्रूर मन–मन में कहने लगे)–हाय ! मैं स्यमन्तक मणि को चुराकर अपने को छिपाने के लिए दूर देश में चला गया, यह निन्दित कर्म अब भी मेरे चित्त के सुख को चूर–चूर कर रहा है।।५०।।

अपराधाद्यथा–

३२–तदवधि मलिनोऽसि नन्दगोष्ठ
यदवधि वृष्टिमचीकरः शचीश !।
शृणु हितमभितः प्रपद्य कृष्णं–
श्रियमविशंकमलंकुरु त्वमैन्द्रीम्।।५१।।

परक्रौर्येण यथा (पद्यावल्यां ३३१)–

३३–प्रथयति न तथा ममार्तिमुच्चैः
सहचरि ! वल्लवचन्द्रविप्रयोगः।
कटुभिरसुरमण्डलैः परीत
दनुजपतेर्नगरे यथाऽस्य वासः।।५२।।

२०–शंका तु प्रवरस्त्रीणां भीरुत्वाद्भयकृद्भवेत्।।५३।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*कटुभिरिति। तदानीमसम्भवमपि स्नेहमात्रेण आशंकते–अनिष्टाशंकानि बन्धुहृदयानि भवन्तीति न्यायेन।।५२।।*

● *अनुवाद–अपराध–जनित शंका का उदाहरण;* हे शचीपति इन्द्र ! जबसे तुमने नन्दराज के व्रज पर वर्षा की है, तब से तुम्हारा मुख मलिन हो रहा है, मैं तुम्हारे हित की बात कहता हूँ उसे सुन, तुम सर्वतोभाव से श्रीकृष्ण की शरणापन्न हो जाओ और फिर निःशंक चित्त से अपनी ऐन्द्रीसम्पद का सम्भोग करो।।५१।।

पद्मावली (३३१) में *पर–क्रूरता जनित* शंका का उदाहरण; हे सहचरि ! क्रूरस्वभाव वाले असुरों से घिरे हुए असुरपति कंस के मथुरा नगर में श्रीकृष्ण का वास करना मुझे जैसी पीड़ा दे रहा है, उनका वियोग मुझे उतना पीड़ादायक नहीं।। (कंस के मर चुकने के बाद ही तो श्रीकृष्ण मथुरा में वास कर रहे थे, परन्तु बन्धुओं के हृदय में सदा अनिष्ट की ही शंका बनी रहती है–इस न्याय से श्रीराधाजी अनिष्ट की शंका करती रहती हैं)।।५२।।

उत्तम प्रकृति की स्त्रियों में उनके भीरु होने के कारण शंका भय को उत्पन्न करती है।।५३।।

अथ त्रासः (६)–

२१–त्रासः क्षोभो हृदि तडिद्घोरसत्वोग्रनिस्वनैः।
पार्श्वस्थालम्बरोमाञ्चकम्पस्तम्भभ्रमादिकृत्।।५४।।

तत्र तडिता यथा–

३४–बाढ़ निबिडया सद्यस्तडिता ताडितेक्षणः।
रक्ष कृष्णेति चुक्रोश कोऽपि गोपीस्तनन्धयः।।५५।।

● *अनुवाद*–विद्युत, भयानक प्राणी तथा भयानक शब्द से हृदय में जो क्षोभ होता है, उसे 'त्रास' कहते हैं। इस त्रास में निकटवर्ती वस्तु का आश्रय ग्रहण करना, रोमाञ्च, कम्प स्तम्भ तथा भ्रमादि लक्षण प्रकाशित होते हैं।।५४।।

विद्युत–जनित त्रास का उदाहरण; अतिशय भयानक बिजली से जिसकी आँखें बन्द हो गईं ऐसा कोई गोपबालक, "हे कृष्ण ! रक्षा करो" कह कर चिल्ला उठा।।५५।।

घोरसत्त्वेन यथा–

३५–अदूरमासेदुषि वल्लवांगना स्वं पुंगवीकृत्य सुरारिपुंगवे।
कृष्णभ्रमेणाशु तरंगदंगिका तमालमालिंग्य बभूव निश्चला।।५६।।

उग्रनिस्वनेन यथा–

३६–आकर्ण्य कर्णपदवीविपदं यशोदा
विस्फूर्जितं दिशि दिशि प्रकटं वृकाणाम्।
यामान्निकामचतुरा चतुरः स्वपुत्रं
सा नेत्रचत्वरचरं चिरमाचचार।।५७।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*आकर्ण्येति श्रीहरिवंशानुसारि वचनम्।।५७।।*

● *अनुवाद–भयानक प्राणी–जनित* त्रास का उदाहरण; वृषभ का रूप धारण कर दानवराज के निकट आने पर त्रास के कारण काँपती हुईं गोपीगण निकटवर्ती तमाल वृक्ष को ही श्रीकृष्ण समझकर लिपट गईं और निश्चल हो गईं।।५६।।

भयानक शब्द–जनित त्रास का उदाहरण; (हरिवंश में कहा गया है कि महावन में विहार करने के बाद श्रीकृष्ण की इच्छा वृन्दावन में विहार करने की हुई। तब उनकी इच्छा से वृन्दावन में अनेक भेड़िये आ उपस्थित हुए और रात को भयानक शब्द करने लगे। उसी प्रसंग में यह श्लोक कहा गया है)–चारों ओर कानों को पीड़ा देने वाला भेड़ियों का भयानक शब्द सुनकर अत्यन्त चतुरा यशोदा जी ने रात के चारों पहर तक अपने पुत्र श्रीकृष्ण को अपने नेत्रों के चबूतरे पर विचरणकारी बनाया अर्थात् अपनी नेत्रों के सामने रखा।।५७।।

२२–गात्रोत्कम्पी मनःकम्पः सहसा त्रास उच्यते।
पूर्वापरविचारोत्थं भयं त्रासात्पृथग्भवेत्।।५८।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*पूर्वोक्तं त्रासं भयात्पृथक् कर्तुमाह—गात्रेति। मनः कम्पोऽत्र पूर्वोक्तो हृत्क्षोभ एवोच्यते, सहसेति च पूर्वापरविचारविनाभूतमुच्यते, 'अतर्किते तु सहसेत्यमरः, ततश्च स खलु मनःकम्पः सहसा गात्रोत्कम्पी चेत् त्रास उच्यते, भयं तु पूर्वापरविचारोत्थं भवति, विचारोत्थ इति वा पाठः मनः कम्प एव विचारोत्थश्चेद्भयमुच्यते, अतएव त्रासात्पृथग् भवेदित्यर्थः।।५८।।*

● *अनुवाद*—(इस श्लोक में त्रास और भय का पार्थक्य दिखाते हैं)—किसी कारणवश (पूर्वापर विचार के बिना) यदि मन कांपने लगे और उससे फिर शरीर में भी कम्प हो, तो उसको *'त्रास'* कहते हैं। और यदि पूर्वापर विचार से चित्त में क्षोभ, शरीर में कम्प उत्पन्न होता है, तो उसे *'भय'* कहा जाता है।।५८।।

अथ आवेगः (१०)—

२३—चित्तस्य संभ्रमो यः स्यादावेगोऽयं स चाष्टधा।
प्रियाप्रियानलमरुद्वर्षोत्पातगजारितः।।५९।।
२४—प्रियोत्थे पुलकः सान्त्वं चापलाभ्युद्गमादयः।
अप्रियोत्थे तु भूपातविक्रोशभ्रमणादयः।।६०।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*सान्त्वं प्रियभाषणम्, अभ्युद्गामोऽभ्युत्थानम्।।६०।।*

● *अनुवाद*—चित्त के सम्भ्रम या संवेग को *'आवेग'* कहते हैं। वह आवेग—प्रिय, अप्रिय, अग्नि, वायु, वर्षा, उत्पात, गज तथा शत्रु—इन आठों से उत्पन्न होने के कारण आठ प्रकार का है।।५९।।

प्रियवस्तु—जनित आवेग में पुलक, सान्त्वना (प्रिय भाषण) चापल्य एवं स्वागत के लिए उठ खड़ा होना आदि अनुभाव होते हैं।।६०।।

२५—व्यत्यस्तगतिकम्पाक्षिमीलनास्रादयोऽग्निजे।
वातजेऽङ्गावृतिक्षिप्रागतिदृङ्मार्जनादयः।।६१।।
२६—वृष्टिजोधावनच्छत्रगात्रसंकोचनादिकृत्।
उत्पाते मुखवैवर्ण्यविस्मयोत्कम्पितादयः।।६२।।
२७—गाजे पलायनोत्कम्पत्रासपृष्ठेक्षणादयः।
अरिजो वर्म्मशस्त्रादिग्रहापसरणादिकृत्।।६३।।

● *अनुवाद—१. अप्रिय वस्तु—जन्य* आवेग में पृथ्वी पर गिरना, चीत्कार करना तथा चक्कर लगाना आदि होते हैं। २. *अग्नि—जनित* आवेग में अस्तव्यस्त चाल, कम्प, आँखों का बन्द होना और अश्रुओं का बहना आदि लक्षण होते हैं। ३. *वायु—जनित* आवेग में शरीर को ढकना, तेजी से चलना, आँखों को पोंछना आदि लक्षण होते हैं। ४. *वर्षा—जनित* आवेग में दौड़ना, छाता लेना एवं शरीर का संकोच आदि अनुभाव होते हैं। ५. *उत्पात—जनित आवेग* में मुख की विवर्णता, आश्चर्य तथा कम्पन आदि अनुभाव होते हैं। ६. *गज (हाथी) जनित* आवेग में भागना, कांपना, त्रास तथा बार—बार पीछे देखना आदि लक्षण होते हैं। ७. *शत्रु—जनित* आवेग में कवच धारण करना,शस्त्र

धारण करना तथा घर छोड़कर दूसरे स्थान पर चले जाना इत्यादि अनुभाव होते हैं।।६१–६३।।

आगे सब प्रकार के आवेगों के उदाहरण का उल्लेख करते हैं–

प्रियदर्शनजो, यथा–

३७–प्रेक्ष्य वृन्दावनात्पुत्रमायान्तं प्रस्नुतस्तनी।
संकुला पुलकैरासीदाकुला गोकुलेश्वरी।।६४।।

प्रियश्रवणजो, यथा श्रीदशमे (१०।२३।१८)–

३८–श्रुत्वाच्युतमुपायान्तं नित्यं तद्दर्शनोत्सुकाः।
तत्कथाक्षिप्तमनसो बभूवुर्जातसंभ्रमाः।।६५।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*श्रुत्वेति यज्ञपत्नीनां वर्णनम्।।६५।।*

● *अनुवाद–प्रियदर्शन–जनित* आवेग का उदाहरण; पुत्र श्रीकृष्ण को वृन्दावन से आया देखकर माता यशोदा के स्तनों में दूध टपकने लगा तथा सारा शरीर रोमांचित हो उठा।।६४।।

प्रियश्रवण–जनित आवेग का उदाहरण श्रीभागवत (१०।२३।१८) में; जिनका मन पहले से ही श्रीकृष्ण–कथाओं को सुनकर उनमें लगा हुआ था तथा उनके दर्शनों के लिए उत्कण्ठित रहती थीं, श्रीकृष्ण के निकट वन में आने की बात सुनकर उनके दर्शनों के लिए वे याज्ञिक ब्राह्मण–पत्नियाँ व्याकुल हो उठीं।।६५।।

अप्रियदर्शनजो, यथा–

३९–किमिदं किमिदं किमेतदुच्चैरितिघोरध्वनिघूर्णिता लपन्ती।
निशि वक्षसि वीक्ष्य पूतनायास्तनयं भ्राम्यति संभ्रमाद्यशोदा।।६६।।

अप्रियश्रवणजो, यथा–

४०–निशम्य पुत्रं त्रुटतोस्तटान्ते महीजयोर्मध्यगमूर्ध्वनेत्रा।
आभीरराज्ञी हृदि संभ्रमेण विद्धा विधेयं न विदांचकार।।६७।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*किमिदमित्यादाविति लपन्तीत्यन्वयः।।६६।। निशम्येत्यस्य घटना रौद्रे रसे (४।५।१०) उत्तिष्ठ मूढ इत्यत्र कार्या।।६७।।*

● *अनुवाद*–रात्रि में स्वप्न में अपने पुत्र श्रीकृष्ण को पूतना की छाती पर देखकर श्रीयशोदा जी– 'यह क्या ? यह क्या ?' इस प्रकार उच्च स्वर में चीत्कार करते–करते उसे क्या करना है–यह कुछ न स्थिर कर सकीं और व्याकुल होकर घूमने लगीं।।६६।।

अप्रिय श्रवण–जनित आवेग का उदाहरण; मेरा पुत्र श्रीकृष्ण यमुना तटस्थित गिरे हुए यमलार्जुन वृक्षों के बीच में घिर गया है, यह बात सुनते ही नन्दरानी श्रीयशोदा घबड़ा गईं, उनकी आँखें ऊपर को चढ़ गईं तथा किंकर्तव्यविमूढ़ हो गईं।।६७।।

अग्निजो, यथा–

४१–धीर्व्यग्राऽजनि नः समस्त सुहृदां त्वां प्राण रक्षामर्णि
गव्या गौरव... सम्भिक्ष निविड़े सिद्धस्तम्भर्वणे।

वह्निः पश्य शिखण्डशेखरखरं मुञ्चन्नखण्डध्वनिं
दीर्घाभिः सुरदीर्घिकाऽम्बुलहरीमर्च्चिर्भिराचामति।।६८।।

वातजो, यथा–

४२–म्पांशुप्रारब्धकेतौ बृहदटविकुटोन्माथिशौटीर्यपुञ्जे
भाण्डीरोद्दण्डशाखाभुजततिषु गते ताण्डवाचार्यचर्याम्।
वातव्राते करीषंकषतरशिखरे शार्करे झात्करिष्णौ
क्षोण्यामप्रेक्ष्य पुत्रं व्रजपतिगृहिणी पश्य संबम्भ्रमीति।।६६।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*गव्या गोसमूहः।।६८।। पांश्वित्यादि खेचराणामुक्तिः, शार्कर इति "सिकताशर्कराभ्यां चे'ति" मत्वर्थीयाण्प्रत्ययाच्छर्करावतीत्यर्थः।।६६।।*

● *अनुवाद–अग्नि–जनित आवेग* का उदाहरण; हे मोरमुकुटधारी कृष्ण! इस आग को देखो, निरन्तर भयंकर शब्द करता हुआ लम्बी–लम्बी ज्वालाओं से स्वर्गंगा के जल की लहरों का पान कर रहा है। इसको देखकर हम घबड़ा रहे हैं और वन में विचरण करने वाला गौओं का समुदाय समस्त सुहृदों के प्राणों के रक्षामणि के समान आपको गौरव से देखता हुआ आपके चारों ओर इकट्ठा हो गया है।।६८।।

वातज–आवेग का उदाहरण; (तृणावर्त्त असुर के द्वारा बालकृष्ण को आकाश में उड़ा लाया हुआ देखकर देवतागण आपस में कहने लगे)–देखो, धूलि की ध्वजा उड़ाने वाली, विस्तीर्ण वन के वृक्षों को उखाड़ डालने वाली, भाण्डीर वन की शक्तिशाली ऊँची–ऊँची शाखारूप भुजाओं को नचाने में आचार्यत्व को प्राप्त करने वाली, मिट्टी से भरी हुई तथा झांए–झांए शब्द करती हुई प्रचण्ड आंधी के रूप में उठे हुए वायुवेग में अपने पुत्र श्रीकृष्ण को न देखकर नन्दराज गृहिणी यशोदाजी व्याकुल होकर घूम रही हैं।।६६।।

वर्षजो, यथा श्रीदशमे (१०।२५।११)–

४३–अत्यासारातिवातेन पशवो जातवेपनाः।
गोपा गोप्यश्च शीतार्ता गोविन्दं शरणं ययुः।।७०।।

यथा वा, ४४–सममुरुकरकाभिर्दन्तिशुण्डासपिण्डाः
प्रतिदिशमिह गोष्ठे वृष्टिधाराः पतन्ति।
अजनिषत युवानोऽप्याकुलास्त्वं तु बालः
स्फुटमसि तदगारान्मा स्म भूर्निर्यियासुः।।७१।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*अगारादिति तत्रैव वृष्टिप्राप्तौ गोवर्द्धनपर्यन्तगमनं तु पुनर्भाण्डीरमापिता इतिवत्।।७१।।*

● *अनुवाद*–श्रीभागवत (१०।२५।११) में *वृष्टि–जनित* आवेग का उदाहरण; अत्यन्त जोरदार वर्षा धारा और तीव्र वायु के कारण गौएँ कांपने लगीं अतिशय शीत से दुःखी होकर गोप और गोपियाँ श्रीकृष्ण की शरण में आये।।७०।।

दूसरा उदाहरण; गोकुल में चारों ओर बड़े–बड़े ओलों के साथ हाथी की सूँड़ बराबर मोटी मोटी जलधारा बरस रही है जिससे नवयुवक भी घबड़ा रहे हैं। कृष्ण! तुम तो छोटे बालक हो, इसलिए घर से बाहर मत निकलो।।७१।।

उत्पातजो, यथा–

४५–क्षितिरतिविपुला टलत्यकस्मादुपरि घुरन्ति च हन्त घोरमुल्काः।
मम शिशुरहिदूषितार्कपुत्रीतटमटतीत्यधुना किमत्र कुर्याम्।।७२।।

गाजो, यथा–

४६–अपसरापसर त्वरया गुरुर्मुदिरसुन्दर हे ! पुरतः करी।
म्रदिमवीक्षणतस्तव नश्चलं हृदयमाविजते पुरयोषिताम्।।७३।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*अटति अधुनैवाटितवानित्यर्थः टल ट्वलवैक्लव्य इति धातुगणः, उल्का इत्यनेनाकालेऽपि सूर्यग्रहणं ध्वनितं येनान्धकारे दिनेऽपि ता दृश्यन्ते घुर भीमार्तशब्दयोरिति धातुगणः।।७२।।*

● *अनुवाद–उत्पात–जनित* आवेग का उदाहरण; (यशोदाजी घबड़ाकर कह रही हैं)–अकस्मात् यह विशाल पृथ्वी काँप रही है, ऊपर आकाश में भयंकर उल्काएँ भ्रमण कर रही हैं, मेरा बालक कृष्ण इस समय कालिय विष से दूषित यमुना तट पर विचरण कर रहा है; हाय ! मैं क्या करूँ ?।।७२।।

गज–जनित आवेग का उदाहरण; (मथुरा में कंस के रंगस्थल में श्रीकृष्ण को कुबलियापीड़ हाथी के पास देखकर मथुरा की नागरी कहने लगीं)–हे घनश्याम सुन्दर ! हट जाओ, दूर हट जाओ, सामने तुम्हारे महा भयानक हाथी है। तुम्हारी मृदु विलोकन को देखकर हमारा चित्त तुम्हारे लिए भय से कांप रहा है।।७३।।

२८–गजेन दुष्टसत्त्वोऽन्योऽप्यश्वादिरुपलक्ष्यते।।७४।।

४७–चण्डांशोस्तुरगान् सटाऽग्रनटनैराहत्य विद्रावयन्
द्रागन्धंकरणः सुरेन्द्रसुदृशां गोष्ठोद्धुतैः पांशुभिः।
प्रत्यसीदतु मत्पुरः सुररिपुर्गर्वान्धमर्वाकृति–
द्राघिष्ठे मुहुरत्र जाग्रति भुजे व्यग्राऽसि मातः ! कथम् ?।।७५।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*"सत्त्वमस्त्री तु जन्तुष्वित्यमरनानाऽर्थाद् दुष्टसत्त्व इत्युक्तम्।।७४।। चण्डांशोरित्यद्ध' मातृवचनानुवादः, गर्वान्धमिति क्रियाया विशेषणं, कर्तृधर्मस्यापि तस्य तस्यामुपचारात्, स च तत्प्रत्यासदनस्य मदेनातिवैक्लव्यंविवक्षया, द्राघिष्ठे ततोऽपि दीर्घतमे, मुहुर्जाग्रति तद्विधासुरदमनाय सावधाने सतीत्यर्थः, सर्वारिष्टहरेऽत्रेति वा पाठः।।७४।।*

● *अनुवाद*–उपर्युक्त गज–शब्द के उपलक्ष्य में अन्य पशु आदि दुष्ट प्राणियों को भी समझ लेना चाहिए।।७४।।

जैसे कि यहाँ अश्वाकृति केशी दानव के विषय में कहा गया है। केशी दानव को देखकर अति भयभीता माता यशोदा के प्रति श्रीकृष्ण ने कहा, अपने कपोलों–कन्धे के बालों को नचाने से सूर्य के घोड़ों को भी मारकर भगा देने वाले, और गोकुल गोष्ठ से अपने खुरों से उड़ाई हुई धूलि से देवराज इन्द्र की रानियों को भी अन्धा कर देने वाले इस अश्वाकृति दानवराज को मेरे पास तक आने तो दो, मेरी विशाल भुजाओं के रहते, हे माता ! आप क्यों घबड़ा रही हैं ? मेरी भुजाएँ उसको मारने के लिए सावधान हैं।।७५।।

अरिजो, यथा ललितमाधवे (२।२६)–

४८–स्थूलस्तालभुजोन्नतिर्गिरितटीवक्षाः क्व यक्षाधमः
क्वायं बालतमालकन्दलमृदुः कन्दर्पकान्तः शिशुः।
नास्त्यन्यः सहकारितापटुरिह प्राणी न जानीमहे
हा गोष्ठेश्वरि ! कीदृगद्य तपसां पाकस्तवोन्मीलति।।७६।।

यथा वा तत्रैव (५।४०)–

४६–सप्तिः सप्ती रथ इह रथः कुञ्जरः कुञ्जरो मे
तूणस्तूणो धनुरुत धनुर्भोः कृपाणी कृपाणी।
का भीः का भीरयमयमहं हा त्वरध्वं त्वरध्वं–
राज्ञः पुत्री बत हृतहृता कामिना बल्लवेन।।७७।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*रथ इह रथ इति धनुरुत धनुरिति च; न द्विरुक्तिः किन्त्वन्यस्यान्यस्य वचनम्।।७७।।*

● *अनुवाद*–ललितमाधव नाटक (२।२६) में शत्रु–जनित आवेग का उदाहरण; (शंखचूड़ यक्ष को देखकर भयभीत हुई मुखरा इस प्रकार बोली)–हाय ! विशाल मोटे तालवृक्ष के समान जिसकी लम्बी–मोटी भुजायें हैं, एवं पहाड़ के समान जिसकी छाती है, ऐसा यह यक्षाधम शंखचूड़ कहाँ ? और नवीन तमाल के अंकुर की तरह कोमल कन्दर्पकान्ति यह शिशु–कृष्ण कहाँ ? यहाँ ऐसा और कोई नहीं है जो इस यक्ष के साथ युद्ध करने में इस बालकृष्ण की सहायता करे ? हे गोकुलेश्वरी ! न जाने, आज तुम्हारी किस तपस्या का फल उदय हो रहा है ?।।७६।।

दूसरा उदाहरण; (श्रीकृष्ण द्वारा रुक्मिणी का हरण देखकर जरासन्ध आदि राजागण अपने सेवकों को कहने लगे)–अरे ! घोड़ा लाओ घोड़ा, रथ लाओ रथ, मेरा हाथी लाओ, तरकश लाओ तरकश, धनुष देना धनुष, अरे कटारी लाओ कटारी, डरते क्यों हो, डरते क्यों हो ? यह लो मैं आ गया, जल्दी करो जल्दी करो। वह कामी गोप (श्रीकृष्ण) राजकन्या (रुक्मिणी) का अपहरण किये जा रहा है।।७७।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–उक्त उदाहरण में एक बात विवेचनीय है, वह यह कि शत्रुओं से श्रीकृष्ण के दुःख की आशंका कर भक्तों के चित्त में जो आवेग का उदय है, वह आवेग ही व्यभिचारि भाव होगा। यहाँ जिस आवेग का उदाहरण दिया गया है वह है जरासन्धादि राजाओं का आवेग। वे श्रीकृष्ण के भक्त नहीं वल्कि द्वेषी हैं। शत्रुओं के आवेग का यहाँ व्यभिचारि भाव के उदाहरण रूप में क्यों उल्लेख किया गया है ? यह वास्तविक व्यभिचारि भाव नहीं हो सकता; इसका उत्तर श्रीगोस्वामिपाद अगली कारिका में देते हैं–

२६–आवेगाभास एवायं पराश्रयतयाऽपि चेत्।
नायकोत्कर्षबोधाय तथाऽप्यत्र निदर्शितः।।७८।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*आवेगेत्युत्तरत्र वाक्यं नायकोत्कर्षं बोधयति; तथाविधाः*

कृत्वा नायकपक्षीयैर्जिता इति श्रवणात्, भक्तानां हर्षेण रतिरुद्दीप्ता स्यादित्येतदर्थमित्यर्थः।।७८।।

● *अनुवाद*—उपर्युक्त श्लोक (७७) में जो आवेग वर्णित है, वह आवेग का आभास है, (आवेग नहीं) क्योंकि यह आवेग पराश्रय है अर्थात् शत्रुगण इसके आश्रय हैं, जिनमें कृष्णरति नहीं है। तथापि नायक—श्रीकृष्ण के उत्कर्ष का बोध कराने के लिए यहाँ इसका उल्लेख किया गया है।।७८।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—उक्त श्लोक के द्वारा नायक श्रीकृष्ण का उत्कर्ष कैसे जाना जाता है ?—श्रीजीवगोस्वामि कहते हैं कि जरासन्धादि राजाओं ने रथ लाओ, हाथी लाओ इत्यादि कहकर और लेकर जो कुछ भी किया सो किया, किन्तु युद्ध में नायक श्रीकृष्ण की विजय हुई और शत्रुपक्ष पूरी तरह पराजित हो गया। यह बात सुनकर आनन्दवश भक्तों के ह्रदय में श्रीकृष्ण—विषयिणी रति जाग्रत होती है। पहले जरासन्धादि की ललकार को सुनकर एवं श्रीकृष्ण को शत्रुओं के सम्मुख हुआ जानकर भक्तों के चित्त में भयजनित आवेग नामक व्यभिचारि भाव का उदय हो सकता है, किन्तु श्रीकृष्ण की विजय—कथा को सुनकर उनमें आनन्द और रति का उच्छ्वास उदित होता ही है। अतः उसे आवेग का आभास ही बताकर इस प्रसंग में निरूपण किया गया है।।

अथ उन्मादः (११)—

३०—उन्मादो ह्रद्भ्रमः प्रौढानन्दापद्विरहादिजः।।७६।।
३१—अत्राट्टहासो नटनं संगीतं व्यर्थचेष्टितम्।
प्रलापधावनाक्रोशविपरीतक्रियादयः।।८०।।

● *अनुवाद*—अतिशय आनन्द, विपत्ति एवं विरह से जो ह्रदय का भ्रम या क्षोभ है, उसे *'उन्माद'* कहते हैं।।७६।।

इस उन्माद में अट्टहास, नटन (नाचना), गाना, व्यर्थ—चेष्टा, प्रलाप, भागना, चिल्लाना और विपरीत क्रियादि अनुभाव होते हैं।।८०।।

तत्र प्रौढानन्दाद्यथा कृष्णकर्णामृते—

५०—राधा पुनातु जगदच्युतदत्तचित्ता मन्थानकं निदधती दधिरिक्तपात्रे।
यस्याः स्तनस्तवकचञ्चललोचनालिर्देवोऽपि रुद्धह्रदयो धवलं दुदोह।।८१।।

आपदो, यथा—

५१—पशूनपि कृताञ्जलिर्नमति मान्त्रिका इत्यलं
तरूनपि चिकित्सका इति विषौषधं पृच्छति।
ह्रदं भुजगभैरवं हरिहरि प्रविष्टे हरौ
व्रजेन्द्रगृहिणी मुहुर्भ्रममयीमवस्थां गता।।८२।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*पशूनपीति। कृताञ्जलि इति अत्र पूर्वेषु प्रश्नस्तद्बलपराभवाय; उत्तरेषु प्रश्नस्तद्विषनाशनायेति ज्ञेयम्।।८२।।*

● *अनुवाद—अतिशय—आनन्द जनित* उन्माद का उदाहरण श्रीकृष्णकर्णामृत में; अच्युत श्रीकृष्ण में चित्त समर्पित होने के कारण जो दधिरहित मटुकी में

दही विलोने के लिए रई को घुमा रही हैं, और जिसके स्तन कुसुम गुच्छों में अपने नेत्रों को भ्रमर के समान विन्यस्त किये हुए श्रीकृष्ण भी धवल नामक बैल का दूध दोहने में प्रवृत्त हो रहे हैं, वह श्रीराधा जगत् को पावन करें। (यहाँ श्रीराधा तथा श्रीकृष्ण दोनों की परस्पर दर्शन आनन्द के कारण चित्त विभ्रमवश उन्माद अवस्था का वर्णन किया गया है जिससे दोनों विपरीत क्रिया में लगे हुए हैं)।।८१।।

आपद–जनित उन्माद का उदाहरण; श्रीकृष्ण के कालियनाग–दह में प्रवेश कर जाने पर व्रजराज गृहिणी श्रीयशोदा बार–बार भ्रममय अवस्था को प्राप्त कर पशुओं को भी सांप का विष उतारने वाले यान्त्रिक जानते हुए हाथ जोड़कर उन्हें नमस्कार कर रही हैं और वृक्षों को चिकित्सक मानकर उनसे विष की औषध पूछ रही हैं।।८२।।

विरहाद्यथा श्रीदशमे (१० ।३० ।४)–

५२–गायन्त्य उच्चैरमुमेव संहता विचिक्युरुन्मत्तकवद्वनाद्वनम्।
पप्रच्छुराकाशवदन्तरं बहिर्भूतेषु सन्तं पुरुषं वनस्पतीन्।।८३।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*गायन्त्य उच्चैरित्यत्र त्वेवमेवोन्मादो योजनीयः, पुरुषं स्वनायकंपप्रच्छुः, पञ्च भूतेषु स्थावरजंगमेष्वाकाशवदन्तरं बहिश्च सन्तं साक्षादिव सत्तया स्फुरन्तं पप्रच्छुः, तादृशस्फूर्तिश्च तासां प्रेमविलसविशेषादेव (भा० १० ।३५ ।६) "वनलतास्तरव आत्मनि विष्णुं व्यञ्जयन्त्य"* इतिवत्, *तत्र बहिः स्फुरण दूरतः, अन्तस्तु निकटात्, तत्र सत्युन्मादवृत्त्यानिन्द्रियेष्वपि प्रश्नो योग्य इति।।८३।।*

● *अनुवाद*–श्रीमद्भागवत (१० ।३० ।४) में *विरह–जनित* उन्माद का उदाहरण; (शारदीय रासरजनी में रासस्थली से भगवान् श्रीकृष्ण के अन्तर्हित हो जाने पर व्रजगोपीगण विरह–व्याकुल होकर इस प्रकार विचरण करने लगीं)–गोपीगण मिलकर उच्चस्वर से श्रीकृष्ण–कथा का गान करते–करते एक वन से दूसरे वन उन्मत्त यक्ति की तरह भ्रमण करती हुई श्रीकृष्ण को ढूँढ़ने लगीं। आकाश की भाँति समस्त भूतों के अन्तर–बाहिर जो व्याप्त हैं, उन परमपुरुष श्रीकृष्ण का पता वनस्पतियों–वृक्षों से पूछने लगीं।।८३।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–प्रेमविलास वश श्रीव्रजगोपियों को तो सर्वत्र आकाशवत् श्रीकृष्ण की स्फूर्ति हो रही थी; उनके दूर रहने पर जब स्फूर्ति होती तो उनके लिए वही बहिःस्फूर्ति थी और जब वे निकट रहते तो उनके लिए अन्तस्फूर्ति होकर श्रीकृष्ण प्रतिभात होते थे। वृक्ष–वनस्पतियों की कोई इन्द्रियाँ नहीं हैं, फिर भी उनसे प्राणवल्लभ का पता पूछना–यह उनका विरहजनित–उन्माद है।

३२–उन्मादः पृथगुक्तोऽयं व्याधिष्वन्तर्भवन्नपि।
यत्तत्र विप्रलम्भादौ वैचित्रीं कुरुते पराम्।।८४।।
३३–अधिरूढे महाभावे मोहनत्वमुपागते।
अवस्थाऽन्तरमाप्तोऽसौ दिव्योन्माद इतीर्य्यते।।८५।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*तत्र तेषु व्याधिषु, तेषां मध्य इत्यर्थः।।८४।।*

● *अनुवाद*—व्याधि के अन्तर्भुक्त होते हुए भी यहाँ उन्माद का पृथक् रूप से उल्लेख किया गया है। श्रीकृष्णविरह—जनित विप्रलम्भादि में यह उन्माद परम वैचित्री धारण करता है और अधिरूढ़ महाभाव में मोहनत्व को प्राप्त कर दूसरी अवस्था को प्राप्त करता है जिसे 'दिव्योन्माद मोहनाख्य' भाव कहा जाता है।।८४—८५।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—व्याधि नामक व्यभिचारि भाव (जिसका आगे वर्णन करेंगे) का भी एक अनुभाव या लक्षण है उन्माद। किन्तु यह उन्माद स्वयं एक व्यभिचारि भाव है। अतः इसका यहाँ पृथक् रूप से वर्णन किया गया है। किन्तु यह उन्माद दिव्योन्माद से पृथक् है। दिव्योन्माद मोहनाख्य—महाभाव का अनुभाव है।

प्रेम का सर्वोपरि स्तर है—महाभाव, जो एकमात्र व्रजगोपियों में अधिष्ठित है। उस महाभाव के दो भेद हैं—'रूढ़—महाभाव' तथा 'अधिरूढ़—महाभाव'। महाभाव की प्रथमावस्था का नाम है रूढ़—महाभाव। जब महाभाव रूढ़भाव की अपेक्षा भी किसी एक अनिर्वचनीय वैशिष्ट्य को धारण करता है, तब उसे 'अधिरूढ़—महाभाव' कहते हैं। अधिरूढ़ भी फिर दो प्रकार का है—'मोदन' तथा 'मादन' वह। श्रीकृष्ण से विच्छेद—अवस्था में 'मोदन'—नाम से प्रसिद्ध है। मोदनाख्य महाभाव में विरहजनित विवशता के कारण समस्त सात्त्विक—भाव सुदीप्त रूप में प्रकाशित होते हैं। उस मोदन—भाव का एक अनुभाव है दिव्योन्माद। मोदन महाभाव की विशेष वैचित्री है वह उन्माद जो दिव्य अर्थात् अप्राकृत है। वह केवल मात्र श्रीराधाजी में ही उदित होता है।

अथ अपस्मारः (१२)—

३४—दुःखोत्थो धातुवैषम्याद्युद्भूतश्चित्तविप्लवः।
अपस्मारोऽत्र पतनं धावनास्फोटनभ्रमाः।
कम्पः फेनस्रुतिर्बाहुक्षेपोऽथ क्रोशनादयः।।८६।।

यथा, ५३—फेनायते प्रतिपदं क्षिपते भुजोर्म्मि
माघूर्णते लुठति कूजति लीयते च।
अम्बा तवाद्य विरहे चिरमम्बुराज—
वेलेव वृष्णितिलक ! व्रजराजराज्ञी।।८७।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*आस्फोटनं सम्यगंगव्यथा।।८६।।*

फेनायत इति। श्रीराधायाः संदेशः, "वेला स्यात्तीरनीरयोरित्यमरः"। व्रजे राजते या राज्ञी सेत्यर्थः।।८७।।

● *अनुवाद*—दुःख से उत्पन्न धातु की विषमता के कारण चित्त के विप्लव (विकार) को *'अपस्मार'* (अपस्मृति) कहते हैं। इस अपस्मार में भूमि पर गिरना, दौड़ना, शरीर का फटने लगना, भ्रम, कम्प, मुँह से झाग निकलना, हाथ—पैर फेंकना तथा चिल्लाना आदि अनुभाव होते हैं।।८६।।

उदाहरण; (मथुरा में श्रीकृष्ण के पास श्रीराधाजी ने संवाद भेजा कि)—हे यदुकुल—भूषण ! आपकी माता व्रजराज—रानी यशोदाजी आपके चिरकाल व्यापी विरह में कातर होकर समुद्र के जल के समान झाग वमन कर रही हैं, हर क्षण भुजारूपी तरंगों को फेंक रही हैं, कभी चक्कर काटती और कभी पृथ्वी पर लुण्ठन करती हैं, कभी चिल्लाती और कभी मूर्च्छित हो जाती हैं।।८७।।

यथा वा, ५४—श्रुत्वा हन्त हतं त्वया यदुकुलोत्तंसात्र कंसासुरं
दैत्यस्तस्य सुहृत्तमः परिणतिं घोरां गतः कामपि।
लालाफेनकदम्बचुम्बितमुखप्रान्तस्तरंगद्भुजो
घूर्णन्नर्णवसीम्नि मण्डलतया भ्राम्यन्न विश्राम्यति।।८८।।

३५—उन्मादवदिह व्याधिविशेषोऽप्येष वर्णितः।
परां भयानकाभासे यत्करोति चमत्कृतिम्।।८६।।

● *अनुवाद*—अपस्मार का दूसरा उदाहरण, हे यदुकुल—भूषण ! आपके द्वारा कंसासुर के मारे जाने का समाचार सुनकर उसके परममित्र दैत्य को कुछ अपूर्व भयंकर अवस्था हो गई। उसके मुख से झाग निकल रहे हैं, आँखें बन्द होती जा रही हैं और समुद्र की मर्यादा के भीतर मण्डलाकार घूमता हुआ थोड़ी देर भी नहीं रुकता।।८८।।

व्याधि के अन्तर्भुक्त होने पर भी उन्माद का जैसे पृथक् भाव से वर्णन किया गया है, उसी प्रकार व्याधि विशेष होते हुए भी अपस्मार का पृथक् रूप में वर्णन किया गया है। भयानक के आभास में यह परम चमत्कार प्रकाशित करता है।।८६।।

अथ व्याधिः (१३)

३६—दोषोद्रेकवियोगाद्यैर्व्याधयो ये ज्वरादयः।
इह तत्प्रभवो भावो व्याधिरित्यभिधीयते।
अत्र स्तम्भश्लथांगत्वश्वासोत्तापक्लमादयः।।६०।।

यथा, ५५—तव चिरविरहेण प्राप्य पीडामिदानीं—
दधदुरुजड़िमानि ध्यापितान्यंगकानि।
श्वसितपवनघाटीघट्टितध्राणवाटं—
लुठति धरणिपृष्ठे गोष्ठवाटीकुदुम्बम्।।६१।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*बलादाक्रमणं धाटीति क्षीरस्वामी। अत्र तु लक्षणया क्रमणमेवोच्यते, वाटः पन्थाः, अत्र तु घ्राणवाटेन नासिकोच्यते। गोष्ठवाटीति वाटो वास्तुभूमिः। वाटीति स्वल्पत्वविवक्षया।।६१।।*

● *अनुवाद*—वात—पित्त—कफरूप दोषों के उद्रेक तथा वियोगादि के कारण ज्वरादि जो रोग होते हैं, उन सबसे उत्पन्न भाव को ही यहाँ 'व्याधि' नाम से कहा गया है। इस व्याधि में स्तभ, अंगों की शिथिलता, श्वास, उत्ताप एवं क्लान्ति आदि अनुभाव होते हैं।।६०।।

उदाहरण; हे कृष्ण ! तुम्हारे दीर्घकालीन वियोग के कारण सब व्रजवासीगण अति पीड़ित हो रहे हैं, उनके समस्त अंग जड़ता को प्राप्त हो रहे हैं एवं प्रबल

उत्ताप से मानो जले जा रहे हैं, दीर्घ श्वासों से उनके नासिकामार्ग फटे जा रहे हैं। वे अस्थिर होकर पृथ्वी पर लुण्ठन कर रहे हैं।।६१।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—व्याधिनामक यह व्यभिचारि भाव वास्तव में वात–पित्त–कफ दोषों के विकार से उत्पन्न होने वाली कोई बीमारी नहीं है। ज्वरादि व्याधियों में जो विकारादि लक्षण प्रकाशित होते हैं, कृष्णसम्बन्धी व्यापारों में भक्तों में वे लक्षण प्रकाशित होते हैं। उनमें ज्वरादि व्याधि के बिना ही ये लक्षण उदित हो उठते हैं। ज्वरादि के प्रतिरूप या प्रतिबिम्बरूप विकारों को यहाँ 'व्याधि' नाम से अभिहित किया गया है। इसी प्रकार ही श्रीकृष्ण–सम्बन्धी भावों के उदित होने पर उन्माद रोग व अपस्मार रोग के लक्षण प्रकाशित होते हैं—वे वास्तविक रोग नहीं होते। उन्माद तथा अपस्मार को व्याधि अन्तर्गत भी इसलिए माना गया है क्योंकि उनके लक्षणों की परस्पर समता है।

अथ मोहः (१४)—

३७—मोहो हृन्मूढ़ता हर्षाद्विश्लेषादभयस्तथा।
विषादादेश्च तत्र स्याद्देहस्य पतनं भुवि।
शून्येन्द्रियत्वं भ्रमणं तथा निश्चेष्टतामयः।।६२।।

तत्र हर्षाद्यथा श्रीदशमे (१०।१२।४४)—

५६—इत्थं स्म पृष्टः स च बादरायणि—
स्तत्स्मारितानन्तहृताखिलेन्द्रियः।
कृच्छ्रात्पुनर्लब्धबहिर्दृशिः शनैः—
प्रत्याह तं भागवतोत्तमोत्तमम्।।६३।।

● *अनुवाद*—हर्ष, विरह, भय एवं विषादादि से चित्त की मूढ़ता—बोधशून्यता का नाम *'मोह'* है। इस मोह में पृथ्वी पर गिरना, इन्द्रियों की शून्यता (कार्य रहित हो जाना), चक्कर तथा चेष्टारहित हो जाना आदि अनुभाव होते हैं।।६२।।

श्रीमद्भागवत (१०।१२।४४) में *हर्षजनित—मोह* का उदाहरण; श्रीसूत जी ने कहा, महाराज परीक्षित् के श्रीकृष्ण—कथा की जिज्ञासा करने पर श्रीशुकदेव मुनिजी के हृदय में श्रीकृष्ण की अनन्त स्मृति जाग्रत हो उठी। उनकी समस्त इन्द्रियाँ हर्ष के कारण अपहृत हो गईं। व्यास—नारदादि द्वारा उच्च नामसंकीर्तन करने पर बहुत यत्न से फिर उनको बाह्यस्मृति प्राप्त हुई। तब वे धीरे—धीरे परम भागवत राजा परीक्षित् के प्रश्न का उत्तर देने लगे।।६३।। (श्रीकृष्ण—स्मृति के आनन्दवश श्रीशुकदेवजी में मोह व्यभिचारिभाव का उदय हुआ)।

यथा वा, ५७—निरुच्छ्वसितरीतयो विघटिताक्षिपक्ष्मक्रिया
निरीहनिखिलेन्द्रियाः प्रतिनिवृत्तचिद्वृत्तयः।
अवेक्ष्य कुरुमण्डले रहसि पुण्डरीकेक्षणं
व्रजाम्बुजदृशोऽभजन् कनकशालभञ्जीश्रियम्।।६४।।

विश्लेषाद्यथा हंसदूते—

५८—कदाचित्खेदाग्निं विघटयितुमर्न्तर्गातमसौ
सहालीभिर्लेभे तरलितमना यामुनतटीम्।

चिरादस्याश्चित्तं परिचितकुटीरावकलना–
दवस्थास्तस्तार स्फुटमथ सुषुप्तेः प्रियसखी।।६५।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*निरुच्छ्वसितेति। निर्गता उच्छ्वसितानां रीतयः प्रचारा याभ्यः, शालभञ्जी प्रतिमा।।६४।। अत्र कुटीरो लतागृहं तदवकलनात् सुषुप्तेस्तुल्यत्वात् प्रियसखीव याअवस्था मोहरूपा सा चित्तं तस्तार आच्छादितवती।।६५।।*

● *अनुवाद–हर्षजनित– मोह* का दूसरा उदाहरण; कुरुक्षेत्र में एकान्त स्थान पर कमलनयन श्रीकृष्ण के दर्शन कर अतिशय हर्षवश कमलनयना व्रजसुन्दरीगण का श्वास–प्रश्वास मानो बन्द हो गया, उनके पलक ठहर गये, उनकी समस्त इन्द्रियाँ चेष्टा–शून्य हो गईं और समस्त चित्तवृत्ति–चेतनता रहित हो गईं और वे सोने की मूर्ति की भाँति शोभित होने लगीं।।६४।।

विरहजनित–मोह का उदाहरण; श्रीकृष्ण के मथुरा चले जाने पर विरहाग्नि को दूर करने के लिए अस्थिर चित्त होकर श्रीराधाजी एक बार सखियों के साथ यमुना तट पर पहुँचीं। किन्तु वहाँ बहुत समय से पूर्व परिचित केलिकुञ्ज कुटीरों का दर्शन करते ही गाढ़ निद्रा की मोहरूपा प्रियसखी ने उनके चित्त को आच्छादित कर लिया, मोहग्रस्त हो गईं। आईं तो थीं विरहाग्नि को शान्त करने के लिए, किन्तु उनका विरह दुःख सौ गुना बढ़ गया।।६५।।

भयाद्यथा–

५६–मुकुन्दमाविष्कृतविश्वरूपं निरूपयन्वानरवर्यकेतुः।
करारविन्दात्पुरतः स्खलन्तं न गाण्डिवं खण्डितधीर्विवेद।।६६।।

विषादाद्यथा श्रीदशमे (१०।११।४६)–

६०–कृष्णं महाबकग्रस्तं दृष्ट्वा रामादयोऽर्भकाः।
बभूवुरिन्द्रियाणीव विना प्राणं विचेतसः।।६७।।

● *अनुवाद–भयजनित–मोह* का उदाहरण; श्रीकृष्ण के विश्वरूप का दर्शन कर कपिध्वज अर्जुन ऐसे मोह को प्राप्त हुए कि उनके हाथ से गाण्डीव धनुष गिर पड़ा, बुद्धि भ्रंश हो गई और कुछ न जान सके।।६६।।

श्रीमद्भागवत (१०।११।४६) में विषाद–जनित मोह का उदाहरण; श्रीकृष्ण को महा बकासुर द्वारा ग्रस्त देखकर श्रीबलरामादि बालकगण विषाद के कारण ऐसे बेसुध हो गये, जैसे प्राणहीन इन्द्रियाँ अचेतन हो जाती हैं।।६७।।

३८–अस्यान्यत्रात्मपर्यन्ते स्यात्सर्वत्रैव मूढता।
कृष्णस्फूर्तिविशेषस्तु न कदाऽप्यत्र लीयते।।६८।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*अस्य प्राप्तमोहस्य भगवद्भक्तस्य, कृष्णस्फूर्तिविशेषस्त्विति। स्वाश्रयं तं विना भावानामनवस्थितेः, तथाचोक्तं (भा० १०।१२।४४) "तत्स्मारितानन्त–हृताखिलेन्द्रिय" इति। किन्तु बहिर्वृत्तिलोपप्राधान्येन प्रलयो, मोहस्त्वन्तर्वृत्तिलोपप्राधान्येन ज्ञेयः। अतएव मोहो हृन्मूढतेत्यत्र हृत्छब्दो दत्तः। मुह वैचित्ते इति धातुबलादेव तदर्थतासिद्धेः।।६८।।*

● *अनुवाद*–कृष्ण–भक्त जब मोह को प्राप्त होता है, देह पर्यन्त सब विषयों की उसे विस्मृति हो जाती है, परन्तु कभी भी श्रीकृष्ण–स्फूर्ति विशेष भंग नहीं होती।।९८।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–व्यभिचारि भावमोह की यहाँ एक विशेषता को दिखाया गया है। कृष्ण–भक्त को मोह–भाव में अपने शरीर की तथा और भी समस्त विषयों की सुध–बुध नहीं रहती, परन्तु श्रीकृष्ण–स्फूर्ति नष्ट नहीं होती। क्योंकि कृष्ण स्फूर्ति ही मोहप्राप्त भगवद्भक्तों का स्वाश्रय होती है। उसके बिना भावनाओं की अवस्थिति असम्भव है। प्रलय नामक सात्त्विक–भाव (जिसका आगे वर्णन होगा) में बहिर्वृत्ति के लोप की प्रधानता का भी तात्पर्य यही है कि कृष्णस्फूर्ति–विशेष के अलावा और किसी विषय में अन्तर्वृत्ति की गति नहीं रहती।

अथ मृतिः (१५)–

३६–विषादव्याधिसंत्राससंप्रहारक्लमादिभिः।
प्रिाणत्यागो मृतिस्तस्यामव्यक्ताक्षरभाषणम्।
विवर्णगात्रताश्वासमान्द्यहिक्कादयः क्रियाः।।९९।।

यथा, ६१–अनुल्लासश्वासा मुहुरसरलोत्तानितदृशो
विवृण्वन्तः काये किमपि नववैवर्ण्यमभितः।
हरेर्नामाव्यक्तीकृतमलघुहिक्कालहरिभिः
प्रजल्पन्तः प्राणान् जहति मथुरायां सुकृतिनः।।१००।।

यथा वा, ६२–विरमदलघुकण्ठोद्घोषघुत्कारचक्रा
क्षणविघटितताम्यद्हष्टिखद्योतदीप्तिः।
हरिमिहिरनिपीतप्राणगाढान्धकारा
क्षयमगमदकस्मात्पूतना कालरात्रिः।।१०१।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*घुत्कारो घूकशब्दः।।१०१।।*

● *अनुवाद*–विषाद, व्याधि, त्रास, प्रहार एवं ग्लानि आदि द्वारा जो प्राणों का त्याग है, उसे *'मृति'* कहते हैं। इसमें अस्पष्ट वाक्य, शरीर का वैवर्ण्य, मन्द श्वास तथा हिचकी आदि क्रियायें (अनुभाव) प्रकाशित होते हैं।।९९।।

मृति का उदाहरण; पुण्यवान मथुरावासी लोगों की श्वास क्रिया मन्द पड़ गई है, उनकी दृष्टि टेढ़ी होकर बार–बार ऊपर को जा रही है, उनके शरीर चारों ओर से एक नये प्रकार की विवर्णता को धारण कर रहे हैं। वे अस्पष्ट रूप से हरिनाम उच्चारण कर रहे हैं, एवं लम्बी हिचकियाँ भरते हुए वे अपने प्राणों का त्याग कर रहे हैं।।१००।।

दूसरा उदाहरण; काल–रात्रि रूपा पूतना का प्राणरूप गाढ़ अन्धकार कृष्णरूप सूर्य के सामने आते ही नष्ट हो गया। उल्लू के शब्द के समान उसकी कण्ठ ध्वनि तथा खद्योत् के समान चमकने वाली दृष्टि तो क्षण काल में तिरोहित हो गई।।१०१।।

४०–प्रायोऽत्र मरणात्पूर्वा चित्तवृत्तिर्मृतिर्मता।
मृतिरत्रानुभावः स्यादिति केनचिदुच्यते।
किन्तु नायकवीर्यार्थं शत्रौ मरणमुच्यते।।१०२।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*प्रायइति प्रथममर्द्धं, मृतिरत्रेति द्वितीयं, किंत्विति तृतीयमित्येव क्रमः, तत्र प्राणत्यागस्य भावत्वाभावादपरितुष्यन्नाह–प्राय इति। मृतिः प्राणत्यागस्त्वत्रानुभावः स्यात्, केनचिदिति। स्वयमेवेत्यर्थः, तत्र च पूतनावर्णने विशेषादपरितुष्यन्नाह–किंत्विति।।१०२।।*

● *अनुवाद*–**प्रायः मृत्यु से पूर्ववर्त्तिनी जो चित्त की वृत्ति है, उसे ही यहां 'मृति' कहा गया है। कोई–कोई कहते हैं कि यहाँ मृति अनुभाव है। किन्तु नायक के पराक्रम के लिए शत्रु का ही मरण कहा गया है।।१०२।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–उपर्युक्त श्लोकों में जिस मृति का उल्लेख किया गया है, वह मृति–नामक व्यभिचारि भाव वास्तव मृत्यु या प्राणों का त्याग नहीं है। मरण से पहले जो चित्तवृत्ति प्रकाशित होती है, उसे ही मृति–भाव कहा गया है। 'कोई–कोई' शब्द से श्रीरूपगोस्वामी स्वयं ही अभिप्रेत हैं–ऐसा श्रीजीवगोस्वामी ने कहा है।

किन्तु श्रीकृष्ण के शत्रुओं के सम्बन्ध में तो वास्तव मरण का उल्लेख किया गया है। उससे नायक श्रीकृष्ण का पराक्रम ही प्रकाशित होता है। पूतना का उदाहरण मृति–व्यभिचारि भाव का नहीं है, क्योंकि कृष्णरति–जात भक्त में ही इन भावों का उद्‌गम होता है। शत्रुओं या कृष्ण के द्वेषीजन में नहीं। अतः जिस प्रकार आवेग के उदाहरण (श्लोक नं० ७७) में विवेचना की गई थी, उसी प्रकार यहाँ भी श्रीकृष्ण के केवल पराक्रम का दीखना ही यहाँ अभिप्रेत है।

श्रीउज्ज्वलनीलमणि में कहा गया है–'मृतेरध्यवसायोऽत्र वर्ण्यः साक्षादयं न हि।।४५।। यहाँ मरण का उद्यम मात्र ही वर्णनीय है, किन्तु साक्षात् मृत्यु वर्णनीय नहीं है। मृत्यु के लिए केवल अध्यवसाय अर्थात् उद्यम करना ही मृति–भाव है। मृति के प्रसंग में उज्ज्वलनीलमणि में केवल कृष्णकान्तागण का ही उदाहरण दिया गया है। यह स्मरणीय है कि श्रीकृष्ण–कान्तागण नित्य–सिद्धा हैं, वे जीवतत्त्व नहीं हैं। अतः उनकी मृत्यु तो सम्भव ही नहीं है, वे स्वरूपशक्ति की मूर्तविग्रह हैं। जो साधन–सिद्धा हैं, जीव–तत्त्व होते हुए भी उनका देह प्राकृत नहीं, अप्राकृत है। अतः उनके सम्बन्ध में भी प्राणत्याग या मृत्यु सम्भव नहीं है। अतः श्रीकृष्ण–विरह की उत्कट ज्वाला में कृष्णकान्ताओं का जो मरण हेतु उद्यम करना है, वही उद्यम ही 'मृति' भाव है।

रासप्रसंग में श्रीभागवत (१०।२६।६) में जो यह कहा गया है कि कुछ गोपियों को घर के भीतर बन्द कर दिया गया था। उहोंने श्रीकृष्ण का ध्यान करते–करते अपना गुणमय शरीर परित्याग कर दिया। तो क्या यह मृति नहीं है ?–इसका भी समाधान करते हुए कहा गया है कि उनके देह का गुणमयत्व ही नष्ट हुआ, देह नहीं। उनके देह ने चिन्मयता को प्राप्त किया और जाकर श्रीकृष्ण का संग प्राप्त किया। अतः उन साधनसिद्धा ऋषिचरी गोपियों की भी

मृत्यु नहीं हुई। मृत्यु के भावमात्र को वे प्राप्त हुईं; यही उनके पक्ष में मृति–नामक व्यभिचारि भाव है।

अथ आलस्यं (१६)–

४१–सामर्थ्यस्यापि सद्भावे क्रियाऽनुन्मुखता हि या।
तृप्तिश्रमादिसंभूता तदालस्यमुदीर्य्यते।।१०३।।
४२–अत्रांगभंगो जृम्भा च क्रियाद्वेषोऽक्षिमर्द्दनम्।
शयासनैकप्रियता तन्द्रानिद्रादयोऽपि च।।१०४।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*सद्भावे आग्रहेण समुद्भावयितुं शक्यत्वे।।१०३।।*

● *अनुवाद*–तृप्ति एवं भ्रमवश सामर्थ्य रहते हुए भी जो कार्य में प्रवृत्ति–हीनता है, उसे *'आलस्य'* कहते हैं। इस आलस्य में शरीर टूटना, जम्भाई, कार्य के प्रति द्वेष, आँख मलना, केवल पलंग पर बैठे रहना, औंघाई आना तथा निद्रा आदि अनुभाव होते हैं।।१०३–१०४।।

तत्र तृप्तेर्यथा–

६३–विप्राणां नस्तथा तृप्तिरासीद्गोवर्द्धनोत्सवे।
नाशीर्वादेऽपि गोपेन्द्र ! यथा स्यात्प्रभविष्णुता।।१०५।।

श्रमाद्यथा–

६४–सुष्ठु निःसहतनुः सुबलोऽभूत्प्रीतये मम विधाय नियुद्धम्।
मोटयन्तमभितो निजमंगं नाहवाय सहसाह्वयतामुम्।।१०६।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*सुष्ठुत्यादौ निःसहत्वं किञ्चिदपि कर्तुमक्षमत्वम्, सहसाहूयतामुमित्येव पाठः। नियुद्धं बाहुयुद्धम्।।१०६।।*

● *अनुवाद–तृप्तिजनित–आलस्य का उदाहरण;* हे गोपेन्द्र ! गोवर्धन उत्सव में हम ब्राह्मणों की ऐसी तृप्ति हो गई कि हम आशीर्वाद करने में भी समर्थ नहीं हो सके।।१०५।।

श्रमजनित–आलस्य का उदाहरण; श्रीकृष्ण ने अपने सखाओं से कहा, हे सखागण ! मेरी प्रीति के लिए सुबल ने मेरे साथ बाहुयुद्ध किया है, श्रमवश अब वह युद्ध करने में समर्थ नहीं है। सब अंगों को मरोड़ रहा है। अतः उसे अब शीघ्र युद्ध–कुश्ती के लिए नहीं बुलाना।।१०६।।

हरिकृपा–बोधिनी टीका–व्रजगोपियों के पक्ष में आलस्य को व्यभिचारि भावों का साक्षात् अंग नहीं माना गया है। शक्ति रहते हुए भी अशक्ति की व्यञ्जना ही आलस्य है। किन्तु व्रजसुन्दरियों के पक्ष में कृष्ण–सेवादि में कभी भी वह सम्भव नहीं है। शक्ति–समर्थ रहते हुए वे कृष्ण–सेवा में कभी अशक्ति प्रकाशित नहीं कर सकतीं। श्रीप्रीतिसन्दर्भ में कहा गया है कि श्रम के कारण तथा श्रीकृष्ण से भिन्न अन्य सम्बन्धी क्रिया विशेष में ही भक्तों में आलस्य हो सकता है। कृष्ण–विषयक किसी भी काम में कृष्ण–भक्तों को कभी आलस्य हो ही नहीं सकता।

अथ जाड्यम् (१७)–

४३–जाड्यमप्रतिपत्तिः स्यादिष्टानिष्टश्रुतीक्षणैः।
विरहाद्यैश्च तन्मोहात्पूर्वावस्था पराऽपि च।
अत्रानिमिषता तूष्णींभावविस्मरणादयः।।१०७।।

तत्र इष्ट श्रुत्या यथा श्रीदशमे (१०।२१।१३)–

६५–गावश्च कृष्णमुखनिर्गतवेणुगीत–
पीयूषमुत्तभितकर्णपुटैः पिबन्त्यः।
शावाः स्नुतस्तनपयः कवलाः स्म तस्थु–
र्गोविन्दमात्मनि दृशाश्रुकलाः स्पृशन्त्यः।।१०८।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*अप्रतिपत्तिर्विचारशून्यता, तत् जाड्यं, मोहवत् पूर्वावस्था पराप्यवस्था यथा तादृशीत्यर्थः, तस्य स्वतन्त्रत्वात्।।१०७।।*

● *अनुवाद*–इष्ट तथा अनिष्ट वस्तु के देखने, उसके सम्बन्ध में सुनने से और विरह के कारण जो विचार–शून्यता है, उसे 'जाड्य' कहते हैं। यह मोह की पूर्वावस्था तथा परे की अवस्था है। इसमें पलकों का न झपकना, चुपचाप रहना तथा विस्मरणादि अनुभाव प्रकाशित होते हैं।।१०७।।

श्रीमद्भागवत (१०।२१।१३) में *इष्ट श्रवण–जनित जाड्य का उदाहरण;* (बछड़े गौओं का दूध पान कर रहे थे कि इतने में श्रीकृष्ण की वेणुध्वनि कान में पड़ी)–गौएँ अपने कानरूपी दोनों को उठाकर कृष्णमुखः निःसृत वेणुगीत सुधा का पान करते हुए स्थिर हो गईं और बछड़ों के मुँह में जो दूध था, वे उसे निगल न सके, मुख से वह दूध बाहर आने लगा और निश्चल होकर खड़े रह गये। उन सबने नेत्रों द्वारा श्रीगोविन्द को अपंने मन में आकर्षित कर लिया और उनका मानो आलिंगन कर जड़वत् हो गये। उनके नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी।।१०८।।

अनिष्टश्रुत्या यथा–

६६–आकलय्य परिवर्तितगोत्रां केशवस्य गिरमर्पितशल्याम्।
विद्धधीरधिकनिर्निमिषाक्षी लक्ष्मणा क्षणमवर्तत तूष्णीम्।।१०६।।

इष्टेक्षणेन यथा श्रीदशमे (१०।७१।४०)–

६७–गोविदं गृहमानीय देवदेवेशमादृतः।
पूजायां नाविदत् कृत्यं प्रमोदोपहतो नृपः।।११०।।

● *अनुवाद–अनिष्ट श्रवण–जनित जाड्य का उदाहरण;* लक्ष्मणा नाम की यूथेश्वरी में मान उत्पन्न करने के लिए उसको सुनाकर श्रीकृष्ण ने लक्ष्मणा नाम की बजाय उसकी एक प्रतिपक्ष वाली यूथेश्वरी का नाम उच्चारण किया। श्रीकृष्ण के वे वचन लक्ष्मणा को बरछी की तरह लगे और उसकी बुद्धि मानो बहुत अधिक रूप से घायल हो गई। उसके पलक ठहर गये और कुछ समय के लिए वह चुपचाप निश्चल हो खड़ी रह गई।।१०६।।

श्रीमद्भागवत (१०।७१।४०) में *इष्टदर्शन–जनित जाड्य का उदाहरण;* राजा युधिष्ठिर देवदेवेश श्रीगोविन्द को घर में ले आये। अतिशय आनन्द के

कारण बुद्धि लुप्त हो गई और उनकी पूजा आदि करना सब भूल गये।।११०।।

अनिष्टेक्षणेन यथा तत्रैव (१०।३६।३६)–

६८–यावदालक्ष्यते केतुर्यावद्रेणू रथस्य च।
अनुप्रस्थापितात्मानो लेख्यानीवोपलक्षिताः।।१११।।

विरहेण यथा–

६९–मुकुन्द ! विरहेण ते विधुरिताः सखायश्चिरा–
दलंकृतिभिरुज्झिता भुवि निविश्य तत्र स्थिताः।
स्खलन्मलिनवाससः शबलरूक्षगात्रश्रियः
स्फुरन्ति खलदेवलद्विजगृहे सुरार्च्चा इव।।११२।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*शबलं मलदूषितं। देवाजीवी तु देवलः।।११२।।*

● *अनुवाद*–श्रीमद्भागवत (१०।३६।३६) में *अनिष्टदर्शन–जनित जाड़्य का उदाहरण;* (श्रीकृष्ण अक्रूर के साथ रथ पर चढ़कर मथुरा जा रहे हैं। व्रजगोपीगण दुःखित होकर खड़ी–खड़ी रथ को देख रही हैं)–जब तक रथ की पताका तथा रथ की उड़ाई धूलि दीखती रही, तब तक गोपीगण चित्र–लिखित पुतली की तरह निश्चल होकर खड़ी रहीं।।१११।।

'विरह–जनित जाड़्य' का उदाहरण; हे मुकुन्द ! खलस्वभाव देवल ब्राह्मण के घर में अवस्थित देवता–मूर्ति की तरह आपके सखागण आपके चिरविरह में अलंकारों रहित फटे हुए ढीले–ढीले वस्त्र धारण किये हुए, धूल–धूसरित एवं रूखे शरीर वाले होकर पृथ्वी पर पड़े रहे।।११२।।

अथ व्रीडा (१८)–

४४–नवीनसंगमाकार्यस्तवावज्ञादिना कृता।
अधृष्टता भवेद् व्रीडा तत्र मौनं विचिन्तनम्।
अवगुण्ठनभूलेखौ तथाऽधोमुखतादयः।।११३।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*अधृष्टताऽत्र धृष्टाताविरोधी भावः।।११३।।*

● *अनुवाद*–नवसंगम, अकार्य (निन्दित कर्म), स्तव तथा अवज्ञा आदि के कारण जो अधृष्टता (धृष्टता–विरोधी भाव) उत्पन्न होता है, उसे 'व्रीडा' कहते हैं। उस *व्रीडा* (लज्जा) में मौन, चिन्ता, मुख ढकना, भूमिलेखन तथा नीचे करना आदि अनुभाव होते हैं।।११३।।

तत्र नवीनसंगमेन, यथा पद्यावल्याम् (१६८)–

७०–गोविन्दे स्वयमकरोः सरोजनेत्रे
प्रेमान्धा वरवपुरर्पणं सखि ! त्वम्।
कार्प्पण्यं न कुरु दरावलोकदाने
विक्रीते करिणि किमङ्कुशे विवादः।।११४।।

अकार्येण यथा–

७१–त्वमवागिह मा शिरः कृथा वदनं च त्रपया शचीपते !।
नय कल्पतरुं न चेच्छचीं कथमग्रे मुखमीक्षयिष्यसि।।११५।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*विक्रीत इति। यथा तस्मिन् विक्रीतेऽप्यंकुशदाने विवादः क्रियते किं तथाऽत्र किं क्रियते नैवेत्यर्थः।।११४।। त्वमवागिति श्रीकृष्णस्य वाक्यं, शिरोऽवाक् नम्रीभूतं, वदनञ्चावाक् वचनरहिम्।।११५।।*

● *अनुवाद—पद्यावली में नवसंगम—जनित ब्रीडा का उदाहरण;* हे पंकजनेत्रे ! हे सखि ! प्रेमान्ध होकर तुमने अपने आप ही श्रीगोविन्द को अपना सुन्दर शरीर अर्पण किया है, अब उनकी ओर थोड़ा देखने में कृपणता नहीं करना; हाथी को बेच देने पर अंकुश के लिए विवाद का क्या प्रयोजन ?।।११४।।

अकार्य—जनित ब्रीडा का उदाहरण; (सत्यभामा सहित जब श्रीकृष्ण स्वर्ग से पारिजात का वृक्ष उखाड़ कर ले आये, तब इन्द्र ने आकर युद्ध किया। परास्त एवं लज्जित होकर इन्द्र ने श्रीकृष्ण की स्तुति की। तब व्यंग्यपूर्वक श्रीसत्यभामा ने कहा)—

अहो शचीपते ! लज्जावश तू अपने मुख को क्यों झुकाये हुए है ? कुछ बोलते क्यों नहीं हो ? यह पारिजात ले ही जाओ, वरना शची को कैसे मुख दिखाओगे ?।।११५।।

स्तवेन यथा—

७२—भूरिसादगुण्यभारेण स्तूयमानस्य शौरिणा।
उद्धवस्य व्यरोचिष्ट नम्रीभूतं तदा शिरः।।११६।।

अवज्ञया यथा, हरिवंशे सत्यादेवीवाक्यं—

७३—वसन्तकुसुमैश्चित्रं सदा रैवतकं गिरिम्।
प्रिया भूत्वाऽप्रिया भूता कथं द्रक्ष्यामि तं पुनः।।११७।।

● *अनुवाद—'स्तव—जनित ब्रीडा'* का उदाहरण; श्रीकृष्ण जब अनेक प्रकार के बहुत सद्गुणों को कहते हुए श्रीउद्धव की प्रशंसा करने लगे, तब लज्जा से श्रीउद्धव का मुख झुक गया और अपूर्व शोभा धारण करने लगा।।११६।।

अवज्ञा—जनित ब्रीडा का उदाहरण हरिवंश में; सत्यभामा ने कहा—रैवतक पर्वत सर्वदा वसन्त—कुसुमों से सुसज्जित रहता है, ठीक है, परन्तु जब मैं प्रिया होकर अप्रिया बन गई हूँ तो फिर मैं कैसे उस पर्वत को देखूँ ? (पहले तो श्रीकृष्ण की प्रिया थी, अब अप्रिया हूँ। उन्होंने अवज्ञा कर रखी है, फिर मैं वहाँ कैसे जाऊँ ?)।।११७।।

अथ अवहित्था (१६)—

४५—अवहित्थाकारगुप्तिर्भवेद्भावेन केनचित्।।११८।।
४६—अत्रांगादेः पराभ्यूहस्थानस्य परिगूहनम्।
अन्यत्रेक्षा वृथाश्चेष्टा वाग्भंगीत्यादयः क्रियाः।।११९।।

तथा चोक्तम्—

७४—अनुभावपिधानार्थोऽवहित्थं भाव उच्यते।।१२०।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*केनचिद्भावेन भावपारवश्येन हेतुनाकारस्य गोप्यभावानुभावस्य गुप्तिः कृत्रिमभावान्तरेणाच्छादनरूपया सम्वरणं यस्मिन्*

स तद्गुप्तीच्छारूपो भावोऽवहित्येत्यर्थः ।।११८ ।। अनुभावेति अनुभावपिधानार्थो भावोऽवहित्थमुच्यत इत्यन्वयः ।।१२० ।।

● *अनुवाद*–किसी भाव के कारण आकार का छिपाना 'अवहित्था' कहलाती है। इसमें भाव प्रकाशक अंग आदिक का छिपाना, दूसरी ओर देखना, वृथा चेष्टा तथा वाग्भंगी आदि अनुभाव होते हैं।।११८–११६।।

और भी कहा गया है कि स्थायि–भाव से उत्थित अश्रु–कम्पादिरूप अनुभावों को छिपाने के लिए जिसका प्रयोजन होता है, उस बनावटी भाव को ही *'अवहित्था'* कहते हैं।।१२०।।

तत्र जैह्म्येन यथा श्रीदशमे (१० ।३२ ।१५)–

७५–सभाजयित्वा तमनंगदीपनं–सहासलीलेक्षणविभ्रमभ्रुवा।
संस्पर्शनेनांककृताङ्घ्रिहस्तयोः संस्तुत्य ईषत्कुपिता बभाषिरे।।१२१।।

दाक्षिण्येन यथा–

७६–सात्राजितीसदनसीमनि पारिजाते
नीते प्रणीतमहसा मधुसूदनेन।
द्राघीयसीमपि विदर्भभुवस्तदेर्ष्यां–
सौशील्यतः किल न कोऽपि विदाम्बभूव।।१२२।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*जैह्म्येन मतिकौटिल्येन हेतुना ।।१२१ ।।*

● *अनुवाद*–श्रीमद्भागवत (१० ।३२ ।१५) में जैह्म्य अर्थात् *कौटिल्य–जनित अवहित्था* का उदाहरण इस प्रकार कहा गया है–(रासस्थली से अन्तर्हित होने के बहुत देर बाद जब श्रीकृष्ण पुनः व्रजसुन्दरियों के बीच आये, तो उन्होंने श्रीकृष्ण को आसन पर बैठाया। व्रजसुन्दरियाँ श्रीकृष्ण के साथ विहार करने के लिए उत्सुक हो रही थीं, किन्तु अपनी उस उत्सुकता को गोपन करते हुए वे जिस अवस्था में थीं उसका श्रीशुकदेव मुनि वर्णन कर रहे हैं)–हे राजन् ! व्रजसुन्दरीगण हास्ययुक्त लीलावलोकन एवं कुटिल भ्रुभंगी से कामवर्द्धक श्रीकृष्ण का सम्मान करते हुए उनके हस्त एवं चरणों को अपनी गोद में रखकर सम्मर्दन या स्पर्श करने लगीं तथा उनके कर–चरणों की गुणमहिमा की प्रशंसा करते हुए थोड़ी कुपित होकर श्रीकृष्ण से पूछने लगीं। (यहाँ जो कोप है, वह कुटिलता पूर्वक है और अपनी विहार–उत्कण्ठा को छिपाने के लिए है।।१२१।।

'दाक्षिण्य–जनित अवहित्था' का उदाहरण; अति प्रसन्न होकर श्रीकृष्ण जब सत्राजित कन्या सत्यभामा के महल–प्रांगण में पारिजात वृक्ष लेकर पहुँचे तो विदर्भराजकन्या रुक्मिणी को बहुत भारी ईर्ष्या उदित हुई, परन्तु सुशील स्वभाव के कारण (उसने उस ईर्ष्या भाव को ऐसा गोपन किया कि) कोई भी उसे जान न सका।।१२२।।

ह्रिया यथा प्रथमे (१ ।११ ।३२)–

७७–तमात्मजैर्दृष्टिभिरन्तरात्मना दुरन्तभावाः परिरेभिरे पतिम्।
निरुद्धमप्यास्रवदम्बु नेत्रयोर्विलज्जतीनां भृगुवर्य ! वैक्लवात्।।१२३।।

जैह्म्यह्रीभ्यां यथा–

७८–का वृषस्यति तं गोष्ठभुजंगं कुलपालिका।
दूति ! यत्र स्मृते मूर्तिर्भीत्या रोमाञ्चिता मम।।१२४।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*वृषस्यति कामयते, लक्ष्मणं सा वृषस्यन्तीतिवत्, कुलस्त्री, कुलपालिका।।१२४।।*

● *अनुवाद*–श्रीमद्भागवत (१।११।३३) में ह्रिया अर्थात् *लज्जा–जनित अवहित्था* का उदाहरण; (आनर्तदेश से लौटकर द्वारकापुरी में प्रवेश करते समय महिषीगण के आचरण की कथा श्रीसूतजी कह रहे हैं)–हे भृगुवर्य ! महिषीगण का भाव अति दुर्ज्ञेय है। दूर से आये हुए पतिदेव के दर्शन से पहले ही उन्होंने मन द्वारा उनका आलिंगन किया; फिर दृष्टिगोचर होने पर दृष्टि द्वारा उन्हें ह्रदय में ले जाकर आलिंगन किया। निकट आने पर फिर पुत्रों का उन्हें आलिंगन कराकर स्वयं आलिंगन सुख का अनुभव किया। लज्जावश यद्यपि वे अपने अश्रुओं को रोक रही थीं, तथापि विवशतावश वे छलक ही पड़े।।१२३।।

कुटिलता एवं लज्जा–जनित अवहित्था का उदाहरण; श्रीकृष्ण द्वारा भेजी गई दूती के प्रति व्रजगोपी कहती है–हे दूति ! उस गोष्ठभुजंग अर्थात् गोष्ठ–लम्पट श्रीकृष्ण की कौन कुलवती रमणी कामना करती होगी ? जिसकी स्मृति के उदित होने के भय से मेरा शरीर रोमाञ्चित हो उठा है।। (यहाँ कुटिलता या बनावटी भय–जनित लज्जा को प्रकाशित किया गया है)।।१२४।।

सौजन्येन यथा–

७९–गूढा गाम्भीर्य्यसम्पद्भिर्मनोगह्वरगर्भगा।
प्रौढाऽप्यस्या रतिः कृष्णे दुर्वितर्का परैरभूत्।।१२५।।

गौरवेण यथा–

८०–गोविन्दे सुबलमुखैः सम सुह्रद्भिः
स्मेरास्यैः स्फुटमिह नर्म निर्मिमाणे।
आनम्रीकृतवदनः प्रमोदमुग्धो–
यत्नेन स्मितमथ संववार पत्री।।१२६।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*सौजन्येनेति। दाक्षिण्यमतेः कारणं सारल्यं, सौजन्यं तु धैर्यलज्जादियुक्तत्वमित्यनयोर्भेदः। मनोगह्वरगर्भगा अत्यन्तगुप्ता या रतिः सा प्रौढापि गाम्भीर्यसम्पद्भिर्गूढ़ा सती दुर्वितर्काऽभूत।।१२५।।*

● *अनुवाद–सौजन्य–जनित अवहित्था* का उदाहरण; श्रीकृष्ण के प्रति श्रीराधा की प्रौढ़ रति होते हुए भी वह रति गाम्भीर्य सम्पद (धैर्य–लज्जादि) के द्वारा श्रीराधा की मनरूपी गुहा में गर्भगामिनी–अति गुप्त होकर रहती है, जिससे और कोई उसे लक्ष्य नहीं कर पाता।।१२५।।

गौरव–जनित अवहित्था का उदाहरण; हँसते हुए सुबल प्रमुख सुह्रद्गण के साथ श्रीगोविन्द स्पष्ट–भाव से नर्म परिहास कर रहे थे, परन्तु पत्री–नामक उनका सेवक अतिशय आनन्द से मुग्ध हो उठा, किन्तु मुख नीचा कर उसने

यत्नपूर्वक हास्य का सम्बरण कर लिया। (अपने स्वामी श्रीकृष्ण के सामने पत्री सेवक ने गौरव के कारण हँसी को गोपन किया है)।।१२६।।

४७–हेतुः कश्चिद्भवेत् कश्चिद्गोप्यः कश्चन गोपनः।
इति भावत्रयस्यात्र विनियोगः समीक्ष्यते।।१२७।।
४८–हेतुत्वं गोपनत्वं च गोप्यत्वं चात्र सम्भवेत्।
प्रायेण सर्वभावानामेकशोऽनेकशोपि च।।१२८।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*हेतुरिति। यथा सभाजयित्वेत्यादौ (२।४।१२१) हेतुरसूयामयजैह्म्यं, तच्च स्वगिरैवाभिव्यक्तं दोषः स्यादिति मतिकौटिल्यं, तच्च तादृशभ्रूविलासेनैवात्र व्यक्तं, गोप्योऽसूयामयामर्षः स च ईषत्कुपितेत्यनेन व्यक्तः, गोपयन्त्यनेति गोपनः; स चात्र संस्तवसंस्पर्शाभ्यां प्रत्यायितं हर्षवैकल्यम्, सहासादित्वं च जैह्म्यमयमपि तदिव प्रत्याययति, सर्वत्र गोपनानुभावःकृत्रिम एव, गोपनभावस्तु मृगतृष्णाजलवत्प्रतीतिमात्रशरीरः तस्मादस्य गोपनत्वमपि प्रातीतिकमेव किन्त्वनुभावस्यैव वास्तवत्वमिति ज्ञेयम्। सात्राजितीत्यादौ (२।४।१२२) मतिमयं दाक्षिण्यं हेतुः, तदत्र तस्याः प्रसिद्धमिति नोक्तम्, ईर्ष्या गोप्या, इयं च शब्दलब्धा, सौशील्यं तु कृतिमसुष्ठुव्यवहारः तत्प्रत्यायितो हर्षाभासो गोपनः। तमात्मजैरित्यादौ (२।४।१२३) विलज्जाः हेतुः, दुरन्तभावोऽत्र सम्भोगाख्यो रसो गोप्यो, गोपनस्त्वश्रुनिरोधेन प्रत्यायितो धृत्याभासः; तथाऽप्यश्रुस्रवो गोपन आत्मज द्वारा परिरम्भणेन सम्भोगरसावरकः पत्युचितमैत्रीमात्रात्मकः, तत्र पाठव्युत्क्रमेणार्थक्रमश्चायं–प्रथमं दृष्टिभिस्ततोऽन्तरात्मना तत आत्मजैः परिरेभिरे इति। का वृषस्यतीत्यादौ (२।४।१२४) जैह्म्यमपि तस्याः स्वाभाविकमिति हेतुरेव गोप्यो हर्षः, वचनमात्राभाषिता भीतिर्गोपनी। गूढेत्यादौ (२।४।१२५) सौजन्यं हेतुर्गम्यः। गोविन्द इत्यादौ (२।४।१२६) गौरवं हेतुः, यत्नमात्राभाविता धृतिर्गोपनी, चापलं गोप्यमिति।।१२८।।*

● ***अनुवाद*–अवहित्था में *कोई भाव 'हेतु' होता है; कोई भाव 'गोप्य' होता है और कोई भाव* 'गोपन' होता है। इस प्रकार अवहित्था में तीनों का विनियोग दीखता है। प्रायः समस्त भावों का ही एकरूप में हेतुत्व, गोप्यत्व तथा गोपनत्व सम्भव है।।१२७–२८।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–हेतु, गोप्य तथा गोपन इन तीन शब्दों से क्या अभिप्रेत है ? उसका विवेचन करते हैं–चित्त के जिस भाव को अवहित्था या छिपाने की चेष्टा की जाती है, वह है, *'गोप्य'*–भाव। जैह्म्य या कुटिलता, दाक्षिण्य लज्जा आदि में जब जिस भाव के उदय या आवेश से चित्तस्थित भाव को गोपन करने की चेष्टा की जाती है, तब उसको *'हेतु'*–भाव कहते हैं। और जिस आचरण के द्वारा चित्तस्थित भाव को छिपाने की चेष्टा की जाती है, उसको अर्थात् उस आचरण द्वारा जिस भाव को दिखाने की चेष्टा की जाती है, उसे कहते हैं *'गोपन'*–भाव। इन तीनों में गोप्य–भाव तथा हेतु–भाव तो सत्य या प्राकृत होते हैं, परन्तु गोपन–भाव कृत्रिम–बनावटी या कपटतामय होता है। गोपन द्वारा जिस भाव को प्रकाशित करने की चेष्टा की जाती है, वह भाव

वास्तव में चित्त में उदित नहीं होता, उस भाव के अनुरूप आचरण मात्र ही किया जाता है प्राकृत गोप्यभाव छिपाने के लिए।

पूर्वोद्धृत उदाहरणों के उल्लेखपूर्वक श्रीजीवगोस्वामीजी ने विषय को परिष्कृत करने की जो चेष्टा की है, उसका तात्पर्य इस प्रकार है–

श्लोक सं० १२१ ''सभाजयित्वा'' में जैह्मय 'हेतु' है। यहाँ कुटिलता वाणी द्वारा प्रकाशित नहीं की गई, क्योंकि वाणी द्वारा उसको प्रकाशित करने पर दोष होता; इसलिए मति कौटिल्य द्वारा उसे प्रकाशित किया गया है। वह उस प्रकार के भ्रूविलास द्वारा व्यक्त हुआ है। और 'गोप्य' भाव है असूयामय क्रोध जो 'ईषत् कुपिता' पद से व्यक्त हुआ है। उसके बाद कर–चरण के संस्पर्श तथा प्रशंसादि द्वारा जो हर्षमय विकलता प्रकाशित करने की चेष्टा की गई है, वह है 'गोपन'। श्लोकस्थ 'सहासलीलेक्षण'–इत्यादि कौटिल्यमय होते हुए भी उसके द्वारा हर्ष विकलता प्रदर्शित की गई है। गोपन–भाव सर्वत्र कृत्रिम होता है अर्थात् दृश्यमान आचरण के द्वारा जो भाव दिखाने की चेष्टा होती है, वह कृत्रिम है। गोपन–भाव मृगतृष्णा जल की तरह प्रतीति मात्र होता है। इसलिए उसका गोपनत्व भी प्रातीतिक होता है, किन्तु अनुभाव का अर्थात् गोप्य–भाव का वास्तव्य होता है।

श्लोक सं० १२२ ''सात्रजिती सदन'' इत्यादि में मतिमय दाक्षिण्य 'हेतु' है। 'गोप्यभाव' है ईर्ष्या और सौशील्य है कृत्रिम सुन्दर व्यवहार और उसके द्वारा प्रत्यायित (विश्वास दिलाने की चेष्टा) हर्षाभास है 'गोपन'।

श्लोक सं० १२३ ''तमात्मजैर्दृष्टिभिः'' में विलज्जा है 'हेतु' जो 'विलज्जतीनाम्' शब्द से सूचित हो रही है। ''दुरन्तभावाः'' शब्द से सम्भोग रस की सूचना मिलती है, जो 'गोप्यभाव' है। और अश्रु–निरोध द्वारा प्रत्यायित धृति–आभास है 'गोपन'। तथापि अश्रुओं का गिरना (आचरण) है 'गोपन'। आत्मज द्वारा आलिंगन है सम्भोग रस का आवरक, प्रत्युचित मैत्रीमात्रात्मका।

श्लोक सं० १२४ ''का वृषस्यति'' इत्यादि में कौटिल्य उसका स्वाभाविक होने से 'हेतु' है। रोमाञ्च द्वारा सूचित 'हर्ष' है 'गोप्य–भाव' तथा भीति है 'गोपन'। केवल शब्दों में ही भय का प्रकाश किया है, वास्तविक भय उदित नहीं हुआ।

श्लोक सं० १२५ ''गूढ़ा गाम्भीर्य'' इत्यादि में सौजन्य है 'हेतु' प्रौढ़ारति है 'गोप्यभाव' और गाम्भीर्य है गोपन–भाव।

श्लोक सं० १२६ ''गोविन्दे सुबलमुखैः'' में गौरव है 'हेतु', प्रमोद–मुग्धत्व से उत्पन्न होने वाला चापल्य है 'गोप्य–भाव' तथा यत्नपूर्वक प्रत्यायित धृति है 'गोपन–भाव'।

अथ स्मृतिः (२०)–

४६–या स्यात् पूर्वानुभूतार्थप्रतीतिः सदृशेक्षया।
दृढाभ्यासादिना वाऽपि सा स्मृतिः परिकीर्तिता।
भवेदत्र शिरःकम्पो भ्रूविक्षेपादयोऽपि च।।१२६।।

तत्र सदृशेक्षया यथा–

८१–विलोक्य श्याममम्भोदमम्भोरुहविलोचना।
स्मारं स्मारं मुकुन्द ! त्वां स्मारं विक्रममन्वभूत।।१३०।।

दृढ़ाभ्यासेन यथा–

८२–प्रणिधानविधिमिदानीमकुर्वतोऽपि प्रमादतो हृदि मे।
हरिपदपंकजयुगलं क्वचित् कदाचित् परिस्फुरति।।१३१।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*प्रतीतिरत्रानुसंधानम्।।१२६।। प्रमादतस्तद्धेतोरुपद्रवत; उपद्रवादिति वा पाठः।।१३१।।*

● *अनुवाद*–सदृश या समान वस्तु के देखने से अथवा दृढ़ अभ्यास के कारण पूर्व अनुभूत अर्थ की जो प्रतीति एवं ज्ञान है, उसको 'स्मृति' कहते हैं। इस स्मृति में सिर हिलाना तथा भ्रु–विक्षेपादि अनुभाव होते हैं।।१२६।।

सदृशवस्तु दर्शन–जनित स्मृति का उदाहरण; हे मुकुन्द ! कमलनयना श्रीराधा श्यामवर्ण के मेघ को देखकर बार–बार आपको स्मरण कर कन्दर्प–आक्रमण का अनुभव करने लगी थीं।।१३०।।

दृढ़–अभ्यास–जनित स्मृति का उदाहरण; इस समय भगवच्चरणारविन्द में चित्त संयोग के लिए कुछ भी चेष्टा न करने पर भी प्रमादवश–असावधानता के समय भी श्रीहरि के चरणयुगल किसी भी स्थान पर, किसी भी समय मेरे हृदय में स्फुरित हो उठते हैं।।१३१।।

अथ वितर्कः (२१)–

*५०–विमर्शात् संशयादेश्च वितर्कस्तूह उच्यते।
एष भ्रूक्षेपणशिरोऽङ्गुलिसञ्चालनादिकृत्।।१३२।।*

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*विमर्शो हेतुपरामर्शः यथा पर्वतोऽयं वह्निमान् धूमादिति, संशयः कोटिद्वयं स्पृशन्निर्णेतुमशक्तं ज्ञानं यथा स्थाणुर्वा पुरुषो वेति, आदिग्रहणात्तस्मिंस्तद्बुद्धिरूपो विपर्यासो यथा शुक्तौ रजतमिदय्यति, तस्मात्तस्माच्चेति तत्तदनन्तरं य ऊहो वस्तुनस्तत्त्वविनिर्णयाय विचारः, स वितर्क उच्यत इत्यर्थः, तत्र हेतुपरामर्शानन्तरं विचारो व्याप्तिग्रहणं, यथा धूमपरामर्शानन्तरं यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निर्यथा महानसमिति, तस्माद्वह्निमानित्येतल्लक्षणो निर्णयोऽत्र ज्ञेयः, संशयानन्तरं तु विचारो हेतुपरामर्शः, तथा विपर्यासानन्तरं च स क्वचिद्दृश्यत इति।।१३२।।*

● *अनुवाद*–विमर्श अर्थात् हेतु–परामर्श और संशयादि से जो ऊह है, अर्थात् वस्तु के तत्त्व निर्णय के लिए किया जाने वाला जो विचार है, उसे *'वितर्क'* कहते हैं। इसमें भ्रुक्षेप, सिर तथा अंगुलियों का सञ्चालन अनुभाव होते हैं।।१३२।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–किसी कार्य के कारण को निर्णय करने लिए जो चिन्ता भावना है, उसे 'विमर्श' या 'हेतु–परामर्श' कहा जाता है, जैसे पर्वत पर धुँआँ को देखने से उसका कारण अग्नि का निर्णय किया जाता है। एक वस्तु के समान होने पर, वह वास्तविक क्या है ? उसके निर्णय करने में जो असामर्थ्य है,

जैसे स्थाणु को देखकर यह स्थाणु है कि पुरुष ?—इस प्रकार के ज्ञान को *संशय* कहते हैं। 'आदि'—शब्द से अभिप्रेत है—एक वस्तु को दूसरी वस्तु जान लेना, जैसे सीपी में चाँदी का भ्रम। विमर्श तथा संशय से जो ऊह अर्थात् वस्तु के तत्त्व निर्णय के लिए जो विचार उत्पन्न होता है, उसे *'वितर्क'* कहते हैं। प्रत्यक्षाद्यात्मक निर्णय को भी 'वितर्क' कहा जाता है।

तत्र विमर्शाद्यथा विदग्धमाधवे—

८३—न जानीषे मूर्ध्नश्च्युतमपि शिखण्डं यदखिलं
न कं वेपन्माल्यं कलयसि पुरस्तात्कृतमपि।
तदुन्नीतं वृन्दावनकुहरलीलाकलभ हे !
स्फुटं राधानेत्रभ्रमरवरवीर्योन्नतिरियम्।।१३३।।

संशयाद्यथा—

८४—असौ किं तापिञ्छो न हि यदमलश्रीरिह गतिः
पयोदः किंवाऽयं न यदिह निरंको हिमकरः।
जगन्मोहारम्भोद्‌धुरमधुरवंशीध्वनिनिरितो
ध्रुवं मूर्द्धन्यद्रेर्विधुमुखि ! मुकुन्दो विहरति।।१३४।।

५१—विनिर्णयान्त एवायं तर्क इत्यूचिरे परे।।१३५।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*न जानीष इति, अत्र व्याप्ति ग्रहणं पूर्वपूर्वानुभवेन ज्ञेयम्, उन्नीतमिति ज्ञाततया निर्देशस्तस्यावहित्थाखण्डनार्थमेव कृतो न तु वस्तुतः, तत्र च सति तदिदमस्येंगितान्निर्णेष्यत इति वितर्क एव पर्यवस्यति, एवमुत्तरत्रापि ध्रुवमित्यत्र च स एव, अत्र तु राधेति निर्णयः प्रकरणबलात्।।१३३।। असावित्यादि—विचारेण पूर्वं संशय एवासीदिति गम्यते, सोऽयं तापिञ्छो वा पयोदो वा मुकुन्दो वेति लक्षणो गम्यः, तापिञ्छस्य वात्यादिना दोलायमानतारूपा यत्किञ्चिद्‌गतिः प्रतीयतां नाम। इह तु अमलश्रीः स्पष्टैव गतिः, तथा पयोदे स्वतस्तदावृतत्वाच्च कलंकी हिमकरः संभवतु, इह तूभयथाऽपि निष्कलंकः स प्रतीयत इति न, स च स चेत्यर्थः।।१३५।।*

● *अनुवाद—विमर्श—जनित वितर्क' का उदाहरण;* मधुमंगल ने श्रीकृष्ण से कहा, हे बन्धो ! तुम्हारे मस्तक से तो समस्त मोरपुच्छ पृथ्वी पर गिर गये हैं, यह तुम्हें पता नहीं लगा और मैंने जो एकमात्र माला बनाकर तुम्हारे गले में डाली है, यह बात भी तुम नहीं जान पाये। अतएव हे वृन्दावनगुहा—विलासी मातंग ! मैंने निश्चित जान लिया है कि श्रीराधानेत्ररूप भ्रमरों की गुञ्जार के पराक्रम से तुम्हारी यह अवस्था हुई है।। (श्रीकृष्ण की विह्वलता देखकर मधुमंगल ने विचार पूर्वक उसका हेतु निर्णय करके ऐसा कहा है)।।१३३।।

संशय—जनित वितर्क का उदाहरण; हे सखि ! क्या यह तमाल वृक्ष है ?—न—न, तमाल वृक्ष की ऐसी निर्मल शोभा कैसे ? फिर यह तो चल रहा है। तो क्या यह मेघ है ? मेघ भी नहीं हो सकता, (मेघ के ऊपर जो चन्द्र होता है, वह तो सकलंक है) किन्तु इसके ऊपर तो निष्कलंक चन्द्र शोभित हो रहा है। (यह जो शब्द हो रहा है, क्या यह मेघ की गर्जना है ?—न—न,

मेघ की गर्जना त्रिभुवन को मुग्ध नहीं करती। तो फिर निश्चय ही) त्रिभुवन को अतिशय मोहित करने में समर्थ मधुर वंशीध्वनि ही गूँज रही है। हे चन्द्रवदने ! निश्चय ही गिरिराज की चोटी पर श्रीमुकुन्द ही विहार कर रहे हैं।।१३४।।

कोई-कोई कहते हैं कि निश्चय करने के बाद ही यह तर्क हुआ करता है।।१३५।।

चिन्ता (२२)-

५२-ध्यानं चिन्ता भवेदिष्टानाप्त्यनिष्टाप्तिनिर्मितम्।
श्वासाधोमुखभूलेखवैवर्ण्योन्निद्रता इह।
विलापोत्तापकृशतावाष्पदैन्यादयोऽपि च।।१३६।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका-*ध्यानमत्र विचारः, तच्च निजेष्टानाप्त्येत्यादि-लक्षणं चेच्चिन्ता कथ्यते, तदेवाह-ध्यानामित्यादिना।।१३६।।*

● *अनुवाद*-अभिलषित वस्तु की अप्राप्ति में और अनभिलषित वस्तु की प्राप्ति से जो ध्यान या विचार उत्पन्न होता है, उसे *'चिन्ता'* कहते हैं। चिन्ता में लम्बी श्वास, नीचे मुख करना, पृथ्वी पर लिखना, विवर्णता, निद्रा न आना, विलाप, जलन, दुर्बलता, अश्रु तथा दीनता-ये अनुभाव प्रकाशित होते हैं।।१३६।।

तत्र इष्टानाप्त्या यथा श्रीदशमे (१०।२९।२९)-

८५-कृत्वा मुखान्यवशुचः श्वसनेन शुष्य-
दबिम्बाधराणि चरणेन भुवं लिखन्त्यः।
अस्रैरुपात्तमषिभिः कुचकुंकुमानि
तस्थुर्मृजन्त्य उरुदुःखभराः स्म तूष्णीम्।।१३७।।

अथ वा-८६ अरतिभिरतिक्रम्य क्षामा प्रदोषमदोषधीः
कथमपि चिरादध्यासीना प्रघाणमघान्तक !।
विधुरितमुखी घूर्णत्यन्तः प्रसूस्तव चिन्तया
किमहह गृहं क्रीडालुब्ध ! त्वयाऽद्य विसस्मरे।।१३८।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका-*अदोषधीः तद्रूपत्वात् सर्वत्रापि स्निग्धस्वभावा किमुत त्वयीत्यर्थः, प्रधानालिन्दं गृहद्वाराग्रे लग्नवेदिकारूपम्, अत्र च नथकारस्य मूर्द्धन्यत्वमेव बहुनां मतम्।।१३८।।*

● *अनुवाद*-श्रीमद्भागवत में *अभिलषितवस्तु की अप्राप्तिजनित-चिन्ता का उदाहरण,* (शारदीय रासरजनी में वंशीसुनकर घर-परिवार को छोड़कर व्रजगोपियों के श्रीकृष्ण के निकट उपस्थित होने पर जब उन्होंने उन्हें घर वापस लौट जाने को कहा, तब कृष्ण-सेवा की अप्राप्ति का निश्चय कर व्रजगोपियों की जो अवस्था हुई, उसका श्रीशुकदेव मुनि वर्णन करते हुए कहते हैं)-महान् दुःख भाव से पीड़ित होकर एवं शोकवेग-जनित दीर्घ श्वास भरते हुई व्रजगोपियों के अधर सूख गये। वे वामचरण के अँगूठे से भूमि पर लिखने लगीं और काजल भरे अश्रुओं के प्रवाह से अपने वक्ष पर लगे कुंकुम को धोती हुई अवाक् रह गईं और नीचे को मुख करके खड़ी रहीं।।१३७।।

और भी कहा गया है, हे अघनाशक ! सर्वत्र स्निग्ध स्वभाव वाली श्रीयशोदा सायंकाल को तुम्हारे घर न पहुँचने के कारण दुःख से आक्रान्त, दुर्बल सी, मलिनमुख, मन में चिन्ता से व्याकुल होकर तुम्हारी प्रतीक्षा में घर के द्वार चबूतरे पर बैठी रहीं, अरे खेल के लोभी कृष्ण ! क्या घर को भूल गये ? ।।१३८।।

अनिष्टाप्त्या यथा–

> ८७–गृहिणि ! गहनयाऽन्तश्चिन्तयोन्निद्रनेत्रा
> स्नपय न मुखनद्म तप्तवाष्पप्लवेन।
> नृपपुरमनुविन्दन् गान्दिनेयेन सार्द्धं–
> तव सुतमहमेव द्राक् परावर्तयामि।।१३६।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*स्नपयेत्यादौ "ग्लपय न मुखपद्मं तप्तवाष्पप्लवेने" त्येव पाठः, द्राक् परावर्तयामीत्यत्रानिष्टशंका तु सर्वथा न कर्तव्या, गर्गादिवाक्यादिति भावः, तस्मादनिष्टमत्र कंसवधानन्तरं तत्रावस्थानमेव।।१३६।।*

● *अनुवाद*–श्रीव्रजराज नन्द बोले, हे गृहिणी यशोदे ! अतिशय अन्तश्चिन्ता में नेत्र फाड़े हुए तप्त अश्रुधारा में अपने मुखकमल को तुम ग्लानियुक्त मत करो। अक्रूर सहित राजपुरी मथुरा में जाकर मैं ही तुम्हारे पुत्र कृष्ण को शीघ्र ही लौटा लाऊँगा।।१३६।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में गर्गाचार्य यह कह ही गये थे कि मथुरा जाने पर श्रीकृष्ण के विषय में कुछ भी अनिष्ट की चिन्ता नहीं करना। परन्तु यहाँ कंस के मारने के बाद श्रीकृष्ण की मथुरा में अवस्थिति ही यशोदाजी के लिए अनभिलषित है और चिन्ता का कारण है।

अथ मतिः (२३)–

> *५३–शास्त्रादीनां विचारोत्थमर्थनिर्धारणं मतिः।।१४०।।*
> *५४–अत्र कर्तव्यकरणं संशयभ्रमयोश्छिदा।*
> *उपदेशश्च शिष्याणामूहापोहादयोऽपि च।।१४१।।*

● *अनुवाद*–शास्त्रादि के विचार से उत्पन्न अर्थ–निर्धारण या निश्चय को *'मति'* कहते हैं। इसमें कर्तव्य का करण या अनुष्ठान, शिष्यों को उपदेश तथा ऊहापोह–तर्क–वितर्कादि अनुभाव प्रकाशित होते हैं।।१४०–४१।।

यथा पाद्मे वैशाखमाहात्म्ये–

> ८८–व्यामोहाय चराचरस्य जगतस्ते ते पुराणागमा–
> स्तां तामेव हि देवतां परमिकां जल्पन्तु कल्पावधिः।
> सिद्धान्ते पुनरेक एव भगवान्विष्णुः समस्तागम–
> व्यापारेषु विवेचनव्यतिकरं नीतेषु निश्चीयते।।१४२।।

यथा वा श्रीदशमे (१०।६०।३६)–

८९–त्वं न्यस्तदण्डमुनिभिर्गदितानुभाव आत्मात्मदश्च जगतामिति मे वृतोऽसि।
हित्वा भवद्भ्रुव उदीरितकालवेगध्वस्ताशिषोऽब्जभवनाकपतीन्कुतोऽन्ये।।१४३।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*व्यामोहायेति। सर्वपुराणागमरूपमहावाक्यस्य सम्यग्विचारायोग्यपुरुषान् प्रति खण्डशो वदन्त्वित्यर्थः, यतः सिद्धान्त इत्यादि,*

व्यापाराः रूढ़यादिवृत्तयः। व्यतिकर आसंगस्तं नीतेषु तद्व्यापारेषु यः सिद्धान्तस्तस्मिन्नेक एव भगवान्निश्चीयते, चराचरा जंगमास्ते चात्र मनुष्या एव मनुष्याधिकारित्वात् शास्त्रस्य।।१४२।। त्वं न्यस्तेति। क्षीरोदमथनाचरितनिजचरितमनुसंधाय श्रीरुक्मिण्याह पूर्वपूर्वमेवेदं मया निश्चितमित्युपलक्षयितुं तत्र न्यस्तदण्डत्वंसर्वसंग सर्वाभिलाषरहितत्वं गमयति (गी० २।६२) संगात्संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायत इत्यादेः।।१४३।।

● *अनुवाद*–पद्मपुराण के वैशाख–माहात्म्य में समस्त पुराणागमरूप महाकाव्यों के विचार करने में योग्यताहीन व्यक्तियों के प्रति कहा गया है; चराचर जगत् अर्थात् मनुष्यों के विमोह उत्पादन के लिए किसी–किसी पुराण तथा आगम–तन्त्र–शास्त्र में भिन्न–भिन्न देवताओं की श्रेष्ठता वर्णन की गई है। वे समस्त पुराण–आगम कल्प पर्यन्त उस–उस देवता की श्रेष्ठता बखान करें तो करने दो, किन्तु यदि रूढ़ि आदि वृत्ति का आश्रय लेकर तर्क–वितर्क विचारादि किया जाय, तो निश्चय रूप से यह जाना जाता है कि वेदादि समस्त शास्त्रों में एक भगवान् श्रीविष्णु की आराधना की बात ही कही गई है।।१४२।।

श्रीमद्भागवत (१०।६०।३६) में श्रीकृष्ण के परिहास भरे वचनों को सुनकर कि वे श्रीरुक्मिणी को त्याग कर देंगे, वह मूर्च्छित हो गईं। (श्रीकृष्ण ने फिर अनेक वचनों से सान्त्वना दी। उस अवस्था में श्रीरुक्मिणी ने जो बातें कहीं उनमें से कुछ का उल्लेख करते हुए कहा गया है)–समस्त संग एवं समस्त अभिलाषाओं से रहित मुनिगण आपकी महिमा कीर्तन किया करते हैं, आप जगत् की आत्मा (प्रिय) हैं एवं जगत् में जो लोग आपका भजन करते हैं, उनको आप अपने तक को भी दान कर देते हैं; आपकी भ्रुकुटि–भंगी से उत्पन्न होने वाला जो काल है, उसके प्रभाव से ब्रह्मा एवं इन्द्र द्वारा दिया हुआ आशीर्वाद भी विध्वस्त हो जाता है अर्थात् उनका आशीर्वाद भी थोड़े काल तक रहने वाला है। इसलिए ब्रह्मा और इन्द्र को भी परित्याग करके मैंने आपको वरण करना किया है औरों की बात तो मैं क्या कहूँ ? (यहाँ शास्त्र–विचार पूर्वक श्रीकृष्ण का वरण करना प्रदर्शित किया गया है)।।१४३।।

अथ धृतिः (२४)–

५५–धृतिःस्यात्पूर्णताज्ञानदुःखाभावोत्तमाप्तिभिः।
अप्राप्तातीतनष्टार्थानभिसंशोचनादिकृत्।।१४४।।

तत्र ज्ञानेन, यथा वैराग्यशतके भर्त्तृहरेः–

६०–अश्नीमहि वयं भिक्षामाशावासो वसीमहि।
शयीमहि महीपृष्ठे कुर्वीमहि किमीश्वरैः।।१४५।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*ज्ञानेन भगवदनुभवेन, तथा भगवत्सम्बन्धेन यो दुःखाभावस्तेन तथोत्तमस्य भगवत्सम्बन्धितया परमपुरुषार्थस्य प्रेम्णः प्राप्त्या च या पूर्णता मनसोऽचाञ्चल्यं सा धृतिरित्यर्थः।।१४४।। अश्नीमहीत्यत्र भगवत्सम्बन्धिज्ञानमाहात्म्यम्, ईश्वरैः राजादिभिः।।१४५।।*

● *अनुवाद*—ज्ञान (भगवदनुभव), (भगवत् सम्बन्ध के कारण) दुःख का अभाव तथा उत्तम वस्तु की प्राप्ति (भगवत् सम्बन्धी परम पुरुषार्थ प्रेम की प्राप्ति) से मन की जो पूर्णता या स्थिरता है, उसे 'धृति कहते हैं। धृति में अप्राप्त वस्तु के लिए या जो पहले नष्ट हो चुकी है ऐसी किसी वस्तु के लिए अभिसंशोचन या दुःख नहीं पैदा होता।।१४४।।

ज्ञान—जनित धृति का उदाहरण; भर्तृहरि के वैराग्यशतक में इस प्रकार कथित है, भगवत् सम्बन्धि ज्ञान प्राप्त करने के लिए यदि भिक्षा का अन्न ग्रहण करना पड़े तो अच्छा है, यदि वस्त्रहीन (नंगा) रहना पड़े तो भी उत्तम है, यदि भूमि पर सोना पड़े वह भी कल्याणप्रद है, किन्तु ऐश्वर्यशाली राजाओं की सेवा से क्या प्रयोजन ?।।१४५।।

दुःखाभावेन, यथा—

६१—गोष्ठं रमाकेलिगृहं चकास्ति गावश्च धावन्ति परःपरार्द्धाः।
पुत्रस्तथा दीव्यति दिव्यकर्मा तृप्तिर्ममाभूद् गृहमेधिसौख्ये।।१४६।।

उत्तमाप्त्या, यथा—

६२—हरिलीलासुधासिन्धोस्तटमप्यधितिष्ठतः।
मनो मम चतुर्वर्गं तृणायापि न मन्यते।।१४७।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*गोष्ठमिति। श्रीगोष्ठमहेन्द्रवाक्यं, परःपरार्धाः परार्द्धतोऽपि परसंख्या इत्यर्थः, कथं तत्तज्ज्ञातं ? तत्राह पुत्रस्तथेति। येन प्रकारेण तत्तज्ज्ञायते तेनैव प्रकारेण दिव्यकर्मा पुत्रो दीव्यतीत्यर्थः, तृप्तिर्ममाभूदित्यत्रा—तृप्तिमयदुःखध्वंसो व्यञ्जितः।*

● *अनुवाद—दुखाभाव—जनित—धृति* का उदाहरण; देखिये—श्रीनन्दराज बोले, लक्ष्मीदेवी का क्रीड़ागृह तुल्य हमारा गोष्ठ विद्यमान है, पर—परार्द्ध (असंख्य) गौएँ जहाँ—तहाँ विचरण कर रही हैं, हमारा दिव्यकर्मा पुत्र भी घर में क्रीड़ा कर रहा है, अतएव गार्हस्थ्य सुख में हमारी तृप्ति हो गई है।।१४६।।

उत्तमवस्तु प्राप्ति—जनित—धृति का उदाहरण इस प्रकार है; मैं हरिलीलारूप सुधासमुद्र के तट पर अवस्थित हूँ, मेरा मन धर्म—अर्थ—काम—मोक्ष—इन चतुवर्ग को तृण के समान भी नहीं जानता है।।१४७।।

अथ हर्षः (२५)—

५६—अभीष्टेक्षणलाभादिजाता चेतःप्रसन्नता।
हर्षः स्यादिह रोमाञ्चः स्वेदोऽश्रु मुखफुल्लता।
आवेगोन्मादजड़तास्तथा मोहादयोऽपि च।।१४८।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*प्रसन्नता प्रकाशः, प्रफुल्लतेति यावत्।।१४८।।*

● *अनुवाद*—अभीष्ट वस्तु के दर्शन, श्रवण तथा प्राप्ति से चित्त में जो प्रसन्नता पैदा होती है, उसे *'हर्ष'* कहते हैं। हर्ष में रोमाञ्च, स्वेद, अश्रु, मुखप्रफुल्लता, आवेग या त्वरा, उन्माद, जड़ता तथा मोह आदि अनुभाव प्रकाशित होते हैं।।१४८।।

तत्राभीष्टेक्षणेन, यथा विष्णुपुराणे—

६३—तौ दृष्ट्वा विकसद्वक्त्रसरोजः स महामतिः।
पुलकाञ्चितसर्वांगस्तदाऽक्रूरोऽभवन्मुने ! ।।१४६।।

अभीष्टलाभेन, यथा श्रीदशमे (१०।३३।१२)—

६४—तत्रैकांऽसगतं बाहुं कृष्णस्योत्पलसौरभम्।
चन्दनालिप्तमाघ्राय हृष्ठरोमा चुचुम्ब ह।।१५०।।

● *अनुवाद*—श्रीविष्णु—पुराण में *अभीष्ट दर्शन—जनित* हर्ष का उदाहरण; हे मुने ! श्रीराम—कृष्ण के दर्शन कर उस महामति अक्रूर का मुखकमल प्रफुल्लित एवं उसका सारा शरीर पुलकित हो उठा।।१४६।।

श्रीमद्भागवत (१०।३३।२१) में *अभीष्ट प्राप्ति—जनित हर्ष* का उदाहरण इस प्रकार है; रासमण्डली में किसी एक गोपी ने अपने कन्धे पर रखी हुई कमलसुगन्धयुक्त तथा चन्दन द्वारा लिप्त श्रीकृष्ण की भुजा को सूँघा तथा चुम्बन करते हुए वह रोमाञ्चित हो उठी।।१५०।।

अथ औत्सुक्यम् (२६)—

५७—कालाक्षमत्वमौत्सुक्यमिष्टेक्षाप्तिस्पृहादिभिः।
मुखशोषत्वराचिन्तानिश्वासास्थिरतादिकृत्।।१५१।।

तत्रेष्टेक्षास्पृहया, यथा श्रीदशमे (१०।७१।३४)—

६५—प्राप्तं निशम्य नरलोचनपानपात्र—
मौत्सुक्यविश्लथितकेशदुकूलबन्धाः।
सद्यो विसृज्य गृहकर्म पतींश्च तल्पे
द्रष्टुं ययुर्युवतयः स्म नरेन्द्रमार्गे।।१५२।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*कालाक्षमत्वं कालयापनायामसमर्थत्वम्।।१५१।।*

● *अनुवाद*—अभीष्ट वस्तु के देखने की स्पृहावश जो काल—विलम्ब की असहिष्णुता है, उसको *'औत्सुक्य'* कहते हैं। उसमें मुख सूखना, त्वरा, चिन्ता, दीर्घ श्वास तथा अस्थिरतादि अनुभाव होते हैं।।१५१।।

श्रीमद्भागवत (१०।७१।३४) में *इष्टदर्शन स्पृहा—जनित* औत्सुक्य का उदाहरण इस प्रकार है—(श्रीकृष्ण के द्वारका से इन्द्रप्रस्थ आगमन प्रसंग में) मनुष्य के नेत्र—पात्रों के पान करने योग्य श्रीकृष्ण के आगमन को सुनकर उनके दर्शन के लिए औत्सुक्यवश रमणीगण के केश तथा वस्त्र बन्धन ढीले हो गये। वे अपने गृहकार्यों को तथा शय्या पर अपने पतियों को भी त्यागकर श्रीकृष्ण दर्शन के लिए राजमार्ग पर आकर खड़ी हो गईं।।१५२।।

यथा, वा—६६—प्रकटितनिजवासं स्निग्धवेणुप्रणादै—
द्रुतगति हरिमारात्प्राप्य कुञ्जे स्मिताक्षी।
श्रवणकुहरकण्डूं तन्वती नम्रवक्त्रा।
स्नपयति निजदास्ये राधिका मां कदा नु।।१५३।।

इष्टाप्तिस्पृहया यथा—

६७—नर्मकार्मणतया सखीगणे द्राघयत्यघहराग्रतः कथाम्।
गुच्छकग्रहणकैतवात्ततो नहर द्रुतपदक्रमा ययौ।।१५४।।

● *अनुवाद–इष्टदर्शन स्पृहा–जनित औत्सुक्य* का स्तवावली में उदाहरण देखिये; श्रीकृष्ण कहाँ हैं, स्निग्ध वेणुध्वनि से जब उन्होंने जनाया तो श्रीराधाजी मुसकान भरे नेत्रों से द्रुतगति से कुञ्जगृह में चली गईं। श्रीकृष्ण को अपने निकट पाकर हर्षपूर्वक नीचे मुख कर कानों के कुहरों को खुजाने लगीं, वही श्रीराधा कब मुझे अपनी सेवा में नियोजित करेंगी ?।।१५३।।

अभीष्टवस्तु प्राप्ति स्पृहा–जनित औत्सुक्य उदाहरण देखिये–श्रीकृष्ण कुञ्जगृह में अवस्थित हैं, कुञ्जगृह के द्वार पर नर्म परिहास क्रिया में निपुणता द्वारा सखीजन श्रीकृष्ण–सम्बन्धी कथा विस्तार करती हुईं श्रीकृष्ण प्राप्ति के औत्सुक्यवश फूलों के गुच्छक लेने के बहाने से तीव्र गति से कुञ्जगृह में प्रवेश कर गईं।।१५४।।

अथ औग्र्य (२७)–

५८–अपराधदुरुक्त्यादिजातं चण्डत्वमुग्रता।
वधबन्धशिरःकम्पभर्त्सनोत्ताडनादिकृत्।।१५५।।

तत्रापराधाद्यथा–

९८–स्फुरति मयि भुजंगीगर्भविस्रंसिकीर्तौ
विरचयति मदीशे किल्विषं कालियोऽपि।
हुतभुजि बत कुर्यां जाठरे वौषडेनं–
सपदि दनुजहन्तुः किं तु रोषाद्बिभेमि।।१५६।।

● *अनुवाद*–अपराध तथा दुरुक्ति आदि से पैदा हुए चण्डत्व अर्थात् क्रोध को *'औग्र्य'* या *'उग्रता'* कहते हैं। इसमें वध, बन्धन, शिरःकम्प, भर्त्सना तथा मारना आदि अनुभाव प्रकाशित होते हैं।।१५५।।

अपराध–जनित उग्रता का उदाहरण; (कालिय नाग श्रीकृष्ण का दंशन कर रहा है, यह देखकर क्रोधावेश में अधीर होकर गरुड़ ने कहा)–कैसा आश्चर्य ! जिनके प्रताप से सर्पिणियों के गर्भ गिर जाते हैं, ऐसे मेरे विद्यमान रहते हुए भी यह कालिय मेरे प्रभु का अनिष्ट कर रहा है ! मन तो ऐसा करता है कि 'वौषट' कहकर इसी क्षण इसे अपनी जठराग्नि में आहुति दे दूँ–इसे खा जाऊँ, किन्तु दानव–संहारी श्रीकृष्ण फिर मुझ पर कहीं रोष न करें–इसलिए डरता हूँ।।१५६।।

दुरुक्तितो, यथा सहदेवोक्तिः–

९९–प्रभवति विबुधानामग्रिमस्याग्रपूजां
न हि दनुजरिपोर्यः प्रौढकीर्त्तेर्विसोढुम्।
कटुतरयमदण्डोद्दण्डरोचिर्मयाऽसौ
शिरसि पृथुनि तस्व न्यस्यते सव्यपादः।।१५७।।

यथा वा श्रीबलदेवस्योक्तिः

१००–रताः किल नृपासने क्षितिपलक्षभुक्तोज्झिते
खलाः कुरुकुलाधमाः प्रभुमजाऽण्डकोटिष्वमी।

हहा बत विडम्बना शिवशिवाद्य नः शृण्वतां
हठादिह कटाक्षयन्त्यखिलवन्द्यमप्यच्युतम्।।१५८।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*रता इति। कटाक्षयन्ति कुटिलदृष्टिविषयीकुर्वन्ति, अवजानन्तीत्यर्थः।।१५८।।*

● *अनुवाद—दुरुक्ति—जनित उग्रता का उदाहरण*—(श्रीयुधिष्ठिर की राजसूय— यज्ञसभा में जब शिशुपाल श्रीकृष्ण को गालियाँ दे रहा था, तब क्रोधित होकर भीम ने कहा)—महान कीर्तिमान एवं देवताओं के भी अग्रगण्य असुरसंहारी श्रीकृष्ण की अग्रपूजा को जो व्यक्ति सहन करने में समर्थ नहीं है, मैं उसके विशाल मस्तक पर प्रचण्ड यमदण्ड से भी उग्रतर अपने इस वामचरण की ठोकर मानता हूँ।।१५७।।

(कौरव सभा में) श्रीबलदेवजी के वचनों में *दुरुक्ति—जनित उग्रता का उदाहरण;* लाखों राजाओं द्वारा भोग कर छोड़े हुए अर्थात् उनके झूँठे इस राजसिंहासन में आसक्त ये दुष्ट और नीच कौरवगण, कोटि—कोटि प्राणियों के स्वामी और अखिल विश्व के वन्दनीय श्रीकृष्ण की हमारे सामने निन्दा कर रहे हैं ? शिव—शिव हाय ! यह हमारे लिए कैसे अपमान की बात है ?।।१५८।।

अथ अमर्षः (२८)—

५६—अधिक्षेपापमानादेः स्यादमर्षोऽसहिष्णुता।।१५६।।
६०—तत्र स्वेदः शिरःकम्पो विवर्णत्वं विचिन्तनम्।
उपायान्वेषणाक्रोशवैमुख्योत्ताडनादयः।।१६०।।

● *अनुवाद*—अधिक्षेप तथा अपमानादि से जो असहिष्णुता उत्पन्न होती है, उसे *'अमर्ष'* कहते हैं। इस अमर्ष में स्वेद, शिरःकम्प, विवर्णता, चिन्ता, उपाय का अन्वेषण, चिल्लाना, मुँह फेर लेना तथा ताड़ना आदि अनुभाव प्रकाशित होते हैं।।१५६—६०।।

तत्राधिक्षेपाद्यथा विदग्धमाधवे (२।५३)—

१०१—निर्धौतानामखिलधरणीमाधुरीणां धुरीणा
कल्याणी मे निवसति वधूः पश्य पार्श्वे नवोढा।
अन्तर्गोष्ठे चटुल ! नटयन्नत्र नेत्रत्रिभागं
निःशंकस्त्वं भ्रमसि भविता नाकुलत्वं कुतो मे।।१६१।।

● *अनुवाद*—श्रीविदग्धमाधव नाटक (२।५३) में *अधिक्षेप—जनित अमर्ष का उदाहरण;* (जटिला के पास श्रीराधा विराजमान हैं, श्रीकृष्ण गोष्ठ से उनके प्रति कटाक्ष—निक्षेप कर रहे हैं, जिसे देखकर जटिला व्याकुल हो उठती हैं। यह देखकर श्रीकृष्ण ने जटिला से कहा)—मुझे देखकर आप व्याकुल क्यों हो रही हैं ? तब जटिला बोली—देख, जिसकी रूपमाधुरी ने निखिल जगत् की मधुरिमा को तिरस्कृत कर दिया है, वह नवविवाहिता कल्याणीवधू राधा मेरे पास बैठी है और अरे लम्पट ! तू इस गोष्ठ में अपने नेत्र मटकाता फिरता है और जब निर्भय होकर घूम रहा है, तो मुझे व्याकुलता क्यों न होगी।।१६१।।

अपमानाद्यथा पद्मोक्तिः–

१०२–कदम्बवनतस्कर ! द्रुतमपेहि किं चाटुभि–
र्जने भवति मद्विधे परिभवो हि नातः परः।
त्वया व्रजमृगीदृशां सदसि हन्त चन्द्रावली
वराऽपि यदयोग्यया स्फुटमदूषि ताराख्यया।।१६२।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*ताराख्ययेति श्रीराधां सूचयति।।१६२।।*

● *अनुवाद–'अपमान–जनित अमर्ष का उदाहरण;* (एक बार चन्द्रावली आदि व्रजसुन्दरियों की सभा में श्रीकृष्ण अचानक उपस्थित हुए और बोल उठे–'हे प्रिय राधे !'–बस इतना सुनते ही चन्द्रावली क्रोध में भरकर वहाँ से उठकर कुञ्ज में चली गईं और मानवती हो गईं। उसका मान भंग करने के लिए श्रीकृष्ण कुञ्ज में गये और उसे मनाने के लिए अनेक अनुनय–विनय करने लगे। तब चन्द्रावली की सखी पद्मा ने कहा)–हे कदम्बवन के तस्कर ! यहाँ से जल्दी भाग जाओ। यहाँ खुशामद की कोई जरूरत नहीं। हाय ! इससे अधिक हम जैसों का अपमान और क्या हो सकता है ? हमारी सखी चन्द्रावली सर्वप्रधाना होते हुए भी तुमने समस्त मृगनैनी रमणियों की सभा में स्पष्ट रूप से उस अयोग्या तारा (श्रीराधा का नाम तारा भी है) का नाम लेकर इसे अपमानित किया है।।१६२।।

आदिशब्दाद्वञ्चनादपि यथा श्रीदशमे (१०।३१।१६)–

१०३–पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवानतिविलङ्घ्य तेऽन्त्यच्युतागताः।
गतिविदस्तवोद्गीतमोहिताः कितव योषितः कस्त्यजेन्निशि।।१६३।।

● *अनुवाद*–(अमर्ष के प्रसंग में 'अधिक्षेप एवं अपमानादि' कहा गया था। आदि–शब्द–से वञ्चनादि का तात्पर्य है) श्रीमद्भागवत (१०।३१।१६) में *वञ्चनादि–जनित अमर्ष* का उदाहरण इस प्रकार है–(शारदीय रासरात्रि में श्रीकृष्ण की वंशीध्वनि सुनकर उन्मत्त की भाँति गोपसुन्दरीवृन्द श्रीकृष्ण के पास भागी चली आईं। श्रीकृष्ण ने उन्हें घर लौट जाने का उपदेश दिया। उसके उत्तर में गोपसुन्दरियों ने कहा)–हे अच्युत ! पति–पुत्र, जाति, भ्राता तथा बान्धवों का परित्याग कर हम आपके पास आई हैं। आप हमारे यहाँ आने के कारण को भी जानते हो, आपकी उच्च वंशीध्वनि में मोहित होकर हम यहाँ आपके पास आई हैं। हे वञ्चक ! रात्रिकाल में इस प्रकार आई हुई रमणियों को कोई पुरुष त्याग करता है क्या ? (यहाँ वञ्चक शब्द से वञ्चना को देखकर गोपसुन्दरियों में क्रोध सूचित हो गया है)।।१६३।।

अथासूया (२६)–

६१–द्वेषः परोदयेऽसूया स्यत्सौभाग्यगुणादिभिः।
तत्रेर्ष्याऽनादरापेक्षा दोषारोपो गुणेष्वपि।
अपवृत्तिस्तिरोवीक्षा भ्रुवो भंगुरतादयः।।१६४।।

● *अनुवाद*–सौभाग्य तथा गुणों में दूसरे की बढ़ोत्तरी देखकर जो द्वेष उत्पन्न होता है, उसे *'असूया'* कहते हैं। इसमें ईर्ष्या, अनादर, आक्षेप गुण में

भी दोषारोपण, अपवाद, टेढ़ी दृष्टि तथा भ्रुकुटी चढ़ाना आदि अनुभाव होते हैं।।१६४।।

तत्रान्यसौभाग्येन, यथा पद्यावल्यां (३०२)—

१०४—मा गर्वमुद्वह कपोलतले चकास्ति
कृष्णस्वहस्तलिखिता नवमञ्जरीति।
अन्याऽपि किं न सखि् भाजनमीदृशीनां—
वैरी न चेद्भवति वेपथुरन्तरायः।।१६५।।

● *अनुवाद*—पद्यावली (३०२) में *'अन्य सौभाग्य—जनित असूया'* का *उदाहरण;* सखि ! श्रीकृष्ण ने अपने हाथों से तुम्हारे कपोलों पर नवमञ्जरी रचना की है, यह जानकर तुम गर्व मत करो। श्रीकृष्ण का हस्त—कम्पनरूप विघ्न यदि शत्रु न हो, तो जिसके कपोल पर वे तिलक रचना करते हैं, वह दूसरी रमणी क्या इस प्रकार सौभाग्य—शालिनी नहीं हो सकती ?।।१६५।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—एक सखी ने दूसरी से कहा, श्रीकृष्ण ने अपने हाथ से तुम्हारे कपोल पर तिलक रचना की है, वह अति सुन्दर चित्रकारी है। तुम इसका अति गर्व मान रही हो। क्योंकि तुम मन में यह सोच रही हो कि तुम श्रीकृष्ण को सबसे अधिक प्रिय हो। किन्तु यदि विचार करो, तो यह बात नहीं है। तुम्हारे कपोल पर तिलक—रचना करते समय श्रीकृष्ण का हाथ कांपा नहीं है, वे स्थिर—चित्त से तिलक—रचना कर पाये हैं, किन्तु सखि ! ऐसी भी एक सुन्दर रमणी (श्रीराधा) है, जिसके कपोल पर तिलक रचना करते समय उसके सौन्दर्य—माधुर्य में मुग्ध होकर श्रीकृष्ण अस्थिर हो जाते हैं, उनके हाथ काँपने लगते हैं। इसलिए वह सुन्दर तिलक—रचना नहीं कर पाते। तू बता, वह रमणी क्या तुमसे अधिक सौभाग्यवती नहीं है ?।।१६५।।

यथा वा श्रीदशमे (१०।३०।३०)

१०५—तस्या अमूनि नः क्षोभं कुर्वन्त्युच्चैः पदानि यत्।
यैकापहृत्य गोपीनां रहो भुङ्क्तेऽच्युताधरम्।।१६६।।

● *अनुवाद*—श्रीमद्भागवत (१०।३०।३०) में और एक उदाहरण; (शारदीय रासस्थली से अन्तर्हित हो जाने पर श्रीकृष्ण को ढूँढ़ते—ढूँढ़ते व्रजगोपियों ने जब एक निर्जन स्थान पर श्रीकृष्ण के पदचिह्नों के साथ एक दूसरी गोपी (श्रीराधा) के पदचिह्न देखे तो असूया में भरकर वे बोलीं)—हे सखिवृन्द ! उसके यह उचक रखे हुए पदचिह्न हमें इसलिए दुखित कर रहे हैं कि वह अकेली ही हमसे श्रीकृष्ण को चुराकर निर्जन स्थान पर उनकी अधरसुधा का पान कर रही है।।१६६।।

गुणेन यथा—

१०६—स्वयं पराजयं प्राप्तान् कृष्णपक्षान् विजित्य नः।
बलिष्ठा बलपक्षाश्चेद् दुर्बलाः के ? ततः क्षितौ।।१६७।।

● *अनुवाद—अन्य गुणोत्कर्ष—जनित असूया का उदाहरण;* श्रीकृष्ण सखाओं ने कहा, हम कृष्ण—पक्ष में हैं, हमने तो स्वयं ही पराजय को स्वीकार किया

है। हमें जीतकर यदि बलदेव का पक्ष अपने को बलवान मान रहा है, तो फिर भूमण्डल पर दुर्बल कौन कहलायेगा ?।।१६७।।

अथ चापलं (३०)–

६२–रागद्वेषादिभिश्चित्तलाघवं चापलं भवेत्।
तत्राविचारपारुष्यस्वच्छन्दाचरणादयः।।१६८।।

अत्र रागेण, यथा श्रीदशमे (१०।५२।४१)–

१०७–श्वो भाविनि त्वमजितोद्वहने विदर्भान्
गुप्तः समेत्य पृतनापतिभिः परीतः।
निर्मथ्य चैद्यमगधेन्द्रबलं प्रसह्य
मां राक्षसेन विधिनोद्वह वीर्यशुल्काम्।।१६६।।

● *अनुवाद*–अनुराग तथा द्वेषादि से चित्त का जो हलकापन है, उसका *'चापल'* है। इसमें अविचार, कठोरता या निष्ठुर–वचन तथा स्वच्छन्दाचरण अनुभाव प्रकाशित होते हैं।।१६८।।

श्रीमद्भागवत में *'अनुराग–जनित चापल्य'* का उदाहरण; (श्रीनारदजी से श्रीकृष्ण के शौर्यवीर्यादि की कथा सुनकर श्रीरुक्मिणी उनके प्रति रागवती हो उठीं और मन में उन्हें पतिरूप में वर्णन का लिया। किन्तु श्रीरुक्मिणी का भाई शिशुपाल के साथ उसका विवाह करना चाहता था। तब श्रीरुक्मिणी ने कुलपुरोहित के हाथ पत्रिका भेजकर श्रीकृष्ण को सन्देश भेजा)–हे अजित ! कल मेरे विवाह का दिन है। इसलिए आप पहले गुप्त रूप से विदर्भ नगर में आईये, फिर सेनापतियों के साथ मगधपति शिशुपाल की सेनाओं का नाश करके बलपूर्वक मुझे हरणकर राक्षस–विधानानुसार मेरे साथ विवाह कीजिये यह भी जान लीजिए कि मैं वीर्यशुल्का हूँ; जो शौर्य–वीर्य रूपी शुल्क दे सकता है उसको ही मैं प्राप्त हो सकती हूँ।।१६६।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–श्रीकृष्ण के प्रति पत्र लिखकर इन बातों को प्रकाशित करना राजकन्या श्रीरुक्मिणी के पक्ष में चित्तलघुता या चपलता सूचित करता है, किन्तु यह सब श्रीकृष्ण के प्रति अनुरागवश उन्होंने किया। यहाँ श्रीरुक्मिणी के पक्ष में विचारहीनता तथा स्वच्छन्दाचरण प्रकाशित हो रहा है।।

द्वेषेण यथा–

१०८–वंशी पूरेण कालिन्द्याः सिन्धुं विन्दतु वाहिता।
गुरोरपि पुरो नीवीं या भ्रंशयति सुभ्रुवाम्।।१७०।।

● *अनुवाद–द्वेष–जनित चापल्य का उदाहरण;* (एक व्रजगोपी ने अपनी सखी से कहा)–सखि ! यमुना प्रवाह में बह जाकर वंशी तो समुद्र में जा पड़े क्योंकि यह तो गुरुजनों के सामने भी व्रजसुन्दरियों के नीवी–बन्धन ढीले कर डालती हैं। (यहाँ वंशी के प्रति द्वेषवश चापल को दिखाया गया है)।।१७०।।

अथ निद्रा (३१)–

६३–चिन्तालस्यनिसर्गक्लमादिभिश्चित्तमीलनं निद्रा।
तत्राङ्गभङ्गजृम्भाजाड्यश्वासाक्षिमीलनानि स्युः।।१७१।।

तत्र चिन्तया, यथा–

१०९–लोहितायित मार्त्तण्डे वेणुध्वनिमश्रृण्वती।
चिन्तयाक्रान्तहृदया निदद्रौ नन्दगेहिनी।।१७२।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*चित्तस्य मीलनं बहिर्वृत्त्याभावः।।१७१।।*

● *अनुवाद*–चिन्ता, आलस्य, निःसर्ग (स्वभाव) तथा क्लान्ति (थकान) आदि के द्वारा चित्त की बहिर्वृत्ति का जो अभाव है, उसे *'निद्रा'* कहते हैं। इसमें अंग–टूटना, जम्हाई आना, जड़ता, श्वास और आँखों का बन्द हो जाना आदि अनुभाव प्रकाशित होते हैं।।१७१।।

चिन्ता–जनित निद्रा का उदाहरण; सन्ध्या समय सूर्य का वर्ण लाल हो जाने पर भी अर्थात् अस्त होने का समय हो जाने पर भी श्रीकृष्ण की वेणु–ध्वनि सुनाई न देने पर (अर्थात् वन से घर लौट आने में अति विलम्ब देखकर) नन्दगृहिणी श्रीयशोदा चिन्ता से आकुल हो निद्रा के वशीभूत हो गईं।।१७२।।

आलस्येन, यथा–

११०–दामोदरस्य बन्धनकर्मभिरतिनिःसहांगलतिकेयम्।
दरघूर्णितोत्तमांगा कृतांगभंगा व्रजेश्वरी स्फुरति।।१७३।।

निसर्गेण, यथा–

१११–अघहर ! तव वीर्यप्रोषिताशेषचिन्ताः
परिहृतगृहवास्तुद्वारबन्धानुबन्धाः।
निजनिजमिह रात्रौ प्रांगणं शोभयन्तः
सुखमविचलदंगाः शेरते पश्य गोपाः।।१७४।।

क्लमेन, यथा–

११२–संक्रान्तधातुचित्रा सुरतान्ते सा नितान्ततान्ताऽद्य।
वक्षसि निक्षिप्तांगी हरेर्विशाखा ययौ निद्राम्।।१७५।।

● *अनुवाद–आलस्य–जनित निद्रा का उदाहरण;* अत्यन्त असहाय या दुर्बल होने से जिसकी अंग लतिका कुछ भी सहन नहीं कर सकती, वह व्रजेश्वरी यशोदाजी दामोदर कृष्ण को बाँधने में लगी रहने के कारण थक गईं एवं उनका सिर चकराने लगा। इस प्रकार वह निद्रावश अँगड़ाई लेती हुई दीख रही हैं।।१७३।।

निसर्ग (स्वभाव–जनित) निद्रा का उदाहरण; हे अघनाशक ! देखो, आपके पराक्रम से समस्त चिन्तायें अशेष रूप से दूर हो जाने से घर–बार बन्धु–बान्धवों की ओर से निश्चिन्त होकर ये गोप अपने–अपने घर के आँगनों को सुशोभित करते हुए निश्चलांग होकर सुखपूर्वक सो रहे हैं।।१७४।।

क्लान्ति या श्रम–जनित निद्रा का उदाहरण; आज सम्भोगान्तर श्रीकृष्णांग के गैरिकादि धातुओं से चित्रित होकर श्रीविशाखा उनके वक्षःस्थल पर हाथ धरकर सुखपूर्वक सो रही है।।१७५।।

६४–युक्तास्य स्फूर्तिमात्रेण निर्विशेषेण केनचित्।
हृन्मीलनात्पुरोऽवस्था निद्रा भक्तेषु कथ्यते।।१७६।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*ननु पूर्वं चित्तमीलनं निद्रेत्युक्तं, सा च तमोगुणेन चित्तवृत्तिरूपैव प्रसिद्धा, सा च परमभक्तानां न सम्भवति, गुणातीतचित्तत्वात्। तर्हि केन तदावृत्तिरियं निद्रा ? तत्राह–युक्तेति। अस्य श्रीकृष्णस्य, उत्तम–भक्तानां भगवत्समाधिरूपैव निद्रा, न तु प्राकृती युज्यत इति भावः, गुणातीत–भावत्वात् यथोक्तं गारुडे–*

"जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तेषु योगस्थस्य च योगिनः।
या काचिन्मनसो वृत्तिः सा भवेदच्युताश्रया।।"

अतएव श्रीकृष्णस्य स्फूर्तिमयत्वाद् हृन्मीलनात् पुरोऽवस्थैव निद्रोच्यते न तु हृन्मीलनमात्रं, यत्तु पूर्वं चित्तमीलनं निद्रेत्युक्तं तत्खल्वापातत एव बोधयतीति भावः।।१७६।।

● ***अनुवाद*–श्रीकृष्ण की किसी निर्विशेष स्फूर्तिमात्र के साथ संयुक्त होने पर हृन्मीलन अर्थात् चित्तवृत्ति लुप्त होने से पूर्ववर्त्ती जो अवस्था है, भक्तों के सम्बन्ध में उसी अवस्था को ही 'निद्रा' कहा गया है।।१७६।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–निद्रारूप व्यभिचारि भाव के सम्बन्ध में श्लोक नं० १७१ में कह आये हैं कि चिन्ता तथा आलस्यादि से चित्तवृत्ति की शून्यता का नाम 'निद्रा' है। किन्तु इस प्रकार की चित्तवृत्ति–शून्यता रूप निद्रा प्राकृत तमोगुण के प्रभाव से उत्पन्न होने वाली एक वृत्ति विशेष है। तमोगुण के प्रभाव से चित्त में बाहरी वृत्ति नहीं रहती। उस बहिर्वृत्ति के अभाव को 'निद्रा' कहा जाता है। जो माया के कवल में पड़े हुए हैं, मायिक तमोगुणजात ऐसी निद्रा उनके पक्ष में ही सम्भव है। किन्तु जो परमभक्त हैं, वे तो मायातीत होते हैं उनका चित्त माया के गुणों से रहित होता है, उनको तमोगुण–जात निद्रा कभी भी नहीं घेर सकती। यदि ऐसा होता तो निद्रा को व्यभिचारि भावों में क्यों गिना जाता ? व्यभिचारि भाव तो श्रीकृष्ण के परमभक्तों को छोड़कर अन्य किसी में सम्भव नहीं हैं।–इस शंका का समाधान उपर्युक्त कारिका में किया गया है। उल्लिखित व्यभिचारिरूप निद्रा है श्रीकृष्ण के उत्तम भक्तों की भगवत् समाधि; अर्थात् श्रीभगवान् में तन्मयता का नाम ही यहाँ निद्रा है। यह प्राकृत निद्रा नहीं है।

गरुड़–पुराण में कहा गया है कि–"जाग्रदवस्था हो, या स्वप्न या सुषुप्ति अवस्था, जो भी अवस्था क्यों न रहे, योगयुक्त योगी के मन में जो कोई भी वृत्ति उत्पन्न होती है, वह भगवान् अच्युत के ही आश्रित होती है।"क्योंकि उत्तम भक्तों के चित्त में ही श्रीकृष्ण–विषयिणी वृत्ति ही रहती है, अन्य वृत्ति उदित नहीं हो सकती। उनके चित्त की गति अविच्छिन्न रूप से श्रीकृष्ण की ओर रहती है। अतः श्रीकृष्ण–विग्रह की स्फूर्तिमयता में (किसी विशेष लीला की स्फूर्तिमयता में नहीं) चित्त वृत्तिशून्य होने से पहली–पहली जो अवस्था है, उसे यहाँ 'निद्रा' कहा गया है, केवल हृन्मीलन मात्र को निद्रा नहीं कहा गया है। पहले जो चित्तमीलन को निद्रा कहा गया है, वह केवल आपाततः बोध के लिए ही है।

श्रीजीवगोस्वामी ने श्रीप्रीतिसन्दर्भ में कहा है–"निद्रा तच्चिन्तया शून्यचित्तत्वेन तत्संगतयानन्दव्याप्त या च भवति।"–भगवत् चिन्तन से शून्यचित्त होने से अथवा भगवत्–सम्मिलन के आनन्द की व्याप्ति द्वारा उत्तम भक्तों में निद्रा उदित होती है।

अथ सुप्तिः (३२)–

६५–सुप्तिर्निद्राविभावा स्यान्नानाऽर्थानुभवात्मिका।
इन्द्रियोपरतिश्वासनेत्रसंमीलनादिकृत्।।१७७।।

यथा, ११३–कामं तामरसाक्ष ! केलिविततिः प्रादुष्कृता शैशवी
दर्पः सर्पपतेस्तदस्य तरसा निर्द्धूयतामुद्धुरः।
इत्युत्स्वप्नगिरा चिराद्यदुसभां विस्मापयन् स्मेरयन्
निश्वासेन दरोत्तरंगदुदरं निद्रांगतो लांगली।।१७८।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*निद्राया एवावस्थाविशेषे संज्ञान्तरमाह–सुप्तिरिति, विविधो भावो भावना यस्यां सा विभावा, न केवलं तादृशी; अपि तु नानार्थेत्यादि–विशिष्टता च, ततस्तद्विधा निद्रैव सुप्तिः स्वप्न उच्यते इत्यर्थः।।१७७।। केलिविततिः क्रीडाविस्तारः, केलिरभित इति पाठश्च संगतः, केलिशब्दस्य स्त्रीत्वमपि दृश्यते, तथा ह्युमापतिधरः–रत्नच्छायाछुरितजलधावित्यादौ "राधाकेलिपरिमलभरध्यानमूर्च्छा मुरारेरिति (पद्यावल्यां ३७१)। यदुसभां तदन्तः सभागामिनं कियन्तमपि यदुगणं विस्मापयन् स्मेरयंश्च।।१७८।।*

● *अनुवाद*–जिस निद्रा में अनेक प्रकार की भावनायें रहें और अनेक प्रकार की लीलाओं की स्फूर्ति हो, उस निद्रा को 'सुप्ति' या स्वप्न कहते हैं। उसमें इन्द्रियों की उपरति (बाह्यवृत्ति की शून्यता), निश्वास तथा आँखों का बन्द हो जाना आदि अनुभाव होते हैं।।१७७।।

उदाहरण, हे कमललोचन ! शिशुकाल में तुमने बाल्यलीला का यथेष्टरूप से विस्तार किया। इसलिए इस सर्पपति कालिय के महान् दर्प को शीघ्र दूर करो–स्वप्नावस्था में इस प्रकार के वचन जोर से श्रीबलराम बोल उठे। यादवों की सभा विस्मयपूर्वक हँसने लगी। श्रीबलरामदेवजी का श्वास जल्दी–जल्दी चलने से उनका उदर विशेष हिल रहा था, उसके बाद वे निद्रा सुख का अनुभव करने लगे।।१७८।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–सुप्ति या स्वप्न निद्रा की ही एक अवस्था विशेष है। (भक्तों की) निद्रा में केवल श्रीकृष्ण–विग्रह मात्र की स्फूर्ति होती है, किसी लीला की स्फूर्ति नहीं होती। किन्तु सुप्ति में लीलादि के साथ श्रीकृष्ण–विग्रह की स्फूर्ति होती है। यही निद्रा और सुप्ति का भेद है।।

अथ बोधः (३३)–

६६–अविद्यामोहनिद्रादिध्वंसाद् बोधः प्रबुद्धता।।१७९।।

तत्राविद्याध्वंसतः–

६७–अविद्याध्वंसतो बोधो विद्योदयपुरःसरः।
अशेषक्लेशविश्रान्तिस्वरूपावगमादिकृत्।।१८०।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*प्रबुद्धता ज्ञानाविर्भावः ।।१७६।। अविद्याध्वंसत इत्यत्र बोधस्त्वंपदार्थलक्षितस्य तत्पदार्थलक्षितस्य च ज्ञानं, स्वरूपावगमस्तयोरभेदज्ञानं विद्या, तेषु निदिध्यासनरूपं साधनं, प्रथमं निदिध्यासनं तस्मादविद्याध्वंसः ततः क्रमात्पदार्थद्वयज्ञानं, ततस्तयोरभेदज्ञानमिति क्रमो ज्ञेयः, अविद्याध्वंसतो यो बोधः स विद्योदयपुरःसरो भवति, स चाशेषक्लेशविश्रान्तिर्यत्र तादृशस्वरूपावगमादिकृद्भवतीत्यन्वयः, आदिग्रहणाद्भक्त्यवबोधकृद्भवतीति ज्ञेयम्। एवंभूतो बोधः खलु केषांचिद्भक्तिसहायो भवतीति संचारीत्यर्थः, "ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मेति श्रीगीताभ्यः (१८।५४) ।।१८०।।*

● *अनुवाद*—**अविद्या (अज्ञान), मोह तथा निद्रादि के ध्वंस होने पर जो प्रबुद्धता अर्थात् ज्ञान का आविर्भाव है, उसे "बोध" कहते हैं।।१७६।।**

***अविद्या–ध्वंसजनित बोध का उदाहरण;* अविद्या का नाश हो जाने पर विद्या के उदय से पहले बोध का उदय होता है। इस बोध से समस्त क्लेश नाश होते हैं और स्वरूप का ज्ञान उत्पन्न होता है।।१८०।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—श्रीजीवगोस्वामी का कहना है कि इस श्लोक में बोध–शब्द से त्वं पदार्थ (जीव) के स्वरूप का तथा तत्पदार्थ (ब्रह्म–स्वरूप) का ज्ञान लक्षित होता है। और 'स्वरूपावगम'–शब्द से जीव–ब्रह्म का अभेदज्ञान जीव –ब्रह्मैक्य साधकों में अभिप्रेत है, जिसे 'विद्या' कहते हैं। उनमें पहले निदिध्यासनरूप साधन, उससे अविद्या का ध्वंस होता है उसके बाद क्रमशः जीवस्वरूप तथा ब्रह्मस्वरूप का ज्ञान होता है। उसके बाद फिर दोनों का अभेदज्ञान होता है। अविद्या ध्वंस होने से जो बोध या ज्ञान उदित होता है, वह विद्या के उदय से पहले होता है। उस बोध से स्वरूपावगम–जीव एवं ब्रह्म का अभेदज्ञान होता है, जिससे समस्त क्लेश शान्त हो जाते हैं। 'स्वरूपावगमादि'–पद में जो 'आदि'–शब्द है, इससे यह सूचित होता है कि उस बोध से भक्ति का भी अवबोध उत्पन्न होता है। अर्थात् भक्ति भी जाग उठती है। इस प्रकार का बोध कहीं किसी के लिए भक्ति का सहायक होने से संचारी–भाव होता है, जैसा श्रीमद्गीता (१८।५४) ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा' इत्यादि श्लोक में वर्णन है कि ब्रह्मभूत प्रसन्नात्मा व्यक्ति, शोक व आकांक्षा से रहित हो जाता है, सर्वभूतों में समान दृष्टि हो जाता है, तब मेरी पराभक्ति को प्राप्त करता है।

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती का मत है कि श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु पश्चिम विभाग के श्लोक (३।१।१५) 'मुक्तिर्भक्त्यैव निर्विघ्ना'–इत्यादि में जिस शान्त–भक्त की बात कही गई है, उस तापस नामक शान्तभक्त के स्वभाव के अनुसार ही यहाँ विद्योदयपुरःसर बोधोदय की बात कही गई है। उपर्युक्त बोध केवल उस प्रकार के शान्तभक्त के पक्ष में ही व्यभिचारि भाव है। तात्पर्य यह है कि अविद्याजनित काम–क्रोधादि के रहते हुए रति शीघ्र उदित नहीं हो सकती। इसलिए पहले अविद्या को नाश करने वाली विद्या को प्राप्त करके फिर विद्या का भी परित्याग करते हुए केवल श्रवण–कीर्तनादि शुद्ध–भक्ति का अनुष्ठान होता है। किन्तु जो अनन्यभक्त हैं, वे इस प्रकार विद्या के उदय के लिए भी प्रयास नहीं करते। क्योंकि श्रीमद्भागवत (११।२०।३३)

में श्रीभगवान् ने कहा है कि मेरे भक्तियोग से मेरे भक्त अविद्यानाश तथा विद्योदयादि समस्त को बिना किसी श्रम के प्राप्त कर लेते हैं। इन वचनों पर उनका पूर्ण विश्वास होता है। अतः वे आरम्भ से ही अविद्याजनित समस्त दोषों को निरसन करने वाली शुद्ध भक्ति का अनुष्ठान करते हैं।

सारांश यह है कि अविद्या ध्वंसजनित जिस बोध को यहाँ व्यभिचारि भाव कहा गया है, वह शुद्धभक्तों का व्यभिचारि भाव नहीं है। वह तापसनामक शान्तभक्त–विशेष का व्यभिचारि भाव है। जो मुक्तिकामी हैं, वस्तुतः भक्तिकामी नहीं हैं। किन्तु वे जानते हैं कि एक मात्र भक्ति के द्वारा मुक्ति निर्विघ्न रूप से प्राप्त की जा सकती है, इसलिए वे युक्त वैराग्य लेकर भक्ति–अंगों का अनुष्ठान करते हैं, किन्तु मुक्ति–वासना का भी त्याग नहीं करते, उनके सम्बन्ध में ही अविद्याध्वंस–जनित बोध को व्यभिचारि भाव कहा गया है; ऐसे शान्त–भक्तों को 'तापस' कहा गया है। इसी आशय के उदाहरण का आगे उल्लेख करते हैं–

यथा, ११४–विन्दन् विद्यादीपिकां स्वस्वरूपं
बुद्ध्वा सद्यः सत्यविज्ञानरूपम्।
निष्प्रत्यूहस्तत्परं ब्रह्म मूर्त
सान्द्रानन्दाकारमन्वेषयामि।।१८१।।

● *अनुवाद*–**विद्यारूप दीपक को प्राप्त कर मैं सत्यविज्ञान रूप अपने स्वरूप को जानकर काम–क्रोधादि विघ्नरहित होते हुए उस सान्द्रानन्दाकार मूर्त परब्रह्म श्रीकृष्ण का अन्वेषण कर रहा हूँ।।१८१।।**

मोह ध्वंसतः–

६८–बोधो मोहक्षयाच्छब्दगन्धस्पर्शरसैर्हरेः।
दृगुन्मीलनरोमाञ्चाधरोत्थानादिकृद्भवेत्।।१८२।।

तत्र शब्देन यथा–

११५–प्रथमदर्शनरूढसुखावलीकवलितेन्द्रियवृत्तिरभूदियम्।
अघभिदः किल नाम्न्युदिते श्रुतौ ललितयोदमिमीलदिहाक्षिणी।।१८३।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*इयं श्रीराधा, अघभिद इति पूर्वत्र पद्ये चान्वितम्।।१८३।।*

● *अनुवाद*–**श्रीहरि के शब्द, गन्ध, स्पर्श एवं रस के द्वारा मोह विनष्ट होने पर जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसको 'मोहध्वंस–जनित बोध' कहते हैं। यह बोध आँख खोलना, रोमांच होना, अधर फड़कना आदि कराने वाला होता है।।१८२।।**

शब्द द्वारा मोहध्वंस–जनित–बोध का उदाहरण; **पहले श्रीकृष्ण के दर्शन कर श्रीराधा ने जो सुखराशि अनुभव की थी, उससे उनकी इन्द्रियों की समस्त वृत्तियाँ विलुप्त हो गईं अर्थात् वह मोहग्रस्त हो गईं। फिर श्रीललिता ने जब उनके कान में 'कृष्ण' नाम उच्चारण किया, तब (मोहध्वंस होने पर) उन्होंने दोनों नेत्र खोले।। (श्रीकृष्ण–दर्शन से पहले तो श्रीराधा मोह–ग्रस्त**

हुई; फिर 'कृष्ण' नाम से मोह दूर हुआ, तो ज्ञान लौट आया, फिर उन्होंने श्रीकृष्ण–दर्शन के लिए नेत्र खोले।।१८।।

गन्धेन यथा–

११६–अचिरमघहरेण त्यागतः स्रस्तगात्री
वनभुवि शबलांगी शान्तनिश्वासवृत्तिः।
प्रसरति वनमालासौरभे पश्य राधा।
पुलकिततनुरेषा पांशुपुञ्जदुदस्थात्।।१८४।।

स्पर्शेन यथा–

११७–असौ पाणिस्पर्शो मधुरमसृणः कस्य विजयी
विशीर्य्यन्त्याः सौरीपुलिनवनमालोक्य मम यः।
दुरन्तामुद्धूय प्रसभमभितो वैशसमयीं
द्रुतं मूर्च्छामन्तः सखि ! सुखमयीं पल्लवयति।।१८५।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*अचिरमिति। कदाचित्परिहासपूर्वक–श्रीकृष्णान्तर्धाने चरितम्।।१८४।। मधुरः स्वभावादेवानन्ददायकः, मसृणः त्वचो गुणतः कोमलः' पल्लवयतीति। वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवत्त्वम्।।१८५।।*

● *अनुवाद–गन्धद्वारा ध्वंस–जनित बोध* का उदाहरण; (परिहास करते हुए श्रीकृष्ण श्रीराधा से छिपकर दूर हो गये) श्रीकृष्ण मुझे त्याग गये हैं–यह जानकर श्रीराधा तत्क्षण विवशांगी एवं विवर्णा हो गईं एवं वनभूमि पर गिर पड़ीं। उनके श्वास भी बन्द से हो गये–मोहग्रस्त हो गईं। तब श्रीकृष्ण के निकट आने पर उनकी वनमाला की सुगन्ध नासिका में जाते ही वह पुलकितांगी होकर धूल में से उठ बैठीं।।१८४।।

स्पर्श–द्वारा मोहध्वंस जनित बोध का उदाहरण; (एक समय श्रीराधिका पुष्पचयन करती हुई सखियों के साथ यमुना तीर पर आईं। वहाँ विहारस्थली को देखते ही मूर्च्छित हो गईं। सखियों द्वारा अनेक यत्न करने पर भी उनकी मूर्च्छा जब दूर नहीं हुई तब श्रीकृष्ण वहाँ पहुँचे। अपने करकमल से श्रीराधाजी को स्पर्श किया और झट कौतुकवश वहाँ से अन्तर्धान हो गये। मूर्च्छा भंग होने पर श्रीराधाजी अपनी सखी से बोलीं)–हे सखि ! अतिशय मधुर, कोमल एवं सर्वजयी वह हस्तस्पर्श किसका था ? यमुना पुलिन के वनों को देखकर मैं तो व्याकुल हो गई थी, ऐसे समय में इस स्पर्श ने मेरी पीड़ामयी दुरन्त मूर्च्छा को विनष्ट कर दिया। अब वह सुखमयी मूर्च्छा को प्रसारित कर रहा है।।१८५।।

रसेन यथा–

११८–अन्तर्हिते त्वयि बलानुज ! रासकेलौ
स्रस्तांगयष्टिरजनिष्ट सखी विसंज्ञा।
ताम्बूलचर्वितमवाप्य तवाम्बुजाक्षी
न्यस्तं मया मुखपुटे पुलकोज्ज्वलासीत्।।१८६।।

निद्राध्वंसतः–

६६–बोधो निद्राक्षयात्स्वप्ननिद्रापूर्तिस्वनादिभिः।
तत्राक्षिमर्द्दनं शय्यामोक्षोऽगवलनादयः।।१८७।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*ताम्बूलेषु यच्चर्वितं तदवाप्य, सम्बन्धविवक्षया षष्ठी, त्वच्चर्वितं मुखमनु प्रतिपद्य गौरी, ताम्बूलमर्पितमुदस्रतया चिचेतेति पाठान्तरम्।।१८६।।*

● *अनुवाद–रसद्वारा मोहध्वंस जनित बोध का उदाहरण;* हे बलानुज श्रीकृष्ण! रासकेलि के समय आपके अन्तर्हित होने पर मेरी प्रियसखी श्रीराधा की अंग–लतिका शिथिल हो गयी और वह मूर्च्छित हो गई। किन्तु आपके चर्वित पान को लाकर जब मैंने उसके मुख में दिया तो वह कमलनयनी पुलकित हो उठी।।१८६।।

निद्राध्वंस–जनित बोध का उदाहरण; स्वप्न, निद्रापूर्ति तथा शब्द द्वारा निद्रा–भंग होने पर जो बोध होता है, वह निद्राध्वंस–जनित बोध कहलाता है। उसमें आँख–मलना, शय्या–त्याग एवं अँगड़ाई लेना आदि प्रकाशित होते हैं।।१८७।।

तत्र स्वप्नेन– यथा–

११६–इयं ते हासश्रीर्विरमतु विमुञ्चाञ्चलमिदं
न यावद् वृद्धायै स्फुटमभिदधे त्वच्चटुलताम्।
इति स्वप्ने जल्पन्त्यचिरमवबुद्धा गुरुमसौ
पुरो दृष्ट्वा गौरी नमितमुखबिम्बा मुहुरभूत।।१८८।।

निद्रापूर्त्यां, यथा–

१२०–दूती चागात्तदागारं जजागार च राधिका।
तूर्णं पुण्यवतीनां हि तनोति फलमुद्यमः।।१८६।।

स्वप्नेन, यथा–

१२१–दूराद्विद्रावयन्निद्रा मरालीर्गोपसुभ्रुवाम्।
सारंगरंगदं रेजे वेणुवारिदगर्जितम्।।१६०।।

● *अनुवाद–स्वप्न द्वारा निद्राभंग–जनित बोध का उदाहरण;* 'अहो कृष्ण! यह हँसना बन्द करो और मेरा आँचल छोड़ दो, नहीं तो वृद्धा माता यशोदा से तुम्हारी चपलता स्पष्ट रूप से कह दूँगी'–इस प्रकार स्वप्न में कहती हुई गौरी तुरन्त जग गई और सामने गुरुजनों को देखकर उसका मुख लज्जा से नीचे झुक गया।।१८८।।

निद्रापूर्ति द्वारा निद्राभंग–जनित बोध का उदाहरण; जब श्रीकृष्ण की भेजी हुई दूती श्रीराधा के घर में पहुँची, उसी समय ही श्रीराधा निद्रापूर्ति के बाद जागी थीं। पुण्यवती रमणियों का उद्यम शीघ्र ही सफल होता है।।१८६।।

शब्द द्वारा निद्राभंग–जनित बोध का उदाहरण; सारंग (भक्तरूप चातकों का) आनन्द प्रदाता वंशीरूप मेघ का गर्जन गोपसुन्दरियों की निद्रारूप हंसनियों को दूर भगाकर शोभित हो रहा है।।१६०।।

७०–इति भावास्त्रयस्त्रिंशत्कथिता व्यभिचारिणः।
श्रेष्ठमध्यकनिष्ठेषु वर्णनीया यथोचितम्।।१६१।।
७१–मात्सर्योद्वेगदम्भेर्ष्या विवेको निर्णयस्तथा।
क्लैव्यं क्षमा च कुतुकमुत्कण्ठा विनयोऽपि च।।१६२।।
७२–संशयो धाष्ट्र्यमत्याद्या भावा ये स्युः परेऽपि च।
उक्तेष्वन्तभवन्तीति न पृथक्त्वेन दर्शिताः।।१६३।।

● *अनुवाद*–इस प्रकार यहाँ तक तेतीस व्यभिचारि भावों का वर्णन किया गया है। उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ पात्रों में उनका यथोचित वर्णन समझना चाहिए।।१६१।।

मात्सर्य, उद्वेग, दम्भ, ईर्ष्या, विवेक निर्णय, क्लीवता (विक्लता), क्षमा, आश्चर्य, उत्कण्ठा, विनय, संशय तथा धृष्टता आदि जो इनके अतिरिक्त भाव हैं, वे इन तेतीस व्यभिचारि भावों के अन्तर्भुक्त हैं। इसलिए उनका यहाँ पृथक् रूप से वर्णन नहीं किया है।।१६२–६३।।

तथाहि–

७३–असूयायां तु मात्सर्यं त्रासेऽप्युद्वेग एव तु।
दम्भस्तथाऽवहित्थायामीर्ष्याऽमर्षे मतावुभौ।।१६४।।
७४–विवेको निर्णयश्चेमौ दैन्ये क्लैव्यं क्षमा धृतौ।
औत्सुक्ये कुतुकोत्कण्ठे लज्जायां विनयस्तथा।
संशयोऽन्तर्भवेत्तर्के तथा धाष्ट्र्यं च चापले।।१६५।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*असूयायामित्यादिषु परोदये द्वेषो मात्सर्यं, स एव गुणेष्वेपि दोषारोपणायामव्यभिचारित्वादसूयेति, तडिदादिभिः सहसा भयं त्रासः, तत्रासहिष्णुत्वमुद्वेग इति, आकारगुप्तिः अवहित्था, दम्भस्त्वसतः स्वीयोत्तमत्वस्य व्यञ्जनं, तस्मादुभयमपि कपटमयमिति। परापराधासहनममर्षः, परोत्कर्षासहनमीर्ष्या, तदेतदुभयमप्यसहनात्मकमिति, अर्थनिर्धारणं मतिः, तदेव निर्णयः, तस्य कारणं विचारस्तु विवेकः, सोऽयं कारणत्वान्मतावनुस्यूत इति। आत्मन्यतिनिकृष्टतामननं दैन्यम्, अनुत्साहः क्लैव्यं; तत्तु तदंगमेवेति, मनसोऽचाञ्चल्यं घृतिः, क्षमा तु सहिष्णुत्वं तदंगमेवेति।।१६४।। कालयापनायामसमर्थत्वमौत्सुक्यम्, आश्चर्यदर्शनेच्छा कुतुकं, तच्च क्वचित्तत्कारणत्वात्तत्रानुस्यूतं स्यादुत्कण्ठा च तस्यैव सूक्ष्मावस्थेति, लज्जायामपि विनय आवश्यक इति, विमर्षस्तर्कः संशयानन्तरभावीति चापलं च धाष्ट्र्यानन्तरं भावीति।।१६५।।*

● *अनुवाद*–असूया में मात्सर्य, त्रासमें उद्वेग, अवहित्था में दम्भ, अमर्ष में ईर्ष्या अन्तर्भुक्त हैं। विवेक और निर्णय दोनों मति में, क्लैव्य दैन्य में, क्षमा धृति में, आश्चर्य और उत्कण्ठा दोनों औत्सुक्य में तथा विनय लज्जा के अन्तर्गत हैं। संशय तर्क में तथा धृष्टता चापल में अन्तर्भुक्त हैं।।१६४–६५।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–असूया में मात्सर्य अन्तर्भुक्त है, क्योंकि दूसरे का उत्कर्ष देखकर जो द्वेष होता है, उसका नाम है मात्सर्य। इस मात्सर्य वश गुणों

में भी दोष आरोपण किया जाता है। गुण में दोष आरोपण करना ही असूया है। अतः मात्सर्य वा द्वेष असूया के अन्तर्भुक्त कहे गये हैं।

उद्वेग त्रास के अन्तर्भुक्त है, क्योंकि विद्युतादि से जो अचानक भय उदित होता है, उसका नाम है त्रास। इस त्रास में जो असहिष्णुता उत्पन्न होती है—उसको ही उद्वेग कहते हैं।

दम्भ अवहित्था के अन्तर्भुक्त कहने का कारण यह है कि आकार के गोपन का नाम अवहित्था है, जो कपटतामय है, और अपनी श्रेष्ठता प्रकाशित करने का नाम है दम्भ—यह भी कपटतामय है। दोनों ही कपटतामय होने से दम्भ को अवहित्था के अन्तर्भुक्त कहा गया है।

ईर्ष्या अमर्ष के अन्तर्भुक्त है, क्योंकि दूसरों के अपराध को सहन न कर सकने का नाम है अमर्ष या क्रोध। दूसरे के उत्कर्ष को सहन न कर सकना है ईर्ष्या। दोनों ही असहनात्मक हैं। अतः ईर्ष्या को अमर्ष के अन्तर्भुक्त कहा गया है।

अर्थ निर्धारण का नाम है मति, जिसे निर्णय भी कहा जाता है। निर्णय का कारण होता है विचार और विचार का नाम है विवेक। विवेक कारण होने से मति में अनुस्मृत है। इसलिए विवेक और निर्णय दोनों को मति—व्यभिचारि भाव के अन्तर्भुक्त कहा गया है।

अपने को निकृष्ट मानने का नाम है दैन्य। अनुत्साह को क्लीवता कहा जाता है। यह क्लीवता दैन्य का अंग है। अतः क्लैव्य को दैन्य के अन्तर्भुक्त कहा गया है।

मन की अचञ्चलता का नाम है धृति। क्षमा कहते हैं सहिष्णुता को, जो अचञ्चलता का ही अंग है। इसलिए क्षमा को धृति के अन्तर्भुक्त माना गया है।

कालयापन की असमर्थता का नाम है औत्सुक्य। आश्चर्यमय वस्तु के देखने की इच्छा का नाम है कुतुक। कुतुक भी कभी—कभी औत्सुक्य का कारण हुआ करता है। इसलिए कुतुक को औत्सुक्य के अन्तर्भुक्त कहा गया है। औत्सुक्य की सूक्ष्मावस्था का नाम उत्कण्ठा है। इसलिए उत्कण्ठा भी औत्सुक्य के अन्तर्भुक्त मानी गयी है।

संशय तर्क या वितर्क के अन्तर्भुक्त है, क्योंकि संशय न होने पर वितर्क का होना सम्भव नहीं है। इसी तरह धृष्टता के बाद ही चपलता उत्पन्न होती है। अतः धृष्टता को चापल के अन्तर्भुक्त माना गया है।

७५—एषां संचारिभावानां मध्ये कश्चन कस्यचित्।
विभावश्चानुभावश्च भवेदेव परस्परम्।।१६६।।
७६—निर्वेदे तु यथेर्ष्याया भवेदत्र विभावता।
असूयायां पुनस्तस्या व्यक्तमुक्ताऽनुभावता।।१६७।।
७७—औत्सुक्यं प्रति चिन्तायाः कथिताऽत्रानुभावता।
निद्रां प्रति विभावत्वमेवं ज्ञेयाः परेऽप्यमी।।१६८।।

● *अनुवाद*—इन तेतीस संचारि (व्यभिचारि) भावों में कोई भाव दूसरे किसी संचारि—भाव का विभाव अर्थात् उद्दीपन-विभाव भी हो जाता है और

कोई संचारि–भाव दूसरे किसी संचारि–भाव का अनुभाव अर्थात् कार्य भी हो जाता है। दो भावों की परस्पर विभावता तथा अनुभावता देखी जाती है।।१९६।।

निर्वेद में जैसा ईर्ष्या (असूयता) की विभावता है, उसी प्रकार फिर असूयता में भी निर्वेद की अनुभावता होती है। औत्सुक्य के प्रति चिन्ता की अनुभावता और निद्रा के प्रति चिन्ता की विभावता होती है। उसी प्रकार अन्यान्य भावों के सम्बन्ध में भी जान लेना चाहिए।।१९७–१९८।।

७८–एषां च सात्त्विकानां च तथा नानाक्रियातते।
कार्यकारणभावस्तु ज्ञेयः प्रायेण लोकतः।।१९९।।

७९–निन्दायास्तु विभावत्वं वैवर्ण्यामर्षयोर्मतम्।
असूयायां पुनस्तस्याः कथितैवानुभावता।।२००।।

८०–प्रहारस्य विभावत्वं संमोहप्रलयौ प्रति।
औग्र्यं प्रत्यनुभावत्वमेवं ज्ञेयः परेऽपि च।।२०१।।

८१–त्रासनिद्राश्रमालस्यमदभिद्बोधवर्जिनाम्।
संचारिणामिह क्वापि भवेद्रत्यनुभावता।।२०२।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*प्रथमे प्रथमे परपरेषां प्रवेशो भाव्यते।।२०१।। मदभित् मधुपानजो मदभेदः, रत्यनुभावता रतिकार्यत्वम्।।२०२।।*

अनुवाद-*इन समस्त व्यभिचारि–भावों का, सात्त्विक–भावों का तथा नानाविध क्रियाओं का भी परस्पर कार्य कारण भाव प्रायशः लोक व्यवहार के अनुसार ही जानना चाहिए।।१९९।।*

निन्दा में वैवर्ण्य तथा अमर्ष का विभावत्व है, और असूया में फिर निन्दा की अनुभावता कही गई है।।२००।।

संमोह तथा प्रलय के प्रति प्रहार का विभावत्व है और औग्र्य के प्रति प्रहार की ही अनुभावता है। इसी प्रकार अन्यान्य भावों के सम्बन्ध में भी जानना चाहिए।।२०१।।

त्रास, निद्रा, श्रम आलस्य, मधुपान–जनित मत्तता एवं अज्ञानतादि संचारि–भावों की कहीं–कहीं रति की अनुभावता (कार्यत्व) हुआ करती है।।२०२।।

८२–साक्षाद्रतेर्न सम्बन्धः षड्भिस्त्रासादिभिः सह।
स्यात्परम्परया किन्तु लीलाऽनुगुणताकृते।।२०३।।

८३–वितर्कमतिनिर्वेदधृतीनां स्मृतिहर्षयोः।
बोधभिद्दैन्यसुप्तीनां क्वचिद्रतिविभावता।।२०४।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*त एते त्रासादयो न कदाचिद्रतिमतां श्रीकृष्णाज्जायन्ते। तस्य तच्छमकस्वभावत्वेनैवानुभूयमानत्वात् किंतु विरोध्यादिभ्य एव ते जायन्ते। तेभ्य एव तेषामनुभूयमानत्वात्। ततश्च साक्षादिति, यथा हर्षादयो भावाः केवलं श्रीकृष्णं विभावीकृत्य जायन्ते तथा त्रासादयो न। किन्तु विरोध्यादिसंवलितमिति केवलया रतेर्न सम्बन्धः, किन्तु विरोध्यादिग–तत्तद्भावस्यापीति परम्परया तत्तत्सम्वलनया रतेः सम्बन्धः स्यादित्यर्थः, किन्तु त्रासादयो*

भयादीनामप्युपलक्षणानि स्वापराधादिसंवलनया तेऽपि स्फुरन्ति।।२०३।। बोधभित् अविद्याक्षयजो बोधः, वितर्कादीनां रतेर्विभावतेति परम्परया ज्ञेयम्, श्रीकृष्णानुभवस्यैव साक्षात् कारणत्वात्।।२०४।।

● *अनुवाद*–त्रास, निद्रा, श्रमादि उपर्युक्त छः संचारि–भावों के साथ रति का सम्बन्ध नहीं है। किन्तु परम्परा क्रम से वे लीला के अनुगामी हुआ करते हैं।।२०३।।

वितर्क, मति, निर्वेद, धृति, स्मृति, हर्ष, अज्ञानता, दैन्य एवं सुषुप्ति, ये कभी रति की विभावता प्राप्त करते हैं।।२०४।।

८४–*परतन्त्राः स्वतन्त्राश्चेत्युक्ताः संचारिणो द्विधा।।२०५।।*

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*परतन्त्रा मुख्यगौणरतिवशाः स्वतन्त्रास्तद्विपरीता इति ज्ञेयम्।।२०५।।*

● *अनुवाद*–संचारि–भाव दो प्रकार के हैं–*परतन्त्र* तथा *स्वतन्त्र*।।२०५।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा मधुर; इस पाँच प्रकार की रति को *'मुख्यारति'* कहते हैं। और हास्य, अद्‌भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक एवं वीभत्स; इस सात प्रकार की रति को 'गौण–रति' माना गया है। जो संचारि–भाव इन दोनों प्रकार की रतियों के वशीभूत होते हैं, उनको *'परतन्त्र संचारिभाव'* कहा जाता है। श्रीकृष्ण–सम्बन्धी भाव की अधीनता में ही इन परतन्त्र संचारि–भावों का उद्भव होता है। और जो संचारि–भाव मुख्या तथा गौण रति के वशीभूत नहीं होते अर्थात् जो कृष्ण सम्बन्धी भावों की अधीनता के बिना भी उद्‌भूत होते हैं, उनको *'स्वतन्त्र संचारिभाव'* कहा जाता है।।

तत्र परतन्त्राः–

८५–*वरावरतया प्रोक्ताः परतन्त्रा अपि द्विधा।।२०६।।*

तत्र वरः–

८६–*साक्षाद् व्यवहितश्चेति वरोऽप्येष द्विधोदितः।।२०७।।*

तत्र साक्षात्–

८७–*मुख्यामेव रतिं पुष्णन् साक्षादित्यभिधीयते।।२०८।।*

यथा, १२२–तनूरुहाली च तनुश्च नृत्यं तनोति मे नाम निशम्य यस्य।
अपश्यतो माथुरमण्डलं तद व्यर्थेन किं हन्त दृशोर्द्वयेन।।२०६।।
साक्षादेश निर्वेदः।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*तत्र वरं इति जात्यैकत्वं, तस्य च लक्षणं–रसद्वयस्य योऽगत्वं प्राप्नोति स वरो मतः इति ज्ञेयं, (२।४।२१७) वक्ष्यमाणाऽवरलक्षणा–नुसारेण।।२०८।। तनूरुहाली चेति। माथुरमण्डलदिदृक्षा चेयं भगवद्रतिमय्येव; तस्मात् साक्षाद्रतिमेव पुष्णातीतिभावः।।२०६।।*

● *अनुवाद*–परतन्त्र–संचारि–भाव फिर दो प्रकार के हैं–*'वर'* तथा *'अवर'*।।२०६।।

साक्षात् तथा व्यवधान भेद से वर–परतन्त्र संचारि–भाव फिर दो प्रकार के हैं।।२०७।।

जो संचारि–भाव मुख्या–रति को पुष्ट करता है, उसे *'साक्षात् वरपरतन्त्र'* संचारि–भाव कहते हैं।।२०८।।

उदाहरण; हाय ! जिसका नाम सुनते ही मेरे शरीर में रोमावली तथा शरीर नाच उठा है, उस मथुरा–मण्डल के जिन नयनों ने दर्शन नहीं किए, उन व्यर्थ नयनों का क्या प्रयोजन ? यहाँ निर्वेद नामक संचारि–भाव साक्षात् वर है।। (व्यर्थ नयनों का क्या प्रयोजन ? इस वाक्य से निर्वेद सूचित होता है)।।२०९।।

▲ हरिकृपाबोधिनी टीका–श्लोक सं० २०६ में जो साक्षात् तथा व्यवहित भेद से दो प्रकार के परतन्त्र भावों की बात कही गई है, वे दोनों किन्तु एक जाति के हैं, भिन्न जातीय नहीं हैं। जो संचारि–भाव मुख्यरस तथा गौणरस, इन दोनों रसों के अंगत्व को प्राप्त करता है, उसे 'वर–परतन्त्र' कहा जाता है और जो दोनों रसों के अंगत्व को प्राप्त नहीं करता उसे 'अवर–परतन्त्र' कहा जाता है। यह बात आगे श्लोक सं० २१३ में कहेंगे।

उदाहरण में मथुरा–मण्डल की दर्शन इच्छा है भगवद् रतीमयी। इसलिए साक्षाद्भाव से मुख्यारति की यहाँ पुष्टि हो रही है।

अथ व्यवहितः–

८८–पुष्णाति यो रतिं गौणीं स तु व्यवहितो मतः।।२१०।।

यथा, १२३–धिगस्तु मे भुजद्वन्द्वं भीमस्य परिघोपमम्।
माधवाक्षेपिणं दुष्टं यत् पिनष्टि न चेदिपम्।।२११।।

८६–निर्वेदः क्रोधवश्यत्वादयं व्यवहितो रतेः।।२१२।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*निर्वेद इति। क्रोधोऽत्र क्रोधरतिः सा च रौद्ररसस्य गौणस्य स्थायीति गौणम्।।२१२।।*

● *अनुवाद*–जो संचारि–भाव गौणी रति को पुष्ट करता है, उसे *'व्यवहित परतन्त्र'* कहते हैं।।२१०।।

उदाहरण; मैं भीम हूँ, मेरी दोनों भुजायें वज्र की तरह हैं, ये दोनों भुजायें जब कृष्णद्वेषी शिशुपाल को पीस कर न डाल सकीं, तो इनको धिक्कार है।।२११।।

यहाँ 'इन भुजाओं को धिक्कार है'–यह 'निर्वेद' भाव को सूचित करता है। क्रोध के वशीभूत होकर इस निर्वेद का उद्भव है। क्रोध गौण रौद्ररस का स्थायीभाव है; इसलिए निर्वेद गौणीरति को पुष्ट करने से *'व्यवहित वरपरतन्त्र'* के उदाहरण में लिया गया है।।२१२।।

अथ अवरः–

९०–रसद्वयस्याप्यंगत्वमगच्छन्नवरो मतः।।२१३।।

यथा, १२४–लेलिह्यमानं वदनैर्ज्वलद्भिर्जगन्ति दंष्ट्रास्फुरदुत्तमांगैः।
अवेक्ष्य कृष्णं धृतविश्वरूपं न स्वं विशुष्यन् स्मरति स्म जिष्णुः।।२१४।।

६१–घोरक्रियाद्यनुभवादाच्छाद्य सहजां रतिम्।
दुर्वाराविरभूद्भीतिर्मोहोऽयं भीवशस्ततः।।२१५।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*जिष्णुरत्रार्जुनः।।२१४।। घोरेति। ततः स्वापरिचित–तदीयघोररूपात्सर्वभयक्षणाशंकामयं भयमेव केवलं न तु भयरतिः, "रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रमित्यारभ्य"; "दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यस्थितास्तथाऽहमिति " तद्वाक्याद्रतरेत्यन्तास्फूर्तेः, "स्थाने हृषीकेश तव प्रकृत्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च" इत्यादिकं त्ववस्थाभेदात्, अतो गौणरतेरपि नांगत्वम्।।२१५।।*

● *अनुवाद*–जो परतन्त्र संचारि–भाव मुख्य तथा गौणरस का अंगत्व प्राप्त नहीं करते, उनको *'अवर–परतन्त्र'* संचारि–भाव कहते हैं।।२१३।।

उदाहरण; अपने दाँतों से जो जगद्वर्ती प्राणिमात्र का चर्वण कर रहे हैं, ज्वलन्त मुखों द्वारा तथा प्रकाशित मस्तकों द्वारा जो चाटे जा रहे हैं, उन विश्वधर श्रीकृष्ण के दर्शन कर श्रीअर्जुन सूख सा गया और उसे अपनी भी सुधबुध न रही।।२१५।।

घोर क्रियादि रूप अनुभाव से जो दुर्वार भय उत्पन्न हुआ, उसने श्रीकृष्ण–विषय में अर्जुन की सहज–रति को आच्छादित कर दिया और उससे जो मोह उदित हुआ, वह भीति के वशीभूत या भीति का पोषक था।।२१५।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–विश्वरूप के दर्शन करके अर्जुन में जो भय पैदा हुआ, वह भय–नाम्नी गौणीरति नहीं है। वह केवल अपरिचित घोररूप तथा घोर क्रियादि को देखकर सब लोगों के भक्षण कर जाने की आशंका से पैदा हुआ भय था। अर्जुन की स्वाभाविकी रति उस भय से आच्छादित हो गई। श्रीगीतोक्त के अर्जुन के वाक्यों से भी यह सूचित होता है कि अर्जुन की जो स्वाभाविकी प्रीति श्रीकृष्ण में थी, वह उस समय लुप्त हो गई। इसलिए भय और भय से उत्पन्न मोह भय–नामक गौणीरति का अंग नहीं है। अर्जुन का यह मोह कृष्णरति के साथ सम्बन्धहीन था, केवलमात्र भय से उत्पन्न था। भय के वशीभूत था और भय का ही पोषक था। कृष्णरति सम्बन्धी भय का पोषक न होने से तथा भय–नाम्नी गौणीरति का अंग न होने से उसे 'अवर–परतन्त्र' संचारि–भाव के उदाहरण में लिया गया है।।

अथ स्वतन्त्राः–

६२–सदैव पारतन्त्र्येऽपि क्वचिदेषां स्वतन्त्रता।
भूपालसेवकस्येव प्रवृत्तस्य करग्रहे।।२१६।।
६३–भावज्ञै रतिशून्यश्च रत्यनुस्पर्शनस्तथा।
रतिगन्धिश्च ते त्रेधा स्वतन्त्राः परिकीर्तिताः।।२१७।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*अत्र स्वतन्त्रा इति। एषु स्वतन्त्रेषु प्रथमस्य रतिशून्यस्य स्वातन्त्र्यं व्यक्तमेव, अन्यद्वयस्यापि तद्योजयति–सदैवेति, एषां मध्ये; क्वचित् कयोश्चिदिति, रत्यनुस्पर्शन–रतिगन्ध्योः सदैव पारतन्त्र्येऽपीत्यर्थः, करग्रहे*

राज्ञोंऽशग्रहणे विवाहे वा, जन्ययात्रिकतां प्राप्ताद्राज्ञोऽपि तस्मिन् जामातर्याधिक्यं दृश्यत इति।।२१६।।

● *अनुवाद*–राजकर्मचारी सर्वदा परतन्त्र अर्थात् राजा के अधीन होते हुए भी जब वे प्रजा से राजकर वसूल करते हैं, तब वे स्वतन्त्र दीखते हैं। (उसी प्रकार स्वतन्त्र संचारि–भाव सदा परतन्त्र होते हुए भी कभी–कभी स्वतन्त्र दीखते हैं)।।२६।।

भाव–तत्त्वज्ञ व्यक्ति स्वतन्त्र–संचारि भावों के तीन भेद बतलाते हैं–१. रतिशून्य, २. रत्यनुस्पर्शन तथा ३. रतिगन्धि।।२१७।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–स्वतन्त्र भावों में रतिशून्य भावों का स्वातन्त्र्य तो स्पष्ट है ही, रत्यनुस्पर्शन तथा रतिगन्धि–इन दोनों का सर्वदा पारतन्त्र्य होते हुए भी कभी–कभी स्वातन्त्र्य देखा जाता है।।

तत्र रतिशून्यः–

६४–जनेषु रतिशून्येषु रतिशून्यो भवेदसौ।।२१८।।

यथा श्रीदशमे (१०।२३।३६)–

१२५–धिग्जन्म नस्त्रिवृद्विद्यां धिग् व्रतं धिग् बहुज्ञताम्।
धिक् कुलं धिक् क्रियादाक्ष्यं विमुखा ये त्वधोक्षजे।।२१६।।

अत्र स्वतन्त्रो निर्वेदो

● *अनुवाद*–रतिशून्य व्यक्तियों में जो भाव उदित होते हैं, वही *'रतिशून्य* कहे गये हैं।।२१८।।

श्रीमद्भागवत (१०।२३।३६) में जैसे याज्ञिक ब्राह्मणों ने कहा है; हमारे शौक्र, सावित्र तथा दैक्ष्य–इन तीनों प्रकार के जन्म को धिक्कार है, हमारी विद्या को, हमारे ब्रह्मचर्यादि व्रत को तथा हमारे बहुत कुछ जानने को भी धिक्कार है; हमारे कुल को हमारे नित्य–नैमित्तिक कर्मों को भी धिक्कार है, क्योंकि हम अधोक्षज श्रीकृष्ण से विमुख हैं।।२१६।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–यहाँ याज्ञिक ब्राह्मणों में जो निर्वेद उत्पन्न हुआ है, उसको उदाहरण में लिया गया है। वे श्रीकृष्ण में रतिशून्य थे। उनका यह निर्वेद भी स्वतन्त्र है अर्थात् कृष्णरति की अपेक्षा–हीन है। केवल रति की छायामात्र है, जो उनके अपने को कृष्ण–विमुख कहने से सूचित हो रही है। अतः यहाँ निर्वेद को रतिशून्य स्वतन्त्र व्यभिचारि–भाव कहा गया है।

रत्यनुस्पर्शनः–

६५–यः स्वतो रतिगन्धेन विहीनोऽपि प्रसंगतः।
पश्चाद्रतिं स्पृशेदेष रत्यनुस्पर्शनो मतः।।२२०।।

यथा, १२६–गरिष्ठारिष्टटंकारैर्विधुरा बधिरायिता।
हा कृष्ण ! पाहि पाहीति चुक्रोशाभीरबालिका।।२२१।। अथ त्रासः;

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*सदैव पारतन्त्र्येऽपीति पूर्वमुक्तम् उत्तरतस्तु यः स्वतो रतिगन्धेनेति, तदेवं परस्परविरोधपरिहारमुदाहरणेन दर्शयति–गरिष्ठेति। सर्वदैव तद्रतिपरतन्त्रभावत्वं वर्त्तत एव, तद्व्रजाभीरबालिकात्वात्तस्याः*

संप्रत्यकस्माद्भयानकदर्शनेन स्वतन्त्र एवं त्रासो जात इति भावः, याज्ञिकेषु रतिच्छायैव न तु रतिरिति रतिशून्यत्वं ज्ञेयम्।।२२१।।

● *अनुवाद*–जो भाव स्वयं रतिगन्ध हीन होने पर भी प्रसंगाधीन होने के बाद रति का स्पर्श करते हैं, उन्हें 'रत्यनुस्पर्शन–भाव' कहते हैं।।२२०।।

उदाहरण; भयानक अरिष्टासुर की गर्जना से व्याकुल और बधिर होकर 'हा कृष्ण ! रक्षा करो, रक्षा करो'–इस प्रकार कहती हुईं गोपबालिकाएँ चिल्लाने लगीं। यहाँ त्रास को स्वतन्त्र भाव में उद्धृत किया गया है।।२२१।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–व्रजगोप–बालिकाओं में सदैव श्रीकृष्ण की रति विद्यमान है। अतः उनके संचारि–भाव सदा ही परतन्त्र हैं, कृष्णरति के अधीन और वशीभूत हैं। यहाँ भयंकर अरिष्टासुर को देखकर स्वतन्त्र भाव से त्रास उत्पन्न हुआ है। यह त्रास उनमें कृष्णरति की अधीनता में उदित नहीं हुआ। श्रीकृष्ण की विपद की आशंका कर यदि त्रास उदित होता तो वह कृष्णरति अधीन होता, परन्तु यह व्रजबालाओं में अपनी विपद की आशंका में उदित हुआ है। कृष्णरति से उद्भूत नहीं है, तथापि बाद में इस त्रास ने रति का स्पर्श किया है; कैसे ?–क्योंकि उन्होंने अपनी रक्षा के लिए श्रीकृष्ण को पुकारा है। श्रीकृष्ण में रति होने के कारण ही उन्होंने श्रीकृष्ण को पुकारा है। अतः इस आह्वान में ही उनकी रति सूचित हो रही है। व्रजबालिकाओं के रतिगन्ध शून्य त्रास ने इस रति का स्पर्श किया है। वह भी उत्पन्न होने के बाद स्पर्श किया है; इसलिए इसे *'रत्यनुस्पर्शन भाव'* के उदाहरण में लिया गया है।

अथ रतिगन्धिः–

९६–*यः स्वातन्त्र्येऽपि तद्गन्धं रतिगन्धिर्व्यनक्ति सः।।२२२।*

यथा, १२७–पीतांशुकं परिचिनोमि धृतं त्वयाऽङ्गे
संगोपनाय नहि नप्त्रि ! विधेहि यत्नम्।
इत्यार्यया निगदिता नमितोत्तमांगा
राधाऽवगुण्ठितमुखी तरसा तदाऽसीत्।।२२३।।अत्र लज्जा;

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*यः स्वातन्त्र्येऽपि रतिगन्धं तल्लेशं व्यनक्ति स रतिगन्धिरित्यत्यन्वयः, उदाहरणे चार्यायास्तस्या महारागेणैव श्रीकृष्णविषयकनप्त्री–समर्पणलालसायास्तादृशत्वेन नप्त्र्याऽपि तर्कितायाः स्वरहस्ये ज्ञातेऽपि लज्जाच्छन्नतया नप्त्र्या रतिर्गन्धिव्यंजनेति ज्ञेयं, यथा धर्मादेर्लंघने तस्या महाराग एव कारणं तथार्याया अपीति।।२२३।।*

● *अनुवाद*–जो संचारि–भाव स्वतन्त्र होकर भी रतिगन्ध को अर्थात् रति के लेशमात्र को प्रकाशित करता है, उसे *'रतिगन्धिस्वतन्त्र'* भाव कहते हैं।।२२२।।

उदाहरण; मुखरा ने कहा, हे राधे ! तुम अपने शरीर पर जो पीतवसन धारण कर रही हो, उसे मैं जान गई हूँ अर्थात् यह पीताम्बर श्रीकृष्ण का है। अतएव इसे छिपाने का तुम और यत्न नहीं करो। आर्या के ये वचन सुनकर

श्रीराधा सहसा लज्जित हो गई और मस्तक को झुकाकर घूंघट द्वारा अपना मुख ढक लिया। यहाँ लज्जा को रतिगन्धि भाव रूप में उद्धृत किया गया है।।२२३।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—यहाँ श्रीराधाजी में लज्जा—नामक संचारि—भाव उदित हुआ है, किन्तु यह स्वतन्त्र है क्योंकि यह श्रीराधाजी की स्वाभाविकी रति से उत्पन्न नहीं है। श्रीराधा के गुप्त रहस्य को आर्या मुखरा जान गई है, इसलिए यह लज्जा उदित हुई है। आर्या द्वारा रहस्य की जानकारी ही इसका कारण है; अतः यह स्वतन्त्र है, कृष्णरति के अधीन नहीं है। तथापि श्रीराधा की यह लज्जा उनकी रतिगन्ध को प्रकाशित करती है। श्रीकृष्ण में श्रीराधा की रति होने से ही रति सम्बन्धी किसी चेष्टा प्रसंग से उनके अंगों पर श्रीकृष्ण का पीताम्बर विद्यमान है। अतः उनकी लज्जा कृष्णरति से उद्भूत न होकर भी रति के साथ उसका किंचित् सम्बन्ध है। अतएव लज्जा नामक स्वतन्त्र संचारि—भाव को यहाँ रतिगन्धि स्वतन्त्र—भाव माना गया है।।

६७—आभासः पुनरेतेषामस्थाने वृत्तितो भवेत्।
प्रातिकूल्यमनौचित्यमस्थानत्वं द्विधोदितम्।।२२४।।

तत्र प्रातिकूल्यं

६८—विपक्षे वृत्तिरेतेषां प्रातिकूल्यमितीर्यते।।२२५।।

यथा, १२८—गोपोऽप्यशिक्षितरणोऽपि तमश्वदैत्य
हन्ति स्म हन्त मम जीवितनिर्विशेषम्।
क्रीडाविनिर्जितसुराधिपतेरलं मे
दुर्जीवितेन हतकंसनराधिपस्य।।२२६।। अत्रनिवदस्याभासः;

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*आभास इति। तदेवमुक्तस्य तेषामाभासस्य द्विधात्वं दर्शयितुम् अस्थानस्य द्विधात्वं दर्शयति—प्रातीत्यर्धेन।।२२४।। अथास्थानसम्बन्धात्तेषां द्विधात्वं दर्शयति, तत्रेत्यादिना; अत्र गर्वस्य (२।४।२३०) इत्यन्तेन, विपक्षे प्रतिकूले।।२२६।।*

● *अनुवाद*—संचारि—भावों की अस्थान (दूसरे स्थान) में वृत्ति होने से उसे *'संचारिभाव—आभास'* कहा जाता है। वह अस्थान फिर दो प्रकार का है—प्रातिकूल्य और अनौचित्य।।२२४।।

भावों की विपक्ष में वृत्ति होने से उसे *'प्रातिकूल्य'* कहा जाता है।।२२५।।

उदाहरण—(श्रीकृष्ण के द्वारा केशिदैत्य के मारे जाने की बात सुनकर कंस ने कहा)—मेरे प्राणतुल्य 'अश्वाकृति केशिदैत्य को जब रण में उस अशिक्षित गोप—श्रीकृष्ण ने मार डाला है, तब हाय ! मैंने जो खेल—खेल में देवराज इन्द्र को भी पराजित कर दिया था, उस दुर्भागे मुझ कंसराज का अब इस दुर्जीवन से क्या प्रयोजन ? यहाँ निर्वेद—नामक संचारित—भाव का आभास है।।२२६।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—श्रीकृष्ण कंस के विपक्ष हैं। विपक्ष के पराक्रम को देखकर कंस में निर्वेद भाव उदित हुआ है। कृष्ण—विषयिणी रति से उदित

न होने से यह वास्तविक निर्वेद संचारि–भाव नहीं है। संचारि–भाव निर्वेद के साथ आत्म–धिक्कार विषय में कुछ सदृशता है, इसलिए इसे निर्वेद–आभास माना गया है। श्रीकृष्ण–विषय में आनुकूल्य है संचारि–भाव का स्थान। प्रातिकूल्य अस्थान है। क्योंकि श्रीकृष्ण–विषय में कंस प्रातिकूल्य है, इसलिए प्रातिकूल्य निर्वेदरूप संचारि–भाव का अस्थानत्व यहाँ सूचित हो रहा है।।

यथा वा, १२६–डुण्डुभो जलचरः स कालियो
गोष्ठभूभृदपि लोष्टसोदरः।
तत्र कर्म किमिवाद्भुतं जने
येन मूर्ख ! जगदीशतेर्यते।।२२७।। अत्रासूयायाः।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*डुण्डुभ इत्यक्रूरं प्रति कंसस्य वाक्यम्।।२२७।।*

● *अनुवाद*–प्रातिकूल्यरूप अस्थान–आभास का एक और उदाहरण देते हैं–(अक्रूर का तिरस्कार करते हुए कंस ने कहा) कालिय का जिसने एक जलचर निर्विष साँप के समान दमन कर दिया और मिट्टी के ढेले के सहोदर समान गोवर्द्धन को जिसने उठा लिया; जगत् में यह कौन–सा अद्भुत कार्य है? हे मूर्ख ! जो तू उस (कृष्ण) में जगत् की ईश्वरता का आरोपण कर रहा है। यहाँ असूया भाव का आभास उद्धृत किया गया है।।२२७।।

अथ अनौचित्यं–

६६–असत्यत्वमयोग्यत्वमनौचित्यं द्विधा भवेत्।
अप्राणिनि भवेदाद्यं तिर्यगादिषु चान्तिमम्।।२२८।।

तत्राप्राणिनि यथा–

१३०–छाया न यस्य सकृदप्युपसेविताऽभूत्
कृष्णेन हन्त मम तस्य धिगस्तु जन्म।
मा वं कदम्ब ! विधुरो भव कालियाहिं–
मृद्गन् करिष्यति हरिश्चरितार्थतां ते।।२२६।। अत्र निर्वेदस्य;

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*अनौचित्येनायोग्यत्वस्य तावत्समार्थत्वमेव, वर्णनायामनौचित्यत्त्वेऽसत्यत्वमपि तत्र प्रवेशयितुं तदेतद्भेदद्वयं कृतमिति विवेचनीयं, तत्र तिर्यगादिष्वपि गर्वादीनामसत्यत्वमेव; तथापि प्राणित्वात्तेषु कस्यापि ते सम्भाविता इव तदुत्कर्षव्यंजनाय स्युः, हर्षविषादादयस्तु भवन्त्येवेत्यत एव भेदः क्रियत इत्यपि ज्ञेयम्।।२२८।।*

● *अनुवाद*–असत्यत्व तथा अयोग्यत्व रूप में *अनौचित्यरूप अस्थान–आभास* दो प्रकार का है। अप्राणी (जड़) में असत्यत्व तथा तिर्यगादि में अयोग्यत्व रूप अनौचित्य हुआ करता है।।२२८।।

अप्राणी में असत्यत्वरूप अनौचित्य का उदाहरण; मेरी छाया श्रीकृष्ण द्वारा एकबार भी उपसेवित न हो सकी, ऐसे मेरे जीवन को धिक्कार है–ऐसा सोचकर हे कदम्ब ! तुम दुःखी न होओ। कालिय–नाग के दर्शन के लिए आने पर श्रीकृष्ण तुम्हारी चरितार्थता विधान करेंगे, तुम्हारे ऊपर आरोहण करेंगे।।२२६।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—यहाँ अप्राणी कदम्ब वृक्ष के निर्वेद—नामक संचारि—भाव का आभास प्रदर्शित हुआ है। प्राणी न होने से वास्तव में कदम्ब में निर्वेद का उदय असम्भव है। इसलिए उसका निर्वेद असत्य है। जिसने कदम्ब वृक्ष को लक्ष्य करके उपर्युक्त वचन कहे, उसने मन में समझा कि कदम्ब में निर्वेद पैदा हुआ है। इस प्रकार इस उदाहरण में असत्यरूप अनौचित्य हुआ है और ऐसे अनौचित्यरूप अस्थान में निर्वेद रूप संचारि—भाव का आरोप करना निर्वेद—आभास ही है।

तिरश्चि यथा—

१३१—अधिरोहतु कः पक्षी कक्षामपरो ममाद्य मेध्यस्य।
हित्वाऽपि ताक्ष्यर्पक्षं भजते पक्षं हरिर्यस्य।।२३०।।अत्र गर्वस्य;

● ***अनुवाद—तिर्यगादि में अयोग्यत्व—रूप अनौचित्य का उदाहरण;*** **मोर ने कहा, गरुड़ के पंख को भी परित्याग कर श्रीकृष्ण ने आज मेरे पवित्र पंख को धारण किया है, अतः अन्य कौन सा पक्षी है जो मेरे समकक्ष हो सकता है ?।।२३०।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—यहाँ मोर में गर्व—आभास दिखाया गया है। इस प्रकार के गर्वपोषण में वस्तुतः मोर में कोई योग्यता नहीं है। मोर पक्षी में ऐसी अनुभूति होना भी असम्भव है। श्रीकृष्ण के मुकुट में मोरपंख को देखकर जिसने मोर का सौभाग्य माना है, उसने ही इस गर्व का मोर में आरोप किया है। अतः यह अयोग्यत्वरूप अनौचित्य है। ऐसे अनौचित्य रूप अस्थान में गर्व का आरोप होने से गर्व का आभास कहा गया है।

१००—वहमानेष्वपि सदा ज्ञानविज्ञानमाधुरीम्।
कदम्बादिषु सामान्यदृष्ट्याभासत्वमुच्यते।।२३१।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*वहमानेष्विति। ज्ञानमत्र तत्तज्जात्युचितं, विज्ञानमपि ततः किंचिदेव विशिष्टं। मनुष्यवज्ज्ञाने सति तेभ्योऽपि रहस्यक्रीडादीनांगोपने तदुच्छित्तिः स्यात्। "केवलेन हि भावेन गोप्यो गावो नगा मृगा"—इत्येकादशादिभ्य (११।१२।८) स्तेष्वपि भावः श्रूयते, स च सामान्याकार एव न तु सविवेक इति मन्तव्य, तदेतदाह—सामान्यदृष्ट्येति। निर्विवेकज्ञानेन हेतुनेत्यर्थः।।२३१।।*

● ***अनुवाद***—**(उपर्युक्त भावाभास के सम्बन्ध में आलोचना करते हुए श्रीग्रन्थकार कहते हैं)—व्रज के कदम्बादि जाति—उचित ज्ञान एवं विज्ञान अर्थात् भगवद् विषयकमात्र अनुभवरूप माधुरी वहन करने वाले हैं। केवल सामान्य दृष्टि से ही उनके सम्बन्ध में संचारि—भावों के आभास की बात कह दी गई है।।२३१।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—व्रज के कदम्बादि वृक्षों में स्वजातीय उचित ज्ञान एवं विशेष—ज्ञान—विज्ञान भी है। किन्तु मनुष्यवत्ज्ञान नहीं, यदि ऐसा हो तो श्रीप्रिया—प्रीतम को रहःक्रीड़ादि भी उनसे गोपन करनी होगी। ऐसा करने से लीला में उच्छेद या विघ्न होगा। श्रीमद्भागवत (११।१२।८) में स्पष्ट वर्णन है कि वृन्दावनस्थ गोपीगण, धेनुगण, पर्वत, मृग, नाग एवं अन्यान्य मूढ़बुद्धि प्राणियों की

भी श्रीकृष्ण में प्रीति या भाव है। किन्तु यह भाव सामान्याकार होता है, विवेक सहित नहीं होता। निर्विवेक ज्ञान के कारण श्लोक में 'सामान्यदृष्ट्या' पद दिया गया है।—श्रीपादजीवगोस्वामी।।

श्रीपादविश्वनाथ चक्रवर्त्ती ने तो स्पष्ट कहा है कि व्रजवृन्दावन के वृक्षों को केवल श्रीभगवद्–विषयक अनुभव होता है।

श्रीपाद मुकुन्ददास गोस्वामी ने कहा है कि केवल उदाहरण दिखाने के लिए व्रज के कदम्बादि वृक्षों में प्राकृत वृक्षादि की दृष्टि आरोपित कर उनके भावों को आभास कहा गया है। वस्तुतः वे सर्वदा भगवद्भक्तिरस का अनुभव करते हैं। श्रीभगवान् सदा क्षुधापिपासादि रहित हैं। परन्तु उनके क्षुधापिपासा–शयनादि जैसे रसवैचित्री–पोषण के निमित्त लीलाशक्ति द्वारा उद्भावित होते हैं। उसी प्रकार कदम्ब वृक्षादि के जाति–अनुकरण भी लीलाशक्ति के प्रभाव से, लीलारस वैचित्री के पोषण निमित्त उद्भावित हैं।

सारांश यह है कि व्रज–वृन्दावन के कदम्बादि वृक्ष, मयूरादि पक्षी प्राकृत वृक्ष या पक्षी नहीं हैं। वे सब ही नित्यसिद्ध श्रीकृष्ण के परिकर हैं और उनका भाव श्रीकृष्ण में अनादिकाल से विद्यमान है। लीला सम्पादन के लिए उनमें निर्विवेक ज्ञान रहता है। अतः उनके भावों को यहाँ आभास कहा गया है।।

१०१–भावानां क्वचिदुत्पत्ति–सन्धि–शाबल्य–शान्तयः।
दशाश्चतस्र एतासामुत्पत्तिस्त्विह सम्भवः।।२३२।।

यथा, १३२–मण्डले किमपि चण्डमरीचेर्लोहितायति निशम्य यशोदा।। वैष्णवीं ध्वनिधुरामविदूरे प्रस्रवस्तिमितकंचुलिकासीत्।।२३३।। अथ हर्षोत्पत्तिः

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*भावानामित्यस्य चतुर्थचरणे "उत्पत्तिस्त्विह सम्भवः" इत्येव पाठः।।२३२।।*

● ***अनुवाद***—**कभी–कभी संचारि–भावों की–उत्पत्ति, सन्धि, शाबल्य तथा शान्ति–यह चार प्रकार की दशा होती है। इन सब दशाओं के सम्भव प्राकट्य को ही "उत्पत्ति" कहते हैं।।२३२।।**

उत्पत्ति का उदाहरण; **सन्ध्या समय सूर्यमण्डल के लालवर्ण होने पर वेणु की उच्च ध्वनि; सुनकर स्तनों के दुग्धधारा क्षरित होने से माता निकट यशोदा की कंचुलिका सिक्त हो उठी।—यहाँ हर्षनामक संचारि–भाव की उत्पत्ति या प्राकट्य दिखाया गया है।।२३३।।**

यथा वा, १३३–त्वयि रहसि मिलन्त्यां सम्भ्रमन्यासभुग्ना–
प्युषसि सखि ! तवाली मेखला पश्य भाति।
इति विवृतरहस्ये माधवे कुंचितभ्रू–
र्दृशमानृजु किरन्ती राधिका वः पुनातु।।२३४।। अत्रासूयोत्पत्तिः;

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*अत्रासूयोत्पत्तिरिति परिहासेन निजोत्कर्षं व्यंजयति श्रीकृष्णे सप्रणयद्वेषात्।।२३४।।*

● ***अनुवाद—असूया–भाव का उत्पत्ति का उदाहरण;*** **हे सखि विशाखे ! उषाकाल में अकस्मात् तुम्हारे शयन गृह में जाने से एवं तुम्हारे आगमन से**

सम्भ्रमित होकर तुम्हारी सखी श्रीराधा ने, केलिकाल में जो मेखला शिथिल हो गई थी, उसे कटि में पुनः बाँधने की चेष्टा की थी; किन्तु सम्यक्‌रूप से वह उसे बाँध न सकीं। देख ! तो वह टेढ़ी होकर ही शोभित हो रही है। श्रीमाधव के उस रहःकथा वर्णन करने पर श्रीराधा ने श्रीकृष्ण के प्रति भ्रुकुटि चढ़ाकर वक्रदृष्टि डाली; ऐसी वक्रदृष्टि निक्षेपकारिणी श्रीराधा तुम्हारी रक्षा करे। (यहाँ श्रीकृष्ण–विषय में प्रणय–द्वेष के कारण परिहासपूर्वक अपने उत्कर्ष को प्रकाशित करने के कारण असूया की उत्पत्ति हुई है।।२३४।।

अथ सन्धिः–

१०२–सरूपयोर्भिन्नयोर्वा सन्धिःस्याद्‌भावयोर्युतिः।।२३५।।

तत्र सरूपयोः सन्धिः–

१०३–सन्धिः सरूपयोस्तत्राभिन्नहेतूत्थयोर्मतः।।२३६।।

यथा, १३४–राक्षसीं निशि निशाम्य निशान्ते–
गोकुलेशगृहिणी पतितांगीम्।
तत्कुचोपरि सुतं च हसन्तं हन्त–
निश्चलतनुः क्षणमासीत्।।२३७।।
अत्रानिष्टेष्टसंवीक्षाकृतयोर्जाड्ययोर्युतिः;

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*राक्षसीमिति। पूर्ववत् (२।३।१०) स्वाप्निकं चरितं (२।४।५७) हरिवंशानुसृतं वा।।२३७।।*

● *अनुवाद*–समानरूप तथा भिन्नरूप, दो भावों के परस्पर मिलन को *'सन्धि'* कहते हैं।।२३५।।

भिन्न हेतु से यदि दो समानरूप या सजातीय भाव उदित होकर परस्पर मिलते हैं, तो उसे *'समानरूप दो भावों की मिलन–जनित सन्धि'* कहते हैं।।२३६।।

उदाहरण; गोकुलपति श्रीनन्द–गृहिणी श्रीयशोदा ने रात्रि को स्वप्न देखा कि उसके घर में ही पूतना राक्षसी का शरीर पड़ा हुआ है और उसके वक्षःस्थल पर उसका पुत्र श्रीकृष्ण मुसकराता हुआ बैठा है। अहो ! यह स्वप्न देखकर श्रीयशोदाजी कुछ काल के लिए स्तम्भित हो गईं।।–यहाँ इष्ट तथा अनिष्ट दोनों से उत्पन्न दोनों प्रकार की जड़ता का मिलन हुआ है।।२३७।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–इष्ट श्रीकृष्ण के दर्शन से अतिशय आनन्द के कारण एक प्रकार की जड़ता श्रीयशोदा में उदित हुई। फिर अनिष्ट पूतना राक्षसी को देखने से उत्पन्न शंकावश दूसरे प्रकार की जड़ता उदित हो उठी। दोनों प्रकार की जड़ता उदित हो उठी। दोनों प्रकार की जड़ता, निश्चल–अंगता समानरूप से प्रकट हुई। किन्तु दोनों जड़ताओं के कारण का रूप एक नहीं है हेतु भिन्न है। एक जड़ता का हेतु है कृष्णदर्शन जनित आनन्द तथा दूसरी का कारण है राक्षसी दर्शनजनित श्रीकृष्ण–विषयिणी शंका। किन्तु जड़ता का रूप समान है। अतः दो भावों की मिलन–जनित सन्धि का यह उदाहरण है।।

अथ भिन्नयोः–

१०४–भिन्नयोर्हेतुनैकेन भिन्नेनाप्युपजातयोः।।२३८।।

तत्रैकहेतुजयोर्यथा–

१३५–दुर्वारचापलोऽयं धावन्नन्तर्बहिश्च गोष्ठस्य।
शिशुरकुतश्चिद्भीतिर्धिनोतो ह्रदयं दुनोति च मे।।२३६।। अत्रहर्षशंकयोः;

अनुवाद-एक हेतु से अथवा भिन्न–भिन्न हेतुओं से भी यदि दो भावों का उदय होता है, उन दो भावों के मिलन को भी *'भिन्नभावद्वय मिलन–जनित 'सन्धि'* कहते हैं।।२३८।।

एक हेतु से उद्‌भूत दो भावों के मिलनजनित सन्धि का उदाहरण; (माता यशोदा श्रीबालकृष्ण के सम्बन्ध में कहती हैं)–इस बालक की चपलता अत्यन्त दुर्वार है, यह तो गोष्ठ के भीतर और बाहर भी भागता रहता है; इसकी यह निर्भयता मेरे ह्रदय को हर्षित भी करती है और शंकित भी।–यहाँ हर्ष तथा शंका–इन दो भावों की सन्धि है। इन दोनों का एक ही कारण है श्रीकृष्ण की भयहीन–चपलता।।२३६।।

भिन्नहेतुजयोर्यथा–

१३६–विलसन्तमवेक्ष्य देवकी सुतमुत्फुल्लविलोचनं पुरः।
प्रबलामपि मल्लमण्डलीं हिममुष्णं च जलं दृशोर्दधे।।२४०।।

अत्र हर्षविषादयोः सन्धिः

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*सुतमुत्फुल्लेत्यादौ "गजदन्तस्फुरदंसमंगजमिति वा पाठः, हर्षः खल्वनेन लब्धबलो भवतीति, प्रथमपाठे तु तस्या ऐश्वर्यज्ञानस्य ह्युपोद्बलकमुत्फुल्लविलोचनत्वं हर्षाय स्यादिति समाधेयम्।।२४०।।*

● *अनुवाद–भिन्न हेतुद्वय जनित* दो भावों की मिलन–जनित सन्धि का उदाहरण; श्रीदेवकी माता अपने सामने प्रफुल्लनयन पुत्र श्रीकृष्ण को देखकर हर्षित नेत्रों में शीतल अश्रु भर लाईं और उधर अति बलशाली मल्लों की मण्डली को देखकर आशंका वश नेत्रों में गरम–गरम आँसू भर आये। यहाँ भिन्न दो हेतुओं से दो प्रकार के भिन्न भावों, हर्ष तथा विषाद की सन्धि दिखाई गई है।।२४०।।

१०५–एकेन जायमानानामनेकेन च हेतुना।
बहूनामपि भावानां सन्धिः स्फुटमवेक्ष्यते।।२४१।।

तत्र एकहेतुजानां, यथा–

१३७–निरुद्धा कालिन्दीतटभुवि मुकुन्देन बलिना
हठादन्तःस्मेरां तरलतरतारोज्ज्वलकलाम्।
अभिव्यक्तावज्ञामरुणकुटिलापांगसुषमां–
दृशं न्यस्यन्त्यस्मिन् जयति वृषभानोः कुलमणिः।।२४२।।

अत्र हर्षौत्सुक्यगर्वामर्षासूयानां सन्धिः

■ दुर्गमसंगमनी टीका–

तरलेत्यादिनौत्सुक्यस्य व्यक्तिः, कुटिलेत्यनेनासूयायाः।।२४२।।

● *अनुवाद*–एक ही कारण अथवा अनेक कारणों से उपन्न हुए अनेक भावों की सन्धि भी स्पष्ट देखने में आती है।।२४१।।

एक कारणजात अनेक भावों की सन्धि का उदाहरण; कालिन्दी तटवर्ती वन में बलशाली श्रीमुकुन्द द्वारा अकस्मात् मार्ग में रोकी हुई श्रीराधा भीतर से मुसकराती हुई (हर्ष), चंचल तारों से उज्ज्वल–कलायुक्त होकर (औत्सुक्य), अवज्ञा को प्रकाशित करती हुई (गर्व), लाल–लाल नेत्रोंयुक्त (अमर्ष) तथा टेढ़ी भौंहों से मनोहर (असूया) दृष्टि से देखती हुई वृषभानु–कुलमणि सर्वोत्कर्ष– शालिनी हो रही हैं।।–यहाँ हर्ष, औत्सुक्य, गर्व, अमर्ष, असूयादि एक ही कारण अर्थात् श्रीकृष्ण द्वारा पथ–निरोध से उद्भूत अनेक भावों की सन्धि दिखाई गई है।।२४२

अनेकहेतुजानां यथा–

१३८–परिहितहरिहारा वीक्ष्य राधा सवित्रीं
निकटभुवि तथाऽग्रे तर्कभाक् स्मेरपद्माम्।
हरिमपि दरदूरे स्वामिनं तत्र चासीन्
महसि विनतवक्रप्रस्फुरन्म्लानवक्त्रा।।२४३।।

अत्र लज्जामर्षविषादानां सन्धिः

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*परिहितहरिहारेत्यादि च चरितं कदाचित् श्रीव्रजेश्वरगृहे महोत्सवं सम्भाव्य; यद्यपि हारस्तदानीं तस्या वस्त्रैः सुसंवृत एव तथापि तस्याः स्वत एव संकोचात्तथा भावितमिति लभ्यते, परिहितो धृतो हरिहारो यया सा, द्वितीयाऽन्तपाठस्तु त्यक्तः। हृदि धृतेत्यादौ परिहितेत्यादि पाठाऽन्तरं त्यक्तम्, लज्जाऽमर्षेत्यादौ लज्जासूयेत्यादिकं च।।२४३।।*

● *अनुवाद–अनेक कारणजात अनेक भावों की सन्धि का उदाहरण;* (किसी समय श्रीनन्दराज के घर किसी महोत्सव के उपलक्ष्य में श्रीराधाजी भी पधारीं; किन्तु उनके गले में वस्त्र के नीचे श्रीकृष्ण का हार लटक रहा था) इस अवस्था में श्रीराधा ने अपनी माता को सामने देखा और तन–मन में तर्क करने लगीं (मुझ कुलांगना के लिए परपुरुष श्रीकृष्ण का हार गले में डालना अनुचित है। माता यह सब रहस्य जान गई है)। इधर विपक्षा पद्मा भी यह देखकर कि श्रीराधा श्रीकृष्ण का हार गले में डाले हुए है, मुसकराने लगी। यह देखकर श्रीराधा ने अपना मुख नीचे झुका लिया। कुछ दूरी पर श्रीकृष्ण के दर्शन कर उनका मुख प्रफुल्लित हो उठा। उत्सव उपलक्ष्य में वहाँ उपस्थित अपने पति अभिमन्यु को देखकर श्रीराधा का मुख ग्लानियुक्त हो गया।– यहाँ (माता के देखने से) लज्जा, (पद्मा को देखने से) अमर्ष, (श्रीकृष्ण–दर्शन से) हर्ष तथा (अभिमन्यु को देखने से) विषाद; इस प्रकार चार भावों की सन्धि है और इन चारों भावों के कारण भी पृथक्–पृथक् हैं।।२४३।।

अथ शावल्यं–

१०६–*शबलत्वं तु भावानां सम्मर्दः स्यात्परस्परम्।।२४४।।*

यथा, १३९—शक्तः किं नाम कर्तुं स शिशुरहह मे मित्रपक्षानधाक्षी
दातिष्ठेयं तमेव द्रुतमथ शरणं कुर्युरेतन्न वीराः।
आं दिव्या मल्लगोष्ठी विहरति स करेणोद्दधाराद्रिवर्यं–
र्यामद्यैव गत्वा व्रजभुवि कदनं हा ततः कम्पते धीः।।२४५।।

अत्र गर्वविषाददैन्यमतिस्मृतिशंकामर्षत्रासानां शाबल्यम्,

यथा वा, १४०—धिग्दीर्घे नयने ममास्तु मथुरा याभ्यां न सा प्रेक्ष्यते
विद्येयं मम किंकरीकृतनृपा कालस्तु सर्वंकषः।
लक्ष्मीकेलिगृहं गृहं मम हहा नित्यं तनुः क्षीयते
सद्मन्येव हरिं भजेय हृदयं वृन्दाटवी कर्षति।।२४६।।

अत्र निर्वेदगर्वशंकाधृतिविषादमत्यौत्सुक्यानां शाबल्यन्,

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*पूर्वपूर्वभावस्य किंचिदवशेषाच्छबलत्वम्।।२४४।।*

● *अनुवाद*—समस्त संचारि—भावों के परस्पर सम्मर्द का नाम *'शाबल्य'* है; अर्थात् पूर्ववर्ती भाव का उपमर्दन करके दूसरे भाव का जो उदय है, उसे *'शाबल्य'* कहते हैं।।२४४।।

शाबल्य का उदाहरण—कंस मन—मन में सोचने लगा, वह कृष्ण तो शिशु है, वह मेरा क्या बिगाड़ सकता है ? सामर्थ्य ही क्या है उसमें ? (यहाँ गर्व प्रकाशित हो रहा है)। (फिर श्रीकृष्ण के विक्रम को याद करके कहता है) अहो ! इस शिशु ने मेरे मित्रों को भस्मीभूत कर दिया है, (यहाँ विषाद प्रकाशित हो रहा है। पूर्ववर्ती भाव गर्व का उपमर्दन करके यहाँ विषाद का उदय हुआ है। कंस सोचता है, अब मैं क्या करूँ ? क्या अभी शीघ्र जाकर उस कृष्ण की शरण ग्रहण कर लूँ ? (यहाँ 'विषाद' का उपमर्दन कर 'दैन्य' का उदय है। तत्क्षण सोचता है—ना, उसकी शरण नहीं जा सकता, क्योंकि कोई भी शूरवीर ऐसा नहीं करेगा। (यहाँ 'दैन्य' का उपमर्दन करके 'मति' का उदय है, फिर कंस बोला—अरे ! भय कैसा ? मेरे पास तो बड़े—बड़े बलवान मल्ल विद्यमान हैं (यहाँ 'मति' का उपमर्दन कर 'स्मृति' का उदय है)। फिर सोचने लगा, मेरे बलवान मल्ल क्या उस कृष्ण पर जय कर सकेंगे ? उसने तो गोवर्धन पर्वत को भी उठा लिया था। (यहाँ 'स्मृति' का उपमर्दन कर 'शंका' का उदय है। तब उसने सोचा, तो आज ही व्रजभूमि में जाकर सबका संहार करना आरम्भ कर दूँ क्या ? (यहाँ 'शंका' का उपमर्दन कर 'अमर्ष' का उदय है। फिर सोचने लगा, ऐसा भी कैसे करूँ ? क्योंकि) उस शिशु कृष्ण के भय से मेरी बुद्धि, मेरा हृदय तो काँप रहा है। (यहाँ 'अमर्ष' का उपमर्दन कर 'त्रास' का उदय हुआ है)। इस प्रकार इस श्लोक में गर्व, विषाद, दैन्य, मति, शंका, अमर्ष तथा त्रास—इन आठ संचारि—भावों का परस्पर सम्मर्द दिखाया गया है। (भाव—सन्धि में एक साथ दो या अधिक समान बल वाले भावों की साथ—साथ प्रतीति होती है, किन्तु भाव—शाबल्य में एक भाव पहले भाव को दबाकर दूसरा भाव उदित होता है। यही भाव—सन्धि तथा भाव—शाबल्य का भेद है)।।२४५।।

दूसरा उदाहरण भाव—शाबल्य का; मेरे इन बड़े बड़े नेत्रों को धिक्कार है, जिन्होंने मथुरा का दर्शन नहीं किया (यह निर्वेद है), कोई बात नहीं यदि मथुरा

का दर्शन नहीं किया, किन्तु इन नेत्रों से उपार्जित राजाओं को भी अपना सेवक बना लेने वाली विद्या तो मेरे पास है (यहाँ 'निर्वेद' को दबाकर 'गर्व' का उदय है। किन्तु विद्या तो बिना भगवत् भजन के काल से नहीं बचा सकती—यह सोचकर कहता है) काल तो सबको नष्ट कर देता है (यहाँ गर्व को दबाकर 'शंका' का उदय है) मेरे घर तो सदा लक्ष्मी क्रीड़ा करती है, ('शंका' को दबाकर यहाँ 'धृति' का उदय है)। किन्तु मेरा शरीर तो प्रतिदिन क्षीण होता जाता है (यहाँ 'धृति' को दबाकर 'विषाद' का उदय है) अतः मैं घर में रहकर श्रीभगवान् का भजन करूँ, (यहाँ 'विषाद' को दबाकर 'मति' का उदय है), अरे ! मेरे मन को तो श्रीवृन्दावन हठात् अपनी ओर खींच रहा है। (यहाँ 'मति' को दबाकर 'औत्सुक्य' का उदय हुआ है।) इस प्रकार यहाँ निर्वेद, गर्व, शंका, धृति, विषाद, मति तथा औत्सुक्य, इन सात संचारि—भावों का सम्मर्द होने से इसे भाव—शाबल्य के उदाहरण में ग्रहण किया गया है।।२४६।।

अथ शान्तिः—

१०७—अत्यारूढस्य भावस्य विलयः शान्तिरुच्यते।।२४७।।

यथा, १४१—विधुरितवदना विदूनभासस्तमघहरं गहने गवेषयन्तः।
मृदुकलमुरलीं निशम्य शैले व्रजशिशवः पुलकोज्ज्वला बभूवुः।।२३८।।
अत्र विषादशान्तिः,

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*गवेषयन्तो मार्गयन्तः, "मृदुकलेत्यादिरेव" पाठ इष्टः।।२४८।।*

● *अनुवाद*—जो संचारि—भाव अत्यन्त उत्कट होता है, उसके विलय का नाम *'शान्ति'* या *'भाव—शान्ति'* है।।२४७।।

भाव—शान्ति का उदाहरण, कृष्णसखा व्रजगोपबालक श्रीकृष्ण को न देखकर मलिनमुख तथा विवर्णता को प्राप्त होकर वन में अघासुर—निहंता श्रीकृष्ण को ढूँढ़ रहे थे कि इतने में गोवर्धन के ऊपर मृदुमधुर मुरली की ध्वनि सुनाई दी, झट उनके शरीर पुलकित होकर उज्ज्वल हो उठे।। यहाँ विषाद का विलय या शान्ति दिखाई गई है।।२४८।।

अब आगे भावों के सम्बन्ध में कुछ विशेष ज्ञातव्य विषयों का उपसंहार रूप में उल्लेख करते हैं—

१०८—शब्दार्थरसवैचित्री वाचि काचन नास्ति मे।
यथा कथंचिदेवोक्तं भावोदाहरणं परम्।।२४६।।
१०६—त्रयस्त्रिंशदिमेऽष्टौ च वक्ष्यन्ते स्थायिनश्च ये।
मुख्यभावाभिधास्त्वेकचत्वारिंशदमी स्मृताः।।२५०।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*अष्टौ हासादयः सप्त, सामान्यभक्तिरूपस्त्वेक इति, मुख्यपदेन सात्त्विका व्यावर्तिताः।२५०।।*

● *अनुवाद*—ग्रन्थकार श्रीरूपगोस्वामी अपना दैन्य प्रकाश करते हुए कहते हैं, यद्यपि मेरी वाणी में शब्द, अर्थ तथा रस का कोई चमत्कार नहीं है, फिर भी यहाँ भावों के कुछ एक उदाहरण दिखाये हैं।।२४६।।

तेतीस व्यभिचारि–भाव एवं (हास्य, अद्‌भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक तथा वीभत्स) ये सात गौण–भाव तथा एक मुख्यभाव (शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा मधुर–इन पाँचों को मुख्य भक्तिरूप होने से एक ही भाव गिनाया गया है)–ये सब मिलकर कुल इकतालीस (४१) भाव होते हैं।।२५०।।

११०–शरीरेन्द्रियवर्गस्य विकाराणां विधायकाः।
भावा विभावजनिताश्चित्तवृत्तय ईरिताः।।२५१।।
१११–क्वचित्स्वाभाविको भावः कश्चिदागन्तुकः क्वचित्।
यस्तु स्वाभाविको भावः स व्याप्यान्तर्बहिः स्थितः।।२५२।।
११२–मंजिष्ठाद्ये यथा द्रव्ये रागस्तन्मय ईक्ष्यते।
अत्र स्यान्नाममात्रेण विभावस्य विभावता।।२५३।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*तन्मय इति। अवयवार्थे मयट्, नाममात्रेणेति। यथा कथंचित्सम्बन्धमात्रेणेत्यर्थः।।२५३।।*

● *अनुवाद*–भावों के आविर्भाव से जो चित्तवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, वे शरीर तथा इन्द्रिय–वर्ग में विकार विधान–उत्पन्न करने वाली कही गई हैं।।२५१।।

औग्र्य, चापल्य, धैर्य एवं लज्जादि भावों में कोई–कोई भाव कहीं–कहीं स्वाभाविक अर्थात् औत्पत्तिक होता है और कोई–कोई भाव कहीं–कहीं आगन्तुक। जो स्वाभाविक होता है, वह भक्त के अन्तर बाहर व्याप्त होकर अवस्थान करता है, जैसे औत्पत्तिक लाल रंग के द्रव्य मंजिष्ठादि में लालिमा भीतर–बाहर व्याप्त कर सदा अवस्थान करती है। ऐसे भक्तों में यथा कथंचित् सम्बन्ध मात्र ही विभाव विभावता या उद्दीपकता को प्राप्त होता है।।२५२–२५३।।

११३–एतेन सहजेनैव भावेनानुगता रतिः।
एकरूपाऽपि या भक्ते विविधा प्रतिभात्यसौ।।२५४।।
११४–आगन्तुकस्तु यो भावः पटादौ रक्तिमेव सः।
तैस्तैर्विभावैरेवायं धीयते दीप्यतेऽपि च।।२५५।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*धीयते न्यस्यते।।२५५।।*

● *अनुवाद*–स्वाभाविक भाव के द्वारा अनुगता जो रति है, वह एकरूपा होते भी विविध रूप में प्रतिभात होती है।।२५४।।

आगन्तुक भाव ऐसा जैसे सफेद वस्त्र को लाल रंग दिया जाये। यह आगन्तुक भाव उस–उस स्वाभाविक भाव द्वारा ही भक्त–चित्त में प्रकाशित होता है। अतः यह स्वाभाविक भाव का अनुभाव या कार्य ही कहा जाता है।।२५५।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–सामान्य लक्षण में कृष्ण–रति एकरूप है अर्थात् कृष्ण–प्रीतिमयी है, किन्तु विभिन्न भक्तों की कृष्ण–प्रीति की वासना भिन्न–भिन्न होती है। अतः विभिन्न भाव से श्रीकृष्ण की प्रीति विधान की वासनानुसार वह एक ही कृष्ण–प्रीतिमयी रति विभिन्न रूप से आत्म प्रकट करती है। शान्त–भक्तों

में शान्तरतिरूप में, दास्यभक्तों में दास्यरतिरूप में, इत्यादि विभिन्न रूपों में प्रकाशित होती है। जो नित्यसिद्ध परिकर हैं, उनमें समस्त रति वैचित्री भी स्वाभाविकी है, अनादिकाल से उनमें अवस्थान करती है। साधकों में जो नित्यसिद्ध परिकरों की रति का आनुगत्य करते हैं, उनमें भी उन नित्यसिद्ध परिकरों की रति के अनुरूप रति ही उत्पन्न होती है, आरम्भ से ही उनके चित्त में तदनुरूप रति विद्यमान रहती है।

सफेद वस्त्र को यदि लाल रंग में रंग दिया जाय तो उसका लाल रंग आगन्तुक होता है, मंजिष्ठ की भाँति स्वाभाविक नहीं होता है। उसी प्रकार आगन्तुक भाव भी उसी प्रकार होता है, स्वाभाविक भाव का ही अनुभाव या कार्य होता है आगन्तुक भाव।।

११५—विभावनादिवैशिष्ट्याद्भक्तानां भेदतस्तथा।
प्रायेण सर्वभावानां वैशिष्ट्यमुपजायते।।२५६।।
११६—विविधानां तु भक्तानां वैशिष्ट्याद्विविधं मनः।
मनोऽनुसाराद्भावानां तारतम्यं किलोदये।।२५७।।

■ *दुर्गमसंगमनी टीका*—विविधानां शान्तादीनां समस्तानामेव भक्तानां मनो विविधं भवति; तत्र हेतुः वैशिष्ट्याद् गरिष्ठत्वादिवैविध्यात्।। (भावानामुदये तारतम्यं ज्ञेयम्)।।२५७।।

● *अनुवाद*—विभावनादि की विशेषता के भेद से एवं भक्तों के भावों में भेद के कारण प्रायशः समस्त भावों का वैशिष्ट्य उत्पन्न होता है। अनेक प्रकार के भक्तों के विविध वैशिष्ट्य के कारण उनके मन भी विविध रूप के होते हैं, क्योंकि विभावनादि कृत भाव—वैशिष्ट्य का उदय मन के अधीन है। इसलिए मन के अनुसार भावों के उदय में भी तारतम्य हुआ करता है।।२५६—५७।।

११७—चित्ते गरिष्ठे गम्भीरे महिष्ठे कर्कशादिके।
सम्यगुन्मीलिताश्चामी न लक्ष्यन्ते स्फुटं जनैः।।२५८।।
११८—चित्ते लघिष्ठे चोत्ताने क्षोदिष्ठे कोमलादिके।
मनागुन्मीलिताश्चामी लक्ष्यन्ते वहिरुल्वणाः।।२५९।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*तदेवाह चित्ते गरिष्ठे इत्यादिना, अमी भावाः।।२५८।।*

● *अनुवाद*—भक्त का चित्त यदि गरिष्ठ (सोने के समान कठोर) हो, किंवा गंभीर (समुद्र की तरह गम्भीर), या महिष्ठ (नगर के समान महान) अथवा कर्कशादि हो तो उसमें भाव सम्यक्रूप से उदित होने पर भी देहेन्द्रियों के विकार द्वारा बाहर स्पष्ट न होने से लोग उन्हें देख नहीं पाते। और चित्त यदि (रुई के समान) हलका हो, (तलैया के समान) उथला किंवा (कुटीर के समान) क्षुद्र अथवा कोमल हो, तो उसमें तनिक भी भाव उदित होने पर देह—इद्रियों के विकार द्वारा अच्छी प्रकार स्पष्ट होने से दूसरे लोग उसे विशेषरूप से देख सकते हैं।।२५८—५९।।

११९—गरिष्ठं स्वर्णपिण्डाभं लघिष्ठं तूलपिण्डवत्।
चित्तयुग्मेऽत्र विज्ञेया भावस्य पवनोपमा।।२६०।।
१२०—गम्भीरं सिन्धुवच्चित्तमुत्तानं पल्वलादिवत्।
चित्तद्वयेऽत्र भावस्य महाद्रिशिखरोपमा।।२६१।।
१२१—पत्तनाभं महिष्ठं स्यात् क्षोदिष्ठं तु कुटीरवत्।
चित्तयुग्मेऽत्र भावस्य दीपेनेभेन वोपमा।।२६२।।

● *अनुवाद*—सोने के पिण्ड के समान कठोर 'गरिष्ठ' कहलाता है, रुई के पिण्ड के समान हलका, 'लघिष्ठ' कहलाता है। इन दोनों प्रकार के चित्त में भाव को पवन के समान जानना चाहिए।।२६०।। समुद्र के समान 'गम्भीर', छोटी—सी तलैया के समान 'उत्तान' कहलाता है। इन दोनों प्रकार के चित्त में भाव को महान पर्वत शिखर के समान जानना चाहिए।।२६१।।

नगर के समान महान ''महिष्ठ'' तथा कुटीर के समान क्षुद्र 'क्षोदिष्ठ' चित्त कहलाता है। इन दोनों प्रकार के चित्त में भाव को दीपक तथा हाथी की उपमा दी जा सकती है।।२६२।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—जैसे स्वर्ण के पिण्ड पर वायु के वेग का कुछ प्रभाव नहीं पड़ता, किन्तु रुई का पिण्ड थोड़ी—सी वायु से बाहर उड़ा—उड़ा फिरता है, उसी प्रकार गरिष्ठ—चित्त में भाव का प्रबल वेग उदित होने पर भी कुछ विकार नहीं दीखते, परन्तु हलके या लघिष्ठ—चित्त में थोड़े से भाव का भी उदय होने पर विकार स्पष्ट दिखलाई देने लगते हैं। समुद्र में बड़े—बड़े पर्वतों के शिखर भी दिखाई नहीं देते, परन्तु छोटी—सी तलाई में साधारण—सा पत्थर भी उसे हिला देता या विकृत कर देता है। इसी प्रकार गम्भीर—चित्त में प्रबलरूप से भाव उदित होने पर भी दिखाई नहीं देता, किन्तु उथले या उत्तान—चित्त में हलका—सा भाव भी उथल—पुथल मचाकर उसे स्पष्ट विकृत कर देता है। नगर में दीपक अथवा हाथी दिखलाई नहीं देते, किन्तु छोटे से गाँव में दीपक और हाथी स्पष्ट दिखाई देते हैं। उसी प्रकार महिष्ठ—चित्त में भाव उदित होने पर देहेन्द्रियों में उसके विकार दिखलाई नहीं देते, किन्तु क्षोदिष्ठ चित्त में भाव—विकार तुरन्त दिखाई दे जाते हैं।

१२२—कर्कशं त्रिविधं प्रोक्तं वज्रं स्तर्णं तथा जतु।
चित्तत्रयेऽत्र भावस्य त्रेया वैश्वानरोपमा।।२६३।।
१२३—अत्यन्तकठिनं वज्रमकुतश्चनमार्दवम्।
ईदृशं तापसादीनां चित्तं तावदवेक्ष्यते।।२६४।।
१२४—स्वर्णं द्रवति भावाग्नेस्तपेनातिगरीयसा।
जतु द्रवत्वमायाति तापलेशेन सर्वतः।।२६५।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*भावस्य पवनोपमेति पवनेऽधिकरणे सादृश्यमित्यर्थः, किन्तु दीपनेभेनरोपमेति वक्ष्यमाणरीत्या तृतीयान्तेनैव पवनेन समासो, न तु सप्तम्यन्तेनेति ग्रन्थकृतामभिप्रायो लक्ष्यते। तृतीया च न सहार्थयोगे मन्तव्या;*

पुत्रेणागत इतिवत् समासो न स्यात्, "तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयान्यतरस्यामित्यत्र" तु सदृशवचनाभ्यामपि तुलोपमा–शब्दाभ्यां प्रत्युदाहृतं भाष्यवृत्तौ। उपमा स्त्रीमुखस्येन्दुश्चन्द्रस्य स्त्रीमुखं तुलेति, तुल्यार्थैरित्युक्तेः सादृश्यवचनाभ्यां तुलोपमाभ्यां तृतीया न प्राप्नोत्येव; तस्मात् कांस्यपात्र्या भुङ्क्ते इतिवदधिकरण एव करणमत्र विवक्षितं, ततः "कर्तृकरणे च कृता बहुलमिति" समासश्च सम्मतः इति परत्रापि ज्ञेयम्।।२६३।। तापसादीनां कनिष्ठशान्तभक्तादीनामित्यर्थः।।२६४।।

● *अनुवाद*–कर्कश–चित्त तीन प्रकार का कहा गया है–१, हीरे के समान कठिन, २. स्वर्ण के समान कठिन तथा ३. लाख के समान कठिन। इन तीनों प्रकार के कर्कश–चित्तों में भाव को अग्नि के समान समझना चाहिए।।२६३।।

वज्र या हीरा अत्यन्त कठोर होता है; उसे आग भी किसी प्रकार पिघला नहीं सकती। तापसों अर्थात् कनिष्ठ शान्त–भक्तों का चित्त इसी प्रकार का अत्यन्त कठोर होता है, जो कभी भी पिघलता नहीं, कोमल नहीं होता।।२६४।।

स्वर्ण अग्नि के तीव्र ताप से द्रवीभूत हो जाता है, इस तरह स्वर्णतुल्य कर्कश–चित्त भी अतिशय भावों से पिघल जाता है। और लाख तो थोड़े से अग्नि ताप से सम्यक् पिघल जाती है।

१२५–कोमलं च त्रिधैवोक्तं मदनं नवनीतकम्।
अमृतं चेति भावोऽत्र प्रायः सूर्यातपायते।।२६६।।

१२६–द्रवेदत्राद्ययुगलमातपेनयथायथम्।
द्रवीभूतं स्वभावेन सर्वदैवामृतं भवेत्।
गोविन्दप्रेष्ठवर्य्याणां चित्तं स्यादमृतं किल।।२६७।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*मदनं मधूच्छिष्टं, तत्र गरिष्ठत्वादित्रिकेन सह लघिष्ठत्वादित्रिकं व्यभिचारिमात्रेणाविक्षेप–विक्षेपयोर्हेतुत्वाय निरूपितं, कर्कशत्वकोमलत्वे तु मुख्यस्थायिवेनाद्रवद्रवयोर्हेतुत्वाय, निरूपिते, तत्र च गरिष्ठत्वम् अल्पार्थस्पर्शित्वेऽपि तस्मिन्निबिडतया यत्किंचिदर्थेनाचाल्यस्वभावत्वं, लघिष्ठत्वं किंचिद्बह्वर्थस्पर्शित्वेऽपि तस्मिन्निबिड़तया यत्किंचिदर्थेन चाल्यस्वभावत्वम् अत्र गरिष्ठकर्कशयोर्भावस्य सम्यगुन्मीलनं नाम तस्मिन् योग्यतैव ज्ञेया, गरिष्ठत्वादिभ्यां निरुद्धं बहिःप्रकाशत्वाद्, अतएव वक्ष्यते "किन्तु सुष्ठु महिष्ठत्वमित्यादि", गम्भीरत्वम् अतिवह्वर्थस्पर्शितया तत्राप्यामूलस्पर्शितया महताऽप्यर्थेनादृश्यक्षोभस्वभावत्वं, तद्विपरीतत्वमुत्तानत्वं, महिष्ठत्वं बह्वर्थस्पर्शित्वेऽपि मूलार्थास्पर्शितया किंचिद्योग्येनार्थेनैकदेश एव प्रकाश्यत्वं विक्षेप्यत्वं वा, मनःपक्षे त्वेकदेशत्वं नाम एकद्विमात्रेन्द्रियात्मकत्वं, क्षोदिष्ठत्वमल्पार्थस्पर्शितया तत्तन्मात्रेण सम्यक् तत्तत्स्वभावत्वं, पल्वलकुटीरयोः किंचिद्गाम्भीर्यतदभावाभ्यां भेदः, अत्र वज्रादयस्त्रयो भेदा द्रावकभावस्य केवलप्रतिकूल–समप्रतिकूलानुकूल–किंचित्प्रतिकूलभावैर्ज्ञेयाः, मदनादयस्तु द्रावकभावानुकूलभावस्य कनिष्ठत्वमध्यमत्वश्रेष्ठत्वैर्ज्ञेयाः, तदेवं गरिष्ठत्वादियुग्मत्रिकेऽप्येवं भेदाः सम्भवन्तीत्यभिप्रेतम्।।२६६।। द्रवीभूतमिति अत्र तु व्यभिचारिण एव वैचीत्रीकारका इति भावः।।२६७।।*

● *अनुवाद*–चित्त की कोमलता भी तीन प्रकार की है–१. मदन (मोम) के समान कोमल, २. नवनीत (माखन) के समान कोमल तथा ३. अमृत के समान कोमल। इन तीनों प्रकार के कोमल चित्तों के लिए भाव प्रायः सूर्य ताप के समान है।।२६६।

मोम तथा नवनीत सूर्य के ताप से यथायथ भाव से पिघल जाते हैं। उसी प्रकार मोम तुल्य तथा नवनीत तुल्य कोमल चित्त वाले भक्तों का चित्त भाव के स्पर्शमात्र से द्रवीभूत हो जाता है। अमृत स्वाभाविक द्रवीभूत है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण के प्रियतम–भक्तों के चित्त भी स्वभावतः अमृततुल्य सदा कोमलद्रवीभूत रहते हैं।।२६७।।

१२७–कृष्णभक्तविशेषस्य गरिष्ठत्वादिभिर्गुणैः।
समवेतं सदाऽमीभिर्द्वित्रैरपि मनो भवेत्।।२६८।।
१२८–किन्तु सुष्ठु महिष्ठत्वं भावो बाढमुपागतः।
सर्वप्रकारमेवेदं चित्तं विक्षोभयत्यलम्।।२६९।।

यथा दानकेलिकौमुद्यां (२)–

१४२–गभीरोऽप्यश्रान्तं दुरधिगमपारोऽपि नितरां
महार्घ्यां मर्यादां दधदपि हरेरास्पदमपि।
सतां स्तोमः प्रेमप्युदयति समग्रे स्थगयितु
विकारं न स्फारं जलनिधिरिवेन्दौ प्रभवति।।२७०।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*कृष्णभक्तेति। अत्र गरिष्ठत्वादिकं श्रीकृष्णसम्बन्धिन एवार्थान्तरस्यावेशेन ज्ञेयम्, एतद्वैपरीत्यादिना लघिष्ठत्वादिकमपि, कर्कशत्वं तु ब्रह्मत्वैश्वर्यज्ञानादिना, माधुर्यज्ञानमेव हि स्नेहमुत्पादयति, तद्द्वयं पुनश्चमत्कारमात्रकरमिति दशमटिप्पण्या "मित्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या" (भा० १०/१२/११) इत्यादौ व्याख्यातम्, एतदुक्तं भवति–मनः खलु स्वतः सत्त्वगुण–जातत्वेन सर्वेषामविशिष्टमेव, तत्र भावान्तरैरेव विशेष आरोप्यते, ते च भावा द्विविधाः–प्राकृता भागवताश्चेति, तत्र कनिष्ठाधिकारिणां प्राकृता एव गरिष्ठत्वादौ हेतवः, श्रेष्ठाधिकारिणां तु भागवता एव, ते चामृतत्वहेतुभावापेक्षया सर्वेऽपि न्यूनन्यूनाः, स्थायिभावतारतम्यात् सर्वत्र द्रवतातारतम्यं, द्रवता च स्वर्णादीनां यथोत्तरमुत्तमा यौ च व्यभिचारिभावादविक्षेपविक्षेपौ; तयोश्च यथास्थायिभावमेव प्रशंसा किन्तु तत्र गरिष्ठत्वादौ हेतुरेक एको भावः स्वाभाविकः विक्षेपहेतुः परः परस्त्वागन्तुको ज्ञेयः।।२६८।। ननु गरिष्ठादौ विक्षेपो माभून्नाम वज्रे तु द्रवता कदाचिन्नास्त्येव सा च स्थायिमात्रकृतेत्युक्तं तर्हि तत् कथं भक्तचित्तत्वेन गण्यते ? तत्राह–किन्त्वति। भावोऽत्र मुख्यतया स्थायी विवक्षितः प्रसंगादन्यश्च, सर्वप्रकारमेवेति। हीरकस्याप्यौषधिषयोगेण द्रवीभावाय योग्यत्वात्।।२६९।। तत्र दिग्दर्शनं–यथेति, सतां स्तोमपक्षे गम्भीरत्वं तावत्स्वत एव प्रेमगोपनहेतुः स्यात् समर्यादत्वं धाष्ट्र्यपरिहाराय कृत्रिमतया, अथ दुरधिगमपारत्वं नामानन्तगुणत्वं तच्च तद्धेतुः स्याद् यदा यदा यो गुण दृश्यते तदा तस्यैवालौकिकतया लोकचित्तावरणात् तथा हरेरास्पदत्वमपि तद्गोपनाय कल्पेत तत्स्फूर्तेः स्वभावापन्नत्वाद्बहिर्विकाराय नातिसम्भवेत् इति, तथापि हरेरास्पदत्वेऽपि*

तस्येन्दुदर्शनाद्विकारो हरेः शयनलीलोपयोगितया स्वपुत्रस्य तस्य किरणगणव्याप्तेरिति ज्ञेयम्।।२७०।।

● *अनुवाद*—श्रीकृष्ण के विशेष भक्तों का चित्त इन गरिष्ठता आदि दो–तीन गुणों से सदा युक्त रहता है।।२६८।।

किन्तु यह उत्तम महनीय भाव प्रबलता को प्राप्त होने पर चित्त को सब प्रकार से अत्यन्त क्षुब्ध कर देता है जिससे उस भाव को छिपाना असम्भव हो जाता है।।२६६।।

जैसा कि दानकेलिकौमुदी (२) में कहा गया है, श्रीनारायण का शयन स्थान समुद्र निरन्तर गम्भीर है, कोई उसका पार नहीं पा सकता एवं अविनाशी मर्यादा को धारण करने वाला है; किन्तु ऐसा होने पर भी पौर्णमासी तिथि को जब पूर्णचन्द्र का उदय होता है, तब जैसे वह समुद्र अपने विकार या उच्छ्वास को सम्वरण करने में समर्थ नहीं हो पाता, उसी प्रकार जो भक्त श्रीहरि के आश्रित हैं—नित्य स्फूर्ति–प्राप्त हैं, गम्भीर (प्रेमगोपन में समर्थ) तथा अनन्तगुण विशिष्ट हैं और स्वाभाविकरूप से मर्यादा पालनकारी हैं, पराकाष्ठा प्राप्त प्रेम के उदय होने पर वे प्रेम–विकारों का सम्वरण नहीं कर सकते।।२७०।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—व्यभिचारि भावों के द्वारा चित्त के अविक्षेपों तथा विक्षेपों को दिखाने के लिए ही तीन प्रकार के गरिष्ठत्व के साथ तीन प्रकार का लघिष्ठत्व भी निरूपण किया गया है। इसी प्रकार चित्तका जो कठोरत्व और कोमलत्व भी कहा गया है, वह भावों द्वारा चित्त की अद्रवता तथा द्रवता के कारण कहा गया है। भावों के अल्पस्पर्श से चालित न होना गरिष्ठत्व है और चालित हो जाना लघिष्ठत्व है। चित्त वस्तुतः गुरु या लघु नहीं होता, न कर्कश होता है। चित्त के कृष्ण–सम्बन्धी आवेश के अनुसार ही गरिष्ठत्वादि होते हैं, विपरीत अवस्था में लघिष्ठत्व होता है।

श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में ब्रह्मत्व–ज्ञान तथा ऐश्वर्य–ज्ञान होना चित्त का कठोरत्व है। माधुर्य–ज्ञान ही श्रीकृष्ण–विषय में स्नेह उत्पादित कर सकता है, किन्तु ब्रह्मत्व ज्ञान एवं ऐश्वर्य–ज्ञान नहीं, वे चमत्कारजनक हो सकते हैं, स्नेह उत्पादक नहीं। सबका मन सत्त्वगुण–जात है, इसलिए इस विषय में किसी के मन का कोई विशेषत्व नहीं है। भावान्तर के द्वारा ही विशेषत्व होता है। वह भावान्तर दो प्रकार का है—प्राकृत–भाव तथा भागवत–भाव। कनिष्ठ अधिकारियों के पक्ष में प्राकृत–भाव ही गरिष्ठत्वादि का कारण है और श्रेष्ठ अधिकारियों के पक्ष में भागवत–भाव ही कारण होता है। अमृतत्व का जो कारण है उस भाव की अपेक्षा वे सब ही कम हैं। स्थायी–भावों के तारतम्यानुसार सर्वत्र द्रवता का तारतम्य है। द्रवता भी स्वर्ण आदि की तरह उत्तरोत्तर उत्तम है। व्यभिचारि भावों से जो अविक्षेप एवं विक्षेप होते हैं, वे भी स्थायि भाव के अनुसार ही प्रशंसनीय होते हैं; किन्तु वहाँ गरिष्ठत्वादि विषय में कारण होता है एक–एक स्वाभाविक–भाव, विक्षेप का कारण आगन्तुक होता है।

किन्तु औषध विशेष (कैमिकल) के योग से जैसे हीरा भी पिघल जाता है, उसी प्रकार स्थायि–भाव यदि अतिशय वृद्धि को या महत्ता को प्राप्त करे, तो गरिष्ठत्वादि सब प्रकार का लक्षण विशिष्ट चित्त क्षुभित हो सकता है। इसी के समर्थन में दानकेलि–कौमुदी का प्रमाण उद्धृत किया गया है।

इस प्रकार श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु के दक्षिणविभाग में भक्तिरससामान्य निरूपणान्तर्गत व्यभिचारिभाव–नामक चतुर्थी लहरी समाप्त हुई।।४।।

● ● ●

पंचम-लहरी : स्थायिभावाख्या

अथ स्थायी–

१–अविरुद्धान् विरुद्धांश्च भावान् यो वशतां नयन्।
सुराजेव विराजेत स स्थायी भाव उच्यते।।१।।
२–स्थायी भावोऽत्र सम्प्रोक्तः श्रीकृष्णविषया रतिः।
मुख्या गौणी च सा द्वेधा रसज्ञैः परिकीर्तिता।।२।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*अविरुद्धान् हासादीन्, विरुद्धान् क्रोधादीन्, स भावः स्थायी उच्यते।।१।। स्थायिभावमेव पूर्वतोऽप्याधिकत्वेन बोधयितुमाह–स्थायीति। "या कृष्णविषया रतिः स एव स्थायी भाव", पूर्व प्रोक्तः, सम्प्रति तु किंचिदधिकत्वेनापि वक्ष्यत इत्यर्थः, तथैवाह–मुख्येत्यादिना–सा गौणीरतिरुच्यते इत्यन्तेन (२।५।३६) ग्रन्थेन।।२।।*

● ***अनुवाद***–**अविरुद्ध तथा विरुद्ध भावों को वशीभूत करके जो भाव श्रेष्ठ राजा की भाँति शोभित होता है, वह *'स्थायि–भाव'* कहलाता है।।१।।**

यहाँ श्रीकृष्ण–विषयक रति ही स्थायि–भाव है। रस के तत्वज्ञ विद्वानों ने *'मुख्या–रति'* तथा 'गौणी–रति' इन दो भेदों में उसे कहा है।।२।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–पहले यह कहा जा चुका है कि विभाव, अनुभाव, सात्त्विक–भाव तथा व्यभिचारि–भावों के साथ मिलकर कृष्ण–रति या स्थायि–भाव रसरूप में परिणत होता है, जो आस्वादनीय है। पूर्ववर्ती लहरियों में विभावादि के विषय में वर्णन कर आये हैं; अब स्थायि–भाव के विषय में वर्णन करते हैं–

जो भाव अविरुद्ध अर्थात् अनुकूल तथा विरुद्ध अर्थात् प्रतिकूल भावों के वशीभूत नहीं होता अथवा उनके द्वारा कभी तिरोहित नहीं होता वह स्थायिभाव है। अनुकूलता में मित्र–भाव तथा उदासीन–भाव दोनों ग्रहण होते हैं। लज्जा, बोध, उत्साहादि *'मित्र–भाव'* हैं। हर्ष, सुप्ति, हासादि *'उदासीन–भाव'* हैं। ये दोनों भाव अविरुद्ध भाव हैं। विषाद, दैन्य, मोह, शोक, त्रास तथा क्रोधादि प्रतिकूल अथवा *'विरुद्ध–भाव'* कहे जाते हैं। स्थायि–भाव इन दोनों प्रकार के भावों को अपने वश में रखता है।

इसे स्थायि–भाव इसलिए कहा गया है कि रस–निष्पत्ति के लिए इसका स्थायित्व आवश्यक है। इसके अवस्थान या स्थिति का स्थायित्व है, अर्थात् यह नित्य अविच्छिन्न–भाव से आश्रय–आलम्बनभक्तों में अवस्थान करता है। एक बार चित्त में आविर्भूत होने के बाद फिर कभी भी तिरोहित नहीं होता। किन्तु इस भाव की अवस्था स्थायी नहीं रहती। उद्दीपनादि के विद्यमान न होने पर इसकी गति विषयालम्बन–श्रीकृष्ण के प्रति अविच्छिन्न रहती है, ऐसा होते हुए भी यह भाव गाढ़ता के तारतम्य से स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुरागादि अनेक अवस्थाओं को प्राप्त करता है। इससे स्थायि–भाव की अवस्था में स्थिरता नहीं मानी गई है।

मुसकान–नृत्यादि जो अनुभाव हैं, तथा अश्रु–कम्पादि जो सात्त्विक–भाव हैं एवं निर्वेदादि जो व्यभिचारि या संचारि–भाव हैं, उन सबके अवस्थान में भी स्थिरता नहीं है। सब समय वे नहीं रह सकते। विशेष समय पर उदित होत हैं और तिरोहित हो जाते हैं। भक्तों में सर्वदा अवस्थान नहीं करते। अतः स्थायि–भाव का ही स्थायित्व है और प्रधानता भी। उद्दीपन, अनुभाव, विभाव, सात्त्विक तथा संचारि समस्त का मूल जीवन स्वरूप है स्थायि–भाव। स्थायि–भाव है एकमात्र कृष्ण–विषयक रति। यह रति नित्यसिद्ध परिकरों के चित्त में अनादिकाल से नित्य अविच्छिन्न भाव से विराजित है, साधन–सिद्ध तथा जातरति साधकों में भी अविर्भाव के आरम्भ काल से निरविच्छिन्न भाव से अवस्थान करती है।

तत्र मुख्या–

> ***३–शुद्धसत्त्वविशेषात्मा रतिर्मुख्येति कीर्तिता।***
> ***मुख्याऽपि द्विविधा स्वार्था परार्था चेति कीर्त्यते।।३।।***

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*शुद्धसत्त्वविशेषात्मेति। प्रेमसूर्यांशुसाम्यभाक् इत्यत्रां (१.३.१) या लक्षिता सेत्यथः।।३।।*

● ***अनुवाद*–शुद्धसत्त्व विशेष स्वरूपा जो रति है, उसे *'मुख्यारति'* कहते हैं। मुख्यारति फिर दो प्रकार की है–१. स्वार्था तथा २. परार्था।।३।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–कृष्ण–प्रेम के प्रथम आविर्भाव का पारिभाषिक नाम है 'रति' या 'भाव' अथवा 'प्रेमांकुर'। वह क्रमशः गाढ़ता प्राप्त कर स्नेह, मान, प्रणयादि विभिन्न स्तरों में बढ़ता चला जाता है। रति एवं उक्त समस्त स्तर ही शुद्धसत्त्व–विशेषात्मक हैं। रति का स्वरूप लक्षण ही है शुद्धसत्त्व विशेष अर्थात् स्वरूपशक्ति की वृत्ति विशेष। अतः कृष्णप्रेम किसी भी स्तर में क्यों न हो, उसे 'मुख्या–रति' कहते हैं।।३।।

तत्र स्वार्था–

> ***४–अविरुद्धैः स्फुटं भावैः पुष्णात्यात्मानमेव या।***
> ***विरुद्धैर्दुःशकग्लानि सा स्वार्था कथिता रतिः।।४।।***

● ***अनुवाद*–जो रति अविरुद्ध (अनुकूल) भावों द्वारा स्पष्ट रूप से अपने को पुष्ट करती है और विरुद्ध (प्रतिकूल) भावों द्वारा जिसको दुःसह ग्लानि पैदा होती है, उसे *'स्वार्था–रति'* कहते हैं।।४।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–अविरुद्ध भावों से रति की पुष्टि होती है और विरुद्ध भावों द्वारा भी रति की ग्लानि होती है, अर्थात्, दोनों अवस्थाओं में रति के अपने ऊपर ही प्रभाव पड़ता है, इसलिए इसको 'स्वार्था मुख्यारति' कहा गया है।।

अथ परार्था

५–अविरुद्धं विरुद्धंच संकुचन्ती स्वयं रतिः।
या भावमनुगृह्णाति सा परार्था निगद्यते।।५।।

● *अनुवाद*–**जो रति स्वयं संकुचित होकर अविरुद्ध एवं विरुद्ध भावों को अनुगृहीत करती है, उसे *'परार्था–रति'* कहते हैं।।५।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–यह रति अविरुद्ध भावों द्वारा अपनी पुष्टि नहीं करती, परन्तु स्वयं संकुचित होकर अविरुद्ध भाव को ही पुष्ट करती है, इसी प्रकार स्वयं संकुचित होकर विरुद्ध भावों को पुष्ट करती है, अर्थात् रति अपने लिए कुछ पुष्टि का साधन नहीं करती है, बल्कि दूसरे अविरुद्ध एवं विरुद्ध भावों को पुष्ट करती है, इसलिए इसे 'परार्था–मुख्यारति' कहा गया है।

६–शुद्धा प्रीतिस्तथा सख्यं वात्सल्यं प्रियतेत्यसौ।
स्वपरार्थैव सा मुख्या पुनः पंचविधा भवेत्।।६।।
७–वैशिष्ट्यं पात्रवैशिष्ट्याद्रतिरेषोपगच्छति।
यथाऽर्कः प्रतिबिम्बात्मा स्फटिकादिषु वस्तुषु।।७।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*वैशिष्ट्यमिति। अत्र पात्रत्वं प्रतिबिम्बत्वमप्यविवक्षितं वैशिष्ट्य एव तु तात्पर्यं शुद्धादितत्तद्विशेषणभेदादेव स्थितिभेदो नाम भेदश्चेत्यर्थः।।७।।*

● *अनुवाद*–**स्वार्था तथा परार्था–दोनों प्रकार की मुख्यारति फिर पाँच प्रकार की है–१. शुद्धा (केवला), २. प्रीति (दास्य), ३. सख्य, ४. वात्सल्य तथा ५. प्रियता (शृंगार)।।६।।**

पात्र अर्थात् भक्त की विशेषता के कारण रति भी विशेषता को प्राप्त करती है, जैसे स्फटिक आदि अनेक प्रकार की वस्तुओं में एक ही सूर्य का प्रतिबिम्ब विभिन्नरूपों में प्रतीत होता है।।७।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–सूर्य एक ही वस्तु है, किन्तु अनेक रंग की विभिन्न मणियों में उसका प्रतिबिम्ब भिन्न–भिन्न रूप में प्रतीत होता है, उसी प्रकार शुद्धसत्त्व विशेषात्मक एकरूप होते हुए भी रति पात्र या आश्रयलम्बन अर्थात् भक्तों के शुद्ध, वैशिष्ट्य अनुसार दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा शृंगार आदि वैशिष्ट्य को प्राप्त करती है। भक्तों के भावों के अनुसार कृष्णरति भी पाँच भेदों में विभक्त हो जाती है। कृष्णरति सत्य वस्तु होने से भक्तों के चित्त में जब वह स्वयं आविर्भूत होती है, तो उनके चित्त भी सत्य वस्तु की तादात्मता प्राप्त करते हैं और उनके विभिन्न भावों के साथ तादात्मता प्राप्त कर वह कृष्णरति विभिन्नरूपों में प्रकाशित होती है।।

तत्र शुद्धा–

८–सामान्याऽसौ तथा स्वच्छा शान्तिश्चेत्यादिमा त्रिधा।
एषाऽंगकम्पतानेत्रमीलनोन्मीलनादिकृत् ।।८ ।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*शुद्धा केवला, एतदुत्तरं, वक्ष्यमाणैः प्रीत्याद्यास्वादविशेषै–रसमवेतेत्यर्थः। सेयमादिमा शुद्धा त्रिधेति तिस्रोऽत्र तन्नामम्न्य इत्यर्थः ।।८ ।।*

● *अनुवाद*–शुद्धा–रति तीन प्रकार की है–१. सामान्या, २. स्वच्छा तथा ३. शान्ति। शुद्धा–रति में अगों का काँपना, आँखों का बन्द करना–खोलना आदि अनुभाव होते हैं।।८।।

तत्र सामान्या–

६–कश्चिद्विशेषमप्राप्ता साधारणजनस्य या।
बालिकादेश्च कृष्णे स्यात् सामान्या सा रतिर्मता।।६ ।।

यथा, १–अस्मिन् मथुरावीथ्यामुदयति मधुरे विरोचने पुरतः।
कथय सखे ! म्रदिमानं मानससदनं किमेति मम्।।१०।।

यथा वा, २–त्रिवर्षा बालिका सेयं वर्षीयसि ! समीक्ष्यताम्।
या पुरः कृष्णमालोक्य हुङ्कुर्वत्यभिधावति।।११।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*तत्र सा प्रीत्यादितः पृथक् पठितत्वेन तं तं विशेषमप्राप्ता कृष्णविषया शुद्धा रति किंचिदन्यमपि स्वच्छारूपं शान्तिरूपमपि विशेषमप्राप्ता सती सामान्या नाम्नी मता। तत्तद्वैशिष्ट्येन तु स्वच्छेन शान्तिरिति च नाम स्यात्। सामान्या तु साधारणजनादौ पृथक् स्यात् सर्वत्र चानुगता स्यादित्यर्थः।।६।। मानसमदनं यन्म्रदिमानमेति तत् किमस्मिन् मधुरे विरोचने उदयति सतीति। तस्मादेव हेतोर्वितर्क्यत इत्यर्थः। हेत्वन्तरं तु न पश्याम इति भावः। "यस्य च भावेन भावलक्षण" ह्यत्र सप्तमी।।१०।। त्रिवर्षा बालिका सेयमिति मिति, त्रिवर्षेति तमधिष्टो भूतो भूतो भावी वेत्यधिकृत्य भूतार्थे वर्षाल्लुक्, चेति कृतस्य खस्य। ठञो वा चित्तवति नित्यमित्यनेन लुक्, त्रीन् वर्षान् भूता स्वसत्तया व्याप्तवतीत्यर्थः। त्रिवार्षिकी बालिकेयमिति वा पाठः कालाट्ठञिति शैषिकविधानात् वर्षस्याभविष्यतीत्युत्तरपदवृद्धेश्च त्रिषु वर्षेषु भवा विद्यमानेत्यर्थः। तत्र भव इत्यस्य हि तथैवार्थः, त्रिवर्षीयेति पाठस्त्यक्तः। वर्षीयसि हे वृद्धे।।११।।*

● *अनुवाद*–साधारण लोगों की एवं व्रज की छोटी बालिकाओं की श्रीकृष्ण के प्रति जो प्रीति या रति है, जो किसी विशेषता को प्राप्त नहीं करती, उसे *'सामान्य–रति'* कहते हैं।।६।।

उदाहरण; (श्रीकृष्ण जब मथुरा पहुँचे तो किसी एक मथुरावासी ने अपने मित्र से कहा)–हे सखे ! इस मथुरा–पथ में मेरे सामने मधुर सूर्य उदित होने से मेरा मनरूप मदन (मोम) पिघला जा रहा है, इसका क्या कारण है ?।।१०।।

और भी कहा है; हे वृद्धे ! इस तीन वर्षीय बालिका को देख; सामने श्रीकृष्ण को देखकर यह हुँकार करती हुई भागी जा रही है।।११।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–भक्ति का सामान्य धर्म जिन लोगों में रहता है और उनको जो श्रीकृष्ण में प्रीति है, तथा व्रज की छोटी–छोटी बालिकाओं में जो श्रीकृष्ण में प्रीति है, वह 'सामान्य–रति' है। क्योंकि उसमें दास्य, सख्यादि कोई विशेष भाव या सम्बन्ध नहीं रहता। साधारण–भाव से श्रीकृष्ण–विषयक प्रीति होने से इसे सामान्य–रति कहा जाता है। वैसे तो श्रीकृष्ण में प्रीति रखने वाले समस्त भक्तों में यह वर्तमान रहती है, किसी–किसी में फिर यह दास्य, सख्यादि विशेषता को प्राप्त करती है।

उदाहरण में मथुरावासी का मन तो श्रीकृष्ण के दर्शन से मृदुल हो गया, परन्तु श्रीकृष्ण के साथ उसका कोई विशेष सम्बन्ध सूचित नहीं होता। इसी तरह तीन वर्षीय बालिका में भी कृष्ण–दर्शन से प्रीति का उदय है, किन्तु कोई विशेष भाव या सम्बन्ध उसका श्रीकृष्ण से नहीं है।।६–११।।

स्वच्छा–

१०–तत्तत्साधनतो नानाविधभक्तप्रसंगतः।
साधकानां तू वैविध्यं यान्ती स्वच्छा रतिर्मता।।१२।।
११–यदा यादृशि भक्ते स्यादासक्तिस्तादृशं तदा।
रूपं स्फटिकवद्धत्ते स्वच्छाऽसौ तेन कीर्तिता।।१३।।

यथा, ३–क्वचित्प्रभुरिति स्तुवन् क्वचन मित्रमित्युद्धसन
क्वचित्तनय इत्यवन् क्वचन कान्त इत्थुल्लसन्।
क्वचिन्मनसि भावयन् परम एष आत्मेत्यसा–
वभूद्विविधसेवया विविधवृत्तिराय्र्यो द्विजः।।४।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*अथ स्वच्छामाह तत्तदिति द्वाभ्यां, (भा० १०।५१।५४) भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवेदित्यादिषु भक्तप्रसंगस्यैव रतिबीजत्वात्, नानाविधभक्तानां प्रसंगतस्तत्र च जलसेकादिरूपात्तत्तत्साधनतः साधकानां वैविध्यं यान्तीति तु पूर्वोक्ता शुद्धाख्या रतिः स्वच्छा मता।।१२।। वैविध्ये कारणमाह–यदेति 'रूपंस्फटिकवद्धत्त' इति नानाभावधारणांश एव दृष्टान्तो, न तु प्रतिबिम्बत्वेऽपि, यथावद्रतेरेव प्रकरणप्राप्तत्वात् शुद्धान्तःपातश्चास्यास्तत्तद्भावानामागमापायित्वात्, अतएवाग्रतो वक्ष्यमाणैस्तु स्वादैः प्रीत्यादिसंश्रयैरिति वक्ष्यमाणं (२।५।२१) चात्र संगच्छते, तेषां सम्यक् सम्पर्को नास्तीति।।१३–१४।।*

● *अनुवाद*–अनेक प्रकार के भक्तों का संग करने के कारण अनेक प्रकार के साधनों के फलस्वरूप साधकों में जो रति विविध प्रकारता को प्राप्त करती है, उसे *'स्वच्छा–रति'* कहते हैं।।१२।।

स्फटिक मणि के सामने जिस रंग की वस्तु रखी जाय, वह उसी रंग की प्रतीत होती है, उसी प्रकार जब जिस भाव के भक्त में आसक्ति पैदा होती है, तब जो रति उसी रूप को धारण कर लेती है, उसे 'स्वच्छा' कहा गया है।।१३।।

उदाहरण-कोई एक आर्य ब्राह्मण श्रीभगवान् को कभी प्रभु कहकर उनकी स्तुति करता था, कभी मित्र जानकर परिहास करता था, कभी उन्हें

पुत्र समझकर पालन करता था, कभी अपना कान्त समझकर वह उल्लास को प्राप्त करता था और कभी उनमें परमात्मा की भावना करता था, इस प्रकार अनेक प्रकार के भावों की सेवा द्वारा उसकी मनोवृत्ति भी विविधरूपता को प्राप्त करती थी।।१४।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—श्रीमद्भागवत (१०।५१।५४) में कहा गया है—हे भगवन्! जीव अनादिकाल से जन्म—मृत्युरूप संसार चक्र में भटक रहा है, उससे छूटने का जब समय आता है तब उसे भक्तसंग प्राप्त होता है। यह निश्चय है कि जिस क्षण जीव को भक्तसंग प्राप्त होता है, उसी क्षण ही भक्तों के आश्रय, जगत् के एकमात्र स्वामी भगवान् में जीव की बुद्धि लग जाती है, उनकी रति पैदा हो जाती है। अतः भक्तसंग ही कृष्णरति का बीज है। संसार समुद्र से उतरने के लिए जीव भक्त संग करता है और भक्तसंग से कृष्णरति का बीज भी प्राप्त करता है। किन्तु कृष्णरति बीज को अंकुरित करने के लिए साधन—भजनरूप जलसेचन की आवश्यकता है। कृष्ण—रति का बीज प्राप्त करने वाला व्यक्ति यदि अनेक प्रकार के भक्तों का संग करता है तो वह अनेक प्रकार के साधनों का भी अनुसरण करने लगता है, उस से वह रति भी नाना प्रकार के भावों में रूपायित हो जाती है; ऐसी रति को 'स्वच्छा' कहा गया है, जैसा संग प्राप्त होता है, उसी संग में रंग जाती है स्फटिक मणि की तरह।।१४।।

१२—अनाचान्तधियां तत्तद्भावनिष्ठा सुखार्णवे।
आर्य्याणामतिशुद्धानां प्रायः स्वच्छा रतिर्भवेत्।।१५।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*अनाचान्तधियाम् आस्वादविशेषाभावेनानिष्ठितचित्तानां यत आर्याणां तत्तच्छास्त्रमात्रदृष्ट्या प्रवर्त्तमानानां। (भा० १०।२६।४०) "कास्त्र्यंगते" इत्यादौ ह्यार्यचरितशब्दस्य शास्त्रीयमार्गत्वमेव विवक्षितम्।।१५।।*

● ***अनुवाद*—उस—उस प्रकार के भाव निष्ठारूप सुख—सागर में विशेष आस्वादन प्राप्त न करने वाले अति शुद्धचित्त आर्यजनों की प्रायशः स्वच्छा रति हुआ करती है।।।१५।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—जो लोग विभिन्न शास्त्रों को देखकर उनका आश्रय लेकर बिना विचार—विवेक के भजन करने लगते हैं, उनको यहाँ *'आर्य'* कहा गया है। विचार—विवेक बिना केवलमात्र शास्त्रों का आलम्बन कर भजन करते हैं, इसलिए उन्हें *'अनाचान्तधी'* कहा गया है। ऐसे लोग निष्ठा—सुख का आस्वादन नहीं कर पाते। वे अति शुद्ध होते हैं, पाँच प्रकार के भक्तों में उनकी आसक्ति होती है, वे किसी का अनादर नहीं करते। इसलिए उनकी किसी भी भाव में निष्ठा नहीं होती। दास्य—सख्यादि में किसी एक भाव की निष्ठा प्राप्त होने पर जिस सुख—समुद्र का आस्वादन मिलता है, वे उस सुख से वंचित रहते हैं। ऐसे लोगों की रति 'स्वच्छा' मानी गई है।।१५।।

अथ शान्तिः—

१३—मानसे निर्विकल्पत्वं शम इत्यभिधीयते।।१६।।

तथा चोक्तं–

४–विहाय विषयौन्मुख्यं निजानन्दस्थितिर्यतः।
आत्मनः कथ्यते सोऽत्र स्वभावः शम इत्यसौ।।१७।।

*१४–प्रायः शमप्रधानानां ममतागन्धवर्जिता।
परमात्मयता कृष्णे जाता शान्ती–रतिर्मता।।१८।।*

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*अथ शान्त्याख्या रतिं लक्षयन् शमं लक्षयित्वा तदुपलक्षितां तां लक्षयति–प्राय इति। (भा० ६।१४।५) 'मुक्तानामपि सिद्धानामिति' न्यायेन प्राय एव शमप्रधानानां परमात्मयता (गी० १४।२७) ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठोहमित्याद्युक्तरीत्या सर्वाश्रयस्वरूपतया जाता शुद्धा रतिः शान्तिर्मता।।१८।।*

● *अनुवाद*–(जिनके मन में 'शम' है, उनकी रति को 'शान्ति–रति' कहते हैं। 'शम' किसे कहते हैं ?) मन में निर्विकल्पता–स्थिरता या निश्चलता का होना *'शम'* कहलाता है।।१६।।

प्राचीनगण ने कहा है–जिस स्वभाव के कारण विषयों की उन्मुखता को परित्याग कर लोग आत्मानन्द में अवस्थान करते हैं, उस स्वभाव को 'शम' कहते हैं।।१७।। (श्रीमद्भागवत (११।१६।३७) में श्रीभगवान् ने अपने में बुद्धिनिष्ठा होने को 'शम' बताया है। वस्तुतः श्रीकृष्ण में बुद्धि–निष्ठा के बिना विषय–उन्मुखता का परित्याग नहीं किया जा सकता और न ही आत्मानन्द का अनुभव ही हो सकता है।)

जिन लोगों में शम प्रधान होता है, उनका श्रीकृष्ण में परमात्मा–ज्ञान उदय होता है और उनमें ममतागन्ध-रहित 'शान्ति–रहित' उत्पन्न होती है।।१८।।

यथा, ५–देवर्षिवीणया गीते हरिलीलामहोत्सवे।
सनकस्य तनौ कम्पो ब्रह्मानुभविनोऽप्यभूत्।।१६।।

यथा वा, ६–हरिवल्लभसेवया समन्तादपवर्गानुभवं किलावधीर्य।
घनसुन्दरमात्मनोऽप्यभीष्टं परमं ब्रह्म दिदृक्षते मनो मे।।२०।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*आत्मानोऽपीति। आत्मानं। ब्रह्मरूपमतिक्रम्येत्यर्थः।।२०।।*

● *अनुवाद*–(उदाहरण)–हरिलीला–महोत्सव में देवर्षि श्रीनारद जब वीणा पर गान करने लगे, तो श्रीसनक ऋषि के शरीर में ब्रह्मानुभवी होते हुए भी कम्प होने लगा।।१६।।

दूसरा उदाहरण; वैष्णव–सेवा के प्रभाव से मेरा मन मोक्ष–सुख का भी सर्वतोभाव से परित्याग कर अपने अभीष्टदेव मेघकान्ति श्रीकृष्ण का दर्शन अभिलाषी हो रहा है।।२०।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–उपर्युक्त दोनों उदाहरणों से यह सहज में समझा जा सकता है कि भक्तमुख से श्रीहरि–लीला–कीर्तन सुनने पर अथवा भक्तसेवा के फलस्वरूप ब्रह्मानन्द–अनुभवी व्यक्तियों के चित्त में भी कृष्णरति आविर्भूत हो सकती है और कृष्ण–दर्शन की अभिलाषा भी जाग्रत हो सकती है, किन्तु 'श्रीकृष्ण मेरे प्रभु हैं, मैं उनका दास हूँ' किंवा 'श्रीकृष्ण मेरे सखा–पुत्रादि हैं'–इस प्रकार की उनमें ममता बुद्धि जाग्रत नहीं होती। 'श्रीकृष्ण परब्रह्म परमात्मा

हैं'–ऐसी ममता–गन्धरहित बुद्धि ही जाग्रत हो सकती है; 'श्रीकृष्ण मेरे हैं'–ऐसी बुद्धि ब्रह्मानुभवी लोगों में नहीं उत्पन्न हो सकती। अतः उनकी रति को ऐश्वर्यज्ञान–प्रधाना कहा जाता है जिसका दूसरा नाम है 'शान्ति रति'। इस रति, की मूल भित्ति है, कृष्ण–निष्ठता तथा अन्य विषयों में निश्चलता।।१६–२०।।

१५–अग्रतो वक्ष्यमाणैस्तु स्वादैः प्रीत्यादिसंश्रयैः।
रतेरस्या असम्पर्कादियं शुद्धेति भण्यते।।२१।।

● **अनुवाद–प्रीति–आदि के संश्रव में रति के जिस स्वाद का वर्णन आगे किया जायेगा, उस स्वाद के साथ सम्पर्क न होने के कारण ही (सामान्या, स्वच्छा तथा शान्ति–इन तीनों प्रकार की) रतियों को 'शुद्धा' कहा गया है।।२१।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–शुद्धा–रति के तीन प्रकार ऊपर कहे गये हैं। १. 'सामान्या'–रति में साधारण रति मात्र है, उससे श्रीकृष्ण के साथ किसी प्रकार के सम्बन्ध का ज्ञान पैदा ही नहीं होता; सम्बन्धज्ञान का आभास भी नहीं रहता। २. 'स्वच्छा' में भी सम्बन्धज्ञान नहीं रहता, फिर भी बीच–बीच में भक्तसंग के प्रभाव से तथा भक्तों के प्रति आसक्ति के कारण सम्बन्धज्ञान का आभास समय–समय पर उदित होता है। अनेक विध भक्तों के संग के कारण स्वच्छारति में अनेक भाव–सम्बन्ध उदित होते हैं, किन्तु कोई भी स्थायी नहीं होता। किसी भाव में निष्ठा न होने से परमानन्द का अनुभव भी नहीं होता। फिर भी सामान्या से स्वच्छा श्रेष्ठ मानी गई है सामयिक सम्बन्धज्ञान के आभास के कारण। ३. 'शान्ति–रति' में भी सम्बन्ध ज्ञान की स्फूर्ति नहीं होती, केवल स्वरूप का ज्ञानमात्र स्फुरित होता है। उसके फलस्वरूप श्रीकृष्ण में 'परब्रह्म–परमात्मा' ज्ञान उदित होता है। परब्रह्म परमात्मरूप श्रीकृष्ण में ऐकान्तिकी निष्ठा उत्पन्न होती है, जो सामान्या तथा स्वच्छा में नहीं होती। परब्रह्म परमात्म ज्ञान के कारण श्रीकृष्ण में ममता बुद्धि उत्पन्न नहीं होती, इसलिए कोई सम्बन्ध ज्ञान भी स्फुरित नहीं होता। फिर भी ऐकान्तिकी निष्ठा होने के कारण परमानन्द का अनुभव होता है। इसलिए शान्तभक्तों की श्रीकृष्ण को छोड़कर अन्य किसी वस्तु में तृष्णा नहीं रहती, यहाँ तक कि निर्विशेष ब्रह्मानन्द में भी वे आकर्षित नहीं होते। मुख्यारति के पाँच भेदों में प्रथमा 'शुद्धा' के सम्बन्ध में यहाँ तक आलोचना की गई है।

मुख्यारति के शेष चार प्रकार, प्रीति (दास्य) सख्य, वात्सल्य तथा प्रियता (शृंगार) भेदों में अपूर्व आनन्द आस्वादन का संश्रव है। किन्तु शुद्धा के तीनों भेदों में आनन्दास्वादन का संश्रव न होने से ही उसे 'शुद्धा' या 'केवला' कहा गया है। रति कोई भी अशुद्धा नहीं होती, किन्तु यह शुद्धा अपूर्व आस्वादनरूप किसी रूपान्तर को प्राप्त नहीं करती।

१६–अथ भेदत्रयी ह्रद्या रतेः प्रीत्यादिरीर्यते।
गाढानुकूलतोत्पन्ना ममत्वेन सदाश्रिता।।२२।।
१७–कृष्णभक्तेष्वनुग्राह्यसखिपूज्येष्वनुक्रमात्।
त्रिविधेषु त्रयी प्रीतिः सख्यं वत्सलतेत्यसौ।।२३।।

१८–अत्र नेत्रादिफुल्लत्वजृम्भणोद्घूर्णनादयः।
केवला संकुला चेति द्विविधेयं रतित्रयी।।२४।।

● *अनुवाद*–रति के परमोपादेय (मनोहर) तीन भेद हैं–प्रीति आदि अर्थात् प्रीति (दास्य) या अनुग्राह्य, सख्य तथा वात्सल्य। ये तीन भेद गाढ़ अनुकूलता से उत्पन्न हैं तथा सर्वदा ममत्व से पूर्ण हैं।।२२।।

अनुग्राह्य, सखा तथा पूज्य (माता–पिता)–इन तीन प्रकार के भक्तों में ये तीनों भेद यथाक्रम प्रीति, सख्य एवं वात्सल्य नाम से कहे जाते हैं। इन भावों में नेत्रादि की प्रफुल्लता, जम्भाई तथा उद्घूर्णा (चक्कर) आदि अनुभाव होते हैं। ये तीनों प्रकार की रतियाँ दो–दो प्रकार की हैं–१. केवला तथा २. संकुला?।।२३–२४।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–सेवा द्वारा श्रीकृष्ण की प्रीति विधान करने की जब गाढ़ तृष्णा उदित होती है और जब सर्वदा 'श्रीकृष्ण मेरे हैं'–ऐसी ममत्व बुद्धि उत्पन्न होती है, तब ही ये तीनों रतियाँ अत्यन्त उपादेय रूप धारण करती हैं। श्रीकृष्ण–प्रीति की वासना तथा उनमें ममत्व बुद्धि की गाढ़ता के अनुसार ही ये तीन भेद हैं–प्रीति, सख्य एवं वात्सल्य। जो अपने को श्रीकृष्ण का अनुग्राह्य (दास) मानते हैं, उनकी रति को 'प्रीति या दास्य' कहते हैं। जो श्रीकृष्ण को अपना सखा और अपने को श्रीकृष्ण का सखा मानते हैं, उनकी रति को 'सख्य' कहा जाता है तथा जो अपने को श्रीकृष्ण का पूज्य मानते हैं, उनकी रति का नाम है वात्सल्य। दास्य–रति, सख्यरति तथा वात्सल्य–रति, ये तीनों केवला और संकुला इन दो–दो प्रकारों की हैं।।

तत्र केवला–

१९–रत्यन्तरस्य गन्धेन वर्जिता केवला भवेत्।
व्रजानुगे रसालादौ श्रीदामादौ वयस्यके।
गुरौ च व्रजनाथादौ क्रमेणैव स्फुरत्यसौ।।२५।।

● *अनुवाद*–जिस रति में दूसरी रति की गन्धमात्र भी नहीं रहती, उसे *'केवला–रति'* कहते हैं। यह रति यथाक्रम से व्रजानुग रसालादि दासों में, श्रीदामादि सखाओं में तथा व्रजराज श्रीनन्दादि गुरुवर्ग में स्फुरित होती है।।२५।।

अथ संकुला–

२०–एषां द्वयोस्त्रयाणां वा सन्निपातस्तु संकुला।
उद्धवादौ च भीमादौ मुखरादौ क्रमेण सा।
यस्याधिक्यं भवेद्यत्र स तेन व्यपदिश्यते।।२६।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*अथ संकुलेति। एषां भेदानां मध्येऽत्र संस्कारस्थितिः, स्वच्छायां तु तदभाव इति भेदः। मुखरानाम्नी काचिद्वृद्धा श्रीव्रजेश्वर्या धात्रीति महाजन–प्रसिद्धः। सन्निपात इति धर्मधर्मिणोरभेदोपचारात् तेन भावेन व्यपदिश्यते।। यथा सख्यभावभागप्युद्धवो दासत्वेन।।२६।।*

● *अनुवाद*–दास्य, सख्य एवं वात्सल्य इन तीनों प्रकार की रतियों में दो

अथवा तीन का जहाँ सम्मिलन होता है, उसे *'संकुला–रति'* कहते हैं। यह संकुला यथाक्रम से उद्धवादि, भीमादि एवं (यशोदा की धात्री) मुखरादि में प्रकाशित होती है। जहाँ जिस रति की अधिकता होती है, वहाँ संकुला रति उसी रति के नाम से कही जाती है।।२६।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–श्रीउद्धवादि में दास्यरति के साथ सख्यभाव का भी मिश्रण है, इसलिए उनकी रति संकुला मानी गई है। फिर सख्यभाव के रहते हुए भी दास्य की अधिकता होने से उनकी रति को दास्यरति कहा जाता है। इसी तरह भीमादि की रति में भी सख्य तथा दास्य का मिश्रण है। मुखरा में वात्सल्य के साथ दास्य का मिश्रण है। अतः इनकी रतियाँ संकुला हैं एवं यथाक्रम भाव की प्रधानता होने से भीमादि की रति 'सख्य' तथा मुखरा की रति 'वात्सल्य' ही कहलाती है।।

आगे इन तीनों रतियों की विस्तारपूर्वक आलोचना करते हैं–

तत्र प्रीतिः–

२१–स्वस्माद्भवन्ति ये न्यूनास्तेऽनुग्राह्या हरेर्मताः।
आराध्यत्वात्मिका तेषां रतिः प्रीतिरितीरिता।।२७।।
२२–तत्रासक्तिकृदन्यत्र प्रीतिसंहारिणी ह्यसौ।।२८।।

यथा, मुकुन्दमालायाम् (७)–

७–दिवि वा भुवि वा ममास्तु वासो नरके वा नरकान्तक ! प्रकामम्।
अवधीरित–शारदारविन्दौ चरणौ ते मरणेऽपि चिन्तयामि।।२६।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*स्वस्मात् श्रीहरेः न्यूना न्यूनताभिमानमयरतियुक्ता इत्यर्थः। आराध्यत्वम् आराध्योऽयमिति ज्ञानमात्मा स्वरूपं यस्याः, अत्र प्रीतिशब्दप्रयोगः पूर्वतः प्रीतित्वस्य वैशिष्ट्यात् पारिभाषिकः। अन्यत्र तु भक्तिप्रीती, विपर्ययेण प्रयुज्येते। अनुग्राह्य इत्यपि पूर्वतो वैशिष्ट्यापेक्षया भण्यते, तत्रेत्यर्द्धमपि तथा व्याख्येयं, प्रीतित्वमेव विशेषेण दर्शयति, हि यस्मात्, तत्र श्रीकृष्णे (बहुत्र प्राप्तौ संकोचनं नियमः। अनियमे नियमकारिणी परिभाषा) असौ आराध्यत्वात्मिका प्रीतिनाम्नी रतिः, ततोऽन्यत्र प्रीतेस्तद्रूपरतेः संहारिणी, तत्र तस्यां जातायाम् अन्यत्र सा नश्यतीत्यर्थः। ततोऽन्यत्र यदि स्यात् तदा तत्सम्बन्धेनैव मन्तव्येति भावः। उदाहरणेऽपि कुत्रचिदन्यत्र गमनेऽपि मम त्वय्येव प्रीतिर्भवेन्नान्यत्र पुंसीति विवक्षितं, सख्यादिषु त्वन्यदपि वैशिष्ट्यमस्तीति भेदो ज्ञेयः।।२७–२६।।*

● *अनुवाद*–जो रति अपने विषय में श्रीकृष्ण की अपेक्षा न्यूनता का अभिमान उत्पन्न करती है, अर्थात् जो अपने को श्रीकृष्ण से न्यून समझते हैं, इसलिए अपने को श्रीकृष्ण का अनुग्राह्य (सेवक) समझते हैं (श्रीकृष्ण को सेव्य समझते हैं) उनकी आराध्यत्वात्मिक रति को 'प्रीति' या 'दास्य–रति' कहते हैं। यह रति श्रीकृष्ण में आसक्ति पैदा करती है और अन्यान्य वस्तुओं की आसक्ति को नष्ट करती है।।२७–२८।।

मुकुन्दमाला का उदाहरण; हे नरकान्तक (श्रीकृष्ण) ! स्वर्ग में, किंवा पृथ्वी पर अथवा नरक में ही मेरा वास क्यों न हो, (मुझे इसका कुछ दुःख

नहीं) किन्तु मरणकाल में शरत्कालीन कमलों को भी निन्दित करने वाले आपके चरणकमलों का स्मरण कर सकूँ—यही प्रार्थना है।।२६।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—उदाहरण में श्रीकृष्ण—आसक्ति प्रदर्शित की गई। चरणकमलों के स्मरण से श्रीकृष्ण में आराध्य बुद्धि सूचित हो रही है। शान्तरति में भी श्रीकृष्णासक्ति तथा अन्य विषयों में अनासक्ति होती है, किन्तु उसमें न तो सेवा द्वारा श्रीकृष्ण को सुखी करने की वासना होती है, न श्रीकृष्ण में ममत्व—बुद्धि। दास्यरति में श्रीकृष्ण—आसक्ति अथा अन्य विषय में अनासक्ति के साथ सेवा द्वारा श्रीकृष्ण की आराधना करने की तीव्र वासना रहती है, उस वासना के फलस्वरूप श्रीकृष्ण में ममत्व बुद्धि उत्पन्न हो जाती है—यही शान्तरति से दास्यरति की विशेषता है।

अथ सख्यम्—

२३—ये स्युस्तुल्या मुकुन्दस्य ते सखायः सतां मताः।
साम्याद्विश्रम्भरूपैषां रतिः सख्यमिहोच्यते।
परिहासप्रहासादिकारिणीयमयन्त्रणा।।३०।।

यथा, ८—मां पुष्पितारण्यदिदृक्षया गतं निमेषविश्लेषविदीर्णमानसाः।
ते संस्पृशन्तः पुलकाञ्चितश्रियो दूरादहंपूर्विकयाद्य रेमिरे।।३१।।

यथा वा, ६—श्रीदामदोर्विलसितेन कृतोऽसि काम
दामोदर ! त्वमिह दर्पधुरादरिद्रः।
सद्यस्त्वया तदपि कत्थनमेव कृत्वा
देव्यै ह्रिये त्रयमदायि जलाञ्जलीनाम्।।३२।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*तुल्याः तुल्यत्वाभिमानमयरतियुक्ता इत्यर्थः। ततः साम्यात् श्रीकृष्णेन सह परस्परं समभावत्वाद् हेतोर्विसश्रम्भमयन्त्रणं रूपयति प्रकाशयति या रतिः, सा सख्यमुच्यते, विश्रम्भरूपत्वमेव विवृणोति—परिहासेति।।३०।। मामिति ब्रह्मणा हृतानां बालकानामनुशोचनमयी निशि श्रीकृष्णस्य भावना, मथुरायामुद्धवं प्रति तेन कथनं वा। त इति वत्ससम्भालनार्थं ये सर्वेऽपि मया प्रेषिता इति भावः।।३१।। श्रीदामेति। देव्यै राजायमानस्य तव महामहिषीरूपायै। सख्यै इति वा पाठः।।३२।।*

● *अनुवाद*—जो रति के स्वरूपगत स्वभाववशतः अपने को श्रीकृष्ण के समान मानते हैं, उन्हें श्रीकृष्ण का 'सखा' कहा गया है। समान—भाव के कारण उनकी रति संकोच रहित हुआ करती है—ऐसी रति को '*सख्य—रति*' कहते हैं। संकोचहीन होने के कारण यह परिहास—प्रहास (मजाक) से अयन्त्रित होती है; अर्थात् श्रीकृष्ण के मैं अधीन हूँ या उनका सेवक हूँ—यह भाव सख्यरति में नहीं रहता।।३०।।

सखाओं की प्रीति एवं आचरण का उदाहरण श्रीकृष्ण के वचनों में उद्धृत करते हैं। (ब्रह्मा के द्वारा गोपबालकों को चुरा लेने के बाद रात्रि में श्रीकृष्ण उन सखाओं को इस प्रकार याद करते रहे)—आज मैं कुसुमों से सुशोभित वृन्दावन की शोभा देखने के लिए सखाओं से थोड़ी दूर चला गया

था। मेरे सहित निमेष काल का विरह भी उनके हृदय को विदीर्ण करने लगा, मैं जब वन से लौटकर आया तो वे मुझको देखकर 'मैं कृष्ण को पहले छुऊँगा' 'मैं पहले कृष्ण को पकडूँगा'—इस प्रकार कहते हुए पुलकित शरीर से मेरी तरफ भागे आये और मुझे स्पर्श कर उन्होंने आनन्द अनुभव किया।।३१।।

और देखिए; हे दामोदर ! यद्यपि श्रीदामा के बाहुओं के विलास ने तुम्हारे अभिमान को नष्ट कर दिया है, फिर भी—हार जाने पर तुरन्त ही अपनी डींग हाँककर तुमने आज लज्जादेवी को तीन जलांजलियाँ दे डाली हैं।।३२।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—तात्पर्य यह है कि सख्यरति में श्रीकृष्ण के साथ भक्त अपनी समानता का अभिमान करते हैं, उन्हें अपने से बड़ा नहीं मानते। ममत्व बुद्धि की गाढ़ता के साथ निसंकोच भाव होना सख्यरति की दास्यरति से विशेषता है।

अथ वात्सल्यं—

२४—गुरवो ये हरेरस्य ते पूज्या इति विश्रुताः।
अनुग्रहमयी तेषां रतिर्वात्सल्यमुच्यते।
इदं लालनभव्याशीश्चिबुकस्पर्शनादिकृत्।।३३।।

यथा, १०—अग्रासि यन्निरभिसन्धिविरोधभाजः
कंसस्य किंकरगणैर्गिरितोऽप्युदग्रैः।
गास्तत्र रक्षितुमसौ गहने मृदुर्मे
बालः प्रयात्यविरतं बत किं करोमि।।३४।।

यथा, वा—११—सुतमंगुलिभिः स्नुतस्तनी चिबुकाग्रे दधती दयार्द्रधीः
समलालयदालयात्पुरः स्थितिभाजं व्रजराजगेहिनी।।३५।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*गुरवो गुरुत्वाभिमानमयरतियुक्ताः। वत्सं वक्षो लान्ति निजलाल्येषु ददतीति वत्सलाः पित्रादयः; तेषां भावो वात्सल्यं। यथोक्तं तृतीये (३।३३।२१) देवहूतिमधिकृत्य—"वनं प्रव्रजिते पत्यावपत्यविरहातुरा। ज्ञाततत्त्वाप्यभून्नष्टे वत्से गौरिव वत्सलेति।।३३।।*

● *अनुवाद*—जो लोग श्रीकृष्ण के गुरु—स्थानीय—(बड़े) हैं, वे श्रीकृष्ण के पूज्य हैं, उनकी अनुग्रहमयी रति को *'वात्सल्य—रति'* कहते हैं। इसमें लालन—पालन, मंगल—क्रियासम्पादन, आशीर्वाद तथा चिबुक का स्पर्श आदि अनुभाव होते हैं।।३३।।

श्रीयशोदा के वचनों का उदाहरण; विरोधकारी कंस के पर्वतों से भी बड़े सेवकों ने गौओं को चुरा लिया है, यह सुनकर मेरा कोमल कन्हैया गौओं की रक्षा के लिए झट वन में चला गया है, हाय ! अब मैं क्या करूँ ?।।३४।।

और भी कहा है; घर के आगे आंगन में श्रीकृष्ण को विचरता देखकर स्तनों से दूध क्षरित करती हुई श्रीयशोदा का चित्त द्रवीभूत हो गया और अंगुली द्वारा श्रीकृष्ण की चिबुक को स्पर्श करते हुए उन्हें प्यार करने लगी।।३५।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—वास्तव में स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण का गुरु—स्थानीय या पूज्य कोई भी नहीं हो सकता, न है। तथापि रसिक—शेखर श्रीकृष्ण वात्सल्य—रस का आस्वादन करने के लिए, अपने ऐसे परिकरों को आविर्भूत करते हैं जो अपनी रति द्वारा अपने को श्रीकृष्ण का माता—पितादि गुरुजन मानते हैं। वे मानते हैं श्रीकृष्ण हमारा लाल्य—पाल्य एवं अनुग्राह्य है और हम उसके लालक—पालक हैं। इस वात्सल्य—रति के प्रभाव से वे श्रीकृष्ण का लालन—पालन करते हैं, श्रीकृष्ण का जैसे मंगल हो, वैसे सब अनुष्ठान करते हैं। उसे आशीर्वाद करते हैं। कभी—कभी श्रीकृष्ण में उच्छृंखलता देखकर उसे डांट—फटकार भी देते हैं। सख्यरति से वात्सल्य—रति में यही विशेषता है।।३३—३५।।

अथ प्रियता—

२५—मिथो हरेर्मृगाक्ष्याश्च सम्भोगस्यादिकारणम्।
मधुरापरपर्याया प्रियताख्योदिता रतिः।
अस्यां कटाक्षभ्रूक्षेपप्रियवाणीस्मितादयः।।३६।।

यथा गोविन्दविलासे—

१२—चिरमुत्कण्ठितमनसो राधामुरवैरिणोः कोऽपि।
निभृतनिरीक्षणजन्मा प्रत्याशापल्लवो जयति।।३७।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*हरेर्मृगाक्ष्याश्रयो मिथः संभोगः स्मरणदर्शनाद्यष्टविधः, तस्यादि कारणं या मृगाक्ष्या रतिः, सा प्रियताख्या कथितेति योज्यम्। भक्ताश्रयायाः श्रीकृष्णविषयाया एव रते रस्यमानतया निर्देश्यत्वात्। भक्तविषयक श्रीकृष्णरतेस्तु तत्रोद्दीपनत्वात्। प्रियाया भावः प्रियतेति निरुक्तेः "त्वतलोर्गुणवचनस्येति" पुंवत्त्वं। तदुक्तं कातन्त्रविस्तरे—गुणग्रहणेनात्र जातिसंज्ञयोर्निवृत्तिः क्रियते। तेन पाचिकायाः पाचकत्वमित्यादि। सा च मधुरापरपर्यायेति मधुरानाम्नीत्यर्थः। चिरमित्यादि वक्ष्यमाणोदाहरणं त्वेकांशेन ज्ञेयम्।।३७।।*

● **अनुवाद—श्रीकृष्ण तथा (श्रीकृष्ण—कान्ता) मृगनैनियों के परस्पर स्मरण—दर्शनादि आठ प्रकार के सम्भोग के आदि—कारण का नाम है, 'प्रियता' इस प्रियता का दूसरा नाम है *'मधुरा—रति'*। इसमें कटाक्ष, भ्रूविक्षेप, प्रियवचन तथा हासादि अनुभाव प्रकाशित होते हैं।।३६।। श्रीगोविन्द—विलास में कहा गया है, अनेक काल से उत्कण्ठित चित्त (श्रीराधा—माधव का परस्पर) को निर्जन—स्थान में देखने का प्रत्याशा—पल्लव जययुक्त हो।।३७।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—प्रियत्व पारस्परिक होता है। प्रेमी तथा प्रेमास्पद दोनों में प्रेम की अनिवार्यता है। श्रीकृष्ण जैसे भक्तों के प्रिय हैं, उसी प्रकार भक्त भी श्रीकृष्ण को प्रिय हैं। भक्तों के चित्त में श्रीकृष्ण—विषयिणी रति रहती है और श्रीकृष्ण के चित्त में भक्त—विषयिणी रति। भक्तचित्त—स्थित रति रसत्व को प्राप्त करती है। श्रीकृष्ण के चित्त में जो भक्तविषयिणी रति है वह रस की उद्दीपन कर्ता है। भक्तविषयिणी रति भक्तचित्तस्थिता रति की उद्दीपन कर्ता है। इस प्रकार श्रीकृष्ण के प्रति कृष्णकान्तागण की जो रति है, उसका नाम 'प्रियता' या 'मधुरा—रति' है। इसे 'कान्ता—रति' भी कहते हैं।

२६–यथोत्तरमसौ स्वादविशेषोल्लासमय्यपि।
*रतिर्वासनया स्वाद्वी भासते कोऽपि कस्यचित्।।३८।।***इति मुख्या**

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*तदेवं पंचविधां रतिं निरूप्याशंकते नन्वासां रतीनां तारतम्यं साम्यं वा मतं ? तत्राद्ये सर्वेषामेकत्रैव प्रवृत्ति–स्यात्। द्वितीये च कस्याचित् क्वचित् प्रवृत्तौ किं कारणं ? तत्राह–यथोत्तरमुत्तरक्रमेण, स्वाद्वी अभिरुचिता, नन्वत्र विवेक्ता कतमः स्यात् निर्वासन एकवासनो बहुवासनो वा ? तत्राद्ययोरन्यतर–स्वादाभावाद्विवेक्तृत्वं न घटत एव। अन्त्यस्य च रसाभासितापर्यवसानान्नास्तीति। सत्यं। तथाप्येकवासनस्य एतदघटते। रसान्तरस्याप्रत्यक्षत्वेऽपि सदृशरसस्योपमानेन प्रमाणेन, विसदृशरसस्य तु सामग्री परिपोषापरिपोषदर्शनादनुमानेन चेति।।३८।।*

● *अनुवाद*–**यह पाँच प्रकार की मुख्यारति उत्तरोत्तर स्वाद विशेष उल्लासमयी होते हुए भी वासना के अनुसार किसी के लिए कोई भी रति स्वादमयी होकर प्रकाशित हो सकती है।।३८।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा मधुरा–पाँच प्रकार की रतियों का ऊपर वर्णन किया गया है। प्रश्न उठता है कि ये पाँचों रतियाँ समान हैं अर्थात् समान आस्वादन प्रदान करने वाली हैं या उनके आस्वाद्यत्व में तारतम्य है ? यदि समान हों तो सब लोगों की सब रतियों में प्रवृत्ति सम्भव होगी। किन्तु देखा जाता है एक की किसी रति में, दूसरे की दूसरी रति में प्रवृत्ति होती है। यदि तारतम्य है तो जो रति सबसे उत्कृष्ट है, उसमें सबकी रुचि होनी चाहिए। किन्तु सबकी एक रति में रुचि नहीं दीखती, विभिन्न रतियों में रुचि है–इस प्रकार प्रश्न का उत्तर उपर्युक्त कारिका में दिया गया है।

शान्त आदि पाँचों समान आस्वादन युक्त नहीं हैं, उनके स्वाद में उत्तरोत्तर उत्कर्ष है। शान्त से दास्य, दास्य से सख्य, सख्य से वात्सल्य और वात्सल्य से मधुरा रति का अधिक उत्कर्ष है। फिर भी सबकी प्रवृत्ति मधुरा रति में नहीं होती। विभिन्न लोगों की विभिन्न रतियों में प्रवृत्ति होती है। उसका कारण है, विभिन्न लोगों की विभिन्न वासनायें हैं। पूर्वजन्म के संस्कारों के अनुसार भिन्न–भिन्न लोगों की विभिन्न वस्तुओं के लिए वासना होती है। विभिन्न वासनाओं के भेद के अनुसार रुचिभेद होता है और तदनुसार रति में प्रवेश होता है।

किसी–किसी की खट्टे और मीठे दोनों स्वादों में रुचि होती है, तो क्या इसी प्रकार शान्त और दास्य, अथवा सख्य और वात्सल्य–अर्थात् एक से अधिक दो रतियों में भी रुचि सम्भव है ? पहले कह आये हैं शान्त–रति ममता–गन्धहीन होती है, किन्तु दास्यादि और रतियाँ ममता–बुद्धिमयी हैं। अतः शान्त के साथ दास्यादि का मिश्रण असम्भव है। दास्यादि चारों रतियों में शान्त का गुण कृष्णैकनिष्ठता विद्यमान रहती है, किन्तु शान्त में दास्यादि में से कोई भी रति नहीं रहती। दास्य एवं सख्य तथा वात्सल्य का ही मिश्रण सम्भव है, किन्तु मधुरा के साथ वात्सल्य का मिश्रण असम्भव है। किन्तु मधुरा रति में शान्त, दास्य, सख्य वात्सल्य–इन चारों रतियों के गुण विद्यमान रहते हैं।

अथ गौणीः—

२७—विभावोत्कर्षजो भावविशेषो योऽनुगृह्यते।
संकुचन्त्या स्वयं रत्या स गौणी रतिरुच्यते।।३६।।
२८—हासो विस्मय उत्साहः शोकः क्रोधो भयं तथा।
जुगुप्सा चेत्यसौ भावविशेषः सप्तधोदितः।।४०।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*तदेवं मुख्य—परिकरं समाप्य गौणीमाह; अथेति—विभावत्वमत्रालम्बनत्त्वं। भावविशेषस्यैव तत्र प्रकटमुपलभ्यमानत्वात् संकुचन्त्येवेति। सा रतिरिति भावः, अनुगृह्यते प्रकटीक्रियते, सा गौणी रतिरुच्यते इति। सोऽपि भावविशेषो रतिरुच्यते, किन्तु सा मंचाः क्रोशान्तीतिवत् गौणी औपचारिकीत्यर्थः।।३६।।*

● **अनुवाद—विभाव के उत्कर्ष के द्वारा किसी भाव विशेष को जब स्वयं संकुचित होकर रति अनुगृहीत या पुष्ट करती है, तब उसे *'गौणी—रति'* कहते हैं।।३६।।**

हास्य, विस्मय, उत्साह, शोक, क्रोध, भय तथा जुगुप्सा—ये सात भाव विशेष हैं, जो स्वयं संकोचवती मुख्यारति द्वारा पुष्ट होने पर गौणी—रति कहलाते हैं।।४०।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*— विभाव—शब्द से आलम्बन—विभाव अभिप्रेत है। आलम्बन—विभाव से विषयालम्बन अर्थात् श्रीकृष्ण तथा आश्रयालम्बन श्रीकृष्ण—भक्त दोनों आलम्बन—विभाव समझने चाहिए। श्रीकृष्ण तथा कृष्ण—भक्त इन दोनों के उत्कर्ष से उत्पन्न हुए विशेष भावों को जब मुख्यारति पुष्ट या प्रकट करती है और स्वयं संकुचित हो जाती है तब उस रति को 'गौणी—रति' कहा जाता है। स्वयं रति के अनुग्रह से ही वे भाव—विशेष प्रकाशित होते हैं और प्रधानरूप से लक्षित होते हैं, किन्तु स्वयं रति उस प्रकार लक्षित नहीं होती। विषय को परिस्फुट करने के लिए श्रीजीवगोस्वामी कहते हैं—जैसे कहा जाता है कि 'मंच बड़ा शोर कर रहा है।' यहाँ मंच का शोर करना जैसे गौण और औपचारिक है, वैसे ही भाव—विशेषों का रतित्व भी गौण औपचारिक होता है। मंच शोर करने का अर्थ है मंच पर बैठे लोग शोर मचा रहे हैं, मंच तो शोर नहीं करता। इस प्रकार स्वयं रति का रतित्व भाव—विशेषों में उपचारित हो जाता है, जैसे मंच पर बैठे लोगों का मंच में। तात्पर्य यह है कि स्वयं रति अपने आस्वाद्यत्व को उन भाव—विशेषों में संचारित कर उनको रतित्व सा आस्वाद्यत्व प्रदान कर देती है। अतः उन भाव—विशेषों को ही *'गौणी—रति'* कहा जाता है। वे भाव सात हैं हास्य, विस्मय आदि। तदनुसार सात गौणी—रतियाँ मानी गई हैं—हास्यरति, विस्मयरति, उत्साहरति, शोकरति, क्रोधरति, भयरति तथा जुगुप्सारति। इनका विस्तरशः वर्णन आगे किया जायेगा।।३६—४०।।

२९—अपि कृष्णविभावत्वमाद्यषट्कस्य सम्भवेत्।
स्याद्देहादिविभावत्वं सप्तम्यास्तु रतेर्वशात्।।४१।।
३०—हासादावत्र भिन्नोऽपि शुद्धसत्त्वविशेषतः।
परार्थ्या रतियोगाद्रतिशब्दः प्रयुज्यते।।४२।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*अपीति विभावत्वमत्रालम्बनत्वं रतेर्मुख्याया वशादाद्यषट्कस्य हासादिभयपर्यन्तस्य ,कृष्णविभावत्वमपि सम्भवेत्, तस्य तस्यापि योग्यत्वाद्, अथ रतेर्वशादेव सप्तम्या जुगुप्सायास्तु देहादिविभावत्मेव संभवेद्, न तु कृष्णविभावत्वं तदयोग्यत्वात्।।४१।। शुद्धसत्त्वविशेषतः स्वार्थाया रतेः। परार्थायास्तस्या एव परार्थत्वं प्राप्तायाः।।४२।।*

● *अनुवाद*—मुख्यारति के अधीन होने से हास, विस्मय, उत्साह, शोक, क्रोध तथा भय—इन छः का तो कृष्ण—विभावत्व सम्भव है अर्थात् इनमें कृष्ण—आलम्बनत्व सम्भव है—(ये श्रीकृष्ण में उदित होती हैं। क्योंकि इनमें तदनुकूल योग्यता है।) किन्तु मुख्यारति की वश्यता में ही सातवीं जुगुप्सा रति में देहादि का विभावत्व सम्भव होता है, कृष्णविभावत्व सम्भव नहीं होता अर्थात् श्रीकृष्ण—विषय में जुगुप्सा की अयोग्यता के कारण देहादि में जुगुप्सा—रति की सम्भावना रहती है।।४१।।

कृष्णरति शुद्धसत्त्व स्वरूपा है, किन्तु हास्य—विस्मयादि शुद्ध—सत्त्व—विशेषस्वरूपा नहीं हैं, इसलिए वे वस्तुतः कृष्णरति से भिन्न हैं। परार्था रति—(श्लोक सं० ५ द्रष्टव्य) के साथ सम्बन्ध रहने से हास—विस्मयादि के लिए रति—शब्द प्रयोग किया जाता है, अर्थात् इनके साथ रति—शब्द का गौणी प्रयोग है।।४२।।

३१—हासोत्तरा रतिर्या स्यात्सा हासरतिरुच्यते।
एवं विस्मयरत्याद्या विज्ञेया रतयश्च षट्।।४३।।
३२—कंचित्कालं क्वचिद्भक्ते हासाद्याः स्थायितामभी।
रत्या चारुकृता यान्ति तल्लीलाद्यनुसारतः।।४४।।
३३—तस्मादनियताधाराः सप्त सामयिका इमे।
सहजा अपि लीयन्ते बलिष्ठेन तिरस्कृताः।।४५।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*तदेवं गौणीनां रतीनां हासादय एव संज्ञाः। परार्थायास्तु हासरत्यादय इत्याह—हासोत्तरेति।।४३।। सहजा अपीति यदि सहजाः स्युस्तथापीत्यर्थः। बलिष्ठेन रत्युत्थतद्विरोधिभावेनेति शेषः।।४५।।*

● *अनुवाद*—जिस रति के शेष या बाद में हास्य होता है, उसे 'हास—रति' कहते हैं। विस्मय आदि छः रतियों के विषय में भी ऐसा जान लेना चाहिए (अर्थात् जिस रति के बाद विस्मय है उसको विस्मय—रति कहते हैं—इत्यादि)।।४३।।

ये हासादि रतियाँ उन—उन लीलाओं के अनुसार मुख्या—परार्था रति के द्वारा अनुगृहीत होकर किसी—किसी भक्त में कुछ समय के लिए स्थायित्व प्राप्त करती हैं (दास्यादि की भाँति सर्वदा स्थायी नहीं रहती)।।४४।।

इसलिए इन हासादि सात रतियों को *'अनियत—आधारा'* (जो अपने आधार अर्थात् भक्त में सर्वदा नहीं रहती हैं) और *'सामयिकी'* (समय—समय पर उदित होने वाली) कहा गया है। किसी—किसी भक्त में हासादि रति सहज

स्वभाव में अर्थात् सर्वदा दीखने पर भी, बलवान भाव के उदित होने पर तिरस्कृत हो जाती है और नष्ट हो जाती है।।४५।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–उपर्युक्त कारिकाओं का तात्पर्य यह है कि हास–विस्मयादि वास्तविक रति नहीं हैं, क्योंकि इनमें रति का स्वरूप लक्षण–शुद्धसत्त्व विशेषात्मकत्व नहीं है। शुद्धसत्त्व स्वरूपा परार्थारति द्वारा जब अनुगृहीत होती हैं, औपचारिक भाव से हासादि में रतित्व उदित होता है। इसलिए ही हासोत्तरा रति को हासरति, विस्मयोत्तरा रति को विस्मयरति कहा गया है। परार्था रति हासभाव को पुष्ट कर जब स्वयं संकुचित होकर रह जाती है और हास को प्रकाशित करती है, उस हास को *'हासरति'* कहा जाता है। पहले रति, फिर रति की कृपा से हास का रतित्व होता है, इसलिए उसे *'हासोत्तरा'* कहा गया है।

शान्त–दास्यादि मुख्य रतियाँ सर्वदा भक्त में अविच्छिन्न भाव से अवस्थित रहती हैं, हासादि उस प्रकार सदा नहीं रहतीं। लीलानुसार किसी आगन्तुक कारणवश इनका उदय होता है। इसलिए इन गौणी रतियों को 'सामयिकी' तथा 'अनियताधारा' कहा गया है।

३४–काऽप्यव्यभिचरन्ती सा स्वाधारान् स्वस्वरूपतः।
रतिरात्यन्तिकस्थायी भावो भक्तजनेऽखिले।
स्युरेतस्या विनाभावाद्भावाः सर्वे निरर्थकाः।।४६।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*रतिरेव स्वरूपेण स्वधारान् अव्यभिचरन्ती अनतिक्रामन्ती; आत्यन्तिकस्थायाख्यो भावः स्यात्। स्वाधारादिति पंचम्यन्तो वा पाठः।।४६।।*

● ***अनुवाद*–वह दास्यादि मुख्यारति अपने स्वरूप से कभी भी अपने आधार स्वरूप भक्त का त्याग नहीं करतीं; समस्त भक्तजनों में उस रति का आत्यन्तिक स्थायी भाव रहती है। इस मुख्यारति के बिना हासादि समस्त भाव निरर्थक हैं।।४६।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–वात्सल्य रति के आधार श्रीवसुदेवजी कंस के कारागार में श्रीकृष्ण का स्तव करने लगे थे; अर्थात् उन्हें पुत्र न समझकर भगवान् समझकर उनकी स्तुति करने लगे थे। इसी प्रकार श्रीअर्जुन भी विश्वरूप देखकर सख्य को भूल गये थे और स्तुति करने लगे थे। अतः यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि वात्सल्य–सख्यादि मुख्यरति में भी व्यभिचार–अस्थायित्व आ जाता है, इसलिए यह कहना कि मुख्यारति कभी अपने आधार–भक्त का त्याग नहीं करती, कैसे संगत हो सकता है ? इसका उत्तर ऊपर की कारिका में दिया गया है–श्रीवसुदेवजी तथा श्रीअर्जुन का जो स्तुति करना है, उसमें श्रीकृष्ण–विषयक प्रीति का उदय है। प्रीति में ही रतित्व विद्यमान है। यद्यपि रति वात्सल्य एवं सख्यरूप में आत्मप्रकट नहीं करती। वह प्रीतिरूप में ही आत्मप्रकाश करती है। अतः यहाँ रति के स्वरूप में व्यभिचार नहीं है और न भक्त का त्याग ही कहा जा सकता है।।

३५–विपक्षादिषु यान्तोऽपि क्रोधाद्या स्थायितां सदा।
लभन्ते रतिशून्यत्वान्न भक्तिरसयोग्यताम्।।४७।।
३६–अविरुद्धैरपि स्पृष्टा भावैः संचारिणोऽखिलाः।
निर्वेदाद्या विलीयन्ते नार्हन्ति स्थायितां ततः।।४८।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*रतिशून्यत्वाद् रत्विरिक्तत्वात्। रत्याभासस्यापि सम्भावना नास्तीति तद्विरोधित्वादित्यर्थः।।४७।। येन स्पृष्टा लीयन्ते तस्य विरुद्धत्वापत्तेरविरुद्धैरपि स्पृष्टाः इति नञ् भिन्नक्रमे, असूर्यम्पश्या राजदारा इति वत् विरुद्धैरप्यस्पृष्टाः कालव्यवधानेन स्वतोऽपि लीयन्त इत्यर्थः।।४८।।*

● *अनुवाद*–विपक्षियों अर्थात् शत्रुओं में क्रोधादि स्थायिभावत्व को सदा प्राप्त होते हुए भी रति–शून्यता के कारण भक्तिरस योग्यता को प्राप्त नहीं करते।।४७।। अविरुद्ध भावों से संवलित होकर भी निर्वेदादि समस्त संचारि–भाव नष्ट हो जाते हैं। इसलिए संचारि भावों में स्थायित्व सम्भव नहीं है। (जिनके स्पर्श से भाव नष्ट होता है, यह विरुद्ध भाव है जैसे निर्वेद में हर्ष। निर्वेद में दैन्य अविरुद्ध भाव है। परन्तु अविरुद्ध के स्पर्श से भी निर्वेद नष्ट हो जाता है। कुछ काल रहता है, अतः उनका स्थायित्व सम्भव नहीं)।।४८।।

३७–इत्यतो मतिगर्वादिभावानां घटते न हि।
स्थायिता कैश्चिदिष्टाऽपि प्रमाणं तत्र तद्विदः।।४९।।
३८–सप्त हासादयस्त्वेते तैस्तैर्नीताः सुपुष्टताम्।
भक्तेषु स्थायितां यान्तो रुचिरेभ्यो वितन्वते।।५०।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*नन्विदमस्माकमनुभवविरुद्धं ? तत्राह–"प्रमाणं तत्र तद्विद" इति। तद्विदो भरताद्याः।।४९।।*

● *अनुवाद*–इसलिए मति, गर्वादि संचारि–भावों का भी स्थायित्व नहीं है। कोई व्यक्ति यदि उनके स्थायित्व को मानते हैं तो उनको भरत आदि मुनि का इस विषय में प्रमाण दिखाना चाहिए। (अर्थात् भरतादि मुनि ने मति, गर्वादि संचारि–भावों का स्थायित्व स्वीकार नहीं किया है)।।४९।।

पूर्वोल्लिखित हासादि सात गौणी रतियाँ उन–उन संचारि–भावों द्वारा पुष्ट हो भक्तों के चित्त में स्थायित्व प्राप्त करती हैं एवं उनके चित्त में रुचि का भी विस्तार करती हैं।।५०।।

तथा चोक्तं–

१३–अष्टानामेव भावानां संस्काराधायिता मता।
तत्तिरस्कृतसंस्काराः परे न स्थायितोचिताः।।५१।।

● *अनुवाद*–उपर्युक्त मत के समर्थन में प्राचीन आचार्यों का मत उद्धृत करते हैं–एक मुख्या रति तथा सात गौणीरति–इन आठ भावों का संस्कार–स्थापकत्व सबके समान है अर्थात् ये आठों स्थायी–भाव हैं। इनके अतिरिक्त और जो व्यभिचारि–भाव हैं, वे विरुद्ध भावों द्वारा तिरस्कृत हो जाते हैं, अतः उनका स्थायित्व संगत नहीं है।।५१।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—उपर्युक्त कारिकाओं का तात्पर्य यह है कि मुख्यारति तथा सप्त रतियाँ—ये आठ स्थायि—भाव हैं, किन्तु व्यभिचारि भाव जिनका वर्णन चतुर्थ लहरी में कर आये हैं, स्थायि—भाव नहीं हैं, क्योंकि वे विरुद्ध एवं अविरुद्ध भावों द्वारा तिरस्कृत हो जाते हैं। कुछ काल तक रहते हैं, सदा नहीं।

पहले यह कह आये हैं कि हास—विस्मयादि आगन्तुक होते हैं और अवस्था—विशेष में वे भी लीन या नष्ट हो जाते हैं। फिर उनका यहाँ स्थायित्व कैसे निरूपण किया गया है ?

इसका उत्तर देते हुए श्रीपादचक्रवर्ती ने कहा है—बलवान भाव के उदय होने पर हास—विस्मयादि भाव यद्यपि नष्ट हो जाते हैं, परन्तु उनका संस्कार लय नहीं होता। संस्कार के स्थायित्व में ही हास—विस्मयादि रति का स्थायित्व निर्वाह होता है। किन्तु व्यभिचारि भावों के लय प्राप्त होने पर उनके संस्कार भी लय प्राप्त हो जाते हैं, इसलिए उनके स्थायित्व का निर्वाह नहीं होता, यही दोनों का भेद है।

जैसा परार्था—मुख्यारति का वास्तव रतित्व है, हास—विस्मयादि उसके द्वारा अनुगृहीत होने पर रति संज्ञा को प्राप्त करते हैं और उनका रतित्व औपचारिक है, उसी प्रकार स्थायित्व भी मुख्या—परार्थारति का है। हास—विस्मयादि का स्थायित्व भी गौण या औपचारिक है।

अब आगे हासादि गौणी रतियों की आलोचना करते हैं—

तत्र हासतिः—

३९—चेतोविकासो हासः स्याद्वाग्वेहादिवैकृतात्।
स दृग्विकासनासौष्ठकपोलस्पन्दनादिकृत्।।५२।।
४०—कृष्णसम्बन्धिचेष्टोत्थः स्वयं संकुचदात्मना।
रत्याऽनुगृह्यमाणोऽयं हासो हासरतिर्भवेत्।।५३।।

यथा, १४—मया दृगपि नार्पिता सुमुखि ! दध्नि तुभ्यं शपे
सखी तव निरर्गला तदपि मे मुखं जिघ्रति।
प्रशाधि तदिमां मुधा छलितसाधुमित्यच्युते
वदत्यजनि दूतिका हसितरोधने न क्षमा।।५४।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*पूर्वं हासोत्तरेत्यादिना (२/५/४३) हासाद्यावृताया रतेर्हासरत्यादीतिसंज्ञत्वमुक्तं। संप्रति तु रत्यारोपितत्वेन स्वीयधर्मेणानुगृह्य-माणत्वाद्धासादयोऽपि रत्यादित्वेन व्यवह्रियन्त इत्याह—कृष्णेति। हासो रतिरिव हासरतिरिति पुरुषव्याघ्र इतिवत् समासः। पूर्वा हासरतिस्तु शाकपार्थिवादिवत्। संकुचदात्मना रत्यानुगृह्यमाण इत्यत्र हेतुमाह—कृष्णसम्बन्धिचेष्टोत्थः इति। तच्चेष्टाजातसुखविशेषेण व्याप्ततयेति भावः। यत्र तु कृष्णविरोधिचेष्टावैरूप्योत्थः स्यात्तत्रापि भावितन्नाशक—कृष्णचेष्टाभावेनैव हेतुः स्यादिति। एवमन्यत्रापि योज्यम्।।५३।। मया दृगपीति। वनमध्ये देवपूजाव्याजेन दध्यादीन्यवतार्य पुष्पाद्यवचयनार्थमितस्ततः क्रीडन्तीषु तासु सखीसमीपे रहसि दधिरक्षाऽर्थं*

रक्षितदूती–प्रापितया कयाचिल्लीलायमानस्य तस्य श्रीकृष्णस्याकस्मादागतां वामां सखीं प्रति छलोक्तिः। जरतीति वधूरिति व पाठो नेष्टः; किन्तु सुमुखीत्येव सखीत्येव पाठः। भयानकेन हास्याच्छादनात्।।५४।।

● *अनुवाद*–वाक्य, वेश–भूषा तथा चेष्टादि के विकार से चित्त का जो विकाश या प्रफुल्लित होना है, उसे *'हास'* कहते हैं। हास के उदय होने से नेत्रों का विकाश तथा नासिका, होंठ तथा कपोलों का स्पन्दन होने लगता है।।५२।।

ऐसा हास यदि कृष्णसम्बन्धी चेष्टा से, अर्थात् कृष्ण के वेशभूषा के, चेष्टादि के विकृत या आस्वाभाविक होने से उदित होता है और स्वयं संकोचमयी परार्था मुख्या–रति द्वारा यदि अनुगृहीत या पुष्ट हो, तो ऐसा होने पर उसे 'हास–रति' कहते हैं।।५३।।

हास–रति का उदाहरण; (एक दिन सूर्य पूजा के बहाने दधि आदि लेकर सखियों के साथ श्रीराधाजी वृन्दावन में गईं। वह एक स्थान पर दधि आदि रखकर वन में पुष्प चुनने के लिए चली गईं और उनकी रक्षा के लिए एक सखी को वहाँ छोड़ गईं। श्रीकृष्ण उस सखी के पास पहुँचे और उससे श्रीराधाजी का वन में प्रवेश जान कर उनके पीछे वन में चले गये। निर्जन स्थान देख प्रिया–प्रीतम विहार करने लगे। श्रीराधाजी श्रीकृष्ण का चुम्बन कर रही थीं कि इतने में एक वाम–स्वभावा सखी वहाँ आ पहुँची। उसको देखकर श्रीकृष्ण छलपूर्वक उससे कहने लगे)–हे सुमुखि ! मैं तुम्हारी शपथ खाकर कहता हूँ, मैंने तो दधि की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखा; तथापि तुम्हारी यह निर्लज्जा सखी श्रीराधा मेरे मुख को सूँघ रही है यह देखने के लिए कि इसने दधि खाई है कि नहीं। मैं तो साधु हूँ, दधि मैंने नहीं चुराई है, फिर भी कुछ बहाना बनाकर मुझे चोर बताने की चेष्टा कर रही है। तुम इसे शासन करो, निवृत्त करो। श्रीकृष्ण के ये वचन सुनकर वह सखी अपनी हँसी को न रोक सकी।।५४।।

(यहाँ उस सखी में श्रीकृष्ण के वचनों से हास का उदय हुआ। उसके चित्त में रहने वाली कृष्ण– रति अनुग्रह से उसका हास हासरति में बदल गया; रति ने हास को अनुगृहीत किया, जिससे हास प्रकाशित हो उठा और रति स्वयं संकुचित हो गई।)

अथ विस्मयरतिः–

४१–लोकोत्तरार्थवीक्षादेर्विस्मयश्चित्तविस्तृतिः।
अत्र स्युर्नेत्रविस्तारसाधूक्तिपुलकादयः।
पूर्वोक्तरीत्या निष्पन्नः स विस्मयरतिर्भवेत्।।५५।।

यथा, १५–गवां गोपालानामपि शिशुगणः पीतवसनो–
लसच्छ्रीवत्सांकः पृथुभुजचतुष्कैर्धृतरुचिः।
कृतस्तोत्रारम्भः सविधिभिरजाण्डालिभिरल
परब्रह्मोल्लासी...मति किमिदं हन्त किमिदम्।।५५।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*चित्तस्य विस्तृतिः किमिदमिति नाना गतिः, चेतोविकासो हास इत्यत्र विकाशस्तु प्रकाश इत्यर्थः ।।५५ ।।*

● *अनुवाद*—अलौकिक विषय को देखने से चित्त का जो विस्तार है, उसका नाम *'विस्मय'* है। इससे नेत्रों का विस्तार, साधूक्ति तथा पुलकादि प्रकाशित होते हैं। यह विस्मय पूर्वोक्त रीति अनुसार अर्थात् श्रीकृष्ण सम्बन्धी अलौकिक लीला देखने से विस्मय का उदय होकर परार्था मुख्या–रति से अनुगृहीत होने पर *'विस्मय–रति'* में परिणत हो जाता है।।५५।।

विस्मय–रति का उदाहरण; (ब्रह्म–मोहन लीला में ब्रह्माजी ने जब यह देखा कि श्रीकृष्ण तो पहले की भाँति समस्त गोवत्स तथा गोप–बालकों के सहित खेल रहे हैं, फिर जब यह देखा कि प्रत्येक गोवत्स तथा गोपबालक चतुर्भुज नारायण रूप होकर विराजमान हैं, तो ब्रह्माजी विस्मित हो उठे और बोले)—प्रत्येक गोवत्स तथा प्रत्येक गो–बालक पीताम्बर धारण कर रहा है, श्रीवत्स चिह्नधारी है, सुपुष्ट चार भुजाओं से शोभित हो रहा है, ब्रह्मा के सहित अनन्त शिव–प्रजापति स्तुति कर रहे हैं एवं परब्रह्म श्रीकृष्ण परम उत्कर्ष धारण कर रहे हैं; यह देखकर ब्रह्मा अतिशय विस्मित हो उठे और कहने लगे—अहो ! यह क्या !!—यह ब्रह्माजी में विस्मयरति उदाहृत हुई है।।५६।।

अथ उत्साहरतिः—

४२—स्थेयसी साधुभिः श्लाघ्यफले युद्धादिकर्मणि।
सत्वरा मानसासक्तिरुत्साह इति कीर्त्यते।।५७।।
४३—कालानवेक्षणं तत्र धैर्यत्यागोद्यमादयः।
सद्धः पूर्वोक्तविधिनाऽसावुत्साहरतिर्भवेत्।।५८।।

यथा, १६—कालिन्दीतटभुवि पत्रशृंगवंशी—
निक्काणैरिह मुखरीकृताम्बरायाम्।
विस्फूर्ज्जन्नघदमनेन योद्धुकामः
—श्रीदामा परिकरामुद्भटं बबन्ध।।५६।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*युद्धादिकर्मणीति आदि पदेन युद्ध–दान–दया–धर्मादि एव गृह्यन्ते। स्वाभीष्टकर्मणीति वा पाठः ।।५७।।*

● *अनुवाद*—साधुगण द्वारा जिसके फल की प्रशंसा की जाती है, उस युद्धादि कर्म में अर्थात् युद्ध, दान, दया, धर्मादि स्वीय अभीष्ट कर्म में मन की जो स्थिरता त्वरायुक्त आसक्ति है, उसे *'उत्साह'* कहते हैं।।५७।।

इसमें काल की अपेक्षा–हीनता होती है, धैर्य नहीं रहता तथा उद्यमादि प्रकाशित होते हैं। यह उत्साह पूर्वोक्त प्रणाली से सिद्ध होने पर *'उत्साह–रति'* में परिणत होता है।।५८।।

उदाहरण; कालिन्दी तटवर्ती भूमि में पत्र–शृंग एवं वंशीध्वनि से आकाश गूँज उठा। तब वहाँ मेरे समान बलवान जगत् में और कौन है ? इस प्रकार बोलते हुए अहंकार पूर्वक श्रीकृष्ण के साथ युद्ध करने के लिए उत्साहित होकर श्रीदामा ने दृढ़रूप से कमर में फेंट कस ली।।५६।।

अथ शोकरतिः—

४४—शोकस्त्विष्ट—वियोगाद्यैश्चित्तक्लेशभरः स्मृतः।
विलापपातनिश्वासमुखशोषभ्रमादिकृत्।
पूर्वोक्तविधिनैवायं सिद्धः शोकरतिर्भवेत्।।६०।।

यथा श्रीदशमे (१०।७।२५)—

१७—रुदितमनु निशम्य तत्र गोप्योभृशमनुरक्तधियोऽश्रुपूर्णमुख्यः।
रुरुदुरनुपलभ्य नन्दसूनुं पवन उपारतपांशुवर्षवेगे।।६१।।

यथा वा, १८—अवलोक्य फणीन्द्रयन्त्रितं तनयं प्राणसहस्रवल्लभम्।
हृदयं न विदीर्यति द्विधा धिगिमां मर्त्यतनोः कठोरताम्।।६२।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*चित्तक्लेशभर इति प्रियस्य नाशभावनामयत्वात् परमातिशयिचित्तक्लेश इत्यर्थः।।६०।। अवलोक्येति श्रीव्रजेश्वरः स्वयमेव स्वं निन्दति।।६२।।*

● *अनुवाद*—इष्ट के वियोगादि (प्रिय व्यक्ति के विरह, उसकी अनिष्ट भावना तथा उसकी पीड़ादि) के कारण चित्त में जो अतिशय क्लेश होता है, उसे *'शोक'* कहते हैं। इसमें विलाप, पृथ्वी पर गिरना, निश्वास, मुँह सूखना तथा भ्रम आदि प्रकाशित होते हैं। यह शोक पूर्वोक्त रीति से सिद्ध होने पर अर्थात् श्रीकृष्ण—विषयक होने से *'शोक—रति'* नाम धारण करता है।।६०।।

उदाहरण; (श्रीमद्भागवत (१०।७।२५) में तृणावर्त्त द्वारा श्रीबालकृष्ण को उड़ा ले जाने के बाद जब श्रीयशोदाजी ने श्रीकृष्ण को वहाँ नहीं देखा तो वहाँ शोक छा गया)—धूल भरी आँधी के वेग के शान्त होने पर यशोदा की रोने की ध्वनि को सुनकर श्रीकृष्ण में अत्यन्त अनुरक्त—चित्त गोपीगण वहाँ इकट्ठी हो गईं और श्रीकृष्ण को न देखकर अश्रु प्रवाहित करती हुईं रोने लगीं।।६१।।—

दूसरा उदाहरण; कालियदह में श्रीकृष्ण के कूद जाने पर शोकाकुल चित्त श्रीनन्दराज बोले; कोटि—कोटि प्राणों से भी अधिक प्रिय पुत्र कृष्ण को कालिय नाग से लिपटा हुआ देखकर भी जब मेरा हृदय विदीर्ण नहीं हुआ, तब इस मर्त्त्य शरीर की कठोरता को धिक्कार है।।६२।।

अथ क्रोधरतिः—

४५—प्रातिकूल्यादिभिश्चित्तज्वलनं क्रोध ईर्यते।
पारुष्यभ्रुकुटीनेत्रलौहित्यादिविकारकृत्।।६३।।
४६—एवं पूर्वोक्तवत्सिद्धं विदुः क्रोधरतिं बुधाः।
द्विधाऽसौ कृष्णतद्वैरिविभावत्वेन कीर्तिता।।६४।।

● *अनुवाद*—प्रतिकूलता आदि से चित्त में जो जलन होती है, उसे *'क्रोध'* कहते हैं। क्रोध से पारुष्य (निष्ठुरता), भ्रुकुटी—भंग तथा नेत्रों का लाल हो जाना विकार उत्पन्न होते हैं। पूर्वोक्त रीति से सिद्ध होने पर अर्थात् कृष्ण—विषयक होने पर इस क्रोध को पण्डितजन *'क्रोधरति'* कहते हैं। यह क्रोधरति दो प्रकार की है—१. *कृष्ण—विभावा* (इसमें श्रीकृष्ण विभावा या क्रोध के विषय

होते हैं) एवं २. *कृष्णवैरि–विभावा* (इसमें कृष्णवैरी क्रोध के विषय या विभाव होते हैं)।।६३–६४।।

तत्र कृष्णविभावा, यथा–

१९–कण्ठसीमनि हरेर्द्युतिभाजं राधिकामणिसरं परिचित्य।
तं चिरेण जटिला विकटभ्रूभंगभीमतरदृष्टि ददर्श।।६५।।

तद्वैंरिविभावाः, यथा–

२०–अथ कंससहोदरोग्रदावे हरिमभ्युद्यति तीव्रहेतिभाजि।
रभसादलिकाम्बरे प्रलम्बद्विषतोऽभूद् भ्रुकुटीपयोदलेखा।।६६।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*कण्ठेति। अत्र श्वश्रुमन्यायाः जटिलायाः क्रोधः श्रीकृष्णरतिमूलकत्वेनापि सम्भवति, श्रीकृष्णस्यापि मंगलकामनया स्ववधूसम्बन्ध–निवर्तनात्। एवं सर्वत्र ज्ञेयम्।।६५।। अथ कंसेति हेतिः अस्त्रं ज्वाला च। अलिकं ललाटम्।।६६।।*

● *अनुवाद*–कृष्णविभावा क्रोधरति का उदाहरण; श्रीकृष्ण के कण्ठ में श्रीराधा का दीप्तिमय मणिहार देखकर जटिला विकराल भ्रुकुटी तानकर बहुत देर तक श्रीकृष्ण की ओर देखती रही।।६५।।

कृष्णवैरि–विभावा क्रोधरति का उदाहरण; कंस के भाई–रूप तीव्र ज्वालामय विक्राल दावानल द्वारा श्रीकृष्ण को घिरा हुआ देखकर प्रलम्ब–द्वेषी श्रीबलराम के ललाटरूप आकाश में एकमात्र भ्रुकुटीरूपा मेघ रेखा उदित हो उठी।।६६।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–कृष्णविभावा–क्रोधरति के उदाहरण में अपने को श्रीराधा की सास मानने वाली जटिला के क्रोध के विषय हैं श्रीकृष्ण। जटिला का क्रोध कृष्णरति मूलक है। श्रीकृष्ण जटिला की रति के विषयालम्बन–विभाव हैं। जटिला की कृष्ण–विषयक रति न होने पर क्रोध को क्रोधरति नहीं कहा जा सकता। जटिला श्रीकृष्ण की मंगलकामना करती हैं, परदाराका मणिहार धारण करने में श्रीकृष्ण का अपयश लोक समाज में न हो, इसलिए वह क्रोध करती है। कृष्णवैरि–विभावा क्रोधरति में श्रीकृष्ण के वैरी कंस के भाई श्रीबलरामजी के क्रोध के विषय हैं। श्रीबलरामजी की श्रीकृष्ण में रति तो है ही।

अथ भयरतिः–

४७–भयं चित्तातिचांचल्यं मन्तुघोरेक्षणादिभिः।
आत्मगोपनहृच्छोषविद्रवभ्रमणादिकृत्।।६७।।
४८–निष्पन्नं पूर्ववदिदं बुधा भयरतिं विदुः।
एषाऽपि क्रोधरतिवद् द्विविधा कथिता बुधैः।।६८।।

● *अनुवाद*–अपराध से और घोर भयंकर वस्तु के देखने से चित्त में जो अतिशय चंचलता उदित होती है, उसे 'भय' कहते हैं। इस भय में आत्म–गोपन (अपने को छिपाना), चित्त का शोष, भागना तथा भ्रमणादि प्रकाशित होते हैं। पूर्वोक्ति रीति निष्पन्न होने पर, श्रीकृष्ण–विषयक भय होने पर इस भय को

विद्वान् *'भयरति'* कहते हैं। यह भी क्रोध रति की भाँति दो प्रकार की है—१. कृष्णविभावा एवं २. दुष्टविभावा।।६७—६८।।

तत्र कृष्णविभावा, यथा—

२१—याचितः पटिमभिः स्यमन्तकं शौरिणा सदसि गान्धिनीसुतः।
वस्त्रगूढमणिरेष मूढधीस्तत्र शुष्यदधरः क्लमं ययौ।।६६।।

दुष्टविभावाः, यथा—

२२—भैरवं रुवति हन्त गोकुलद्वारि वारिदनिभे वृषासुरे।
पुत्रगुप्तिधृतयत्नवैभवा कम्प्रमूर्तिरभवद् व्रजेश्वरी।।७०।।

● *अनुवाद—कृष्णविभावा—भयरति का उदाहरण*—सभा में अक्रूर कपड़े में स्यमन्तक मणि को छिपाये हुए बैठे थे, श्रीकृष्ण ने चतुरता पूर्वक उनसे उस मणि को चाहा। तब (यह जानकर कि श्रीकृष्ण ने मेरी इस अनीती को जान लिया है) हतबुद्धि अक्रूर का भय से मुख सूख गया और अति क्लेश अनुभव करने लगे।।६६।।

दुष्टविभावा—भयरति का उदाहरण; मेघ के समान वृषासुर ने जब गोकुल के द्वार पर आकर भयंकर गर्जन किया, तो श्रीकृष्ण की रक्षा के लिए यत्न करती हुई यशोदाजी कम्प की मूर्ति हो गईं अर्थात् अतिशय काँपने लगीं।।७०।।

अथ जुगुप्सारतिः—

४६—जुगुप्सा स्यादहृद्यानुभवाच्चित्तनिमीलनम्।
तत्र निष्ठीवनं वक्त्रकूणनं कुत्सनादयः।
रतेरनुग्रहाज्जाता सा जुगुप्सारतिर्मता।।७१।।

यथा, २३—यदवधि मम चेतः कृष्णपादारविन्दे
नवनवरसधामन्युद्यतं रन्तुमासीत्।
तदवधि बत नारीसंगमे स्मर्यमाण
भवति मुखविकारः सुष्ठु निष्ठीवनं च।।७२।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*वक्त्रकूणनं मुखस्य कुटिलीकरणम्।।७१।।*

● *अनुवाद*—अहृद्य अर्थात् घृणास्पद विषय के अनुभव करने में चित्त का जो निमीलन या संकोच है, उसे *'जुगुप्सा'* कहते हैं। इससे थूकना, मुख का सिकोड़ना, निन्दादि करना प्रकाशित होते हैं। यह जुगुप्सा यदि कृष्णरति से अनुगृहीत होकर उत्पन्न हो तो उसे *'जुगुप्सा—रति'* कहते हैं।।७१।।

उदाहरण; जिस समय से मेरा मन नव—नव रससागरस्वरूप श्रीकृष्ण के चरणारविन्द के आनन्द को अनुभव करने लगा है, उस समय से पहले किये हुए नारी—संगमादि की बात स्मरण आते ही मेरा मुख सिकुड़ जाता है और थूक आने लगता है।।७२।।

५०—रतित्वात्प्रथमैकैव सप्त हासादयस्तथा।
इत्यष्टौ स्थायिनो यावद्रसावस्थां न संश्रिताः।।७३।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*प्रथमा मुख्या, यावदिति रसावस्थायां तु रसा एवोच्यन्ते इत्यर्थः।।७३।।*

● *अनुवाद*–जब तक रसावस्था को प्राप्त नहीं करते, तब तक रतित्व के कारण प्रथमा अर्थात् मुख्यारति तथा हासादि सातों गौणी रतियाँ–ये आठों *'स्थायिभाव'* ही कहलाते हैं।।७३।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–रसावस्था प्राप्त होने पर ही इन आठों को 'रस' कहा जाता है। रसरूप में परिणत होने पर भी किन्तु इनका स्थायि भावत्व नष्ट नहीं होता। यदि नष्ट हो जाता होता तो इन्हें स्थायिभाव ही न कहा जाता। ये रस के अन्तर्भुक्त रहकर रसत्व की प्रधानता को प्राप्त करते हैं। दधि में चीनी, कर्पूर, काली मिर्चादि मिलाकर 'रसाला' नाम का स्वादिष्ट पदार्थ तैयार होता है। रसाला में दधि अवस्थित ही रहता है, आस्वादन चमत्कारिता के बढ़ा देने के कारण उस दधि का नाम 'रसाला' हो जाता है।।

५१–चेत्स्वतन्त्रास्त्रयस्त्रिंशद्भवेयुर्व्यभिचारिणः।
इहाष्टौ सात्त्विकाश्चैते भावाख्यास्तानसंख्यकाः।।७४।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*स्वतन्त्राः स्थाय्यंगतया रसात्मतामगताश्चेद्भवेयुस्तदा व्यभिचारिणस्त्रयस्त्रिंशत्। ताना ऊनपंचाशत् तत्संख्यकाः।।७४।।*

● *अनुवाद*–तेतीस व्यभिचारि भाव यदि स्वतन्त्र रूप से अर्थात् स्थायी भावों के अंगरूप में रसात्मता प्राप्त करें, तो ३३ व्यभिचारि भाव, ८ स्थायी भाव तथा ८ सात्त्विकभाव; ये सब मिलकर कुल ४६ भाव होते हैं।।७४।।

५२–कृष्णान्वयाद् गुणातीतप्रौढानन्दमया अपि।
भान्त्यमी त्रिगुणोत्पन्नसुखदुःखमया इव।।७५।।
५३–तत्र स्फुरन्ति ह्रीबोधोत्साहाद्याः सात्त्विका इव।
तथा राजसवद्गर्वहर्षसुप्तिहासादयः।
विषाददीनतामोहशोकाद्यास्तामसा इव।।७६।।
५४–प्रायः सुखमयाः शीता उष्णा दुःखमया इह।
चित्रेयं परमानन्दसान्द्राऽप्युष्णा रतिर्मता।।७७।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*कृष्णान्वयादित्यस्यायमर्थः–कृष्णस्फुरणमयत्वा–द्धर्षादय–स्तावदप्राकृतसुखमया एव, किन्तु तदन्वयाद् विषादादयश्च तादृशसुखमया एव वक्तव्याः। दुःखमयत्वेन तेषां स्फुरणंतु तदप्राप्त्यादिभावनारूपेणोपाधिनोपादानेनैव जायते; कृष्णस्फुरणंतु तत्र निमित्तमात्रं, भक्तानामायत्यां तत्प्राप्त्यादस्यत्यावश्यका एव, प्राप्त्यादिषु तु जातेषु तद्भावनारूपस्योपाधेरुपादानस्यापगमाद्धर्षस्य पोषणाच्च बुभुक्षादिवद्विषादादयोऽपि सुखमयत्वेनैव स्फुरन्तीति दुःखमया इव, ते न तु दुःखमयाः। ते च भक्तगते सुखदुःखे अभक्तानां त्रिगुणोत्पन्ने एते इति प्रतीत्यास्पदे भवतः, वस्तुतस्तु न तादृशे। यथोक्तमेकादशे (भा० ११।२५।२४) "कैवल्यं सात्त्विकं ज्ञानमित्यादौ" "मन्निष्टं निर्गुणंस्मृतमिति। प्रायो वितर्के, शीता हर्षादयः। उष्णा विषादादयः। रतेः स्वतः उष्णत्वं तु संयोगेऽप्युत्कण्ठा–शंका–प्रधानत्वात्, यथोक्तं–*

"अदृष्टे दर्शनोत्कण्ठा दृष्टे विच्छेदभीरुता।
नादृष्टेन न दृष्टेन भवता लभ्यते सुखमिति।।७६–७७।।

● *अनुवाद*—श्रीकृष्ण के स्फुरणमयत्व के कारण ये सब भाव मायिक गुणों से परे हैं और प्रौढ़–अतिशय आनन्दमय होते हुए भी मायिक गुणों से पैदा हुए सुख–दुःख की भाँति प्रतिभात होते हैं। उनमें लज्जा, बोध एवं उत्साहादि सात्त्विक–सत्त्व गुणोद्भूत की भाँति, गर्व, हर्ष, सुप्ति एवं हासादि रजोगुणोद्भूत की भाँति तथा विषाद–दीनता, मोह–शोकादि तमोगुणोद्भूत की भाँति प्रतीत होते हैं।।७५–७६।।

हर्षादि–शीत भाव समूह प्रायशः सुखमय होते हैं, और विषादादि उष्ण भावसमूह दुःखमय होते हैं। आश्चर्य की बात यह है कि निबिड़–घनीभूत परमानन्द स्वरूप होते हुए भी रति उष्णा है।।७७।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—श्रीकृष्ण मायिक गुणातीत हैं एवं आनन्दस्वरूप हैं, कृष्णरति भी ह्लादिनी प्रधाना स्वरूपशक्ति की वृत्ति विशेष होने के कारण मायिक गुणातीत है और आनन्दस्वरूप है। गुणातीत एवं आनन्दस्वरूप श्रीकृष्ण के सम्बन्ध के कारण लज्जा, बोध, उत्साहादि तथा गर्व–हर्ष–सुप्ति आदि व्यभिचारि भावों का तथा हासादि गौणीरति का अभ्युदय होता है। अतः व्यभिचारि भाव तथा गौणीरति स्वरूपतः मायिक गुणातीत हैं, एवं उनसे पैदा होने वाले सुख–दुःख भी स्वरूपतः गुणातीत हैं तथा प्रौढ़ानन्दमय हैं। तथापि उनसे उद्भूत समस्त सुख–दुःखों का बाहरी रूप मायिक सत्त्व, रजः एवं तमोगुण से उद्भूत सुख–दुःखों की तरह प्रतीत होता है।

आनन्दस्वरूप श्रीकृष्ण के साथ सम्बन्धित होने से एवं भावसमूह भी जब आनन्दस्वरूप कृष्णरति से उद्भूत हैं, तब वे तो आनन्द–सुखमय ही होने चाहिये, उनमें दुःख कैसा ?

इस प्रश्न का उत्तर श्रीपादजीवगोस्वामी ने दिया है–कृष्ण–स्फुरणमय होने से हर्षादि समस्त भाव अप्राकृत सुखमय ही हैं। तथापि विषादादि दुःखमय प्रतीत होते हैं, उसका कारण यह है कि श्रीकृष्ण की अप्राप्ति आदि भावनारूप जो उपाधि है, उसी उपाधिरूप उपादान से ही उनका दुःखमय रूप में स्फुरण होता है। यहाँ कृष्ण–स्फुरण है निमित्तमात्र। कृष्ण–प्राप्ति के लिए ही भक्तों की उत्कण्ठा होती है। जब श्रीकृष्ण को पाया नहीं जाता, तब उनकी अप्राप्ति–भावनारूप उपाधि के योग से वस्तुतः सुखमय विषाद–शोकादि भाव दुःखमय होकर प्रतीत होते हैं; किन्तु फिर श्रीकृष्ण की प्राप्ति होने पर उस उपाधि के दूर हो जाने पर अर्थात् अप्राप्ति की भावना न रहने पर सुख या हर्ष ही पुष्टि लाभ करता है और विषादादिक की भी सुखमय रूप में स्फूर्ति होने लगती है। आगन्तुक उपाधि के योग से वे दुःखमय की भाँति लगते हैं, वास्तविक दुःखमय नहीं होते, सुखमय ही होते हैं। दुःखमय रूप में जो ज्ञान है, वह औपाधिक होता है, वास्तव नहीं।

श्रीपादविश्वनाथ चक्रवर्ती ने इस विषय को उदाहरण देकर परिस्फुट किया है; व्रजगोपीगण जब श्रीकृष्ण का दर्शन करती हैं, तब दर्शनजनित आनन्द से

उनके नेत्रों से अश्रुधारा बह निकलती है; यह अश्रुधारा दुःख की परिचायक नहीं है, बल्कि सुख की परिचायक है, तथापि यह सुखमय अश्रुधारा श्रीकृष्ण दर्शन में विघ्न पैदा करती है, इसलिए वे उसको भी धिक्कार करती हैं। गरम इक्षु (गन्ने) को चबाते समय उसके माधुर्य–आस्वादन में अत्यन्त सुख होता है, और गरम लगने से उसके त्यागने की भी इच्छा होती है, किन्तु स्वादवश उसका त्याग भी नहीं किया जाता। गोस्वामी श्रीकृष्णदास कविराज ने लिखा है।

बाह्ये विषज्वाला, भितरे आनन्दमय, कृष्णप्रेमार अद्भूत चरित्र।
एई प्रेमार आस्वादन, तप्त इक्षुचर्वण, मुखज्वले ना जाय त्यजन।
सेई प्रेमा यार मने, जार विक्रम सेइ जाने, विषामृत एकत्र मिलन।।

(श्रीचै० च० २।२।४४–४५)

अतः श्रीकृष्ण की अप्राप्ति आदि की आगन्तुक भावना के कारण दुःख होता है, जो केवल बाहर की वस्तु है। वह प्रेम या भाव के स्वरूप का स्पर्श भी नहीं कर सकता। इसलिए श्रीकृष्ण की अप्राप्ति की अवस्था में भी भक्त के हृदय में परमानन्द ही अनुभूत होता रहता है। भक्तों का यह भावजनित सुख–दुःख मायिक गुणत्रय से उद्भूत नहीं होता–निर्गुण होता है। श्रीभगवान् ने (श्री भा० ११।२५।२४) में कहा है–"ज्ञानं मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्।"

आनन्दमय होते हुए भी भाव दो प्रकार के कहे गये हैं–१. शीत तथा २. उष्ण। हर्षादि भाव शीत हैं अर्थात् शीतल, स्निग्ध हैं, तापप्रद नहीं हैं। इन समस्त शीतल भावों द्वारा पुष्ट होकर कृष्णरति भी अत्यन्त स्निग्ध एवं सुखप्रद हुआ करती है। और श्रीकृष्ण के अदर्शनादि जनित जो विषादादि भाव हैं, उनमें श्रीकृष्ण की अप्राप्ति की भावना है, उनकी प्राप्ति के लिए बलवती उत्कण्ठा रहती है, प्राप्ति में शंकादि की प्रधानता रहने से उनमें स्वतः उष्णता है। वे उष्ण हैं एवं तापप्रद हैं। अतः कृष्णरति जब ऐसे बलवान उष्ण भावों के साथ तादात्मता प्राप्त करती है, तब वह उष्णरूप अर्थात् तापप्रद प्रतीत होती है। किन्तु वह उष्णता एवं ताप वस्तुतः कृष्णरति का नहीं है, वह है उन विषादादि भावों का, रति में वह आरोपित मात्र है, जैसे लोहा में ताप नहीं है किन्तु अग्नि की तादात्मता से उसमें उष्णता एवं ताप आरोपित होता है। इसी बात का अगली कारिका में उल्लेख करते हैं–

५५–शीतैर्भावैर्बलिष्ठैस्तु पुष्टा शीतायते ह्यसौ।
उष्णैस्तु रतिरत्युष्णा तापयन्तीव भासते।
विप्रलम्भे ततो दुःखभराभासकृदुच्यते।।७८।।
५६–रतिर्द्विधाऽपि कृष्णाद्यैः श्रुतैरवगतैः स्मृतैः।
तैर्विभावादितां यद्भिस्तद्भक्तेषु रसो भवेत्।।७६।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*शीतैर्भावैः शीतायते, हर्षादिभिः सहायदं प्राप्नोतीत्यर्थः। उष्णैरिति। स्वस्यात्युष्णत्वाभावान्न स्वयं तापयति किन्तूष्णैर्विषादादिभिर्भावैरत्युष्णेव सती तापयन्तीव भासते, प्रतीयते, वियोगाद्युत्थानां तेषां गुणा एव तस्यामारोप्यन्त इत्यर्थः। यथा यो[illegible]गुणाभावेऽपि तत्तद्गुणद्रव्यैरिवेति भावः।*

आभासत्वमाद्यन्तयोरस्थायित्वात् वियोगलक्षणमुपाधिमन्वेव मध्येऽन्यथा प्रतीयमानत्वात्।।७८।। मुख्यागौणी विभेदेन द्विधा, अभिनयादौ कृष्णत्वादिनावगतैः। यद्भिः प्राप्नुवद्भिः।।७६।।

● *अनुवाद*–बलवान शीतभावों द्वारा पुष्टि लाभ करके रति हर्षादि शीतभावों के साथ या तादात्मता प्राप्त कर लेती है। रति स्वरूपतः उष्ण न होकर भी विषादादि उष्ण भावों के साथ मिलने पर उष्णता प्राप्त करती है और तापप्रद होकर प्रतीत होती है। इसलिए विप्रलम्भ–विच्छेद में विषादादि के योग से कृष्णरति अतिशय दुःख की आभास–कारिणी कही जाती है। (आदि में यह दुःख नहीं होता, अन्त में भी नहीं रहता, वियोगरूप उपाधि के कारण यह दुःखमय प्रतीत होती है–इसलिए (आभास) कहा गया है।।७८।।

मुख्या तथा गौणी–दोनों ही प्रकार की रति अभिनय आदि में श्रीकृष्ण आदि के श्रवण, दर्शन तथा स्मरण से उनकी विभावादि रूपता को प्राप्त करने के कारण उनके भक्तों में 'रस' रूप हो जाती है।।७६।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–रति के कारण, कार्य तथा सहायरूप जिनका पहले वर्णन कर आये हैं, उनके द्वारा श्रीकृष्ण, कृष्णभक्त, स्मित–स्तम्भादि तथा निर्वेदादि में श्रवण द्वारा, अथवा उनके वाचक–शब्दों से श्रीकृष्ण आदि का बोध उत्पन्न होने पर, अभिनयादि में दर्शनादि करने पर अथवा मन में भावना के द्वारा बोध उदित होने पर यह रति विभावना, अनुभावना तथा संचारणा को प्राप्त होकर कृष्णभक्तों में रसरूप में परिणत हो जाती है। हासादि कारणरूप विभाव द्वारा स्वकार्य हासादि में उत्कर्ष स्थापन को *'विभावना'* कहते हैं। इसी प्रकार अनुभावों की सहायता में *'अनुभावना'* तथा संचारी–भावों के सहयोग प्राप्त होने पर *'संचारणा'* कहा जाता है।।

५७–यथा दध्यादिकं द्रव्यं शर्करामरिचादिभिः।
संयोजन विशेषेण रसालाख्यो रसो भवेत्।।८०।।
५८– तदत्र सर्वथा साक्षात् कृष्णाद्यनुभवादभुतः।
प्रौढानन्द चमत्कारो भक्तैः कोऽप्यनुरस्यते।।८१।।
५६–स रत्यादिविभावाद्यैरेकीभावमयोऽपि सन्।
ज्ञप्ततत्तद्विशेषश्च तत्तदुद्भेदतो भवेत्।।८२।।

● *अनुवाद*–जैसे दधि आदि द्रव्य शक्कर और मरिच आदि के मिलने से *'रसाला'* नामक आस्वाद्य रस बन जाता है, उसी प्रकार अभिनय आदि में विभाव–अनुभाव रूप श्रीकृष्णादि का अनुभव होने से भक्तों में कुछ अनिर्वचनीय प्रौढ़ आनन्द का चमत्कार साक्षात् रसरूप में अनुभव होने लगता है।।८०–८१।।

वह रस रति आदि एवं विभावादि के साथ एकता प्राप्त होने पर भी, रति तथा विभावादि के भेद के कारण–रतिविभावादि की विशेषता का अनुभव कराता है, अर्थात् चरमदशा में सबकी एकीभाव में प्राप्ति होने पर भी बीच–बीच में रति–विभावादि का विशेष–विशेष अनुभव सूक्ष्मरूप से होता रहता है।।८२।।

तथा चोक्तं–

२४–प्रतीयमानाः प्रथमं विभावाद्यास्तु भागशः।
गच्छन्तो रसरूपत्वं मिलिता यान्त्यखण्डताम्।।८३।।
२५–यथा मरिचखण्डादेरेकीभावेऽपि पानके।
उद्भासः कस्यचित्क्वापि विभावादेस्तथा रसः।।८४।।इति

● *अनुवाद*–प्राचीन मत है कि पहले विभाव, अनुभावादि अलग–अलग रूप में प्रतीयमान होते हुए भी मिलकर रसरूपता को प्राप्त होकर अखण्ड–एकरस स्वरूप हो जाते हैं। जैसे ठण्डाई में मरिच, चीनी आदि का एकभाव हो जाने पर भी कहीं किसी–किसी अंश में उनकी विशेष प्रतीति होती है, उसी प्रकार रस में भी विभावादि कभी–कभी विशेष रूप से प्रकाशित होते हैं।।८३–८४।।

६०–रतेः कारणभूता ये कृष्णकृष्णप्रियादयः।
स्तम्भाद्याः कार्यभूताश्च निर्वेदाद्याः सहायकाः।।८५।।
६१–हित्वा कारणकार्यादिशब्दवाच्यत्वमत्र ते।
रसोद्बोधे विभावादिव्यपदेश्यत्वमाप्नुयुः।।८६।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*रतेस्त्विति। स्पष्टतार्थमेवोक्तस्याप्यपवादोऽयं, विभावयन्तीत्येव व्याचष्टे, रतेस्तु तत्तदास्वादविशेषायातियोग्यतां कुर्वन्तीति परपरत्राप्येवमुन्नेयम्।।८५।।*

● *अनुवाद*–रति के कारण जो श्रीकृष्ण तथा कृष्ण–भक्तादि हैं, स्तम्भ आदि जो रति के कार्यभूत हैं, तथा निर्वेदादि जो रति के सहायक हैं; यहाँ रसोद्बोध प्रसंग में कारण, कार्य तथा सहकारी शब्द–वाच्यता को छोड़कर विभावादि–शब्दों से प्रयुक्त होते हैं।।८५–८६।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–प्राकृत घट–पट आदि पदार्थों का जिस प्रकार कार्य कारणत्व है, नित्य पदार्थ रति–विभावादि का उस प्रकार कार्य–कारणत्व नहीं होता, सम्भव भी नहीं है। तात्पर्य यह है कि लोक में जिनको रति का कारण कहा जाता है, वे रस–शास्त्र में 'विभाव' कहलाते हैं। रति के कार्य अनुभावों को और सहायक निर्वेदादि को संचारि या व्यभिचारि भाव कहा जाता है।

६२–रतेस्तु तत्तदास्वादविशेषायातियोग्यताम्।
विभावयन्ति कुर्वन्तीत्युक्ता धीरैर्विभावकाः।।८७।।
६३–तां चनुभावयन्त्यन्तस्तन्वन्त्यास्वादनिर्भराम्।
इत्युक्ता अनुभावास्ते कटाक्षाद्याः ससात्त्विकाः।।८८।।
६४–संचारयन्ति वैचित्रीं नयन्ते तां तथाविधाम्।
ये निर्वेदादयो भावास्ते तु संचारिणो मताः।।८९।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*तां विभावितां रतिमनुभावयन्ति अन्तर्मनस्यास्वादनिर्भरां तन्वन्ति कुर्वन्तीति, स्वरतेस्तत्तद्रूपेणातिविकाशात्।।८८।। तथाविधां विभावितामनुभावितांच।।८९।।*

● *अनुवाद*–(विभावादि शब्द की व्युत्पत्ति द्वारा यथार्थता दिखाते हैं)–जो समस्त भावरति अर्थात् स्थायी–भाव के आस्वाद विशेष के लिए योग्यता विशेष का विभावन अर्थात् अवधारण कराते हैं, उन्हें विद्वान् *'विभाव'* नाम से अभिहित करते हैं।।८७।।

पूर्वोक्त विभाविता अवस्था को प्राप्त हुई रति को जो अनुभव कराते हैं अर्थात् मन में आस्वादन की अतिशयता का विस्तार करते हैं, उन सात्त्विक सहित कटाक्षादि–भावों को *'अनुभाव'* कहते हैं।।८८।।

जो विभावित तथा अनुभावित रति को संचारित करते हैं अर्थात् वैचित्री प्राप्त कराते हैं, उन निर्वेदादि को *'संचारि'* कहा जाता है।।८९।।

६५–एतेषां तु तथाभावे भगवत्काव्यनाट्ययोः।
सेवामाहुः परं हेतुं केचित्तत्पक्षरागिणः।।९०।।
६६–किन्तु तत्र सुदुस्तर्कमाधुर्यादभुतसंपदः।
रतेरस्याः प्रभावोऽयं भवेत्कारणमुत्तमम्।।९१।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*तथाभावे विभावादित्वे।।९०।। अस्याः श्रीभगवत्–सम्बन्धिन्याः अयं वक्ष्यमाणप्रकारः।।९१।।*

● *अनुवाद*–विभाव, अनुभाव तथा संचारि–भावों के ४६ प्रकार के विभावों के विषय में काव्य–नाट्य के पक्षपाती लोग कहते हैं कि भगवत्–सम्बन्धी काव्य तथा नाट्यों में सेवा (अनुशीलन) का कारण निर्देश करते हैं, किन्तु (ग्रन्थकार के मत में) इस विषय में तर्क न करने योग्य माधुर्यरूप अद्भुत सम्पतिशालिनी भगवत्–रति का ही वक्ष्यमाण प्रभाव ही विभावादित्व का उत्तम कारण है।।९०–९१।।

६७–महाशक्तिविलासात्मा भावोऽचिन्त्यस्वरूपभाक्।
रत्याख्य इत्ययं युक्तो न हि तर्केण बाधितुम्।
भारताद्युक्तिरेषा हि प्राक्तनैरप्युदाहृता।।९२।।

यथोक्तमुद्यमपर्वणि–

२६–अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।
प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्।।इति

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*ननु देवतान्तररतिवदेवेयमपि सत्कविनिबद्धतयाऽपि रसत्वं नापद्येत, किमुत तां विनेत्याशङ्क्याह महाशक्तीति। ह्लादिनीविलासरूपः; अतएवाचिन्त्यस्वरूपभाक या खलु मोक्षानन्दमपि तिरस्करोति श्रीभगवन्त–मप्यानन्दयतीति भावः। न हि तर्केण बाधितुमिति–किन्तु श्रीभागवतादिशास्त्रानु–सार्यनुभवेनैव ग्रहीतुं युक्त इत्यर्थः। तर्केणाबाधे हेतुमाह–"भारताद्युक्तिरेषा हि प्राक्तनैरप्युदाहृतेति। प्राक्तनैः शारीरिक–भाष्यकारादिभिः शास्त्रविद्भिः। शास्त्रञ्चेदम्।।(भा० ११।२।४०)–*

एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गायत्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः।।

क्वचिद्रुदन्त्यच्युतचिन्त्या क्वचिद्धसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः।।
(भा० ११।३।३२) इत्यादि।।६२–६३।।

● *अनुवाद*–**महाशक्ति का विलासरूप तथा अचिन्त्य स्वरूप होने से रति नामक भाव की रसरूपता तर्क द्वारा बाधित नहीं हो सकती। इसलिए प्राचीन लोगों ने महाभारत (उद्यम पर्व) की यही उक्ति कही है; जो भाव अचिन्त्य हैं, उनके विषय में तर्क नहीं करना चाहिए। जो वस्तु माया एवं मायिक गुण के अतीत या परे है; उसे 'अचिन्त्य' कहते है।।६२–६३।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–उपर्युक्त प्रसंग में एक आशंका उठ सकती है; "दूसरे–दूसरे देवताओं की रति की तरह यह भगवद् विषयिणी रति भी सत्कवियों द्वारा निबद्ध होने पर भी रसरूपता को प्राप्त न होगी तथा पूर्वोक्त सेवा के बिना रसत्व को भी प्राप्त न करेगी"–इस आशंका का समाधान ऊपर के श्लोकों में किया गया है। भगवद् विषयिणी रति ह्लादिनी नामक महाशक्ति की विलास रूपा है और उसका स्वरूप अचिन्त्य है। अचिन्त्य का तात्पर्य है जो वस्तु या भाव मायिक मन–बुद्धि इन्द्रियों से गोचर नहीं होते ऐसे भावों के विषय में कोई तर्क या युक्ति काम नहीं देती। अतः भगवद्: रति अपनी अचिन्त्य शक्ति के कारण ही रसरूपता को प्राप्त करती है। इसमें कोई भी तर्क का स्थान नहीं है। अनुराग–जात व्यक्ति में श्रीकृष्णनाम लेते ही हँसना–रोना, नृत्य–गान आदि भावसमूह उस अनुराग के कारण ही उदित हो उठते हैं।।

६८–विभावतादीनानीय कृष्णादीन्मञ्जुला रतिः
एतैरेव तथाभूतैः स्वं संवर्द्धयति स्फुटम्।।६४।।
६९–यथास्वैरेव सलिलैः परिपूर्य बलाहकान्।
रत्नालयो भवत्येभिर्वृष्टैस्तैरेव वारिधिः।।६५।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*प्रभावमेव विवृणोति–विभावतादीनिति शेषः। तथाभूतैः विभावादित्वं प्राप्तैः।।६४।।*

● *अनुवाद*–**समुद्र जैसे अपने जल द्वारा मेघों को परिपूर्ण करके उन्हीं मेघों की वर्षा के जल से जलनिधि कहलाता है, उसी प्रकार यह मनोहरा कृष्णरति कृष्णादि को विभावता प्राप्त कराकर उन्हीं विभावित कृष्णादि के द्वारा अपने को स्पष्ट रूप से सम्वधिति करती है।।६४–६५।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–उक्त प्रसंग में रस–निष्पत्ति के विषय में आलोचना की जा रही है। रस कैसे बनता है, कैसे इसकी अभिव्यक्ति होती है; इसमें अनेक मत या वाद हैं। भरतमुनि ने कहा है–विभाव, अनुभाव, व्यभिचारि तथा सात्त्विक भावों के संयोग से रति रसत्व को प्राप्त करती है–"*विभावानुभाव व्यभिरचारी संयोगात् रसनिष्पत्ति*"। इस कथन में 'संयोग' तथा 'निष्पत्ति'–इन दो शब्दों को लेकर विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न मतों का प्रचार किया है। उनमें भट्टलोल्लट, श्रीशंकुक भट्टनायक तथा अभिनव गुप्त प्रधान हैं। उन्होंने निष्पत्ति शब्द का अर्थ क्रमशः किया है–उत्पत्ति, अनुमिति भुक्ति तथा अभिव्यक्ति। अतएव उनके मतवादों

को यथाक्रम–*उत्पत्तिवाद, अनुमितिवाद, भुक्तिवाद एवं अभिव्यक्तिवाद* कहा जाता है।

इन वादों का उल्लेख यहाँ ग्रन्थ विस्तार भय से नहीं किया जा रहा है, किन्तु यहाँ इतना ही वक्तव्य है कि ये चारों मत गौड़ीय वैष्णवों द्वारा ग्राह्य नहीं हैं। ये सब मत भगवत्–सम्बन्धी काव्य–नाट्य आदि के श्रवण, दर्शन तथा स्मरण से विभावत्व को रस–निष्पत्ति का मुख्य कारण मानते हैं। परन्तु श्रीमन्महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्यदेव तथा उनके कृपापात्र गौड़ीय गोस्वामिवृन्द का कहना है कि स्थायी–भाव अर्थात् कृष्णरति ही विभाव, अनुभाव सात्त्विक तथा व्यभिचारि भावों से मिलने पर रसत्व को प्राप्त होती है अर्थात् रसनिष्पत्ति का मुख्य कारण रति है न कि काव्य–नाट्य आदि से उत्पन्न विभावत्वादि। जलनिधि समुद्र की जल पूर्णता का कारण उससे उत्पन्न होने वाले मेघादि नहीं, स्वयं समुद्र का जल ही उसकी जलपूर्णता का कारण है।

प्रश्न उठता है कि यदि रति ही रसनिष्पत्ति का कारण है तो काव्य–नाट्यादि सब व्यर्थ हो जायेंगे ? इसका उत्तर अगली कारिकाओं में देते हैं–

७०–नवे रत्यंकुरे जाते हरिभक्तस्य कस्यचित्।
विभावत्वादिहेतुत्वं किंचित्तत्काव्यनाट्ययोः।।६६।।
७१–हरेरीषच्छ्रुतिविधौ रसास्वादः सतां भवेत्।
रतेरेव प्रभावोऽयं हेतुस्तेषां तथाकृतौ।।६७।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*तर्हि काव्यनाट्ययोर्वैयर्थ्यं स्यात् ? तत्राह नव इति। हरिभक्तस्य कस्यचित्काव्याद्यर्थचर्वणविज्ञस्येत्यधिकरणे सम्बन्धविवक्षा। तत्र हर्षाश्रयकाव्यनाट्ययोर्विभावतादिकारणत्वं स्यात्, तच्च किंचित्स्यात्। जातरतौ तु प्रकारान्तरस्यापि यथा तत्कारणत्वं न तथेत्यर्थः।।६६।। तर्हि कथमारूढ़भावेषु तत्तदप्रयोजकं स्यात् ? नेत्याह–हरेरिति। ईषत्श्रुतिविधावपि स्यात्। लोके हर्षशोकादिकारणेभ्यो हर्षशोकादि नियमेन जायते, काव्यनाट्ये सर्वेभ्योऽपि सुखमेवेत्यलौकिकत्वं ताभ्यां तत्तदनुभवप्राचुर्ये सुतरामेवेति भावः। श्रीहनुमदादीनां नित्यमेव रामायणश्रवणप्रसिद्धेः, (भा० १०।१।१३) 'नैषातिदुःसहा क्षुन्मामित्यादि श्रीपरिक्षित्प्रभृतिवचनात्। (भा० १०।३१।६) ''तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीडितमिति'' श्रीव्रजदेवीनामभिलाषाच्च। न च ते विना तेषु तदुत्पत्तिर्न सम्भाव्येत्याशङ्क्याह–तेषां कारणादीनां तथाकृतौ विभावत्वादिप्रापणे, हेतुरयं पूर्वोक्तरतेः प्रभाव एव स्यात्।।६७।।*

● ***अनुवाद***–**किसी एक काव्यादि अर्थों को चर्वण–विज्ञ (आस्वादन करने में चतुर) हरिभक्त में नूतन रति के अंकुर उत्पन्न होने पर उसके पक्ष में भगवद्–विषयक काव्य–नाट्यादि जो विभावत्वादि के कारण होते हैं, वह भी यत्किंचित् मात्र होते हैं।।६६।।**

हरि–सम्बन्धिनी कथा के किंचित् मात्र श्रवण से ही ऐसे हरिभक्त को रसास्वाद मिलता है। विभावादि के विभावत्व प्राप्त करने में रति का प्रभाव ही कारण होता है, काव्य–नाट्यादि का प्रभाव कारण नहीं होता।।६६–६७।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–जिस नये कृष्ण–भक्त के चित्त में केवलमात्र कृष्ण–रति का आविर्भाव होता है, श्रीकृष्ण–विषयक काव्य–नाट्यादि के अर्थ चर्वण करने से उसके पक्ष में ही कृष्णादि का विभावत्व पैदा हो सकता है। किन्तु यहाँ भी काव्य–नाट्यादि का अर्थ चर्वण ही है। अतः काव्य–नाट्यादि ही कृष्णादि के विभावत्वादि का एकमात्र कारण हों, ऐसा नहीं है। उस भक्त के चित्त में आविर्भूता कृष्णरति ही मुख्य हेतु है। काव्य–नाट्यादि का हेतुत्व अति सामान्य है। क्योंकि चित्त में कृष्णरति का आविर्भाव न होने पर काव्य–नाट्यादि के अनुशीलन में श्रीकृष्णादि विभावता प्राप्त नहीं कर सकते।

यहाँ एक प्रश्न और भी उठता है; यदि केवलमात्र रति–अंकुर के होने पर ही काव्य–नाट्यादि की किंचित् सार्थकता है, तो प्रेम, प्रणय, रागादि प्राप्त अवस्थाओं में क्या काव्य–नाट्यादि का कोई प्रयोजन नहीं है ?–इसका उत्तर यह है कि श्रीकृष्ण सम्बन्धी कथा किंचित् मात्र सुनने में ही ऐसे भक्तों में रसास्वादन होने लगता है। काव्य–नाट्यादि के द्वारा अनुभव तथा आस्वादन अतिशय बढ़ उठता है; अर्थात् रसास्वाद विषय में काव्य–नाट्यादि का अति अल्प कारणत्व रहता है, विभावादि के विभावत्व प्राप्त करने में रति का प्रभाव ही हेतु होता है, न कि काव्य–नाट्यादि का प्रभाव।।

७२–माधुर्याद्याश्रयत्वेन कृष्णादींस्तनुते रतिः।
तथाऽनुभूयमानास्ते विस्तीर्णां कुर्वते रतिम्।।९८।।
७३–अतस्तस्य विभादिचतुष्कस्य रतेरपि।
अत्र साहायकं व्यक्तं मिथोऽजस्रमवेक्ष्यते।।९९।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*तनुते प्रकाशयति।।९८।।*

● ***अनुवाद*–माधुर्यादि का आश्रय होने के कारण रति कृष्णादिक को प्रकाशित करती है, और माधुर्यादि के आश्रयभूत कृष्णादि भी रति को विस्तीर्ण करते हैं। अतएव यहाँ विभावादि चतुष्टय का (विभाव, अनुभाव, सात्त्विक–भाव एवं व्यभिचारि भावों का) तथा रति का–इन दोनों का निरन्तर एक दूसरे का सहायकत्व दीखता है।।९८–९९।।**

७४–किन्त्वेतस्याः प्रभावोऽपि वैरूप्ये सति कुंचति।
वैरूप्यं तु विभावादेरनौचित्यमुदीर्य्यते।।१००।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*विभावादेरिति विभावोऽत्र श्रीकृष्णः श्रीकृष्णभक्तविशेषश्च, तदादेर्वैरूप्यमनुपयुक्तावस्थत्वम्।।१००।।*

● ***अनुवाद*–किन्तु विभावादि के अनौचित्यरूप वैरूप्य के उपस्थित होने पर यह रति का प्रभाव भी संकुचित हो जाता है।।१००।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–यहाँ विभाव से कृष्ण–भक्त विशेष तथा श्रीकृष्ण ही अभिप्रेत हैं। उनका अनौचित्य रूप वैरूप्य इस प्रकार है कि किसी दृश्य काव्य–नाटक या अभिनय में जो श्रीराधा और श्रीकृष्ण का अनुकरण कर रहे हैं, उनका वैरूप्य। जैसे जो श्रीराधा बन रहा है यदि श्रीकृष्ण बनने वाले की अपेक्षा उसकी वयस अधिक है तो यह वैरूप्यता है। यह देखकर भक्तों की रति संकुचित

हो जाती है, पुष्ट नहीं होती। इस प्रकार श्रव्यकाव्य वर्णन में भी—कथा चरित्र ग्रन्थ में भी विभावादि का यथायथ रूप यदि वर्णन न किया जाये तो रति संकुचित हो जाती है।।

७५—अलौकिक्या प्रकृत्येयं सुदुरूहा रसस्थितिः।
यत्र साधारणतया भावाः साधु स्फुरन्त्यमी।।१०१।।
७६—एषां स्वपरसम्बन्धनियमानिर्णयो हि यः
साधारण्यं तदेवोक्तं भावानां पूर्वसूरिभिः।।१०२।।

तदुक्तं श्रीभरतेन—

२७—"शक्तिरस्ति विभावादेः काऽपि साधारणीकृतौ।
प्रमाता तदभेदेन स्वं यया प्रतिपद्यते।।१०३।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*अथ तादृशी रतिरेव प्राचीनभक्तानां भावैः सहार्वाचीनानां भावान् साधारण्यमानयति साधारण्य—प्रापकेण भावेन येन रसस्थितिरपि तादृशी स्यादित्याह—अलौकिक्येत्यादिना प्रतिपद्यत इतीत्यन्तेन। भावा अत्र विभावादयो रत्यादयश्च, यदुक्तं—*

"व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणीकृतिः।
तत्प्रभावात्परस्यासन् पाथोधिप्लवनादयः।।
उत्साहादिसमुद्‌बोधः साधारण्याभिमानतः।
नृणामपि समुद्रादिलंघनादौ न दुष्यति।।
साधारण्यनेन रत्यादिरपि तद्वत्प्रतीयते।
परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च।।
तदास्वादे विभावादेः परिच्छेदो न विद्यते"।।इति

प्लवनादयः तादृशचेष्टाः, रत्यादेरपि स्वात्मगतत्वेन ब्रीडातंकादिर्भवेत्। परगतत्वेन रसता न स्यादिति भावः। मुनिवाक्ये तु भेदांशः स्वयमस्त्येवेत्यभेदांश एव तु विभावादेः शक्तिरिति भावः।।१०१।।

● ***अनुवाद***—**अलौकिकी प्रकृति द्वारा यह सुदुरूह रसस्थिति हुआ करती है। जिस रसस्थिति में भावसमूह (विभावादि एवं रति आदि) की साधारण या सामान्य भाव से स्पष्ट रूप में स्फूर्ति प्राप्त होती है। इन भावों के स्व—पर स्वरूपसम्बन्ध नियम का जो अनिर्णय है, प्राचीन पण्डित उसको ही भावों का 'साधारण्य' कहते हैं।।१०१—१०२।।**

श्रीभरत मुनि ने कहा है—क्रिया में विभावादि की ऐसी एक साधारण शक्ति है, जिसके प्रभाव से प्रमाता (उस प्रकार के काव्यादि का अनुभवकर्ता ध्वनिज्ञ भक्त या सहृदय सामाजिक) प्राचीन भक्त के साथ आमोद मानता है।।१०३।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—किसी साधु—समाज में श्रीरामायण पाठ हो रहा था। उसमें श्रीहनुमान जी के समुद्र लंघन का प्रसंग आया। एक सहृदय भक्त उसे सुन कर श्रीहनुमान की तरह लज्जा संकोच त्याग कर सभा में मानो समुद्र लंघन करने के लिए कूदने—फाँदने लगा। यहाँ अर्वाचीन भक्त अभिनयकर्ता नहीं है—सामाजिक है। वह अपने को श्रीहनुमान ही मान कर ऐसा करने लगा। यहाँ

श्रीहनुमान तथा उस भक्त के भाव ने साधारण्य प्राप्त किया। इसी प्रकार दृश्य नाटक में एक बार जो व्यक्ति दशरथ जी का रूपधारणकर अनुकरण कर रहा था, श्रीराम वन को चले गये हैं—यह सुनते ही श्रीदशरथ जी के भावों के आवेश में उसने प्राण त्याग दिये। यहाँ अनुकार्य श्रीदशरथ के साथ अनुकर्ता भक्त का अभेद मनन है—दोनों के भावों का साधारणीकरण है। इन अवसरों पर वैसी रति ही प्राचीन भक्तों के साथ अर्वाचीन भक्तों के भावों का साधारण्य ला देती है, जिसके द्वारा रसस्थिति भी वैसी हो जाती है। इन समस्तभावों का अनिर्णय या निर्णय न होना ही भावों का साधारणीकरण है। यहाँ भावों का तात्पर्य विभावादि तथा रत्यादिक से है। यह दूसरे का है, या दूसरे का नहीं है, यह मेरा है या यह मेरा नहीं है—इस प्रकार का जो संशय है, अपने—पराये सम्बन्ध—नियम की जो अनिश्चयता है—इसे साधारणीकरण कहते हैं।

श्रीजीव गोस्वामी जी ने टीका में कहा है—भरतमुनि के वाक्य में भेदांश स्वयं है ही, अभेदांश में ही विभावादि की शक्ति है।

७७—दुःखादयः स्फुरन्तोऽपि जातु स्वीयतया हृदि।
प्रौढानन्दचमत्कारचर्वणामेव तन्वते।।१०४।।
७८—पराश्रयतयाऽप्येते जातु भान्तः सुखादयः।
हृदये परमानन्दसंदोहमुपचिन्वते।।१०५।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*अन्यामपि सुदुरूहतां दर्शयति—दुःखादय इति द्वाभ्याम्। तादृश्यनिर्णयेऽपि सति यदा दुःखादयः स्वीयतयापि स्फुरन्ति, यदा च सुखादयः पराश्रयतयापि स्फुरन्ति, तदापीति योज्यं, दुःखादीनां प्रौढानन्दप्रापणं तु दुःखादिशान्तिपूर्वकमायत्यां सुखादयस्तत्र समुद्भूता इति ततकाव्याद्वक्तृमुखाद्वा संक्षेपाच्छ्रुतस्य तच्छ्रवणादिसमयेऽप्यन्तरनुसन्धानं वर्तत एवेति यथा श्रीसीताहरणादावित्यभिप्रायः तन्न चेद् ? "न बिना विप्रलम्भेन सम्भोगः पुष्टिमश्नुते"—इति नोपपद्यते।।१०४—१०५।।*

● ***अनुवाद***—**रति का एक और दुरूह व्यापार दिखाते हैं—निजत्व एवं परत्व भेद के अनिर्णय स्थान पर यदि कभी पराया दुखादि अपना ही होकर स्फुरित होता है, तथापि वह प्रबल आनन्द चमत्कारमय रस की भी आस्वादनीयता प्रकाश करता है।।१०४।।**

यद्यपि कभी सुखादि पर आश्रित रूप से प्रतीत होते हैं, तो भी भावनाशील निष्काम भक्त के हृदय में प्रचुरतर परमानन्द की भी प्राप्ति होती है।।१०५।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—दूसरों के दुःखादि भी काव्य नाट्यादि में विभावना के कारण आनन्ददायी प्रतीत होते हैं, उसका कारण यह है कि प्राचीन भक्तों के चरित्रों में उनकी अनेक दुःख—प्राप्ति का वर्णन पाया जाता है और यह भी पता लगाता है कि उन्होंने शान्तिपूर्वक उन दुःखों को सहन किया और अन्त में उन्हें अतीव—सुख—शान्ति प्राप्त हुई। अतः काव्य या नाटक में सुन—देखकर पराश्रित दुःख भी सुख देने वाले होते हैं, पराश्रित सुख तो भक्तों को परम सुख देते ही हैं।

७६—सद्भावश्चेद्विभावादेः किंचिन्मात्रस्य जायते।
सद्यश्चतुष्टया क्षेपात्पूर्णतैवोपपद्यते।।१०६।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*तस्या रतेरन्यमपि प्रभावं दर्शयति; सदिति। श्रीकृष्णलीलापरिकरगतविभावादेः किंचिन्मात्रस्यापि सद्भावश्चेज्जायते आधुनिकतत्तत्सवासनसभक्तानां हृद्याविर्भवति, तदा विभावानुभावसात्त्विकसंचारिण इति चतुष्टयस्याक्षेपात् स्फोरणात् पूर्णतैवोपपद्यते सिद्ध्यतीत्यर्थः।।१०६।।*

● *अनुवाद*—**(रति का और एक प्रभाव यह है कि) श्रीकृष्ण लीला के परिकरों के विभावादि का तनिक सा भी यदि आधुनिक सहृदय भक्तों में आविर्भाव हो, तब विभाव, अनुभाव, सात्त्विक तथा संचारि—इन चारों के स्फुरण से रसपूर्णता सिद्ध हो जाती है।।१०६।।**

८०—रतिः स्थिताऽनुकार्येषु लौकिकत्वादिहेतुभिः।
रसः स्यान्नेति नाट्यज्ञा यदाहुर्युक्तमेव तत्।।१०७।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*तदेवं मनसा तदनुभवितृणां रसमुपपाद्य साक्षात्तदनुभवितृणां रसमुपपादयिष्यन्नभ्युपगमवादेन विरोधिमतमुत्थापयति—रतिरिति। नाट्यज्ञा इत्युपलक्षणं काव्यमात्रज्ञानां, ते च लौकिका एव तेषां रसोत्पत्तौ त्रिविधजनां परिकराः—दृश्यकाव्ये तावदनुकार्या नलादयः, अनुकर्तारो नटाः, तद्द्रष्टारः सामाजिकाः, तथा श्रव्यकाव्ये च क्रमेण ते श्रोतव्यवक्तृश्रोतारः। तत्रानुकार्यश्रोतव्ययो रसनिष्पत्तिं न ते मन्यन्ते लौकिकत्वात् पारिमित्याद्भयादि—सद्भावाच्च। न चानुकर्तवक्त्रो—र्जीविकार्थं तत्तदनुकरणात्, किन्तु द्रष्टृश्रोत्रो रसं मन्यन्ते, तेषां निबन्धचातुर्येण तत्तत्चरितस्यालौकिकत्वादिप्राप्तेः। तत्र च सवासनेष्वेव, न च जरन्मीमांसकादिषु। तदेतदभ्युपगच्छन्नाह युक्तमेवेति। किन्तु लोकातीतनन्तगुणाः श्रीराम—सीतादयोऽपि यन्निजानुकार्यदिषु प्रवेश्यन्ते, तत्त्वयुक्तमेवे भावः। तयोः कर्तृवक्त्रोर्यदि सवासनत्वं स्यात् तदा तेषां वा कथं न स्यादिति च।।१०७।।*

● *अनुवाद*—**नाट्यज्ञ अर्थात् केवल काव्य को जानने वाले लोग कहते हैं कि अनुकार्य में (जिसका नाटक खेला या लिखा जाता है उसमें) जो रति रहती है, लौकिक या प्राकृतिक होने के कारण वह रस नहीं हो सकती—यह बात उनकी युक्त ही है।।१०७।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—जो लौकिक काव्य के जानकार हैं या रचयिता है, वे स्वयं लौकिक हैं। रस—उत्पत्ति के लिए उनके तीन प्रकार के परिकर होते हैं—नल, दमयन्ती के दृष्यकाव्य (नाटक) में नल अनुकार्य है, नटादि अनुकर्ता (अभिनयकर्त्ता) तथा द्रष्टा (नाटक के देखने वाले) सामाजिक होते हैं। श्रव्य काव्य में (कथा—उपन्यासादि में) श्रोतव्य (जिसकी कथा सुनाई जाती है), वक्ता (जो कथा सुनाता है) तथा श्रोता—सुनने वाले। प्राकृत नाट्यशास्त्र में अर्थात् श्रीभगवान् के बिना अन्य प्राकृत व्यक्तियों के सम्बन्ध में जो नाटकादि हैं, उनके अनुकार्य तथा श्रोतव्य में रस निष्पति नहीं होती, क्योंकि वे लौकिक हैं, (अप्राकृत या अलौकिक नहीं होते) वे सीमाबद्ध तथा भयादियुक्त होते हैं। जीविका के लिए वे केवल अनुकरण मात्र होते हैं। इसलिए अनुकर्त्ता तथा वक्ता में रसनिष्पत्ति नहीं

हो सकती। किन्तु द्रष्टा तथा श्रोताओं में रस निष्पत्ति स्वीकार की जा सकती है, क्योंकि निबन्ध–चातुर्य में उनका चित्त अलौकिकता आदि को प्राप्त कर सकता है। उन लोगों में भी जो केवल मात्र समवासन द्रष्टा एवं श्रोता हैं, उनमें ही रस निष्पत्ति होती है, किन्तु जो जरन्मीमांसक हैं, उनमें रस निष्पत्ति नहीं होता। इसी कथन को ही श्रीगोस्वामी पाद ने युक्त कहा है। किन्तु लोकातीत अनन्त गुणगणशाली श्रीराम–सीता आदि को जो अपने अनुकार्य आदि में प्रवेश कराते हैं–श्रीराम–सीता आदि के दृश्य–काव्य अथवा श्रव्य–काव्य में जिन्हें ग्रहण करते हैं, उनके विषय में यह बात कहना कि 'अनुकार्य स्थित रति में रसनिष्पत्ति नहीं होती' असंगत और अमान्य है। अनुकर्ता तथा वक्ता यदि समवासना हों तो फिर रस–निष्पत्ति विषय में आपत्ति के लिए क्या रह जाता है ?

८१–अलौकिकी त्वियं कृष्णरतिः सर्वाद्‌भुताद्‌भुता।
योगे रसविशेषत्वं गच्छन्त्येव हरिप्रिये।।१०८।।
८२–वियोगे त्वद्‌भुतानन्दविवर्त्तत्वं दधत्यपि।
तनोत्येषा प्रगाढार्तिभराभासत्त्वमूर्ज्जिता।।१०६।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*अथ तत्रैव स्वमतानुकार्यादिष्वपि रसमुपपादयति अलौकिकीत्विति। मोक्षानन्दस्यापि तिरस्कारित्वात्, सर्वानंदमूलस्य श्रीभगवतो–ऽप्यानन्दकत्वात्, सर्वेति श्रीभगवत्प्रादुरभावान्तराणां रतितोऽपि परमाधिक्यात्। तच्च स्वयं श्रीकृष्णेन तद्भक्तवरेण च (३।२।१२) "यन्मर्त्यलीलौपयिकमि" त्याद्यनुभवात्। हरिप्रिये साक्षात्तदनुभवितरि तल्लीलापरिकरे रतेः परमाश्रये। ननु दुःखमये वियोगे तेषां कथं रसः स्याद, रसस्य परमानन्दमयत्वात् ? तत्राह वियोगेत्विति। अद्‌भुतानन्दविवर्तत्वं स्वतः परमानन्दस्वरूपत्वात् सर्वानन्दमूलश्रीभगवदालम्बनत्वाच्च, प्रगाढार्तिभराभासत्वं वियोगज्ञानपरिणामदुःखस्य तस्यामध्यासात्, तस्यास्तु तत्र निमित्तत्वात्; तद्दुःखस्यापि दृढ़प्राप्त्याशया तिरस्कृत्वादिति भावः। विवर्तोऽत्र परिपाकः, तस्याः स्वरूपानन्यथाभावे हेतुः–ऊर्जितेति। अन्यथाभावे सा त्यज्येतैव न तु त्यक्तुं शक्येतेति, तदुक्तं श्रीव्रजदेवीभिः स्वयमेव (भा० ११।८।४४) "आशा हि परमं दुःखमि" त्याद्यनन्तरं "तज्जानतीनां नः कृष्णे तथाप्याशा दुरत्यतेति"।।१०८–१०६।।*

● ***अनुवाद***–**यह कृष्णरति अलौकिक है एवं सब अद्‌भुतों से भी अति अद्‌भुत है। कृष्ण–परिकरों में कृष्ण–संयोग के समय रस विशेषत्व को प्राप्त करती है।।१०८।।**

श्रीकृष्ण के वियोगकाल में यह कृष्ण–रति अद्‌भुत आनन्द की परिपक्वता को धारण करते हुए भी प्रगाढ़ दुःख के अतिशय आभास का विस्तार करती है।।१०६।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–श्रीकृष्ण–रति अलौकिक तथा महान् आश्चर्यों से भी महा आश्चर्यमयी है, क्योंकि मोक्षानन्द को भी यह तिरस्कृत करने वाली है। फिर सर्वानन्द के मूल श्रीभगवान् को भी आनंद देने वाली है। अन्यान्य अवतारों की रति से भी परम अद्‌भुत है। इसके प्रभाव या विक्रम को स्वयं श्रीभगवान् तथा भक्तश्रेष्ठ श्रीउद्धव जी ने अनुभव किया है। संयोग–काल में तो परिकरों में

रस–विशेषत्व को धारण करती ही है, वियोग–काल में भी यह अद्भुत आनन्द की परिपक्वता धारण करती है, श्रीकृष्ण की अप्राप्ति भावना रूप वियोग ज्ञान से उत्पन्न अतिशय दुःख इसमें आरोपित होता है, वास्तविक नहीं। दुःख की यह निमित्त मात्र प्रतीत होती है। श्रीकृष्ण की प्राप्ति की दृढ़ आशा में वह दुःख नहीं रहता। अतः वह दुःख वास्तविक नहीं है।

८३–तत्रापि बल्लवाधीशनन्दनालम्बना रतिः।
सान्द्रानन्दचमत्कारपरमावधिरिष्यते।।११०।।
८४–यत्सुखौघलवागस्त्यः पिबत्येव स्वतेजसा।
रमेशमाधुरीसाक्षात्कारानन्दाब्धिमप्यलम्।।१११।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*तदेवं सामान्यतः श्रीकृष्णरतेः सर्वोत्कर्षमुक्त्वा श्रीमद्व्रजगतायास्तु वैशिष्ट्यमाह, तत्रापीति द्वाभ्यां, यत्सुखौघलवेति। रमेशोऽत्र श्रीरुक्मिणीनाथत्वावस्थः स एव। तदेत्तु "हरिः पूर्णतम" इत्यादौ (२।१।२२१) तत्राप्येकान्तिनां श्रेष्ठा (१।२।५८) इत्यादौ च सुष्ठु व्याख्यातमेव।।११०–१११।।*

● *अनुवाद*–(कृष्णरति का सर्वोत्कर्ष होते हुए भी) **श्रीव्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण विषयक रति सान्द्रानन्द–चमत्कार की चरम सीमा है। उसकी सुखराशि का स्वल्प रूपी अगस्त्य (मुनि) अपने प्रभाव से रमेश (परव्योमाधिपति श्रीनारायण अथवा श्रीरुक्मिणीनाथ स्वरूपावस्थ श्रीकृष्ण) की भी माधुरी समूह के साक्षात्कार जनित आनन्द समुद्र को पान करने वाला है; अर्थात् जैसे अगस्त्य मुनि ने झट समुद्र का पान कर लिया था उसी प्रकार श्रीव्रजेन्द्रनन्दन–विषयक रति का परमानन्द अन्य अवतारों या श्रीनारायण की रति माधुरी की तो क्या बात, द्वारकावासी श्रीरुक्मिणीनाथ श्रीकृष्ण की रति माधुरी को भी पान करने वाला है, भुला देने वाला है।।११०–१११।।**

किंच–

८५–परमानन्दतादात्म्याद्रत्यादेवस्य वस्तुतः।
रसस्य स्वप्रकाशत्वमण्डत्वमखण्डत्वं च सिद्ध्यति।।११२।।
८६–पूर्वमुक्ताद् द्विधा भेदान्मुख्यगौणतया रतेः।
भवेद्भक्तिरसोऽप्येष मुख्यगौणतया द्विधा।।११३।।
८७–पंचधाऽपि रतेरैक्यान्मुख्यस्त्वेक इहोदितः।
सप्तधाऽत्र तथा गौण इति भक्तिरसोऽष्टधा।।११४।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*परमानन्दतादात्म्यादिति परमानन्दोऽत्र ह्लादिनी शक्तिः। तत्र रतिस्तन्मूला। कृष्णरूपो विभावस्तु शक्तिशक्तिमतोरेकात्मकत्वा–त्तच्छक्त्यात्मकः; भक्तरूपो रत्याविष्टः अनुभावा व्यभिचारिणश्च तदुत्था इतिः रत्यादेस्तु तत्तादात्म्यप्राप्तिः तदेवं परमानन्दतादात्म्याद्हेतोरित्यर्थः ततश्च पूर्वदर्शितमोक्षा–नन्दतिरस्कारि श्रीभगवद्वशीकारिमहानन्दतया वस्तुतो मूलांशविचारे सति प्रकाशत्वं मनआद्यनधीनत्वप्रकाशत्वमखण्डत्वमनन्यस्फूर्तिमयत्वं च सिदाध्यतीति विवक्षितम्।।११२–११४।।*

● *अनुवाद*–कृष्णरति वास्तव में परमानंद से तादात्म्यता प्राप्त है अर्थात् अभिन्न है। इसलिए रस की स्वप्रकाशता तथा अखण्डता सिद्ध है।।११२।।

पहले (कारिका सं० २) में कहे गये रति के मुख्य तथा गौण भेदों के कारण यह भक्तिरस भी मुख्य तथा गौण–दो प्रकार का है। पाँच प्रकार की होते हुए भी मुख्य रति को एक माना गया है और हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, भयानक तथा वीभत्स–इन गौण रतियों के अनुसार भक्तिरस के सात प्रकार हैं। अतः कुल आठ प्रकार का भक्तिरस माना गया है।।११३–११४।।

तत्र मुख्यः–

८८–मुख्यस्तु पंचधा शान्तः प्रीतः प्रेयांश्च वत्सलः।
मधुरश्चेत्यमी ज्ञेया यथापूर्वमनुत्तमाः।।११५।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*अनुत्तमाः कनिष्ठाः।।११५।।*

● *अनुवाद*–मुख्य भक्तिरस के पाँच भेद इस प्रकार हैं–१. शान्ति, २. प्रीत, ३. प्रेयान्, ४. वात्सल्य तथा ५. मधुर। इनमें पूर्व–पूर्वका भक्तिरस उत्तर–उत्तरवाले भक्ति की अपेक्षा कनिष्ठ होता है, अर्थात् मधुर से वात्सल्य, वात्सल्य से सख्य, सख्य से दास्य तथा दास्य से शान्त रस कनिष्ठ होता है।।११५।।

अथ गौणः–

८९–हास्योऽद्भुतस्तथा वीरः करुणो रौद्र इत्यपि।
भयानकः सवीभत्स इति गौणश्च सप्तधा।।११६।।
९०–एवं भक्तिरसो भेदाद् द्वयोर्द्वादशधोच्यते।
वस्तुतस्तु पुराणादौ पंचधैव विलोक्यते।।११७।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*पंचधैवेति। हासादीनां व्यभिचारिषु पर्यवसानात्।।११७।।*

● *अनुवाद*–गौण–भक्तिरस के सात भेद इस प्रकार हैं–१. हास्य, २. अद्भुत, ३. वीर, ४. करुण, ५. रौद्र, ६. भयानक, ७. वीभत्स। इस प्रकार भक्ति–रस के कुल बारह भेद होते हैं। किन्तु पुराणादि में भक्तिरस पाँच प्रकार का ही देखा जाता है। (हास्यादि सात भेदों को व्यभिचारि भावों के अन्तर्भूत कर लिया गया है।)।।११६–११७।।

९१–श्वेतश्चित्रोऽरुणः शोणः श्यामः पाण्डुरपिंगलौ।
गौरो धूम्रस्तथा रक्तः कालो नीलः क्रमादमी।।११८।।
९२–कपिलो माधवोपेन्द्रौ नृसिंहो नन्दनन्दनः।
बलः कूर्मस्तथा कल्की राघवो भार्गवः किरिः।
मीन इत्येषु कथिताः क्रमाद् द्वादश देवताः।।११९।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*यशसः शुक्लत्ववत्कविसमयानुरूपेण मनआदीनां चन्द्रादिवत्तदधिष्ठातृमूर्ति भेदेन वा तेषां रूपकल्पनामाहश्वेत इत्यादि।।११८।।*

अत्र भगवन्सम्बन्धिनामेतेषां रसानां चन्द्रादीनामनिरुद्धादिवदन्तर्यामित्वेन भगवदवतारा एव ज्ञेय इत्याह—कपिलो माधवोपेन्द्राविति। किरिः वराहः मीनस्थाने बुद्धो वा पठनीयः, तच्चेष्टाया अरोचकत्वात्, मीनस्य सच्चिदानन्दविग्रहत्वात्।।११६।।

● **अनुवाद—भक्तिरसों के वर्ण तथा देवताओं का वर्णन इस प्रकार है— १. शान्त रस का वर्ण श्वेत, २. प्रीत, (दास्य) रस का चितकबरा, ३. प्रेयान् (सख्य) रस का अरुण (हलका लाल), ४. वात्सल्य रस का शोण (गहरा लाल), ५. मधुर रस का वर्ण श्याम है। ६. हास्य रस का वर्ण श्वेत, ७. अद्भुत रस का पीला, ८. वीर रस का गौर, ६. करुण रस का धुँए जैसा, १०. रौद्र का रक्त, ११. भयानक का काला, तथा १२. वीभत्स रस का वर्ण नीला है।।११८।।**

१. शान्त का देवता कपिल है, २. दास्य का माधव, ३. सख्य का उपेन्द्र, ४. वात्सल्य का नृसिंह, ५. मधुर के देवता नन्दनन्दन श्रीकृष्ण, ६. हास्य का बलराम, ७. अद्भुत का कूर्म, ८. वीर का कल्की, ६. करुणा का राघव, १०. रौद्र का भार्गव, ११. भयानक का वराह और १२. वीभत्स का देवता मीन है। इस प्रकार १२ भक्तिरसों के १२ देवता माने गये हैं।।११६।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—रसों की रूप कल्पना करते हुए उनके वर्णों का निरूपण किया गया है। श्रीजीव गोस्वामिपाद ने कहा है—यश की शुक्ल वर्णता कवियों ने जैसे निरूपण की है। उसी प्रकार इन रसों के रूप—वर्ण का वर्णन किया गया है। अथवा, मन का अधिष्ठात्री देवता जैसे चन्द्र माना गया है उसी प्रकार इन रसों के अधिष्ठात्री देवता हैं जिनका वर्ण निरूपण किया गया है। श्रीमुकुन्ददास गोस्वामिपाद ने श्रीमद्भागवत (१०।१३।५३) का प्रमाण उद्धृत करते हुए कहा है—भगवद्धाम में वे सब रस मूर्तिमान होकर अवस्थित हैं। श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तिपाद ने कहा है—ह्लादिनी शक्ति की सारभूता लक्ष्मी आदि की भाँति इन रसों की मूर्तिमानता संगत है।

यहाँ एक और विषय भी आलोचनीय है—कारिका सं० ११६ में वीभत्स रस का देवता 'मीन' को माना गया है। श्रीजीव गोस्वामिपाद ने टीका में लिखा है—"मीन स्थाने बुद्धो वा पठनीयः", इसके अनुसार अनेक संस्करणों में 'मीन' के स्थान पर 'बुद्ध' शब्द भी प्रकाशित मिलता है।

श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु के एक आधुनिक संस्करण (दिल्ली विश्वविद्यालय) के मूल में भी 'बुद्ध' प्रकाशित किया गया है। यद्यपि श्रीजीव गोस्वामी की टीका से यह पता लगता है कि मूल ग्रन्थ में 'मीन' शब्द है। उक्त संस्करण के सम्पादक ने अपनी टिप्पणी में श्रीजीव गोस्वामिपाद पर संकीर्णता का आरोप लगाया है और यह भी स्वीकार किया है कि टीकाकार के सुझाव पर आपत्ति नहीं होती। इस सुझाव के आधार पर यदि कई एक सम्पादकों ने 'मीन' के स्थान पर 'बुद्ध' शब्द प्रकाशित कर दिया है, इसका दायित्व क्या श्रीजीव गोस्वामी पर आता है ? सबसे बड़ा आश्चर्य यह है कि आधुनिक संस्करण के टिप्पणीकारने अपने संस्करण में 'बुद्ध' शब्द ही ग्रहण किया है—क्यों ? उन्हें तो अपनी बुद्धि से काम लेना चाहिये था। उन्होंने श्रीजीव गोस्वामी के संकीर्णतापूर्ण सुझाव को क्यों

स्वीकार किया ? उन्होंने अपना भी एक सुझाव दिया है कि शान्तरस का देवता 'कपिल' न होकर 'बुद्ध' होना चाहिए था। उन्होंने प्राचीन रस–शास्त्र के प्रणेता श्रीभरत मुनि के उन श्लोकों को भी उद्धृत किया है, जिनमें रसों के वर्ण तथा देवताओं का वर्णन है परन्तु उनमें भी शान्त रस का देवता बुद्ध स्वीकार नहीं किया है। यदि वे महाशय अपने सुझाव में बुद्ध की बजाय किसी और महात्मा का नाम प्रस्तावित करते तो उनकी बुद्धि की प्रखरता का सब अनुमोदन करते।

वास्तविकता यह कि श्रीजीव गोस्वामी जी ने जो सुझाव दिया है, उसका कारण भी उन्होंने लिखा है–"तच्चेष्टया अरोचकत्वात्" अर्थात् श्रीबुद्धदेव की जो चेष्टा अर्थात् जिस मत का उन्होंने प्रतिपादन किया है, वह अरुचिकर है, वेद विरुद्ध है। सनातन धर्म, वैदिकमत विशेषतः समस्त वैष्णवाचार्यों के मत के विरुद्ध है, उसके प्रति घृणा होने के कारण उन्होंने सुझाव दिया है कि 'मीन' के स्थान पर "बुद्ध" पाठ अधिक संगत है। भगवदवतार होते हुए भी उनका मत भगवद्भक्ति आचार्यों द्वारा सम्मानित नहीं है।

वेदमत–विरुद्धता के कारण भूत बौद्धमत के सिद्धान्तों की विस्तृत आलोचना का यहाँ कुछ प्रयोजन नहीं है, किन्तु सूत्ररूप में कुछ एक का यहाँ उल्लेख करना असंगत भी नहीं होगा–बौद्धमत में शून्य ही एकमात्र सत्य तत्त्व है। जीव–जगत् असत्य हैं, ईश्वर भी स्वीकृत नहीं है; स्कन्धपंचक के बीच विज्ञान स्कन्ध ही चित्त एवं आत्मा है, वेद–प्रामाण्य स्वीकृत नहीं है (अतः उसे नास्तिक मत में गिना गया है)। बौद्ध मत में जीव एवं आत्मा को क्षणिक माना गया है, उत्पन्न होते ही क्षण काल पीछे वह ध्वंस हो जाता है। इस प्रकार थोड़ी–थोड़ी देर बाद एक आत्मा ध्वंस और दूसरा उत्पन्न होता रहता है। आत्मा को वे बुद्धि की वृत्ति विशेष मानते हैं। शून्य के अतिरिक्त उनका तत्त्व कुछ भी नहीं है। इस प्रकार की अयौक्तिकता होने से ही वीभत्स रस का देवता होने का सुझाव श्रीजीव गोस्वामी जी ने दिया है, संकीर्णतावश नहीं।

टिप्पणीकार के पक्ष में ये सब विषय अछूते हैं। भक्ति, भक्तिरस प्रवेश की बात तो दूर रही, वे आर्यसमाज मतावलम्बी लगते हैं। उन्होंने श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु ग्रन्थ के संकलन में अपने पूर्ण अनधिकार का परिचय दिया है। अतः अनेक स्थानों पर उन्होंने ग्रन्थ प्रतिपाद्य विषय के विरुद्ध टिप्पणियाँ देकर अनर्थ सृजन किया है। अच्छा रहता कि वे इस दुरूह रस–ग्रन्थ को हाथ ही न लगाते। यह रसग्रन्थ–एकमात्र भाव्य–भावक भक्तजनों का आस्वाद्य है, बुद्धिजीवियों का नहीं। (श्लोक सं० १३१ द्रष्टव्य है)

६३–पूर्तेर्विकार विस्तार–विक्षेप–क्षोभतस्तथा।
सर्वभक्तिरसास्वादः पंचधा परिकीर्तितः।।१२०।।
६४–पूर्तिः शान्ते विकाशस्तु प्रीतादिष्वपि पंचसु।
वीरेऽद्भुते च विस्तारो विक्षेपः करुणोग्रयोः।
भयानकेऽथ वीभत्से क्षोभो धीरैरुदाहृतः।।१२१।।

९५–अखण्डसुखरूपत्वेऽप्येषामस्ति क्वचित् क्वचित्।
रसेषु गहनास्वादविशेषःकोऽप्यनुत्तमः।।१२२।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*पंचस्विति हास्यसाहित्याद्युक्तम्। उग्रो रौद्रः।।१२१।।*

● *अनुवाद*–पूर्ति, विकाश, विस्तार–विक्षेप तथा क्षोभ भेदों से पाँच–प्रकार से समस्त भक्ति रसों का आस्वादन किया जा सकता है।।१२०।।

शान्त रस में पूर्ति, प्रीति में (दास्य), प्रेयान् में (सख्य), वत्सल में, (वात्सल्य) मधुर तथा हास्यरस में विकाश, वीररस तथा अद्‌भुत रस में विस्तार, करुण एवं रौद्र विक्षेप तथा भयानक तथा वीभत्स रस में क्षोभ प्राप्त होता है–ऐसा धीरपुरुष कहते हैं।।१२१।।

समस्त रसों का अखण्ड सुखस्वरूपत्व होते हुए भी रस विशेष में तारतम्यक्रम से अनिर्वनीय दुर्बोध्य अर्थात् सर्वोत्कृष्ट आस्वादन हुआ करता है।।१२२।।

९६–प्रतीयमना अप्यज्ञैर्ग्राम्यैः सपदि दुःखवत्।
करुणाद्या रसाः प्राज्ञैः प्रौढानन्दमया मताः।।१२३।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*तत्र तावत्पंचविधा जनाः परामृश्यन्ते भाव्यभक्ता भावकभक्ताः प्राज्ञा अज्ञा ग्राम्याश्चेति। तत्र कश्चिदाशंकते–ननु वियोगे यथा रसता स्थापिता तथा प्रतीयते स्म; किन्तु करुणभयानकवीभत्सेषु न प्रतीयते, तत्र करुणे वियोगे इव लीलापरिकरलक्षणभाव्यभक्तानां तत्प्राप्त्याशया व्यत्ययात्, भयानके भयेनाच्छादनाद्, वीभत्से चाहृद्यस्फूर्त्या हृद्यकृष्णादिस्फुरणाच्छादनादानन्द–स्वरूपरसप्रीतयोगि दुःखमेव स्फुरति। अतएव तदितरेषां भावकभक्तानां वैरस्यापत्तिः स्यादिति तत्राह; प्रतीयमाना इति। अज्ञैः शास्त्रान्तरविज्ञत्वेऽपि रसशास्त्रानभिज्ञत्वाद्भा–व्यभक्तानां तत्तद्रसाक्रान्तचित्तानां मर्म बोद्धुमसमर्थैः तथा ग्राम्यैः पशुनिर्विशेषैः सपदि तात्कालिकदृष्टिमात्रपारवश्याद् दुःखवत्प्रतीयमाना अपि भाव्यभावक–भक्तास्वाद्याः करुणाद्याः रसाः प्राज्ञैः रसचर्वणायामसमर्थत्वेऽपि रस–शास्त्रतात्पर्यविज्ञैः प्रौढानन्दमया मताः।।१२३।।*

● ***अनुवाद***–**अज्ञ तथा ग्राम्य लोगों को तात्कालिक दृष्टि से रससमूह दुःखवत् प्रतीत होते हैं, किन्तु भक्तों के आस्वाद्य उन करुण–भयानक–वीभत्सादि रसों के आस्वादन करने में जो असमर्थ होते हुए भी प्राज्ञ हैं, वे स्वीकार करते हैं कि करुणादि–रस आपाततः दुःखमय प्रतीत होते हुए भी प्रचुर आनन्दमय हैं।।१२३।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–पाँच प्रकार के व्यक्ति हैं–१. भाव्यभक्त, २. भावक–भक्त, ३. प्राज्ञ, ४. अज्ञ तथा ५. ग्राम्य। भाव्यभक्त वे हैं जो श्रीभगवान् के लीला परिकर हैं। भावक–भक्त वे हैं जो लीला का दर्शन करते हैं। प्राज्ञ वे हैं जो रसशास्त्र के तात्पर्य को जानते हैं। अज्ञ वे हैं जो अन्य शास्त्रों में पढ़े–लिखे हैं, किन्तु रसशास्त्रों में निमग्न चित्तभक्तों के मर्म को जानने में असमर्थ हैं तथा ग्राम्य

---

१. गौड़ीय वैष्णवदर्शन प्रथम पर्व – डॉ० श्रीराधागोविन्दनाथ।

वे हैं, जो सींग–पूँछ के बिना पशु हैं अर्थात् जिनका भक्ति–भक्तिरस में प्रवेश ही नहीं है। भाव्य–भावक तथा प्राज्ञ तो यह मर्म जानते हैं कि करुणादिरस में परम आस्वादन है। दूसरों को आपाततः वे दुःखमय प्रतीत होते हुए भी परमास्वादनीय हैं।।

९७–अलौकिकविभावत्वं नीतेभ्यो रतिलीलया।
सदुक्त्या च सुखं तेभ्यः स्यायत्सुव्यक्तमिति स्थितिः।।१२४।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*तदेवमज्ञान् ग्राम्यांश्च निन्दित्वा रसनिष्पत्तौ प्राज्ञ मतेन युक्तिं दर्शयति–अलौकिकेति। अत्र नीतेभ्यस्तेभ्य इति बहुवचनं स्पष्टतार्थं त्रिभिरेकवचनैः पृथक्कृत्य व्याख्येयम्। तत्र करुणेऽनिष्टाशंकामयत्वाद्वियोगाद्विलक्षणे; "अवलोक्य फणीन्द्रयन्त्रितमि' त्यादि (२।५।६२) भाव्यभक्तानुभवेन वियोगे वियोगज्ञानजमिवाध्यस्तं यदनिष्टाशंकामयं दुःखं तन्मयेऽपि रतिलीलया स्वतः परमानन्दरूपाया रतेर्लीलया तत्तत्काव्यप्रशस्तभाव्यभक्तेषु सर्वज्ञशतवाग्विश्वस्तितः पूर्वपूर्ववत्प्राप्तिसम्भावनातश्चाशामय्या वृत्त्या तथा सदुक्त्या भावकभक्तेषु प्रथमसूचिताऽवसानविस्तृतमंगलमय्या सद्रचनारूपया सतां वक्तृणां तादृगुक्त्या चालौकिकविभावत्वं लोकचमत्कारकारिविभादिस्फूर्त्तिशालित्वं नीतात्करुणरसात् सुखव्यक्तं स्यादिति स्थितिः रसविदां रसमर्य्यादेत्यर्थः। अथ भयानके रतिलीलया तद्वदेवशामय्या रतेर्वृत्त्या सदुक्त्या च तादृश्येत्यर्थः। वीभत्सेऽपि रतिलीलया वीभत्सस्फूर्तिमुपमर्द्य श्रीकृष्णस्फूर्तिकारिण्या सदुक्त्या च तादृश्येत्यर्थः यथोक्तं–श्रीरुक्मिणीदेव्या (भा० १० ।६० ।४५) "त्वक्श्मश्रुरोमनखकेशे" त्यादि।।१२४।।*

● ***अनुवाद***–**रति के दुस्तर्क्य एवं अचिन्त्य स्वरूपवश एवं सत्पुरुषों के उपदेश लोकोत्तर चमत्कारकारी (श्रीराम–कृष्णादि के) विभावत्व को प्राप्त कराये गये करुणादि रस से सुख ही आस्वादित होता है; यह बात स्पष्ट है, यही रसज्ञों की मर्यादा है।।१२४।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–लौकिक रसकारों के मत में प्राकृत लोकविषयक कारुण्य–शोक–विषाद का जो दुःख–जनकत्व प्रतिपादित किया गया है, वह युक्त ही है, क्योंकि परमदुःखमय वस्तु की स्फूर्ति से दुःखमात्र ही प्राप्त होता है किन्तु परमानन्दमय साक्षात् श्रीभगवान् की स्फूर्तिमय पदार्थों से परमानन्द की ही प्राप्ति होती है–इसमें कोई भी विरोध नहीं हो सकता।

तथा च नाट्यादौ–

२८–करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम्।
सुचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्।।१२५।।

९८–सर्वत्र करुणाख्यस्य रसस्यैवोपपादनात्।
भवेद्रामायणादीनामन्यथा दुःखवेतुता।।१२६।।
९९–तथात्वे रामपादाऽब्जप्रेमकल्लोलवारिधिः।
प्रीत्या रामायणं नित्यं हनुमान् शृणुयात्कथम्।।१२७।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*तत्रास्तां तावदस्माकं सा कथेत्यभिप्रेत्याह–तथा चेति।।१२५।। अथ व्यतिरेकेण स्वमतं योजयति–सर्वत्रेति। प्रतिकाण्डं बहुत्रेत्यर्थः,*

उपपादनाद्व्यंजनात्, दुःखहेतुतेत्यत्र भावकभक्तेष्विति शेषः।।१२६।। तत्र भावकेषु मुख्यस्यैकस्य प्रवृत्त्यन्यथानुपपत्तिं प्रमाणयति–तथात्व इति। दुःखहेतुत्वे सतीत्यर्थः।।१२७।।

● *अनुवाद*–जैसा कि नाट्यादि विषय में कहा गया है–करुणादि रसों में भी जो परम सुख उदित होता है, इस विषय में (हमारी बात रहने दो) सहृदय व्यक्तियों का अनुभव ही केवल प्रमाण है।।१२५।।

यदि ऐसा न होता तो सर्वत्र करुण रस का ही उपपादन होने से श्रीरामायण आदि का श्रवण–कीर्तनादि दुःखदायक ही होता।।१२६।।

यदि रामायण दःखदायक ही होती तो श्रीरामचन्द्र के चरणकमल के प्रेम रूप कल्लोलों से पूर्ण सागर के समान श्रीहनुमान जी प्रतिदिन प्रेमपूर्वक उसे क्यों सुनते ?।।१२७।।

अपि च–

१००–संचारी स्यात्समोना वा कृष्णरत्याः सुहृद्रतिः।
अधिका पुष्यमाणा चेद्भावोल्लास इतीर्यते।।१२८।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*अपि चेति। तदेतत्समाप्तं किंचदन्यप्युच्यत इत्यर्थः। संचारी स्यादित्यस्यायमर्थः–सुहृदां निजाभीष्टरसाश्रये भक्तविशेषे श्रीराधिकादौ विषये सजातीयभावभक्तानां परस्परं रत्याविषयाश्रयारूपाणां ललितादीनां सखीमुख्यानामेकतराश्रया या रति, सा यदि कृष्णविषयाया रत्याः समा स्यादूना वा स्यात् तदा कृष्णविषयाया रत्याः संचार्याख्य एव भावः स्यात् तन्मूलत्वात् तत्पोषणत्वाच्च, एवं मधुराख्ये रसे तु सा यदि क्वचित् कृष्णविषयाया अपि रत्या अधिका तत्रापि पुण्यमाणा सन्तताभिनिवेशेन संवर्द्धयमाना स्यात्तदा संचारित्वेऽपि वैशिष्ट्योपेक्षया भोवोल्लासाख्यो भाव ईर्यत इति, तदिदं त्वत्रानुस्मृत्य लिखितमपि संचारिणामन्तेयोजनीयं तत्रैव सजायीयत्वात्।।१२८।।*

● *अनुवाद*–सुहृद अर्थात् सजातीयभाव भक्तिविशिष्ट भक्तों की परस्पर एक दूसरे के प्रति जो रति है, वह यदि कृष्णविषयिणी रति के समान अथवा उससे कम हो तो वह कृष्णविषयिणी रति के संचारीभाव में मानी जाती है। यदि वह सुहृदरति अधिक परिपुष्ट हो तो उसे भावोल्लास कहा जाता है।।१२८।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–परस्पर परम प्रीतिबद्ध सजातीयभक्तों में एक भक्त में दूसरे भक्त की जो रति है, वह कृष्णविषयिणी रति की पोषक होने से व्यभिचारि भाव के ही अन्तर्भूत होती है। सजातीयभाव–भक्तिविशिष्ट परस्पर रति के विषय तथा आश्रय रूप में अवस्थित भक्तों की जो एक सी रति है, वह यदि कृष्णविषयिणी रति के समान अथवा उससे न्यून हो तो वह संचारि भाव अन्तर्भूत होती है। मधुर रस में यदि वह कृष्णविषयिणी रति से भी अधिक हो और उसमें निरन्तर अभिनिवेश होने से वह सम्यक् प्रकार से वृद्धिशाली हो, तो संचारी होते हुए भी सर्वभावापेक्षा परमोत्कृष्ट होने से उसे *भावोल्लास* कहा है।

तात्पर्य यह है कि श्रीराधिका जी के प्रति सखीगण का जो स्थायीभाव है, उसे भावोल्लास कहते हैं। इसलिए 'सुहृदरति'–पद में संचारिभाव से श्रीराधा की सखियों के प्रति रति समझनी चाहिए तथा भावोल्लास में सखियों की श्रीराधाविषयिणी रति जनानी चाहिए। श्रीराधा की सखियों के प्रति जो रति है, वह श्रीकृष्णरति मूलक है और श्रीकृष्णरति की पोषक भी। सखीस्नेहाधिका सखीगण की श्रीराधाविषयक जो स्नेह की अधिकता है, वह तो अनादिसिद्ध एवं स्वतः सिद्ध है।

१०१–फल्गुवैराग्यनिर्दग्धाः शुष्कज्ञानाश्च हैतुकाः।
मीमांसका विशेषेण भक्त्यास्वादबहिर्मुखाः।।१२६।।
१०२–इत्येष भक्तिरसिकैश्चोरादिव महानिधिः।
जरन्मीमांसकाद्रक्ष्यः कृष्णभक्तिरसः सदा।।१३०।।
१०३–सर्वथैव दुरूहोऽयमभक्तैर्भगवद्रसः।
तत्पादाम्बुजसर्वस्वैर्भक्तैरेवात्र रस्यते।।१३१।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*अथ पूर्वोक्तानाज्ञादीन् रसानधिकारिण आह–फल्गुवैराग्येति। फल्गुवैराग्यम् भक्त्युदासीनादिवैराग्यं। शुष्कज्ञानं भक्त्युदासीनादि ज्ञानं। हैतुकास्ततर्कमात्रनिष्ठाः, मीमांसकाः कर्मवादिनः पूर्वमीमांसकाः तथा द्वैतमात्रमिथ्यावादिनः केचिदुत्तरमीमांसकर्मन्याः, एषामुत्तरोत्तरं परिहार्यत्वाधिक्यं। तार्किकाणां च केषांचित्कौतुकेनाधीतालंकारादीनां रससाधारण्यात्किंचिदत्र प्रवेशः स्यादिति मीमांसकात् पूर्वत्र पाठः। अत्र ग्राम्याः फल्गुवैराग्यनिर्दग्धा, अन्ये त्वज्ञा ज्ञेयाः।।१२६।। यस्मात्सर्वेऽपि मीमांसका विशेषेण भक्त्यास्वादबहिर्मुखा इति हेतोरेव कृष्णभक्तिरसो जरन्मीमांसकात्तु सदा विशेषेण रक्ष्यो गोप्य इति पूर्वेणान्वयादन्येभ्योऽपि फल्गुवैराग्यनिर्दग्धादिभ्यो यथायथं रक्ष्य इति लभ्यते। तत्र ''चौरादिव महानिधिरिति'' दृष्टांतस्तु तेन तद्रिक्तीकरणमात्रापेक्षया, न तु तेनापि तस्य लोभ्यत्वमित्यपेक्षया वह्नरिवेति तु पाठान्तरम्।।१३०।। अस्य भक्तिरसस्यास्वादस्तु भाव्यभावक भक्तैरेवास्वाद्यः स्याद् न तु पूर्वोक्तप्राज्ञैरपीत्याह–सर्वथैवेति।।१३१।।*

● ***अनुवाद***–रस विषय में अनधिकारियों का उल्लेख करते हैं–फल्गु वैराग्य अर्थात् भक्ति के प्रतिकूल वैराग्य में अथवा (भक्ति से उदासीनतावश) जिनका चित्त दग्ध हो रहा है, जो भक्ति को छोड़कर शुष्कज्ञानी हैं, तर्कमात्र में ही निष्ठा रखने वाले हैं, विशेषतः मीमांसक लोक अर्थात् (पूर्व मीमांसक) जो कर्मवादी हैं तथा (उत्तर मीमांसक) द्वैत वस्तु मात्र को मिथ्या कहने वाले हैं–ये सब भक्तिरस आस्वादन से बहिर्मुख हैं। (फल्गुवैरागियों की अपेक्षा शुष्कज्ञानी, उनकी अपेक्षा कर्मवादी तथा मिथ्यावादी उत्तरोत्तर अनधिकारी हैं)।।१२६।।

भक्तिरसिकों को अपने भक्तिरस को सदा जरन्मीमांसकों से छिपा कर गुप्त रखना चाहिए–जैसे महानिधि को चोरों से छिपाकर रखा जाता है।।१३०।।

अभक्त लोगों के लिए यह भक्तिरस सदा दुरूह है, वेद भी इसके तत्त्व को समझ नहीं सकते। श्रीभगवान् के चरणकमल ही जिनका सर्वस्व हैं वे भक्तजन ही इसका आस्वादन कर सकते हैं।।१३१।।

१०४–व्यतीत्य भावनावर्त्म यश्चमत्कृतिभारभूः।
हृदि सत्त्वोज्ज्वले बाढ़ं स्वदते स रसो मतः।।१३२।।
१०५–भावनायाः पदं यस्तु बुधेनानन्यबुद्धिना।
भाव्यते गाढ़संस्कारैश्चित्ते भावः स कथ्यते।।१३३।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*अथ कारणकार्याद्यस्तित्वेन साम्येऽपि रसभावयोर्भेदमाह–व्यतीत्येति द्वाभ्यां, सत्त्वं भावकारणत्वेन पूर्वमुद्दिष्टं शुद्धसत्त्वविशेषः, समाधिध्यानयोरिवानयोर्भेद इति भावः।।१३२–१३३।।*

● ***अनुवाद*–रस एवं भाव के लक्षण कहते हैं–भावना का पथ अतिक्रमण करके सत्त्व द्वारा उज्ज्वल चित्त में प्रगाढ़ चमत्कारी आनन्द की आस्वादनीयता जो प्राप्य करता है–वह रस है। और अन्य बुद्धि से भावना की वस्तु का गाढ़ संस्कारों द्वारा जो मन में चिन्तन किया जाता है, उसको भाव कहते हैं।।१३२–१३३।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–श्रीचक्रवर्तीपाद का कहना है–पहले विभावादि के सहयोग से *भाव–साक्षात्कार* होता है, फिर–भावस्वरूप होता है, फिर पूर्वोक्त विभावादि के द्वारा ही *रस–साक्षात्कार* होता है–ऐसा क्रम है। श्रीजीवगोस्वामिपाद का कहना है–रति और रस का कारण कार्यादि दशा–विशेष के प्रति दृष्टि डालते हुए रस तथा भाव के भेद को यहाँ कहा गया है–विभाव तथा व्यभिचारि आदि के भावनापथ का अतिक्रमण करते हुए जो शुद्ध–सत्त्व के आविर्भाव में उज्ज्वल चित्त में रति की अपेक्षा भी चमत्कारातिरेक धारणपूर्वक आस्वादनीयता प्राप्त करता है, उसे 'रस' कहते हैं। पक्षान्तर में अनन्यबुद्धि पण्डित–कर्तृक विभाव तथा व्यभिचारि आदि में भावनायोग्य चित्त में गाढ़ संस्कार द्वारा जो भावित होता है, उसे *'भाव'* कहते हैं। तात्पर्य यह है कि रस–साक्षात्कार के समय विभावादि का स्वतन्त्रभाव से अनुभव नहीं होता, किन्तु रति–साक्षात्कार के समय विभावादि का स्वतन्त्ररूप से भी अनुभव होता है, क्योंकि रस साक्षात्कार की तुलना में रति साक्षात्कार में उतनी गाढ़ता नहीं है। भाव और रस का यह भेद उसी प्रकार है जैसे योगपथ में ध्यान और समाधि का भेद है। ध्यान अंग है और समाधि अंगी, इसी प्रकार भाव अंग है और रस अंगी प्रधान है। श्रीमुकुन्ददास गोस्वामिपाद ने कहा है–रस स्थायिभाव–जात अति स्वादु है, किन्तु भाव गाढ़ संस्कार से जात स्थायी स्वादु है।

१०६–गोपालरूपशोभां दधदपि रघुनाथभावविस्तारी।
तुष्यतु सनातनात्मा दक्षिणभागे सुधाम्बुनिधे।।१३४।।

● ***अनुवाद*–श्रीगोपाल (श्रीकृष्ण) की रूप शोभा को धारण करते हुए भी श्रीरघुनाथ (श्रीराम) रूप को प्रकट करने वाले सनातन स्वरूप (श्रीसनातन गोस्वामी अथवा श्रीभगवान् एवं श्रीगुरुदेव) इस श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु के दक्षिण विभाग पर प्रसन्नता लाभ करें।।१३४।।**

।।इति श्रीभक्तिरसामृतसिन्धौ भक्तिरससामान्यनिरूपण नाम स्थायिभाव लहरी पंचमी।।५।।

।। दक्षिणो विभागः समाप्तः।।

मुख्य भक्तिरसनिरूपकः पश्चिम–विभागः

प्रथम-लहरी : शान्तभक्तिरसाख्या

१–धृतमुग्धरूपभारो भागवतार्पितपृथुप्रेमा।
स मयि सनातनमूर्तिस्तनोतु पुरुषोत्तमस्तुष्टिम्।।१।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*धृतेति पूर्ववत् श्लिष्टं मुग्धादिशब्दानां द्व्यर्थत्वात् भारोऽत्र सौन्दर्यपक्ष आधिक्यं, स्वनामपक्षे निजोत्संगक्लेशकृद्वोढव्य इवेत्यर्थः।।१।।*

● *अनुवाद*–जिन्होंने अतिशय सुन्दर रूपमाधुर्य धारण किया है, भक्त–भागवतगण जिनके प्रति प्रचुरतर प्रेम विधान करते हैं, वे नित्यविग्रह लीलापुरुषोत्तम श्रीकृष्ण मेरे प्रति सन्तुष्ट हों।।१।। (श्रीकृष्ण पक्ष में मंगलाचरण विषयक अर्थ है यह। श्रीगुरुदेव श्रीसनातन गोस्वामिपाद के पक्ष में इस प्रकार अर्थ है)–

जिन्होंने इस अज्ञ रूप (ग्रन्थकार) का ऐहिक एवं पारलौकिक हित–चिन्तन–रूप गुरुभार वहन किया है, श्रीमद्भागवत अथवा वैष्णवगणों में जिनकी प्रगाढ़ प्रेमाभक्ति है, वे श्रीसनातन गोस्वामी महापुरुष मेरे प्रति सन्तुष्ट हों।।१।।

२–रसामृताब्धेर्भागेऽत्र तृतीये पश्चिमाभिधे।
मुख्यो भक्तिरसः पंचविधः शान्तादिरीर्यते।।२।।

३–अतोऽत्र पाँचविध्येन लहर्यः पंच कीर्तिताः।
अथामी पंच लक्ष्यन्ते रसाः शान्तादयः क्रमात्।।३।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*अथामी इति। रसरसवतोरभेदोपचाराद्रसाश्च शान्तादय उच्यन्ते।।३।।*

● *अनुवाद*–'श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु' के इस पश्चिम नामक तीसरे विभाग में शान्तादि पाँच प्रकार के मुख्य भक्तिरसों का वर्णन किया जायेगा।।२।।

इसलिए मुख्य भक्तिरस के पाँच भेद होने से इसमें पाँच लहरियाँ रखी गयी हैं, जिनमें क्रमशः शान्त आदि पाँच प्रकार के भक्तिरसों के लक्षण आदि निरूपण किये जायेंगे।।३।।

तत्र शान्तभक्ति–रस–

४–वक्ष्यमाणैर्विभावाद्यैः शमिनां स्वाद्यतां गतः।
स्थायी शान्तिरतिर्धीरैः शान्तभक्तरसः स्मृतः।।४।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*स्थायीति स्थायिभावपर्यायः भीमो भीमसेन इतिवत्, ततः स्वलिंगं न त्यजति। ततश्च शान्तिरतिरूपः स्थायिभावो वक्ष्यमाणैर्विभावाद्यैः सह मिलित्वा शमिनां शमिभिः कर्तृभिर्यत् स्वाद्यं तद्रूपतां गतश्चेच्छान्तभक्तिरसः कविभिः स्मृतः इत्यर्थः। यद्यपि शुद्धायाः सामान्या स्वच्छा शान्तारिति भेदत्रयमुक्तं,*

तथापि शान्तेरेव रसत्वप्रतिपादनं, सामान्याया अस्फुटत्वात् स्वच्छायाश्चंचलत्वाद्रस–सामग्रीपरिपोषो न स्यादित्यभिप्रायेण।।४।।

● *अनुवाद*–आगे कहे जाने वाले विभावादि के साथ मिलकर स्थायिभाव शान्तिरति यदि शम–प्रधान (आत्माराम एवं तापस) भक्तगण के चित्त में आस्वाद का विषय होती है, तो पण्डितजन उसे *शान्त–भक्तिरस* कहते हैं।।४।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–मन के निर्विकल्पत्व या निश्चलता का नाम 'शम' है, (भ० र० सि० २।५।१६)। अतः जिन भक्तों में मन की निर्विकल्पता है, उनकी रति को शान्ति–रति कहते हैं। पहले यह कहा जा चुका है कि शुद्धरति सामान्या, स्वच्छा तथा शान्ति–तीन प्रकार की है, तथापि सामग्री परिपोषण द्वारा केवल शान्तिरति ही रसत्व को प्राप्त होती है, सामान्या और स्वच्छा रति रसत्व को प्राप्त नहीं करतीं, क्योंकि सामान्या–रति अस्फुट और स्वच्छा–रति चंचल है, अतः इनमें सामग्री परिपोष नहीं हो पाता।

(श्रीजीवगोस्वामिपाद ने प्रीति–सन्दर्भ (२०३) में शान्ति–भक्तिरस का दूसरा नाम 'ज्ञान–भक्तिरस' कहा है।)

५–*प्रायः स्वसुखजातीयं सुखं स्यादत्र योगिनाम्।*
किन्त्वात्मसौख्यमघनं घनस्त्वीशमयं सुखम्।।५।।
६–*तत्रपीशस्वरूपानुभवस्यैवोरुहेतुता।*
दासादिवन्मनोज्ञत्वलीलाऽदेर्न तथा मता।।६।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*स्वसुखजातीयं सर्वमूलस्वरूपनिर्विशेषब्रह्मानन्दप्रकारम्; प्राय इति गुणानामपि स्फूर्तेः सा चात्मारामश्च मुनयः इत्यादेः, ईशमयः सच्चिदानन्दविग्रह–भगवत्स्फूर्तिप्रचुरम्।।५।।*

ईशमयत्वमेव विशदयति तत्र तेषु स्वसुखजातीयत्वादिष्वपि दासादीनामिव तेषामीशस्वरूपानुभवस्य श्रीविग्रहरूपतत्साक्षात्कारस्यैव रसोत्पत्त्यर्थमुरुहेतुता स्यात, यद्यप्येवं तथापि मनोज्ञत्वलीलादेर्गुणस्य, तथा दासाद्यनुभवप्रकारेण, नोरुहेतुता मता किन्तु यथा कथंचिदेवेत्यर्थः, तथोक्तं तृतीये (१५।३७–३८)

एवं तदैव भगवानरविन्दनाभः स्वानां विबुध्य सदतिक्रममार्यहृद्यः।
तस्मिन् ययौ परमहंसमहामुनीनामन्वेषणीयचरणौ चलयन् सहश्रीः।।
तं त्वागतं प्रतिहृतौपथिकं स्वपुम्भिस्तेऽचक्षताक्षविषयं स्वसमाधिभाग्यम् इत्यादि,

अत्र स्वसमाधिभाग्यमित्यनेन स्वपुम्भिरित्यत्र स्वशब्देनोपहृतच्छत्रचाम–राद्यौपयिकत्वेन सहश्रीरित्येनेन च तानतिक्रम्य दासादीनां मनोज्ञत्वलीलाद्य–नुभवाधिक्यं दर्शितम्।।६।।

● *अनुवाद*–योगी–शान्तभक्तों का सुख प्रायशः स्वसुखजातीय अर्थात् निर्विशेष ब्रह्मानन्द जातीय हुआ करता है। किन्तु यह स्वसुख निर्विशेष ब्रह्मानन्द से तरल एवं छिद्रा होता है, किन्तु ईशमय अर्थात् सच्चिदानन्दविग्रह भगवत् स्फूर्ति का सुख प्रचुर घन–निबिड़ होता है। उस स्वसुख जातीयत्वादिक में भी दासादि की भाँति उनका ईश्वर–स्वरूपानुभव ही अर्थात् श्रीविग्रहरूप

साक्षात्कार का होना ही रसोत्पत्ति के लिए महान् कारण हुआ करता है। फिर भी किन्तु दासादिक के अनुभव में मनोहरतापूर्ण लीलादि गुण जैसे महान् कारण होते हैं, शान्त–भक्तों में उसी प्रकार हेतुता नहीं होती।।५–६।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–उपर्युक्त कारिकाओं में शान्त भक्तिरस द्वारा आस्वाद्य सुख का स्वरूप वर्णन किया गया है। ज्ञान–मार्ग के साधक समाधि अवस्था में निर्विशेष ब्रह्मानन्द अर्थात् स्वसुख का अनुभव करते हैं। किसी भाग्यवश वे यदि श्रीसनकादिकों की भाँति शान्तिरति प्राप्त करें, तो उस रति के अनुभव में वे जो सुख प्राप्त करते हैं, वह होता है 'प्रायशः' अर्थात् जैसे वे पहले अनुभव करते रहते हैं उसी प्रकार का ब्रह्म–सुखजातीय सुख। 'प्रायशः' कहने का कारण यह है कि रति के अनुभवकाल में वे श्रीभगवान् के गुणादि का भी अनुभव प्राप्त करते हैं, जो निर्विशेष ब्रह्मानन्द में असम्भव है। निर्विशेष ब्रह्मानन्द में भगवद्गुणादि का अनुभवजनित सुख प्राप्त नहीं होता, शान्तरति के अनुभव में वह किन्तु प्राप्त होता है। यही ब्रह्मानन्द से शान्तरस के अनुभवजनित आनन्द की विशेषता है। शान्तरति के अनुभवकाल में जो ईशमय सुख प्राप्त होता है, सच्चिदानन्दविग्रह भगवत्स्वरूप का अनुभव एवं साक्षात्कार ही उसका प्रधान हेतु है। वह सुख तरल ब्रह्मानन्द से घना या निबिड़ होता है। इसलिए शान्तरस का अनुभवजनित सुख निर्विशेष ब्रह्म के अनुभव–जनित सुख की अपेक्षा उत्कर्षमय होता है। ऐसा होने पर भी वह दास्यभाव के भक्तों के अनुभूत सुख से न्यून होता है। दास्यरति के अनुभव में जो सुख होता है, उसका कारण है भगवान् की दास्योचित लीला का अनुभव, जिसका शान्तरस में अभाव है। शान्तरति में रसोत्पत्ति का हेतु होता है। सच्चिदानंदविग्रह भगवत्–स्वरूप का साक्षात्कार, और दास्यरति में रसोत्पत्ति का हेतु है उस सच्चिदानंदविग्रह भगवत्स्वरूप की दास्यभावोचित लीला का साक्षात्कार। केवल स्वरूप–साक्षात्कार के आनन्द की अपेक्षा लीला–साक्षात्कार के आनन्द की प्रचुरता या उत्कर्षता है। इसलिए शान्तरस से दास्यरस का उत्कर्ष निरूपण किया गया है।

तत्रालम्बनाः–

७–चतुर्भुजश्च शान्ताश्च तस्मिन्नालम्बना मताः।।७।।

तत्र चतुर्भुजः–

१–श्यामाकृतिः स्फुरति चारुचतुर्भुजोऽय–
मानन्दराशिरखिलात्मतरंगसिन्धुः।
यस्मिन् गते नयनयोः पथि निर्जिहीत
प्रत्यक् पदात्परमहंसमुनेर्मनोऽपि।।८।।

८–सच्चिदानन्दसान्द्रांग आत्मारामशिरोमणिः।
परमात्मा परं ब्रह्म शमो दान्तः शुचिर्वशी।।९।।
९–सदा स्वरूपसम्प्राप्तो हतारिगतिदायकः।
विभुरित्यागुणवानस्मिन्नालम्बनो हरिः।।१०।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*श्यामाकृतिरिति तापसशान्तानां वचनम्, उदाहरणं तु ज्ञानिशान्तस्य ज्ञेयम्, उत्तरार्द्धे तस्यैव प्रतिपाद्यत्वाद्, अत्र यद्यपि (भा० ३/२/१२) "यन्मर्त्यलीलौपयिकमि" त्यादिबलाद् द्विभुजस्यैव तदाकर्षणसामर्थ्याधिक्यमिति तस्यैवालम्बनत्वे मुख्यत्व युज्यते, उदाहरिष्यते च (भा० ३/१/३६) "प्रयास्यति महत्तपः" इत्यादिना। तथाऽपि (भा० ७/१०/४८) "यूयं नृलोके बत भूरिभागा लोकं पुनाना मुनयोऽभियन्ति। येषां गृहानावसतीति साक्षाद् गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिंगम्"—इत्युक्तदिशा गूढतया न ते सर्वदा तदनुभवन्तीति चतुर्भुजत्वस्यैव प्राचुर्येणानुभवात्प्राधान्यं दर्शितं, तथैवोदाहरति। श्यामाकृतिरति अत्र वर्णस्य प्रथमतो निर्देशाच्चार्विति सौन्दर्यस्य च कथनात् तत्र तत् चमत्कारातिशयो दर्शितः। अत आलम्बनत्वनिर्देशे "सच्चिदानन्दसान्द्रांग" इति यद्वक्ष्यते (३/१/६) तदप्येतत्प्राधान्येनैव ज्ञेयम्, अखिला ये आत्मानो जीवास्तेषां तरंगरूपाणां सिन्धुरूप इत्यात्मपरमात्मनोरंशांशिता—मात्रतात्पर्यकम्। अखिलात्ममयूखसूर्य, इति वा पठनीयम्। प्रत्यक्पदात् निर्विशेष ब्रह्मानुसन्धानात्, निर्जिहीते निर्गतं सत्तद्गुणेष्वेवाविष्टं भवतीत्यर्थः।।८।।*

● *अनुवाद*—शान्तरस के आलम्बन चतुर्भुज—भगवत् स्वरूप और शान्त—भक्तगण हैं अर्थात् चतुर्भुज भगवत् स्वरूप तो विषयालम्बन होते हैं और शान्तभक्त होते हैं आश्रयालम्बन।।७।।

चतुर्भुज विषयालम्बन—तापस शान्तभक्तों ने कहा है, जो श्यामाकृति मनोहर चतुर्भुज प्रकाशित हो रही है, वह आनन्दराशि एवं समस्त जीवसमूह रूप तरंगों के समुद्र तुल्य है। इस चतुर्भुज मूर्ति का यदि दर्शन हो जाये तो परमहंस मुनिगणों का मन भी निर्विशेष ब्रह्मानुसन्धान से हट कर इसके गुण समूह में आविष्ट हो जाए।।८।।

सच्चिदानन्दविग्रह, आत्माराम शिरोमणि परमात्मा परब्रह्म, शम, दान्त, शुचि, वशी, सदा स्वरूप संप्राप्त अर्थात् मायाकार्य से अलिप्त हतारिगतिदायक (असुरों को मारकर मुक्ति देने वाले) एवं विभु आदि गुणों युक्त श्रीहरि ही शान्तरस के आलम्बन अर्थात् विषयालम्बन हैं।।९—१०।।

अथ शान्तः—

१०—शान्ताः स्युः कृष्णतत्प्रेष्ठ कारुण्येन रतिं गताः।
आत्मारामास्तदीयाध्वबद्धश्रद्धाश्च तापसाः।।११।।

तव आत्मारामाः—

११—आत्मारामास्तु सनकसनन्दनमुखा मताः।
प्राधान्यात्सनकादीनां रूपं भक्तिश्च कथ्यते।।१२।।

● *अनुवाद*—श्रीकृष्ण तथा श्रीकृष्णभक्तों की करुणा से जो कृष्णरति प्राप्त करते हैं, उस प्रकार के आत्माराम एवं भगवद्भक्ति में श्रद्धा रखने वाले तापसगण शान्तभक्त शान्तरस के आश्रयालम्बन हैं।।११।।

सनक, सनन्दन, सनातन एवं सनत्कुमार आदि *आत्माराम शान्तभक्त*

हैं। श्रीसनकादिक शान्तरस के प्रधान भक्त होने से उनके रूप तथा भक्ति का आगे वर्णन करते हैं।।१२।।

तत्र रूपम्–

२–ते पंचषाब्दबालाभाश्चत्वारस्तेजसोज्ज्वलाः।
गौरांग वातवसनाः प्रायेण सहचारिणः।।१३।।

तत्र च भक्तिः–

३–समस्तगुणवर्जिते करणतः प्रतीचीनतां
गते किमपि वस्तुनि स्वयमदीपि तावत्सुखम्।
न यावदियमद्भूता नवतमालनीलद्युते–र्मुकुन्द !
सुखचिद्घना तव बभूव साक्षात्कृतिः।।१४।।

● *अनुवाद*–श्रीसनकादिक का रूप एवं भक्ति; उक्त चारों सनकादिक नित्य पाँच–छः वर्ष के बालक–मूर्ति हैं, तेज द्वारा उद्भासित गौरवर्ण है इनका, ये उलंग–नंगे रहते हैं और प्रायः चारों एक साथ ही रहते हैं। (ब्रह्माजी के मानस पुत्र हैं ये) जन्म से ही निर्विशेष–ब्रह्मानन्द में निमग्न रहते थे, वैकुण्ठ में श्रीभगवान् के दर्शन प्राप्त कर उनकी कृपा से इनमें रति का उदय हो आया।।१३।।

भगवत्–रति प्राप्त कर इन्होंने श्रीभगवान् की स्तुति करते हुए कहा– हे मुकुन्द ! जब तक आपके इस सच्चिदानन्दघन अद्भुत तमालनीलद्युति श्रीविग्रह का हमें साक्षात्कार नहीं हुआ था, तब तक इन्द्रियों के अगोचर, निर्गुण निर्विशेष किसी एक वस्तु (ब्रह्म) में सुख स्वयं स्फुरित होता रहा, (किन्तु अब वह सुख हमें आकर्षित नहीं कर सकता)।१४।।

अथ तापसाः–

१२–मुक्तिर्भक्त्यैव निर्विघ्नेत्यात्तयुक्तविरक्तताः।
अनुज्झितमुमुक्षा ये भजन्ते ते तु तापसाः।।१५।।

यथा–

४–कदा शैलद्रोण्यां पृथुलविटपिक्रोडवसति–
र्वसानः कौपीनं रचितफलकन्दाशनरुचिः।
हृदि ध्यायं ध्यायं मुहुरिह मुकुन्दाभिधमहं
चिदानन्दं ज्योतिःक्षणमिव विनेष्यामि रजनीः।।१६।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*मुकुन्दाभिधमिति। स्वभावत एव संसारहरणान्मुकुन्दा–भिधं मुक्तिदातारं, रजनीरित्युपलक्षणमहोरात्रानित्यर्थः। "त्रिरात्रमपि ये तत्र वसन्ति इतिवत्।।१६।।*

● *अनुवाद–तापस शान्तभक्त के लक्षण*–भक्ति द्वारा ही मुक्ति निर्विघ्नता पूर्वक हो सकती है, यह जान कर जो लोग भक्ति–साधन करने के लिए युक्त वैराग्य धारण कर भगवद्भजन करते हैं, किन्तु मुक्ति की वासना का भी वे त्याग नहीं करते, उन्हें "तापस–शान्तभक्त" कहते हैं।।१५।।

उदाहरण; कब मैं पर्वत की गुफा में अथवा विपुल वृक्षों के नीचे वास करूँगा ? कब मैं कौपीन धारण करूँगा ? और कब मेरी फलमूल भोजन करने में ही रुचि पैदा होगी ? कब मैं मुकुन्दनामक चिदानन्दज्योति का ध्यान करते–करते क्षणकाल के समान दिन–रात बिताऊँगा ? (मुकुन्द नाम से स्वभावतः संसारहरणकारी मुक्तिप्रदाता चिदानन्दज्योतिर्मय का ध्यान ही अभिप्रेत है)।।१६।।

१३–भक्तात्मारामकरुणाप्रपंचेनैव तापसाः।
शान्त्याख्य–भावचन्द्रस्य हृदाकाशे कलां श्रिताः।।१७।।

● *अनुवाद*–भगवद्भक्त तथा आत्मारामगण की अपार करुणा के बल पर ही तापसगण के हृदयरूप आकाश में शान्त नामक भावचन्द्र की कला का उदय होता है।।१७।।

अथ उद्दीपनाः–

१४–श्रुतिर्महोपनिषदां विविक्तस्थानसेवनम्
अन्तर्वृत्तिविशेषोऽस्य स्फूर्तिस्तत्त्वविवेचनम्।।१८।।
१५–विद्याशक्तिप्रधानत्वं विश्वरूपप्रदर्शनम्।
ज्ञानिभक्तेन संसर्गो ब्रह्मसत्रादयस्तथा।
एष्वसाधारणाः प्रोक्ता बुधैरुद्दीपना अमी।।१६।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*तत्त्वविवेचनादित्रयं तापसादीनां ज्ञेयम् अन्ये तूभयेषामेव, तत्र विद्याशक्तिप्रधानत्वादिद्वयमीश्वरगतं ज्ञेयं; ब्रह्मसत्रमन्योन्यं समविद्यानामुपनिष– द्विचारः।।१८–१६।।*

● *अनुवाद–शान्त–भक्तिरस के असाधारण* उद्दीपन; महोपनिषदों का श्रवण, निर्ज्जनस्थान–सेवन, अन्तःकरण की वृत्तिविशेष की स्फूर्ति (शुद्ध सत्त्वात्मक चित्तवृत्ति में श्रीकृष्ण का स्फुरण) तत्त्वविचार, ज्ञान शक्ति की प्रधानता, (मोचकत्ववश) विश्वरूप–प्रदर्शन, ज्ञानी भक्तों का संग, ब्रह्मसत्र अर्थात् समान विद्या विशिष्ट व्यक्तियों के साथ परस्पर उपनिषद्–विचार आदि को पण्डितगण शान्त–भक्तिरस के असाधारण उद्दीपन कहते हैं।।१८–१६।।

तत्र महोपनिषच्छ्रुतिर्यथा–

५–अक्लेशाः कमलभुवः प्रविष्य गोष्ठीं,
कुर्वन्तः श्रुतिशिरसां श्रुतिं श्रुतज्ञाः।
उत्तुंगं यदुपुरसंगमाय रंगं
योगीन्द्राः पुलकभृतो नवाप्यवापुः।।२०।।

● *अनुवाद–महोपनिषत्–श्रवणरूप उद्दीपन का उदाहरण;* कमलयोनि (श्रीब्रह्मा की क्लेशरहित सभा में प्रवेश करके (कवि हरि आदि) श्रुतज्ञनवयोगेश्वर भी उपनिषद् के शिरोभागतुल्य (गोपालतापनी) श्रुति को सुनकर अर्थात् उसमें श्रीकृष्ण के सर्वोत्कर्ष को जानकर यदुपुरी–श्रीद्वारका जाने के लिए पुलकित होते हुए अतिशय उत्कण्ठित हो उठे।।२०।।

१६–पादाब्जतुलसीगन्धः शंखनादो मुरद्विषः।
पुण्यशैलः शुभारण्यं सिद्धक्षेत्रं स्वरापगा।।२१।।
१७–विषयादिक्षयिष्णुत्वं कालस्याखिलहारिता।
इत्याद्युद्दीपनाः साधारणास्त्वेषां किलाश्रितैः।।२२।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*पादाब्जतुलसीगन्धशंखनादस्वरापगा उभयेषाम्, अन्ये तापसानाम्, आश्रितैर्दासविशेषैः सह साधारणाः तेषामपि भवन्तीत्यर्थः। तत्र स्वरिति स्वर्गस्यापगा गंगेत्यर्थः।।२२।।*

● *अनुवाद–साधारण उद्दीपन;* श्रीभगवान् के चरणकमलों की तुलसी–गन्ध, मुरारि की शंखध्वनि, पुण्य–पर्वत, पवित्रवन, सिद्ध क्षेत्र, गंगा, विषयों की क्षणभंगुरता तथा काल द्वारा सबका ध्वंस आदि साधारण उद्दीपन हैं। (आश्रितदासों के पक्ष में ये सब साधारण उद्दीपन हुआ करते हैं)।।२१–२२।।

तत्र पादाब्जतुलसीगन्धो, यथा तृतीये (३।१५।४३)–

६–तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्द–
किंजल्कमिश्रतुलसीमकरन्दवायुः।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां
संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः।।२३।।

● *अनुवाद*–श्रीसनकादिक मुनिगण जब श्रीभगवान् के चरणों में नमस्कार करने लगे तो उनके चरणकमलों की श्वेत–अरुण कान्तियुक्त नख रूप पराग से मिश्रित तुलसी की मकरन्दयुक्त वायु नासारन्ध्र द्वारा उनके अन्तःकरण में प्रविष्ट हो गई। उन ब्रह्मानन्दास्वादी मुनिगण का चित्त एवं शरीर अति क्षुभित हो उठा अर्थात् कम्पाश्रु–पुलकावलि से पूर्ण हो गया।।२३।।

अथ अनुभावाः–

१८–नासाग्रन्यस्तनेत्रत्वमवधूतविचेष्टितम्।
युगमात्रेक्षितगतिर्ज्ञानमुद्राप्रदर्शनम्।।२४।।
१६–हरेर्द्विष्यपि न द्वेषो नातिभक्तिः प्रियेष्वपि।
सिद्धतायास्तथा जीवन्मुक्तेश्च बहुमानिता।।२५।।
२०–नैरपेक्ष्यं निर्ममता निरहंकारिता तथा।
मौनमित्यादयः शीताः स्युरसाधारणा क्रियाः।।२६।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*युगं हलाद्यगं तच्च चतुर्हस्तप्रमाणं लक्ष्यते। युगमात्रे यदीक्षितमीक्षणं तेनैव गतिः। ज्ञानमुद्रातर्जन्यंगुष्ठयोर्युतिः। सिद्धता अत्यन्त संसार–ध्वंसः। जीवन्मुक्तिः शरीरद्वयानावेशेन स्थितिः। एतदद्वय बहुमानिता तद्भक्त्याभासवतां तापसानां ज्ञेया।।२४–२६।।*

● *अनुवाद–शान्त–भक्तिरस के असाधारण अनुभाव;* नासिका के अग्रभाग में दृष्टि का न्यस्त करना, अवधूतों की भाँति चेष्टा, युगमात्रेक्षित–गति अर्थात् चार हाथ आगे की पृथ्वी को देखकर चलना, ज्ञानमुद्रा–प्रदर्शन अर्थात् तर्जनी तथा अंगूठे को मिलाने की मुद्रा, भगवत् विद्वेषियों के प्रति–हीनता द्वेष, भक्तों

के प्रति भी अतिशय भक्तिहीनता, सिद्धता एवं जीवन्मुक्ति के प्रति अति आदर अर्थात् संसार ध्वंस के प्रति तथा सूक्ष्म एवं स्थूल शरीरों के प्रति आवेशहीन भाव से स्थिति, निरपेक्षता, निर्ममता, निरहंकारिता एवं मौनादि सुखमय भाव समूह शान्तरस के असाधारण अनुभाव हैं।।२४–२६।।

तत्र नासाग्रनयनत्वं, यथा–

७–नासिकाऽग्रदृगयं पुरो मुनिः स्पन्दबन्धुरशिरा विराजते।
चित्तकन्दरतटीमनाकुलामस्य नूनमवगाहते हरिः।।२७।।

२१–जृम्भाऽंगमोटनं भक्तेरुपदेशो हरेर्नतिः
स्तवादयश्च दासाद्यैः शीताः साधारणाः क्रियाः।।२८।।

तत्र जृम्भा यथा–

८–हृदयाम्बरे घ्रुवन्ते भावाम्बरमणिरुदेति योगीन्द्र !।
यदिदं वदनाम्भोजं जृम्भामवम्बते भवतः।।२६।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*नासिकाग्रदृगिति मुनिरिति चात्र तस्यात्मारामत्वं द्योत्यते, तत्र तु स्पन्द–बन्धुरशिरा इति विशेषानुभवः, स च श्रीहरिगुणात्मक एव सम्भवति, "आत्मारामाश्च मुनय" इत्यादेरिति भावः।।२७।।*

● *अनुवाद–नासाग्रनयनत्व का उदाहरण;* यह (आत्माराम) मुनि नाक के अग्र भाग पर दृष्टि जमाए हुए सिर को निश्चल किये हुए बैठे हैं। ऐसा लगता है इनके स्थिर चित्त की कन्दरा में निश्चय ही श्रीकृष्ण विहार कर रहे हैं।।२७।।

साधारण अनुभाव; जम्हाई, अंग मरोड़ना, भक्ति का उपदेश, श्रीभगवान् को नमस्कार करना तथा भगवद्दासों के साथ श्रीहरि के स्तवादि करना–ये शीत सुखमय भाव शान्तरस के अनुभाव या लक्षण है।।२८।।

जृम्भा का उदाहरण; हे योगेन्द्र ! तुम्हारे हृदय आकाश में निश्चय ही भावरूपी सूर्य उदय हुआ है, जिससे तुम्हारा मुखकमल बार–बार जम्हाई ले रहा है।।२६।।

अथ सात्त्विकाः–

२२–रोमांचस्वेदकम्पाद्याः सात्त्विकाः प्रलयं बिना।।३०।।

तत्र रोमांचो यथा–

६–पांचजन्यजनितो ध्वनिरन्तः क्षोभयन् सपदि विद्धसमाधिः।
योगिनां गिरिगुहानिलयानां पुद्गले पुलकपालिमनैषीत्।।३१।।

२३–एषां निरभिमानानां शरीरादिषु योगिनाम्।
सात्त्विकास्तु ज्वलन्त्येव न तु दीप्ता भवन्त्यमी।।३२।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*एषां श्रीभगवत्समाधौ चेष्टाया ज्ञानान्तरस्य च निराकृतौ प्रलय–लक्षणत्वे प्राप्तेऽपि भूमिपतनाद्यभावात् प्रलयं विनेत्युक्तम्।।३०।। पुद्गले देहे, "कायो देहः स्त्रियां मूर्तिः पुद्गलश्च पुमांस्तनुरित्यमरदत्तः।।३१।। एषामिति। तावदपि श्रीभगवत्सम्बन्धप्रभावादेव भवतीति भावः।।३२।।*

● *अनुवाद–शान्तभक्तिरस के सात्त्विक भाव,* रोमांच, स्वेद एवं कम्पादि सात्त्विक भाव प्रकाशित हो*ते हैं।।३०।।*

रोमांच का उदाहरण; पाँचजन्य शंख की ध्वनि ने पर्वतों की गुफाओं में रहने वाले योगियों के मन को क्षुब्ध कर दिया एवं उनकी समाधि भंग कर दी। उनके शरीर पुलकित हो उठे।।३१।।

इस प्रकार की निरभिमानी योगियों के शरीर में उक्त सात्त्विक भाव ज्वलित हो सकते हैं, किन्तु दीप्त नहीं होते।।३२।।

अथ संचारिणः–

२४–संचारिणोऽत्र निर्वेदो धृतिर्हर्षो मतिः स्मृतिः।
विषादोत्सुकतावेगवितर्काद्याः प्रकीर्तिताः।।३३।।

तत्र निर्वेदो, यथा–

१०–अस्मिन् सुखघनमूर्तौ परमात्मनि वृष्णिपत्तने स्फुरति।
आत्मारामतया मे वृथा गतो बत चिरं कालः।।३४।।

● *अनुवाद*–शान्तभक्तिरस में निर्वेद, धृति, हर्ष, मति, स्मृर्ति, विषाद, औत्सुक्य, आवेग तथा वितर्कादि संचारिभाव होते हैं।।३३।।

निर्वेद का उदाहरण; इस द्वारकापुरी में ही जब आनन्दघनमूर्ति परमात्मा श्रीकृष्ण निवास कर रहे हैं, तब तो हाय ! आत्मारामता में मैंने अपना बहुत समय नष्ट कर दिया।।३४।।

अथ स्थायी–

२५–अत्र शान्तिरतिः स्थायी समा सान्द्रा तु सा द्विधा।।३५।।

तत्राद्या–

११–समाधौ योगिनस्तस्मिन्नसम्प्रज्ञातनामनि।
लीलया मयि लब्धेऽस्य बभूवोत्कम्पिनी तनुः।।३६।।

सान्द्रा यथा–

१२–सर्वाविद्याध्वंसतो यः समन्तादाविर्भूतो निर्विकल्पे समाधौ।
जाते साक्षयाद्यादवेन्द्रे स विन्दन्–मय्यानन्दः सान्द्रतां कोटिधासीत्।।३७।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*समाधाविति श्रीभगवद्वचनम्–*

"मनसो वृत्तिशून्यस्य ब्रह्माकारतया स्थितिः।
या संप्रज्ञातनामाऽसौ समाधिरभिधीयते"।।३६।।

सर्वेति। ज्ञानित्वात्परमगम्भीरस्याप्यस्य कण्ठोक्तीकृतनिजानन्दतया चापलाभिव्यक्तेः पूर्वस्मादाधिक्यमेव व्यक्तं। जात इति, स एवानन्दः साक्षाज्जाते यादवेन्द्रेऽधिकरणे तदीयरूपगुणलीलानुभवान्मयि कोटिधा सान्द्रतां विज्ञानसान्द्रतया प्रकाशमान आसीदित्यर्थः।।३७।।

● *अनुवाद*–शान्तभक्तिरस में शान्तिरति स्थायीभाव होती है। वह शान्तरति दो प्रकार की है–१. समा तथा २. सान्द्रा।।३५।।

समा का उदाहरण; श्रीभगवान् ने कहा, इस योगी की असम्प्रज्ञात–समाधि में लीलावश मेरी उपलब्धि होने पर इसका शरीर काँप उठा था।।३६।।

सान्द्रा का उदाहरण; ज्ञानी शान्त भक्त ने कहा, सब प्रकार की अविद्या के ध्वंस होने के कारण निर्विकल्प समाधि में यादवेन्द्र श्रीकृष्ण का जो साक्षात्कार मुझे हुआ; अर्थात् उनके रूप–गुण लीलाओं का जो मुझे अनुभव हुआ, उससे जो आनन्द उदित हुआ, वह कोटि सान्द्रता को प्राप्त होकर प्रकाशमान हुआ था।।३७।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–श्रीपाद मुकुन्ददास गोस्वामी ने कहा है–मन में श्रीकृष्ण की अनुभवमयी शान्तिरति है, उसे 'समा' कहते हैं और जो बाहर में साक्षाद् दर्शनमयी शान्तिरति है उसका नाम 'सान्द्रा' है।

वृत्तिशून्य मन की ब्रह्माकारता में जो स्थिति है, उसे *असम्प्रज्ञात–समाधि* कहते हैं।

२६–शान्तो द्विधैष पारोक्ष्यसाक्षात्कारविभेदतः।।३८।।

तत्र पारोक्ष्यं यथा–

१३–प्रयास्यति महत्तपः सफलतां किमष्टांगिका
मुनीश्वर ! पुरातनी परमयोगचर्याऽप्यसौ।
नराकृतिवराम्बुदद्युतिधरं परं ब्रह्म मे
विलोचनचमत्कृतिं कथय किन्तु निर्मास्यति।।३६।।

यथा वा–

१४–क्षेत्रे कुरोः किमपि सूर्यकरोपरागे सान्द्रं
महः पथि विलोचनयोर्यदासीत्।
तन्नीरदद्युतिजयि स्मरदुत्सुकं मे न
प्रत्यगात्मनि मनो गमते पुरेव।।४०।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*सान्द्रं महः पथीति यदासीदिति, द्युतिजयीत्येत एव पाठास्त्विष्टाः।।४०।।*

● *अनुवाद*–शान्तरस दो प्रकार का है–१. पारोक्ष्य तथा २. साक्षात्कार।।३८।।

पारोक्ष्य का उदाहरण; हे मुनीश्वर ! आप बताइये तो, मेरी महान् तपस्या एवं पुरातनी अष्टांगयुक्त चर्य्या कब सफल होगी ? नव जलधर द्युति नराकृति परब्रह्म क्या कभी मेरे नयनगोचर होकर नेत्रों को चमत्कृत करेंगे ?।।३६।।

अथवा; कुरुक्षेत्र में सूर्यग्रहणोपलक्ष में मेघद्युति विनिन्दित जिस एक अनिर्वचनीय तेजघन का साक्षात्कार हुआ था, उस ज्योति का स्मरण करके मेरा उत्सुक मन अब पहले की भाँति ब्रह्मसुख में भी तो रमण नहीं कर रहा है।।४०।।

साक्षात्कारो यथा–

१५–परमात्मतयाऽतिमेदुराद् बत साक्षात्करणमोदतः।
भगवन्नधिकं प्रयोजनं कतरद् ब्रह्मविदोऽपि विद्यते।।४१।।

यथा वा–

१६–हृष्टः कम्बुपतिस्वनैर्भुवि लुठच्चीरांचलः संचल–
न्मूर्धा रुद्धदृगश्रुभिः पुलकितो द्रागेष लीनव्रतः।
अक्ष्णोरंगनमंजनत्विषि परब्रह्मण्यवाप्ते मुदा
मुद्राभिः प्रकटीकरोत्यमतिं योगी स्वरूपस्थितौ।।४२।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*हे भगवन् ! सर्वातीतानन्तगुणसम्पन्न ! तव साक्षात्करणानन्दादधिक प्रयोजनं ब्रह्मणः परमवृहन्निर्विशेषानन्दस्वरूपस्य योऽनुभवी तस्यापि कतरद्विद्यते ? ननु ब्रह्म तावत्सर्वेषां स्वरूपं, स्वरूपस्यैव सर्वतः प्रेष्ठत्वेन तत्साक्षात्कारस्यैव सर्वतः प्रीत्यास्पदत्वात्, कृतं गुणमयसाक्षात्करणेन ? तत्राह–परेति। आत्मा सर्वेषां स्वरूपं यदब्रह्म ततोऽपि परमतयातिमेदुरात् 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहमि' ति (१४।२७) श्रीभगवदगीतोपनिषद्भ्यः, (भा० १०।१४।५५) ''कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनामिति'' श्रीशुकवाक्याच्च।।४१।। अश्रुभिः रुद्धदृगिति योज्यं, लीनं नष्टं व्रतं तत्तन्नियमो यस्य।।४२।।*

● *अनुवाद–साक्षात्कारजनित शान्तरस का उदाहरण;* हे भगवन् ! हे सर्वातीतानन्तगुणसम्पन्न ! परमात्मतावश अतिशय मनोहर आपके साक्षात्कार से पैदा होने वाला जो आनन्द है, ब्रह्मविद् व्यक्तियों के पक्ष में भी उसकी अपेक्षा अधिक और क्या प्रयोजन हो सकता है ? अर्थात् निर्विशेष ब्रह्मानुभवजनित आनन्द की अपेक्षा भगवत् साक्षात्कार–जनित आनन्द का परमोत्कर्ष है।।४१।।

अथवा; पाँचजन्य शंख की ध्वनि सुनते ही कोई योगी हर्षित–चित्त होकर अपने वस्त्रांचल को भूमि पर फिराने लगा एवं सिर हिलाते हुए अश्रुधारा से उसकी दृष्टि रुद्ध हो गयी। उसके सब अंग पुलकित हो उठे, तत्काल उसके सब व्रत–नियम नष्ट हो गये। नेत्र–प्रांगण में श्यामवर्ण–परब्रह्म को देखते ही वह अतिशय आनन्द में अब अपनी योगी स्वरूप में स्थिति की अवज्ञा करने लगा, अर्थात् वह अपने को योगी होने की निन्दा करने लगा।।४२।।

२७–भवेत्कदाचित्कुत्रापि नन्दसूनोः कृपाभरः।
प्रथमं ज्ञाननिष्ठोऽपि सोऽत्रैव रतिमुद्वहेत्।।४३।।

यथा विल्वमंगलस्तवे–

१७–अद्वैतबीथीपथिकैरुपास्याः स्वानन्दसिंहासनलब्धदीक्षाः।
शठेन केनापि वयं हठेन दासीकृता गोपवधूविटेन।।४४।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*तत्र श्रीमन्नन्दसूनुरूपस्य तस्य कृपातिशये तु परमोत्कर्षमाह–भवेदिति। अत्र श्रीनन्दसूनावेव रतिमुच्चैर्वहते तद्योग्यां शान्तिमतिक्रम्य रतिविशेषं वहतीत्यर्थः।।४३।। अद्वैतेति शाब्दं ज्ञानमुक्तं, स्वानदेति त्वनुभवपर्यन्तं, स्वानन्द एव सिंहासन तत्र लब्धा दीक्षा पूजा यैरित्यर्थः, दीक्ष मौण्ड्येत्यादिधातुगणाद, व्याजन्तुतिरियम्।।४३।।*

● *अनुवाद*–कभी किसी के प्रति यदि नन्दनन्दन श्रीकृष्ण की अतिशय कृपा हो, तो वह यदि पहले ज्ञाननिष्ठ भी हो, तथापि उस अपार कृपा के प्रभाव से वह शान्तिरति से भी उत्कर्षमयी रति प्राप्त करता है।।४३।।

उदाहरण; श्रीबिल्वमंगल ने कहा है, हम अद्वैतमार्ग के पथिकों के उपास्य थे, अर्थात्, निर्विशेष ब्रह्मज्ञान मार्ग के पथिक हमें अति श्रेष्ठ जानकर हमारी पूजा करते थे, ब्रह्मानन्द के अनुभवरूप सिंहासन पर अधिष्ठित होकर हमारी पूजा होती थी। किन्तु किसी गोपवधूलम्पट शठ (श्रीकृष्ण) ने हठपूर्वक हमें अपनी दासी बना लिया है।।४४।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—यह पहले कह आये हैं कि श्रीकृष्ण एवं श्रीकृष्णभक्तों की करुणा से आत्मारामगण शान्तिरति प्राप्त करते हैं। सनकादिक ने वैकुण्ठाधिपति श्रीनारायण की कृपा से शान्तिरति प्राप्त की, किन्तु श्रीनारायण स्वयं भगवान् नन्दनन्दन श्रीकृष्ण के अनन्त प्रकाशों में एक प्रकाश—मात्र हैं, वे स्वयं भगवान् नहीं। भगवत्स्वरूपों की कृपा भी उनके स्वरूप के अनुरूप ही हुआ करती है। श्रीनारायण ऐश्वर्य—प्रधान स्वरूप हैं, अतः उनके द्वारा प्राप्त कृपा भी ऐश्वर्यज्ञानमयी है, जिससे उनको शान्तिरति भी ऐश्वर्यज्ञानमयी प्राप्त हुई। अतः ऐसे भक्त श्रीभगवान् को परब्रह्म परमात्मा मानते हैं। स्वयं भगवान् श्रीनन्दनन्दन हैं माधुर्यघनविग्रह, उनके द्वारा प्राप्त कृपा भी माधुर्यमयी होती है। अतः उनकी कृपा द्वारा लब्ध रति भी होती है शुद्ध माधुर्यमयी या ऐश्वर्यज्ञानहीन। श्रीनारायणादि अन्य भगवत्स्वरूपों से स्वयं भगवान् श्रीनन्दनन्दन का जैसा वैशिष्ट्य है, उसी प्रकार अन्यस्वरूपों द्वारा लब्ध कृपा से श्रीनन्दनन्दन द्वारा लब्ध कृपा का भी वैशिष्ट्य है। इस बात का निरूपण किया गया है उपर्युक्त कारिका में।

उदाहरण में श्रीबिल्वमंगल जी के वचन उद्धृत किये गये हैं। वे पहले निर्विशेष ब्रह्मानुसन्धान करने वाले ज्ञानमार्गीय थे। गोपीजनवल्लभ श्रीनन्दनन्दन की अतिशय कृपा प्राप्त करने के बाद उहोंने श्रीकृष्ण विषय में कान्ताभावमयी मधु—रति को प्राप्त कर लिया। मधुरारति शान्ति रति से परमोत्कर्षमयी है।

२८—तत्कारुण्यश्लथीभूतज्ञानसंस्कारसन्ततिः।
एष भक्तिरसानन्दनिपुणः स्याद्यथा शुकः।।४५।।
२९—शमस्य निर्विकारत्वान्नाटयज्ञैर्नैष मन्यते।
शान्त्याख्याया रतेरत्र स्वीकारानन विरुध्यते।।४६।।
३०—शमो मन्निष्ठता बुद्धेरिति श्रीभगवद्वचः।
तन्निष्ठा दुर्घटा बुद्धेरेतां शान्तिरतिं विना।।४७।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*अत्रार्षमपि प्रमाणमाह—तदिति। श्रीशुकेन हि सर्वोत्तमप्रेमतया व्रजवासिमात्रं निरूप्य तत्रापि कुत्रचित्परमोत्कर्षो दर्शितः।।४५।। अत्रेति केवलः शान्तरसस्तैर्विरुध्यतां नाम; अत्रास्मन्मते तु शान्तरसे तैर्विरोद्धुं न शक्यत इत्यर्थः, तत्र हेतुमाह—शान्त्येति। श्रीभगवद्रतिमात्रस्य रसत्वं पूर्वमेव हि स्थापितमिति भावः, तत्र हि कार्यद्वारा रतिरूपं कारणं लक्ष्यत इत्याह—तन्निष्ठेति। तथापि सामान्यायामेव रतौ लब्धायां विशेषेऽत्र प्रवृत्तिः प्रसिद्ध शमप्राचुर्यात् पर्यवसीयते।।४६—४७।।*

● ***अनुवाद***—**श्रीशुकदेव जी की भाँति श्रीकृष्ण—कृपा से श्रीबिल्वमंगल के भी ज्ञान—संस्कार नष्ट हो गये और वे भक्तिरसानन्द में निपुण हो गये।।४५।।**

शमभाव निर्विकार होने से नाट्यज्ञ व्यक्ति शान्तरस को स्वीकार नहीं करते हैं, किन्तु यहाँ शान्तिरति स्वीकार करने पर कुछ विरोध नहीं है। श्रीभगवान् ने श्रीउद्धव जी के प्रति कहा है—मुझमें बुद्धि की निष्ठा को 'शम' कहते हैं। अतः इस शान्तिरति के बिना बुद्धि की वह निष्ठा असम्भव है।।४६—४७।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—यह पहले कहा जा चुका है कि जिनके मन में शम होता है—निर्विकल्पता है, उनकी रति को शान्तिरति कहते हैं, और शान्तिरति विभावादि सामग्री से मिलने पर शान्तरस में परिणित होती है। अन्य नाट्यज्ञव्यक्तियों का मत है कि शान्तिरति निर्विकार—स्वभावा है, अतः वह रस में परिणित नहीं हो सकती, क्योंकि निर्विकार वस्तु में गति और क्रिया नहीं होती। रसनिष्पत्ति के लिए गति और क्रिया की आवश्यकता है।

श्रीपाद रूपगोस्वामी ने उन लोगों के इस मत का खण्डन करते हुए कहा है—शान्तिरति निर्विकार स्वभावा होते हुए भी उसकी रस—प्राप्ति हो सकती है, उसमें कुछ भी विरोध नहीं है। शान्तिरति में निर्विकारता है—विकार का अभाव है। विकार कहते हैं कोई वस्तु यदि अपने स्वरूप से अन्यरूप धारण करे—"विकार, प्रकृतेरन्यथा भावः"।।शब्दकल्पद्रुम।। जीव के साथ आनन्दस्वरूप ब्रह्म का अनादि अविच्छेद्य स्वरूपगत सम्बन्ध होने से जीव के चित्त की स्वाभाविकी या स्वरूपानुबन्धिनी गति है आनन्दस्वरूप—ब्रह्म की ओर। जीव के चित्त की सुखवासना इसलिए चिरन्तनी एवं स्वाभाविकी है। अनादि बहिर्मुखतावश मायाकवलित होने के कारण जीव के मन की गति इन्द्रियों की भोग्य वस्तुओं की ओर हो रही है। आनन्दस्वरूप परब्रह्म भगवान् के प्रति जो चित्त की स्वाभाविकी गति है, माया के प्रभाव से वह इन्द्रियभोग्य—वस्तुओं के प्रति दौड़ने के कारण चित्त की गति का रूप वास्तव स्वरूप से अन्य रूप धारण कर रहा है, अर्थात् चित्तवृत्ति विकार को प्राप्त हो रही है। अतः यह स्पष्ट है कि मायाप्रभावजनित विषयोन्मुखता का परित्याग करने पर ही चित्त अपनी स्वाभाविकी गति प्राप्त कर सकता है। वह स्वरूप में अवस्थित हो सकता है एवं अपनी वास्तविक अभीष्ट वस्तु सुख—आनन्दस्वरूप भगवान् में स्थिति प्राप्त कर सकता है। चित्त की इस अवस्था का नाम है 'शम'।

ऐसा शम जिनके चित्त में है, उनकी रति का नाम है "शान्तिरति"। रति किसके प्रति ? इस रति का लक्ष्य हैं वे आनन्दस्वरूप भगवान्, अन्यविषयों को छोड़कर जब बुद्धि उस आनन्दस्वरूप भगवान् में निष्ठा प्राप्त करती है, तभी ही ऐसा शम सम्भव होता है। जबतक चित्त निर्विकार नहीं होता, तब तक ऐसी निष्ठा या शम सम्भव ही नहीं होता।

अतः जिस विकारहीनतावश शम एवं शम से उद्भूताः शान्तिरति के रसत्व लाभ करने में विरोधीजन आपत्ति करते हैं, वह विकार है मायाजनित विषय—भोग वासना। उसके तिरोहित हो जाने पर जीव की स्वरूपानुबन्धिनी सुखवासना स्फुरित होती है सुखस्वरूप श्रीभगवान् के प्रति अर्थात् अपने विषय—आलम्बन के प्रति। इस प्रकार आलम्बन विभाव के साथ उस रति का योग होता है और

अन्यान्य रस–सामग्री के साथ जब मिलन होता है तब शान्तरस का उद्भव होता है। आश्रयालम्बन की स्वरूपगत सुखवासना स्वाभाविक भाव से ही रस का आस्वादन करती है। विषयालम्बन श्रीभगवान् की ओर सुख–वासना की गति एवं रस का आस्वादन आश्रयालम्बन की चित्तवृत्ति का विकार नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सुखवासना का स्वरूप ही है यह गति एवं आस्वादन क्रिया जो सर्वथा सम्भव ही है।

इस प्रकार विरुद्ध–वादियों के कथित शम के निर्विकारत्व को स्वीकार करते हुए ही श्रीपाद रूपगोस्वामी ने यह सिद्ध किया है कि यही निर्विकारत्व शमोद्भूता शान्तिरति के पक्ष में रसत्व–प्राप्ति में विरोधी नहीं है। निर्विकार स्वभावा शान्तिरति शान्तरस में परिणित होती है, इस विषय में विष्णु धर्मोत्तर का प्रमाण आगे उद्धृत करते हैं।।

केवलशान्तोऽपि–श्रीविष्णुधर्मोत्तरे यथा–

३१–नास्ति यत्र सुखं दुःखं न द्वेषो न च मत्सरः।
समः सर्वेषु भूतेषु स शान्तः प्रथितो रसः।।४८।।

३२–सर्वथैवमहंकाररहितत्वं व्रजन्ति चेत्।
अत्रान्तर्भावमर्हन्ति धर्मवीरादयस्तदा।।४६।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*अथ केवलशान्ताख्ये रसे विवदमानानां मतनिरासेन कैमुत्यादात्ममतं स्थापयति–केवल शान्तोऽपि श्रीविष्णुधर्मोत्तरे यथेति।।४८।। धर्मवीरादयो धर्मदयादानवीराः।।४६।।*

अनुवाद-*जिसमें सुख नहीं, दुःख नहीं, द्वेष नहीं, मात्सर्य नहीं, एवं जिसमें सर्वभूतों के प्रति सम भाव विद्यमान हैं, उसे शान्तरस कहते हैं; अर्थात् सुख–दुःखादि अभाव से मायाजनित विकार–राहित्य ही सूचित होता है और शान्तरस निष्पत्ति की भी बात कही गई है।।४८।।*

यदि सर्व प्रकार से अहंकार–राहित्य प्राप्ति हो जाय, धर्मवीर, दानवीर एवं दयावीर शान्तरस के अन्तर्भुक्त होने के योग्य होते हैं। (अहंकृतिभाव रहने पर ही धर्मवीरादि रस होता है, किन्तु दान, दया, धर्मादि विषय में जब अहंकार–भाव नहीं रहता, तब वे धर्मवीरादि–रस शान्तरस के अन्तर्भूत हो जाते हैं।।४६।।

३३–धृतिस्थायिनमेके तु निर्वेदस्थायिनं परे।
शान्तमेव रसम्पूर्वे प्रोचुरेकमनेकधा।।५०।।

३४–निर्वेदो विषये स्थायी तत्त्वज्ञानोद्भवः स चेत्।
इष्टानिष्टवियोगाप्तिकृतस्तु व्यभिचार्यसौ।।५१।।

● *अनुवाद*–प्राचीन पण्डितों में से इस शान्तरस में किसी ने धृति को, किसी ने निर्वेद को *स्थायिभाव* कहा है।।५०।।

तत्त्वज्ञान पैदा होने पर विषयों में निर्वेद स्थायी हो सकता है, किन्तु इष्ट अनिष्ट के वियोग से उद्भव होने वाला निर्वेद होने पर वह *व्यभिचारिभाव* में ही गिना जायेगा।।५१।।

इति श्रीभक्तिरसामृतसिन्धौ पश्चिमविभागे मुख्यभक्तिरसपंचकनिरूपणे शान्तभक्तिरसलहरी।।१।।

द्वितीय-लहरी : प्रीतभक्तिरसाख्या

१–श्रीधरस्वामिभिः स्पष्टमयमेव रसोत्तमः।
रंगप्रसंगे सप्रेमभक्तिकाख्यः प्रकीर्तितः।।१।।
२–रतिस्थायितया नामकौमुदीकृद्भिरप्यसौ
शान्तत्वेनायमेवाद्धा सुदेवाद्यैश्च वर्णितः।।२।।
३–आत्मोचितैर्विभावाद्यैः प्रीतिरास्वादनीयताम्।
नीता चेतसि भक्तानां प्रीतभक्तिरसो मतः।।३।।
४–अनुग्राह्यस्य दासत्वाल्लाल्यत्वादप्ययं द्विधा।
भिद्यते सम्भ्रमप्रीतो गौरवप्रीत इत्यपि।।४।।

● *अनुवाद*–प्रीत भक्तिरस–इस भक्तिरस को श्रीपाद श्रीधर स्वामि ने स्पष्ट रूप से रसोत्तम कहकर वर्णन किया है। कंस के रंगस्थल में श्रीकृष्ण के अवस्थान वर्णन प्रसंग में उहोंने इसे 'सप्रेम भक्ति' कहकर वर्णन किया है (श्रीभा० १० ।४७ ।१७ श्लोक की टीका द्रष्टव्य है) नामकौमुदीकार ने इसे 'स्थायि रति' कह कर वर्णन किया है। सुदेवादि द्वारा इसका साक्षात् 'शान्त' से वर्णन किया गया है। आत्मोचित–विभावादि द्वारा भक्तचित्त में आस्वादनीयता प्राप्त करने पर इसको *प्रीत भक्तिरस* या *दास्य भक्तिरस* कहा जाता है।।१।३।।

अनुग्रह–पात्र के सम्बन्ध में दासत्व एवं लालत्व के कारण इस प्रीतरस के दो भेद हैं–१. सम्भ्रम प्रीत तथा २. गौरव–प्रीत।।४।।

तत्र संभ्रम–प्रीतः–

५–दासाभिमानिनां कृष्णे स्यात् प्रीतिः सम्भ्रमोत्तरा।
पूर्ववत् पुष्यमाणोऽयं सम्भ्रमप्रीत उच्यते।।५।।

तत्रालम्बना–

६–हरिश्च तस्य दासाश्च ज्ञेया आलम्बना इह।।६।।

● *अनुवाद*–जो व्यक्ति अपने को भगवान् श्रीकृष्ण का दास मानते हैं, उनकी श्रीकृष्ण में सम्भ्रम–विशिष्ट आदरमयी प्रीति होती है। यह सम्भ्रमोत्तर प्रीति पूर्वरीति अनुसार अर्थात् विभावादि के योग से पुष्ट होने पर 'सम्भ्रमप्रीत रस' कही जाती है।।५।।

सम्भ्रम प्रीतरस के श्रीहरि विषयालम्बन तथा हरिदासगण आश्रयालम्बन होते हैं।।६।।

तत्र हरिः–

७–आलम्बनोऽस्मिन् द्विभुजः कृष्णो गोकुलवासिषु।
अन्यत्र द्विभुजः क्वापि कुत्राप्येष चतुर्भुजः।।७।।

तत्र व्रजे, यथा–

१–नवाम्बुधरबन्धुरः करयुगेन वक्त्राम्बुजे

निधाय मुरली स्फुरन् पुरटनिन्दि पट्टाम्बरः।

शिखण्डकृतशेखरः शिखरिणस्तटे पर्य्यटन्
प्रभुर्दिवि दिवौकसो भुवि धिनोति नः किंकरान्।।८।।

अन्यत्र द्विभुजो, यथा—

२—प्रभुरनिशं पिशंगवासाः करयुगभागसिकम्बुरम्बुदाभः।
नवघन इव चंचलापिनद्धो रविशशिमण्डलमण्डितश्चकास्ति।।६।।

● *अनुवाद*—इस सम्भ्रमप्रीत रस में गोकुलवासियों के लिए द्विभुज श्रीकृष्ण विषयालम्बन हैं। अन्य स्थानों पर कहीं द्विभुज और कहीं चर्तुर्भुज रूप से श्रीकृष्ण आलम्बन हैं।।७।।

व्रज में द्विभुज—श्रीकृष्ण के आलम्बन का उदाहरण; व्रज के दासगण कहते हैं; नवीन जलधर से भी सुन्दर, स्फूर्तिमय स्वर्णनिन्दित पीत—वसनधारी, तथा मोरपुच्छयुक्त चूड़ाधारी हमारे प्रभु दोनों हाथों द्वारा अपने मुख कमल पर मुरलीधारण कर गोवर्धन—तटवर्ती भूमि में विचरण करते—करते स्वर्गवासी देवताओं को एवं पृथ्वी पर अपने दासगण हमें आनन्द प्रदान कर रहे हैं।।८।। (यहाँ 'प्रभु'—शब्द से दासों की सम्भ्रममयी प्रीति तथा 'करयुग' शब्द से श्रीकृष्ण का द्विभुजत्व सूचित हो रहा है)।।८।।

अन्य स्थानों पर द्विभुज श्रीकृष्ण के आलम्बनत्व का उदाहरण; विद्युतयुक्त कोई नवमेघ यदि रवि—शशिमण्डल द्वारा मण्डित हो, तो उसकी जो शोभा होती है, निरन्तर पीतपटधारी मेघकान्ति हमारे प्रभु श्रीकृष्ण भी दो हाथों में शंख—चक्र धारण करने से वैसी ही शोभा विस्तार कर रहे हैं।।६।।

तत्र चतुर्भुजो यथा ललितमाधवे—

३—चंचत्कौस्तुभकौमुदीसमुदयः कौमोदकीचक्रयोः
सख्येनोज्ज्वलितैस्तथा जलजयोराढ्यश्चतुर्भिर्भुजैः।
दिव्यालंकरणेन संकटतनुः संगी विहंगेशितु—
र्मां व्यस्मारयदेष कंसविजयी वैकुण्ठगोष्ठीश्रियम्।।१०।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*चंचदिति श्रीदारुकवाक्यम्—एष इति। वैकुण्ठनाथादपि चमत्कारकरत्वेन मयानुभूयमान इत्यर्थः। व्यस्मारयदित्यनेन च प्रस्तुतानां सामग्रीणां वैकुण्ठसामग्रीभ्यो विलक्षणत्वं ध्वनितम्।।१०।।*

● *अनुवाद*—अन्यत्र आलम्बन—रूपी चतुर्भुज श्रीकृष्ण का उदाहरण; श्रीललितमाधव नाटक में दारुक ने कहा—जिनके वक्षस्थल पर चंचल कौस्तुभरूप चन्द्र की ज्योत्स्ना सम्यक् रूप से प्रकाशित हो रही है, जिनकी चारों भुजायें सखाओं की भाँति एकत्र अवस्थित गदा—चक्र एवं पद्म—शंख की उज्ज्वलता से शोभायमान हो रही हैं, जिनका शरीर दिव्य—अलंकारों से विभूषित हो रहा है, तथा जो पक्षिराज गरुड़ पर विराजमान हैं, ऐसे इन कंस—विजयी श्रीकृष्ण ने मुझे भुला दिया है।।१०।।

८—ब्रह्माण्डकोटिधामैकरोमकूपः कृपाऽम्बुधिः।
अविचिन्त्यमहाशक्तिः सर्वसिद्धिनिषेवितः।।११।।

९—अवतारावलीबीजं सदात्मारामहृद्गुणः।
ईश्वरः परमाराध्यः सर्वज्ञः सुदृढ़व्रतः।।१२।।
१०—समृद्धिमान् क्षमाशीलः शरणागतपालकः।
दक्षिणः सत्यवचनो दक्षः सर्वशुभंकरः।।१३।।
११—प्रतापी धार्मिकः शास्त्रचक्षुर्भक्तसुहृदत्तमः
वन्दान्यस्तेजसा युक्तः कृतज्ञः कीर्तिसंश्रयः।।१४।।
१२—वरीयान् बलवान् प्रेमवश्य इत्यादिभिगुणैः।
युतश्चतुर्विधेष्वेष दासेष्वालम्बनो हरिः।।१५।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*ब्रह्माण्डकोटिधामैकरोमकूप इति। (भा० १० |६ |१३) "न चान्तर्न बहिर्यस्ये" त्यादि प्रमाणेन मध्यपरिमाणत्वेऽप्यचिन्त्यशक्त्या परमविभुविग्रह इत्यर्थः। तत्सम्बन्धस्तु तत्र नास्तीति स्वयमेव गीतं "मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिनेत्यादिना (गीता ९ |४) व्यञ्जितमेव, स च पुरुषेणैव तत्सम्बन्धाभासो न तु स्वयं भगवतेति, यथोक्तं श्रीदशमे (८५ |३१)—"यस्यांशांशभागेन विश्वोत्पत्तिलयोदया", इति टीका च—यस्यांशः पुरुषः तस्यांशो मायेत्यादिका, तदेवमायिकगुणवत्ता च तस्य न सर्वत्र सर्वा स्फुरति किन्तु यथाविभागमेव, यथा प्रथमोऽयं गुणोऽधिकारिविशेषाश्रितः तापसेष्वेवेति।।११।।*

● *अनुवाद*—प्रीतरस में आलम्बन रूपी श्रीहरि के 'गुण' इस प्रकार हैं, जिनके एक रोमकूप में कोटि ब्रह्माण्ड अवस्थित हैं, जो कृपासागर हैं, जिनकी अचिन्त्य महाशक्ति है, सर्वसिद्धियाँ जिनकी सेवा करती हैं, समस्त अवतारों के मूल कारण, सर्वदा आत्मारामगण—आकर्षी, ईश्वर परमाराध्य, सर्वज्ञ, सुदृढ़व्रत, समृद्धिमान, क्षमाशील, शरणागत—पालक, दक्षिण, सत्यवाक्य, दक्ष, सर्वमंगलकारी, प्रतापी, धार्मिक, शास्त्रचक्षुः भक्तसुहृदतम, वदान्य तेजीयान, कृतज्ञ, कीर्तिमान, परमश्रेष्ठ, बलवान्, तथा प्रेम—वशीभूत—इत्यादि गुण—विशिष्ट श्रीहरि चारों प्रकार के दास्य—भक्तों के विषयालम्बन हैं।।११।१५।।

अथ दासाः—

१३—दासास्तु प्रश्रितास्तस्य निदेशवशवर्तिनः।
विश्वस्ताः प्रभुता—ज्ञानविनम्रितधियश्च ते।।१६।।

यथा, ४—प्रभुरयमखिलैर्गुणैर्गरीयानिह तुलनामपरः प्रयाति नास्य।
इति परिणतनिर्णयेन नम्रान् हितचरितान् हरिसेवकान् भजध्वम्।।१७।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*प्रश्रिता नतदृष्टित्वादिना स्थिताः; निदेशे स्वस्वयोग्यकर्मणि या श्रीकृष्णस्याज्ञा तत्र यो वश इच्छा स्वत एव रुचिः तत्र वर्त्तितुं शीलं येषां ते तथा। वशः कान्तावित्यमरः, तदेतल्लक्षणाऽनुसाराद्रूढ़िवृत्त्या दासत्वेनाशब्द्यमाना श्रीकृष्णगौरवविषया विप्रादयोऽपि योगवृत्त्या गणयिष्यन्ते, दास्यते दीयते कृपया तत्तद्वांछतं सम्पाद्यते येभ्य इति निरुक्तेः। दासृ दाने। यथा चात्र प्रमाणीकृतं भाषावृत्तौ "गुणिनां ब्राह्मणो दास" इति, किन्त्वेते नित्यसिद्धाः साधनसिद्धाश्चेत्युभये लीलापरिकरास्तादृशभाववांछकाश्चेति भेदेन तत्र तत्र ज्ञेयाः।।१६।।*

● *अनुवाद*—सम्भ्रम प्रीतरस के आश्रयालम्बन चार *प्रकार के भक्त हैं—(१)* प्रश्रित, अर्थात् जो सदा दृष्टि नीचे झुकाये रहते हैं; (२) *निर्देशवशवर्ती,* अर्थात् अपने–अपने योग्य कर्म में, श्रीकृष्ण की जो आज्ञा है, उनकी स्वाभाविकी जो रुचि है, उस रुचि में अवस्थान करना ही जिनका अभ्यास है; (३) *विश्वस्त–भक्त* तथा (४) श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में प्रभुताज्ञानवश जिनकी *विनम्रित बुद्धि* है।।१६।।

उदाहरण; ये प्रभु समस्त गुणगणालंकृत हैं, इस जगत् में इनके समान कोई भी नहीं है, इस प्रकार के दृढ़ निर्णय के कारण उक्त चारों प्रकार के हरि–सेवक नम्र तथा हितकारी चरित वाले हैं, उनका भजन करो।।१७।।

१४–चतुर्द्धामी अधिकृताश्रितपारिषदानुगाः।।१८।।

तत्र अधिकृताः

१५–ब्रह्मशंकरशक्राद्योः प्रोक्ता अधिकृता बुधैः।
रूपं प्रसिद्धमेवैषां तेन भक्तिरुदीर्यते।।१६।।

● *अनुवाद*—उपर्युक्त भक्तक्रमशः अधिकृत, आश्रित, पारिषद, तथा अनुग चार प्रकार के हैं।।१८।।

श्रीब्रह्मा, श्रीशंकर तथा इन्द्रादिक को विज्ञजन "अधिकृत–दास" कहते हैं। (श्रीकृष्ण द्वारा अपने–अपने अधिकार में स्थापित दासभक्तों को अधिकृत–दास कहते हैं—श्रीजीव) इन सब के रूप अति प्रसिद्ध हैं। आगे उनकी भक्ति का एक उदाहरण देखिये—

यथा, ५–का पर्येत्यम्बिकेयं हरिमवकलयन् कम्पते कः शिवोऽसौ–
तं कः स्तौत्येष धाता प्रणमति विलठन् कः क्षितौ वासवोऽयम्।
कः स्तब्धो हस्यतेऽद्धा नुजभिदनुजैः पूर्वजोऽयं ममेत्थ
कालिन्दी जाम्बवत्यां त्रिदशपरिचयं जालरन्ध्राद् व्यतानीत।।२०।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*अधिकृता इति। श्रीकृष्णेनाधिकृत्य स्थापिता इत्यर्थः, उदाहरणंच केति। पर्येति प्रदक्षिणी करोति। स्तब्धः स्तम्भाख्यसात्त्विकेन युक्त इत्यर्थः। पूर्वज इति तदानीं मन्वन्तरस्थायिमनु (यम) शरीरप्रविष्टस्यार्यम्नोऽपि तद्रूपत्वेनैव व्यवहारात्।।२०।।*

● *अनुवाद*—(जाम्बवती ने कालिन्दी से पूछा) श्रीहरि की जो प्रदक्षिणा कर रहा है—यह कौन है ? (कालिन्दी) यह अम्बिका है। (जाम्बवती)—श्रीहरि का दर्शन कर जो काँप रहा है, यह कौन है ? (कालिन्दी) ये शिव हैं। (जाम्बवती) श्रीहरि की जिसने स्तुति की है, यह कौन है ? (कालिन्दी) यह विधाता–ब्रह्मा हैं, (जाम्बवती) पृथ्वी पर लेटकर प्रणाम कौन कर रहा है ? (कालिन्दी) (यह इन्द्र है।) (जाम्बवती स्तब्ध होकर) देवताओं के साथ हँस कौन रहा है ? (कालिन्दी) यह मेरा बड़ा भाई यम है। गवाक्षों के जालरन्ध्रों में से इस प्रकार कालिन्दी जाम्बवती को देवताओं का परिचय देने लगी थी।।२०।।

अथ आश्रिताः—

१६–ते शरण्या ज्ञानिनिष्ठाः सेवानिष्ठास्त्रिधा श्रिताः।।२१।।

यथा, ६—केचिद्भीताः शरणमभितः संश्रयन्ते भवन्तं
विज्ञातार्थास्त्वदनुभवतः प्रास्य केचिन्मुमुक्षाम्।
श्रावं श्रावं तव नवनवां माधुरीं साधुवृन्दाद्
वृन्दारण्योत्सव ! किल वयं देव ! सेवेमहि त्वाम्।।२२।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*केचिद्भीता इत्यादौ भूत एव निष्ठा न तु वर्तमाने, सम्प्रति ह्येषामन्याभिलाषिताशून्यत्वमेव वक्तव्यं शुद्धभक्तेषु गणनात्, मुमुक्षामित्युपलक्षत्वेन, शान्तिरतिहेतुज्ञानित्यागोऽपि लभ्यते, अतएव ज्ञानिचरा इति भूतपूर्वत्वं ज्ञानस्यापि दर्शितम्, अत्र च मध्यमान्तिमाधिकारिणामन्योन्यभेद ऐश्वर्य-माधुर्यानुभवाभ्यां ज्ञेयः, भीता इति त्वद्भक्तिव्यतिरिक्तात् सर्वस्मदपि भययुक्ता इत्यर्थः, त्वदनुभवतो विज्ञातार्था इति। ब्रह्मानुभवत्वदनुभवयोर्ज्ञाततारतम्या इत्यर्थः, तदिदं सहजतद्दास्यरतेः साधकभक्तस्य वचनमात्मनः सार्वदिकानन्यगतित्वनिवेदनाय।।२।।*

● *अनुवाद*—आश्रिमदास तीन प्रकार के होते हैं—१.शरणागत, २. ज्ञानिचर एवं ३. सेवानिष्ठ।।२१।।

उदाहरण; (सहज—दास्यरतिवान किसी साधक—भक्त ने कहा)—हे वृन्दावनोत्सव ! हे देव ! अनेकों ने भयभीत होकर एवं सर्वतोभाव से आप को रक्षक जान कर आपका आश्रय ग्रहण किया है (शरणागत—भक्त)। कईयों ने आपका तत्त्व अनुभव कर (ब्रह्मानुभव प्राप्त कर)एवं मोक्षवासना का परित्याग करके आपका आश्रय ग्रहण किया है (ज्ञानिचरणदास) और साधु—भक्तों के मुख से आपकी नव—नव माधुरी कथा को सुन—सुनकर हम आपकी सेवा में तत्पर हुए हैं (सेवानिष्ठ)।।२२।।

तत्र शरण्याः—

१७—शरण्याः कालियजरासन्धबद्धनृपादयः।।२३।।

यथा, ७—अपि गहनागसि नागे प्रभुवर ! मय्यद्भुताद्य ते करुणा।
भक्तैरपि दुर्ल्लभया यदहं पदमुद्रयोज्ज्वलितः।।२४।।

यथा वा अपराधभंजने—

८—कामादीनां कति न कतिधा पालिता दुर्निदेशा
जाता तेषां मयि न करुणा न त्रपा नोपशान्तिः
उत्सृज्यैतानथ यदुपते ! साम्प्रतं लब्धबुद्धि—
स्त्वामायातः शरणमभयं मां नियुङ्क्ष्वात्मदास्ये।।२५।।

● *अनुवाद*—कालियनाग तथा जरासन्ध के कारागार में बन्दी राजागण आदि शरणागत दास—भक्त हैं।

उदाहरण; हे प्रभुवर ! मैं कालियनाग हूँ, अतिशय अपराधी हूँ, ऐसे मेरे प्रति भी आपकी अद्‌भुत करुणा है ! मैं आज भक्तगणों के लिए भी सुदुर्लभ आपके चरण—चिह्नों द्वारा सुशोभित हो रहा हूँ।।२४।।

काम क्रोधादि के कितने—कितने दुष्ट आदेश किस—किस प्रकार मैंने पालन नहीं किये हैं ? तथापि मेरे प्रति उनकी दया नहीं हुई, उनको लज्जा भी नहीं आयी, वे शान्त भी नहीं हुए। हे यदुपते ! अब (मैंने किसी महत् कृपा के कारण) बुद्धि

प्राप्त की है, इसलिए उन सबका परित्याग कर मैंने अभयतापूर्वक आपकी शरण ग्रहण की है, अब आप मुझे अपनी सेवा में नियुक्त कर लीजिए।।२५।।

अथ ज्ञानिचराः—

१८—ये मुमुक्षां परित्यज्य हरिमेव समाश्रिताः
शौनकप्रमुखास्ते तु प्रोक्ता ज्ञानिचरा बुधैः।।२६।।

यथा हरिभक्तिसुधोदये—

९—अहो महात्मन्! बहुदोषदुष्टोऽप्येकेन भात्येष भवो गुणेन।
सत्संगमाख्येन सुखावहेन कृताद्य नो येन कृशा मुमुक्षा।।२७।।

यथा वा, पद्यावल्याम्—

१०—ध्यानातीतं किमपि परमं ये तु जानन्ति तत्त्वं
तेषांमास्तां हृदयकुहरे शुद्धचिन्मात्रमात्मा।
अस्माकं तु प्रकृतिमधुरः स्मेरवक्त्रारविन्दो
मेघश्यामः कनकपरिधिः पंकजाक्षोऽयमात्मा।।२८।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*ध्यानातीतमिति पूर्वार्द्धे हेयत्वेविवक्षया ज्ञातस्याप्य-ज्ञातवन्निर्देशात्, पंकजाक्षोऽयमात्मेति परमेशितृत्वात्परमप्रियत्वाच्च।।२८।।*

● *अनुवाद*—शौनिक—प्रमुख जिन सब ऋषियों ने मोक्षवासना का परित्याग करके श्रीहरि का आश्रय लिया था, विज्ञजन उनको ज्ञानिचर दास—भक्त कहते हैं।।२६।।

जैसा भक्तिसुधोदय में कहा गया है। (शौनकादिक ऋषियों ने श्रीसूत गोस्वामी जी से कहा था)—हे महात्मन्! यह संसार अनेक दोषों से पूर्ण होते हुए भी सत्संग नामक एक अमृतमय गुण से शोभा पा रहा है। उस सत्संग के प्रभाव से हमारी मोक्षवासना क्षीण हो गयी है।।२७।।

पद्यावली में भी कहा गया है—जिन्होंने ध्यानातीत किसी एक परम तत्त्व को जाना है, जानने दो और उनके हृदय कुहुर में शुद्धचिन्मय स्वरूप आत्मा वास करे, किन्तु हमारे हृदय में स्वभावतः ही मधुर मृदु—मुस्कान भरा मुखकमल है जिनका, मेघश्यामलवर्ण, पीताम्बरधारी, एवं कमलनयन—ऐसा आत्मा ही विराजमान रहे। (यह उक्ति ऐसे लोगों की है, जो पहले ज्ञानमार्ग का अनुसरण कर शुद्धचिन्मात्र निर्विशेष ब्रह्म का ध्यान करते थे। निर्विशेष तत्त्व की हेयता अनुभव कर यद्यपि वे तत्त्व को जान चुके थे तथापि हेयत्व—ज्ञानवश वे जैसे जानते न हों, इस प्रकार का निर्देश करके बाद में उन्होंने असमोर्ध्व माधुर्यमय पीताम्बरधारी श्रीकृष्ण का आश्रय ग्रहण किया।।२८।।

अथ सेवानिष्ठाः—

१९—मूलतो भजनासक्ताः सेवानिष्ठा इतीरिताः।
चन्द्रध्वजो हरिहयो बहुलाश्वस्तथा नृपः।
इक्ष्वाकुः श्रुतदेवश्च पुण्डरीकादयश्च ते।।२९।।

यथा, ११–आत्मारामानपि गमयति त्वद्गुणो गानगोष्ठी
शून्योद्याने नयति विहगानप्यलं भिक्षुचर्याम्।
इत्युत्कर्षं कमपि सचमत्कारमाकर्ण्य चित्रं
सेवायां स्फुटमघहर ! श्रद्धया गर्द्धितोस्मि।।३०।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*शून्ये निर्जने उद्याने वर्तमानान् विहगसदृशांस्त–पस्विनोऽपि भिक्षुचया'त्वद्गुणगानश्रवणेच्छया तद्गानसभायां भिक्षोरिव चर्य्यांनयति, यद्वा शून्योद्याने इत्यावेशात्प्रौढ़िवचनम् (उत्तरचरिते) ''जनस्थाने शून्ये करुणकरुणैरार्यचरितैरपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयमितिवत्।।३०।।*

● *अनुवाद*–आरम्भ से ही जो भजन में आसक्त हैं, उन्हें 'सेवानिष्ठ–दास' कहते हैं। चन्द्रध्वज, हरिहय, राजा, बहुलाश्व इक्ष्वाकु, श्रुतदेव एवं पुण्डरीकादि 'सेवानिष्ठ–दासभक्त' हैं।।२९।।

उदाहरण; हे कृष्ण ! आपके गुण आत्मारामगण को भी आकर्षण कर वहाँ ले जाते हैं जहाँ आपकी चरितकथा का गान होता है; निर्जन वन में पक्षियों की भाँति जो तपस्वी वास करते हैं, आपके गुण, कीर्तन, श्रवण की वासना उद्दीपित कर उनको भी भिक्षार्थियों की तरह गान सभा में ले जाती है। हे पापहारि ! आपकी ऐसी अनिर्वचनीय अद्भुत एवं चमत्कारी उत्कर्षमय कथा को सुन कर मैं श्रद्धा सहित आपकी सेवा के लिए स्पष्टरूप से आकांक्षान्वित हुआ हूँ।।३०।।

अथ पारिषदाः–

२०–उद्धवो दारुको जैत्रः श्रुतदेवश्च शत्रुजित्।
नन्दोपनन्दभद्राद्याः पार्षदा यदुपत्तने।।३१।।
२१–नियुक्ता सन्त्यमी मन्त्रसारथ्यादिषु कर्मसु।
तथापि क्वाप्यवसरे परिचर्यां च कुर्वते।
कौरवेषु तथा भीष्मपरिक्षिदविदुरादयः।।३२।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*श्रुतदेवशत्रुजितावपि प्रथम स्कन्धे (१४।३२, २९) प्रोक्तावत्र ज्ञेयौ, परिचर्यात्र स्वस्वयोग्यानुगतिः।।३१–३२।।*

● *अनुवाद*–द्वारकापुरी में उद्धव, दारुक, जैत्र, श्रुतदेव, शत्रुजित (श्रीभा० १।१४।३२–२९ श्लोक द्रष्टव्य) नन्द, उपनन्द, तथा भद्र आदि पार्षद–भक्त हैं। ये मन्त्रणा व सारथ्यादि कार्य में नियुक्त होते हुए भी कहीं–कहीं अवसरानुसार यथायोग्य सेवा करते हैं। उसी प्रकार कौरवों में भीष्म, परीक्षित् एवं विदुरादि 'पार्षद–भक्त' है।।३१–३२।।

तेषां रूपं, यथा–

१२–सरसाः सरसीरुहाक्षवेषास्त्रिदिवेशावलिजैत्रकान्तिलेशाः।
यदुवीरसभासदः सदामी प्रचुरालंकरणोज्ज्वला जयन्ति।।३३।।

भक्तिर्यथा–

१३–शंसन् धूर्जटिनिर्जयादिविरुदं वाष्पवारुद्धाक्षरं
शंकमपंकलवं मदादगणयन् कालाग्निरुद्रादपि।

त्वय्येवार्पितबुद्धिरुद्धवमुखस्त्वत्पार्षदानां गणो
द्वारि द्वारवतीपुरस्य पुरतः सेवोत्सुकस्तिष्ठति।।३४।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*शंसन्निति। इन्द्रप्रस्थगतं श्रीकृष्णं प्रति कस्यचिद्वचनं। शंसन् प्रशंसन्। शंकैव पंक उद्वेगदायित्वात् तस्य लवमप्यगणयन् सोऽपि नास्तीति निश्चिन्वन्नित्यर्थः, यद्वा शंकैव पंकलवो यस्मिन् स शंकापंकललवः ईषच्छंकमान इत्यर्थः, ततश्च—"समस्तस्यासमस्तेन नित्याक्षेपेण संगतिरिति—न्यायेन कालाग्नि—रुद्रादपि शंकापंकलवो यो भगवद्भक्तजनः तमपि मदाद् भगवदाश्रयमाहात्म्यगर्वाद् अगणयन् भगवदाश्रये सति तदाभासोऽपि नोचित इत्यतो न बहु मन्वान इत्यर्थः, तदेवमेव पूर्वेभ्यो जगत्यधिकृतेभ्य एषां विशेषो दर्शितः, द्वारावतीपुरस्य पुरतो द्वारि सर्वाग्रिमद्वारे।।३४।।*

● *अनुवाद*—द्वारका के पार्षदगण का रूप इस प्रकार है यदुवीर के सभासद मूर्ति, कमलनयन, देवताओं को भी पराजयकारी कान्ति से युक्त हैं एवं सर्वदा प्रचुर अलंकारों से विभूषित रहते हैं, उनकी जय हो।।३३।।

उनकी भक्ति इस प्रकार है—(श्रीकृष्ण जब इन्द्रप्रस्थ गये तो किसी भक्त ने उनके प्रति कहा)—प्रभो ! उद्धव प्रमुख आपके पार्षदगण अश्रुपूर्ण नेत्रों तथा गद्गद वचनों से आपके रुद्र—जय आदि कार्यों की प्रशंसा करते हैं एवं आपके आश्रय—महिमा जनित गर्ववश कालाग्नि रुद्र के भय से भी जरा शंकित नहीं होते हैं। केवल आप में ही बुद्धि समर्पण पूर्वक आपके सेवा—कार्य में ही उत्सुक होकर द्वारकापुरी के सर्वाग्रवर्ती द्वार पर अवस्थान करते हैं।।३४।।

२२—एतेषां प्रवरः श्रीमानुद्धवः प्रेमविक्लवः।।३५।।

तस्य रूपं यथा—

१४—कालिन्दीमधुरत्विषं मधुपतेर्माल्येन निर्माल्यतां
लब्धेनांचितमम्बरेण च लसद् गोरोचनारोचिषा।
द्वन्द्वेनार्गलसुन्दरेण भुजयोः भ्राजिष्णुमब्जेक्षणं
मुख्यं पारिषदेषु भक्तिलहरीरुद्धं भजाम्युद्धवम्।।३६।।

भक्तिर्यथा—

१५—मूर्द्धन्याहुकशासनं प्रणयते ब्रह्मेशयोः शासिता
सिन्धुं प्रार्थयते भुवं तनुतरां ब्रह्माण्डकोटीश्वरः।
मन्त्रं पृच्छति मामपेशलधियं विज्ञानवारां निधि—
र्विक्रीड़त्यसकृद्विचित्रचरितः सोऽयं प्रभुर्मादृशाम्।।३७।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*प्रेमविक्लवः प्रेमपरवशः, "क्लव भय" इति घटाद्यात्मनेपदित्वेन बोपदेवः पठति, "विक्लवो विह्वल" इति निशेष्यनिघ्नवर्गः तत्र विक्लवते कातरो भवतीति क्षीरस्वामी, "भयाद्यभिभूते द्वयमिति" टीकान्तराणि। ततश्च भयेनात्र पारवश्यं लक्ष्यत इति, एवमेव "विक्लवितं तासामि" त्यत्र स्वामिभिः "पारवश्यप्रलपितमिति" व्याख्यातम् (१०।२६।३६)।।३५।। विक्रीडतीति व्याजेन तस्य विनयमेव व्यनक्ति स्म।।३७।।*

● *अनुवाद*–इनमें प्रेम में विह्वल रहने वाले श्रीमान् उद्धव जी प्रमुख हैं।।३५।।

श्रीउद्धव का रूप वर्णन करते हैं, जिनकी कान्ति कालिन्दी की भाँति स्निग्ध श्याम है, जो श्रीकृष्ण की प्रसादी माला तथा गोरोचन–कान्ति पीताम्बर से विभूषित हैं, जो अर्गल के सदृश भुजाओं से शोभित हैं एवं जो पार्षदगण में मुख्य हैं, भक्तिलहरी द्वारा वशीभूत कमल जैसे नयनों वाले उन श्रीउद्धव जी का मैं भजन करता हूँ।।३६।।

श्रीउद्धव जी की भक्ति का वर्णन; श्रीउद्धव जी ने कहा, ब्रह्मा एवं शिव के शासनकर्ता होकर भी जो उग्रसेन के शासन को सिर पर धारण करते हैं, कोटि ब्रह्माण्डों के अधीश्वर होकर भी जिन्होंने समुद्र से थोड़ी सी भूमि–द्वारका की याचना की, विज्ञान–सागर होकर भी जो मुझ अल्पबुद्धि से मन्त्रणा–सलाह पूछते हैं, वे विचित्र–चरित्र श्रीकृष्ण ही हम जैसे लोगों के स्वामी हैं, (उद्धव जी की भक्ति ऐश्वर्य–ज्ञान मिश्रिता है)।।३७।।

अथ अनुगाः–

२३–सर्वदा परिचर्यासु प्रभोरासक्तचेतसः
पुरस्थाश्च व्रजस्थाश्चेत्युदिता अनुगा द्विधा।।३८।।

तत्र पुरस्थाः–

२४–सुचन्द्रो मण्डनः स्तन्वः सुतन्वाद्याः पुरानुगाः।
एषां पार्षदवत्प्रायो रूपालंकरणादयः।।३६।।

सेवा, यथा–

१६–उपरि कनकदण्डं मण्डनो विस्तृणीते
ध्रुवति किल सुचन्द्रश्चामरं चन्द्रचारुम्।
उपहरति सुतन्वः सुष्ठु ताम्बूलबीटी
विदधति परिचर्या साधवो माधवस्य।।४०।।

● *अनुवाद*–अनुग–भक्तों का वर्णन करते हैं; जो श्रीकृष्ण की परिचर्या में सर्वदा आसक्त–चित्त हैं; उन्हें 'अनुग–भक्त' कहते हैं। ये अनुग दास दो प्रकार के हैं; पुरस्थ–अनुग एवं व्रजस्थ–अनुग।।३८।।

पुरस्थ–अनुग सुचन्द्र, मण्डन, स्तन्व, सुतन्व, आदि पुरस्थ (द्वारका में रहने वाले) अनुग–भक्त हैं। इनका रूप एवं अलंकारादि प्रायशः पूर्वोक्त पार्षदों की भाँति है।।३६।।

पुरस्थ–अनुगों की सेवा; मण्डन श्रीकृष्ण के मस्तक के ऊपर सोने के दण्ड वाला छत्र धारण किये रहता है, सुचन्द्र श्वेत चामर झुलाता है, सुतन्व परिपाटि सहित ताम्बूल वीटिका अर्पण करता है; इस प्रकार साधुगण श्रीमाधव की परिचर्या का विधान किया करते हैं।।४०।।

अथ व्रजस्थाः–

२५–रक्तकः पत्रकः पत्री मधुकण्ठो मधुव्रतः।

रसालः सुविलासश्च प्रेमकन्दो मरन्दकः।।४१।।

२६–आनन्दश्चन्द्रहासश्च पयोदो बकुलस्तथा।
रसदः शारदाद्याश्च व्रजस्था अनुगा मताः।।४२।।

● *अनुवाद*–व्रजस्थ–अनुग हैं; रक्तक, पत्रक, पत्री, मधुकण्ठ, मधुव्रत, रसाल, सुविलास, प्रेमकन्द, मरन्द, आनन्द, चन्द्रहास, पयोद, बकुल, रसद एवं शारद आदि।।४१–४२।।

एषां रूपं, यथा–

१७–मणिमयवरमण्डनोज्ज्वलांगान् पुरटजबामधुलिट्पटीरभासः।
निजवपुरनुरूपदिव्यवस्त्रान् व्रजपतिनन्दनकिंकरान्नमामि।।४३।।

सेवा, यथा–

१८–द्रुतं कुरु परिष्कृतं बकुल ! पीतपट्टांशुक
वरैरगुरुभिर्जलं रचय वासितं वारिद !।
रसाल ! परिकल्पयोरगलतादलैर्बीटिकाः
परागपटली गवां दिशमरुन्ध पौरन्दरीम्।।४४।।

● *अनुवाद*–व्रजस्थ–अनुगों के रूप; ये सब मणिमय उत्कृष्ट भूषणों से भूषित रहते हैं, स्वर्ण, जवा, भ्रमर, चन्दन के समान कान्तिवाले हैं, इनके दिव्य वस्त्र भी अपने–अपने देहानुरूप हैं। व्रजपतिनन्दन श्रीकृष्ण के ऐसे सेवक–आदिकों को मैं नमस्कार करता हूँ।।४३।।

व्रजस्थ–अनुगों की सेवा; (माता यशोदा ने कहा), बकुल ! तू शीघ्र पीताम्बर को परिष्कार कर। पयोद ! तुम उत्तम अगरु द्वारा जल को सुवासित कर दो। रसाल ! तू पान पत्र की बीटिका ले आ। यह देखो, पूर्व दिशा में गौओं की पदधूलि जा रही है अर्थात् श्रीकृष्ण के गोचारण से घर लौटने का समय हो गया है, अतः तुम सब उसकी सेवोपयोगी सामग्री शीघ्र तैयार कर दो।।४४।।

२७–व्रजानुगेषु सर्वेषु वरीयान् रक्तको मतः।।४५।।

अस्य रूपं, यथा–

१६–रम्यपिंगपटमंगरोचिषा खर्वितोरुशतपर्विकारुचिम्।
सुष्ठु गोष्ठयुवराजसेविनं रक्तकण्ठमनुयामि रक्तकम्।।४६।।

भक्तिर्यथा–

२०–गिरिवरभृति भर्तृदारकेऽस्मिन् व्रजयुवराजतया गते प्रसिद्धिम्।
शृणु रसद ! सदा पदाभिसेवापटिमरता रतिरुत्तमा ममास्तु।।४७।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*शतपर्विका दूर्वा, रक्तः रागविद्यानिपुणः कण्ठो यस्य तम् अनुयामि अनुगतो भवामि।।४६।। निजेशित्रा कदापि सखिवद्व्यवह्रियमाणं स्वं संकुचद्भावं वीक्ष्य विजने पृच्छन्तं रसदं प्रति स्वयमेवाह गिरीति। रता आविष्टा।।४७।।*

● *अनुवाद*–समस्त व्रजस्थ–अनुगों में रक्तक सर्वश्रेष्ठ है।।४५।।

रक्तक का रूप; यह सुन्दर पीताम्बरधारी है, इसकी रमणीय शरीर कान्ति दूर्वादलकान्ति को भी तिरस्कृत करती है। वसन्तादि रागविद्या में

निपुण कण्ठ है इसका, सम्यक्‌रूप से गोष्ठयुवराज श्रीकृष्ण की सेवा में अनुरक्त इस रक्तक नामक अनुग का मैं अनुगमन करता हूँ।।४६।।

रक्तक की भक्ति; (किसी समय श्रीकृष्ण ने रक्तक के प्रति सखा की तरह व्यवहार किया, उससे रक्तक संकुचित हो गया। इस बात को रसद देख रहा था, उससे जिज्ञासा करने पर रक्तक ने कहा)–अरे रसद ! सुनो, मेरे यह प्रभु श्रीनन्द महाराज के पुत्र गिरिवरधारी व्रज–युवराज होकर प्रसिद्ध हैं। इनके चरणकमलों की सेवा–चातुर्यमयी उत्तमा रति सर्वदा मुझमें विराजमान रहे।।४७।।

२८–धुर्यो धीरश्च वीरश्च त्रिधा पारिषदादिकः।।४८।।

तत्र धुर्य्यः–

२९–कृष्णेऽस्य प्रेयसीवर्गे दासादौ च यथायथम्।
यः प्रीतिं तनुते रक्तः स धुर्य्य इति कीर्त्यते।।४९।।

यथा, २१–देवः सेव्यतया यथा स्फुरति मे देव्यस्तथाऽस्य प्रियाः
सर्वः प्राणसमानतां प्रचिनुते तद्‌भक्तिभाजां गणः।
स्मृत्वा साहसिकं विभ्रेमि तदहं भक्ताभिमानोन्नत
प्रीतिं तत्प्रणते खरेऽप्यविदधद्यः स्वास्थ्यमालम्बते।।५०।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*पारिषदादिक इति। पारिषदा अनुगाश्चेत्युभयोर्गणः इत्यर्थः।।४८।।*

● *अनुवाद*–पारिषद आदि तीन प्रकार के हैं; १. धुर्य्य, २. धीर एवं ३. वीर। (पारिषदादि शब्द से पारिषद एवं अनुग दोनों ही अभिप्रेत हैं अर्थात् पारिषद तथा अनुग; इन दोनों के उक्त तीन भेद हैं)।।४८।।

धुर्य्य–पारिषद; जो भक्तजन श्रीकृष्ण में, कृष्ण–प्रेयसियों में एवं उनके दासादि में यथायोग्य प्रीति विस्तार करते हैं, उन्हें 'धुर्य्य' कहा जाता है।।४९।।

उदाहरण; श्रीकृष्णदेव जैसे हमारे सेव्य रूप में स्फुरित होते हैं, उनकी प्रेयसीदेवीवृन्द भी उसी प्रकार स्फुरित होती हैं एवं कृष्णभक्ति परायण समस्त भक्तगण भी हमारे प्राण तुल्य हैं। किन्तु श्रीकृष्णचरणों के प्रणत–भक्त गर्दभ में भी प्रीति विधान न करके जो सुख में समय यापन करते हैं, उन भक्ताभिमानी गर्वित एवं साहसिक लोगों की स्मृति से भी मुझे भय लगता है।।५०।।

अथ धीरः–

३०–आश्रित्य प्रेयसीमस्य नातिसेवापरोऽपि यः।
तस्य प्रसादपात्रं स्यान्मुख्यं धीरः स उच्यते।।५१।।

यथा, २२–कमपि पृथगनुच्चैर्नाचरामि प्रयत्नं
यदुकुलकमलार्क ! त्वत्प्रसादश्रियेऽपि।
समजनि ननु देव्याः पारिजातार्चितायाः
परिजनलिखनान्तः पातिनी मे यदाख्या।।५२।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*कमपीति। सत्यभामायाः पित्रा तदनुगततया दत्तस्य तद्धात्रीपुत्रस्य, अतएव श्रीकृष्णमनु स्निग्धश्यालायमानस्य नर्मप्रायया सेवया तं सुखयतः कस्यचिद्वचनम्; अत एव रसावहमिदं स्यात्, कमपि कंचिदपि, अनुच्चैरल्पमपि।।५२।।*

● *अनुवाद*—जो श्रीकृष्ण की किसी प्रेयसी के आश्रित होकर अवस्थान करते हैं, किन्तु अत्यन्त सेवा परायण नहीं, तथापि श्रीकृष्ण के मुख्य कृपापात्र हैं, उनको "धीर" कहते हैं।।५१।।

उदाहरण; (सत्यभामा जी की एक धात्री का पुत्र सत्यभामा को अति प्रिय था। विवाह के समय सत्राजित ने सत्यभामा जी के साथ उसे भेज दिया। वह सदा द्वारका के अन्तःपुर में सत्यभामा जी के पास रहता था। वस्तुतः वह श्रीकृष्ण का श्यालक (साला) नहीं था, किन्तु उसी भाव से ही वह श्रीकृष्ण की प्रीति विधान करता था। एक दिन उसने श्रीकृष्ण से कहा)—हे यदुकुलकमल—दिवाकर ! आपकी कृपारूप सम्पत्ति को प्राप्त करने के लिए पृथक् रूप से मैंने कोई भी तनिक यत्न नहीं किया, तथापि पारिजात द्वारा जिनकी (सत्यभामा जी की) आपने अर्चना की, उन देवी सत्यभामा के परिजनवर्ग में मैं विख्यात हूँ।।५२।।

अथ वीरः—

३१—कृपां तस्य समाश्रित्य प्रौढां नान्यमपेक्षते
अतुलां यो वहन् कृष्णे प्रीतिं वीरः स उच्यते।।५३।।

यथा, २३—प्रलम्बरिपुरीश्वरो भवतु का कृतिस्तेन मे
कुमारमकरध्वजादपि न किंचिदास्ते फलम्।
किमन्यदहमुद्धतः प्रभुकृपाकटाक्षश्रिया
प्रियापरिषदग्रिमां न गणयामि भामामपि।।५४।।

चतुर्थे च—(४।२०।२८)—

२४—जगज्जनन्यां जगदीश ! वैशसं
स्यादेव यत् कर्मणि नः समीहितम्।
करोषि फलग्वप्युरु दीनवत्सलः
स्व एव धिष्ण्येऽभिरतस्य किं तया।।५५।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*प्रलम्बेति। अस्य तत्र तत्रान्तःसरसत्वेऽपि प्रणयकौतुकविशेषेणैव बहिर्गर्वस्य व्यंजना ज्ञेया, सर्वथा तद्भावत्वे वैरस्यापत्तेः, एवमुत्तरत्र (३।२।५५) "जगज्जनन्यामित्यादावपि ज्ञेयम्, वक्ष्यते च (३।२।६१) ईर्ष्यालवेनेत्यादि तदेतच्च सत्यभामायाः कंचिदन्तरंगं प्रति रहसि वीरभक्तस्य वचनं, स्पष्टवचनत्वे प्रलम्बरिपुमतिक्रम्य सत्यभामाधिक्यव्यंजनायां श्रीकृष्णस्य लज्जा स्यादिति।।५५।।*

● *अनुवाद*—श्रीकृष्ण की प्रौढ़ (अतिशय) कृपा का आश्रय करके जो और किसी की भी अपेक्षा नहीं रखते एवं जो श्रीकृष्ण में अतुलनीय प्रीति रखते हैं, उन्हें 'वीर' कहते हैं।।५३।।

किसी वीरभक्त ने सत्यभामा के किसी अन्तरंग व्यक्ति के प्रति कहा, प्रलम्ब–शत्रु श्रीबलदेव ईश्वर हैं तो उनसे मेरा क्या प्रयोजन ? मकरध्वज (प्रद्युम्न) से भी हमें कुछ फल सिद्धि नहीं है। और की बात क्या ? प्रभु श्रीकृष्ण की कृपाकटाक्ष सम्पत्ति से उद्धत होकर मैं श्रीकृष्ण–प्रियाओं में अग्रगण्या सत्यभामा को भी कुछ नहीं गिनता। (यहाँ प्रणय–कौतुक विशेष के कारण बाहरी गर्व की व्यंजना है–यह वर्ग वास्तविक नहीं है वरना यह रस न होकर विरस हो जायेगा।।५४।।

श्रीमद्भागवत (४।२०।२८) में कहा गया है, महाराज पृथु ने कहा, हे जगदीश ! जगज्जननी लक्ष्मी जी के हृदय में मेरे प्रति विरोध भाव होने की सम्भावना है ही, क्योंकि आपके चरणों की जिस सेवा में वह अनुरक्त रहती हैं, उसी सेवा के लिए मैं लालायित हो रहा हूँ, किन्तु आप तो दीन–वत्सल हैं, उनके तुच्छ कर्मों को भी बहुत करके मानते हैं, इसलिए आप मेरा ही पक्ष लेंगे, फिर एक बात और भी है–आप जब अपने स्वरूप में ही अवस्थित हैं, रमण करते हैं, आपको भला, लक्ष्मी जी से क्या लेना–देना ?।।५५।।

३२–एतेषु तस्य दासेषु त्रिविधेष्वाश्रितादिषु।
नित्यसिद्धाश्च सिद्धाश्च साधका अपि कीर्तिताः।।५६।।

अथ उद्दीपनाः–

३३–अनुग्रहस्य संप्राप्तिस्तस्याङ्घ्रिरजसां तथा।
भुक्तावशिष्टभक्तादेरपि तद्भक्तसंगतिः।
इत्यादयो विभावाः स्युरेष्वसाधारणा मताः।।५७।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*एतेष्विति। तद्वदधिकृतेष्वपि भेदा इमे ज्ञेयाः, शान्तादिष्वपि।।५६।। अनुग्रहसंप्राप्त्यादीनामुद्दीपनत्वं वत्सलेषु न संभवत्येव, समयभेदेनकुत्रचिदन्यत्रापीत्यसाधारणत्वं ज्ञेयं, तद्भक्तिसंगतिस्तु विशेषविवक्षयैव गणिता।।५७।।*

● *अनुवाद*–उक्त सब आश्रितादि दास अर्थात् आश्रित, पारिषद एवं अनुग इन तीनों प्रकार के कृष्णदासों में नित्यसिद्ध, सिद्ध एवं साधक यह तीन प्रकार का भेद है।।५६।।

(श्रीमुकुन्ददास गोस्वामिपाद ने टीका में लिखा है, जो अधिकृतदास हैं, वे सब नित्यसिद्ध हैं। ब्रह्मा, रुद्र एवं इन्द्रादि अधिकृत–भक्त हैं। ये सब नित्य सिद्ध हैं। किन्तु जब जीवकोटि के ब्रह्मा–रुद्र आदि होते हैं वे साधक–सिद्ध तथा साधन–सिद्ध होते हैं।)

सम्भ्रम–प्रीतिरस के असाधारण उद्दीपन; श्रीकृष्ण के अनुग्रह की संप्राप्ति, श्रीकृष्ण–भुक्तावशेष (प्रसाद) प्राप्त करने वाले भक्त का भुक्तावशेष प्राप्त करना तथा कृष्णभक्त-संग आदि सम्भ्रम प्रीतरस के असाधारण उद्दीपन-विभाव है।।५७।।

तत्रानुग्रहसंप्राप्तिर्यथा–

२५–कृष्णस्य पश्यत कृपां कृपाद्याः ! कृपणे मयि।
ध्येयोऽसौ मिथने हस्त दृशोरध्वानमभ्यगात्।।५८।।

३४–मुरलीशृंगयोः स्वानः स्मितपूर्वावलोकनम्।
गुणोत्कर्षश्रुतिः पद्मपदांकनवनीरदाः।
तदंगसौरभाद्यास्तु सर्वैः साधारणा मताः।।५६।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*कृष्णस्येति भीष्मवचनम्।।५८।। स्मितेत्यत्र गुणेत्यत्र पदांकेत्यत्र च तदीयत्वं गम्यम्।।५६।।*

● *अनुवाद*–श्रीभीष्मदेव ने कहा था, हे कृपाचार्य आदि द्विजगण ! मुझ जैसे दीन व्यक्ति के प्रति श्रीकृष्ण की कृपा का सन्दर्शन करो। ये योगियों के ध्येय हैं, अहो ! मेरे मरण पर ये दया करके मेरे नैनों के सामने उपस्थित हुए हैं (यह अनुग्रह संप्राप्ति का उदाहरण है)।।५८।।

साधारण उद्दीपन मुरली एवं शृंग की ध्वनि, श्रीकृष्ण की हास्य युक्त दृष्टि, श्रीकृष्ण का गुणोत्कर्ष श्रवण, पद्मादि, श्रीकृष्ण के चरणचिह्न, नवमेघ एवं श्रीकृष्ण के अंगसौरभादि सब के पक्ष में साधारण उद्दीपन हैं।।५६।।

तत्र मुरलीस्वनो यथा विदग्धमाधवे–

२६–सोत्कण्ठं मुरलीकलापरिमलानाकर्ण्य घूर्णत्तनो–
रेतस्याक्षिसहस्रतः सुरपतेरश्रूणि सस्नुर्भुवि।
चित्रं वारिधरान् विनाऽपि तरसा यैरद्य धारामयै–
र्दूरात्पश्यत देवमातृकम्भूद् वृन्दाटवीमण्डलम्।।६०।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका– *देवमातृकं वृष्टयम्बुपालितम्।।६०।।*

● *अनुवाद*–उदाहरण, (श्रीकृष्ण की मुरली–ध्वनि सुनकर इन्द्र में अश्रु, पुलक आदि विकार उत्पन्न हुए देखकर श्रीकृष्णलीला दर्शन के लिए आए हुए देवतागण एक दूसरे के प्रति कहने लगे)–उत्कण्ठा सहित मुरली की अमृतमयी ध्वनि को सुनकर घूर्णित–गात्र इस इन्द्र के हजार नेत्रों से अश्रु प्रवाहित होकर पृथ्वी पर गिर रहे हैं, कैसा आश्चर्य है ? मेघों के बिना भी इस धारामय अश्रुओं से आज वृन्दावन–मण्डल वर्षा से आप्लावित हो गया।।६०।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–अनेक लोगों के पक्ष में जो उद्दीपन होता है, उसको साधारण–उद्दीपन और जो केवल एक पक्ष में उद्दीपन होता है, उसे असाधारण–उद्दीपन कहते हैं। पूर्वोल्लिखित श्रीकृष्ण के अनुग्रहादि संप्राप्ति हैं केवल प्रीतरस के उद्दीपन, वत्सलादिरस के उद्दीपन नहीं है। अतः उनको असधारण रस कहा गया है। मुरली–शृंग, ध्वनि प्रीतरस का भी उद्दीपन है और वत्सलादि अन्यान्य रसों का भी उद्दीपन है। इसलिए उन्हें साधारण–उद्दीपन कहा गया है।

अथ अनुभावाः–

३५–सर्वतः स्वनियोगानामाधिक्येन परिग्रहः।
ईर्ष्यालवेन चास्पृष्टा मैत्री तत्प्रणते जने।
तन्निष्ठताद्याः शीताः स्युरेष्वसाधारणाः क्रियाः।।६१।।

तत्र स्वनियोगस्य सर्वत आधिक्यं यथा–

२७–अंगस्तम्भारम्भमुत्तुंगयन्तं प्रेमानन्दं दारुको नाभ्यनन्दत्।
कंसारातेर्बीजने येन साक्षादक्षोदीयान्तरायो व्यधायि।।६२।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*तन्निष्ठता प्रीतिमात्रनिष्ठता।।६१।। अंगस्तम्भेति। प्रेमानन्दं स्तम्भारम्भमुत्तुंगयन्तं सन्तं नाभ्यनन्ददित्यन्वयः, अयमर्थः प्रेमा तावद् द्विधा विशेषणभाक् स्तम्भादिना; आनुकूल्येच्छया च, तत्र दासादीनानुकूल्येच्छैवातिहृद्या सेवारूपस्वपुरुषार्थसम्पादकत्वात् स्तम्भादिकं त्वहृद्यमेव तद्विघातकत्वात्, तस्मात्स्तम्भकरत्वांशेनैव तं नाभ्यनन्दत् किंत्वानुकूल्यकरत्वेनैवाभ्यनन्ददिति "सविशेषणे विधिनिषेधौ विशेषणमुपसंक्रामतः सति विशेष्ये बाधे" इति न्यायेन, आरम्भः आटोपः, अंगस्तम्भासंगमिति वा पाठः।।६२।।*

● *अनुवाद*–सम्भ्रम प्रीतरस के *असाधारण अनुभाव* इस प्रकार हैं; स्वनियोग का अधिकतर परिग्रह अर्थात् प्रभु द्वारा नियोजित सेवाकार्य में सर्वतोभाव से अधिक रूप से संलग्न रहना, परिचर्या में एक दूसरे का उत्कर्ष देखते हुए भी परस्पर ईर्ष्या का लेश–मात्र न होना, श्रीकृष्ण–दासों के साथ मैत्री तथा दास्य–मात्र में निष्ठा इत्यादि सम्भ्रम–प्रीतरस के असाधारण अनुभाव हैं।।६१।।

स्वनियोग के अधिकरूप परिग्रह का दृष्टान्त इस प्रकार है; दारुक श्रीकृष्ण को चामर झुलाने की सेवा में नियुक्त था, उस समय प्रेमानन्द उदय के कारण उसके समस्त अंग स्तम्भित हो गये अर्थात् चामर झुलाने की क्रिया बन्द हो गयी। कृष्ण–सेवा में अन्तराय आने से उस प्रेमानन्द का दारुक ने आदर नहीं किया।।६२।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–प्रेम का कार्य दो प्रकार का है; एक तो प्रेम कार्य में आनन्द ज्ञापक स्तम्भादि उदित हो उठते हैं। दूसरे, अभीष्ट सेवा–इच्छा। दास्यभाव के भक्तों की अभीष्ट सेवा–इच्छा। दास्यभाव के भक्तों का अभीष्ट सेवा–भावना ही हार्द है। सेवा में विघ्न डालने वाले आनन्द ज्ञापक स्तम्भादि को वे कभी नहीं चाहते, बल्कि उनका अनादर करते हैं, उनके प्रति महा क्रोध करते हैं–'निज प्रेमानन्दे कृष्ण–सेवानन्द बाधे। से आनन्दे प्रति भक्तेर हय महाक्रोधे।' श्रीचैतन्यचरितामृत।।१।४।१७१।।

३६–उद्भास्वराः पुरोक्ता ये तथास्य सुहृदादरः
विरागाद्याश्च ये शीताः प्रोक्ताः साधारणास्तु ते।।६३।।

तत्र नृत्यं यथा श्रीदशमे (१०।८६।३८)–

२८–श्रुतदेवोऽच्युतं प्राप्तं स्वगृहाज्जनको यथा।
नत्वा मुनीश्च संहृष्टो धुन्वन्वासो ननर्त ह।।६४।।

यथा वा–

२९–त्वं कलासु विमुखोऽपि नर्तनं प्रेमनाट्यगुरुणाऽपि पाठितः।
यद्विचित्रगतिचर्य्ययाञ्चितश्चित्रयस्यहह चारणानपि।।६५।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*त्वं कलासु विमुखोऽपि यद्विचित्रगतिचर्ययायञ्चितः सन्नहह चारणानपि चित्रयसि, तत्प्रेमनाट्यगुरुणैव नर्तनं पाठित इत्यर्थः, चारणाश्च नर्तक सदृशा इति तदभेदेनोक्तिः।।६५।।*

● *अनुवाद*—पूर्व कथित नृत्य—विलुण्ठनादि उद्भास्वर, श्रीकृष्ण के सुहृदों के प्रति आदर तथा विरागादि शीत अर्थात् सुखमय भावसमूह सम्भ्रम प्रीतरस के साधारण अनुभाव है।।६३।।

उदाहरण; श्रीमद्भागवत (१०।८६।३८) में कहा गया है कि श्रुतदेव नामक ब्राह्मण ने मुनियों के साथ श्रीकृष्ण को अपने घर आया देखकर जनक महाराज की तरह अतिशय प्रेमपूर्वक उनको प्रणाम किया और आनन्दित चित्त हो दोनों हाथों से दुपट्टा फहराते हुए नाचने लगा।।६४।।

अथवा, कलाओं से विमुख होने पर भी आज जो विचित्र प्रकार की गतिविधि से नर्तकों को भी आश्चर्यान्वित कर रहे हो, ऐसा लगता है कि प्रेमरूप नाट्यगुरु ने ही तुमको नाचना सिखला दिया है।।६५।।

अथ सात्त्विकाः—

३७—स्तम्भाद्याः सात्त्विकाः सर्वे प्रीतादित्रितये मताः।।६६।।

३०—गोकुलेन्द्रगुणगानरसेन स्तम्भमद्भुतमसौ भजमानः।
पश्य भक्तिरसमण्डपमूलस्तम्भतां वहति वैष्णववर्य्यः।।६७।।

श्रीदशमे (१०।८५।३८)—

३१—स इन्द्रसेनो भगवत्पदाम्बुजं बिभ्रन् मुहुः प्रेमविभिन्नया धिया।
उवाच हानन्दजलाकुलेक्षणः प्रहृष्टरोमा नृप ! गद्गदाक्षरम्।।६८।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*इन्द्रसेनो बलिः।।६८।।*

● *अनुवाद*—प्रीतादि तीनों प्रकार के रस में स्तम्भादि समस्त सात्त्विक—भाव प्रकाशित होते हैं।।६६।।

उदाहरण-देखो, ये वैष्णव श्रेष्ठ श्रीकृष्ण के गुणगान रस में अद्भुत स्तम्भ को प्राप्त होकर भक्तिरस मण्डप की मूल स्तम्भता को धारण कर रहे हैं।।६७।।

श्रीमद्भागवत (१०।८५।३८) में श्रीशुकदेव जी ने कहा है, हे राजन् ! असुरराज बलि श्रीभगवान् के चरण—कमलों को बार—बार अपने हृदय और मस्तक पर धारण करने लगे और प्रेम से उनका चित्त व्याकुल हो उठा, उनके नेत्रों में आनन्द के अश्रु भर आये और गद्गदकण्ठ से कहने लगे—।।६८।।

अथ व्यभिचारिणः—

३८—हर्षो गर्वो धृतिश्चात्र निर्वेदोऽथ विषण्णता।
दैन्यं चिन्ता स्मृतिः शंका मतिरौत्सुक्यचापले।।६९।।
३९—वितर्कावेगह्रीजाड्यमोहोन्मादावहित्थिकाः।
बोधः स्वप्नः क्लमो व्याधिर्मृतिश्च व्यभिचारिणः।।७०।।

● *अनुवाद*—सम्भ्रम प्रीतरस में हर्ष, गर्व, धृति, निर्वेद, विषाद, दैन्य, चिन्ता, स्मृति, शंका, मति, औत्सुक्य, चापल, वितर्क, आवेग, लज्जा, जाड्य,

मोह, उन्माद, अवहित्था, बोध, स्वप्न, क्लम, व्याधि एवं मति–ये चौबीस व्यभिचारी भाव हैं।।६६–७०।।

४०–इतरेषां मदादीनां नातिपोषकता भवेत्।
योगे त्रयः स्युर्धृत्याद्या अयोगे तु क्लमादयः।
उभयत्र परे शेषा निर्वेदाद्याः सतां मताः।।७१।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*मदादीनां मदश्रम–त्रासापस्मारालस्यौग्र्यामर्षासूया–निद्राणां, तत्र मदस्य पोषकता नास्त्येव मधुपानानंगविकारजतया द्विविधत्वेनाप्ययोग्यत्वात्, श्रमस्य तु कथंचिज्जातस्य सेवोत्कण्ठापोषकत्वात्कदाचिद्भवत्यपि न पुनरालस्यजन्माऽपि स्याद्, अत्र त्रासादयस्तद्वैरियोगाज्जाताश्चेत्तर्हि पोषकाश्च भवन्तीति मनसि कृत्याह–नातीति। एवं प्रेय–आदिष्वपि विवेचनीयम्।।७१।।*

● *अनुवाद*–उपर्युक्त चौबीस व्यभिचारि भावों के अतिरिक्त मदादि (मद, श्रम, त्रास, अपस्मार, आलस्य, औग्र्य, अमर्ष, असूया तथा निद्रा) नौ व्यभिचारि भावों का सम्भ्रम–प्रीतरस में अतिशय पोशक नहीं है। चौबीस भावों में श्रीकृष्ण के साथ मिलने में हर्ष, गर्व एवं धृति–ये तीन भाव और अयोग में अर्थात् श्रीकृष्ण के विच्छेद समय में क्लम, व्याधि एवं मृति–ये तीन भाव इस रस में प्रकटित होते हैं। निर्वेदादि शेष के अठारह व्यभिचारिभाव मिलन तथा अमिलन–सब समय प्रकाशित होते हैं।।७१।।

तत्र हर्षो यथा प्रथमे (१।११।५)–

३२–प्रीत्युत्फुल्लमुखाः प्रोचुर्हर्षगद्गदया गिरा।
पितरं सर्वसुहृदमवितारमिवार्भकाः।।७२।।

यथा वा, ३३–हरिमवलोक्य पुरो भुवि पतितो दण्डप्रणाम–शतकामः।
प्रमदविमुग्धो नृपतिः पुनरुत्थानं विसस्मार।।७३।।

● *अनुवाद*–श्रीमद्भागवत (१।११।५) में कृष्ण–मिलन काल के हर्ष का उदाहरण इस प्रकार है–श्रीकृष्ण हस्तिनापुर से जब द्वारका लौट आये तो द्वारका के सब लोग, बालक जैसे पिता के साथ बातचीत करता है, उसी प्रकार प्रफुल्लित–मुख होकर हर्षपूर्वक गद्गद वचनों से सर्वलोक हितकारी एवं रक्षक उन श्रीभगवान् से बातचीत करने लगे।।७२।।

और भी कहा गया है; श्रीकृष्ण को देखकर राजा उनको सौ–सौ बार प्रणाम करने के लिए पृथ्वी पर गिर गया, किन्तु आनन्द में ऐसा विमुग्ध हुआ कि पृथ्वी से उठना ही भूल गया।।७३।।

क्लमो यथा स्कान्दे–

३४–अशोषयन्मनस्तस्य म्लापयन्मुखपंकजम्।
आधिस्त्वद्विरहे देव ! ग्रीष्मे सर इवांशुमान्।।७४।।

निर्वेदो यथा–

३५–धन्याः स्फुरन्ति तव सूर्य ! कराः सहस्रं
ये सर्वदा मथुरा[illegible] पदवीः स्पृशन्ति।

बन्ध्या दृशां दशशती ध्रियते ममासौ
दूरे मुहूर्त्तमपि या न विलोकते तम्।।७५।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*ध्रियते अवतिष्ठते, दूरेऽपि मुहूर्त्तमपीत्युभयत्रान्वयः।।७५।।*

● *अनुवाद*–अमिलन समय में ग्लानि का उदाहरण स्कन्दपुराण में इस प्रकार है; हे देव ! ग्रीष्मकाल में सूर्य जैसे सरोवर को सुखा डालता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण के विरह की मन–पीड़ा ने उसके मन और मुखकमल को सुखा दिया है।।७४।।

निर्वेद का उदाहरण; इन्द्र ने कहा, हे सूर्य ! तुम्हारी स्फूर्ति पाने वाली हजारों किरणें धन्य हैं, क्योंकि ये सर्वदा श्रीयदुपति के चरणकमलों पर पतित होती हैं उनका स्पर्श करती हैं। किन्तु मेरे हजार नेत्र व्यर्थ हैं, ये दूर से एक क्षण के लिए भी उन श्रीयदुपति के दर्शन प्राप्त नहीं कर सकते।।७५।।

अथ स्थायी–

४१–सम्भ्रमः प्रभुताज्ञानात्कम्पश्चेतसि सादरः।
अनेनैक्यं गता प्रीतिः संभ्रमप्रीतिरुच्यते।
एषा रसेऽत्र कथिता स्थायिभावतया बुधैः।।७६।।
४२–आश्रितादेः पुरैवोक्तः प्रकारो रतिजन्मनि।
तत्र पारिषदादेस्तु हेतुः संस्कार एव हि।
संस्कारोद्बोधकास्तस्य दर्शनश्रवणादयः।।७७।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*कम्पोऽत्र केन कथं किं कुर्यामित्यस्थैर्य्यम्।।७६।। पुरैवेति। भावसामान्यप्रकरणे (१।३।६) "साधनाभिनिवेशन" इत्यादिना।।७७।।*

● *अनुवाद*–प्रभुता–ज्ञान–जनित सादर सम्भ्रम अर्थात् श्रीकृष्ण मेरे आदरणीय प्रभु हैं–इस प्रकार के ज्ञान से पैदा हुआ आदरमय संकोच, चित्त का कम्पन अर्थात् किस वस्तु द्वारा कैसे मैं अपने प्रभु की सेवा करूँ, यह सोच कर चित्त की जो अस्थिरता है, इन दोनों के साथ सादर एवं सकम्प सम्भ्रम के साथ एकता प्राप्त श्रीकृष्ण विषयक प्रीति को *"संभ्रम–प्रीति"* कहते हैं। पण्डितगण इस सम्भ्रम–प्रीति को ही सम्भ्रम प्रीतरस का *स्थायी–भाव* कहते हैं।।७६।।

आश्रित–दास भक्तों में रति के उत्पन्न की रीति का पहले (१।३।६–७) वर्णन कर आये हैं। पारिषद भक्तों की रति का कारण अनादि सिद्ध संस्कार ही है। श्रीकृष्ण के दर्शन श्रवणादि से उनके प्राचीन या अनादि–सिद्ध संस्कारों का केवल उद्बुद्ध होना मात्र है।।७७।।

४३–एषां तु संभ्रमप्रीतिः प्राप्नुवत्युत्तरोत्तराम्।
वृद्धिं प्रेमा ततः स्नेहस्ततो राग इति त्रिधा।।७८।।

तत्र संभ्रमप्रीतिर्यथा श्रीदशमे (१०।३८।६)–

३६–ममाद्यामंगलं नष्टं फलवांश्चैष मे भवः।
यन्नमस्ये भगवतो योगिध्येयाङ्घ्रिपंकजम्।।७९।।

यथा वा, ३७–कालिन्दनन्दनीकूलकदम्बवनवल्लभम्।
कदा नमस्करिष्यामि गोपरूपं तमीश्वरम्।।८०।।

● *अनुवाद*–यह सम्भ्रम–प्रीति उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होकर पहले प्रेम, उसके बाद स्नेह तथा फिर राग इन तीन प्रकारों से अभिव्यक्त होती है; अर्थात् यह प्रीति केवल राग तक वर्द्धित होती है।।७८।।

जैसे कि श्रीमद्भागवत (१०।३८।६) में कहा गया है; श्रीअक्रूर ने कहा, मैं भगवद्दर्शन के लिए आज वृन्दावन चल रहा हूँ, अतः मेरे समस्त अमंगल नष्ट हो गये हैं और मेरा जन्म सफल हो गया है, क्योंकि योगियों के ध्येय श्रीभगवान् के चरण–कमलों में आज मैं प्रणाम करूँगा।।७६।।

और भी कहा है; कालिन्दी–किनारे के कदम्बवन–विलासी उन गोप–रूप भगवान् श्रीकृष्ण को मैं नमस्कार करने का कब सुअवसर प्राप्त करूँगा?।।८०।।

अथ प्रेमा–

४४–ह्रासशंकाच्युता बद्धमूला प्रेमेयमुच्यते।
अस्यानुभावाः कथितास्तत्र व्यसनितादयः।।८१।।

यथा, ३८–अणिमादिसौख्यवीचीमवीचिदुःखप्रवाहं वा
नय मां विकृतिर्न हि मे त्वत्पदकमलावलम्बस्य।।८२।।

यथा वा ३९–रुषा ज्वरितबुद्धिना भृगुसुतेन शप्तोऽप्यल
मया ह्रतजगत्त्रयोऽप्यतनुकैतवं तन्वता।
विनिन्द्य कृतबन्धनोऽत्युरगराजपाशैर्बला–
दरज्यत स मय्यहो द्विगुणमेव वैरोचनिः।।८३।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*ह्रासेति। सम्भ्रमप्रीतिः बद्धमूला; अतएव ह्रासशंकाच्युता।।८१।। अणिमादीति। दण्डप्रसादयोरनन्तरं श्रीबलिवचनम्, अवीचिर्नरकविशेषः।।८२।। रुषेति। बलिसदनादागमनान्तरमुद्धवं प्रति श्रीकृष्णवचनम्।।८३।।*

● *अनुवाद*–यह सम्भ्रम–प्रीति ह्रास की शंका से रहित होकर बद्धमूल *'प्रेम'* कहलाती है। इसके व्यसनितादि (दुःखादि) अनुभाव हैं।।८१।।

उदाहरण; (दण्ड एवं अनुग्रह प्राप्त करने के उपरान्त बलिराज ने श्रीभगवान् से कहा)–प्रभो ! मैंने जब आपके चरणकमलों का अवलम्बन ले लिया है, तब आप मुझे अणिमादि सुख समुद्र तरंगों में डाल दें अथवा अवीचि नामक नरक के ही दुःखप्रवाह में डाल दें, इसमें मुझे कुछ भी क्षोभ नहीं होगा। (यहाँ श्रीबलिराज की ऐसी उन्नत प्रीति दिखाई गई है, जिसमें दुःखादि की आशंका में ह्रास की सम्भावना नहीं है)।।८२।।

और भी कहा गया है–(बलिराज के घर से लौट आने पर श्रीभगवान् ने उद्धवजी से कहा)–हे उद्धव ! विरोचन–नन्दन बलि के गुणों की महिमा और क्या कहूँ ? क्रोध द्वारा ज्वलित–बुद्धि भृगुनन्दन शुक्राचार्य द्वारा अभिशाप मिलने पर भी, वामनरूप से छलपूर्वक मैंने उससे त्रिभुवन का राज्य हरण कर लिया और वह मेरी माँगी हुई वस्तु को देने में असमर्थ होकर अपनी ही निन्दा

करने लगा। मैंने बलपूर्वक उसे नागपाश में बाँध दिया, फिर भी बलिराज ने मेरे प्रति दुगनी प्रीति ही प्रकाशित की।।८३।।

अथ स्नेहः–

४५–सान्द्रश्चित्तद्रवं कुर्वन् प्रेमा स्नेह इतीर्यते।
क्षणिकस्यापि नेह स्याद्विश्लेषस्य सहिष्णुता।।८४।।

यथा ४०–दम्भेन वाष्पाम्बुझरस्य
केशवं वीक्ष्य द्रवच्चित्तमसुस्रुवत्तव।
इत्युच्चकैर्धारयतो विचित्तता
चित्रा न ते दारुक ! दारुकल्पता।।८५।।

यथा वा, ४१–पत्नीं रत्ननिधेः परामुपहरन् पूरेण वाष्पम्भसां
रज्यन्मंजुलकण्ठगर्भलुठितस्तोत्राक्षरोपक्रमः।
चुम्बन् फुल्लकदम्बडम्बुरतुलामंगैः समीक्ष्याच्युत
स्तब्धोऽप्यभ्यधिकां श्रियं प्रणमतां वृन्दाद्दघारोद्धवः।।८६।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*रज्यन् स्नेहजनित स्वरविशेषमाधुर्यं विभ्रम् तथा स्वभावत एव मंजुलस्तदगीर्माधुरी मनोहरस्तादृशो यः कण्ठः तस्य यो गर्भो मध्यभागस्तत्रैव लुठित इतस्ततः स्खलन्नेव भ्रमन् स्तोत्राक्षराणामुपक्रमो यत्र सः।।८६।।*

● *अनुवाद*–प्रेम गाढ़ता प्राप्त कर जब चित्त को द्रवीभूत करता है, तब उसे *"स्नेह"* कहते हैं। इस स्नेह में क्षणकाल का भी विच्छेद सहन नहीं हाता।।८४।।

उदाहरण; हे दारुक ! श्रीकृष्ण के दर्शन से तुम्हारे नेत्रों से जो जलधारा प्रवाहित हुई थी, वह वास्तव में तुम्हारा चित्त ही द्रवीभूत होकर बह निकला था। इसलिए तुम उस समय अत्यधिक विचित्तता (अचेतनता) को प्राप्त हुए थे। अतएव तुम्हारी यह दारुकल्पता (लकड़ी की तरह स्तम्भता) कोई आश्चर्यजनक नहीं है।।८५।।

और भी कहा है; श्रीकृष्ण का दर्शन कर श्रीउद्धव वाष्पजल (अश्रुजल)–प्रवाह द्वारा समुद्र की श्रेष्ठ पत्नी (नदी) का उत्पादन पूर्वक स्तवपाठ करने के लिए स्नेहजनित स्वर–विशेष का माधुर्य धारण करने लगे एवं स्वभावतः मंजुल कण्ठ से स्तोत्राक्षर आरम्भ करते ही उनका स्वर भंग हो गया, सर्वागों में प्रफुल्लित कदम्ब की भाँति उपमा धारण करने लगे अर्थात् पुलकित हो उठे। वे स्तब्ध हो गये परन्तु भक्तवृन्दों से अधिक सुशोभत हो उठे।।८६।।

अथ रागः–

४६–स्नेहः स रागो येन स्यात् सुखं दुःखमपि स्फुटम्।
तत्सम्बन्धलवेऽप्यत्र प्रीतिः प्राणव्ययैरपि।।८७।।

यथा, ४२–गुरुरपि भुजगाद्भीस्तक्षकात् प्राज्यराज्य–
च्युतिरतिशायिनी च प्रायचर्या च गुर्वी।
अतनुत मुदमुच्चैः कृष्णलीलासुधान्त–
विहरणसचिवत्वादीरयस्य सज्ञः।।८८।।

यथा वा ४३—केशवस्य करुणालवोऽपि चेद्वाडवोऽपि किल षाडबो मम।
अस्य यद्यदयता कुशस्थली पूर्णसिद्धिरपि मे कुशस्थली।।८६।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*स्नेह एव रागः स्यात्, कीदृशः सन्, तस्य श्रीकृष्णस्य साक्षात्कारेण वा तत्तुल्यस्फुरणेन वा, कृपालाभेन वा यः सम्बन्धविशेषस्तदनन्तरंगता—लाभस्तस्य लेशेऽपि जाते येन स्नेहेन दुःखमपि सुखं स्फुटं स्यात्, सुखतया प्रतिभातीत्यर्थः, तत्र च सति येन प्राणव्ययैः नाशपर्यन्तैरपि प्राणस्य क्षयैः प्रीतिस्तदानुकूल्यं क्रियत इत्यर्थः, तत्सम्बन्धाभावे तु सुखमपि दुःखं स्यादिति विशेषः, तदेव तादृशः सन्नित्यर्थः।।८७।। अत्र तादृशस्फुरणेनोदाहरन् साक्षात्कारेण कैमुत्यं व्यंजयति गुरुरिति। प्राज्यं प्रचुरं, प्रायचर्या। प्राणान्तमनशनव्रतम्, औत्तरेयस्य श्रीपरीक्षितः।।८८।। अत्र तत्सम्बन्धाभावे तूदाहरणं ज्ञेयम्, अथ कृपालाभालाभाभ्यामुदाहरति। केशवस्येति। षाडवः पानकविशेषः, कुशस्थली द्वारका।।८६।।*

● *अनुवाद*—स्नेह गाढ़ता प्राप्त कर जब ऐसी अवस्था को प्राप्त करता है कि जिसमें दुःख भी (श्रीकृष्ण—सम्बन्ध लेश के कारण अर्थात् कृष्ण—साक्षात्कार कृष्ण—तुल्य स्फुरण अथवा कृष्ण—कृपा प्राप्त होने पर) परम सुखमय होकर प्रतीत होता है (तथा श्रीकृष्ण सम्बन्ध के अभाव में सुख भी परम दुःख प्रतीत होता है) और प्रयोजन होने पर अपने प्राण—विनाश के द्वारा भी श्रीकृष्ण की प्रीति विधान की जाती है, उस अवस्था के स्नेह को "राग" कहा जाता है।।८७।।

उदाहरण; तक्षक नाग का महान् भय, ससागरा पृथ्वी के साम्राज्य से विच्युत हो जाना, मरण—पर्यन्त अनशन व्रत, ये सब परम दुःखजनक होते हुए भी कृष्णलीला सुधा—सागर में विहार करने के कारण उत्तरानन्दन श्रीपरीक्षित् जी को अत्यधिक रूप से आनन्द प्रदान करने वाले हो गये (वे सब दुःखजनक होते हुए भी) श्रीकृष्णकथा—श्रवण श्रीपरीक्षित् जी का मन्त्री अथवा सहायक हो गया और श्रीकृष्ण स्फूर्ति के कारण वे सब आनन्दजनक ही हो गये।।८८।।

और भी कहा गया है; मेरे प्रति यदि श्रीकृष्ण की लेशमात्र भी करुणा हो, तो वडवानल भी मेरे लिए पानक (ठण्डाई) के समान होगी, और उनकी दया न होने पर इस ऐश्वर्यपूर्ण कुशस्थली (द्वारका) का वास मेरे लिए कुशस्थली—कुशाकीर्ण भूमि के समान होगा।।८६।।

४७—प्राय आद्यद्वये प्रेमा स्नेहः पारिषदेप्यसौ।
परीक्षिति भवेद्रागो दारुके च तथोद्धवे।।६०।।
४८—व्रजानुगेष्वनेकेषु रक्तकप्रमुखेषु च।
अस्मिन्नभ्युदिते भावः प्रायः स्यात्सख्यलेशभाक्।।६१।।

यथा, ४४—शुद्धान्तान्मिलितं वाष्परुद्धवागुद्धवो हरिम्।
किंचित् कुंचितनेत्रान्तः स्वान्तेन परिषस्वजे।।६२।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*तत्राधिकृताश्रितपार्षदानुगेषु व्यवस्थामाह—प्राय आद्यद्वय इति। प्रायोग्रहणं (भा० १।११।६) "यर्ह्यम्बुजाक्षापससार भो भवानि"—*

त्यादिद्वारकावासिवचने रागस्यापि स्पर्शदर्शनात्, परीक्षितीति (भा० १० ।१ ।१३) 'नैषातिदुस्सहा क्षुन्मामि' त्यादि तद्वाक्यात्, दारुके च यथा (भा० ११ ।३० ।४३)–' 'अपश्यतस्ते चरणाम्बुजं प्रभो ! दृष्टिः प्रणष्टे'' त्यादि तद्वाक्यात्, उद्धवे च यथा (भा० ११ ।२६ ।४६)–''सुदुस्त्यजस्नेहवियोगकातर'' इत्यादेः; साधारणेष्वप्यनुगेषु प्राय ईदृश एवेत्यभिप्रेत्य, तद्विशेषेषु विशेषमाह–व्रजानुगेष्विति। अस्मिन्नभ्युदिते भावः प्रीत्याख्योऽपि प्रायः स्यादिति प्रणयांशमयत्वे सतीत्यर्थः।।६०–६१।। अत्र केषुचिद् व्रजानुगेषु सम्भवत्यपि प्रणयांशे ''त्वं मे भृत्यः सुहृत् सखे'' ति प्रसिद्धिमुपलक्ष्य श्रीमदुद्धवमुदाहरति–शुद्धान्तादिति। शुद्धान्ताद् अन्तःपुरात्।।६२।।

● *अनुवाद*–(सम्भ्रमप्रीतरस के आश्रयालम्बन चार प्रकार के (३ ।१ ।१८ में) कहे जा चुके हैं।–अधिकृतदास, आश्रितदास, पारिषददास तथा अनुगदास–इनमें) प्रायशः पहले दो अर्थात् अधिकृतदासों एवं आश्रितदासों में 'प्रेम' प्रकटित रहता है। समस्त पारिषददासों में 'स्नेह' तथा परीक्षित्, दारुक एवं उद्धव में ''राग'' प्रगटित हुआ करता है। रक्तक–प्रमुख अनेक व्रजानुग–दासों में 'राग' प्रकटित होता है। उनमें राग उदित होने पर प्रायशः उसमें सख्यांश भी मिश्रित रहता है।।६०–६१।।

उदाहरण; अन्तःपुर से निकलते हुए श्रीकृष्ण के दर्शन कर उद्धव जी का कष्ठ वाष्प से अवरुद्ध हो गया और वे कुछ भी न बोल सके, फिर भी उन्होंने नेत्रों को कुछ मूंदकर अन्तःकरण द्वारा श्रीकृष्ण का आलिंगन कर लिया।।६२।।

▲ हरिकृपाबोधिनी टीका–*श्रीजीव गोस्वामीपाद ने कहा है श्रीमद्भागवत (१ ।११ ।६) से ज्ञात होता है कि द्वारका–वासियों के 'प्रेम' में 'राग' का स्पर्श है। इसलिए यहाँ 'प्रायः'–शब्द दिया गया है। श्लोक सं० ६१ में प्रयुक्त 'प्रायः' शब्द के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है–साधारण अनुग भक्तों में राजा परीक्षित् की भाँति 'राग' ही अभिप्रेत है, किन्तु व्रज के अनुगदासों के 'राग' में एक वैशिष्ट्य है। उनमें राग प्रकटित होने पर उनका भाव प्रणयांशमय होकर प्रायशः प्रीताख्य अर्थात् सख्य–नामक होकर प्रकाशित होता है। अतः अन्यान्य अनुगों की अपेक्षा रक्तकप्रमुख व्रजानुग–दासों के भाव का उत्कर्ष है।।६०–६१।।*

४६–अयोगयोगावेतस्य प्रभेदौ कथितावुभौ।।६३।।

तत्र अयोगः–

५०–संगाभावो हरेर्धीरैरयोग इति कथ्यते।
अयोगे तन्मनस्कत्वं तद्गुणाद्यनुसंधयः।।६४।।
५१–तत्प्राप्त्युपायचिन्ताद्याः सर्वेषां कथिता क्रियाः।
उत्कण्ठितं वियोगश्चेत्ययोगोऽपि द्विधोच्यते।।६५।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*एतस्य प्रीतभक्तिरसस्य।।६३।।*

● *अनुवाद*–सम्भ्रमप्रीतरस के दो भेद हैं, १. *अयोग*, तथा २ *योग*।।६३।।

श्रीकृष्ण के संग–अभाव को पण्डितजन 'अयोग' कहते हैं। अयोग में श्रीकृष्णमनस्कत्व (कृष्ण में मन का निरन्तर लगा रहना) कृष्ण–गुणादि का अनुसन्धान, श्रीकृष्ण की प्राप्ति के उपायों का चिन्तन–इत्यादि समस्त भक्तों

की क्रिया या अनुभाव होते हैं। यह अयोग फिर दो प्रकार का है – १. *उत्कण्ठित्व* तथा, २. *वियोग*।।६४–६५।।

तत्रोत्कण्ठितम्–

५२–अदृष्टपूर्वस्य हरेर्विदृक्षोत्कण्ठितं मतम्।।६६।।

यथा नरसिंहपुराणे–

४५–चकार मेघे तद्वर्णे बहुमानरतिं नृपः।
पक्षपातेन तन्नाम्नि मृगे पद्मे च तद्दृशि।।६७।।

यथा वा श्रीदशमे (१०।३८।१०)–

४६–अप्यद्य विष्णोर्मनुजत्वमीयुषो
भारावताराय भुवो निजेच्छया।
लावण्यधाम्नो भवितोपलम्भनं
मह्यं न न स्यात्फलमञ्जसा दृशः।।६८।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–नृप इक्ष्वाकुः, पक्षपातेन अत्यासक्त्या; तन्नाम्नि तस्य नाम यत्र तादृशे कृष्णसाराक्ष्ये, तद्दृशि तस्य दृक्तुल्य इत्यर्थः।।६७।। मनुजत्वं मनुजजातित्वमीयुषुः *प्राप्तवतस्तत्र प्रकाशमानस्येत्यर्थः।।६८।।*

● *अनुवाद*–अदृष्टपूर्व श्रीहरि के दर्शन की इच्छा को *"उत्कण्ठित"* कहते हैं।।६६।।

जैसा कि नृसिंह पुराण में कहा गया है; राजा इक्ष्वाकु अतिशय आसक्ति–वश कृष्णवर्ण मेघ में, (कृष्ण–नामक) कृष्णसार मृग में एवं श्रीकृष्ण के नेत्रों सदृश कृष्ण–कमलों में बड़ी आदरपूर्वक प्रीति करते थे।।६७।।

श्रीमद्भागवत (१०।३८।१०) में भी कहा गया है–(मथुरा से व्रजागमन के पथ में अक्रूर जी मन–मन में कह रहे थे) पृथ्वी का भार उतारने के लिए अपनी इच्छा से अवतीर्ण हुए लावण्यधाम नरवपु भगवान् श्रीकृष्ण के दर्शन आज मुझे प्राप्त होंगे। क्या उनके दर्शन कर मेरे नेत्र सफल हो जायेंगे ? –अवश्य हो जायेंगे।।६८।।

*५३–अत्रायोगप्रसक्तानां सर्वेषामपि सम्भवे।
औत्सुक्यदैन्यनिर्वेदचिन्तानां चापलस्य च।
जड़तोन्मादमोहानामपि स्यादतिरिक्तता।।६९।।*

तत्रौत्सुक्यं, यथा श्रीकृष्णकर्णामृते–

४७–अमून्यधन्यानि दिनान्तराणि हरे ! त्वदालोकनमन्तरेण।
अनाथबन्धो ! करुणैकसिन्धो ! हा हन्त हा हन्त कथं नयामि।।१००।।

यथा वा, ४८–विलोचनसुधाऽम्बुधेस्तव पदारविन्दद्वयी
विलोचनरसच्छटामनुपलभ्य विक्षुभ्यतः।
मनो मम मनागपि क्वचिदनाप्नुवन्निर्वृतिं–
क्षणार्द्धमपि मन्यते व्रजमहेन्द्र ! वर्षव्रजम्।।१०१।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*सर्वेषां व्यभिचारिणां सम्भवे सत्यपि, अतिरिक्तता*

उद्रेक:।।९९।। न विद्यते नाथो नाथान्तरं यस्य तस्य बन्धो प्रतिपालक।।१००।। विलोचनेति। मथुरातः श्रीमदुद्धवस्य गुप्तपत्रिका, विक्षुभ्यत इत्यत्र विक्षोभभृदिति पाठान्तरं ज्ञेयम्।।१०१।।

● *अनुवाद*–अयोग सम्बन्धी समस्य व्यभिचारि भाव 'उत्कण्ठित्व' में सम्भव होते हुए भी औत्सुक्य, दैन्य, निर्वेद, चिन्ता, चापल, जड़ता, उन्माद, एवं मोह–ये कई भाव उसमें अतिरिक्त उत्पन्न होते हैं।।९९।।

औत्सुक्य का उदाहरण, श्रीकृष्णकर्णामृत में कहा गया है, हाय ! हाय !! हे हरे ! हे अनाथबन्धो ! हे करुणैकसिन्धो ! आपके दर्शन के बिना ये दुर्भागे दिन मैं कैसे व्यतीत करूँ।।१००।।

और भी कहा है–(श्रीराधा जी ने श्रीउद्धव के हाथ श्रीश्यामसुन्दर को गुप्त पत्रिका में लिखकर भेजा) –हे व्रजमहेन्द्र ! नेत्रों के लिए सुधा–समुद्र के समान आपके चरणकमलों के दर्शन की सरस रसछटा के बिना मेरा मन अति विक्षुब्ध हो रहा है, कहीं भी शान्ति को प्राप्त न करके आधे–क्षण को भी वर्षों के बराबर समझ रहा है।।१०१।।

दैन्यं, यथा तत्रैव (श्रीकृष्णकर्णामृते)–

४९–निबद्धमूर्द्धाञ्जलिरेष याचे नीरन्ध्रदैन्योन्नतिमुक्तकण्ठम्।
दयाम्बुधे ! देव ! भवत्कटाक्षदाक्षिण्यलेशेन सकृन्निषिञ्च।।१०२।।

यथा वा, ५०–असि शशिमुकुटाद्यैरप्यलभ्येक्षणस्त्वं
लघुरघहर ! कीटादप्यहं कूटकर्मा।
इति विसदृशताऽपि प्रार्थने प्रार्थयामि
स्नपय कृपणबन्धो ! मामपांगच्छटाभिः।।१०३।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*कूटकर्माहं कीटादपि लघुरिति प्रार्थने विसदृशतापि प्रार्थयाम्यपीत्यन्वयः, प्रार्थयेऽपीति, वा पाठः, यद्यप्ययोग्यता तथापि प्रार्थय इत्यर्थः।।१०३।।*

● *अनुवाद–दैन्य का उदाहरण;* (श्रीकृष्णकर्णामृत में) हे देव ! हे कृपासागर ! मैं दोनों हाथ जोड़ मस्तक पर धारण कर अतिशय दीनतापूर्वक मुक्त–कण्ठ से यह प्रार्थना करता हूँ कि आप अपने अनुग्रहसूचक तनिक कटाक्ष द्वारा एक बार मुझे अभिषिक्त कीजिए।।१०२।।

और भी कहा है; हे पापहारि ! हे दीनबन्धो ! शंकरादि के लिए भी आपके दर्शन दुर्लभ हैं, मैं एक कीट से भी अधिक लघु एवं मन्दकर्मा हूँ। परन्तु अति अयोग्य होते हुए भी यह प्रार्थना करता हूँ कि आप अपनी कटाक्षछटा से मुझे अभिषिक्त करने की कृपा करें।।१०३।।

निर्वेदो, यथा–५१–

स्फुटं श्रितवतोरपि श्रुतिनिषेवया श्लाघ्यतां
ममाभवनिरेतयोर्भवतु नेत्रयोर्मन्दयोः।
भवेन्न हि ययोः पदं मधुरिमश्रियामास्पद
पदाम्बुजनखांकुरादपि विसारि रोचिस्तव।।१०४।।

चिन्ता, यथा—

५२—हरिपदकमलावलोकतृष्णा तरलमतेरपि योग्यतामवीक्ष्य।
अवनतवदनस्य चिन्तया मे हरि हरि निःश्वसतो निशाः प्रयान्ति।।१०५।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*स्फुटमिति च पूर्ववदेवोद्धवस्य संदेशः, पदाम्बुजस्य नखरूपोऽकुरोग्रभागः, श्रुतिनिषेवयेति दीर्घयोरपीत्यर्थः, बहुतरश्रौतग्रन्थ दर्शिनोरिति वा। अभवनिः नाशः।।१०४।। हरिपदेति, कस्यचिद्भक्तस्य निर्जन—विलापः, हरि हरि खेदे, मे मम योग्यतामवीक्ष्य सोऽयमयोग्यो दुःखितो भवतु नामेतीव विभाव्य निशाः प्रयान्तीत्यर्थः। कीदृशस्यापि मम हरिपदेत्यादिलक्षणस्य, अतएव चिन्तयावनतवदनस्येति, षष्ठी चेयमनादिरे।।१०५।।*

● *अनुवाद*—(श्रीउद्धव ने श्रीकृष्ण को कहला भेजा)—अनेक श्रुति—ग्रन्थों को देखकर एवं नेत्रों से स्पष्ट अतिशय प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेने पर जिन्होंने भी आपके नखांकुर प्रसरण—शील माधुर्यसम्पदा की आस्पद कान्ति का दर्शन प्राप्त नहीं किया है। उन्हें मैं वे मन्दबुद्धि हैं। इसलिए उनका विनाश ही हो जाये। (यह निर्वेद का उदाहरण है)।।१०४।।

चिन्ता का उदाहरण; (किसी भक्त ने निर्जन स्थान पर विलाप करते हुए कहा), हरि ! हरि !! महान् कष्ट है। श्रीहरि के दर्शन निमित्त मेरी लालसा जाग उठी है, किन्तु इस विषय में अपनी योग्यता न देखकर दुःख से मस्तक झुकाकर चिन्ता—ग्रस्त हुआ दीर्घश्वास भरता रहता हूँ—इस प्रकार मेरी रातें बीत रही हैं।।१०५।।

चापलं, यथा श्रीकृष्णकर्णामृते—

५३—त्वच्छैशवं त्रिभुवनाद्भुतमित्यवेहि
मच्चापलं च तव वा मम वाऽधिगम्यम्।
तत् किं करोमि विरलं मुरलीविलासि
मुग्धं मुखाम्बुजमुदीक्षितुमीक्षणाभ्याम्।।१०६।।

यथा वा, ५४—ह्रियमघहर ! मुक्त्वा दृक्पतंगी ममासौ
भयमपि दमयित्वा भक्तवृन्दात्तृषाऽर्ता।।१०७।।
निरवधिमविचार्य्य स्वस्य च क्षोदिमानं
तव चरणसरोजं लेढुमन्विच्छतीश !।।१०७।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*विरलं क्वचिद् भाग्यवद्भिरेवोपलभ्यम्।।१०६।। दृक्पतंगीति लुप्तोपमा क्यङर्थे क्विवन्तात् पुनः "कर्त्तरि कृद्विहितः क्विवित्युपमावाचकस्य पूर्वस्य क्विपो लोपात, रूपकं तु नात्रेष्यते तत्पुरुषस्योत्तर—पदप्रधानत्वात्, प्रधानभूतायाः पतंग्या हीनं सम्भवति, गुणीभूतायां दृशि योजयितुं न शक्यत इत्यभवन्मतयोगाख्य—दोषः स्यात्, ततश्च दृक्कर्त्री ह्रियं मुक्त्वा भयमपि दमयित्वा स्वस्य च क्षोदिमानमविचार्य पतंगीवाचरन्ती सती तव चरणसरोजं लेढुमन्विच्छतीति योज्यं, "दृक् तपस्विन्यसौ मे" इति वा पाठः, अन्विच्छतीति "इषु गमि यमां छ" इति विधानात्।।१०७।।*

● *अनुवाद–चापल का उदाहरण श्रीकृष्णकर्णामृत में,* हे कृष्ण ! आपका कैशोर त्रिभुवन में अद्भुत है, यह मैं जानता हूँ, और (उस अद्भुत कैशोर के दर्शन के निमित्त) जो मेरा चापल्य है उसे भी मैं जानता हूँ और आप भी जानते हो; अतएव मैं इन नेत्रों द्वारा आपके विरल (किसी विरले भाग्यवान को प्राप्त होने वाले) मनोहर मुरली–विलासी मुख–कमल के दर्शनों के लिए क्या उपाय करूँ ? आप कहिए।।१०६।।

और भी कहा है; हे अघनाशन ! मेरे ये नयन लज्जा त्याग कर, भक्तों का भय दमन कर, तृष्णातुर होकर, अपनी क्षुद्रता का भी निरन्तर कुछ विचार न करके भ्रमरी की भाँति आपके चरण–कमलों के सौरभ का आस्वादन करने के लिए अन्वेषण कर रहे हैं।।१०७।।

जड़ता यथा सप्तमस्कन्धे (७।४।३७)–

५५–न्यस्तक्रीडनको बालो जडवत्तन्मनस्तया।
कृष्णग्रहगृहीतात्मा न वेद जगदीदृशम्।।१०८।।

यथा वा, ५६–निमेषोन्मुक्ताक्षः कथमिह परिस्पन्दविधुरा
तनुं विभ्रद्भव्यः प्रतिकृतिरिवास्ते द्विजपतिः।
अये ज्ञातं वंशीरसिकनवरागव्यसनिना
पुरः श्यामाम्भोदे बत विनिहिता दृष्टिरमुना।।१०६।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*न्यस्तेति। तन्मनस्तया कृष्णमनस्तया न्यस्तक्रीडनकः तदनन्तरं तयैव जडवत् तत्तुल्यः तत्पश्चात् कृष्णग्रहगृहीतात्मा ग्रहेणेव कृष्णेनाविष्टः सन् जगदीदृशं न वेद न ददर्श, यथा लोकाः पश्यन्ति तथा न, किन्तु तत्स्फूर्त्तिकरत्वेनैव ददर्शेत्यर्थः।।१०८।। भव्यः सर्वत्र योग्यः, "भव्यं सत्ये शुभे चाथ भेद्यतद्योग्यभाविनो" रिति विश्वप्रकाशात्।।१०६।।*

● *अनुवाद–जड़ता का उदाहरण;* श्रीमद्भागवत (७।४।३७) में; श्रीयुधिष्ठिर के प्रति श्रीनारद जी ने कहा, हे महाराज ! श्रीकृष्ण के प्रति प्रह्लाद की स्वाभाविकी प्रीति का यह प्रमाण है कि प्रह्लाद बाल्यकाल से बालकों की तरह अन्य कोई क्रीड़ा नहीं करता था। श्रीकृष्ण में मनोविष्टता के कारण वह जड़वत् रहता था, उसकी आत्मा मानो कृष्ण–ग्रह से सदा ग्रस्त रहती थी। अतः वह जगत् को अन्यान्य लोगों की तरह व्यवहारमय नहीं देखता था, किन्तु स्फूर्तिमय ही जानता था।।१०८।।

और भी कहा गया है; भव्य–स्वभाव यह ब्राह्मण किस लिए आज अपलक नेत्र होकर निश्चल शरीर से प्रतिमा की भाँति स्तम्भित हो रहा है ?–अहो ! मैं जान गया, यह वंशीरसिक श्रीकृष्ण के नवीनानुराग में आसक्त हो रहा है, इसने सम्मुखवर्ति श्याम–मेघ में दृष्टि निबद्ध कर रखी है।।१०६।।

उन्मादो यथा सप्तमे (७।४।४०)–

५७–नदति क्वचिदुत्कण्ठो विलज्जो नृत्यति क्वचित्।
क्वचित्तद्भावनायुक्तस्तन्मयोऽनुचकार ह।।११०।।

यथा वा, ५८—क्वचिन्नटति निष्पटं क्वचिदसंभवं स्तम्भते
क्वचिद्विहसति स्फुटं क्वचिदमन्दमाक्रन्दति।
लसत्यनलसं क्वचित् क्वचिदपार्थमार्तायते
हरेरभिनवोद्धुरप्रणयसीधुमत्तो मुनिः।।१११।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*लसति क्रीड़ति, अपार्थं दृष्टार्तिसामग्रीं विनेत्यर्थः, मुनि नारदः।।१११।।*

● *अनुवाद—उन्माद का उदाहरण;* श्रीमद्भागवत (७४।४०) में; श्रीप्रह्लाद कभी उच्च कण्ठ से चीत्कार करते, कभी निर्लज्जभाव से नृत्य, कभी भगवद्भाव में आविष्ट होकर भगवत् लीला का अनुकरण करने लगते।।११०।।

और भी कहा है, देवर्षि नारद श्रीहरि के अभिनव प्रेमोत्कर्ष अमृत में उन्मत्त होकर कभी वसन—रहित होकर नृत्य करते, कभी अपूर्व स्तम्भ को प्राप्त होते, कभी स्पष्ट रूप से उच्च हास्य करते, कभी जोर से रोने लगते, कभी उत्साहपूर्वक क्रीड़ा करते और कभी बिना कारण आर्ति प्रकाशित करते।।१११।।

मोहो, यथा हरिभक्तिसुधोदये

५९—अयोग्यमात्मानमितीशदर्शने स मन्यमानस्तदनाप्तिकातरः।
उद्वेलदुःखार्णवमग्नमानसः स्रुताश्रुधारो द्विज ! मूर्च्छितोऽपतत्।।११२।।

यथा वा, ६०—हरिचरणविलोकालब्धितापावलीभि—
र्बत विधुतचिदम्भस्यत्र नस्तीर्थवर्ये।
श्रुतिपुटपरिवाहेनेशनामामृतानि
क्षिपत ननु सतीर्थाश्चेष्टतां प्राणहंसः।।११३।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*सः श्रीप्रह्लादः।।११२।। चित् चैतन्यं, तीर्थमत्र गुरुः, पक्षे ऋषिजुष्टजलम्।।११३।।*

● *अनुवाद—मोहका उदाहरण* हरिभक्तिसुधोदय में; हे द्विज ! श्रीप्रह्लाद भगवद्—दर्शन के लिए अपने को अयोग्य जान कर उनकी प्राप्ति में कातर हो गये तथा दीर्घश्वास छोड़ते हुए दुःख—समुद्र में मग्न चित्त होकर अश्रुधारा प्रवाहित करते—करते मूर्च्छित हो पृथ्वी पर गिर पड़े।।१११।।

अहो ! सखीगण ! हमारे चैतन्यरूप—जलाशय श्रीकृष्ण—चरणों के अदर्शन के ताप में अतिशय निर्जल हो गये हैं, अतएव अब कान रूपी नालियों के द्वारा उन में श्रीहरिनाम रूप अमृत (जल) निक्षेप करो, तभी इनके प्राणरूप हंस पुनः चेष्टाशील होंगे।।११३।।

अथ वियोगः—

५४—वियोगो लब्धसंगेन विच्छेदो दनुजद्विषा।।११४।।

यथा, ६१—बलिसुतभुजषण्डखण्डनाय क्षतजपुरं पुरुषोत्तमे प्रयाते।
विधुतविधुरबुद्धिरुद्धवोऽयं विरहनिरुद्धमना निरुद्धवोऽभूत्।।११५।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*क्षतजपुरं, शोणितपुरं, विधुता कम्पिता यतो विधुरा दुःखिता च तादृशी बुद्धिर्यस्य सः, विधुर—विधुतेति वा पाठः, "विधुरं तु प्रविश्लेष" इत्यमरः।।११५।।*

● *अनुवाद*–श्रीकृष्णसंग प्राप्त करने के बाद उनसे जो विच्छेद है, उसे *"वियोग"* कहते हैं।।११४।।

बलिपुत्र वाणासुर की भुजाओं को तोड़ने के लिए पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण जब शोणितपुर गये, तो उनके वियोग में श्रीउद्धव की बुद्धि कम्पित एवं दुःखी हो उठी; वे आनन्द–रहित हो गये।।११५।।

५५–अंगेषु तापः कृशता जागर्यालम्बशून्यता।
अधृतिर्जड़ता व्याधिरुन्मादो मूर्च्छितं मृतिः।
वियोगसंभ्रमप्रीतेर्दशावस्थाः प्रकीर्तिताः।।११६।।

५६–अनवस्थितिराख्याता चित्तस्यालम्बशून्यता।
अरागिता तु सर्वस्मिन्नधृतिः कथिता बुधैः।
अन्येऽष्टौ प्रकटार्थत्वात्तापाद्या न हि लक्षिताः।।११७।।

● *अनुवाद*–वियोग में सम्भ्रमप्रीत की दश अवस्थायें होती हैं; सब अंगों में ताप, कृशता, जागरण, आलम्बन–शून्यता अधृति, जड़ता, व्याधि, उन्माद, मूर्च्छा एवं मृति। चित्त की अनवस्थिति का नाम ही 'आलम्बन–शून्यता' है तथा समस्त विषयों में अनुराग–शून्यता, को पण्डितजन 'अधृति' कहते हैं। अन्य आठ का अर्थ स्पष्ट होने से उनका यहाँ उल्लेख नहीं किया जा रहा है।।११६–११७।।

तत्र तापो, यथा–

६२–अस्मान् दुनोतु कमलं तपनस्य मित्रं
रत्नाकरश्च बड़वाऽनलगूढमूर्तिः।
इन्दीवरं विधुसुहृत् कथमीश्वरं वा
तं स्मारयन्मुनिपते! दहतीह सभ्यान्।।११८।।

कृशता, यथा–

६३–दधति तव तथाऽद्य सेवकानां भुजपरिघाः कृशतां च पाण्डुतां च।
पतति बत यथा मृणालबुद्ध्या स्फुटमिह पाण्डवमित्र! पाण्डुपक्षः।।११९।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*अस्मानित्यदिकं नारदं प्रत्युद्धववाक्यं, वडवानलेन गूढाच्छादिता मूर्तिस्तन्मध्यभागो यस्य सः, अत्र तापार्थं तपनमित्रत्वादिद्वयस्य हेतोराभासत्वं व्यज्य विधुसुहृत्तस्य तु विरुध्वत्वं व्यज्य; वियोगस्यैव दुरन्ततेयं यत्कमलादिकमपि तापकत्वेन सम्पादयतीति व्यंजितं, तं स्मारयद्दहति पारिषदान्मुनीन्द्रेति पाठे स्मारयदित्यत्र लिंगविपरिणामः कर्तव्यः "तं स्मारयन्मुनिपते दहतीह सभ्यानिति" पाठे तु सन्धिविश्लेषात्सर्वत्राप्यन्वयः।।११८।। सेवकानां केशांचिदावश्यककार्यार्थं द्वारकास्थितानामित्यर्थः, स्फुटमित्युत्प्रेक्षायां, सा चात्रोदात्तनामालंकारं व्यंजयती विरहातिशयं व्यंजयति, पाण्डुपक्षो हंसः।।११९।।*

● ***अनुवाद–ताप का उदाहरण*–श्रीनारद के प्रति श्रीउद्धव ने कहा, हे मुनिवर! सूर्य का बन्धु कमल (श्रीकृष्ण के मुख को स्मरण कराकर) हमें दुःख दे, तो देने दो, जिसके अन्दर वडवानल मूर्ति गुप्त रूप से विराजती है,**

वह समुद्र (अपने श्यामवर्ण जल से श्रीकृष्ण के मुख को स्मरण कराकर) हमें दुःख प्रदान करे, तो करने दो, किन्तु परम शीतल चन्द्र का सुहृत् इन्दीवर (नील–कमल) क्यों उस ईश्वर श्रीकृष्ण का स्मरण हमें (श्रीकृष्ण–पारिषदसभ्यगण को) जला रहा है ? (परम शीतल नीलकमल भी श्रीकृष्णस्मृति को उद्दीपित कर तापदायक हो जाता है वियोग में)।।११८।।

कृशता का उदाहरण–हे पाण्डवमित्र कृष्ण ! (प्रयोजनीय कार्य में नियुक्त द्वारका में) आपके सेवकों की भुजायें इतनी कृश एवं पीली पड़ गई हैं कि अहो ! पाण्डुपक्ष–हंस उनको मृणाल जानकर उन पर टूट पड़ता है।।११९।।

जागर्य्या यथा–

६४–विरहाम्बुरविद्विषश्चिरं विधुरांगे परिखिन्नचेतसि।
क्षणदाः क्षणदायितोझिताः बहुलाश्वे बहुलास्तदाऽभवन्।।१२०।।

आलम्बनशून्यता, यथा–

६५–विजयरथकुटुम्बिना विनान्यन्न किल
कुटुम्बमिहास्ति नस्त्रिलोक्याम्।
भ्रमदिदमनवेक्ष्य तत्पदाब्जं क्वचिदपि
न व्यवतिष्ठतेऽद्य चेतः।।१२१।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*क्षणदा रात्र्यस्तदुपलक्षणत्वाद्दिनान्यपिः यद्वा क्षणदायितृपदार्थाः, उत्सवदात्र्योऽपीति तु श्लेषः, क्षणदायितया उत्सवदायित्वेनोज्झिता बभूवः।।१२०।। विजयरथेति। समयविशेषे श्रीयुधिष्ठिरवाक्यं विजयोऽर्जुनः, रथकुटुम्बी सारथिः।।१२१।।*

● *अनुवाद–जागरण का उदाहरण;* श्रीकृष्ण के दीर्घकालस्थायी विरह में दुःखी तथा खिन्न–चित्त बहुलाश्व के लिए क्षणदा–आनन्ददायिनी रात्रियाँ (दिन–रात) दुःखदायिनी काली रात्रियाँ बन गईं।।१२०।।

आलम्बनशून्यता का उदाहरण–एक समय श्रीयुधिष्ठिर ने कहा, अर्जुन–सारथि श्रीकृष्ण को छोड़कर और कोई भी त्रिभुवन में हमारा कुटुम्बी नहीं है। उनके चरणकमलों के बिना देखे आज यह मन घूर्णित हो रहा है एवं कहीं भी स्थिरता प्राप्त नहीं कर रहा है।।१२१।।

अधृतिः, यथा–

६६–प्रेक्ष्य पिंछकुलमक्षि पिधत्ते नैचिकीनिचयमुज्झति दूरे।
वष्टि यष्टिमपि नाथमुरारे ! रक्तकस्तव पदाम्बुजरक्तः।।१२२।।

जडता, यथा–

६७–युधिष्ठिरं पुरमुपेयुषि पद्मनाभे
खेदानलव्यतिकरैरतिविक्लवस्य।
स्वेदाश्रुभिर्न हि परं जलतामवापु
रंगानि निष्क्रियतया च किलोद्धवस्य।।१२३।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*प्रेक्ष्येत्यनुसारेण पूर्वमरागितेति (३।१।११७) लक्षणेन नञ् विरोध एव ज्ञेयः रागप्राप्तिकूल्यमित्यर्थः।।१२२।। जलतां द्रवत्वं, पक्ष जाड्यं।।१२३।।*

● *अनुवाद—अधृति का उदाहरण*—हे मुरारे ! आपके विरह में आपके चरणकमलों में अनुरक्त रहने वाला आपका सेवक रक्तक आज मोरपुच्छ को देखकर नेत्र बन्द कर रहा है, गौओं के प्रति भी वह नहीं देख रहा है, उनको उसने दूर ही छोड़ दिया है, अधिक क्या कहूँ? लाठी तक उसने फैंक दी है।।१२२।।

जड़ता का उदाहरण—पद्मनाभ श्रीकृष्ण के हस्तिनापुर चले जाने पर अतिशय विरह विकल श्रीउद्धव का शरीर दुःखाग्नि के कारण स्वेद तथा अश्रुओं से द्रवीभूत नहीं हुआ (वह सूख गया), परन्तु निष्क्रिय होकर वह जड़ता को प्राप्त हो गया।।१२३।।

व्याधिः, यथा—

६८—चिरयति मणिमन्वेष्टुं चलिते मुरभिदि कुशस्थलीपुरतः।
समजनि धृतनव्याधिः पवनव्याधिर्यथार्थाख्यः।।१२४।।

उन्मादो, यथा—

६९—प्रोषिते बत निजाधिदैवते रैवते नवमवेक्ष्य नीरदम्।
भ्रान्तधीरयमधीरमुद्धवः पश्य नौति रमते नमस्यति।।१२५।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*पवनव्याधिः उद्धवः बाल्यादेव भगवत्प्रेमोन्मत्तत्वेन तस्य तथा लोकभावनात्तथा ख्यातेः।।१२४।।*

● *अनुवाद—व्याधि का उदाहरण*—स्यमन्तक मणि को खोजने के लिए श्रीकृष्ण द्वारकापुरी से चले गये और उनको लौटने में देर लग गई। उससे श्रीउद्धव कृष्णविरह में एक नई व्याधि में ग्रस्त हो गये। बाल्यकाल से प्रेमोन्मत्त होने के कारण लोग उन्हें वायुरोग—ग्रस्त जानते थे, किन्तु इस नूतन व्याधि से उनका वह वायुरोग सार्थक हो गया।।१२४।।

उन्माद का उदाहरण—अपने अधिदेव श्रीकृष्ण के द्वारका से दूर चले जाने पर भ्रान्तबुद्धि श्रीउद्धव रैवत पर्वत पर नव मेघ को देखकर कभी अधीरता पूर्वक रोने लगे, कभी आनन्दित तथा कभी नमस्कार करने लगे।।१२५।।

मूर्च्छितं, यथा—

७०—समजनि दशा विश्लेषात्ते पदाम्बुजसेविनां
व्रजभुवि तथा नासीन्निद्रालवोऽपि यथा पुरा।
यदुवर ! दरश्वासेनामी वितर्कितजीविताः
सततमधुना निष्चेष्टांगास्तटान्यधिशेरति।।१२६।।

मृतिर्यथा—

७१—दनुजदमन ! याते जीवने त्वय्यकस्मा—
त्प्रचुरविरहतापैर्ध्वस्तहृत्पंकजायाम्।
व्रजमभि परितस्ते दासकासारपंक्तौ
न किल वसतिमाराः कर्तुमिच्छन्ति हंसाः।।१२७।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*तथा दशा समजनि यथा पुरा प्रथमं निद्रालवोऽपि नासीत्, अधुना तु सततं निष्चेष्टांगः। सन्तस्तटान्यधिशेरत इति योज्यम्।।१२६।। कासारः सरः, पक्षे हंसाः प्राणाः।।१२७।।*

● *अनुवाद—मूर्च्छित का उदाहरण*—हे यदुवर ! आपके विरह में आपके चरणकमल सेवी व्रजवासी दासों की क्या दशा हो रही है, उसे सुनो; पहले जैसे उन्हें जरा भी नींद नहीं आती थी, अब भी वही दशा है। अब उनके निश्वास इतने धीमे पड़ गये हैं कि जीवित भी हैं कि नहीं, ऐसा वितर्क उपस्थित हो जाता है, वे निश्चेष्ट होकर यमुना के किनारे ही पड़े रहते हैं।।१२६।।

मृति का उदाहरण—हे दनुजदमन कृष्ण ? जल (जीवन) स्वरूप आपके अकस्मात् दूर चले जाने से आपके समस्त व्रजस्थ दासरूप सरोवरों के हृदय रूप कमल अतिशय विरह ताप से सूख गये हैं। प्राणरूप हंस व्याकुल होकर अब वहाँ रहने की इच्छा नहीं कर रहे हैं।।१२७।।

५७—अशिवत्वान्न घटते भक्ते कुत्राप्यसौ मृतिः।
क्षोभकत्वाद्वियोगस्य जातप्रायेति कथ्यते।।१२८।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*न कुत्रापीति। कुत्रचिदेव भक्ते सिद्धलक्षणः एवेत्यर्थः, तत्र मृतिर्न घटत इत्यत्र हेतुः—अशिवत्वादिति। तत्रामंगलमात्रं हि न सम्भवतीत्यर्थः। साधकभक्ते मृतिरपि वर्णिता "प्राणान् जहति मथुरायां सुकृतिन" इत्यादि, ततश्च सिद्धभक्ते वियोगस्य क्षोभकत्वमुद्दिश्यैव जातप्राया मृतिरिति कथ्यत इत्यर्थः।।१२८।।*

● *अनुवाद*—श्रीकृष्ण के परिकर भक्तों की अमंगलस्वरूप होने के कारण मृति (मृत्यु) कभी नहीं होती। श्रीकृष्णवियोग में क्षोभकारित्व के कारण उनकी जो मृतप्रायः अवस्था होती है, उसको ही 'मृति' कहा जाता है।।१२८।।

अथ योगः—

५८—कृष्णेन संगमो यस्तु स योग इति कीर्त्यते।
योगोऽपि कथितः सिद्धिस्तुष्टिः स्थितिरिति त्रिधा।।१२९।।

● *अनुवाद*—(सम्भ्रमप्रीत—भक्तिरस के दो भेदों में ऊपर 'अयोग' का निरूपण किया गया है—अब 'योग' का वर्णन करते हैं)—श्रीकृष्ण के साथ मिलन को 'योग' कहते हैं। योग के तीन भेद हैं—१. सिद्धि, २. तुष्टि तथा ३. स्थिति।।१२९।।

तत्र सिद्धिः—

५९—उत्कण्ठिते हरेः प्राप्तिः सिद्धिरित्यभिधीयते।।१३०।।

यथा श्रीकृष्णकर्णामृते—

७२—मौलिश्चन्द्रकभूषणो मरकतस्तम्भाभिरामं वपु—
र्वक्त्रं चित्रविमुग्धहासमधुरं बाले विलोले दृशौ।
वाचः शैशवशीतला मदगजश्लाध्या विलासस्थिति—
र्मन्दं मन्दमये क एष मथुरावीथीं मिथो गाहते।।१३१।।

यथा वा, श्रीदशमे (१० ।३८ ।३४)–

७३–रथात् तूर्णमवप्लुत्य सोऽक्रूरः स्नेहविह्वलः।
पपात चरणोपान्ते दण्डवद्रामकृष्णयोः।।१३२।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*यस्य मौल्यादय ईदृशाः स एष इत्यध्याहारेणान्वयः, बाले कोमले, शैशवेन तदंशेन शीतलास्तापहरा इत्यर्थः, मथुराया बीथीं निकटभूमिं वृन्दावनमिति यावत्, मिथोऽन्योन्यं रहस्येऽपीत्यमरः।।१३१।।*

● *अनुवाद*–जब श्रीकृष्णदर्शन की उत्कण्ठा हो, तभी श्रीकृष्ण को प्राप्त करने का नाम 'सिद्धि' है।।१३०।।

उदाहरण; (श्रीकृष्णकर्णामृत)–मस्तक पर मोरपुच्छ मुकुट, मरकतमणिस्तम्भ विनिन्दित वपु, विचित्र मनोहर मधुर हास्ययुक्त मुख, चंचल सुकोमल नयन, बालपन के कारण शीतल वचन, मदमत्त हाथी की अपेक्षा भी श्लाघनीय क्रीड़ाशाली, अहो ! ऐसा कौन व्यक्ति मन्द–मन्द गति से छिपकर मथुरा निकटवर्ती वृन्दावन के पथ पर आ रहा है ?।।१३१।।

श्रीमद्भागवत (१० ।३८ ।३४) में कहा है, श्रीकृष्ण–बलराम को देखते ही अक्रूर जी तत्क्षण रथ से उतर पड़े और स्नेहविह्वल चित्त से उनके निकट आकर चरणों में दण्डवत् प्रणाम करने लगे।।१३२।।

तुष्टिः–

६०–जाते वियोगे कंसारेः संप्राप्तिस्तुष्टिरुच्यते।।१३३।।

यथा–

७४–कथं वयं नाथ ! चिरोषिते त्वयि प्रसन्नदृष्ट्याखिलापशोषणम्।
जीवाम ते सुन्दरहासशोभितमपश्यमाना वदनं मनोहरम्।।१३४।।

यथा, वा ७५–समक्षमक्षमः प्रेक्ष्य हरिमंजलिबन्धने।
दारुको द्वारकाद्वारि तत्र चित्रदशां ययौ।।१३५।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*कथं वयमिति श्रीप्रथमस्य (१ ।११ ।११) यर्ह्यम्बुजाक्षेत्यनन्तरं पद्यं क्वाचित्कमेव।।१३४।। समक्षमग्रे श्रीकृष्णं प्रेक्ष्य अंजलि–बन्धनेऽसमर्थो दारुकः।।१३५।। (श्रीचक्रवर्ती)।।*

● *अनुवाद*–विच्छेद के बाद श्रीकृष्ण की प्राप्ति को 'तुष्टि' कहते हैं।।१३३।।

उदाहरण; श्रीमद्भागवत (१ ।११ ।१०) में कहा गया है–(द्वारका–वासियों ने आवर्तदेश से श्रीकृष्ण के लौटने पर कहा)–हे नाथ ! आप चिरकाल तक प्रदेश में जाकर रहते हो, आपके सुन्दर मुसकान शोभित मनोहर मुख को, जिसके दर्शन से समस्त संताप दूर हो जाते हैं, देखे बिना हम कैसे जीवित रहें।।१३४।।

और भी कहा है; द्वारका के द्वार पर श्रीकृष्ण को सामने आता देखकर हर्ष के कारण हाथ जोड़ने में भी असमर्थ दारुक चित्रवत् अवस्था को प्राप्त हो गया।।१३५।।

स्थितिः–

६१–सहवासो मुकुन्देन स्थितिर्निगदिता बुधैः।।१३६।।

यथा, हंसदूते–

७६–पुरस्तादाभीरीगणभयदनामा स कठिनो
मणिस्तम्भालम्बी कुरुकुलकथाः संकथयिता।
स जानुभ्यामष्टापदभुवमवष्टभ्य भविता
गुरोः शिष्यो नूनं पदकमलसंवाहनरतः।।१३७।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–तत्रोपलक्षणत्वेन कांचित् स्थितिमाह–पुरस्तादिति। गुरोर्बृहस्पतेः शिष्यः श्रीमदुद्धवः, अत्र श्रीमद्व्रजसेवकानापि तन्महा विरहानन्तरं नित्या स्थितिर्वक्ष्यमाणस्य प्रेयसो वत्सलस्य चान्तिमटीकाऽनुसारेण (३।३।१२८, ३।४।७६) ज्ञेया; तेषां दिग्दर्शनं तु गणोद्देशदीपिकादृष्ट्या क्रियते–

अंगाभ्यंगकरं सुबन्धमुपरि स्नानप्रदं वारिदं
वस्त्रप्रापणशर्मधाम बकुलं गन्धार्पिणं पुषपकम्।
मिष्टद्रव्यसमर्पकं मधुकरं ताम्बूलदं जम्बुलं
नित्यं गोष्ठसुधांशुकान्तिसुधया पुष्टं दिदृक्षामहे।।१३७।।

● *अनुवाद*–श्रीकृष्ण के साथ एकान्तवास करने को 'स्थिति' कहते हैं।।१३६।।

उदाहरण–(हंसदूत में) एक हंस को वृन्दावन से दूत रूप में मथुरा श्रीकृष्ण के पास भेजा गया। मथुरा में जाकर हंस श्रीकृष्ण को कैसे पहचाने, उसे कहा गया कि, हंस ? तू वहाँ जाकर देखना)–जिनके सामने गोपीवृन्द का भयदाता कठिन–हृदय अक्रूर मणिस्तम्भ के सहारे बैठा कुरुकुल की कथा वर्णन कर रहा हो, तथा देवगुरु बृहस्पति का शिष्य श्रीउद्धव दोनों घुटने टेक कर स्वर्णभूमि पर बैठा जिनके चरणकमल सम्वाहन कर रहा हो–तू उनको श्रीकृष्ण जानना (यहाँ अक्रूर एवं उद्धव की स्थिति दिखाई गई है)।।१३७।।

६२–निजावसरशुश्रूषाविधाने सावधानता।
पुरस्तस्यानिवेशाद्या योगेऽमीषां क्रिया मताः।।१३८।।

● *अनुवाद*–(योग में दास–भक्तों की क्रिया दिखाते हैं)–श्रीकृष्ण सहित मिलन काल में दास–भक्तों की अपनी–अपनी समयानुकूल सेवा विधान में सावधानता रहती है। तथा श्रीकृष्ण के सामने उपवेशनादि (बैठे रहना) होता है।।१३८।।

६३–केचिदस्या रतेः कृष्णभक्त्यास्वादबहिर्मुखाः।
भावत्वमेव निश्चित्य न रसावस्थतां जगुः।।१३६।।
६४–इति तावदसाधीयो यत्पुराणेषु केषुचित्।
श्रीमद्भागवते चैष प्रकटो दृश्यते रसः।।१४०।।

तथाहि एकादशे (११।३।३२)–

७७–क्वचिदुदन्त्यच्युतचिन्तया –
क्वचिद्धसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः।

नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं
भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः।।१४१।।

सप्तमे च (७।७।३४)–

७८–निशम्य कर्माणि गुणानतुल्यान्
वीर्याणि लीलातनुभिः कृतानि।
यदातिहर्षोत्पुलकाश्रु गद्गदं
प्रोत्कण्ठ उद्गायति रौति नृत्यति।।१४२।।

■ *दुर्गमसंगमनी टीका*–ननु भवन्तु ते तद्वहिर्मुखाः, तेषां पूर्वनिर्दिष्टं तन्मतं तु दृढमेव रसशास्त्रकृन्मुनिसम्मत्वात्, तत्राह–इतीति। तावत्पदं वाक्योपन्यासेऽव्ययम्, इति एतन्मतमसावीयः श्रीभागवतं रसं व्याप्तुमसमर्थत्वान्नातिदृढमित्यर्थः। कुतस्तत्राह–यदिति। मतेऽपीतिशब्द इति क्षीरस्वामी; तत्र यद्दर्शितमित्यापिशलिपिति, तत्रापि शलिरिदं मतं स्वीकृतवानित्यर्थः।।१४०।।

● *अनुवाद*–कृष्णभक्ति के आस्वादन से बहिर्मुख कोई–कोई लोग इस कृष्णरति का भावत्व मात्र ही निश्चय करके उसकी रसावस्थता स्वीकार नहीं करते हैं। किन्तु उनका यह मत दोषपूर्ण है, क्योंकि कई एक पुराणों में एवं श्रीमद्भागवत में भी यह भक्तिरस स्पष्टरूप से दीखता है।।१३०–१४०।।

प्रमाण–श्रीमद्भागवत (११।३।३२) में वर्णित है; भक्तियोग का साधन करते–करते भक्तगण कृष्णचिन्तन में कभी रोते हैं, कभी हंसते हैं, कभी आनन्दित होते हैं, कभी अलौकिक वाणी बोलते हैं, कभी नाच उठते हैं, कभी गान करते हैं, कभी श्रीकृष्ण की लीलादि का अनुशीलन करते हैं, एवं कभी परम वस्तु को प्राप्त कर परमानन्द में चुपचाप अवस्थान करते हैं।।१४१।

श्रीमद्भागवत (७।७।३४) में भी वर्णित है; श्रीप्रह्लाद ने सखाओं से कहा–श्रीकृष्ण अपने लीला–विग्रह द्वारा जो समस्त लोकातीत काम करते हैं एवं जो वीर्य प्रकाशित करते हैं, उस समस्त की कथा और उनके अतुलनीय गुणों की कथा सुन कर भक्तजन अतिशय आनन्दवश पुलकित हो उठते हैं, उनके नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगती है, वे गद्गद वाणी से उच्चगान, कभी चीत्कार करने लगते हैं और कभी नाचने लगते हैं (उपर्युक्त समस्त विकार भक्तों के चित्त में रहने वाली कृष्णरति के बिना कभी उदित नहीं होते। अतः इनसे रसास्वादन का परिचय मिलता है और भक्ति के रसत्व प्राप्त होने को ये सिद्ध करते हैं)।।१४२।।

६५–एषाऽत्र भक्तभावानां प्रायिकी प्रक्रियोदिता।
किन्तु कालादिवैशिष्ट्यात् क्वचित्स्यात् सीमलंघनम्।।१४३।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*क्वचिद्रुदन्तीत्यादिकं सामान्यभक्तिरसपरमपि विशेषे पर्यवस्येदिति भावः, तत्र क्वचिद्रुदन्तीत्यादिकमेकादशस्कन्धस्थं पद्यम्, निशम्येति तु सप्तमस्कन्धस्थं ज्ञेयम्।।१४३।।*

● *अनुवाद*–उपर्युक्त श्लोकों में कहे गये रोनादि भक्तभाव की प्रायिकी क्रियायें हैं। प्रायशः ये क्रियायें प्रकाशित हुआ करती हैं, किन्तु देश–कालादि

की विशिष्टता अनुसार कभी–कभी इनकी सीमा का उल्लंघन हो जाता है अर्थात् उल्लिखित क्रियाओं की अपेक्षा अधिक क्रियायें प्रकाशित होती हैं।।१४३।।

अथ गौरवप्रीतिः–

६६–लाल्याभिमानिनां कृष्णे स्यात् प्रीतिर्गौरवोत्तरा।
सा विभावादिभिः पुष्टा गौरवप्रीति उच्यते।।१४४।।

अत्रालम्बनाः–

६७–हरिश्च तस्य लाल्याश्च भवन्त्यालम्बना इह।।१४५।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*गौरवं श्रीकृष्णरूप–गुरुनिष्ठत्वं गुरुत्वमेवोत्तरं प्रौढत्वे पर्यवसितंयस्याम्।।१४४।।*

● *अनुवाद*–(प्रीतभक्तिरस के दो प्रकारों में सम्भ्रम–प्रीतरस का वर्णन करने के बाद अब आगे गौरव–प्रीतरस का वर्णन करते हैं)–मैं श्रीकृष्ण का लालनीय हूँ, श्रीकृष्ण मेरे लालक (पालक) हैं–इसलिए वे मेरे गुरुजन हैं, ऐसा अभिमान जो भक्त पोषण करते हैं, श्रीकृष्णविषय में उनकी गौरवोत्तरा (गुरुत्व–ज्ञानमयी) प्रीति होती है। वह प्रीति विभावादि द्वारा पुष्ट होकर *'गौरव–प्रीतरस'* नाम से जानी जाती है।।१४४।।

इस गौरव–प्रीतरस के श्रीहरि विषयालम्बन हैं तथा उनके लाल्य–भक्त आश्रयालम्बन हैं।।१४५।।

तत्र हरिर्यथा–

७६–अयमुपहितकर्णः प्रस्तुते वृष्णिवृद्धै–
र्यदुपतिरितिहासे मन्दहासोज्ज्वलास्यः।
उपदिशति सुधर्मामध्यमध्यास्य दीव्यन्
हितमिह निजयाग्रे चेष्टयैवात्मजान्नः।।१४६।।

६८–महागुरुर्महाकीर्तिर्महाबुद्धिर्महाबलः।
रक्षी लालक इत्याद्यैर्गुणैरालम्बनो हरिः।।१४७।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*अयमिति। चेष्टया उपहितकर्ण इत्यादिलक्षणया, हितम् एवमेव पूर्वेषां महतां वृत्तमनुसरणीयमित्यर्थः।।१४६।।*

● *अनुवाद–श्रीहरि के विषयालम्बन का उदाहरण*–वृद्ध यादवगण किसी उपदेशपूर्ण इतिहास का जब वर्णन करते हैं, तो मन्द मुसकानोज्ज्वल मुख यदुपति श्रीकृष्ण सुधर्मासभा में बैठकर उसके सुनने के लिए उत्कर्ण होते हैं, (कान उठा कर सुनते हैं)। वे अपनी ऐसी चेष्टा द्वारा ही अपने आत्मज हम लोगों को हित उपदेश किया करते हैं; (बड़ों से उपदेश ध्यानपूर्वक ग्रहण करना चाहिए–ऐसी शिक्षा देते हैं)।।१४७।।

इस गौरवोत्तरा प्रीति में महागुरु, महाकीर्ति, महाबुद्धि, महाबल, रक्षक, लालक आदि गुणों द्वारा श्रीकृष्ण विषयालम्बन होते हैं (ये समस्त गुण ही गौरवमय प्रीति के अनुभाव हैं)।।१४७।।

अथ लाल्याः—

६९—लाल्याः किल कनिष्ठत्वपुत्रत्वाद्याभिमानिनः।
कनिष्ठाः सारणगदसुभद्रा—प्रमुखाः स्मृताः।
प्रद्युम्नचारुदेष्णाद्याः साम्बाद्याश्च कुमारकाः।।१४८।।

एषां रूपं यथा—

८०—अपि मुरान्तकपार्षदमण्डलादधिकमण्डनवेषगुणश्रियः।
असितपीतसितद्युतिभिर्युता यदुकुमारगणाः पुरिरेमिरे।।१४९।।

एषां भक्तिः—

८१—सग्धिं भजन्ति हरिणा मुखमुन्नमय्य
ताम्बूलचर्वितमदन्ति च दीयमानम्।
घ्राताश्च मूर्ध्नि परिरभ्य भवन्त्युदस्राः
साम्बादयः कति पुरा विदधुस्तपांसि।।१५०।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*सग्धिं सह—भोजनम्।।१५०।।*

● *अनुवाद*—(आश्रायालम्बन—लाल्यभक्त)— जो कनिष्ठता तथा पुत्र होने का अभिमान पोषण करते हैं, उनको 'लाल्य' कहते हैं। उनमें सारण, गद, एवं सुभद्र प्रमुख जन कनिष्ठत्वाभिमानी हैं, और प्रद्युम्न, चारूदेष्ण तथा साम्ब आदि यदुकुमारगण पुत्राभिमानी हैं।।१४८।।

यदुकुमारों का रूप—यदुकुमारगण श्रीकृष्ण के पार्षदों से भी अधिक वेष भूषा, गुण तथा शोभाशाली हैं एवं कृष्णवर्ण, पीतवर्ण तथा शुक्ल वर्ण द्युति से द्वारकापुरी में विहार करते हैं।।१४९।

यदुकुमारों की भक्ति — साम्बादि पुत्रगण श्रीकृष्ण के साथ भोजन करते हैं, मुख को ऊँचा कर श्रीकृष्ण अपना चर्वित पान प्रदान करने पर उसे वे खाते हैं, श्रीकृष्ण उनको अपनी गोद में लेकर मस्तकको सूंघते हैं तो उनकी आँखों में प्रबल वेगसे अश्रु प्रवाहित होने लगते हैं। अहो ! न जाने उन्होंने पूर्व जन्म में कितनी तपस्या की थी ? !!१५०।।

७० — रूक्मिणीनन्दनस्तेषु लाल्येषु प्रवरो मतः १५१।।

तस्य रूपम्—

८२ —स जयति शम्बरदमनः सुकुमारो यदुकुमारकुलमौलिः
जनयति जनेषु जनकभ्रान्तिं यः सुष्ठु रूपेण।।१५२।।

अस्य भक्ति :—

८३—प्रभावति ! समीक्ष्यतां दिवि कृपाम्बुधिमहिशा
स एष परमो गुरुर्गरुड़गोयदूनां पतिः।
यतः किमपि लालनं वयमवाप्य दर्पोद्धुराः
पुरारिमपि संगरे गुरुरुषं तिरस्कुर्महे।।१५३।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—प्रभावतीति। श्रीहरि वंशोक्तप्रभावतीहरणे तत्—समीपस्थस्य श्रीप्रद्युम्नस्य वाक्यम्।।१५३।।

● *अनुवाद*–लाल्यगण में रुक्मिणीनन्दन श्रीप्रद्युम्न ही सर्वप्रधान हैं।।१५१।।

श्रीप्रद्युम्न का रूप में जो अपने रूप से लोगों का श्रीकृष्ण में भ्रान्तिपूर्वक सम्यक् प्रकार से आनन्द उत्पादन करते हैं, यदुकुमारचूड़ामणि सुकुमार उस शम्बर–शत्रु श्रीप्रद्युम्नजी की जय हो।।१५२।।

श्रीप्रद्युम्न की भक्ति–(प्रभावती–हरण के समय श्रीप्रद्युम्न ने उसे कहा)–हे प्रभावती ! हम जैसे व्यक्तियों पर कृपा सागर श्रीकृष्ण का स्वर्ग में तू सन्दर्शन कर। गरुड़ारूढ़ ये यादवों के पति हैं एवं परम गुरु हैं। इनके पास हमने कैसा अनिर्वचनीय लालन प्राप्त किया है, कि जिसके फलस्वरूप गर्वित होकर भारी क्रोधयुक्त श्रीशिव का भी हमने तिरस्कार कर दिया।।१५३।।

७१–उभयेषां सदाराध्यधियैव भजतामपि
सेवकानामिहैश्वर्यज्ञानस्यैव प्रधानता।
लाल्यानां तु स्वसम्बन्धस्फूर्त्तिरिव समन्ततः।।१५४।।
७२–व्रजस्थानां परैश्वर्यज्ञानशून्यधियामपि।
अस्त्येव वल्लवाधीशपुत्रत्वैश्वर्यवेदनम्।।१५५।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*बल्लवाधीशपुत्रत्वेनैव यदैश्वर्यमिन्द्रजयादिप्रभावस्तस्य वेदनमनुभवः।।१५५।।*

● *अनुवाद*–दोनों प्रकार के अर्थात् सम्भ्रमप्रीति वाले तथा गौरवप्रीति वाले भक्तगण श्रीकृष्ण में सर्वदा आराध्यबुद्धि पोषण करते हुए उनकी सेवा करते हैं। तथापि द्वारका के सेवकों में ऐश्वर्य की प्रधानता रहती है और लाल्यों में श्रीकृष्ण के साथ सर्वभाव से सम्बन्धज्ञान की प्रधानता रहती है।।१५४।।

व्रज के सेवकों में, श्रीकृष्ण परमेश्वर हैं–इस प्रकार की बुद्धि कभी नहीं होती है। वे श्रीकृष्ण को गोपराज–नन्दन मानते हैं, फिर भी श्रीकृष्ण के इन्द्र पर विजय प्राप्त करने के प्रभावरूप ऐश्वर्य की बात जानते हैं। (उस प्रभाव को परमेश्वरत्व–जनित नहीं मानते, एक अपूर्व क्षमता मात्र जानते हैं)।।१५५।।

अथोद्दीपनाः–

७३–उद्दीपनास्तु वात्सल्यस्मितप्रेक्षादयो हरेः।।१५६।।

यथा, ८४–अग्रे सानुग्रहं पश्यन्नग्रजं व्यग्रमानसः।
गदः पदारविन्देऽस्य विदधेदण्डवन्नतिम्।।१५७।।

● *अनुवाद*–श्रीकृष्ण का वात्सल्य, मन्द मुसकान एवं दृष्टि आदि गौरवप्रीतरस के *'उद्दीपन विभाव'* है।।१५६।।

उदाहरण; सानुग्रह अग्रज श्रीकृष्ण को सामने देखकर–श्री गद व्याकुल चित्त होकर उनके चरणों में दण्डवत् प्रणाम करने लगा।।१५७।।

अथानुभावाः–

७४–अनुभावास्तु तस्याग्रे नीचासननिवेशनम्।
गुरोर्वर्त्मानुसारित्वं धुरस्तस्य परिग्रहः।

स्वैराचारविमोक्षाद्याः शीता लाल्येषु कीर्तिताः।।१५८।।

तत्र नीचासननिवेशनं यथा–

८५–यदुसदसि सुरेन्द्रैर्द्रागुपव्रज्यमानः
सुखदकरकवार्भिर्ब्रह्मणाऽभ्युक्षितांगः।
मधुरिपुमभिवन्द्य स्वर्णपीठानि मुंचन्
भुवमभि मकरांगो रांकवं स्वीचकार।।१५६।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*उपव्रज्यमानः पुरो गत्वा समानीयमानः, पाठान्तरं तु त्यक्तं, रंकुः मृगविशेषः।।१५६।।*

● *अनुवाद–(गौरवप्रीतरस के अनुभाव)* श्रीकृष्ण के सामने नीचे आसन पर बैठना, गुरु प्रदर्शित अनुसरण, श्रीकृष्ण का कार्यभार ग्रहण करना एवं आचरण का परित्यागादि शीत–भाव लाल्यभक्तों के अनुभाव हैं।।१५८।।

नीचासन निवेशन का उदाहरण–मकरांग श्रीप्रद्युम्न यदुसभा में जब आये तो श्रेष्ठदेवता इन्द्र–वरुणादि ने उनकी अगवानी की और उनको सभा में ले आये, दिव्यमाला, वन्दना स्तुति आदि द्वारा ब्रह्मा जी ने उनकी अर्चना की। इस प्रकार सभा में प्रवेश करने पर श्रीप्रद्युम्न ने श्रीकृष्ण को प्रणाम किया और वहाँ उनके बैठने के लिए जो सोने का सिंहासन रखा हुआ था, उसका उन्होंने परित्याग कर दिया और मृगछाला का आसन बिछा कर पृथ्वी पर ही बैठ गए।।१५८।।

७५–दासैः साधारणाश्चान्ये प्रोच्यन्तेऽमीषु केचन।
प्रणामो मौनबाहुल्यं संकोचः प्रश्रयाढ्यता।
निजप्राणव्ययेनापि तदाज्ञापरिपालनम्।।१६०।।
७६–अधोवदनता स्थैर्य्यं कासहासादिवर्जनम्।
तदीयातिरहः केलिवार्ताद्युपरमादयः।।१६१।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*दासैरित्यादौ "तदीयातिरहःकेलिति" यद्यपि तेष्वत्यन्तासम्भवान्निषेधोऽपि न प्रसज्जेत तथाप्याधुनिकतद्भावानां बोधनार्थमेव निषिद्धमिति ज्ञेयम्।।१६१।।*

● *अनुवाद*–कोई–कोई व्यक्ति इन लाल्य–पुत्रादि में दूसरे दास–भक्तोंके साधारण कई एक अनुभावों को भी कहते हैं, जैसे–प्रणाम, अधिकतर मौन रहना, संकोच, विनय–शीलता। अपने प्राणत्याग द्वारा भी श्रीकृष्ण की आज्ञा का पालन, नीचे मुख करके रहना, स्थिरता, श्रीकृष्ण के सामने न खाँसना न हँसना तथा श्रीकृष्ण की गोपनीय केलि वार्ता से उपरामता।। (वास्तव में श्रीकृष्ण की गोपनीय केलि वार्त्ता का अनुसन्धान लालयादि भक्तों के पक्ष में नितान्त असम्भव है, यहाँ लाल्यभाव के आधुनिक साधक भक्तों को ही लक्ष्य कर उसका निषेध किया गया है)।।१६०–१६१।।

अथ सात्त्विकाः–

८६–कन्दर्प ! विन्दति मुकुन्दपदारविन्द–
द्वन्द्वे दृशोः पदमसौ किल निष्प्रकम्पा।

प्रालेयबिन्दुनिचितं धृतकण्टका ते
स्विन्नाद्य कण्टलिफलं तनुरन्वकार्षीत्।।१६२।।

● *अनुवाद*–(गौरव प्रीतरस के सात्त्विक भाव)–हे कन्दर्प ! मुकुन्द चरणारविन्द युगल में तुम्हारे नेत्रों के साथ प्राप्त करने से तुम्हारा शरीर स्तब्ध, पुलकित तथा स्वेदयुक्त होकर हिमबिन्दु से परिव्याप्त कण्टकि–फल के समान हो रहा है। (स्तम्भ, रोमांच तथा स्वेदादि गौरव प्रीतरस के सात्त्विक भाव यहाँ दिखाये गए हैं)।।१६२।।

अथ व्यभिचारिणः–

७७–अनन्तरोक्ताः सर्वेऽत्र भवन्ति व्यभिचारिणः।।१६३।।

तत्र हर्षो यथा–

८७–दूरे दरेन्द्रस्य नभस्युदीर्णे ध्वनौ स्थितानां यदुराजधान्याम्।
तनूरुहैस्तत्र कुमारकाणां नटैश्च हृष्यद्भिरकारि नृत्यम्।।१६४।।

निर्वेदो यथा–

८८–धन्यः साम्ब ! भवान् सरिंगणमयन्पार्श्वे रजःकर्बुरो
यस्तातेन विकृष्य वत्सलतया स्वोत्संगमारोपितः।
धिङ्मां दुर्भगमत्र शम्बरमयैर्दुर्दैवविस्फूर्जितैः
प्राप्ता न क्षणिकाऽपि लालनरतिः सा येन बाल्ये पितुः।।१६५।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–शम्बरमयैरित्यवयवार्थे मयट्।।१६५।।

● *अनुवाद–व्यभिचारि भाव)*–सम्भ्रम प्रीतरस में जो पहले समस्त व्यभिचारिभाव कहे जा चुके हैं, वे हर्ष–निर्वेदादि सब भाव इस गौरव–प्रीतरस के भी माने गये हैं।।१६३।।

हर्ष का उदाहरण–श्रीकृष्ण के पाँचजन्य शंख की ध्वनि जब इस आकाश–मण्डल में हो उठी तो, यदुराजधानी में अवस्थित कुमारों के शरीर में रोमावली हर्षित नटगणों के साथ नाचने लगी।।१६४।।

निर्वेद का उदाहरण–श्रीप्रद्युम्न ने कहा, हे साम्ब ! तुम धन्य हो ! इधर–उधर घुटुरवन चलते हुए तुम्हारे सब अंग धूलि धूसरित हो रहे हैं फिर भी वात्सल्य–वश पिताजी ने तुम्हें आकर्षण कर अपनी गोद में बिठा लिया है। मुझे किन्तु धिक्कार है, मैं दुर्भागा हूँ, क्योंकि शम्बरासुर रूप प्रबल दुर्दैव द्वारा विडम्बित होने के कारण मैंने पिताजी का लालन प्राप्त नहीं किया।।१६५।।

अथ स्थायी–

७८–देहसम्बन्धितामात्राद् गुरुधीरत्र गौरवम्।
तन्मयी लालके प्रीतिर्गौरवप्रीतिरुच्यते।।१६६।।

७९–स्थायिभावोऽत्र सा चैषामामूलात् स्वयमुच्छ्रिता।
कंचिद्विशेषमापन्ना प्रेमेति स्नेह इत्यपि।
राग इत्युच्यते चात्र गौरवप्रीतिरेव सा।।१६७।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*देहसम्बन्धितेति। अत्र गुरुधीरिति गुरुरयमिति बुद्धिरित्यर्थः, सा गौरवमिति सम्बन्धिलक्षणया गम्यम्। अत्र नानास्थानपतितानां सामान्यविशेषप्रीतिनिरूपिकाणां कारिकाणां समन्वयः क्रियते, (२।५।२७)*

स्वस्माद्भवन्ति ये न्यूनास्तेऽनुग्राह्या हरेर्मताः।
आराध्यत्वात्मिकास्तेषां रतिः प्रीतिरितीरिता।।

ये न्यूना वयमिति स्वाभिमानमयरतिमन्तस्तेऽनुग्राह्यतया हरेर्मताः तेषां त्वाराध्योऽयमिति ज्ञानात्मिका रतिः प्रीत्यभिधया प्रोक्तेत्यर्थः,। अथ तस्या रसभेदद्वारा भेदद्वयमाह (३।१।४)—

अनुग्राह्यस्य दासत्वाल्लाल्यत्वादप्ययं द्विधा।
भिद्यते सम्भ्रमप्रीतो गौरवप्रीति इत्यपि।।

दासत्वं स्वकर्तृकतत्सेवायामिच्छुत्वं तस्मात्संभ्रमो भवति, सम्भ्रमात्मत्वाच्च सम्भ्रमप्रीत उच्यते, एवं लाल्यत्वं तत्कर्त्तृकस्वलालनायामिच्छुत्वं तस्माद्गौरवं भवति गौरवात्मत्वाच्च गौरवप्रीत उच्यत इति। अथ सम्भ्रमप्रीतिं वदन् सम्भ्रमस्य लक्षणमाह (३।२।७६)—

सम्भ्रमः प्रभुताज्ञानात् कम्पश्चेतसि सादरः।
अनेनैक्यं गता प्रीतिः संभ्रमप्रीतिरुच्यते।।

कम्पोऽत्र त्वरा, सा च सेवेच्छामयी ज्ञेया, (३।२।१४५)—

लाल्याभिमानिनां कृष्णे स्यात्प्रीतिर्गौरवोत्तरा।
सा विभावादिभिः पुष्टा गौरवप्रीत उच्यते।।

इत्यत्र लक्षितस्य गौरवप्रीतरसस्य स्थायिनं गौरवप्रीतिं वदन् गौरवस्य लक्षणमाह—देहसम्बन्धितेति। देहसम्बन्धितया स्वाभाविक्या यो मानः स्वभावत एवातिबाल्येपि तदीयताभिमानः तस्माद् या गुरुधीर्ममायं गुरुर्लालक इति बुद्धिः सा गौरवमुच्यते तन्मयी या तस्मिंल्लालके प्रीतिः सा गौरवप्रीतिरुच्यते इति, तत्र यद्यपि लालकधीरतिबाल्य एव केवला; गुरुधीमिश्रा तु प्रौढदशायां दृश्यते, तथापि कारणकार्यात्मकयोस्तयोरभेद एवेष्टः, एवमेव तत्र तत्र "क्वचिद्" इत्युक्तं; किन्तु यथायोग्यं भेद एवावगन्तव्य इति।।१६६।। तदेव स्थापयति—स्थायीति।।१६७।।

● **अनुवाद—*(गौरव प्रीतरस के स्थायिभाव)* देह के सम्बन्ध होने के अभिमान—वश जो गुरुबुद्धि है, उसे कहते हैं 'गौरव'। लालक के प्रति इस गुरुबुद्धिमयी प्रीति को 'गौरव—प्रीति' कहते हैं। यह गौरव—प्रीति ही गौरव प्रीतरस का स्थायीभाव है और आरम्भ से ही भक्तों के चित्त में स्वयं ही प्रादुर्भूत होकर उनके चित्त में यह व्याप्त रहता है—अर्थात् यह स्वयं सिद्ध है। यह गौरव—प्रीति किसी एक विशेषत्व को प्राप्त होकर 'प्रेम' नाम से अभिहित होती है। फिर यह प्रेम किसी एक विशेषत्व को प्राप्त होकर 'स्नेह' नाम से तथा फिर वह स्नेह किसी एक अनिर्वचनीय विशेषत्व को प्राप्त कर 'राग' नाम से अभिहित होता है।।१६६—१६७।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—यह पहले ही कहा जा चुका है कि सम्भ्रम—प्रीति गाढ़ता को प्राप्त कर, प्रेम, स्नेह, राग में परिणत होती है। श्रीकृष्ण—पुत्रों की भी श्रीकृष्ण में वैसी गुरु—बुद्धि है या लालक—बुद्धि है, जैसे लौकिक जगत् में पिता

के देह सम्बन्ध के कारण पुत्र की पिता के प्रति रहती है। यह गौरव–बुद्धि अति बाल्य अवस्था में रहती है, प्रौढ़ावस्था में श्रीकृष्ण के प्रति जो प्रीति उत्पन्न होती है, उसके साथ वह गौरव प्रीति मिश्रित होकर रहती है। अतः बाल्यकाल की गौरव–प्रीति होती है कारण, और प्रौढ़ अवस्था में मिश्रिता प्रीति उसका कार्य बन जाती है। कारण एवं कार्य का अभेद ही यहाँ अभिप्रेत है।

तत्र गौरवप्रीतिर्यथा–

> ८९–मुद्रां भिनत्ति न रदच्छदयोरमन्दा
> वक्त्रं च नोन्नमयति स्रवदस्रकीर्णम्।
> धीरः परं किमपि संकुचतीं झषांको
> दृष्टिं क्षिपत्यघभिदश्चणारविन्दे।।१६८।।

प्रेमा यथा–

> ९०–द्विषद्भिः क्षोदिष्ठैर्जगदविहतेच्छस्य भवतः
> करादाकृष्येव प्रसभमभिमन्यावपि हते।
> सुभद्रायाः प्रीतिर्दनुजदमन ! त्वद्विषयिका
> प्रपेदे कल्याणी न हि मलिनिमानं लवमपि।।१६९।।

● *अनुवाद*–परम धीर श्रीप्रद्युम्न पिता जी के आगे अधरोष्ठ मुद्रा खोलते नहीं हैं अर्थात् कुछ बोलते नहीं, अश्रुधारा युक्त मुख को भी ऊँचा नहीं उठाते; केवल श्रीकृष्ण के चरण–कमलों पर संकुचित दृष्टि से देखते रहते हैं।।१६८।।

गौरव–प्रीतिजात प्रेम–श्रीनारद ने श्रीकृष्ण से कहा, हे दनुजदमन ! इस जगत् में कोई भी आपकी इच्छा को टाल नहीं सकता, आपकी इच्छा के प्रतिकूल कोई आचरण नहीं कर सकता। ऐसे आपके हाथों से कर्ण, जयद्रथादि क्षुद्र शत्रुओं ने हठात् अभिमन्यु को खींच लिया और उसकी हत्या कर दी। तथापि तुम्हारी बहिन सुभद्रा की आपके प्रति कल्याणी प्रीति तनिक भी मलिन नहीं हुई। (सुभद्रा छोटी बहिन होने से श्रीकृष्ण की लाल्या है। अपने पुत्र की हत्या में श्रीकृष्ण की इच्छा जानकर भी उसका प्रेम श्रीकृष्ण के प्रति ध्वंस नहीं हुआ, यह प्रेम का लक्षण है।।१६९।।

स्नेहो यथा–

> ९१–विमुंच पृथुवेपथुं विसृज कम्पकुण्ठायितं
> विमृज्य मयि निक्षिप प्रसरदश्रुधारे दृशौ।
> करं च मकरध्वज ! प्रकट कण्टकालंकृतं
> निधेहि सविधे पितुः कथय वत्स ! कः संभ्रमः।।१७०।।

रागो यथा–

> ९२–विषमपि सहसा सुधामिवायं निपिबति चेत्पितुरिंगितं झषांकः।
> विसृजति तदसंमतिर्यदि स्याद्विषमिव तां तु सुधां स एष सद्यः।।१७१।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*विषमपि सहसेत्यादिकमेव पठनीयं, न तु विषमपि मुदित इत्यादिकम्।।१७१।।*

● *अनुवाद*—गौरव प्रीतिजात स्नेह; श्रीकृष्ण ने कहा, हे प्रद्युम्न ! विपुल कम्प का परित्याग करो, अपने कण्ठ की कुण्ठता को भी छोड़ो अर्थात् निःसंकोच होकर बोलो, अपने नेत्रों की अश्रुधारा पोंछकर मेरे प्रति देखो, अपने पुलकित हाथ को मुझ पर रखो। देखो, हे पुत्र ! पिता के निकट कैसा सम्भ्रम ?।। (अश्रु चित्तद्रवता का लक्षण है और चित्तद्रवता स्नेह का लक्षण है)।।१७०।।

गौरवप्रीति—जात राग—पिता श्रीकृष्ण का इशारा पाकर श्रीप्रद्युम्न विष को अमृत के समान तत्काल पान करने वाले हैं, और उनकी असम्मति देखकर अमृत को भी तत्क्षण विष के समान वह परित्याग करने वाले हैं।।१७१।।

८०—त्रिष्वेवायोगयोगाद्या भेदाः पूर्ववदीरिताः।।१७२।।

तत्र उत्कण्ठितम्—

६३—शम्बरः सुमुखि ! लब्धदुर्विपड्डम्बरः स रिपुरम्बरायितः।
अम्बुराजमहसं कदा गुरुं कम्बुराजकरमीक्षितास्महे।।१७३।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*त्रिष्वेव—प्रीतिप्रेयोवत्सलेष्वेव, अयोगयोगाद्या भेदा मुख्यावान्तरभेदेन तत्तत्संज्ञाः, पूर्ववद् अत्रैव प्रीतसामान्यैकदेशसंभ्रमप्रीत इव ईरिताः कथिताः, भेदा इत्यत्र संज्ञा इत्येव वा पाठः। अन्यत्र तु शान्तस्य पारोक्ष्यसाक्षात्काराावित्येव संज्ञे, मधुरस्य सम्भोगविप्रलम्भाविति मुख्ये संज्ञे, पूर्वरागाद्याश्च तदवान्तरसंज्ञा ईरिता इत्यर्थः।।१७२।।*

● *अनुवाद*—प्रीत, प्रेम, एवं वत्सल—इन तीनों प्रकार के रसों में पूर्वकथित रीति अनुसार अयोग तथा योगादि भेद हैं।।१७२।।

उत्कण्ठित का उदाहरण—(सूतिकागृह से शम्बर दैत्य प्रद्युम्न जी को हर ले गया था और अपनी पत्नी रति को सौंप दिया था। श्रीप्रद्युम्न जब यौवनावस्था को प्राप्त हुए तो श्रीनारद जी के कथानुसार रति उनमें पति भाव करने लगी। श्रीप्रद्युम्न जी ने शम्बर का वध कर दिया और रति को द्वारका ले आए। शम्बर वध के बाद श्रीप्रद्युम्न जी ने रति से कहा)—हे सुमुखि ! घोर विपदराशि के तुल्य परम शत्रु शम्बर मारा गया है। अब कब हम इन्दीवर कान्ति पाँचजन्य शंखधारी गुरु (पिता) श्रीकृष्ण के दर्शन करेंगे ?।।१७३।।

अथ वियोगः—

६४—मनो ममेष्टामपि गेण्डुलीलां न वष्टि योग्यां च तथास्त्रयोग्याम्।
गुरौ पुरं कौरवमभ्युपेते कारामिव द्वारवतीमवैति।।१७४।।

सिद्धिः—

६५—मिलितः शम्बरपुरतो मदनः पुरतो विलोकयन्पितरम्।
कोऽहमिति स्वं प्रमदान्न धीरधीरप्यसौ वेद।।१७५।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*अस्त्रयोग्याम्, अस्त्राभ्यासम् "अभ्यासः खुरली योग्येति त्रिकाण्डशेषः।।१७४।।*

● *अनुवाद—वियोग का उदाहरण*—गुरु श्रीकृष्ण के हस्तिनापुर चले जाने से मेरा मन अब कन्दुक—क्रीड़ा तथा अस्त्राभ्यास करना नहीं चाहता, यह द्वारका नगरी मुझे कारागार के समान लगती है।।१७४।।

योग में सिद्धि का उदाहरण—शम्बर असुर की पुरी से द्वारका आने पर प्रद्युम्न (मदन)—पिता श्रीकृष्ण को सामने देखकर ऐसे अधिक आनन्दित हुए कि धीरबुद्धि होकर भी विभ्रान्तिवश यह न जान सके कि मैं कौन हूँ?।।१७५।।

तुष्टिः—

६६—मिलितमधिष्ठगरुडं प्रेक्ष्य युधिष्ठिरपुरान्मुरारातिम्।
अजनि मुदा यदुनगरे सम्भ्रमभूमा कुमाराणाम्।।१७६।।

स्थितिः—

६७—कुंचयन्नक्षिणी किंचिद्वाष्पनिस्यन्दिपक्ष्मणी।
वन्दते पदयोर्द्वन्द्वं पितुः प्रतिदिनं स्मरः।।१७७।।

● *अनुवाद—योग में तुष्टि का उदाहरण*—युधिष्ठिरपुरी से गरुड़ पर आरूढ़ जब श्रीकृष्ण द्वारका में आये, तब उनके दर्शन कर यदुकुमारगण आनन्दवश अत्यधिक सम्भ्रम में पड़ गए।।१७६।।

योग में स्थिति का उदाहरण—श्रीप्रद्युम्न (मदन) अश्रुओं से डुब—डुबाते नेत्रों को कुछ मूँदकर प्रतिदिन पिता—श्रीकृष्ण के चरण—कमलों में वन्दना करते रहते हैं।।१७७।।

८१—उत्कण्ठितवियोगादौ यद्यद्विस्तारितं न हि।
संभ्रमप्रीतवज्ज्ञेयं तत्तदेवाखिलं बुधैः।।१७८।।

● *अनुवाद*—गौरव प्रीतिरस के उत्कण्ठित—वियोगादि जिन—जिन अनुभावों का यहाँ विस्तार पूर्वक वर्णन नहीं किया गया है, उन सबको सम्भ्रम प्रीतिरस के प्रसंग में वर्णित उत्कण्ठित—वियोगादि की भाँति बुद्धिमान् व्यक्तियों को जान लेना चाहिए।।१७८।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—श्रीपादरूप गोस्वामि ने प्रीतिभक्तिरस के मुख्य दो भेद वर्णन किये हैं—(१) सम्भ्रम—प्रीतरस तथा (२) गौरव—प्रीतरस। इनका विस्तृत वर्णन ऊपर किया गया है। प्रीतिसन्दर्भ में श्रीपाद जीवगोस्वामी ने तीन भेद माने हैं—१. आश्रय भक्तिमयरस, २. दास्य भक्तिमय रस तथा ३. प्रश्रय—भक्तिमय रस।

आश्रय भक्तिमय रस—के पालकरूप में आश्रय—भक्ति के आश्रय श्रीकृष्ण विषयालम्बन कहे गए हैं तथा श्रीकृष्ण—लीलान्तःपाती परम पाल्यगण आश्रयालम्बन कहे गए हैं। व्रजवासी परम पाल्यगण के निकट परम मधुर प्रभाव नराकृति (द्विभुज) श्रीकृष्ण ही विषयालम्बन हैं तथा मथुरा—द्वारका में नराकारता—प्रधान परमेश्वराकार श्रीकृष्ण ही विषयालम्बन कहे गये हैं। नराकारता प्रधान परमेश्वराकार श्रीकृष्ण से वैकुण्ठाधिपति श्रीनारायण ही अभिप्रेत हैं। वैकुण्ठ में प्रीतभक्ति रस का अभाव है, वहाँ केवल शान्तरस है।

श्रीपाद जीव गोस्वामी ने पाल्य—भक्त दो प्रकार के माने हैं—१. बहिरंग तथा २. अन्तरंग। प्रपंचाधिकारि ब्रह्मा, इन्द्रादि बहिरंग पाल्यगण हैं तथा जो केवल श्रीकृष्णचरणारविन्द की छाया में जीवन धारण करते हैं, वे हैं अन्तरंग

पाल्यगण। अन्तरंग पाल्यगण तीन प्रकार के हैं–साधारणजन, यदुपुरवासी तथा व्रजवासी।

दास्य भक्तिमय रस–प्रभुरूप में श्रीकृष्ण तथा परमेश्वर नराकार श्रीकृष्ण ही यहाँ विषयालम्बन कहे गए हैं। परमेश्वराकार श्रीकृष्ण का अनुशीलन करने वाले तथा नराकार श्रीकृष्ण का अनुशीलन करने वाले–दोनों प्रकार के सेवक–गण आश्रयालम्बन हैं।

सेवा–कार्य की विशिष्टतानुसार सेवक तीन प्रकार के कहे गए हैं। १. अंग–सेवक, २. पार्षद तथा ३. प्रेष्य। गात्रमर्दनकारि, ताम्बूल, वस्त्र तथा गन्ध अर्पणकारी सेवकों को *'अंग–सेवक'* कहा गया है। मन्त्री सारथि, सेनाध्यक्ष, धर्माध्यक्ष, देशाध्यक्ष आदि तथा विद्याचातुरी द्वारा जो सभा संचालन करते हैं वे 'पार्षद' माने गए हैं। अश्वारोही, शिल्पी आदि 'प्रेष्य' माने गए हैं। श्रीपाद जीवगोस्वामी ने आश्रयभक्तिमयरस तथा दास्यभक्तिमय रस के भी श्रीपाद रूपगोस्वामी की भाँति 'अयोगात्मक' तथा 'योगात्मक' दो भेद माने हैं।

आश्रयभक्ति को आश्रयभक्तिमय रस का स्थायीभाव माना है। दास्यभक्तिमय रस का स्थायिभाव तथा दैन्यांश प्रधान होने के कारण प्रश्रयभक्ति को ही प्रश्रयभक्ति रस का स्थायी भाव माना गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रीपादरूप तथा श्रीपादजीव के बीच मूलतः कुछ विरोध नहीं है।

इति श्रीभक्तिरसामृतसिन्धौ पश्चिमविभागे मुख्यभक्तिरसपंचक
निरूपणे प्रीतभक्तिरसलहरी द्वितीया।।२।।

● ● ●

तृतीय-लहरी : प्रेयोभक्तिरसाख्या

१–स्थायी भावो विभावाद्यैः सख्यमात्मोचितैरिह।
नीतश्चित्ते सतां पुष्टिं रसः प्रेयानुदीर्यते।।१।।

● *अनुवाद*–(सख्यभक्तिरस का दूसरा नाम है *"प्रेयोभक्तिरस"*। श्रीपाद जीवगोस्वामी ने इसे *'मैत्रीमय–रस"*, नाम दिया है।) सख्यरूप स्थायिभाव आत्मोचित विभावादि के द्वारा साधुजन के चित्त में पुष्टि को प्राप्तकर *'प्रेयोरस'* नाम से अभिहित होता है।।१।।

तत्रालम्बनाः–

२–हरिश्च तद्वयस्याश्च तस्मिन्नालम्बना मताः।।२।।

तत्र हरिः–

३–द्विभुजत्वादि भागत्र प्राग्वदालम्बनो हरिः।।३।।

तत्र व्रजे यथाः–

१–महेन्द्रमणिमंजुलद्युतिरमन्दकुन्दस्मितः
स्फुरत्पुरटकेतकीकुसुमरम्यपट्टाम्बरः।
स्रगुल्लसदुरस्थलः क्वणितवेणुरत्राव्रजन्
व्रजादघहरो हरत्यहह नः सखीनां मनः।।४।।

● *अनुवाद*–प्रेयोभक्तिरस के विषयालम्बन श्रीकृष्ण हैं तथा आश्रयालम्बन हैं वयस्य या सखागण।।२।।

पूर्वकथित प्रीतरस की भाँति द्विभुज तथा चतुर्भुज रूपधारी श्रीकृष्ण इसके विषयालम्बन हैं।।३।।

व्रज में श्रीकृष्ण का विषयालम्बनत्व–जिनकी कान्ति इन्द्रमणि से भी सुन्दर है, जिन की मन्दहास्य प्रफुल्लित कुन्दकली की तरह उज्ज्वल है, जिन्होंने परिधान में प्रस्फुटित स्वर्ण केतकी कुसुम रंग का मनोहर पीताम्बर धारण कर रखा है, जिनका वक्षस्थल वनमाला से सुशोभित है, जिनके अधरों पर वेणु मधुर ध्वनि कर रहा है, अहो ! वे अघहर श्रीकृष्ण गोष्ठ से वन में आते हुए अपने सखा–हम लोगों का मन हरण कर रहे हैं।।४।।

अन्यत्र यथा–

२–चंचत्कौस्तुभकौमुदीसमुदयं कौमोदकीचक्रयोः
सख्येनोज्ज्वलितैस्तथा जलजयोराढ्यं चतुर्भिर्भुजैः।
दृष्ट्वा हारिहरिन्मणिद्युतिहरं शौरिं हिरण्याम्बर
जग्मुः पाण्डुसुताः प्रमोदसुधया नैवात्मसंभावनाम्।।५।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*दारुकवाक्यम्–चंचन् इतस्ततः प्रसरन्; कौस्तुभकौमुदीसमुदयो यस्य तम्, आत्मसम्भावनाम्। अयमहस्मीति ज्ञानम् (३।३।१२) "शिरसि नृपतिर्द्रागघ्रासीदघारिमिति वक्ष्यमाणाद् युधिष्ठिरादीनां वात्सल्या–दिवलितत्वेऽप्यत्र पाण्डुसुतसामान्योक्तिः सौहृद्यरूपे सख्ये तत्तदंशस्य सम्भवात्, वक्ष्यते हि–(३।३।२२) वात्सल्यगन्धिसख्यास्तु किंचित्ते वयसाऽधिकाः। (३।३।३०) कनिष्ठकल्पाः सख्येन सम्बद्धाः प्रीतिगन्धिनेति।। एषां चतुर्भुजत्वाविर्भावेऽपि सख्यं; मुहुस्तदनुभवेन नातिवैलक्षण्यमननात्, यथोक्तं श्रीमदर्जुनेन (गी० ११।४६) तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो ! भव विश्वमूर्ते ! इति। सदा तु तत्रापि श्रीमन्नराकारतयैव स्थितिः, (भा० ७।१०।४८) 'येषां गृहानावसतीति साक्षाद् गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिंगमित्यादेः", अतस्तद्वयस्या, "रूपवेषगुणाद्यैस्तु समा" इति वक्ष्यमाणेन (३।३।८) तेषां न चतुर्भुजत्वमापद्यते।।५।।*

● *अनुवाद–मथुरा द्वारका में श्रीकृष्ण का विषयालम्बनत्व*–श्रीकृष्णसारथि दारुक ने कहा, जिनके कण्ठ में कौस्तुभमणि झूमती हुई कान्ति विस्तार कर रही है, जिनकी भुजाओं में शंख, चक्र, गदा पद्म सखाओं की भाँति अवस्थित रहकर उन्हें सुशोभित कर रहे हैं, मनोहर हरिण्यमणि की कान्ति से भी अधिक

मनोरम कान्तिशाली पीताम्बरधारी वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण के दर्शन कर श्रीयुधिष्ठिरादि पाण्डुपुत्र आनन्द–सुधा में निमग्न होकर आत्मविस्मृत हो गए।।५।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–श्रीकृष्ण में युधिष्ठिरादि का वात्सल्य–मिश्रित सख्य–भाव है। श्रीकृष्ण को चतुर्भुज देखकर भी उनका सख्य तिरोहित नहीं होता, उन्होंने उनका द्विभुजरूप भी देखा है और चतुर्भुज रूप भी। परन्तु उनका स्वाभाविक जो सख्यभाव है, उसमें कोई अन्तर नहीं आता। विश्वरूप देखने के बाद श्रीअर्जुन ने फिर श्रीकृष्ण के चतुर्भुज रूप देखने की प्रार्थना की थी। किन्तु प्रायः सर्वदा श्रीकृष्ण द्वारका में नराकार–द्विभुजरूप में ही रहते हैं।।

४–सुवेषः सर्वसल्लक्ष्मलक्षितो बलिनां वरः।
विविधाद्भुतभाषाविद्वावदूकः सुपण्डितः।।६।।
५–विपुलप्रतिभो दक्षः करुणो वीरशेखरः
विदग्धो बुद्धिमान् क्षन्ता रक्तलोकः समृद्धिमान्।
सुखी वरीयानित्याद्या गुणास्तस्येह कीर्तिताः।।७।।

● *अनुवाद–(प्रेयोरस में विषयालम्बन श्रीहरि के गुण)*–सुवेश, समस्त सल्लक्षणयुक्त, बलवानों में श्रेष्ठ, विविध प्रकार अद्भुत भाषा के वेत्ता, वावदूक, सुपण्डित, विपुल प्रतिभाशाली; दक्ष, करुण, वीरश्रेष्ठ, विदग्ध बुद्धिमान, क्षमाशील, समस्त लोगों के अनुराग के पात्र, समृद्धिमान्, सुखी वरीयान इत्यादि गुण श्रीहरि में प्रकाशित होते हैं। व्रज में श्रीकृष्ण का गोपभाव एवं मथुरा–द्वारका में क्षत्रिय–आवेश रहता है।।६–७।।

अथ तद्वयस्याः–

६–रूपवेषगुणाद्यैस्तु समाः सम्यगयन्त्रिताः
विश्रम्भसम्भृतात्मानो वयस्यास्तस्य कीर्तिताः।।८।।

यथा–

३–साम्येन भीतिविधुरेण विधीयमान–भक्तिप्रपंचमनुदंचदनुग्रहेण।
विश्रम्भसारनिकुरम्बकरम्बितेन वन्देतरामघहरस्य वयस्यवृन्दम्।।६।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*सम्यगयन्त्रिता दासवद् यन्त्रणाशून्याः, यतो विश्रम्भेति (३।३।१०६)। विश्रम्भो गाढविश्वासविशेषो यन्त्रणोज्झित" इति।।८।।*

● अनुवाद–प्रेयोरस में आश्रयालम्बन–सखागण–रूप (सौन्दर्य), गुण एवं वेषादि में जो श्रीकृष्ण के समान हैं, जो सम्यक् रूप से संकोचहीन हैं, विश्रम्भ तथा गाढ़ विश्वास विशेष के कारण जिनका मन सर्वदा सम्यक् रूप से पूर्ण तथा आनन्दित रहता है, वे श्रीहरि के वयस्य या 'सखा' कहलाते हैं।।८।।

उदाहरण–विश्रम्भ–सार राशियुक्त तथा भीतिरहित, तथा वात्सल्यादि की भाँति अनुग्रह अपेक्षारहित सख्य (साम्य) भाव द्वारा जो भक्तिव्यापार का विस्तार करते हैं अर्थात् निःसंकोचपूर्वक श्रीकृष्ण की सेवा करते हैं, पापहारी श्रीकृष्ण के उन सखागण की हम वन्दना करते हैं।।६।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–श्रीकृष्ण के सखा श्रीकृष्ण को अपने समान जानते हैं, दासों की भाँति उन्हें अपने से बड़ा नहीं जानते और वात्सल्यमय परिकरों की भाँति उन्हें अपना अनुग्राह्य या पाल्य–लाल्य नहीं जानते। श्रीकृष्ण से कभी उनका अनिष्ट नहीं होगा–ऐसा उनका श्रीकृष्ण के प्रति दृढ़ विश्वास रहता है। अतः वे सर्वदा भीतिरहित रहते हैं।।

७–ते पुरव्रजसम्बन्धात् द्विविधाः प्राय ईरिताः।।१०।।

तत्र पुरसम्बन्धिनः–

८–अर्जुनो भीमसेनश्च दुहिता द्रुपदस्य च।
श्रीदामभूसुराद्याश्च सखायः पुरसंश्रयाः।।११।।

एषां सख्यं, यथा–

४–शिरसि नृपतिर्द्रागघ्रासीदघारिमधीरधी–
भुजपरिघयोः श्लिष्टौ भीमार्जुनौ पुलकोज्ज्वलौ।
पदकमलयोः सास्रौ दस्त्रात्मजौ च निपेततु–
स्तमवशधियः प्रौढानन्दादरुन्धत पाण्डवाः।।१२।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*शिरसीत्यत्र भीमार्जुनावेवोदाहरणे ज्ञेयौ, श्रीदाम–द्रौपद्यौ च ताभ्यामुपलक्ष्यते, भुजपरिधयोः पदकमलयोश्च विषययोः, प्रकरणादघारेरेवैतानि ज्ञेयानि, श्लिष्टौ श्लिष्टवन्तौ, "गत्यर्थाकर्मकश्लिषे" त्यादिना कर्त्तरिक्तः।।१२।।*

● *अनुवाद*–कृष्णसखा दो प्रकार के हैं, १. पुर (द्वारका) –सम्बन्धी तथा २. व्रज–सम्बन्धी।।१०।।

अर्जुन, भीमसेन, द्रुपदकन्या द्रौपदी एवं श्रीदाम–ब्राह्मणादि पुर–सम्बन्धी सखा हैं।।११।।

९–श्रेष्ठः पुरवयस्येषु भगवान् वानरध्वजः।।१३।।

अस्य रूपं, यथा–

५–गाण्डीवपाणिः करिराजशुण्डा रम्योरुरिन्दीवरसुन्दराभः।
रथांगिना रत्नरथाधिरोही स रोहिताक्षः सुतरामराजीत्।।१४।।

सख्यं यथा–

६–पर्यंके महति सुरारिहन्तुरंके
निःशंकप्रणयनिसृष्टपूर्वकायः।
उन्मीलन्नवनर्मकर्मठोऽयं गण्डिवी
स्मितवदनाम्बुजो व्यराजीत्।।१५।।

● *अनुवाद*–पुर के सखाओं में कपिध्वज श्रीअर्जुन श्रेष्ठ हैं।।१३।।

श्रीअर्जुन का रूप–श्रीअर्जुन के हाथ में गाण्डीव धनुष रहता है, उनके ऊरु गजराज की सूण्ड से भी अधिक मनोरम हैं, इन्दीवर कमल से भी वे सुन्दर कान्ति, एवं लाल–लाल नेत्रयुक्त हैं, ऐसे श्रीअर्जुन श्रीकृष्ण के साथ रत्नमय रथ में आरोहण कर अतिशय शोभित होते हैं।।१४।।

श्रीअर्जुन का सख्य–बहुमूल्य अति सुन्दर पर्यंक पर बैठे हुए श्रीकृष्ण की गोदी में निःसंकोच प्रेम से अपना सिर रखकर नव–नव परिहास में लगे हुए मुसकान भरे मुख से श्रीअर्जुन विराजमान होते हैं।।१५।।

अथ व्रजसम्बन्धिनः–

१०–क्षणादर्शनतो दीनाः सदा सहविहारिणः।
तदेकजीविताः प्रोक्ता वयस्या व्रजवासिनः।
अतः सर्ववयस्येषु प्रधानत्वं भजन्त्यमी।।१६।।

एषां रूपं, यथा–

७–बलानुजसदृग्वयोगुणविलासवेषश्रियः
प्रियंकरणवल्लकीदलविषाणवेण्वंकिताः।
महेन्द्रमणिहाटकस्फटिकपद्मरागत्विषः
सदा प्रणयशालिनः सहचराः हरे पान्तु वः।।१७।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*क्षणादर्शनत इति–(भा० १०/१४/४५) "ऊचुश्च सुहृदः कृष्णमि" त्यत्र "तदेकजीविता" इति; (भा० १०/११/४६)।*

कृष्ण महाबकग्रस्तं दृष्टवा रामादयोऽर्भकाः।
बभूवुरिन्द्रियाणीव विना प्राणं विचेतसः।।इत्यत्र ज्ञेयम्।।१८।।

प्रियंकरणेति। अप्रियं प्रियं क्रियते यैस्तैः स्सर्वशुभंकरैः वल्लकीदलविषाण–वेणुभिरंकितः, लक्षिताः पाठान्तरं तु त्यक्तम्।।१७।।

● *अनुवाद–(व्रजसम्बन्धी कृष्ण–सखा)* जो आधे क्षण के लिए भी श्रीकृष्ण का दर्शन न होने पर व्याकुल हो उठते हैं, सदा श्रीकृष्ण के साथ विहार करते हैं एवं एकमात्र श्रीकृष्ण ही जिनके जीवन हैं, वे श्रीकृष्ण के व्रजवासी सखा समस्त सखाओं में सर्वप्रधान हैं।।१६।।

व्रजवासी श्रीकृष्ण–सखाओं का रूप–जिनकी वयस, विलास, वेष एवं शोभा बलानुज श्रीकृष्ण के समान है, जो अप्रिय को भी प्रिय करने में समर्थ हैं, जो बल्लकी के पत्तों द्वारा बने शृंग एवं वेणु को धारण करते हैं, किसी की कान्ति इन्द्रनीलमणि के समान है, किसी की स्वर्णतुल्य, किसी की स्फटिक तुल्य और किसी की पद्मपराग के समान है, जो सर्वदा ही श्रीकृष्ण की प्रीति विधान करते रहते हैं। श्रीकृष्ण के वे समस्त सहचर सखागण हमारी रक्षा करें।।१७।।

सख्यं, यथा–

८–उन्निद्रस्य ययुस्तवात्र विरतिं सप्त क्षमास्तिष्ठतो
हन्त श्रान्त इवासि निक्षिप सखे! श्रीदामपाणौ गिरिम्।
आधिर्विध्यति नस्त्वमर्पय करे किंवा क्षणं दक्षिणे
दोष्णस्ते करवाम काममधुना सव्यस्य संवाहनम्।।१८।।

यथा वा श्रीदशमे (१०/१२/११)–

९–इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या दास्यं गतानां परदैवतेन।
मायाश्रिताना नरदारकेण साद्धं विजह्रुः कृतपुण्यपुञ्जाः।।१९।।

एषु श्रीकृष्णस्य सख्यं, यथा–

१०–सहचरनिकुरम्बं भ्रातरार्य्य ! प्रविष्टं
द्रुतमघजठरान्तः कोटरे प्रेक्षमाणः।
स्खलदशिशिरवाष्पक्षालितक्षामगण्डः
क्षणमहमिवसीदन् शून्यचित्तस्तदासम्।।२०।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*उन्निद्रस्येति सखीनां वचनं, तदानीं श्रीहरौ शक्तेराविर्भावदर्शनेन तदावेशाज्ज्ञेयं तदेतत्पद्यं समत्वभावनामयस्नेहव्यंजकम्, उत्तरं तु सहविहारमयतद्व्यंजकमिति भेदः।।१८।। सतां परमस्वरूपसत्ताविर्भाववतां, यद्वा ब्रह्मपदसान्निध्यात् सद्विशेषाणाम्, उभयथा ज्ञानिनामित्येव; अनुभूतिः जडप्रतियोगि स्वप्रकाशवस्तु, सैव सुखं आत्मत्वेन पर्यवसिततया निरुपाधिप्रेमास्पदत्वात् सैव बृहत्तमपर्यायब्रह्माख्या सर्वेषां परमस्वरूपत्वात्। तेषां केवलतद्रूपेण स्फुरता; दास्यं गतानां दास्यभक्तिमताम् ऐश्वर्यादिपूर्णतया ततोऽपि परेण दैवतेन सर्वाराध्येन रूपेण स्फुरता महिमदर्शनार्थं तत्स्फूर्त्तिद्वयस्य विरलतामाह, मायाधिकारपतितानां तु (१०।२३।११) "मनुष्यदृष्ट्या दुष्प्रज्ञाः मर्त्यात्मानो न मेनिर" इत्यादिरीत्या यत् किंचिन्नरदारकरूपेण ज्ञानभक्त्योरभावान्न तु तत्तद्रूपेणापि; तेन सार्द्धं विजहुः सहार्थतृतीयया स्वप्रेम्णा वशीकृत्यात्मसंगितामापादितेन दारदारकाकारत्वेऽपि तत्तत्सर्वातिक्रमि–मधुरतया स्फुरता तेन विहारमपि कृतवन्त इत्यर्थः, अतस्तेभ्यः सर्वेभ्यः कृतपुण्यपुंजा इति लोकोक्तिः, वस्तुतस्तु कृतानां चरितानां भगवतः परमप्रसादहेतुत्वेन पूण्याश्चारवः पुंजा येषां त इत्यर्थः, "पुण्यन्तु चार्वपीत्यमरः, विशेषजिज्ञासा चेद्वैष्णवतोषणी दृश्या।।१६।।*

● *अनुवाद–व्रजवासी–कृष्णसखाओं का सख्य*–(श्रीकृष्ण जब गोवर्धन को धारण किये हुए थे, तब सखाओं ने कहा)–हे सखे ! तुम्हें गोवर्धन धारण किये हुए तथा बिना सोये सात रात्रियाँ व्यतीत हो गई हैं। कितना कष्ट है ! तुम थक गए होगे। तुम्हें देखकर मन में अत्यन्त दुःख हो रहा है। हे सखे ! अब इस गोवर्धन को तुम श्रीदाम के हाथ पर रख दो अथवा थोड़ी देर के लिए दायें हाथ पर धारण कर लो, हम तुम्हारे बाँये हाथ को दबा दें।।१८।।

श्रीमद्भागवत (१०।१२।११) में कहा है–भक्ति के साहचर्यपूर्वक ज्ञानमार्ग का अनुसरण करने वाले ज्ञानी व्यक्ति जिनका ब्रह्मानन्द रूप में अनुभव करते हैं, दास्यभक्तियुक्त भक्त जिनको ऐश्वर्यमय परदेवता रूप में उपलब्ध करते हैं तथा मायामुग्ध व्यक्ति जिन्हें नरबालक मात्र समझते हैं; उनके साथ इन पुण्यपुंजकारी बालकगण ने निःसंकोचपूर्वक समानभाव से विहार किया है।।१६।।

व्रजवासी–सखाओं के प्रति श्रीकृष्ण का सख्य–(श्रीबलराम जी को श्रीकृष्ण ने कहा)–हे भ्रातः ! अपने सखाओं को तीव्रगति से अघासुर के उदर में जाता देखकर मेरे गाल भीतर को पिचक गए तथा नेत्रों से गर्म–गर्म अश्रुधारा मेरे उन गालों पर प्रवाहित होने लगी। आर्य ! सुधरहित होकर मैं कुछ क्षणों के लिए भारी दुःख में ग्रस्त हो गया।।२०।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—श्लोक सं० १८ में सखाओं का श्रीकृष्ण के प्रति समत्व भावमय स्नेह प्रकाशित होता है। श्लोक सं० १६ में सखाओं का श्रीकृष्ण के साथ विहारमय स्नेह व्यंजित होता है। साथ विहार करने वाले सखाओं के भाग्यों की सराहना की गई है। भक्ति के साहचर्य से ज्ञानीजन जिन्हें ब्रह्मसुख रूप में अनुभव करते हैं; अर्थात् ब्रह्म, तथा ब्रह्मसुख अनुभूति रूप में श्रीकृष्ण—विग्रह का अनुभव करते हैं, उन श्रीकृष्ण के साथ व्रजसखा समान भाव से विहार करते हैं। दास्यभाव में भक्त उन्हें इष्टदेव जानते हैं तथा मायिक विषय सुख में आसक्त कर्मीगण जिन्हें प्राकृत मानव—बालक ही समझते हैं। उनके साथ वे भाग्यशाली सखा विहार करते हैं। ज्ञानी केवल अनुभव ही करते हैं। दास्यभक्त उनको इष्टदेव जानकर गौरवपूर्वक सेवा करते हैं। इन दोनों में श्रीकृष्ण के साथ विहार करने की योग्यता नहीं है, किन्तु कर्मीगण को न तो उनका अनुभव ही प्राप्त होता है न वे प्रेमपूर्वक उनकी सेवा का ही सौभाग्य प्राप्त कर पाते हैं, सहविहार का तो उनके लिए कोई प्रश्न ही नहीं उठता। अतः जो सखा समान भाव से श्रीकृष्ण के साथ विहार करते हैं, वे महान् पुण्यशाली हैं। पुण्यशाली भी केवल लोक—प्रतीति के लिए उक्ति है, वे तो नित्य सिद्ध पार्षद हैं श्रीकृष्ण के। सहविहार रूप सौभाग्य किसी पुण्यपुंज के आधीन नहीं है। उनका अनादि—काल से भगवत् प्रीतिमय आचरण ही वास्तव में पुण्यों का पुंज है जो उन्हें ब्रह्मसुखानुभवी ज्ञानियों तथा दास्यभक्तों से सर्वोत्कृष्टता प्रदान करता है।

श्लोक सं० २० में श्रीकृष्ण का भी अपने सखाओं के प्रति सख्यमय अतिशय स्नेह प्रकाशित होता है।

११—सुहृदश्च सखायश्च तथा प्रियसखाः परे।
प्रियनर्मवयस्याश्चेत्युक्ता गोष्ठे चतुर्विधाः।।२१।।

तत्र सुहृदः—

१२—वात्सल्यगन्धिसख्यास्तु किंचित्ते वयसाऽधिकाः।
सायुधास्तस्य दुष्टेभ्यः सदा रक्षापरायणाः।।२२।।
१३—सुभद्र—मण्डलीभद्र—भद्रवर्द्धन—गोभटाः
यक्षेन्द्रभट—भद्रांग—वीरभद्रा—महागुणाः।
विजयो बलभद्राद्याः सुहृदस्तस्य कीर्त्तिताः।।२३।।

● *अनुवाद*—श्रीकृष्ण के व्रज के सखागण चार प्रकार के हैं—१. सुहृत्, २. सखा, ३. प्रियसखा एवं ४. प्रियनर्म सखा।।२१।।

सुहृत्—जिनके सख्य में वात्सल्य की भी गन्ध है, एवं जो वयस में श्रीकृष्ण से कुछ बड़े हैं, लाठी आदि अस्त्र धारण करके सर्वदा श्रीकृष्ण की दुष्टों से रक्षा करते हैं। उन्हें *'सुहृत् सखा'* कहते हैं।।२२।।

सुभद्र, मण्डलीभद्र, भद्रवर्द्धन, गोभट, यक्षेन्द्रभट, भद्रांग, वीरभद्र, विजय एवं बलभद्रादि महागुणशाली गोपबालक श्रीकृष्ण के 'सुहृत्' हैं।।२३।।

एषां सख्यं, यथा–

११–धुन्वन् धावसि मण्डलाग्रममलं त्वं मण्डलीभद्र ! किं,
गुर्वी नार्य्य ! गदां गृहाण विजय ! क्षोभं वृथा मा कृथाः।
शक्तिं न क्षिप भद्रवर्द्धन ! पुरो गोवर्द्धनं गाहत
गर्जन्नेष घनो बली न तु बलीवर्दाकृतिर्दानवः।।२४।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*धुन्वन्नित्यरिष्टवधात्पूर्वं वृत्तम्।।२४।।*

● *अनुवाद–सहृत् गण का सख्य*–(अरिष्टासुर के वध से पहले एक सुहृत् ने कहा) हे मण्डलीभद्र ! तू किसलिए तलवार घुमाते हुए भाग रहा है ? हे आर्य बलदेव ! आप महान् गदा को धारण मत करो। हे विजय ! तुम वृथा क्षोभ मत करो। हे भद्रवर्द्धन ! तुम शक्ति मत फेंकना। यह देखो, मेघ की सी गर्जना करता हुआ सामने गोवर्धन पर बलवान् वृषभ की आकृति वाला यह दानव घूम रहा है।।२४।।

१४–सुहृत्सु मण्डलीभद्र–बलभद्रो किलोत्तमौ।।२५।।

तत्र मण्डलीभद्रस्य रूपं यथा–

१२–पाटलपटलसदंगो लकुटकरः शेखरी शिखण्डेन।
द्युतिमण्डलीमलिनिभां भाति दधन्मण्डलीभद्रः।।२६।।

सख्यं, यथा

१३–वनभ्रमणकेलिभिर्गुरुभिरन्हि खिन्नीकृतः
सुखं स्वपितु नः सुहृद् व्रजनिशान्तमध्ये निशि।
अहं शिरसि मर्दनं मृदु करोमि कर्णे कथा
त्वमस्य विसृजन्नलं सुबल ! सक्थिनी लालय।।२७।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*"श्वेतरक्तस्तु पाटलः" इत्यमरः। तादृशेन पटेन लसदंगः।।२६।।*

● *अनुवाद*–सुहृत्–सखाओं में मण्डलीभद्र तथा बलभद्र प्रधान हैं।।२५।।

मण्डलीभद्र का रूप–शरीर पर पाटल (गुलाबी) रंग का मनोहर वस्त्र धारण कर, हाथ में लाठी, मस्तक पर मोरपुच्छ तथा भ्रमरतुल्य कान्ति धारण कर मण्डलीभद्र शोभित हो रहा है।।२६।।

मण्डलीभद्र का सख्य–(मण्डलीभद्र ने कहा)–मेरा परम सुहृत् श्रीकृष्ण दिन में महान् वनभ्रमणक्रीड़ा करते–करते अतिशय खिन्न हो गया है, इस रात के समय व्रजभवन में उसे सुख–पूर्वक सोने दो। मैं धीरे–धीरे उसका मस्तक दबाता हूँ। हे सुबल ! तुम उसके कानों में बातें करना अब बन्द करो और उसकी जाँघों को दबा दो।।२७।।

बलदेवस्य रूपं, यथा–

१४–गण्डान्तस्फुरदेककुण्डलमलिच्छत्रावतंसोत्पलं
कस्तूरीकृतचित्रकं पृथुहृदि भ्राजिष्णुगुञ्जास्रजम्।
तं वीरं शरदम्बुदद्युतिभरं संवीतकालाम्बरं–
गम्भीरस्वनितं प्रलम्बभुजमालम्बे प्रलम्बद्विषम्।।२८।।

सख्यं, यथा–

१५–जनितिथिरिति पुत्रप्रेमसंवीतयाऽहं
स्नपयितुमिह सद्मन्यम्बया स्तम्भितोऽस्मि।
इति सुबल ! गिरा मे संदिश त्वं मुकुन्दं
फणिपतिह्रदकच्छे नाद्य गच्छेः कदाऽपि।।२६।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*गण्डान्तरित्यादौ कस्तूरीकृतचित्रकं पृथु हृदि भ्राजिष्णु गुंजास्त्रजमित्येव द्वितीयचरण पाठः, चित्रकं तिलकम्।।२८।। जनितिथिरिति। मासिकीयं जन्मर्क्षयुक्ता तिथिः, न तु वार्षिकी, महा महोत्सवायां तस्यां स्वत एव श्रीकृष्णस्य गमनासम्भवात्, सोऽयं च सन्देशः सुबलेन विलम्बमानतया गतेन झटति समासादयितुं न शेक इति गम्यते; अन्यथा पूर्वपूर्ववत्तदापि तदाज्ञा तु तेन नालंघयिष्यतेति।।२६।।*

● *अनुवाद–श्रीबलभद्र (बलराम) का रूप*–जिनके गाल के अन्त भाग अर्थात् एक कान में कुण्डल सुशोभित हो रहा है और दूसरे कान में कमल है, जिस पर भ्रमर समूह मँडरा रहे हैं, जिन्होंने कस्तूरी का तिलक धारण कर रखा है एवं जिनके विशाल वक्षस्थल पर गुंजामाला लटक रही है, जिनकी कान्ति शरत्कालीन मेघ के समान शुभ्रवर्ण की है, जिन्होंने परिधान में नील वस्त्र धारण कर रखा है, जिनका अति गम्भीर कण्ठ–स्वर है एवं भुजाएँ आजानुलम्बित हैं, मैं उन प्रलम्बशत्रु श्रीबलराम जी का आश्रय ग्रहण करता हूँ।।२८।।

श्रीबलराम जी का सख्य–(अपनी मासिक जन्मतिथि पर श्रीबलदेव ने सुबल से कहा)–हे सुबल ! आज मेरी जन्मतिथि है, इसलिए पुत्र–स्नेहवती माँ रोहिणी ने मुझे मंगल स्नान कराने के लिए आज एक कमरे में ही रहने को कहा है, (अतः आज मैं गोष्ठवन में नहीं जा सकूँगा) हे सखे ! मेरा सन्देश देते हुए श्रीकृष्ण से तुम कह देना कि वह आज किसी तरह भी कालियदह के निकट न जाए। (यहाँ श्रीबलराम के वात्सल्यगन्धी सख्य का उदाहरण मिलता है)।।

अथ सखायः–

१५–कनिष्ठकल्पाः सख्येन सम्बद्धाः प्रीतिगन्धिना ।
विशालवृषभौजस्वि–देवप्रस्थव–रूथपाः।।३०।।
१६–मरन्द–कुसुमापीड–मणिबन्ध–करन्धमाः।
इत्यादयः सखायोऽस्य सेवासौख्यैकरागिणः।।३१।।

१६–विशाल विसिनीदलैः कलय बीजनप्रक्रियां–
बरूथप ! विलम्बितालकबरूथमुत्सारय।
मृषा वृषभ ! जल्पितं त्यज भजांगसंवाहन
यदुग्रभुजसंगरे गुरुमगात् क्लमं नः सखा।।३२।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*विशाल वृषभौजस्वीति श्रीभागवते गौड़ादिसम्मतः पाठः, वृषाल वृषौजस्वीति तु कारणादिसम्मतः।।३०।।*

● *अनुवाद–श्रीकृष्ण–सखा;* जो श्रीकृष्ण के छोटे भाईयों की तरह हैं, एवं प्रीतिगन्धि सख्ययुक्त हैं, उन्हें 'सखा' कहते हैं। विशाल, वृषभ, ओजस्वी, देवप्रस्थ, वरूथप, मरन्द, कुसुमापीड, मणिबद्ध एवं करन्धम आदि श्रीकृष्ण के 'सखा' हैं। एकमात्र सेवा–सौख्य ही उनका अनुराग है।।३०–३१।।

सखाओं के सख्य का उदाहरण–आज बड़े भारी बाहुयुद्ध करने से हमारे सखा श्रीकृष्ण बहुत थक गए हैं। अतएव, हे विशाल ! तुम कमलदल से उन्हें पंखा करो। ओ वरूथप ! श्रीकृष्ण की लम्बी अलकावली को मुख से हटाकर ऊपर सिर पर बाँध दे। हे वृषभ ! तुम वृथा बातों को छोड़कर उनके अंगों का संवाहन करो।।३२।।

१७–सर्वेषु सखिषु श्रेष्ठो देवोप्रस्थऽयमीरितः।।३३।।

तस्य रूपं, यथा–

१७–विभ्रद् गेण्डुं पाण्डुरोद्भासवासाः पाशाबद्धोत्तुंगमौलिर्बलीयान्।
बन्धूकाभः सिन्धुरस्पर्धिलीलो देवप्रस्थः कृष्णपार्श्वं प्रतस्थे।।३४।।

अस्य सख्यं यथा–

१८–श्रीदाम्नः पृथुलां भुजामभि शिरो विन्यस्य विश्रामिणं
दाम्नः सव्यकरेण रुद्ध हृदयं शय्याविराजत्तनुम्।
मध्ये सुन्दरि ! कन्दरस्य पदयोः संवाहनेन प्रियं
देवप्रस्थ इतः कृती सुखयति प्रेम्णा व्रजेन्द्रात्मजम्।।३५।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका– *स्नेहवशाद्दाम्नः सव्यकरेण रुद्धं हृदयं निजवक्षो येन तं "समस्तस्यासमस्तेन नित्यापेक्षेण संगतिरिति न्यायेन रुद्धहृदययोः समासे कृते सव्यकरेणेत्यस्य सम्बन्धः।।३५।।*

● *अनुवाद*–समस्त सखाओं में 'देवप्रस्थ' ही श्रेष्ठ है।।३३।।

देवप्रस्थ का रूप–महाबलवान् देवप्रस्थ के वस्त्र उज्ज्वल श्वेत वर्ण के हैं, गौदोहन के समय गौओं के पाँव बाँधने वाली डोरी जिसने सिर पर उच्च शिरोभूषण की तरह बाँध रखी है एवं जिसकी क्रीड़ागति मत्त हाथी की तरह है, गेंद को हाथ में लिए हुए रक्तवर्ण वह देवप्रस्थ श्रीकृष्ण के पार्श्व में जा रहा है।।३४।।

देवप्रस्थ का सख्य–हे सुन्दरि ! पर्वत–कन्दरा में श्रीदाम की विपुल भुजाओं पर मस्तक रख करके एवं दाम सखा के बायें हाथ द्वारा अपने हृदय को बद्ध किये हुए श्रीकृष्ण शय्या पर विश्राम कर रहे हैं, एवं भाग्यशाली देवप्रस्थ अति प्रेम से प्रिय व्रजेन्द्रनन्दन के पाँव सम्वाहन करते हुए उन्हें सुखी कर रहा है।।३५।।

अथ प्रियसखाः–

१८–वयस्तुल्याः प्रियसखाः सख्यं केवलमाश्रिताः।
श्रीदामा च सुदामा च दामा वसुदामकः।।३६।।
१९–किंकिणि–स्तोककृष्णांशु–भद्रसेन–विलासिनः
पुण्डरीक–विटंकाक्ष–कलविंकादयोऽप्यमी।।३७।।

२०–रमयन्ति प्रियसखाः केलिभिर्विविधैः सदा।
नियुद्ध–दण्डयुद्धादि–कौतुकैरपि केशवम्।।३८।।

एषां सख्यं, यथा–

१६–सगद्‌गदपदैर्हरिं हसति कोऽपि वक्रोदितैः
प्रसार्य भुजयोर्युगं पुलकि कश्चिदाश्लिष्यति।
करेण चलता दृशौ निभृतमेत्य रुन्धे परः
कृशांगि! सुखयन्त्यमी प्रियसखाः सखायं तव।।३६।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*श्रीदामा इत्यत्र दामसुदामवसुदामकिंकिणयः पठिता अपि प्रियनर्मसखगणेऽपि ज्ञेयाः, ते हि श्रीकृष्णान्तःकरणरूपत्वात् सर्वत्रैव प्रविशन्ति, यथाह प्रथमावरणपूजायां गौतमीये।*

दामसुदामवसुदामकिंकिणीन् (पूजयेद्) गन्धपुष्पकैः।
अन्तःकरणरूपास्ते कृष्णस्य परिकीर्तिताः।
आत्माभेदेन ते पूज्या यथा कृष्णस्तथैव ते।।इति।।३६–३८।।

● *अनुवाद–प्रियसखा*–प्रिय सखाओं की वयस श्रीकृष्ण की वयस के समान हैं, वे केवल सख्य का ही आश्रय करते हैं। श्रीदाम, सुदाम, दाम, वसुदाम, किंकिणी, स्तोककृष्ण, अंशु, भद्रसेन, विलासी, पुण्डरीक, विटंक एवं कलविंक इत्यादि प्रिय–सखाओं के नाम हैं। ये सर्वदा अनेक प्रकार की केलि द्वारा एवं कौतुकमय बाहुयुद्ध तथा दण्डयुद्ध आदि द्वारा भी श्रीकृष्ण को आनन्दित करते रहते हैं।।३६–३८।।

प्रिय–सखाओं का सख्य–हे कृशांगि! तुम्हारे सखा श्रीकृष्ण के साथ कोई प्रिय सखा गद्‌गद वक्रोक्ति से परिहास करता है। कोई पुलकित भुजाओं द्वारा उनको आलिंगन करता है, कोई छिपकर पीछे से आकर अपने हाथों से उनके दोनों नेत्र ढक देता है। इस प्रकार प्रिय सखागण तुम्हारे सखा–श्रीकृष्ण को सुखी करते हैं।।३६।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–श्रीपाद जीवगोस्वामी ने दाम, सुदाम, वसुदाम एवं किंकिणी को भी प्रियनर्म सखाओं में गिनाया है। वे श्रीकृष्ण के अन्तःकरण स्वरूप हैं। उनका सर्वत्र प्रवेश भी है। गौतमीय तन्त्र में प्रथमावरण की पूजा में श्रीकृष्ण के अन्तःकरण रूप होने के कारण उनकी श्रीकृष्ण के समान पूजा का वर्णन किया गया है।

२१–एषु प्रियवयस्येषु श्रीदामा प्रवरो मतः।।४०।।

तस्य रूपम्–

२०–वासः पिंगं बिभ्रतं श्रृंगपाणिं बद्धस्पर्द्धं सौहृदान्माधवेन
ताम्रोष्णीषं श्यामधामाभिरामं श्रीदामानं दामभाजं भजामि।।४१।।

सख्यं, यथा–

२१–त्वं नः प्रोज्झ्य कठोर! यामुनतटे कस्मादकस्माद् गतोः
दिष्ट्या दृष्टिमितोऽसि हन्त निबिड़ाश्लेषैः सखीन्प्रीणय।

ब्रूमः सत्यमदर्शने तव मनाक् का धेनवः के वयं
किं गोष्ठं किमभीष्टमित्यचिरतः सर्वं विपर्यस्यति।।४२।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*अत्रोत्साहादिवर्णने "कालिन्दीतटभुवि" इत्यादिभिर्बद्धस्पर्द्धितं वर्णितमेव (२।५।५६) सौहृदं तु तत्र गुप्तं स्यादिति पृथगेव तद्वर्णयति–त्वं न इति। का धेनव इत्यादौ धेन्वादयोऽप्यधेन्वादयो भवन्तीत्यर्थः, यत इति अनेन प्रकारेण सर्वमन्यदपि विपर्यस्यति।।४२।।*

● *अनुवाद*–इन समस्त प्रिय–सखाओं में श्रीदाम सर्वश्रेष्ठ है।।४०।।

श्रीदाम का रूप–जिसके परिधान में पीतवस्त्र है, हाथ में शृंग है, शिर पर ताम्रवर्ण की पगड़ी है, मनोहर श्याम कान्ति वर्ण है, गले में माला है, तथा जो सौहार्द वश श्रीकृष्ण के साथ स्पर्धा प्रकाशित किया करता है, मैं उस श्रीदाम का भजन करता हूँ।।४१।।

श्रीदाम का सख्य–श्रीदाम ने श्रीकृष्ण से कहा, हे कठोर ! तुम हमें यमुनातट पर छोड़कर अचानक कहाँ चले गये थे ? बड़े भाग्य हैं कि तुम्हें हमने फिर पा लिया। अहो ! इस समय दृढ़ आलिंगन द्वारा हम अपने सखाओं को तुम सुखी करो। सखे ! मैं सत्य कहता हूँ कि तुम्हें क्षणमात्र देखे बिना क्या गौएँ, क्या हम, क्या सारा गोष्ठ और क्या अभीष्ट सब कुछ तत्क्षण विपर्यस्त हो जाता है।।४२।।

अथ प्रियनर्मवयस्याः–

२२–प्रियनर्मवयस्यास्तु पूर्वतोऽप्यभितो वराः।
आत्यन्तिकरहस्येषु युक्ता भावविशेषिणः।
सुबलार्जुनगन्धर्वासते बसन्तोज्ज्वलादयः।।४३।।

एषां सख्यं, यथा–

२२–राधासन्देशवृन्दं कथयति सुबलः पश्य कृष्णस्य कर्णे
श्यामा–कन्दर्पलेखं निभृतमुपहरत्युज्ज्वलः पाणिपद्मे।
पाली–ताम्बूलमास्ये वितरति चतुरः कोकिलो मूर्ध्नि धत्ते
तारा–दामेति नर्मप्रणयि–सहचरास्तन्वि ! तन्वन्ति सेवाम्।।४४।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*स च भावविशेषस्तत्प्रेयसीसाहाय्यमयतत्सुखदित्सैवेति दर्शयति राधेति। तदिदं श्रीकृष्णस्य दूत्योर्मिथः संवादः।।४४।।*

● *अनुवाद–प्रियनर्म सखा;* पहले कहे गये सुहृद, सखा, एवं प्रियसखाओं से प्रियनर्म–सखा सर्वतोभाव से श्रेष्ठ हैं। अत्यन्त गोपनीय कार्य में भी वे श्रीकृष्ण द्वारा नियोजित होते हैं। उनमें एक भाव विशेष विद्यमान है अर्थात् श्रीकृष्ण के साथ उनकी प्रेयसियों को मिलाकर श्रीकृष्ण का सुख विधान करने की इच्छा रहती है। उनके नाम हैं–सुबल, अर्जुन, गन्धर्व, बसन्त तथा उज्ज्वल आदि।।४३।।

प्रियनर्म सखाओं का सख्य–श्रीकृष्ण की किसी दूती ने दूसरी दूती के प्रति कहा, हे कृशांगि ! यह देख, सुबल ने श्रीराधा का संवाद श्रीकृष्ण के कान में डाल दिया है, यूथेश्वरी श्यामा का कन्दर्पलेख (पत्र) उज्ज्वल नामक

प्रियनर्म सखा ने श्रीकृष्ण के हाथों में भी छिपकर दे दिया है, चतुर–नामक प्रियनर्म सखा ने यूथेश्वरी पाली द्वारा दिया हुआ पान श्रीकृष्ण के मुख में अर्पण कर दिया है और कोकिल नामक प्रियनर्म सखा ने तारा–नाम्नी गोपी की माला को श्रीकृष्ण के मस्तक पर धारण करा दिया है–इस प्रकार प्रियनर्म सखागण श्रीकृष्ण की सेवा कर रहे हैं।।४४।।

२३–प्रियनर्मवयस्येषु प्रबलौ सुबलोज्ज्वलौ।।४५।।

तत्र सुबलस्य रूपं, यथा–

२३–तनुरुचिविजितहिरण्यं हरिदयितं हारिणं हरिद्वसनम्।
सुबलं कुवलयनयनं नयनन्दितबान्धवं वन्दे।।४६।।

अस्य सख्यं, यथा–

२४–वयस्यगोष्ठ्यामखिलेङ्गितेषु विशारदायामपि माधवस्य।
अन्यैर्दुरूहा सुबलेन सार्द्धं संज्ञामयी काऽपि बभूव वार्त्ता।।४७।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*"संज्ञा स्याच्चेतना नाम हस्ताद्यैश्चार्थसूचनेति" नानार्थवर्ग अमरः।।४७।।*

● *अनुवाद*–प्रियनर्म सखाओं में सुबल तथा उज्ज्वल सर्वश्रेष्ठ हैं।।४५।।

श्रीसुबल का रूप–जिसकी अंगकान्ति द्वारा स्वर्ण भी निन्दित होता है, जो श्रीकृष्ण का अतिशय प्रिय है, जिसके कण्ठ में हार झूम रहा है, जिसके इन्दीवर के समान सुन्दर नेत्र हैं तथा जिसकी नीति–परायणता से बन्धु श्रीकृष्ण आनन्दित रहते हैं, उस श्रीसुबल की मैं वन्दना करता हूँ।।४६।।

श्रीसुबल का सख्य–संकेतों को जान लेने में विशारद सखाओं की सभा में भी श्रीसुबल के साथ श्रीकृष्ण की अनिर्वचनीय हाथों के इशारे मात्र से एक बात–चीत हुई, जिसे और कोई भी नहीं समझ सका।

उज्ज्वलस्य रूपं, यथा–

२५–अरुणाम्बरमुच्चलेक्षणं मधुपुष्पावलिभिः प्रसाधितम्।
हरिनीलरुचिं हरिप्रियं मणिहारोज्ज्वलमुज्ज्वलं भजे।।४८।।

अस्य सख्यं, यथा–

२६–शक्ताऽस्मि मानमवितुं कथमुज्ज्वलोऽयं
दूतः समेति सखि ! यत्र मिलत्यदूरे।
सापत्नपापि कुलजापि पतिव्रतापि
का वा वृषस्यति न गोपवृषं किशोरी।।४६।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*शक्तास्मीत्यत्र कथमित्यन्तमेकं वाक्यं; समेतीत्यन्तमन्यत्; शेषमपरं, सापत्रपेत्यादौ यद्यपि लज्जाकुलधर्मभयानामेकतरेऽपि सति मर्यादालंघनं न स्यात्; तथापि तेषु सत्सु का गोपवृषं गोपश्रेष्ठं श्रीकृष्णं न वृषस्यति न कामयते किन्तु सर्वैव कामयत इत्यर्थः।।४६।।*

श्रीउज्ज्वल का रूप–जिसके परिधान में लालवर्ण का वस्त्र है, जिसके नेत्र अतिशय चंचल हैं, जो बसन्तकालीन पुष्पों द्वारा विभूषित है, जो श्रीकृष्ण

की तरह नील कान्ति है, जो श्रीकृष्ण का अत्यन्त प्रिय है एवं मणिमय हारों से जो समुज्ज्वल है—उस श्रीउज्ज्वल की मैं वन्दना करता हूँ।।४८।।

श्रीउज्ज्वल का सख्य—(एक व्रजसुन्दरी ने अपनी सखी से कहा)—यह देख, श्रीकृष्ण का दूत उज्ज्वल आ रहा है। मैं कैसे मान—मर्यादा की रक्षा कर पाऊँगी ? सखि ! जहाँ उज्ज्वल उपस्थित होता है, वहाँ चाहे कोई लज्जाशीला हो, या पतिव्रता, कौन सी गोपकिशोरी है जो उस गोपश्रेष्ठ श्रीकृष्ण की कामना नहीं कर उठती ? (श्रीउज्ज्वल की ऐसी दौत्य—निपुणता है)।।४६।।

२४—उज्ज्वलोऽयं विशेषेण सदा नर्मोक्तिलालसः।।५०।।

यथा—२७—स्फुरदतनुतरंगावर्द्धितानल्पवेलः
सुमधुररसरूपो दुर्गमावारपारः।
जगति युवतिजातिर्निम्नगा त्वं समुद्र—
स्तदियमघहर ! त्वामेति सर्वाध्वनैव।।५१।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*कृष्णपक्षे वर्द्धिता छिन्ना; अनल्पा वेला मर्यादा येन। समुद्रपक्षे वर्द्धिता एधिता वेला जलं येन, "वेला स्यात्तीरनीरयोरित्यमरः।।५१।।*

● *अनुवाद*—उज्ज्वल विशेष भाव से सदा नर्मोक्ति की लालसायुक्त रहता है।।५०।।

उदाहरण—हे अघनाशन ! संसार में रमणीवृन्द नदियों के समान हैं और आप प्रदीप्त काम की तरंगों से मर्यादा का अतिक्रमण करने वाले मधुर रस के दुर्गम सागर स्वरूप हो, इसलिए नदीरूप रमणीगण सर्वपथों से आकर आप से मिलित होती हैं।।५१।।

२५—एतेषु केऽपि शास्त्रेषु केऽपि लोकेषु विश्रुताः।।५२।।
२६—नित्यप्रियाः सुरचराः साधकाश्चेति ते त्रिधा।
केचिदेषु स्थिरा जात्या मन्त्रिवत्तमुपासते।।५३।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*साधकाः साधनसिद्धाः यद्यपि सुरचरा अपि साधका एव तथापि विशेषं दर्शयितुं पृथुगुच्यन्ते।।५३।।*

● *अनुवाद*—इन सखाओं में किसी—किसी ने कोई—कोई शास्त्र में, और किसी—किसी ने लोक में प्रसिद्धि प्राप्ति की है।।५२।।

ये सखा तीन प्रकार के हैं—१. नित्यप्रिया अर्थात् नित्यसिद्ध, २. सुरचर (अर्थात् जो पहले देवता और फिर साधन करके कृष्ण के सख्यत्व को प्राप्त करते हैं) तथा ३. साधक जो कोई—कोई स्वभाव से स्थिर हैं और मन्त्री की तरह श्रीकृष्ण को परामर्श देते रहते हैं।।५३।।

२७—तं हासयन्ति चपलाः केचिद्वैहासिकोपमाः
केचिदार्जवसारेण सरलाः शीलयन्ति तम्।।५४।।
२८—वामा वक्रिमचक्रेण केचिद्विस्माययन्त्यमुम्।
केचित्प्रगल्भाः कुर्वन्ति वितण्डाममुना समम्।
सौम्याः सूनृतया वाचा धन्या धिन्वन्ति तं परे।।५५।।

२६—एवं विविधया सर्वे प्रकृत्या मधुरा अमी।
पवित्रमैत्रीवैचित्रीचारुतामुपचिन्वते।।५६।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*विस्माययन्तीत्यन्तः स्थयद्वयमध्य एव पाठः, हेतुणिजन्तत्वेऽपि हेतुभयत्वाभावान्न विस्मापयन्ति इति स्याद्, विस्मेरयन्तीति पाठे तु कृतेऽपि "तत् करोति तदाचष्टे" इति कृदन्ताणिचि कुर्वन्तमाचष्टे कारयतीतिवत्; वादितवन्तं प्रयोजितवानवीवददितिच्च प्रकृतिप्रत्यावृत्तिः स्यात्, उढ़िमाख्यातवानौ—जिढ़दित्यत्र सा न दृश्यतेऽपीति चेद्, न दृश्यतां नाम किं तावता कष्टेन।।५५।।*

● *अनुवाद*—कोई—कोई विदूषक की भाँति चपल हैं, जो श्रीकृष्ण को हँसाते रहते हैं, जो सरल स्वभाव द्वारा श्रीकृष्ण की सेवा करते रहते हैं। कोई वाम स्वभाव के हैं और वक्रता से श्रीकृष्ण को चकित करते रहते हैं। कोई प्रगल्भ हैं जो श्रीकृष्ण के साथ वितण्डावाद करते रहते हैं। कोई—कोई सौम्य हैं, ये सब बड़भागी सखागण सत्य तथा मधुर वचनों द्वारा श्रीकृष्ण को सुखी करते हैं। सब ही स्वभावतः मधुर—प्रकृति हैं। इस प्रकार ये सब अनेक भावों से पवित्र मैत्री—वैचित्री की चारुता सम्पादन करते रहते हैं।।५४—५६।।

अथोद्दीपनाः—

३०—उद्दीपना वयोरूपश्रृंगवेणुदरा हरेः।
विनोदनर्मक्रान्तिगुणाः प्रेष्ठजनास्तथा।
राजदेवावतारादिचेष्टानुकरणादयः।।५७।।

● *अनुवाद*—श्रीकृष्ण के वयस, रूप, श्रृंग, वेणु, शंख, तथा विनोद,—नर्म, पराक्रमादि गुण, प्रियजन, राजा एवं देवावतारादिक की चेष्टा का अनुकरणादि 'प्रेयोभक्ति' रस में उद्दीपन हैं।।५७।।

तत्र वयः— ।५८।।

३१—वयः कौमारपौगण्डे कैशोरं चेह सम्मतम्।
गोष्ठे कौमारपौगण्डे कैशोरं पुरगोष्ठयोः।।५८।।

तत्र कौमारं, यथा—

३२—कौमारं वत्सले वाच्यं ततः संक्षिप्य लिख्यते।।५९।।

यथा श्रीदशमे (१०।१३।११)—

२८—बिभ्रद् वेणुं जठरपटयोः श्रृंगवेत्रे च कक्षे
वामे पाणौ मसृणकबलं तत्फलान्यंगुलीषु।
तिष्ठन्मध्ये स्वपरिसुहृदो हासयन्नर्मभिः स्वैः
स्वर्गे लोके मिषति बुभुजे यज्ञभुग्बालकेलिः।।६०।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*बिभ्रदित्यस्यायमर्थः—जठरपटयोर्मध्ये वेणुं बिभ्रत्, वामे कक्षे श्रृंगवेत्रे बिभ्रद्, मसृणकवलं दध्यादिसंस्कृतभुक्तपिण्डं पत्रपात्रमृते वामे पाणौ बिभ्रत् तत्फलानि तदन्तरर्थनीयानास्वाद्यभागांश्च क्रमेण दक्षिणपाण्यंगुलीषु बिभ्रद् भोजने यथा मुखस्पर्शो न स्यात्, तथा सविनोदं गृह्णन्नित्यर्थः, स्वं परितो वर्त्तमानान् सुहृदश्च स्वैरसाधारणैर्नर्मभिर्हासयन्; स्वर्गे स्वर्गस्थलोके मिषति*

किमिदमपूर्वमिति पश्यति सति, अपूर्वत्वे कारणमाह–यज्ञभुग्बालकेलिरिति। योऽयं यज्ञे दृष्टिमात्रेण भोक्ता सोऽयमेव बालकेलिः सन् बुभुजे इति।।६०।।

● *अनुवाद*–कौमार, पौगण्ड तथा कैशोर यह तीन प्रकार की श्रीकृष्ण की *'वयस'* है। गोकुल में कौमार एवं पौगण्ड वयस रहती है और मथुरा–द्वारका तथा व्रज दोनों में कैशोर वयस है।।५८।।

कौमार–(पाँच वर्ष तक की वयस) वत्सलरस के उपयोगी है, जिसका संक्षिप्त में उल्लेख करते हैं।।५९।।

उदाहरण–श्रीमद्भागवत (१० ।१३ ।११) में वर्णित है कि–उदर को वेष्टन करने वाले दोनों वस्त्रों के बीच वेणु, वाम कक्षि में शृंग और वेत्र, वाम हाथ में दधि आदि संयुक्त अन्न, दक्षिण हाथ की अँगुलियों में भोजनोपयोगी फल धारण करते हुए, चारों ओर बैठे अपने सखाओं के बीच श्रीकृष्ण अवस्थान कर रहे हैं और स्वीय असाधारण नर्म परिहास से उन्हें हँसा रहे हैं तथा भोजन कर रहे हैं। उनका दर्शन कर स्वर्गवासी विस्मित हो उठे। जो श्रीभगवान् यज्ञों में अर्पित मन्त्रपूत–हवि को केवल मात्र दृष्टि द्वारा अंगीकार करते हैं, किन्तु वे भगवान् श्रीकृष्ण यहाँ दधिमिश्रित अन्न भोजन कर रहे हैं वह भी गोपबालकों के साथ; एक–दूसरे को झूँठा अन्न आदान–प्रदान कर रहे हैं। जो यज्ञभुक् हैं वे आज बालकों के साथ भोजनकेलि में लगे हुए हैं।

अथ पौगण्डम्–

३३–आद्यं मध्यं तथा शेषं पौगण्डं च त्रिधा भवेत्।।६१।।

तत्राद्यं पौगण्डम्–

३४–अधरादेः सुलौहित्यं जठरस्य च तानवम्।
कम्बुग्रीवोद्गमाद्यं च पौगण्डे प्रथमे सति।।६२।।

यथा, २६–तुन्दं विदन्ति ते मुकुन्द ! शनकैरश्वत्थपत्रश्रियं
कण्ठः कम्बुवदम्बुजाक्ष ! भजते रेखात्रयीमुज्ज्वलाम्।
आरुन्धे कुरुविन्द कन्दलरुचिं भूचन्द्र ! दन्तच्छदो
लक्ष्मीराधुनिकी धिनोति सुहृदामक्षीणि सा काऽप्यसौ।।६३।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*तुन्दमित्यागतचराणामधुना पुनरागतानां वैदेशिक–वन्दिनां वचनम्। आरुन्धे वशीकरोति, कम्बुवदिति। "तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः" एवं लक्षणेऽपि कम्बुवद् ग्रीवाया उद्गम इत्यर्थः, कुरुविन्दः पद्मरागः, सा कापीति वर्णयितुमशक्येत्यर्थः।।६३।।*

● *अनुवाद*–पौगण्ड (दश वर्ष की वयस) तीन प्रकार की है–१. आद्य, २. मध्य तथा ३. शेष।।६१।।

आद्य–पौगण्ड–में अधरादि की मनोहर लीला, उदर की कृशता तथा कण्ठ में शंख की भाँति तीन रेखाओं का उद्गम प्रकाशित होता है।।६२।।

उदाहरण–जो पहले श्रीकृष्ण को देख गया था, ऐसा कोई विदेशी कुछ समय बाद आकर श्रीकृष्ण को देखकर बोला)–हे मकुन्द ! आपका उदर धीरे–धीरे पीपल–पत्र की, शोभा धारण कर रहा है, हे कमलनयन ! अब

आपके कण्ठ ने शंख की भाँति तीन उज्ज्वल रेखाएँ धारण कर ली हैं। हे भूचन्द्र ! तुम्हारे अधरोष्ठों ने प्रवालांकुरों की लाल कान्ति को वशीभूत कर लिया है। आपकी अनिर्वचनीय आधुनिकी शोभा सुहृदगण के नेत्रों को आनन्दित कर रही है।।६३।।

३५–पुष्पमण्डनवैचित्री चित्राणि गिरिधातुभिः।
पीतपट्टदुकूलाद्यमिह प्रोक्तम् प्रसाधनम्।।६४।।
३६–सर्वाटवीप्रचारेण नैचिकीचयचारणम्।
नियुद्धकेलिनृत्यादिशिक्षाम्भोऽत्र चेष्टितम्।।६५।।

यथा–३०–वृन्दारण्ये समन्तात् सुरभिणि सुरभीवृन्दरक्षाविहारी
गुंजाहारी शिखण्डप्रकटितमुकुटः पीतपट्टाम्बरश्रीः।
कर्णाभ्यां कर्णिकारे दधदलमुरसा फूल्लमल्लीकमाल्य
नृत्यन् दोर्युद्धरंगे नटवदिह सखीन्नन्दयत्येष कृष्णः।।६६।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*फुल्ला मल्लयो यस्मिंस्तादृशं माल्यं दधत्, अत्र यद्यपि उणादावुज्ज्वलदत्तेन मल्लिका शब्द एव साधितः मल्लीशब्दस्तु प्रामादिक एव मतः, अमरेण च "तृणशून्यं तु मल्लिकेति' पठितं। तथाऽपि "दरविदलितमल्लीति", "स्फुरन्मल्लीहल्लीशकेति", 'मिलन्मन्दाकिनी मल्लीदामेति', कविभिः स्वीकृतत्वादत्रापि प्रयुज्यते, ह्रस्वान्तस्तु तच्छब्दः कुत्रापि न दृश्यते इति पाठान्तरं तु त्यक्तम्।।६६।।*

● *अनुवाद*–आद्य पौगण्ड में विचित्र प्रकार की पुष्पसज्जा, गैरिक आदि धातु द्वारा अंगों पर चित्रकारी तथा पीतवर्ण के रेशमी वस्त्रादि *'प्रसाधन'* होते हैं। समस्त वनों में जाकर गोचारण, बाहुयुद्ध, केलि, नृत्यादि तथा शिक्षारम्भ इस वयस की *चेष्टाएँ* हैं।।६४–६५।।

उदाहरण; सौरभशाली वृन्दावन में सर्वत्र गौओं की रक्षा करते हुए श्रीकृष्ण विचरण कर रहे हैं, उनके गले में गुंजमाला, मस्तक पर मोरपुच्छ का मुकुट, परिधान में पीताम्बर, कानों में कर्णिका पुष्प, तथा वक्षस्थल में प्रस्फुटित मल्लिका माला धारण किये हुए बाहुयुद्ध पूर्वक नृत्य करते–करते हम सुहृदगण को वे यथेष्ट आनन्द प्रदान कर रहे हैं।।६६।।

अथ मध्यम्–

३७–नासा सुशिखरा तुंगा कपोलौ मण्डलाकृती।
पार्श्वाद्यगं सुवलितं पौगण्डे सति मध्यमे।।६७।।

यथा, ३१–तिलकुसुमविहासिनासिकाश्री र्नवमणिदर्पणदर्पनाशिगण्डः।
हरिरिह परिमृष्टपार्श्वसीमा सुखयति सुष्ठु सखीन् स्वशोभयैव।।६८।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*तिलकुसुमेति। परिमृष्टपार्श्वसीमेति परिमृष्टतुल्य–पार्श्वानां सीमा मर्यादा तेषामूर्ध्वं विराजमान इत्यर्थः।।६८।।*

● *अनुवाद–मध्य पौगण्ड* में ऊँची नासिका के अग्रभाग पर अत्यन्त शोभा, दोनों कपोल मण्डलाकार तथा पार्श्वादि समस्त अंग सुवलित होते हैं।।६७।।

उदाहरण–जिनकी नासिका तिल–पुष्प को भी निन्दित करती है, जिनके कपोल नवीन मणिदर्पण का गर्व चूर्ण करने वाले हैं, जिनकी पसलियाँ सुवलित होकर ऊँची उठी हुई हैं, अपनी ऐसी शोभा द्वारा वे श्रीकृष्ण सखाओं का आनन्द विधान कर रहे हैं।।६८।।

३८–उष्णीषं पट्टसूत्रोत्थपाशेनात्र तडित्त्विषा।
यष्टिः श्यामा त्रिहस्तोच्चा स्वर्णाग्रेत्यादिमण्डनम्।
भाण्डीरे क्रीडनं शैलोद्धारणाद्यं च चेष्टितम्।।६६।।

यथा–३२–यष्टिं हस्तत्रयपरिमितां प्रान्तयोः स्वर्णबद्धां
विभ्रन्मालां चटुलचमरीचारुचूडोज्ज्वलश्रीः।
बद्धोष्णीषः पुरटरुचिना पट्टपाशेन पार्श्वे
पश्य क्रीडन् सुखयति सखे! मित्रवृन्दं मुकुन्दः।।७०।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*चमरीभिर्मञ्जरीभिश्चारुर्या चूड़ा मस्तकमध्य–बद्धकेशततिस्तया नात्युन्नतया सूक्ष्मस्वच्छोष्णीषांचलवृतयोज्ज्वला श्रीर्यस्य सः, पट्टपाशेन बद्धः सशोभं किंचिद्वेष्टित उष्णीषो यस्य सः।।७०।।*

● *अनुवाद*–विद्युत के समान कान्तिवाली रेशमी पगड़ी से मुकुट बाँधना, तीन हाथ लम्बी काले रंग की सोने के मूठ वाली लाठी का धारण करना इस मध्यमपौगण्ड में आभूषण होते हैं एवं भाण्डीरवन में भ्रमण तथा गोवर्धन धारण करना आदि इस आयु की चेष्टाएँ हैं।।७०।।

उदाहरण–दोनों सिरों में सोने से मढ़ी हुई तीन हाथ की लाठी को धारण किए हुए, माला धारण किये हुए चंचल अलकावली से सुशोभित, सुनहरे रेशमी वस्त्र की पाग बाँधे हुए श्रीकृष्ण निकट खेलते हुए सखाओं को आह्लादित कर रहे हैं–इनके दर्शन करो।।७०।।

३६–पौगण्डमध्य एवायं हरिर्दीव्यन् विराजते।
माधुर्यादभुतरूपतत्वकैशोराग्रांशभागिव।।७२।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*माधुर्येणवर्णपुष्टतादीनां मनोरमत्वेनादभुतं लोकविस्मयकारकं रूपमाकारो यस्य सः, तद्रूपत्वात् कैशोराग्रांशभागिव विभाति ,यथान्यः सर्वलक्षणसम्पन्नो राजकुमारस्तदग्रांशभाक् सन् विराजते, तथा तस्य कैशोराग्रांशभागस्तु सर्वतो विलक्षण इत्यर्थः।।७१।।*

● *अनुवाद*–इस मध्य–पौगण्ड में ही श्रीकृष्ण क्रीड़ा–परायण होते हैं। वर्णपुष्टतादि की मनोरमता के कारण श्रीकृष्ण का लोकविस्मयकारी रूप प्रकाशित होने से यह मध्यम–पौगण्ड प्रथम कैशोर के समान लगती है।।७१।।

अथ शेषं–

४०–वेणी नितम्बलम्बाग्रा लीलाऽलकलताद्युतिः।
असंयोस्तुंगतेत्यादि पौगण्डे चरमे सति।।७२।।

यथा, ३३–अग्रे लीलालकलतिकयालङ्कृतं विभ्रदास्यं
चंचद्वेणीशिखरशिखया चुम्बितश्रोणिबिम्बः।

उत्तुंगांसच्छविरघहरो रंगमंगश्रियैव
न्यस्यन्नेष प्रियसवयसां गोकुलान्निर्जिहीते।।७३।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*लीलाया विन्यस्तायाः अलकलताया द्युतिः शोभा।।७२।।*

● *अनुवाद*—शेष पौगण्ड में वेणी का अग्रभाग नितम्ब पर्यन्त लम्बा हो जाता है, लीलावश विन्यस्त अलकावली की शोभा बढ़ जाती है एवं स्कन्ध ऊँचे उठ जाते हैं।।७२।।

उदाहरण; सिर पर लीला के निमित्त विन्यस्त अलकावली से अलंकृत मुख, चंचल वेणी के अग्रभाग से चुम्बित नितम्ब देश तथा अति ऊँचे स्कन्धों की सुषमा से अघनाशक श्रीकृष्ण केवल अपनी अंग शोभा से ही सखाओं का आनन्द कौतुक सम्पादन करके गोकुल में आ रहे हैं।।७३।।

४१—उष्णीषे वक्रिमा लीलासरसीरुहपाणिता।
काश्मीरेणोर्ध्वपुण्ड्राद्यमिह मण्डनमीरितम्।।७४।।

यथा, ३४—उष्णीषे दरवक्रिमा करतले व्याजृम्भिलीलाऽम्बुजं
गौरश्रीरलिके किलोर्ध्वतिलकः कस्तूरिकाबिन्दुमान्।
वेषः केशव ! पेशलः सुबलमप्याघूर्णयत्यद्य ते
विक्रान्तं किमुत स्वभावमृदुलां गोष्ठाबलानां ततिम्।।७५।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*उष्णीषे दरेति। गौरेत्यादौ भाले कुंकुमदिव्यदूर्ध्व—तिलक इति पाठः, विक्रान्तमपि सुबलमित्यन्वयः।।७५।।*

● *अनुवाद*—शेष पौगण्ड के भूषण हैं पगड़ी का टेढ़ा धारण करना; हाथ में लीला कमल रखना तथा केशर के द्वारा ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक निर्माण करना आदि।।७४।।

उदाहरण; हे केशव ! पगड़ी की वक्रता, हाथों में प्रफुल्ल लीलाकमल, ललाट में केशरिया कस्तूरी बिन्दुयुक्त ऊर्ध्वतिलक धारण कर आपने जो सुन्दर वेश धारण कर रखा है, वह पराक्रमशाली इस सुबल को भी जब आज मूर्च्छित किए दे रहा है, तब स्वभाव से ही मृदुला गोप—अबलाओं के विषय में क्या कहा जाये ?।।७५।।

४२—अत्र भंगी गिरां नर्मसखैः कर्णकथारसः।
एषु गोकुलबालानां श्रीश्लाघेत्यादि चेष्टितम्।।७६।।

यथा, ३५—धूर्तस्त्वं यदवैषि हृद्गतमतः कर्णे तव व्याहरे
केयं मोहनतासमृद्धिरधुना गोधुक्कुमारीगणे।
अत्रापि द्युतिरत्नरोहणभुवो बालाः सखे ! पंचषाः।
पंचेषुर्जगतां जये निजधुरां यत्रापयन् माद्यति।।७७।।

● *अनुवाद*—वचन—शैली, नर्म सखाओं के साथ कान में बातें करने का आनन्द तथा नर्मसखाओं के समीप गोकुल—कुमारियों की शोभा—प्रशंसा करना आदि, ये शेष पौगण्ड की चेष्टाएँ हैं।।७६।।

उदाहरण—(सुबल के प्रति श्रीकृष्ण के वचन)—अरे ! तुम धूर्त हो, सब मनोगत भाव जानते हो। इसलिए तुम्हारे कानों में कह रहा हूँ। बता तो,

गोपकुमारीगण में अब कौन सी मोहक–शक्ति प्रकाशित हो रही है ? हे सखे उनमें पाँच छः तो कुमारी–कान्तिरत्न का उत्पत्ति स्थान हैं अर्थात् अतिशय रूप लावण्यवती हैं। लगता है कामदेव जगत् को विजय करने के लिए इनके ऊपर अपना दायित्व सौंपते हुए उन्मत्त हो रहा है।।७७।।

अथ कैशोरम्–

४३–कैशोरम् पूर्वमेवोक्तं संक्षेपेणोच्यते ततः।।७८।।

यथा, ३६–पश्योत्सिक्तवलित्रयीवरलते वासस्तडिन्मंजुल
प्रोन्मीलद्वनमालिकापरिमलस्तोमे तमालत्विषिः।
उक्षत्यम्बकचातकान् स्मितरसैर्दामोदराम्भोधर
श्रीदामा रमणीयरोमकलिकाकीर्णांगशाखी बभौ।।७९।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*उत्सिक्तेति प्रोन्मीलदिति च श्रीदामोदरपक्षे सप्तम्यन्यपदार्थे, अम्भोधरपक्षे तृतीयाऽन्यपदार्थः, यद्वा श्रीदामदामोदरयोर्नवाम्भोधरयो–रिवात्यन्तावेशेन परस्परमालिंगितयोर्वर्णनमिदं। तस्माल्लतावनमालाशाखिनां तत्र स्वाच्छन्द्येन वर्णनं रसावहमेव ज्ञेयम्, तथाहि–अम्बकानि सर्वेषामक्षीण्येव चातकाः तानुक्षति सिंचति दामोदराम्भोधरे श्रीदामा वभौ तत्संलग्नतया विरेज इत्यर्थः, तदेवं तदभेदमिव प्राप्तं दामोदराम्भोधरं विशिनष्टि–उत्सिक्तेत्यादिना, वनस्थानीयत्वेन श्रीदामानं विशिनष्टि रमणीयेत्यनेन, रमणीयरोमकलिकाभिराकीर्णा व्याप्ता अंगरूपा बाह्वादिलक्षणाः शाखिनोः यत्र सः।।७९।।*

● *अनुवाद*–कैशोर वयस के सम्बन्ध में पहले (२।१।३०८–३५) वर्णन कर आये हैं, इसलिए यहाँ संक्षेप से कहते हैं।।७८।।

उदाहरण; (श्रीकृष्ण तथा श्रीदामा दोनों का श्याम वर्ण है मेघ के समान। वे दोनों परस्पर आलिंगन किए बैठे हैं, उस छबि का वर्णन है इस श्लोक में)–आश्चर्य तो देखो, जिसने त्रिवलीरूपा श्रेष्ठ, लता को सिंचन किया है, जिसके वस्त्र मनोहर विद्युत के समान हैं, जो वनमाला की सौरभराशि का विस्तार का रहा है एवं जो मन्दहास्यरूपी जल का वर्षण कर सबके नेत्ररूपी चातकों को परिसिंचित कर रहा है, वह तमाल कान्ति दामोदर रूप मेघ रमणीय रोमकलिकाकीर्ण वृक्ष की भाँति श्रीदामा शोभित हो रहा है।।

४४–प्रायः किशोर एवायं सर्वभक्तेषु भासते।
तेन यौवनशोभास्य नेह काचित् प्रपचिंता।।८०।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*अयं श्रीकृष्णः किशोरः शैशवमिश्रयौवन एव सन् सर्वभक्तेषु प्रायः प्राचुर्येण भासते; तेभ्यो रोचते, कौमारपौगण्डरूपस्तु न्यूनतरन्यून–त्वनेत्यर्थः, तेन तत ऊर्ध्ववयसः तेष्वभासमानत्वेन केवला यौवनशोभा तु इह श्रीकृष्णे नोदयत इति काचित्स्वल्पाऽपि न प्रपंचितेत्यर्थः।।८०।।*

● *अनुवाद*–इस प्रकार श्रीकृष्ण की कैशोर वयस ही सब भक्तों को प्रायः प्रतिभात होती है, अधिक प्रिय लगती है। इसलिए उनकी यौवन–शोभा का यहाँ कुछ भी वर्णन नहीं किया गया है।।८०।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–श्रीकृष्ण की कौमार–पौगण्ड शोभा न्यूनतर है और भक्तों को न्यूनरूप में ही लगती है। कैशोर के बाद की अवस्था भक्तों को प्रतिभात नहीं होती। यौवन–शोभा का श्रीकृष्ण में उदय नहीं होता। शैशव मिश्र यौवन ही भक्तों को प्रतिभात होती है और प्रिय लगती है, अतः उस यौवन–वयस का यहाँ वर्णन नहीं किया गया।।

अथ रूपं, यथा–

३७–अलंकारमलं कृत्वा तवांगं पंकजेक्षण।
सखीन् केवलमेवेदं धाम्ना धीमन् ! धिनोति नः।।८१।।

अथ शृंगं, यथा–

३८–व्रजनिजबडभीवितर्द्दिकायामुषसि विषाणवरे रुवत्युदग्रम्।
अहह सवयसां तदीयरोम्णामपि निवहाः सममेव जाग्रति स्म।।८२।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*अलंकारमलंकृत्वेति तत्करणेनालमित्यर्थः।।८१।। व्रजे या निजा स्वशयनावासरूपा बड़भी चन्द्रशालिका, यस्यामसेवन्त नमद्वलीकाः समं वधूर्भिर्बड़भीर्युवान–इति माघकाव्यात्, तस्या वितर्द्धिका द्वाराग्रेवेदिका तस्याम्।।८२।।*

● ***अनुवाद–श्रीकृष्ण का रूप***–**हे कमलनयन ! हे धीमन् ! आपका केवल यह अंग अपनी शोभा से अलंकारों को अलंकृत कर आपके सखा हम लोगों का आनन्द विधान कर रहा है।।८१।।**

उषा काल से व्रजस्थित श्रीकृष्ण की निजी शयन–चन्द्रशालिका की द्वार समीपवर्ती विश्राम वेदिका पर उच्च शृंगा–ध्वनि होने पर, अहो ! पुलकित होकर श्रीकृष्ण के समस्त सखा एक ही साथ जाग उठे।।८२।।

वेणुर्यथा–

३९–सुहृदो ! न हि यात कतरा हरिमन्वेष्टुमितः सुतां रवेः।
कथयन्नमुमत्र वैणव–ध्वनिदूतः शिखरे धिनोति नः।।८३।।

शंखो, यथा–

४०–पांचालीपतयः श्रुत्वा पांचजन्यस्य निस्वनम्।
पंचास्य ! पश्य मुदिताः पंचास्यप्रतिमां ययुः।।८४।।

विनोदो, यथा–

४१–स्फुरदरुणदुकूलं जागुडैर्गौरिगात्रं
कृतवरकबरीकं रत्नताटंककर्णम्।
मधुरिपुमिह राधावेषमुद्वीक्ष्य साक्षात्–
प्रियसखि ! सुबलोऽभूद्विस्मितः सस्मितश्च।।८५।।

● ***अनुवाद–श्रीकृष्ण वेणु;*** **हे सुहृदयगण ! आप श्रीकृष्ण के दर्शन न पाने से व्याकुल होकर उनको खोजने के लिए यमुना–तीर मत जाना। 'श्रीकृष्ण गोवर्धन की शिखर पर विराजमान हैं'–वेणुध्वनिरूप दूत यह बात हमें जताकर सुख विधान कर रहा है।।८३।।**

श्रीकृष्ण शंख; हे महादेव ! देखिए, द्रौपदीपति युधिष्ठिरादि पाण्डवगण पाँचजन्य शंख की ध्वनि सुनकर आनन्द पूर्वक सिंह के समान शीघ्र भाग उठे, अथवा पंचानन महादेव के समान उनका श्वेतवर्ण हो गया।।८४।।

श्रीकृष्ण–विनोद; प्रिय सखि ! कौतुकवशतः अरुणवस्त्र पहन कर केसर द्वारा अपने श्यामवर्ण को गौरवर्ण कर लिया है, मनोहर कबरी बनाकर तथा कानों में रत्न–जड़ित बाली धारण कर श्रीकृष्ण ने अपने को राधारूप में सजा लिया है। उनका दर्शनकर सुबल विस्मित होकर मुसकराने लगा है।।८५।।

अथानुभावाः–

४५–नियुद्धकन्दुकद्यूतबाह्यवाहादिकेलिभिः।
लगुडालगुडि क्रीडासंगरैश्चास्य तोषणम्।।८६।।
४६–पल्यंकासनदोलासु सहस्वापोपवेशनम्।
चारुचित्रपरीहासो विहारः सलिलाशये।।८७।।
४७–युग्मत्वे लास्यगानाद्याः सर्वसाधारणाः क्रियाः।।८८।।

तत्र नियुद्धेन तोषणं, यथा–

४२–अघहर ! जितकाशी युद्धकण्डूलबाहु–
स्त्वमटसि सखिगोष्ठ्यामात्मवीर्यं स्तुवानः।
कथय किमु ममोच्चैश्चण्डदोर्दण्डचेष्टा
विरमितरणरंगो निःसहांगः स्थितोऽसि।।८९।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*युग्मत्वं युग्मधर्मो मिलनमित्यर्थः, युग्मत्वे लास्येति तेन सहेत्यर्थः, सर्वेषां सखिमात्राणां साधारणाः प्रक्रियाः।।८८।। जितकाशी जयावह इति क्षीरस्वामी, स्वजयाभिमानीत्यर्थः, युक्तेतियुक्तमयुक्तचादिर्यस्य युक्तमिदं कर्तव्यमयुक्तमिदं न कर्तव्यमित्युपदेश इत्यर्थः।।८९।।*

● *अनुवाद–प्रेयोभक्ति रस में अनुभाव;* बाहुयुद्ध, गेंद खेलना, द्यूतकेलि, कन्धे पर चढ़ना, कृष्ण के साथ परस्पर यष्टिक्रिया (गदका) द्वारा युद्ध करके उन्हें प्रसन्न करना, पर्यंक, आसन एवं हिण्डोला पर श्रीकृष्ण के साथ एकत्र शयन तथा बैठना, मनोहर विचित्र परिहास, सरोवर में विहार तथा श्रीकृष्ण के साथ मिलकर नृत्यगानादि–सखाओं की साधारण क्रियाएँ हैं।।८६–८८।।

बाहुयुद्ध में श्रीकृष्ण के सन्तोषण का उदाहरण; हे अघहर ! तुम जो आत्म–अभिमानी होकर युद्ध के लिए भुजाओं को खुजाते हुए सखाओं की सभा में अपने पराक्रम की प्रशंसा करते फिरते हो, आज बोलो, मेरी भयंकर भुजाओं की चेष्टा देखकर रणरंग में कैसे निरुत्साहित होकर दुर्बल से बैठे हो !।।८९।।

४८–युक्तायुक्तादिकथनं हितकृत्ये प्रवर्त्तनम्।
प्रायः पुरः सरत्वाद्याः सुहृदामीरिताः क्रियाः।।९०।।
४९–ताम्बूलाद्यर्पणं वक्त्रे तिलकस्थासकक्रिया।
पत्रांकुरविलेखादि सखीनां कर्म कीर्तितम्।।९१।।

५०–निर्जितीकरण युद्धेवस्त्रे धृत्वास्य कर्षणम्।
पुष्पाद्याच्छेदनं हस्तात् कृष्णेन स्वप्रसाधनम्।
हस्ताहस्तिप्रसंगाद्याः प्रोक्ताः प्रियसखक्रियाः।।६२।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*स्थासकश्चन्दनादिभिश्चर्च्चा।।६१।। हस्ताहस्तीति परस्परमाकर्षणादिना हस्तेन हस्तेन युद्धमिवेत्युत्प्रेक्ष्यते।।६२।।*

● *अनुवाद*–कर्तव्य अकर्तव्य का उपदेश, हितकार्य में लगाना, प्रायः सब कार्यों में अग्रसर होना आदि *सुहृदों की क्रियाएँ* हैं।।६०।।

मुख में ताम्बूल देना, तिलक निर्माण करना, चन्दनादि द्वारा लेप, मुख पर तथा शरीर पर पत्रांकुरादि की रचना आदि *सखाओं की क्रियाएँ* हैं।।६१।।

श्रीकृष्ण को युद्ध में पराजित करना, वस्त्र पकड़ कर श्रीकृष्ण को खींचना, श्रीकृष्ण के हाथ से फूलादि छुड़ा लेना, श्रीकृष्ण द्वारा अपने वेष–भूषा सजवाना तथा एक दूसरे को आकर्षण कर हाथाहाथीपूर्वक युद्ध की तरह क्रीड़ाएँ आदि प्रिय–सखाओं की क्रियाएँ हैं।

५१–दूत्यं व्रजकिशोरीषु तासां प्रणयगामिता।
ताभिः केलिकलौ साक्षात्सख्युः पक्षपरिग्रहः।।६३।।
५२–असाक्षात्स्वस्वयूथेशापक्षस्थापनचातुरी।
कर्णाकर्णिकथाद्याश्च प्रियनर्मसखः क्रियाः।।६४।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*प्रणयगामिता प्रणयस्यानुमोदनमित्यर्थः, ताभि सह सख्युः श्रीकृष्णस्य केलिकलौ क्रीड़ाकलहे, तासां केवलानां (बालानां) साक्षात् तस्यैव पक्षपरिग्रहः तासामसाक्षात् तस्य तु साक्षात्तासां मध्ये या स्वस्वाश्रययूथेशा तस्या यः पक्षः तस्यैव स्थापनचातुरीत्यर्थः, तासां तस्य च युगपत्साक्षाच्चेत्तथापि तस्या एव पक्षस्थापनचातुरीति ज्ञेयं, कर्णाकर्णीति (२।१।३३३) पूर्वं व्याख्यातमेव।।६४।।*

● *अनुवाद*–व्रजकिशोरियों के सम्बन्ध में दूतों का काम करना, उनके प्रेम का अनुमोदन करना, उनके साथ क्रीड़ा–कलह उपस्थित होने पर उनके सामने श्रीकृष्ण का पक्ष ग्रहण करना और व्रजकिशोरियों के उपस्थित न रहने पर अपनी–अपनी आश्रयभूता यूथेश्वरी के पक्ष का समर्थन करने में चतुरता प्रकाश करना और श्रीकृष्ण के साथ कान में चुपके–चुपके बातें करना आदि प्रियनर्म सखाओं की क्रियाएँ हैं।।६२।। (श्रीराधा जी सुबल की आश्रयभूता यूथेश्वरी हैं। अतः सुबल श्रीराधा के पक्ष का समर्थन करता है। जब श्रीकृष्ण तथा श्रीराधा दोनों उपस्थित हों तो नर्मसखा अपनी–अपनी आश्रयभूता यूथेश्वरी के पक्ष का समर्थन करने में चतुरता प्रकाशित करते हैं)।।६४।।

५३–वन्यरत्नाद्यलंकारैः माधवस्य प्रसाधनम्।
पुरस्तौर्यत्रिकं तस्य गवां सम्भालनक्रियाः।।६५।।
५४–अंगसंवाहनं माल्यगुम्फनं बीजनादयः।
एताः साधारणा दासैर्वयस्यानां क्रिया मताः।
पूर्वोक्तेष्वपराश्चात्र ज्ञेया धीरैर्यथोचितम्।।६६।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*पूर्वोक्तेष्वनुभावेष्वपरा अगणिताः केचनानुभावा अत्र ज्ञेया इति यावत्।।६६।।*

● *अनुवाद*–वनपुष्पों तथा रत्नादि द्वारा श्रीकृष्ण को अलंकृत करना, उनके आगे नृत्य–गीत वाद्य, उनकी गौओं की सेवा, उनके अंगों का सम्वाहन, माला–गूंथना, वीजना करना आदि यह सब दासों के साथ सखाओं का साधारण कर्म है। पहले कहे गए अनुभावों में और भी अनेक यथायोग्य अनुभाव हैं।।६५–६६।।

अथ सात्त्विकाः; तत्र स्तम्भो, यथा–

४३–निष्क्रामन्तं नागमुन्मथ्य कृष्णं श्रीदामायं द्राक् परिष्वक्तुकामः।
लब्धस्तम्भौ सम्भ्रमारम्भशाली बाहुस्तम्भौ पश्य नोत्क्षेप्तुमीष्टे।।६७।।

स्वेदो, यथा–

४४–क्रीड़ोत्सवानन्दरसं मुकुन्दे स्वात्यम्बुदे वर्षति रम्यघोषे।
श्रीदाममूर्तिर्वरशुक्तिरेषा स्वेदाम्बुमुक्तापटलीं प्रसूते।।६८।।

● *अनुवाद*–(सात्त्विक भावों के उदाहरणों का उल्लेख करते हैं) स्तम्भ–यह देखो, कालियनाग का दमन करने के बाद श्रीकृष्ण के बाहर आने पर उन्हें अति–शीघ्र आलिंगन करने की इच्छा होते हुए भी श्रीदाम अधीर हुआ अपनी स्तम्भयुक्त भुजाओं को ऊपर ही नहीं उठा सक रहा है।।६७।।

स्वेद–मुकुन्द रूप स्वाति नक्षत्रीय मेष की रमणीय मुरलीध्वनिरूप गर्जना के साथ क्रीड़ोत्सवरूप आनन्द जल वर्षण करने पर श्रीदाम के देहरूप उत्कृष्ट शुक्ति (सीपी) ने स्वेद बिन्दु रूप मुक्तामाला उत्पन्न की अर्थात् श्रीदाम के शरीर पर स्वेद–पसीना आ रहा है।।६८।।

रोमांचो, यथा दानकेलिकौमुद्यां–

४५–अपि गुरुपुरस्त्वं दोस्तम्भौ प्रसार्य निरर्गलं
विपुलपुलको धन्यः स्वैरी परिष्वजसे हरिम्।
प्रणयति तव स्कन्धे चासौ भुजं भुजगोपमं
क्व सुबल ! पुरा सिद्धक्षेत्रे चकर्थ कियत्तपः।।६६।।

स्वरभेदादिचतुष्कं, यथा–

४६–प्रविष्टवति माधवे भुजगराजभाजं ह्रद
तदीयसुहृदस्तदा पृथुलवेपथुव्याकुलाः।
विवर्णवपुषः क्षणाद्विकटघर्घरध्मायिनो
निपत्य निकटस्थलीभुवि सुषुप्तिपारेभिरे।।१००।।

अश्रु, यथा–

४७–दावं समीक्ष्य विचरन्तमिषीकतूलैस्तस्य क्षयार्थमिव बाष्पझरं किरन्ती।
स्वामप्युपेक्ष्य तनुमम्बुजमालभारिण्याभीरवीथिरभितो हरिमावरिष्ट।।१०१।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*अपि गुरुपुर इति श्रीराधाया मानसमेवानुतापवचनं, गुरुवोऽत्र श्रीरामादय एव।।६६।। स्वरभेदादिचतुष्कमिति। अश्रु त्यक्त्वा, पूर्वोद्दिष्टक्रमो, न तु श्लोकक्रमः क्षणादिति क्षणमतिक्रम्य विकटेत्यादिलक्षणाः एवमेवभूता,*

निपत्येति ।निपतनादनन्तरमित्यर्थः, सुषुप्तिमिति तामिव निश्चेष्टावस्थामित्यर्थः ।।१००।। इषीकाः शरपुष्पदण्डाः तासां तूलैः, "इष्टकेषिकामालानां चिततूलभारिष्विति" ह्रस्वत्वं। प्रकरणबलादत्राभीरादिशब्दाः सखिष्वेव पर्यवस्यन्ति, भयेप्यस्रुझरमिदमनिष्टस्य निश्चयाच्छोकमनुभूयेति ज्ञेयम् ।।१०१।।

● *अनुवाद–रोमांच*–(दानकेलि कौमुदी में श्रीराधा जी के मानस अनुताप) का उदाहरण; हे सुबल ! तुम ही धन्य हो, क्योंकि गुरुजनों के सामने भी अबाधरूप से तुम विपुल पुलकयुक्त भुजाओं को फैलाकर श्रीकृष्ण का यथेच्छ आलिंगन करते हो और श्रीकृष्ण भी फिर तुम्हारे कन्धों पर सर्प की सी भुजाओं को धारण करते हैं। अतएव तुम बताओ तो सही तुमने किस सिद्धक्षेत्र में कौन सी तपस्या की थी ?।।६६।।

स्वरभेदादि चारों का उदाहरण; श्रीकृष्ण के कालियह्रद में प्रवेश कर जाने पर उनके सुहृदगण विपुल पसीना–पसीना होकर अति व्याकुल हो उठे, उनके शरीर का रंग फीका पड़ गया, एक क्षण के बीच ही विकट घरघर शब्द करते हुए निकटवर्ती भूमितल पर निश्चेष्ट–बेसुध होकर गिर पड़े।।१००।।

अश्रु–मुंजाटवी में दावानल के लगने पर उसके बुझाने के लिए मानो अश्रुधाराओं को बरसाते हुए पद्ममालाधारी गोपबालकगण ने अपने शरीरों की परवाह न करते हुए श्रीकृष्ण को चारों तरफ से ढक लिया।।१०१।।

अथ व्यभिचारिणः–

५५–औग्र्यं त्रासं तथालस्यं वर्जयित्वाखिलाः परे
रसे प्रेयसि भावज्ञैः कथिता व्यभिचारिणः।।१०२।।
५६–तत्रायोगे मदं हर्षं गर्वं निद्रां धृतिं विना।
योगे मृतिं क्लमं व्याधिं विनापस्मृतिदीनते।।१०३।।

तत्र हर्षो, यथा–

४८–निष्क्रमय्य किल कालियोरगं बल्लवेश्वरसुते समीयुषि।
सम्मदेन सुहृदः स्खलत्यदास्तदृगिरश्च विवशांगतां दधुः।।१०४।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*औग्र्यमत्र केवलकृष्णविषयं, त्रासं केवल तदहेतुकम्, आलस्यंतदानुकूल्यविषयं वर्जयित्वेति, तत्तदुपाधिसद्भावे तु तत्र तत्रावर्णयदे–वेति।।१०२।। गीर्षु स्खलत्पदत्वं पदावसानस्याशक्यनिर्णयत्वं, विवशांगत्वमक्षराव–सानस्येति।।१०३।। विश्रम्भात्मा या रतिः सा विमुक्तसम्भ्रमा सती सख्यं स्यात्, तच्च स्थायि शब्दभागित्यन्वयः, सम्भ्रमोऽत्र गौरवकृतवैयग्र्यम्।।१०४।।*

● *अनुवाद*–कृष्ण–विषयक औग्र्य, त्रास, एवं आलस्य–इन तीनों को छोड़कर कर अन्य सब व्यभिचारि भाव ही प्रेयोभक्तिरस में उदित होते हैं। उनके अयोग में या श्रीकृष्ण के विच्छेद में मद, हर्ष गर्व, निद्रा तथा इन पाँचों को छोड़कर और सब होते हैं तथा कृष्ण–मिलन में मृति, क्लम, व्याधि, अपस्मार एवं दीनता–इन पाँचों को छोड़कर और–और व्यभिचारि भाव प्रकटित होते हैं।।१०२–१०३।।

हर्षावस्था के उदाहरण; कालियनाग की दह से निकाल कर बाहर आने पर जब सुहृद श्रीकृष्ण से मिले, तो आनन्दातिरेक के कारण उनके पाँव लड़खड़ाने लगे, उनकी वाणी भी विवश सी हो गई।।१०४।।

अथ स्थायी–

५७–विमुक्तसंभ्रमा या स्याद् विश्रम्भात्मा रतिर्द्वयोः।
प्रायः समानयोरत्र सा सख्यं स्थायिशब्दभाक्।।१०५।।
५८–विश्रम्भो गाढ़विश्वासविशेषो यन्त्रणोज्झितः।
एषा सख्यरतिर्वृद्धिं गच्छन्ती प्रणयः क्रमात्।
प्रेमा स्नेहस्तथा राग इति पंचभिदोदिता।।१०६।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*गाढ़विश्वासविशेषोऽत्र परस्परं सर्वथा स्वाभेदप्रतीतिः; अतएव यन्त्रणोज्झितश्च।।१०६।।*

● *अनुवाद*–प्रायः परस्पर समान दो सखाओं में सम्भ्रमशून्य अर्थात् गौरवबुद्धि–जनित व्यग्रता–रहित और विश्रम्भात्मिका जो रति है, उसको "सख्य–रति" कहते हैं। यह सख्यरति ही प्रेयोभक्तिरस का स्थायीभाव है। यन्त्रणाहीन गाढ़ विश्वास–विशेष को अर्थात् सर्वतोभाव में परस्पर अनेक प्रतीति को "विश्रम्भ" कहते हैं। सर्वतोभाव से अभेद प्रतीति के कारण ही वह यन्त्रणाहीन या संकोचहीन होती है। यह सख्यरति वृद्धि प्राप्त होकर क्रमशः सख्यरति से आरम्भ होकर प्रणय, प्रेम, स्नेह एवं राग–इन पाँच भेदों को प्राप्त होती है। (तात्पर्य यह है कि प्रेयोभक्तिरस का स्थायिभाव जो सख्यरति है, उसमें गौरवबुद्धि नहीं है, उसमें व्यग्रता–संकोचनादि भी नहीं है। इसलिए दोनों सखाओं में सर्वतोभाव से अभेद प्रतीति पैदा होती है। उसी के फलस्वरूप संकोचहीनता होती है)।।१०५–१०६।।

तत्र सख्यरतिर्यथा–

४६–मुकुन्दो गान्दिनीपुत्र ! त्वया संदिश्यतामिति।
गरुड़ांक ! गुड़ाकेशस्त्वां कदा परिरप्स्यते।।१०७।।

● *अनुवाद*–सख्यरति–हे अक्रूर जी ! तुम श्रीकृष्ण को यह सन्देश कहना कि अर्जुन को आपका आलिंगन कब प्राप्त होगा ?।।१०७।।

प्रणयः–

५६–प्राप्तायां संभ्रमादीनां योग्यतायामपि स्फुटम्।
तद्गन्धेनाप्यसंस्पृष्टा रतिः प्रणय उच्यते।।१०८।।

यथा, ५०–सुरैस्त्रिपुरजिन्मुखैरपि विधीयमानस्तुते–
रपि प्रथयतः परामधिकपारमेष्ठ्यश्रियम्।
दधत्पुलकिनं हरेरधिशिरोधि सव्यं भुज
समस्कुरुत पांशुलान् शिरसि चन्द्रकानर्जुनः।।१०६।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*प्रेमादीनां लक्षणं पूर्ववत्, प्रणयस्य तु वक्ष्यते।।१०८।। सुरैस्त्रिपुरजिन्मुखैरिति। असुराणां वधान्तेऽपीदृशी लीला ज्ञेया।।१०६।।*

● *अनुवाद–प्रणय*–जिस रति में स्पष्टतः संभ्रमादि की प्राप्ति योग्यता रहते हुए भी उसको यदि सम्भ्रमलेश का भी स्पर्श नहीं करता, तो उसे "प्रणय" कहते हैं।।१०८।।

श्रीमहादेवादि देवतागण की स्तुति द्वारा श्रीकृष्ण की ब्रह्म–सम्पत्ति से भी परम अधिक परमैश्वर्यता प्रकाशित करने पर भी, सखा–अर्जुन श्रीकृष्ण के कन्धे पर अपनी पुलकित वामभुजा रख कर उनके मस्तक के मोरमुकुट की धूलि को झाड़ते रहे।।१०९।।

प्रेमा, यथा–

५१–भवत्युदयतीश्वरे सुहृदि हन्त राज्यच्युति–
मुकुन्द ! वसतिर्वने परगृहे च दास्यक्रिया।
इयं स्फुटममंगला भवतु पाण्डवानां गतिः
परंतु बबृधे त्वयि द्विगुणमेव सख्यामृतम्।।११०।।

स्नेहो, यथा दशमे (१०।१५।१८)–

५२–अन्ये तदनुरूपाणि मनोज्ञानि महात्मनः।
गायन्ति स्म महाराज ! स्नेहक्लिन्नधियः शनैः।।१११।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*भवत्युदयतीति पाण्डवानामज्ञातवाससमये श्रीनारदवचनं, तत्रेयमंगला गतिर्भवत्विति; अतिसर्गनाम्नी या कामचाराभ्यनुज्ञा तस्यां लोट्, यतः सा गतिस्तेषां न सख्यस्य हानिकरी प्रत्युत तस्यां तस्य वृद्धिरेव दृश्यत इत्याह–परंत्विति, तेषाम् भवति प्रेमा भवता कृतैरुपकारैर्न जनितः किन्त्व–समोर्ध्वभवद्गुणगणानामनुभवेनैव। ते च भवदुदासीनतामयं तेषां दुःखानुभवं निर्धूय स्फुरन्तस्तम् प्रेमाणमेधयन्त एव विराजन्त इति भावः, बबृध इति सिद्धवन्निर्देशाद्दार्ढ्यं बोधयति; परोक्षनिर्देशात्तेषामेवानुभवगम्यं तदस्माकं तु लक्षणदृष्ट्यानुमानगम्यमेवेति सूचयति।।११०।।*

● *अनुवाद–प्रेम*–आप जैसे शक्तिशाली मित्र को प्राप्त कर हे मुकुन्द ! राज्य का अपहरण, वनवास तथा दूसरे के घर में दासता आदि यह सब अमंगल गति पाण्डवों को प्राप्त हुई, किन्तु हर्ष का विषय यह है कि आपके प्रति उनके सख्यरूप अमृत की वृद्धि ही हुई है।।११०।।

स्नेह का उदाहरण–श्रीमद्भागवत (१०।१५।१८) में– हे महाराज ! महात्मा श्रीकृष्ण थक कर जब सो गये तो अचानक बालकगण स्नेह से द्रवितचित्त होकर धीरे–धीरे उनकी मनोहर गीतावली गान करने लगे।।१११।।

यथा वा, ५३–आर्द्रांगस्खलदच्छधातुषु सुहृद्गोत्रेषु लीलारसं
वर्षत्युच्छ्वसितेषु कृष्णमुदिरे व्यक्तं बभूवाद्भुतम्।
या प्रागास्त सरस्वती द्रुतमसौ लीनोपकण्ठस्थले
या नासीदुदगाद् दृशोः पथि सदानीरोरुधारात्र सा।।११२।।

रागो, यथा–

५४–अस्त्रेण दुष्परिहरा हरये व्यकारि या पत्रिपंकतिरकृपेण कृपीसुतेन।
उत्प्लुत्य कण्टकभृता हृदि गृह्यमाणा जातास्य सा कुसुमवृष्टिरिवोत्सवाय।।११३।।

यथा वा,

५५–कुसुमान्यवचिन्वतः समन्ताद् वनमालारत्नोचितान्यरण्ये।
वृषभस्य वृषार्कजा मरीचिर्दिवसार्धेपि बभूव कौमुदीव।।११४।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*कृष्णमुदिरे लीलारसं वर्षति सति; आर्द्रादंगा–त्स्खलन्तोऽच्छा स्वच्छा धातवो गैरिकाद्यंगरागा येषां तादृशेषु सुहृद्रूपेषु गोत्रेषु पर्वतेषु उच्छ्वसितेषूच्चै,: श्वासयुक्तेषु; पक्षे वृक्षादिवृद्ध्योच्छूणेषु आस्त आसीत: सरस्वती वाणी पक्षे नदी, उपकण्ठस्थले कण्ठस्य समीपे स्थाने, पक्षे निकटे या नीरोरुधारा दृशोः पथि नासीत् सा सदोदगात्, पक्षे सदानीरा करतोयाख्या नदी।।११२।। व्यकारि क्षिप्ता।।११३।।*

● *अनुवाद*–श्रीकृष्णरूप मेघ ने लीलारूप रस (जल) वर्षण करते हुए सुहृदरूप पर्वतों को भिगो दिया है, जिससे स्वच्छ धातु समूह रूप गैरिकादि अंग–राग बहने लगा है, उनमें उच्चश्वास रूप (वृक्षादि) की वृद्धि हो उठी है। और एक अश्चर्य यह है कि पहले जो सरस्वती नदी (वाणी) प्रवाहित हुई थी, अब वह कृष्ण–सुहृदरूप पर्वतों के कण्ठदेश (पर्वतों के निकट) शीघ्र ही लीन हो गई है अर्थात् कण्ठरोध हो गया है (अथवा सूख गई हैं) और जो पहले नेत्रों से अश्रु प्रवाह नहीं बह रहा था, वह अब सदा बहने लगा है।।११२।।

राग का उदाहरण–निठुर अश्वत्थामा श्रीकृष्ण को लक्ष्यकर अस्त्र द्वारा न रोके जाने वाले बाणों को जब निक्षेप करने लगा, तब अर्जुन ने कूद कर उन बाणों को अपनी छाती पर सहन किया, वह बाणों की बौछार उसके लिए पुष्पवृष्टि के समान आनन्दायक हो गई।।११३।।

दूसरा उदाहरण–श्रीकृष्ण के लिए वनमाला बनाने के लिए सुन्दर पुष्पों के वन में चारों ओर घूम–घूमकर चुनते समय उनके मित्र वृषभ के लिए वृष राशि के सूर्य की किरणें भी चन्द्र की चाँदनी के समान शीतलता प्रदान कर रही थीं।।११४।।

अथ अयोगे उत्कण्ठितं, यथा–

५६–धनुर्वेदमधीयानो मध्यमस्त्वयि पाण्डवः।
वाष्पसंकीर्णया कृष्ण ! गिरा श्लेषं व्यजिज्ञपत्।।११५।।

अथ वियोगे, यथा–

५७–अघस्य जठरानलात्फणिह्रदस्य च क्ष्वेड़तो
दवस्य कवलादपि त्वमवितात्र येषामभूः।
इतस्त्रितयोऽप्यतिप्रकटघोरधाटीधरात्
कथं न विरहज्वरादवसि तान्सखीनद्य नः ?।।११६।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*धाटी बलादाक्रमणमिति क्षीरस्वामी।।११६।।*

● *अनुवाद–श्रीकृष्ण के अयोग में उत्कण्ठित का उदाहरण*–हे कृष्ण ! धनुर्वेद का अध्ययन करते हुए श्रीअर्जुन ने गद्गद वाणी से आपसे आलिंगन करने की प्रार्थना की है।।११५।।

वियोग में उत्कण्ठित का उदाहरण—अघासुर के जठरानल से, कालियदह के विष से और दावानल के ग्रास से भी आपने जिन मित्रों की रक्षा की थी, उन तीनों से भी अधिक सन्ताप को देने वाले विरहताप से हम मित्रों की आप आज रक्षा क्यों नहीं कर रहे हैं ?।।११६।।

६०—अत्रापि पूर्ववत्प्रोक्तास्तापाद्यास्ता दश दशा।।११७।।

तत्र तापः—

५८—प्रपन्नो भाण्डीरेऽप्यधिकशिशिरे चण्डिमभरं
तुषारेऽपि प्रौढिं दिनकरसुतास्त्रोतसि गतः।
अपूर्वः कंसारे ! सुबलमुखमित्रावलिमसौ
बलीयानुतापस्तव विरहजन्मा ज्वलयति।।११८।।

● *अनुवाद*—इसमें भी पहले (३।२।११६—१२७) कही हुई वे ताप आदि दश दशाएँ हैं।।११७।।

ताप का उदाहरण—हे कंसारि ! अत्यन्त शीतल भाण्डीर वन में भी भयंकर उग्रता को प्राप्त, और शीतल यमुनाजल में भी प्रचण्डता को प्राप्त होकर आपके विरह के कारण उत्पन्न यह अलौकिक सन्ताप आपके सुबल प्रमुख मित्रों को जला रहा है।।११८।।

कृशता— ५९—त्वयि प्राप्ते कंसक्षितिपतिविमोक्षाय नगरीं
गभीरादाभीरावलितनुषु खेदादनुदिनम्।
चतुर्णां भूतानामजनि तनिमा दानवरिपो !
समीरस्य प्राणाध्वनि पृथुलता केवलमभूत्।।११९।।

जागर्य्या, यथा—

६०—नेत्राम्बुजद्वन्द्वमवेक्ष्य पूर्णं वाष्पाम्बुपूरेण वरूथपस्य।
तत्रानुवृत्तिं किल यादवेन्द्र ! निर्विद्य निद्रामधुपी मुमोच।।१२०।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*चतुर्णामित्याकाशस्यापि तनिमा देहकार्श्येन विवराणां सूक्ष्मत्वप्राप्तेः।।११९।।*

● *अनुवाद—कृशता का उदाहरण*—हे दानवारि कृष्ण ! कंस के मारने के लिए आपके मथुरापुरी चले जाने पर अत्यन्त खेद के कारण गोपवृन्द के शरीर में (आकाश, जल, अग्नि एवं पृथ्वी) चारों भूत कृशता को प्राप्त हो गए, केवल नासा रन्ध्रों में वायु ही प्रबलतर हो उठा।।११९।।

जागरण का उदाहरण; हे यादवेन्द्र ! वरूथप सखा के नेत्रकमलों को अश्रुजल से भरा देखकर निद्रारूपी मधुपी ने निर्वेद के कारण नेत्रकमलों का आनुगत्य—वास छोड़ दिया है।।१२०।।

आलम्बशून्यता—

६१—गते वृन्दारण्यात् प्रियसुहृदि गोष्ठेश्वरसुते
लघुभूतं सद्यः पतदतितरामुत्पतदपि।
न हि भ्रामं भ्रामं भजति चटुलं तूलमिव मे
निरालम्बं चेतः क्वचिदपि विलम्बं लवमपि।।१२१।।

अधृतिः—

६२—रचयति निजवृत्तौ पाशुपाल्ये निवृत्तिंकलयति च कलानां विस्मृतौ यत्नकोटिम्।
किमपरमिह वाच्यं जीवितेऽप्यद्य धत्ते यदुवर ! विरहात्ते नार्थितां बन्धुवर्गः।।१२२।।

● *अनुवाद—आलम्बन—शून्यता का उदाहरण;* प्रियसुहृत् व्रजेन्द्रनन्दन के वृन्दावन से चले जाने के बाद मेरा निरालम्ब चित्त इतना हल्का हो गया है कि रुई के समान गिरते—पड़ते इधर—उधर घूमता हुआ कहीं भी तनिक स्थिरता प्राप्त नहीं कर रहा है।।१२१।।

अधृति का उदाहरण; हे यदुवर ! आपके विरह में सखाओं ने गोचारण रूप अपनी निजवृत्ति को त्याग दिया है, और संगीत आदि कलाओं को भुलाने के लिए कोटि—कोटि यत्न कर रहे हैं, और क्या कहें? आज तो उन्हें अपना जीवन भी प्रिय नहीं लग रहा है।।१२२।।

जड़ता—

६३—अनाश्रितपरिच्छदाः कृशविशीर्णरूक्षालकाः
सदा विफलवृत्तयो विरहिताः किल च्छायया।
विरावपरिवर्जितास्तव मुकुन्द ! गोष्ठान्तरे
स्फुरन्ति सुहृदा गणाः शिखरजातवृक्षा इव।।१२३।।

व्याधिं—

६४—विरहज्वरसंज्वरेण ते ज्वलिता विश्लथगात्रबन्धना।
यदुवीर ! तटे विचेष्टते चिरमाभीरकुमारमण्डली।।१२४।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*परिच्छदाः वेशादयः, पक्षे परितः छदाः पत्राणि, छाया कान्तिः, पक्षेअनातपः, विरावो विशेषेण रावः, पक्षे वीणां पक्षिणां रावः, शिखरजातवृक्षा इवेत्येव पाठः; विशिष्टस्यैवात्रोपमानत्वात्।।१२३।। विरह एव ज्वरस्तस्य संज्वरेण सन्तापेन।।१२४।।*

● *अनुवाद—जड़ता का उदाहरण;* हे मुकुन्द ! आपके वियोग में गोकुल में आपके मित्रगण पर्वत शिखर पर उत्पन्न वृक्ष के समान वेश—भूषा रहित (वृक्ष पक्ष में पत्तों रहित) कृश और रूखे और बिखरे हुए बालों युक्त, सदा व्यर्थ व्यापार (फलों रहित), कान्ति शून्य (छाया रहित) एवं हर्षध्वनि से रहित (पक्षियों के शब्दों रहित) प्रतीत होते हैं। (मित्रों को इस श्लोक में पर्वतोत्पन्न वृक्ष की उपमा दी गई है)।।१२३।।

व्याधि का उदाहरण; हे यदुवीर ! आपके विरह ज्वर से सन्तप्त होकर गोपकुमारों की मण्डली शिथिल—शरीर होकर बहुत समय से यमुना तट पर खड़ी है।।१२४।।

उन्मादः—

६५—विनाभवदनुस्मृतिं विरहविभ्रमेणाधुना
जगद्वयवहृतिक्रमं निखिलमेव विस्मारिता।
लुठन्ति भुवि शेरते बत हसन्ति धावन्त्यमी
रुदन्ति मथुरापते ! किमपि बल्लवानां गणाः।।१२५।।

मूर्च्छितम्—

६६—दीव्यतीह मधुरे मथुरायां प्राप्य राज्यमधुना मधुनाथे।
विश्वमेव मुदितं रुदितान्धे गोकुले तु मुहुराकुलताभूत।।१२६।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*दीव्यतीति श्रीकृष्णं प्रति सखिविशेष सन्देशः, अत्र रुदितान्ध इत्यादिना मुहुर्मूर्च्छा ध्वन्यते, रुदितान्धत्वं खलु रोदनानन्तरं मुहुमूर्च्छितत्वं; तच्च गोकुलं लक्षीकृत्य स्वयमेव व्यज्यत इति, आकुलता चात्र रोदनमूर्च्छापौनः पुन्येन व्याकुलता।।१२६।।*

● *अनुवाद—उम्माद का उदाहरण;* हे मथुरापते ! आपके विरह—सन्ताप से गोपमण्डली इस समय आपकी स्मृति को धारणकर और समस्त जगत् के व्यवहारों को बिल्कुल भूल गई है। वे (उन्मादयुक्त होकर) कभी पृथ्वी पर लोटते हैं, कभी सो जाते हैं, कभी हँसते और कभी दौड़ने लगते, कभी रोने लगते हैं।।१२५।।

मूर्च्छा का उदाहरण; अब मधुर श्रीकृष्ण के राज्य को प्राप्त कर मथुरा में शोभित होने पर सारा संसार आनन्दित हो रहा है, किन्तु गोकुलवासी रो—रोकर अन्धे और बार—बार अत्यन्त व्याकुल हो रहे हैं।।१२६।।

मृतिः—

६७—कंसारेर्विरहज्वरोर्मिजनितज्वालावली जर्जरा
गोपाः शैलतटे तथा शिथिलितश्वासांकुराः शेरते।
बारं बारमखर्वलोचनजजैराप्लाव्य तान्निश्चलान्
शोचन्त्यद्य यथा चिरं परिचयस्निग्धाः कुरंगा अपि।।१२७।।

● *अनुवाद—मृति का उदाहरण;* हे कंसारे ! आपके विरह—ज्वर की ज्वाला से गोपगण जर्जर होकर गोवर्धन की तलहटी में अति अल्प श्वास लेते हुए ऐसे पड़े हुए हैं और उनके चिर परिचित स्नेहपात्र हरिणवृन्द उनके शरीरों को भी आप्लावित कर शोक प्रकट कर रहे हैं।।१२७।।

६१—प्रोक्तेयं विरहावस्था स्पष्टलीलानुसारतः
कृष्णेन विप्रयोगः स्यान्न जातु व्रजवासिनाम्।।१२८।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*प्रोक्तेयमिति। स्पष्टलीलानुसारेणेत्यनेनोत्तरार्धे त्वस्पष्टलीलानुसारेणेति गम्यते, स्पष्टलीला प्रकटलीला, लीलाहि द्विविधाप्रकटा अप्रकटा चेति, तत्र प्रकटा प्रापंचिकलोकगोचरीभूता, सा च कादाचित्की, अप्रकटा तदगोचरीभूता सा तु नित्यैव श्रीवृन्दावनादौ वर्तते, यैव खलु स्कान्दादावागमादौ तापनीश्रुत्यादौ जयति जननिवास (भा० १० ।९० ।४८) इत्यादौ च प्रगीयते, तस्या तु देशान्तरगमनादिकं नास्ति नित्यत्वादेव, किन्तु प्रकटायामेव कदाचित्तदस्ति प्रापंचिकलोकगोचरीभावश्च सपरिकरस्य भगवतस्तत्तल्लीलानुसारेण कदाचिद्भवति, तत्र षोडशसहस्रकन्याविवाहवल्लीलाशक्त्या प्रादुर्भावभेदादभिमानभेदः, परस्परमननुसन्धानं च तत्तल्लीलारसरक्षणाय स्यात् तदन्यथा वियोग एव न स्यात् तस्मात्प्रकटलीलायां वियोगे जातेऽप्यप्रकटलीलायां तदभावान्न जात्वित्युक्तं, किन्तु प्रकटलीलामेवोद्दिश्य सर्वेषं रचनेति तस्याः पर्यवसानरम्यत्वमवश्यं स्थापनीयम्,*

तच्च व्रजे पुनः संगत्य द्वयोर्लीलयोः श्रीभगवता कृते पुनरेकीभावे प्रकटलीलागतविरहश्च शाम्यतीति विवरणमये वत्सलरसप्रान्ते (३।४।७६) ज्ञेयम्।।१२८।।

● *अनुवाद*–**यह विरहावस्था स्पष्ट–लीला अर्थात् प्रकट–लीलानुसार वर्णन की गई है। श्रीकृष्ण और व्रजवासियों का (अप्रकट लीला में) वियोग कभी भी नहीं होता है।।१२८।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–लीला दो प्रकार की है–प्रकट तथा अप्रकट। प्रकट लीला को *'कादाचित्की'* कहा जाता है और अप्रकट लीला को 'नित्य' कहा जाता है। नित्यलीला (जो प्रापंचिक लोकों के गोचरीभूत नहीं होती) में श्रीकृष्ण का मथुरा–द्वारकादि जाना नहीं होता, वे सदा वृन्दावन में ही रहते हैं। प्रकट लीला (जो प्रापंचिक लोकों में गोचरीभूत होती है) श्रीकृष्ण वृन्दावन से मथुरा–द्वारकादि जाते हैं (एवं पुनः व्रज में लौट आते हैं।) इस अवस्था में व्रजवासियों को दारुण विरह दुःख भोग करना पड़ता है, जो वास्तव में परमानन्द का ही आस्वादन प्रदान करता है। क्योंकि संयोग में एक श्रीकृष्ण का मिलन रहता है, विरहावस्था में त्रिभुवन ही श्रीकृष्णमय होकर दीखता है। प्रकट तथा अप्रकट लीला दोनों स्वरूपतः नित्य हैं। ज्योतिश्चक्र में सूर्य की तरह नित्य अवस्थान करती हैं। जो देश सूर्य के सामने आते हैं, वहाँ सूर्योदय आदि माना जाता है, जो देश सूर्य की विपरीत दिशा में घूम जाते हैं वहाँ सूर्य का अस्त होना मान लिया जाता है। इसी प्रकार भगवत्–लीला का आविर्भाव–तिरोभाव मात्र है। जब श्रीभगवान् अपनी लीला के गोचरीभूत होने की कृपा या शक्ति प्रापंचिक लोकों को प्रदान करते हैं, तब वह लीला 'प्रकट' नाम से अभिहित होती है। जब उसे संगोपन कर लेते हैं, तब उसे 'अप्रकट' कहा जाता है। महाभाव–परिणामभूत आनन्द की परमावधि रूप जो दिव्योन्माद भ्रमरगीतादि में प्रकाशित होकर श्रीकृष्ण तथा श्रीकृष्ण–प्रेयसियों को चमत्कारी मधुररस–निर्यास का आस्वादन कराता है, वह केवल प्रकट–लीला का वैशिष्ट्य है। इस प्रकार का विप्रलम्भ रसात्मक सम्भोगानन्द का आस्वादन अप्रकट लीला में सम्भव नहीं है। अतः अप्रकटलीला से प्रकटलीला की विशेषता निरूपण की जाती है।। (प्रकट–लीला के नित्यत्व का प्रमाण नीचे उद्धृत करते हैं)–

तथा च स्कान्दे, मथुराखण्डे–

६८–वत्सैर्वत्सतरीभिश्च सदा क्रीडति माधवः।
वृन्दावनान्तर्गतः सरामो बालकैर्वृतः।।१२६।।

● *अनुवाद*–**स्कन्द पुराण के मथुराखण्ड में कहा गया है कि श्रीबलदेव तथा गोपबालकों से परिवेष्टित होकर श्रीकृष्ण वृन्दावन में वत्स तथा गौओं को चराते हुए निरन्तर क्रीड़ा करते हैं।।१२६।।**

अथ योगे सिद्धिर्यथा–

६९–पाण्डवः पुण्डरीकाक्षं प्रेक्ष्य चक्रिनिकेतने।
चित्राकारं भजन्नेव मित्राकारमदर्शयत्।।१३०।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*पाण्डवोऽर्जुनः सख्युरुत्कण्ठितः, चक्री द्रुपदनगरस्य*

कुम्भकारः, तथैव भारतव्याख्यानात्, चित्रस्याकारमाकृतितुल्यताम् मित्रयोग्यमाकारमिंगितम्।।१३०।।

● *अनुवाद–योग सिद्ध का उदाहरण;* श्रीअर्जुन द्रुपद नगर के एक कुम्हार के घर में श्रीकृष्ण को देखकर चित्रलिखे से रह गए। अर्जुन ने इस प्रकार मित्र–योग्य संकेत को प्रदर्शित किया।।१३०।।

तुष्टिर्यथा श्रीदशमे (१०।७१।२७)–

७०–तं मातुलेयं परिरभ्य निर्वृतो भीमः स्मयन् प्रेमजवाकुलेन्द्रियः।
यमौ किरीटी च सुहृत्तमं मुदा प्रवृद्धबाष्पा परिरेभिरेऽच्युतम्।।१३१।।

यथा वा, ७१–कुरुजांगले हरिमवेक्ष्य पुरः प्रियसंगमं व्रजसुहृन्निकराः।
भुजमण्डलेन मणिकुण्डलिनः पुलकांचितेन परिषष्वजिरे।।१३२।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*प्रकटलीलायामपि श्रीव्रजसुहृन्निकराणां तुष्टिमाह, कुरुजांगलइति, कुरुक्षेत्र इत्यर्थः, प्रियोऽभिलाषितः संगमो यस्य तम्।।१३२।।*

● *अनुवाद–तुष्टि का उदाहरण;* श्रीमद्भागवत (१०।७१।२७) में प्रेम के आवेग से विकल–इन्द्रिय भीम ने अपने मातुल–पुत्र श्रीकृष्ण का आलिंगन कर हँसते हुए अत्यन्त सन्तोष प्राप्त किया और आनन्द के अश्रु भरे नेत्रों वाले नकुल सहदेव तथा अर्जुन ने अपने घनिष्ट मित्र का आनन्द पूर्वक आलिंगन किया।।१३१।।

दूसरा उदाहरण; कुरुक्षेत्र में अपने अभिलषित श्रीकृष्ण के दर्शन कर मित्र कुण्डलधारी व्रजवासी सखागण ने पुलकित भुजाओं से श्रीकृष्ण को आलिंगन किया।।१३२।।

स्थितिर्यथा श्रीदशमे–(१०।१२।१२)–

७२–यत्पादपांशुर्बहुजन्मकृच्छ्रतो धृतात्मभिर्योगिभिरप्यगम्यः।
स एव यद्दृग्विषयः स्वयं स्थितः किं वर्ण्यते दिष्टमहो व्रजौकसाम् ?।।१३३।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*बहुजन्मभिर्यत्कृच्छ्रं दुःखात्मकमष्टांगयोगसाधनं तेन धृतः स्थिरीकृतः आत्मा मनो यैस्तैरपि योगिभिर्यस्य पादपांशुरलभ्यस्तादृशेनात्मनापि लब्धुमशक्यः स एव श्रीकृष्णो न तु तदंशः स्वयमात्मनैव हेतुना न तु हेत्वन्तरेण किन्तु स्वभावेनैव येषामहो आश्चर्यं दृग्विषयस्थितस्तेषां व्रजौकोमात्राणां दिष्टं प्राक्तनं पुण्यं किं वर्ण्यते न हि किन्तु स्वाभाविकी तादृशतया महती स्थितिरेव वर्णनीयेत्यर्थः, तदेवं सहविहारकृतां पूर्वोक्तसखीनां किमुतेति भावः स्थित इति शीलितादित्वाद् वर्तमाने क्तः, "यच्च किंचिज्जगत्यस्मिन् दृश्यते श्रूयतेऽपि वा, अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थित" इतिवत्।।१३३।।*

● *अनुवाद–स्थिति का उदाहरण;* श्रीमद्भागवत (१०।१२।१२) में–योगीजन अनेक जन्म पर्यन्त यम–नियमादि कष्टप्रद साधन करके चित्त को स्थिर करने पर भी जिनके चरणों की रज को भी प्राप्त नहीं कर पाते, वे स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण जिनके नेत्रों के सामने नित्य विराजमान रहते हैं, उन व्रजवासियों के महाभाग्यों का भला कोई वर्णन कर सकता है क्या ?।।१३३।।

अब अगले तीन श्लोकों में प्रेयोभक्तिरस की विशेषता का वर्णन करते हैं–

६२–द्वयोरप्येकजातीयभावमाधुर्यभागसौ ।
प्रेयान् कामपि पुष्णाति रसश्चित्तचमत्कृतिम् ।।१३४।।
६३–प्रीते च वत्सले चापि कृष्णतद्भक्तयोः पुनः ।
द्वयोरन्योऽन्यभावस्य भिन्नजातीयता भवेत् ।।१३५।।
६४–प्रेयानेव भवेत्प्रेयानतः सर्वरसेष्वयम् ।
सख्यसंपृक्तहृदयैः सद्भिरेवानुबुध्यते ।।१३६।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*अतः पूर्वपद्यद्वयोक्ताद्धेतोः प्रेयानेवेत्यादि योज्यम् ।।१३६।।*

● *अनुवाद*–प्रेयोभक्तिरस (सख्यरस) में श्रीकृष्ण तथा उनके सखा–इन दोनों में एक जातीय भावमाधुर्य रहता है, इसलिए सख्यरस एक अनिर्वचनीय चित्त–चमत्कारिता को पोषण किया करता है।।१३४।।

किन्तु प्रीत भक्तिरस अर्थात् दास्यरस तथा वत्सल भक्तिरस अर्थात् वात्सल्य रस में श्रीकृष्ण तथा उनके भक्त–इन दोनों के एक दूसरे प्रति भिन्न जाति के भाव होते हैं। इसलिए सख्यभाव विशिष्ट साधुगण ऐसा मानते हैं कि समस्त रसों में सख्यरस ही उत्कर्षमय है।।१३६।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–दास्य के भक्तों में श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में गुरुबुद्धि या प्रभु–बुद्धि रहती है और अपने को वे उनसे छोटा और उनका दास मानते हैं। श्रीकृष्ण भी उन्हें अपने से छोटा और अपना दास ही समझते हैं। वत्सलरस के भक्त श्रीकृष्ण को अपना लाल्य–पाल्य समझते हैं एवं श्रीकृष्ण भी उनको अपना लालक–पालक मानते हैं, उन्हें अपने से बड़ा मानते हैं। अतः प्रीत भक्तिरस तथा वात्सल्यभक्ति रस में विषयालम्बन भाव एकजातीय नहीं है, उनके बीच समान भाव नहीं। किन्तु सख्य भक्तिरस में विषयालम्बन–श्रीकृष्ण में तथा आश्रयालम्बन–भक्तों (सखाओं) में एक दूसरे के प्रति समान–समान भाव रहता है। दोनों एक दूसरे को सखा–समान ही मानते हैं। इसलिए सख्यभाव को दास्य एवं वात्सल्य रस से अधिक माधुर्यमय तथा चमत्कारी माना गया है।

इति श्रीभक्तिरसामृतसिन्धौ पश्चिमविभागे मुख्यभक्तिरसः पंचक निरूपणे प्रेयोभक्तिरसलहरी तृतीया।।३।।

● ● ●

चतुर्थ-लहरी : वत्सलभक्तिरसाख्या

१–विभावाद्यैस्तु वात्सल्यं स्थायी पुष्टिमुपागतः।
एष वत्सलतामात्रः प्रोक्तो भक्तिरसो बुधैः।।१।।

● *अनुवाद*–वात्सल्य अर्थात् अनुग्रहमयी–रति को स्थायीभाव, विभावादि द्वारा पुष्टि लाभ करने पर पण्डितगण 'वत्सल–भक्ति रस' कहते हैं।।१।।

तत्रालम्बना–

२–कृष्णं तस्य गुरुंश्चात्र प्राहुरालम्बनान् बुधाः।।२।।

अनुवाद-वत्सल–भक्तिरस के आलम्बन; पण्डितजन वत्सलभक्तिरस में श्रीकृष्ण को विषयालम्बन तथा श्रीकृष्ण के गुरुवर्ग (माता–पितादि) को आश्रयालम्बन कहते हैं।।२।।

तत्र कृष्णो, यथा–

१–नवकुवलयदामश्यामलं कोमलांगं।
विचलदलकभृंगक्रान्तनेत्राम्बुजान्तम्।
व्रजभुवि विरहन्तं पुत्रमालोकयन्ती
व्रजपतिदयितासीत्प्रस्नवोत्पीडदिग्धा।।३।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*उत्पीड़ः स्वयं बलादुद्गमः दिग्धा लिप्तेति संकीर्णवर्गात्।।३।।*

● *अनुवाद–विषयालम्बन–श्रीकृष्ण;* जिसका वर्ण नवनीलोत्पलों की भाँति श्यामल है, जिसके अंग अति कोमल हैं एवं चंचल अलकावली रूप भ्रमरों द्वारा जिसके नयन कमलों का प्रान्तभाग आक्रान्त है, उस पुत्र (श्रीकृष्ण) को व्रजभूमि में विहार करता हुआ देखकर व्रजपति–प्रेयसी यशोदाजी अपने आप क्षरित स्तन्यधारा द्वारा अभिषिक्त हो जाती है।।३।।

३–श्यामांगो रुचिरः सर्वसल्लक्षणयुतो मृदुः।
प्रियवाक् सरलो ह्रीमान् विनयी मान्यमानकृत्।
दातेत्यादिगुणः कृष्णो विभाव इह कथ्यते।।४।।
४–एवंगुणस्य चास्यानुग्राह्यत्वादेव कीर्तिता।
प्रभावानास्पदतया वेद्यस्यात्र विभावता।।५।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*श्यामांग इत्यास्तां तावत्तद्गुणापेक्षा श्यामांगता–मात्रेण जनन्यादीनामालम्बनमित्यर्थः। रम्यांग इति वा पाठः।।४।। आलम्बनत्वमेव तस्य विशदयति एवमिति। अस्य पुत्रत्वेनाभिव्यक्तस्य श्रीकृष्णस्य अतएव प्रभावानास्पदतया वेद्यस्य अनभिव्यञ्जितप्रभावस्य क्वचिदभिव्यञ्जितप्रभावत्वेऽप्यन्थाभावितस्य तस्य यदनुग्राह्यत्वं पुत्रोऽयं ममान्तर्बहिरप्यतिकोमल इति भावनया मात्रादीनां हितेच्छाविषयत्वं तस्मादेव नेतरस्मात् प्रकारादत्र रसे विभावता। मात्रादिषु वात्सल्याभिधरत्यास्वाद–जनकता कीर्तितेति, पुत्रतयाविर्भावमात्रेण सा सिद्धैव पूर्वरीत्यानुग्रहोदयेन तु सर्वतः प्रसरत्कीर्तिर्बभूवेत्यर्थः, गुणानां तूद्दीपनतामात्रेण [illegible] एवं गुणस्य चेति।*

पूर्वदर्शितगुणगणस्यापीत्यर्थः, वात्सल्यानुग्रहयोस्तु कारणकार्यताभेदेनभेदो ज्ञेयः, मम पुत्रोऽयं, भ्रातुष्पुत्रोऽयमिति स्निग्धता वात्सल्यं, तत्र हितेच्छा त्वनुग्रह इति।।४–५।।

● *अनुवाद*–श्यामांग, मनोहर, सर्वसल्लक्षणयुक्त, मृदु, प्रियवाक् सरल, लज्जाशील, विनयी, मान्यगण के प्रति मानप्रद, एवं दाता इत्यादि गुणों से युक्त श्रीकृष्ण ही वत्सल–भक्तिरस में विषयालम्बन विभाव कहे गए हैं। इस भक्तिरस में इस प्रकार के गुण–विशिष्ट श्रीकृष्ण की विषयालम्बन–विभावता का कारण यह है कि ये समस्त गुण श्रीकृष्ण के अनभिव्यक्त–प्रभावत्व (अप्रकाशित प्रभाव) को सूचित करते हैं एवं श्रीकृष्ण अनुग्राह्य हैं, ऐसा भाव जाग्रत करते हैं, अर्थात् हमारा पुत्र भीतर बाहर अति कोमल है, इस प्रकार की भावना में माता–पितादि के मन में ऐसा भाव जाग उठा कि यह कृष्ण हमारा अनुग्राह्य है, लाल्य–पाल्य है। कभी श्रीकृष्ण का ऐश्वर्य देखकर भी वे उसे श्रीकृष्ण का ऐश्वर्य नहीं मानते हैं, इसलिए श्रीकृष्ण का प्रभाव सर्वदा उनके पक्ष में अनभिव्यक्त रहता है।।४–५।।

यथा श्रीदशमे (१०।८।४५)–

> २–त्रय्या चोपनिषद्भिश्च सांख्ययोगैश्च सात्वतैः।
> उपगीयमानमाहात्म्यं हरिं सामन्यतात्मजम्।।६।।

यथा वा–

> ३–विष्णुर्नित्यमुपास्यते सखि ! मया तेनात्र नीताः क्षयं
> शंके पूतनिकादयः क्षितिरुहौ तौ वात्ययोन्मूलितौ।
> प्रत्यक्षं गिरिरेष गोष्ठपतिना रामेण सार्द्धं धृत–
> स्तत्तत्कर्म दुरन्वयं मम शिशोः केनास्य संभाव्यते।।७।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*तदेवं श्रीभागवतमतेन (१०।६।२०) "नेमं विरिञ्चि"–इत्याद्यनुसारात् त्रय्येत्यादि व्यञ्जिततद्वात्सल्यमहिमानं दर्शयित्वा शुद्धं तदेव दर्शयति विष्णुरिति स्पष्टमेव, अनेन–श्रीव्रजेश्वर्याः परमार्जवं सूचितं, यद्वा विष्णुरिति नर्मगोष्ठीयं, तत्रायमर्थः–मया सार्द्धं गोष्ठपतिना यद्विष्णुरुपास्यते ततस्तेनैव पूतनादयः क्षयं नीताः क्षितिरुहौ तु वात्यैवोन्मूलितौ न तत्र तस्यापि सम्बन्ध इति भावेन मच्छिशोरस्य रक्षा तु तेनैव कृतेति ध्वनितं। गिरिस्तु तादृशतदुपासनबलेन तेन गोष्ठपतिनैव धृतः रामेण सार्द्धमिति यदि मम शिशोस्तत्सम्भाव्यते तर्हि कथं रामेऽपि न सम्भाव्यत इत्यर्थः, तदेतत्क्वचित्तत्पुरातनतादृशगोवर्द्धनधरप्रतिमादृष्ट्या श्रीकविचरणैः स्पष्टीकृतं, 'तेन सहेति तुल्ययोग" इति समाससूत्रे सहार्थस्य द्वैविध्येऽपि दृष्टेः अत्र मया सार्द्धं रामेण सार्द्धमिति स पुनः सहार्थो विद्यमानतामात्रेण विवक्ष्यते न तुल्ययोगेनेति; श्रीव्रजपतिकृतविष्णुसभाजनमेव कारणत्वेन व्यज्य तस्मिन्पाल्यत्वमेव पर्यवसायितम्।।७।।*

● *अनुवाद*–श्रीकृष्ण के प्रभाव की अनभिव्यक्ति का उदाहरण श्रीमद्भागवत (१०।८।४५) में इस प्रकार है। श्रीशुकदेव मुनि ने कहा, हे परीक्षित् ! समस्तवेद जिसको यज्ञ पुरुष कहकर, समस्त उपनिषत् जिसको ब्रह्म कहकर, सांख्यशास्त्र जिसको पुरुष कहकर, योगशास्त्र जिसको परमात्मा कहकर तथा पंचरात्रादि

सात्वत शास्त्र जिसको भगवान् कहकर सर्वदा जिसकी महिमा कीर्तन करते हैं, यशोदा जी उस श्रीकृष्ण को अपना पुत्र मानती हैं।।६।।

और भी कहा गया है–(यशोदा जी ने अपनी किसी सखी से कहा) सखि! व्रजपति तथा मैं नित्य ही श्रीविष्णु की उपासना किया करते हैं, उसके फलस्वरूप अर्थात् श्रीविष्णु के प्रभाव से ही पूतनादि का नाश हुआ हम मानते हैं। बालक कृष्ण की क्या सामर्थ्य जो पूतनादि को विनष्ट करता ?) और श्रीविष्णु के प्रभाव से ही पवन ने यमलार्जुन वृक्षों को उखाड़ डाला। यह तो मैंने प्रत्यक्ष देखा है कि बलराम के साथ व्रजराज ने ही विष्णुशक्ति से गिरिराज गोवर्धन को धारण किया। ये सारे कार्य अत्यन्त दुरूह हैं, मेरे बालक कृष्ण के पक्ष में ये क्या कभी सम्भव हो सकते हैं ?।।७।।

अथ गुरवः–

५–अधिकंमन्यभावेन शिक्षाकारितयापि च।
लालक्वत्वादिनाय्यत्र विभावा गुरवो मताः।।८।।

४–भूर्यनुग्रहचितेन चेतसा लालनोत्कमभितः कृपाकुलम्।
गौरवेण गुरुणा जगद्गुरोर्गौरवं गणमगण्यमाश्रये।।६।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*अधिकमन्यभावेनेत्यादिषूपलक्षणे तृतीया।।८। स्वन्यून–पालनेच्छानुग्रहः परदुःखहानेच्छा कृपा।।६।।*

● *अनुवाद–आश्रयालम्बन–श्रीकृष्ण के गुरुवर्ग;* मैं श्रीकृष्ण से सब विषयों में बड़ा हूँ, अधिक हूँ, श्रीकृष्ण को सब भाँति से यथासम्भव शिक्षा देना मेरा कर्तव्य है, एवं मैं श्रीकृष्ण का लालक–पालक हूँ, इस प्रकार के भाव रखने के कारण श्रीकृष्ण के गुरुवर्ग को 'आश्रयालम्बन–विभाव' कहा जाता है।।८।।

जो (अपनी अपेक्षा न्यून जानकर) पालन की इच्छायुक्त होकर श्रीकृष्ण के पालन के लिए उत्सुक रहते हैं एवं जो श्रीकृष्ण के प्रति सर्वतोभाव से कृपा करने या उसके दुःख दूर करने के लिए उत्सुक रहते हैं, अतिशय गौरव सहित जगद्गुरु श्रीकृष्ण के उन समस्त गुरुगण की मैं शरण ग्रहण करता हूँ।।६।।

६–ते तु तस्यात्र कथिता व्रजराज्ञी व्रजेश्वरः
रोहिणी ताश्च बल्लव्यो याः पद्मजहृतात्मजाः।।१०।।
७–देवकी तत्सपत्न्यश्च कुन्ती चानकदुन्दभिः।
सान्दीपनिमुखाश्चान्ये यथापूर्वममी वराः।
व्रजेश्वरीव्रजाधीशौ श्रेष्ठौ गुरुजनेष्विमौ।।११।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*रोहिणीत्यनेनान्याः पितृव्यपत्न्यादयश्चोपलक्ष्यन्ते, देवकीसपत्न्यादिभ्योपि आनकदुन्दुभेर्न्यूनत्व ज्ञानांशाधिक्येन पुरुषत्वेन च स्नेहांशस्यावरणात्, व्रजेश्वर्याः श्रेष्ठत्वं स्नेहमात्रपात्रत्वात्, तदुक्त (भा० १० ।८ ।४७) "पितरौ नानुविन्दन्तामि" त्यादिनौ।।११।।*

● *अनुवाद–श्रीकृष्ण के गुरुवर्ग के नाम;* व्रजेश्वरी यशोदा, व्रजेन्द्र नन्दराज, रोहिणी, ब्रह्मा ने जिनके पुत्रों का हरण किया था वे समस्त गोपीगण, देवकी की सपत्नियां (वसुदेव जी की और सब रानियाँ), कुन्ती, वसुदेव, एवं सान्दीपनि आदि श्रीकृष्ण के प्रमुख गुरुवर्ग हैं। इनमें पूर्व–पूर्व कथित पर–परकथित से श्रेष्ठ हैं। समस्त गुरुवर्ग में व्रजेश्वरी यशोदा तथा व्रजराज सर्वश्रेष्ठ हैं।।१०–११।।

तत्र व्रजेश्वर्या रूपं, यथा श्रीदशमे (१०।६।३)–

५–क्षौमं वासः पृथुकटितटे बिभ्रती सूत्रनद्धं
पुत्रस्नेहस्नुतकुचयुगं जातकम्पं च सुभ्रूः।
रज्वाकर्षश्रमभुजचलत्कंकणौ कुण्डले च
स्विन्नं वक्त्रं कबरविगलन्मालती निर्ममन्थ।।१२।।

यथा वा–

६–डोरीजूटितवक्रकेशपटला सिन्दूरबिन्दूल्लस–
त्सीमन्तद्युतिरंगभूषणविधिं नातिप्रभूतं श्रिता।
गोविन्दास्यविसृष्टसाश्रुनयनद्वन्द्वा नवेन्दीवर
६–श्यामश्यामरुचिर्विचित्रसिचया गोष्ठेश्वरी पातु वः।।१३।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*क्षौमं परमसूक्ष्मातसीतन्तुसम्भवः अतसी स्यादुमा क्षमेत्यमरः।।१२।। नवेन्दीवरेति क्रमदीपिकायां यथासंख्यप्राप्तत्वाल्लभ्यते, तथा हि तत्रावरणपूजायां–ततो यजेद्दलाग्रेषु वसुदेवं च देवकीम्। नन्दगोपं यशोदां चेत्युक्त्वा प्राह–*

ज्ञानमुद्राभयकरौ पितरौ पीतपाण्डुरौ।
दिव्यमाल्याम्बरालेपभूषणौ मातरौ पुनः।।
धारयन्त्यौ च वरदं पायसापूर्णपात्रकम्।
अरुणश्यामले हारमणिकुण्डलमण्डिते।।इति।।

यत् खलु गौतमीयतन्त्रे–

तद्वहिर्वसुदेवं च यशोदां देवकीं पुनः।
वसुदेवो हेमगौरो वराभयकरस्थितिः।।
देवकी श्यामसुभगा सर्वाभरणशोभना।
यशोदा हेमसंकाशा शितवस्त्रयुगान्विता।।
सर्वाभरणसन्दीप्ता कुण्डलोद्भासितानना।
रोहिणीं च यजेतत्र नन्दं गौरं समर्चयेत्।।इति।।
वरदाभयसंयुक्तं समस्तपुरुषार्थदम्।।इति।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*तदेतत्तु विचार्यम्, इन्दीवरश्यामरुचिरिति– इन्दीवरमिव श्यामा, न केवलं तादृशी, अपितु श्यामा रुचिर्दीप्तिश्च यस्यास्तादृशी च; विशेषणयोः कर्मधारयः।।१३।।*

● *अनुवाद–श्रीव्रजेश्वरी का रूप;* श्रीमद्भागवत (१०।६।३) में श्रीशुकदेव मुनि ने कहा है, सुभ्रु यशोदा जी जब दधिमन्थन कर रही थीं, तब उनके

स्थूल कटितट में अति पतला अतसी–तन्तुओं से बुना हुआ पीला वस्त्र था, पुत्र के अति स्नेहवश उनके दोनों स्तनों से दूध टपक रहा था, मन्थन–डोरी को बार–बार खींचने के कारण उनके स्तनद्वय काँप रहे थे, दोनों भुजाएँ थकी हुई थीं, उनमें पड़े हुए कंकण बज रहे थे, कानों में कुण्डल हिल रहे थे। उनका बदन पसीने से तर था एवं वेणी से मालती की माला स्खलित हो गई थी।।१२।।

जिनके घुंघराले बाल डोरी से बन्ध रहे हैं, सिन्दूर–बिन्दु द्वारा जिनके मस्तक की कान्ति प्रदीप्त हो रही है, जिनके अंगों पर थोड़े–थोड़े भूषण सुशोभित हो रहे हैं, श्रीगोविन्द के दर्शन से जिनके नेत्र प्रेमाश्रुओं से भरे हुए हैं, जिनके शरीर का वर्ण नील कमलों से भी अधिक श्याम है, जिन्होंने परिधान में विचित्र वर्ण का लँहगा धारण कर रखा है, वे गोष्ठेश्वरी श्रीयशोदा जी हमारी रक्षा करें।।१३।।

(श्रीपाद जीवगोस्वामी ने क्रमदीपिका तथा गौतमीय तन्त्र से श्रीयशोदा जी के इन्दीवर–श्यामवर्ण के प्रमाणों का टीका में उल्लेख किया है)।

वात्सल्यं, यथा–

७–तनौ मन्त्रन्यासं प्रणयति हरेर्गद्गदमयी
सवाष्पाक्षा रक्षातिलकमलिके कल्पयति च।
स्नुवाना प्रत्यूषे दिशति च भुजे कार्मणमसौ
यशोदा मूर्तेव स्फुरति सुतवात्सल्यपटला।।१४।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*कार्मणं मूलकर्म रक्षौषधमिति यावत्।*

● *अनुवाद–व्रजेश्वरी यशोदा का वात्सल्य;* अश्रुजल से पूर्ण लोचना तथा क्षरिता–स्तना श्रीयशोदा संध्या समय गद्गद वचन उच्चारण करती हुई–श्रीकृष्ण के अंगों में मन्त्र–न्यास करती हैं, उनके मस्तक पर रक्षा–तिलक रचना करती हैं, तथा उनकी भुजाओं में रक्षा–औपधि बाँधती हैं। श्रीयशोदा मानो पुत्रवात्सल्यराशि की मूर्ति रूप में प्रकाशित हो रही हैं।।१४।।

व्रजाधीशस्य रूपं, यथा–

८–तिलतण्डुलितैः कचैः स्फुरन्तं नवभाण्डीरपलाशचारुचेलम्।
अतितुन्दिलमिन्दुकान्तिभाजं व्रजराजं वरकूर्चमर्चयामि।।१५।

वात्सल्यं यथा–

६–अवलम्ब्य करांगुलिं निजां स्खलदङ्घ्रि प्रसरन्तमंगने।
उरसि स्रवदश्रुनिर्झरो मुमुदे प्रेक्ष्य सुतं व्रजाधिपः।।१६।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*तिलमिश्रित–तण्डुलवदाचरद्भिः, श्याममिश्रश्वेतैरित्यर्थः, अतितुन्दिलमिति प्रशंसा–विषयतया स्थूलमित्यर्थः। "अतिशब्दः प्रशंसायामिति' विश्वः। कूर्चो विकत्थने मध्ये भ्रुवोः श्मश्रुणि कैतव" इति विश्वः।।१५।।*

● *अनुवाद–व्रजराज श्रीनन्द का रूप;* जिनके सिर के केश तिल–मिले चावलों के समान हैं अर्थात् कुछ काले कुछ सफेद मिले–जुले बाल हैं, जो परिधान में बरगद–पत्र के समान नवीन लाल वस्त्र धारण करते हैं, जिनका

उदर प्रशंसा युक्त स्थूल है, जिनकी कान्ति पूर्णचन्द्र के समान है, तथा जिनकी दाढ़ी–मूछ अति मनोहर हैं, उन व्रजराज श्रीनन्द की मैं अर्चना करता हूँ।।१५।।

श्रीव्रजराज का वात्सल्य; अपने हाथ की अँगुली पकड़वाये हुए अपने पुत्र श्रीकृष्ण को लड़खड़ाते पैरों से आँगन में चलता हुआ देखकर व्रजराज श्रीनन्द अपने वक्षः स्थल को प्रेमाश्रुओं से तर करते हुए आनन्द से विह्वल हो उठे।।१६।।

अथोद्दीपनाः–

८–कौमारादिवयोरूपवेषाः शैशवचापलम्।
जल्पितस्मितलीलाद्या बुधैरुद्दीपनाः स्मृताः।।१७।।

तत्र कौमारं–

६–आद्यं मध्यं तथा शेषं कौमारं त्रिविधं मतम्।।१८।।

● *अनुवाद*–वत्सलभक्तिरस में उद्दीपन; श्रीकृष्ण की कौमार आदि (कौमार, पौगण्ड तथा किशोर) वयस, रूप, वेश, शैशव–चापल्य, मधुर–वचन, मन्द मुसकान तथा क्रीड़ाओं को पण्डितगण वत्सलभक्तिरस के उद्दीपन कहते हैं।।१७।।

कौमार–वयस तीन प्रकार की है–आद्य, मध्य तथा शेष।।१८।।

तत्राद्यं–

१०–स्थूलमध्योरुतापांगश्वेतिमा स्वल्पदन्तता।
प्रव्यक्तमार्दवाद्यं च कौमारे प्रथमे सति।।१६।।

यथा, १०–त्रिचतुरदशनस्फुरन्मुखेन्दुः पृथुतरमध्यकुटीरकोरुसीमा।
नवकुवलयकोमलः कुमारो मुदमधिकां व्रजनाथयोर्व्यतानीत्।।२०।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*स्थूलं मध्यमूरु च यस्य तस्य भावस्तत्ता।।१६।। त्रयो वा चत्वारो वा त्रिचतुरा इति सन्दिग्धतायामेवायं बहुब्रीहिः, सन्दिग्धत्वं चातिसूक्ष्मत्वव्यञ्जनार्थमिति, चत्वार एव दशना वस्तुतो बोध्यन्ते। सीमशब्देनात्रास्पदं वाच्यं, तेषामाश्रय इत्यर्थः।।२०।।*

● *अनुवाद–आद्य–कौमार;* आद्य कौमार में मध्य भाग तथा ऊरु स्थूल होते हैं, अपांग–नयनों के अन्त भाग सफेद रंग के होते हैं, थोड़े–थोड़े दान्त निकल आते हैं और कोमलता विशेष रूप से व्यक्त होती है।।१६।।

श्रीकृष्ण की आद्य कौमार का इस प्रकार भी वर्णन किया गया है–तीन–चार दाँतों से जिनका मुखचन्द्र शोभित हो रहा है, जिनका कटिदेश तथा ऊरु स्थल स्थूल है एवं जो नवीन कोंपलों से भी अधिक कोमल हैं, वे कुमार श्रीकृष्ण व्रजराज तथा व्रजेश्वरी के अत्यधिक आनन्द का विस्तार करने लगे।।२०।।

११–अस्मिन्मुहुः पदक्षेपः क्षणिके रुदितस्मिते।
स्वांगुष्ठपानमुत्तानशयनाद्यं च चेष्टितम्।।२१।।

यथा,११—मुखपुटकृतपादाम्भोरुहांगुष्ठमूर्ध्व
प्रचलचरणयुग्मं पुत्रमुत्तानसुप्तम्।
क्षणमिह विरुदन्तं स्मेरवक्त्रं क्षणं सा
तिलमपि विरतासीन्नेक्षितुं गोष्ठराज्ञी।।२२।।

● *अनुवाद—(आद्य कौमार की चेष्टा)*—इस प्रथम कौमार में बारम्बार पादनिक्षेप, क्षण काल में रोना, क्षण में मन्द मुसकान, अपने पैरों के अंगूठे को चूसना तथा चित्त होकर शयन करना आदि चेष्टाएँ हुआ करती हैं।।२१।।

उदाहरण; श्रीकृष्ण चित्त सोकर अपने चरण के अंगूठे को मुख में दे रहे हैं, दोनों चरणों को ऊपर फैंकते हैं। क्षण काल रोते हैं और फिर क्षण काल में मन्द मुसकाने लगते हैं। गोष्ठेश्वरी यशोदा जी अपने ऐसे पुत्र के दर्शन करते हुये क्षणभर समय के लिए भी दूर नहीं होतीं।।२२।।

१२—अत्र व्याघ्रनखः कण्ठे रक्षातिलकमञ्जनम्।
पट्टडोरी कटौ हस्ते सूत्रमित्यादि मण्डनम्।।२३।।

यथा, १२—तरक्षुनखमण्डनं नवतमालपत्रद्युतिं
शिशुं रुचिररोचनाकृततमालपत्रश्रियम्।
धृतप्रतिसरं कटस्फुरितपट्टसूत्रस्रजं
व्रजेशगृहिणी सुतं न किल वीक्ष्य तृप्तिं ययौ।।२४।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*तरक्षो र्व्याघ्रप्रायतया तच्छब्देनात्र व्याघ्र एव वाचनीयः द्वितीयं तमालपत्रं तिलकम्।।२४।।*

● *अनुवाद*—(आद्य कौमार का मण्डन)—कण्ठ में सिंह का नख, रक्षातिलक, काजल, कटि में पट्ट डोरी एवं हाथ में सूत्रादि आद्य—कौमार के भूषण हैं।।२३।।

जिनके वक्षःस्थल पर व्याघ्रनख भूषणरूप में विराजित है, जिनकी कान्ति नवतमाल—पत्र की भाँति है, जिनके अंगों पर तमाल पत्र के आकार मनोहर—गोरोचन के तिलक शोभित हो रहे हैं, जो हाथों में पोहुँची धारण कर रहे हैं और कटि में रेशमी धागा पड़ा हुआ है, उन बालकृष्ण पुत्र को देखकर श्रीयशोदा जी किसी तरह तृप्त नहीं हो पातीं; दर्शन—पिपासा उनकी दूर ही नहीं होती।।२४।।

अथ मध्यम्—

१३—दृक्तटीभागलकतानग्नता च्छिद्रकर्णता।
कलोक्तिरिंगणाद्यं च कौमारे सति मध्यमे।।२५।।

यथा, १३—विचलदलकरुद्धभ्रूतटीचञ्चलाक्षं
कलवचनमुदञ्चन्नूतनश्रोत्ररन्ध्रम्।
अलघुरचितरिगं गोकुले दिग्दुकूलं
तनयममृतसिन्धौ प्रेक्ष्य माता न्यमाङ्क्षीत्।।२६।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*आनग्नता ईषन्नग्नता सा चासम्यगाच्छाद्यता कादाचित्कनग्नता चेति द्विविधा। छिद्रीति नित्ययोगेऽपि तत्राभिव्यक्तत्वादुक्तं रिंगणमेववाद्यं किञ्चिच्चरणाभ्यां चरितमित्यर्थः।।२५।। विचलद्भिरलकै रुद्धे*

ये भ्रूतट्य तत्तलभागौ तत्र चञ्चले अक्षिणी यस्य तम्, उदञ्चती नूतनयोः श्रोत्रयो रन्ध्रे यस्य तं। रिंगणाद्यमिति यदुक्तं–तत्रत्यं रिंगणं चरणविहारं च तन्त्रेणोदाहरति– अलघुरचितरिंगमिति। तत्र प्रथमे अनल्परचितरिंगमित्यर्थः। अनेन प्रथमकौमारान्तेऽपि स्वल्पं रिंगणं बोध्यते। अथ द्वितीयेन लघ्वपि रचितो रिंगो येन तं किंचिच्चरणचर्यया विहरन्तमित्यर्थः। दिग्दुकूलमिति पूर्ववदीषन्नग्नता कादाचित्कनग्नता चेति ज्ञेयम्। 'तनयमनुभवन्तु सा सुधाब्धौ विजहे' इति वा पाठः।।२६।।

● *अनुवाद–(मध्यम्–कौमार)* नेत्रों पर अलकावली का गिरना, कुछ–कुछ नंगा रहना, कर्ण छेदन, अस्पष्ट मधुर वचन, घुटुरुवन चलनादि मध्यम्–कौमार में प्रकाशित होते हैं।।२५।।

चंचल अलकावली द्वारा जिनकी भौहें तथा चंचल नेत्र ढक रहे हैं, जो अव्यक्त एवं मधुर वचन बोल रहे हैं, जिनके कान अभी छेदे गए हैं, जो तीव्र गति से घुटुरवन चलते हैं, गोकुल में ऐसे नंग–धड़ंगे पुत्र श्रीकृष्ण को देखकर देखकर यशोदा जी अमृत सागर में निमग्न हो रही हैं।।२६।।

१४–घ्राणस्य शिखरे मुक्ता नवनीतं कराम्बुजे।
किंकिण्यादि च कट्यादौ प्रसाधनमिहोदितम्।।२७।।

यथा, १४–क्वणितकनककिंकिणीकलापं स्मितमुखमुज्ज्वलनासिकाऽग्रमुक्तम्।
करधृतनवनीतपिण्डमग्रे तनयमवेक्ष्य नन्द नन्दपत्नी।।२८।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*नवनीतं कादाचित्कमेव तच्च शोभाकरत्वात्प्रसाधन–निर्विशेषः।।२७।।*

● *अनुवाद–मध्य कौमार के भूषण;* नासिका के अग्रभाग में मुक्ता, करकमल में माखन एवं कटि आदि में किंकिणी आदि मध्यम् कौमार के भूषण कहे गए हैं।।२७।।

जिसकी कटि में छोटी–छोटी घण्टिकायुक्त सोने की किंकिणी बज रही है, जिसके मुख पर मन्द मुसकान है, जिसकी नासिका के अग्रभाग में उज्ज्वल मुक्ता लटक रहा है, और जिसने हाथ में माखन ले रखा है, ऐसे अपने बालक–कृष्ण को अपने सामने देखकर यशोदा अतिशय आनन्दित हो रही हैं।।२८।।

अथ शेषम्–

१५–अत्र किंचितकृशं मध्यमीषत्प्रथित–भागुरः।
शिरश्च काकपक्षाढ्यं कौमारे चरमे सति।।२९।।

यथा, १५–स मनागपचीयमानमध्यः प्रथिमोपक्रमशिक्षणार्थिवक्षाः।
दधदाकुलकाकपक्षलक्ष्मीं जननीं स्तम्भयति स्म दिव्यडिम्भः।।३०।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*अपचीयमानेति कर्मकर्तरि प्रयोगः, स्वयं क्षीणोभवन्मध्य इत्यर्थः, काकपक्षोऽत्र सव्यापसव्य–मध्यस्थवेणीत्रयस्य पृष्ठे युतिः।।२९।।*

● *अनुवाद–शेष कौमार;* शेष कौमार में मध्य देश किंचित् क्षीण होता है, वक्षःस्थल कुछ स्थूल होता है एवं मस्तक पर काकपक्ष विशेष अर्थात् तीन भागों में बाँटकर बालों से गुंथी वेणी होती है जो पीठ तक शोभित होती है।।२९।।

जिसका मध्य देश अपने–आप ही थोड़ा क्षीण हो गया है, जिसका वक्षःस्थल किंचित् प्रशस्त (चौड़ा) हो गया है, और जो मस्तक पर अति चंचल काकपक्षों की शोभा धारण कर रहा है, वह दिव्य बालक कृष्ण माता यशोदा को स्तम्भित कर रहा है।।३०।।

१६–धटी फणपटी चात्र किंचिद्वन्यविभूषणम्।
लघुवेत्रकरत्वादि मण्डनं परिकीर्तितम्।।३१।।
१७–वत्सरक्षा व्रजाभ्यर्णे वयस्यैः सह खेलनम्।
पावशृंगदलादीनां वादनाद्यत्र चेष्टितम्।।३२।।

यथा, १६–शिखण्डकृतशेखरः फणपटीं कटीरे दधत
करे च लगुडीं लघुं सवयसां कुलैरावृतः।
अवन्निह शकृत्करीन् परिसरे व्रजस्य प्रिये !
सुतस्तव कृतार्थयत्यहह पश्य नेत्राणि नः।।३३।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*घटी स्वल्पविस्तारबह्वायामपटविशेषः; यः खलु विचित्रपरिवृत्तिबाहुल्येनाधरांगे विच्छितिं लभते, फणपटीपुरतः फणाकारः कच्छीकरणाय पश्चादल्पभधटीसंनिभः स्यूतपटः।।३१।। पावः सूक्ष्मवेणुः।।३२।। शिखण्डेति सुतस्य गृहागमने विलम्बमानतां वीक्ष्य चन्द्रशालिकाशिखरमारूढस्य श्रीव्रजेशस्य स्वभार्यामिति भयातिव्यग्रां प्रति वचनम्। शकृत्करीन् वत्सान्।।३३।।*

● *अनुवाद–शेष कौमार के भूषण;* धोती, कछनी तथा कुछ वन्य–आभूषण तथा हाथ में छोटा सा बेंत आदि शेष कौमार के भूषण हैं।।३१।।

शेष कौमार की चेष्टाएँ; व्रज के पास वत्सचारण, सखाओं के साथ खेलना, पाव अर्थात् बारह अंगुल लम्बी पतली सी वेणु तथा शृंग पत्रादि के वाद्य बजाना–ये चेष्टाएँ होती हैं।।३२।।

उदाहरण–(श्रीकृष्ण वत्सचारण कर अभी तक नहीं आए, विलम्ब देखकर श्रीनन्दराज चन्द्रशालिका पर चढ़कर व्याकुलचित्ता यशोदा को कहते हैं(–प्रिये ! अहह ! देख, मस्तक पर मोरपुच्छ चूड़ा, कटि में धोती, हाथ में छोटी सी लकुटिया धारण किए सखाओं से परिवेष्टित होकर बछड़ों की रक्षा करते–करते तुम्हारा पुत्र व्रज के निकट आ गया है और हमारे नेत्रों को सफल कर रहा है–

अथ पौगण्डम्–

१८–पौगण्डादि पुरैवोक्तं तेन संक्षिप्य लिख्यते।।३४।।

यथा, १७–पथि पथि सुरभीणामंशुकोत्तंसिमूर्द्धा
धवलिमयुगपांगो मण्डितः कंचुकेन।
लघु लघु परिगुंजन्मंजुमंजीरयुग्मं–
व्रजभुवि मम वत्सः कच्छदेशादुपैति।।३५।।

● *अनुवाद*–पौगण्ड–पौगण्ड आदि के विषय में पहले (३।३।६१–७७) कहा जा चुका है, अतः संक्षेप से उल्लेख करते हैं।।३४।।

उदाहरण; (यशोदा जी कहती हैं) देख, श्वेत नेत्रप्रान्तयुक्त बालक–कृष्ण माथे पर पगड़ी शिरोभूषण धारण किए, गले में कुर्ता एवं पैरों में मन्द–मन्द

झंकार करते करते मनोहर नूपुर धारण किए हुए गौओं के पास से व्रजभूमि के रास्ते में आ रहा है।।३५।।

अथ कैशोरम्–

१८–अरुणिमयुगपांगस्तुंगवक्षः कपाटी विलुठदमलहारो रम्यरोमावलिश्रीः।
पुरुषमणिरयं मे देवकि ! श्यामलांगस्त्वदुदरखनिजन्मा नेत्रमुच्चैर्धिनोति।।३६।।

१६–नव्येन यौवनेनापि दीव्यन् गोपेन्द्रनन्दनः।
भाति केवलवात्सल्यभाजां पौगण्डभागिव।।३७।।
२०–सुकुमारेण पौगण्डवयसा संगतोऽप्यसौ।
किशोराभः सदा दासविशेषणां प्रभासते।।३८।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*दासविशेषाणानिति तत्प्रौढतारूपस्फूर्त्तिमयलोक–पालादीनामित्यर्थः।।३८।।*

● *अनुवाद–कैशोर*–(कैशोर का विस्तृत विवरण दक्षिण विभाग प्रथम लहरी (२।१।३१२–३५५), (३।३।७८–८०) में वर्णन का आए हैं) यहाँ केवल एक उदाहरण उद्धृत करते हैं; हे देवकी ! (यशोदे !) जिसके नेत्र प्रान्तद्वय लालवर्ण के हैं, वक्षःस्थल अति उच्च है, कण्ठ में उज्ज्वल हार आनन्दोलित है, रोमावली का मनोहर सौन्दर्य है, श्यामलांग है, आपके उदर रूप खान से उत्पन्न यह पुरुषमणि कृष्ण मेरे नेत्रों को अतिशय आनन्द प्रदान कर रहा है।।३६।।

गोपेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण नवयौवन से सुशोभित होने पर भी केवल वात्सल्य–भावयुक्त व्यक्तियों को पौगण्ड–वयसयुक्त होकर ही प्रतिभात होते हैं।।३७।।

यही श्रीकृष्ण सुकुमार तथा पौगण्ड वयसयुक्त होते हुए भी दासों को (प्रौढ़तारूप–स्फूर्त्तिमय लोकपालों को) किशोर–वयस युक्त ही प्रतिभात होते हैं।।३८।।

अथ शैशवचापलम्–

१६–पारीर्भिनत्ति विकिरत्यजिरे दधीनि
सन्तानिकां हरति कृन्तति मन्थदण्डम्
वह्नौ क्षिपत्यविरतं नवनीतमित्थं
मातुः प्रमोदभरमेव हरिस्तनोति।।३६।।

यथा वा, २०–प्रेक्ष्य प्रेक्ष्य दिशः सशंकमसकृन्मन्दं पदं निक्षिप–
न्नायात्येष लताऽन्तरे स्फुटमितो गव्यं हरिष्यन् हरिः।
तिष्ठ स्वैरमजानतीव मुखरे ! चौर्यंभ्रमद्भ्रूलतं
त्रस्यल्लोचनमस्य शुष्यदधरं रम्यं दिदृक्षे मुखम्।।४०।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*पारी पानपात्रमिति क्षीरस्वामी, तच्च दुग्धादेर्ज्ञेयं, मृण्मयाच्छादनभाण्डमिति माथुराः, सन्तानिका दुग्धोपरिजाततत्सारभागमयजालिका, अविरतमित्यत्र "त्यपि मुहुरिति" पाठान्तरं दृश्यम्।।३६।। स्वैरं मन्दमचंचलं तिष्ठ "मन्दस्वच्छन्दयोः स्वैरमिति" नानार्थात्, चौर्याय भ्रमन्त्यावेवमेवमपहरिष्यामीति भावनया नानागतिं दधत्यौ भ्रूलते यस्य तम्।।४०।।*

● *अनुवाद–शैशव; चापल्य–*श्रीकृष्ण दूध के पात्र भंग करते हैं, कभी प्रांगण में दही फैलाते हैं, माखन चुराते हैं, मन्थन–दण्ड तोड़ देते हैं और निरन्तर अग्नि में माखन डालते रहते हैं–इस प्रकार की चपलता से श्रीकृष्ण माता के आनन्द का विस्तार करते हैं।।३६।।

श्रीकृष्ण चारों दिशाओं में देखते हुए, बार–बार धीरे–धीरे चरण धरते हुए लताओं की ओट में शंकित होकर इसी ओर आ रहे हैं, इससे स्पष्ट जाना जाता है कि माखनादि चुराने के लिए वे यहाँ आ रहे हैं। मुखरे ! तुम मानो कुछ भी नहीं जानती हो ऐसे भाव से स्थिर होकर बैठ जाओ। उनकी चोरी के भय से कांपती हुई भौओं, भयभीत नेत्रों तथा सूखे हुए अधरों युक्त रमणीय मुख को देखने की मेरी इच्छा हो रही है।।४०।।

अथ अनुभावाः–

२१–अनुभावाः शिरोघ्राणं करेणांगाभिमार्जनम्।
आशीर्वादो निदेशश्च लालनं प्रतिपालनम्।
हितोपदेशदानाद्या वत्सले परिकीर्तिताः।।४१।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*लालनं स्नपनादि, प्रतिपालनं रक्षणम्।।४१।।*

● *अनुवाद–वत्सल भक्तिरस में अनुभाव;* मस्तक सूंघना, हाथों से अंगमार्जन, आशीर्वाद, आदेश देना स्नपनादि रूप लालन, रक्षणादि रूप प्रतिपालन एवं हितोपदेश–देना आदि वत्सल–भक्तिरस के अनुभाव हैं।।४१।।

तत्र शिरोघ्राणं–यथा श्रीदशमे (१०।१३।३३)–

२१–तदीक्षणोत्प्रेमरसाप्लुताशया जातानुरागा गतमन्यवोऽर्भकान्।
उदुह्य दोर्भिः परिरभ्य मूर्धनि घ्राणैरवापुः परमां मुदं ते।।४२।।

यथा वा, २२–दुग्धेन दिग्धा कुचविच्युतेन समग्रमाघ्राय शिरः सपिच्छम्।
करेण गोष्ठेशितुरंगनेय–मंगानि पुत्रस्य मुहुर्ममार्ज।।४३।।

● *अनुवाद–मस्तक सूँघने का उदाहरण;* श्रीमद्भागवत (१०।१३।३३) में कहा गया है–गोपगण अपने–अपने पुत्रों को देखकर प्रेमरस में निमग्नचित्त हो गये। उनका पहला रोष दूर हो गया। उन्होंने पुत्रों को गोद में उठा लिया, दोनों भुजाओं में लेकर आलिंगन करते हुए उनके मस्तकों को सूंघा और परम प्रीति लाभ की।।४२।।

और भी कहा है; व्रजेश्वरी यशोदा के स्तनों से दूध क्षरित होने से उसके अंग भीग रहे थे और पुत्र श्रीकृष्ण के मस्तक का आघ्राण करते हुए उसके अंग प्रत्यंग का बार–बार वह मार्जन करने लगी।।४३।।

२२–चुम्बाश्लेषौ तथाह्वानं नामग्रहणपूर्वकम्।
उपालभ्यादयश्चात्र मित्रैः साधारणाः क्रियाः।।४४।।

● *अनुवाद–वत्सल भक्तिरस में साधारण क्रिया;* चुम्बन, आलिंगन, नाम लेकर पुकारना एवं उलाहना देना आदि मित्रों के साथ साधारण क्रियाएँ होती हैं।।४४।।

अथ सात्त्विकाः–

२३–नवात्र सात्त्विकाः स्तन्यस्रावः स्तम्भादयश्च ते।।४५।।

तत्र स्तन्यस्रावो, यथा श्रीदशमे (१०।१३।२२)–

२३–तन्मातरो वेणुरवत्वरोत्थिता उत्थाप्य दोर्भिः परिरभ्य निर्भरम्।
स्नेहस्नुतस्तन्यपयः सुधासवं मत्वा परं ब्रह्म सुतानपाययन्।।४६।।

● *अनुवाद–सात्त्विक–भाव;* वत्सल–भक्तिरस में नौ सात्त्विक भाव होते हैं। स्तम्भादि आठ सात्त्विक भाव पहले कहे जा चुके हैं। नवम सात्त्विक भाव है स्तन्यक्षरण–स्तनों से दूध बहना, जो श्रीयशोदादि के पक्ष में सम्भव होता है।।४५।।

स्तन–स्राव का उदाहरण; श्रीमद्भागवत (१०।१३।२२) में कहा गया है; ब्रह्मा जी द्वारा गोपबालक तथा बछड़ों के चुराये जाने पर जब श्रीकृष्ण ही उन सबका रूप धारण कर विहार कर रहे थे; तब उनकी वेणुध्वनि को सुनकर अति शीघ्र भागकर गोपबालकों की माताओं ने अपनी भुजाओं द्वारा अपने–अपने पुत्रों को उठाकर दृढ़ता से आलिंगन किया। परब्रह्म को ही अपना पुत्र माना। पुत्रस्नेह–वश उनके स्तनों से अपने आप जो दूध क्षरित हुआ, उस स्तनदुग्धरूप अमृतासव का उन्हें (परब्रह्म को) वे पान कराने लगीं।।४६।।

यथा वा ललितमाधवे–

२४–निचुलितगिरिधातुस्फीतपत्रावलीका–
नखिलसुरभिरेणून् क्षालयद्भिर्यशोदा।
कुचकलसविमुक्तैः स्नेहमाध्वीकमध्यै–
स्तव नवमभिषेकं दुग्धपूरैः करोति।।४७।।

स्तम्भादयो, यथा–

२५–कथमपि परिरब्धुं न क्षमा स्तब्धगात्री
कलयितुमपि नालं वाष्पपूरप्लुताक्षी।
न च सुतमुपदेष्टुं रुद्धकण्ठी समर्था
दधतमचलमासीद् व्याकुला गोकुलेशा।।४८।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*निचुलितत्वम् आच्छादितत्वं, स्नेह एव माध्वीकं येषु ते च, मेध्याश्च परमपवित्रास्त इति विशेषणयोः समासः, तवापि परमावाद्यैरिति भावः, नवं प्रथममित्यभिषेकान्तरं जलैर्भविष्यदपयनेनापि दुग्धाभिषेकेन पिष्टपेषीकरिष्यत इति भावः।।४७।। गोकुलेशेत्यत्र गोपराज्ञीति पाठान्तरम्।।४८।।*

● *अनुवाद*–विदग्धमाधव नाटक में श्रीकृष्ण के प्रति पौर्णमासी देवी ने कहा, हे कृष्ण ! गौओं की पदधूलि द्वारा तुम्हारे अंगों की स्पष्ट दीखने वाली गैरिक–धातु रचित समस्त पत्रावली आच्छादित हो गई थी, यशोदा जी ने अपने कुचरूप कलसों में भरे स्नेह–मधु के समान पवित्र स्तन्य–धाराओं द्वारा उस धूलि को प्रक्षालित कर दिया है। वह तुम्हारा नवीन अभिषेक कर रही हैं।।४७।।

जब श्रीकृष्ण गोवर्द्धन धारण कर रहे थे, श्रीयशोदा व्याकुल होकर स्तब्धांगी हो उठीं और किसी प्रकार भी श्रीकृष्ण को आलिंगन न कर सकीं।

उनके नेत्रों में अश्रु भर आए, जिससे वह श्रीकृष्ण को देख भी न सकीं, और तो क्या अश्रुजल से उनका कण्ठ अवरुद्ध हो जाने से श्रीकृष्ण को कुछ समझाने में भी वह समर्थ न हो सकीं।।४८।।

अथ व्यभिचारिणः–

२४–अत्रापस्मारसहिताः प्रीतोक्ताः व्यभिचारिणः।।४९।।

तत्र हर्षो, यथा श्रीदशमे (१०।१७।१९)–

२६–यशोदापि महाभागा नष्टलब्धप्रजा सती।
परिष्वज्यांकमारोप्य मुमोचाश्रुकलां मुहुः।।५०।।

यथा वा विदग्धमाधवे–

२७–जितचन्द्रपरागचन्द्रिकानलदेन्दीवरचन्दनश्रियम्।
परितो मयि शैतमाधुरीं वहति स्पर्शमहोत्वस्तव।।५१।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*चन्द्रपरागादीनां श्रीः सम्प्रतिः, साप्यत्र शैत्यमाधुर्येव तत्प्रतियोगित्वेन निर्दिष्टत्वात्, चन्द्रपरागः कर्पूरचूर्णः, नलदम् उशीरम्।।५१।।*

● *अनुवाद*–व्यभिचारी भाव–प्रीतभक्तिरस में जो समस्त व्यभिचारि–भाव प्रकटित होते हैं, वे इस वत्सल भक्तिरस में भी समस्त प्रकाशित होते हैं एवं उनके अतिरिक्त अपस्मार भी प्रकटित होता है।।४९।।

उदाहरण-हर्ष का उदाहरण; श्रीमद्भागवत (१०।१७।१९) में (कालियदह से निकल आने के बाद) महाभाग्यवती श्रीयशोदा जी, जिसने अपने पुत्र को विनष्ट हुआ जान लिया था, पुनः अपने पुत्र को प्राप्त कर उसको गोद में बैठाकर बार–बार आलिंगन करने लगीं और हर्ष से उनके नेत्रों से अश्रु प्रवाहित होने लगे।।५०।।

श्रीविदग्धमाधव नाटक में कहा गया है, हे कृष्ण ! आपका स्पर्श–महोत्सव, कर्पूर, पराग, चन्द्र ज्योत्स्ना, खस, नीलकमल तथा चन्दन की शीतलता सम्पत्ति को पराजित कर मुझे सर्वदा ही शीतल–माधुरी को प्राप्त कराता है।।५१।।

अथ स्थायी–

२५–सम्भ्रमादिच्युता या स्यादनुकम्प्येऽनुकम्पितुः।
रतिः सैवात्र वात्सल्यं स्थायी भावो निगद्यते।।५२।।
२६–यशोदादेस्तु वात्सल्यरतिः प्रौढ़ा निसर्गतः।
प्रेमवत्स्नेहवद्भाति कदाचित् किल रागवत्।।५३।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*यशोदादेरित्युपलक्षणम् अन्येषामपि प्रौढरतीनां, प्रौढा रागपराकाष्ठात्मिका, प्रेमादिवदिति यथान्येषां प्रेमादयस्तथा भाति प्रतीयते, अन्तस्तु सदा प्रौढैवेत्यर्थः।।५३।।*

● *अनुवाद–स्थायिभाव;* अनुकम्पा के योग्य व्यक्ति के प्रति अनुकम्पाकारी की जो सम्भ्रमहीन रति है, उसे "वात्सल्य–रति" कहते हैं, उस वात्सल्य रति को ही वत्सलभक्तिरस में स्थायिभाव माना गया है।।५२।।

श्रीयशोदादि की जो वात्सल्य रति है वह स्वरूपतः प्रौढ़ा है अर्थात् राग

की पराकाष्ठा को प्राप्त है, तथापि कभी प्रेमवत् कभी स्नेहवत् और कभी रागवत् प्रकाशित होती है; अर्थात् दूसरों के प्रेम–स्नेहादि की तरह प्रकाशित होती है।।५३।।

तत्र वात्सल्यरतिर्यथा श्रीदशमे (१०।६।४३)–

२८–नन्दः स्वपुत्रमादाय प्रोष्यागत उदारधीः।
मूर्ध्न्युपाघ्राय परमां मुदं लेभे कुरुद्वह !।।५४।।

यथा वा, २९–विन्यस्तश्रुतिपालिरद्य मुरलीनिस्वानशुश्रूषया
भूयः प्रस्नववर्षिणी द्विगुणितोत्कण्ठा प्रदोषोदये।
गेहादंगनमंगनात् पुनरसौ गेहं विशन्त्याकुला
गोविन्दस्य मुहुर्व्रजेन्द्रगृहिणी पन्थानमालोकते।।५५।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*'पालिः कर्णलताग्रे स्यादिति'' विश्वः, तद्विन्यासेन तु समग्रकर्णविन्यास एव लक्ष्यते।।५५।।*

● *अनुवाद–वात्सल्य*–रति; श्रीमद्भागवत (१०।६।४३) में श्रीशुकदेव मुनि ने कहा है, हे परीक्षित् ! मथुरा से आकर उदारबुद्धि श्रीनन्दराज ने अपने पुत्र को उठाया और उसके मस्तक को सूंघकर परमानन्द की प्राप्ति की।।५४।।

और भी कहा गया है, (वन से लौटने के समय) मुरली ध्वनि को सुनने की इच्छा से व्रजराज–गृहिणी यशोदा जी ने आज कानों के अग्रभाग को विन्यस्त कर दिया; किन्तु जब प्रदोष काल आया तो उनकी उत्कण्ठा दुगुणी हो उठी। उनके स्तनों से बार–बार दुग्धधारा क्षरित होने लगी और वह बार–बार घर के आंगन से बाहर तथा बाहर से भीतर प्रवेश करने लगीं। बार–बार श्रीगोविन्द की बाट जोहने लगीं।।५५।।

प्रेमवद् यथा–

३०–प्रेक्ष्य तत्र मुनिराजमण्डलैः स्तूयमानमपि मुक्तसम्भ्रमा।
कृष्णमंकमभि गोकुलेश्वरी प्रस्नुता कुरुभुवि न्यवीविशत्।।५६।।

यथा वा, ३१–देवक्या विवृतप्रसूचरितयाऽप्युन्मृज्यमानानने।
भूयोभिर्वसुदेवनन्दनतयाऽप्युद्घुष्यमाणे जनैः।
गोविन्दे मिहिरग्रहोत्सुकतया क्षेत्रं कुरोरागते।
प्रेमा वल्लवनाथयोरतितरामुल्लासमेवाययौ।।५७।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*प्रेक्षा परम्परया बुद्धेत्यर्थः, अन्तर्वास एव तस्य मिलनौचित्यं स्यात् प्रेक्षा बुद्धिरुच्यते, कुरुभुवि न्यवीविशदित्येव पाठः।।५६।।*

उन्मृज्यमानानन इति बल्लवनाथयोर्मिलनसुखेन तदाननस्याश्रुलिप्ततां व्यंजयति। मिहिरग्रहं निमित्तीकृत्य योत्सुकता बल्लवनाथावप्यत्रागमिष्यत इति तयोर्दर्शनोत्कण्ठा तयेत्यर्थः। प्रेम्णस्तूल्लासे हेतुः, स्वाभाविकभावप्रेरितायास्तत्तद्विरोधिन्या युक्तेः स्फुरणमेव ज्ञेयं, कंसवधात्पूर्वमश्रुतभेदवार्त्तानां श्रीव्रजेन्द्रादीनां तद्वधादुत्तरम्। (भा० १०।१।३४) ''अस्यास्त्वामष्टमो गर्भो हन्ता यामित्याकाशवाणी प्रामाण्यमात्रेण श्रीकृष्णे सान्वयतां वदत्सु स्वपुत्रपरिवृत्तिवार्त्तया व्यक्तया तु पुनस्तदुपादानमन्यायं स्यादिति तां गोपयद्भिः ... रीत्या गुप्ततया

नारदेन कंसं प्रति कृतं भेदमपि गोपयत्सु यादवेषु; सा युक्तिरीदृशी, "अस्यास्त्वामष्टम" इत्यादिक खलु (भा० १० ।४ ।१२) 'किं मया हतया मन्द जातः खलु तवान्तकृत्। यत्र क्वचित् पूर्वशत्रुरिति देवीवाण्या व्यभिचारितं कंसेनापि तथा सूचितं–(भा० १० ।४ ।१७) "दैवमप्यनृतं वक्ति न मर्त्या एव केवलमिति" यदि च किमप्यत्र संदर्भान्तरं स्यात् तदा सर्वत्रावंचकशीलेन निरुपाधिबन्धुभावभावितेन वसुदेवेन (भा० १० ।५ ।२३)–

दिष्ट्या भ्रातः प्रवयस इदानीमप्रजस्य ते।
प्रजाशाया निवृत्तस्य प्रजा यत् सम्पद्यत।।

इत्यादिकं न प्रोच्यते; तस्माद्यथा–(भा० १० ।८ ।१४) "प्रागयं वसुदेवस्य क्वचिज्जातस्तवात्मज" इति गर्गेणात्र प्रोक्तं, तथा तत्रापि नूनं प्रोक्तमिति, सम्प्रति स्वकार्यसाधनार्थमेव प्राचीनमर्वाचीनं वेत्य विविच्य स्वान्वयत्वमात्रं ते प्रचारयामासुः। भवतु नाम तत्तदपि यतः स्वपुत्रे योग्या जना यदि पुत्रवदाचरन्ति तदा पित्रोः सुखमेव स्यात् किमुत प्रेम्णा याभ्यामभिन्नौ वसुदेवदेवक्यौ; तदेतदनुसन्धाय स्वयं श्रीकृष्णेनाप्येतदुक्तं; (भा० १० ।४५ ।२३) "यात यूयं व्रजं तात! वयं च स्नेहदुःखितान् ज्ञातीन् वो द्रष्टुमेष्यामो विधाय सुहृदां सुखम्" इति। तस्मात्सुहृत्सु वसुदेवादिष्वस्माभिर्यावत्तत्सुखविधानं कार्यं भवद्भिस्तावद् गाम्भीर्यं कार्यमिति सूचितम्। श्रीमदुद्धवं प्रति च रहस्तथैव निजहार्दमुक्तं–(भा० १० ।४६ ।३) "गच्छोद्धव! व्रजं सोम्य" इत्यादौ 'पित्रोर्नः प्रीतिमावहेति। यत्तु कुरुक्षेत्रयात्रायां श्रीदेवक्या श्रीयशोदां प्रति (भा० १० ।८२ ।३८) "एतावदृष्टपितरावित्युक्तं तत्राप्यनया तत्क्षणमिलितचिरवियुक्तपुत्रतया नावधानं कृतमिति गम्यते; यत एवानन्तरं च किंचिदप्युक्तमिति।।५७।।

● ***अनुवाद–प्रेमवत् अवस्था;*** **(कुरुक्षेत्र में मिलन के समय) प्रधान–प्रधान मुनिगण श्रीकृष्ण की स्तुति कर रहे थे; लोक परम्परा को जानकर भी गोकुलेश्वरी यशोदा जी सम्भ्रमशून्या होकर श्रीकृष्ण को अपनी गोद में बिठाने के लिए उत्कण्ठित होकर अश्रुधारा वर्षण करते हुए कुरुक्षेत्र में प्रविष्ट हुईं।।५६।।**

"सूर्य ग्रहण के उपलक्ष्य में पिता–माता श्रीनन्द–यशोदा कुरुक्षेत्र आयेंगे"–यह जानकर उनके दर्शन के लिए उत्कण्ठित होकर श्रीकृष्ण कुरुक्षेत्र में आए। श्रीकृष्ण–दर्शन के लिए उत्कण्ठित होकर श्रीनन्द–यशोदा भी वहाँ उपस्थित हुए। यद्यपि वहाँ के लोगों ने बीच–बीच में श्रीकृष्ण को देवकी–पुत्र कहा और किसी ने वसुदेवनन्दन कहकर पुकारा, तथापि व्रजेश्वर–व्रजेश्वरी के साथ मिलन के परम आनन्द में श्रीगोविन्द का मुखकमल अश्रुधारा से भीग रहा था और व्रजेन्द्र–व्रजेश्वरी का ही मैं पुत्र हूँ, इस प्रकार का प्रेम श्रीकृष्ण में अधिक रूप से उछल रहा था।।५७।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–उपर्युक्त श्लोकों में प्रेम के लक्षणों वत् श्रीनन्द–यशोदा की वात्सल्यरति दिखलाई गयी है। ईश्वर–ज्ञान से मुनिगण श्रीकृष्ण की स्तुति कर रहे थे, तथा उन्हें देवकी–वसुदेवनन्दन कहा जा रहा था, यह सब जानकर भी यशोदा जी की वात्सल्यरति संकुचित या ध्वंस नहीं हुई। ध्वंसरहित रहना यही प्रेमवत् लक्षण है। ऐसे अनेक प्रमाण–वचनों को श्रीपाद जीवगोस्वामी ने टीका में उद्धृत किया है, जिनमें श्रीकृष्ण को वसुदेव–देवकी

पुत्र कहा गया है, और इस बात को अनेक बार श्रीनन्द–यशोदा ने भी सुना, परन्तु उनकी वात्सल्यरति कभी भी विचलित या नष्ट नहीं हुई।।

स्नेहवद, यथा–

> ३२–पीयूषद्युतिभिः स्तनाद्रिपतितैः क्षीरोत्करैर्जान्हवी
> कालिन्दी च विलोचनाब्जजनितैर्जाताञ्जनश्यामलैः।
> आरान्मध्यमवेदिमापतितयोः क्लिन्ना तयोः संगमे
> वृत्ताऽसि व्रजराज्ञि ! तत्सुतमुखप्रेक्षां स्फुटं वाञ्छसि।।५८।।

रागवद्, यथा–

> ३३–तुषारति तुषानलोऽप्युपरि तस्य बद्धस्थिति–
> र्भवन्तमवलोकते यदि मुकुन्द ! गोष्ठेश्वरी।
> सुधाम्बुधिरपि स्फुटं विकटकालकूटत्यलं–
> स्थिता यदि न तत्र ते वदनपद्ममुद्वीक्ष्यते।।५६।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*पीयूषेति सूर्योपरागयात्राव्याजेन स्वपुत्रदर्शनोत्कण्ठया व्रजन्त्यां व्रजेश्वर्यां कस्याश्चित्परिचितचरतापस्या वचनं। क्षीरं दुग्धं जलं च, मध्यमो मध्यभागः स एव वेदिस्तां पक्षे मध्यमवेदिं प्रयागम्।।५८।। हे मुकुन्द ! गोष्ठेश्वरी यदि भवन्तमवलोकते तदा तुषानलोऽपि तुषारति तुषारवदाचरति, कीदृशी सत्यवलोकते तत्राह–तस्य तुषानलस्योपरि बद्धस्थितिरित्यन्वयः, एवमुत्तरत्रापि।।५६।।*

● *अनुवाद–स्नेहवत्; अवस्था,* (सूर्य ग्रहण के अवसर पर कुरुक्षेत्र में श्रीयशोदा जी से एक परिचिता तपस्विनी ने कहा)–हे व्रजेश्वरि। तुम्हारे स्तनरूप पर्वत से पतित दुग्धरूप जल से गंगा का उद्‌भव हो रहा है और तुम्हारे नेत्रकमलों से श्यामल काजलमिश्रित अश्रुधारा से यमुना की उत्पत्ति हो रही है। वे दोनों धाराएँ तुम्हारे कटिदेश रूप प्रयाग में गिरकर मिल रही हैं। अतः यह स्पष्ट है कि तुम अपने पुत्र का मुख देखने के लिए ही यहाँ आई हो।। (यहाँ स्नेह का लक्षण प्रकाशित हो रहा है)।।५८।।

रागवत्–अवस्था; हे मुकुन्द ! गोष्ठेश्वरी यदि तुषानल (भूसी की आग) पर बैठकर भी तुम्हारे दर्शन करे, तो वह तुषानल उसे तुषार (ओस) की भाँति शीतल लगता है। और सुधा–सागर में अवस्थान कर यदि वह आपके मुखकमल को नहीं देख पाती है तो वह सुधा–सागर भी कालकूट से भरे सरोवर की भाँति उसे सन्ताप–प्रद हो जाता है।।५६।।

अथयोग उत्कण्ठितम्–

> ३४–वत्सस्य हन्त शरदिन्दुविनिन्दिवक्त्रं
> सम्पादयिष्यति कदा नयनोत्सवं नः।
> इत्यच्युते विहरति व्रजवाटिकाया–
> मुर्वी त्वरा जयति देवकनन्दिनीनाम्।।६०।।

यथा वा, ३५–भ्रातस्तनयं भ्रातुर्मम सन्दिश गान्धिनीपुत्र !
भ्रातृव्येषु वसन्ती दिदृक्षते त्वां हरे ! कुन्ती।।६१।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*भ्रातृव्येषु शत्रुषु।।६१।।*

● *अनुवाद–अयोग में वात्सल्यरस;* (प्रीतभक्तिरस एवं प्रेयोभक्तिरस की भाँति वात्सल्यभक्तिरस भी अयोग में उत्कण्ठित तथा वियोगादि वैचित्री को प्राप्त करता है)

उदाहरण–श्रीकृष्ण जब व्रज में विहार कर रहे थे, "हाय ! शरत्चन्द्र को विनिन्दित करने वाले अपने बालक का मुख कब हमारे नेत्रानन्द का विधान करेगा; इस प्रकार देवकी आदि की महान् उत्कण्ठा सर्वोत्कर्ष शालिनी हो।।६०।।

और भी कहा है, हे भाई अक्रूर ! मेरे भतीजे कृष्ण को मेरा यह सन्देश कहना कि, हे हरे ! शत्रुओं के बीच पड़ी कुन्ती तुम्हें देखना चाहती है।।६१।।

अथ वियोगो, यथा श्रीदशमे (१० ।४६ ।२८)–

३६–यशोदा वर्ण्यमानानि सुतस्य चरितानि च।
शृण्वन्त्यश्रूण्यवास्त्राक्षीत् स्नेहस्नुतपयोधरा।।६२।।

यथा वा, ३७–याते राजपुरं हरौ मुखतटी–व्याकीर्णधूम्रालका
पश्य स्रस्ततनुः कठोरलुठनैर्देहे व्रणं कुर्वती।
क्षीणा गोष्ठमहीमहेन्द्रमहिषी हा पुत्र पुत्रेत्यसौ
क्रोशन्ती करयोर्युगेन कुरुते कष्टादुरस्ताडनम्।।६३।।

● *अनुवाद*–वियोग में विचित्री का उदाहरण; श्रीमद्भागवत (१० ।४६ ।२८) में कहा गया है कि श्रीउद्धव के द्वारा अपने पुत्र श्रीकृष्ण के चरित्र सुनते–सुनते यशोदा के नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी और पुत्रस्नेह वश उसके स्तनों से दुग्धधारा क्षरित होने लगी।।६२।।

श्रीकृष्ण का कंसराजपुर (मथुरा) चले जाना देखकर; क्षीण–काया गोकुलराज–महिषि यशोदा धूम्रवर्ण अलकों द्वारा मुख ढके हुए, एवं विवश दशा वश कठिन भूमि पर लोटते–लोटते घायल हो रही हैं ! हा पुत्र ! हा पुत्र ! कहकर चिल्लाते–चिल्लाते दोनों हाथों से अपनी छाती को पीट रही हैं।।६३।।

२७–बहुनामपि सद्भावे वियोगेऽत्र तु केचन।
चिन्ता–विषाद–निर्वेद–जाड्य–दैन्यानि चापलम्।
उन्मादमोहावित्याद्या अत्युद्रेकं व्रजन्त्यमी।।६४।।

तत्र चिन्ता–

३८–मन्दस्पन्दमभूत् क्लमैरलघुभिः सन्दानितं मानसं
द्वन्द्वं लोचनयोश्चिरादविचलब्याभुग्नतारं स्थिरम्।
निश्वासैः स्रवदेव पाकमयते स्तन्यं च तप्तैरिद
नूनं वल्लवराज्ञि ! पुत्रविरहोद्घूर्णाभिराक्रम्यसे।।६५।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*मन्दस्पन्दमिति श्रीकृष्णस्य वनगमने कस्याश्चिद्वचनं, सन्दानितं बद्धं, निश्वासैः स्रवदेवेत्यादिपाठ* एव पुत्रविरहसूचकः।।६५।।

● *अनुवाद*–वियोग–में व्यभिचारी भाव–वियोग में अनेक व्यभिचारि भावों का उदय होते हुए भी कोई–कोई कहते हैं कि चिन्ता, विषाद, निर्वेद,

जड़ता, दैन्य, चापल, उन्माद एवं मोहादि का उद्रेक ही अधिक रूप में हुआ करता है।।६४।।

चिंता–(श्रीकृष्ण के वनगमन करने पर किसी व्यक्ति ने कहा)–हे यशोदे! तुम्हारा हिलना–डुलना शिथिल पड़ गया है, अतिशय क्लेश में तुम्हारा मन जकड़ा हुआ है, तुम्हारे नेत्रों की पुतलियाँ फटी सी और स्थिर हो रही हैं। गरम–गरम श्वासों के कारण तुम्हारा स्तन–दुग्ध क्षरित होकर औटे जा रहा है। इसलिए हे यशोदे! यह स्पष्ट है कि तुम निश्चय ही पुत्र की विरह–जनित व्याकुलता से आक्रान्त हो रही हो।।६५।।

विषादः–

३९–वदनकमलं पुत्रस्याहं निमीलति शैशवे
नवतरुणिमारम्भोन्मृष्टं न रम्यमलोकयम्।
अभिनववधूयुक्तं चामुं न हर्म्यमवेशय
शिरसि कुलिशं हन्त क्षिप्तं स्वफल्कसुतेन मे।।६६।।

निर्वेदः–

४०–धिगस्तु हतजीवितं निरवधिश्रियोऽप्यद्य म
मया न हि हरेः शिरः स्नुतकुचाग्रमाघ्रायते।
सदा नवसुधादुहामपि गवां परार्धं च धिक्
स लुंचति न चंचलः सुरभिगन्धि यासां दधि।।६७।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*वदनेति श्रीकृष्णस्य द्वारकायां गार्हस्थ्यनिष्ठां श्रुत्वा श्रीव्रजेश्वरीवचनम्।।६६।। धिगस्त्विति विरहचिन्तया चित्तानवस्थानवत्त्वाद्वात्सल्य–स्फूर्तिमयं वचनम्, अतएव स लुंचतीत्युक्तं, सदा नवसुधादुहामित्येव पाठो धिक्कारपोषकः।।६७।।*

● *अनुवाद–विषाद;* (द्वारका में श्रीकृष्ण के गार्हस्थ्य की बात सुनकर श्रीयशोदा जी ने कहा)–हाय! शैशव की समाप्ति पर तरुणाई के आरम्भ से चमकता हुआ कृष्ण का मनोहर सुख मैं न देख सकी। नव वधूओं के साथ उसको मैं महलों में प्रवेश न करा सकी। हाय! हाय!! अक्रूर मेरे मस्तक पर वज्र मार गया।।६६।।

निर्वेद–(माता यशोदा ने कहा), महान्–सम्पत्ति शालिनी मेरे हतभागे जीवन को आज धिक्कार है, क्योंकि अपने स्तनों से क्षरित दूध से मण्डित कृष्ण के मस्तक को मैं सूँघ न सकी। इन समस्त परार्द्ध संख्यक (अनन्त) गौओं से सर्वदा नव–नव सुधा तुल्य जो दूध दोहन किया जा रहा है, उसे भी धिक्कार है, क्योंकि मेरा वह चंचल बालक–कृष्ण तो आज उस दूध के दधि माखन को चुरा नहीं रहा है।।६७।।

जाड्यम्–

४१–यः पुण्डरीकेक्षण तिष्ठतस्ते गोष्ठे कराम्भोरुहमण्डनोऽभूत्।
तं प्रेक्ष्य दण्डस्तिमितेन्द्रियाद्य दण्डाकृतिस्ते जननी बभूव।।६८।।

दैन्यम्—

४२—याचते बत विधातरुदस्रा त्वां रदैस्तृणमुदस्य यशोदा।
गोचरे सकृदपि क्षणमद्य मत्सरं त्यज ममानय वत्सम्।।६६।।

● *अनुवाद—जड़ता;* हे कमलनयन ! जब आप गोकुल में रहते थे, तब जो दण्ड आपके करकमल का भूषण स्वरूप था, देखकर आपकी माता दण्ड के समान निश्चल शरीर हो रही है।।६८।।

दैन्य; हे विधाता ! अश्रु प्रवाहित करते—करते दान्तों में तृण दबाये हुए यशोदा तुमसे यह भीख मांगती है कि गोकुल के प्रति थोड़ी देर के लिये तुम द्वेष को त्याग कर एक बार फिर मेरे शिशु कृष्ण को यहां ला दो।।६६।।

चापलम्—

४३—किमिव कुरुते हर्म्ये तिष्ठन्नयं निरपत्रपो
व्रजपतिरिति ब्रूते मुग्धोऽयमत्र मुदा जनः।
अहह तनयं प्राणेभ्योऽपि प्रियं परिहृत्य तं
कठिनहृदयो गोष्ठे स्वैरी प्रविश्य सुखीयति।।७०।।

उन्मादः—

४४—क्व मे पुत्रो नीपाः कथयत कुरंगा किमिह वः
स बभ्रामाम्यर्णे भणत तदुदन्तं मधुकराः !।
इति भ्रामं भ्रामं भ्रमभरविदूना यदुपते !
भवन्तं पृच्छन्ती दिशि दिशि यशोदा विचरति।।७१।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*किमिवेत्यतिदुःखमयं श्रीव्रजेश्वरीवाक्यं। मुदेति हास्यपूर्वकमित्यर्थः। अत्र जगति, मुग्धो जनो देशान्तरस्थविपक्षरूपः, तदिदमपि दुःखेन वितर्कमयमेव। तस्य विपक्षस्य तादृशवचनं युक्तमेवेत्याह—अहहेति।।७०।। क्व मे पुत्र इत्यकस्मान्मथुरातस्तत्पलायनं श्रुत्वा तस्या वचनम्, उदन्तं वार्ताम्।।७१।।*

● *अनुवाद—चापल;* (श्रीनन्दराज को लक्ष्य करते हुए दुःख—पूर्वक श्रीयशोदा ने कहा), यह निर्ल्लज्ज अटालिका में बैठा—बैठा क्या कर रहा है ? इस व्रज में बालकबुद्धि (मूर्ख) लोग ही आनन्द सहित इसे व्रजपति कहा करते हैं। हाय ! प्राणों से प्रिय पुत्र को मथुरा में छोड़कर अपनी इच्छानुसार ही गोकुल में लौट आकर यह कठिन हृदय व्यक्ति सुख अनुभव कर रहा है ?।।७०।।

उन्माद—(मथुरा से अकस्मात् श्रीकृष्ण के चले जाने पर श्रीयशोदा की जो उन्माद अवस्था हुई, उसको कोई एक व्यक्ति व्रज से आकर श्रीकृष्ण को सुनाते हुए बोला)—"अरे कदम्ब वृक्षो ! कहो मेरा पुत्र कहाँ है ? हे हरिणो ! बोलो तो, कृष्ण तुम्हारे सामने कहीं गया है क्या ? अरे मधुकरो ! तुम ही कृष्ण का कुछ संवाद सुना दो—"इस प्रकार की भ्रान्ति में कातर होकर यशोदा जी भ्रमण करते—करते, हे यदुपते ! तुम्हें ढूँढ़ती—ढूँढ़ती दिशा—विदिशा में विचरण कर रही हैं।।७१।।

मोहः–

४५–कुटुम्बिनि मनस्तटे विधुरतां विधत्से कथं
प्रसादय दृशं मनाक् तव सुतः पुरो वर्तते।
इदं गृहिणि मे गृहं न करु शून्यमित्याकुलः
स शोचति तव प्रसूं यदुकुलेन्द्र नन्दः पिता।।७२।।

अथ योगे सिद्धिः–

४६–विलोक्य रंगस्थललब्धसंगमं विलोचनाभीष्टविलोकनं हरिम्।
स्तन्यैरसिंचन्नवकंचुकांचलं देव्यः क्षणादानकदुन्दुभिप्रियाः।।७३।।

● *अनुवाद–मोह;* हे यदुकुलेन्द्र ! आपके पिता श्रीनन्द ने अत्यन्त व्याकुल होकर आपकी माता के सामने शोक प्रकाश करते हुए कहा–हे कुटुम्बिनि ! मनमें तुम क्यों कातर हो रही हो ? एक बार तू अपने नेत्र खोलकर देख, तुम्हारा पुत्र तुम्हारे सामने ही खड़ा है। हे गृहिणि ! मेरे इस घर को सूना मत कर देना।।७२।।

योग में सिद्धि; (दास्यरस तथा सख्य भक्तिरस की भाँति वात्सल्य भक्ति रस भी योग में वैचित्री धारण करता है एवं उसमें सिद्धि, तुष्टि तथा स्थिति, ये तीनों अवस्थाएँ प्रकटित होती हैं। इन तीनों के लक्षण पहले (३।२।१३०–१३६) कहे जा चुके हैं। यहाँ केवल उदाहरणों का उल्लेख करते हैं)–श्रीकृष्ण के दर्शन के लिए जिनके लोचन चिरकाल से उत्कण्ठित थे, रंग स्थल में श्रीकृष्ण को देखकर उन वसुदेव–पत्नियों ने अपनी नव कंचुकियों को उसी क्षण स्तन–दुग्ध से सिंचित कर दिया।।७३।।

तुष्टिर्यथा प्रथमे (१।११।२६)

४७–ताः पुत्रमंकमारोप्य स्नेहस्नुतपयोधराः।
हर्षविह्वलितात्मानः सिषिचुर्नेत्रजैर्जलैः।।७४।।

यथा वा ललितमाधवे–

४८–नवनयोः स्तनयोरपि युग्मतः परिपतद्भिरसौ पयसां झरैः।
अहह वल्लभराजगृहेश्वरी स्वतनयं प्रणयादभिषिंचति।।७५।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*वल्लवराजविलासिनीत्यत्र वल्लवराजगृहेश्वरीति पाठान्तरम्।।७५।।*

● *अनुवाद–तुष्टि का उदाहरण;* श्रीमद्भादवत (१।११।२६) श्रीकृष्ण ने जब मातृवृन्द को प्रणाम किया तब उन्होंने श्रीकृष्ण को गोदी में उठा लिया। स्नेहवश उनके स्तनों से दूध की धारा क्षरित होने लगी तथा हर्ष से विह्वल होकर उन्होंने अपने अश्रुओं से श्रीकृष्ण को परिसिंचित कर दिया।।७४।।

श्रीललितमाधव नाटक में कहा गया है; अहह ! श्रीनन्दराज गृहेश्वरी यशोदा प्रीति वश नेत्रों के अश्रुजल से तथा स्तनों की दुग्ध धारा से अपने बालकृष्ण को अभिषिक्त करने लगीं।।७५।।

स्थितिर्यथा विदग्धमाधवे–

४६–अहह कमलगन्धेरत्र सौन्दर्यवृन्दे
विनिहितनयनेयं त्वन्मुखेन्दोर्मुकुन्द !
कुचकलसमुखाभ्यामम्बरक्नोपमम्बा
तव मुहुरतिहर्षाद्वर्षति क्षीरधाराम्।।७६।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*अम्बरक्नोपमम्बरमार्द्रयित्वेत्यर्थः; अनया स्थित्या नित्यस्थितिरपि प्रत्यागमनान्तरं प्रेयोरसान्त–सूचित–सिद्धान्तवदुन्नेया (३।३।१२८) किंचित्तु विशद्यते–तत्र सत्यसंकल्पतया वेदादिगीतस्य तस्य (भा० १०।४५।२३) 'ज्ञातीन् वो द्रष्टुमेष्यामो विधाय सुहृदां सुखमिति'', प्रत्यागमनसंकल्पः श्रीदशमे स्पष्ट एव, तत्र द्रष्टुमिति दर्शनस्य पुरुषार्थत्वेन निर्देशो नित्यावस्थायित्वं बोधयति यद्वा द्रष्टुमिति दर्शनविषयीभवितुमित्यर्थः। (भा० १०।१४।६) तथापि 'भूमन् ! महिमागुणस्य ते विबोद्धुमर्हत्यमलान्तरात्मभिरित्यत्र विबोद्धुं बोधविषयीभवितुमितिवत्, तदेतदेव विवृतं श्रीमदुद्धवेन (भा० १०।४६।३४–३५)*

*''हत्वा कस रंगमध्ये प्रतीपं सर्वसात्वताम्।
यदाह वः समागत्य कृष्णः सत्यं करोति तत्।।
आगमिष्यत्यदीर्घेण कालेन व्रजमच्युतः।
प्रियं विधास्यते पित्रोर्भगवान् सात्वतां पतिरिति''।।*

अत्र पित्रोः प्रियविधानं खलु सदा तत्संयोग एवेति। तदेतदागमनसमयश्च दन्तवक्रवधानन्तरमेव। तथा च सूचितं स्वयमेव–(भा० १०।८२।४२)–

*''अपि स्मरथ नः सख्यः स्वानामर्थचिकीर्षया।
गतांश्चिरायिताञ्छत्रुपक्षक्षपणचेतस'' इति।।*

तदिदं शत्रुवधान्ते दन्तवक्रेऽपि शान्ते निजागमनं भावीति कुरुक्षेत्रयात्रायां श्रीभगवद्वचनम्, यात्रा चेयं दन्तवक्रवधात्पूर्वमेव। अत्र वनपर्वरीत्या साल्ववध–सहितस्यास्य दन्तवक्रवधस्य समकालमेव हि पाण्डवानां वनग्रमनं, तेषामागमनानन्तरमेव च भीष्मादिवधमयत भार–युद्धं। सा यात्रा च भीष्माद्यागमन–मयीति। यथा श्रीबलदेवतीर्थयात्रा कुरुक्षेत्रयात्रातः पूर्वं पठिता, तत्तीर्थयात्रा च दुर्योधनवधदिने पूर्णेति। दन्तवक्रवधानन्तरं प्रत्यागमनं च तस्य पाद्मोत्तरखण्डे स्फुटं दृश्यते–''कृष्णोऽपि तं हत्वा यमुनामुत्तीर्य नन्दव्रजं गत्वा सोत्कण्ठौ पितरावभिवाद्याश्वास्य ताभ्यां साश्रुकण्ठमालिंगितः सकलगोपवृद्धान् प्रणम्याश्वास्य बहुवस्त्राभरणादिभिस्तत्रस्थान् सर्वान् सन्तर्पयामासेति गद्येन। अतः श्रीभागवते च भारतयुद्धानन्तरं श्रीकृष्णस्य द्वारकाप्रवेशे प्रथमस्कन्धस्थद्वारकाप्रजावचनम्–(भा० १।११।६)–

*''यर्ह्यम्बुजाक्षापससार भो भवान्।
कुरून्मधून् वाथ सुहृद्दिदृक्षया।।
तत्राब्दकोटिप्रतिमः क्षणो भवेद्
रविं विनाक्ष्णोरिव नस्तवाच्युतेति''।*

तत्र मधून् मथुरां वेति स्वामिटीका च, सुहृदश्च तदा तत्र श्रीव्रजस्था एव।

(भा० १०।५०।५७)—"तत्र योगप्रभावेण नीत्वा सर्वजनं हरिरिति"; सर्वशब्दात्। (भा० १०।६५।१)—

"बलभद्रः कुरुश्रेष्ठ भगवान् रथमास्थितः।
सुहृद्दिदृक्षुरुत्कण्ठः प्रययौ नन्दगोकुलमिति"।।

तत्रैव सुहृच्छब्द प्रयोगात्। तदेवमभीष्टाय श्रीकृष्णस्य व्रजप्रत्यागमनाय श्रीभागवत—पाद्मयोः संवादे दर्शिते तदानुषंगिकं तु दन्तवक्रवधस्थानं कल्पभेदरीत्या वैष्णवतोषणीरीत्त्या वा विवादं परिहृत्य संगमनीयम्। तदेवमपि पुनः श्रीकृष्णस्य द्वारकागमनं च द्वारकोचितनिजप्रादुर्भावान्तरेणैव, यथोक्तं पाद्मोत्तरखण्डे तदनन्तरमेव—"अथ तत्रस्था नन्दादयः पुत्रदारसहिताः पशुपक्षिमृगादयश्च वासुदेवप्रसादेन दिव्यरूपधरा विमानमारुढाः परमं वैकुण्ठमवापुरिति" "कृष्णस्तु नन्दगोपव्रजौकसां सर्वेषां निरामयं स्वपदं दत्वा दिवि देवगणैः संस्तूयमानो द्वारवतीं विवेशेति च", तत्र नन्दादयः पुत्रदारसहिता इति श्रीमन्नन्दस्य तद्वर्गमुख्यस्य पुत्रः श्रीकृष्ण एव, दाराच श्रीयशोदैवेति प्रसिद्धमपि पुत्रादिशब्दोक्त्या तत्तद्रूपेरेव तैः सह तत्र प्रवेश इति गम्यते, अतो व्रजं प्रति प्रत्यागमनरूपेण वासुदेवप्रसादेन दिव्यरूपधरा इत्युल्लासेन परमविराजमानरूपत्वमेव विवक्षितं, विमानेन तेषां परमवैकुण्ठप्रस्थापनं च प्रापंचिकजनस्य वंचनार्थमेव प्रपंचितम्। वस्तुतस्तु तददृश्ये वृन्दावनस्यैव प्रकाश—विशेषे प्रवेशनं; प्रवेश्य च तत्र स्थितानामप्रकटप्रकाशानामेषु प्रकटचर—प्रकाशेष्वन्तर्भावनंकृतं, यथा प्रकटलीलागत षोडशसहस्रमहिषीविवाहे श्रीनारद दृष्टयोगमायावैभवे सर्वान्तःपुरेभ्यः सुधर्मा—प्रवेशे च तादृशत्वमिति। पूर्वमपि श्रीवृन्दावन एवास्मिंस्तेषां तेन यथा तत्र प्रवेशनं तेन श्रीशुकेन दर्शितं। तथा हि श्रीदशमे १०—२८(१०—१७)—

"नन्दस्त्वतीन्द्रियं दृष्ट्वा लोकपालमहोदयम्।
कृष्णे च सन्नतिं तेषां ज्ञातिभ्यो विस्मितोऽब्रवीत्।।
ते त्वौत्सुक्यधियो राजन् मत्वा गोपास्तमीश्वरम्।
अपि नः स्वगतिं सूक्ष्मामुपाधास्यदधीश्वरः।।
इति स्वानां स भगवान् विज्ञायाखिलदृक् स्वयम्।
संकल्पसिद्धये तेषां कृपयैतदचिन्तयत्।।
जनो वै लोक एतस्मिन्नविद्याकामकर्मभिः।
उच्चाव चासु गतिषु न वेद स्वां गतिं भ्रमन्।।
इति संचित्य भगवान्महाकारुणिको हरिः।
दर्शयामास लोकं स्वं गोपानां तमसः परम्।।
सत्यं ज्ञानमनन्तं यद्ब्रह्मज्योतिः सनातनम्।
यद्धि पश्यन्ति मुनयो गुणापाये समाहिताः।।
ते तु ब्रह्महृदं नीता मग्नाः कृष्णेन चोद्घृताः।
ददृशुर्ब्रह्मणो लोकं यत्राक्रूरोऽध्यगात् पुरा।।
नन्दादयस्तु तं दृष्ट्वा परमानन्दनिर्वृताः।
कृष्णं च तत्र छन्दोभिः स्तूयमानं सुविस्मिताः।।इति।।

अत्र खलु [illegible] पुरा तेषामेव दृष्टिपथमकार्षीत्तदेव

पश्चाद् व्यतारीदिति गम्यते। ब्रह्महदम् अक्रूरतीर्थं, तन्महिमानं लक्ष्यं विधातुं कृष्णेन नीता मग्नाश्च पुनः कृष्णेनैवोद्धृताः; उद्धृत्य वृन्दावनप्रदेशमानीतास्तस्मिन्नेव नराकृतिपरब्रह्मणस्तस्य लोकं ददृशुरिति च लभ्यते, कोऽसौ ब्रह्महदस्तत्राह—यत्रेति, पुरेत्येतत्प्रसंगाद्भाविकाल इत्यर्थः, "पुरा पुराणे निकटे प्रबन्धातीतभाविष्विति विश्वप्रकाशात्, यद्यपि ब्रह्मलोकशब्देन भगवल्लोकमात्रं द्वितीये "ब्रह्मलोकः सनातन" इत्यनेन लब्धं, "सूक्ष्मामिति; "तमसः परमिति", सत्यंज्ञानमिति च तदेव सामान्यतो व्यक्तं च; तथाप्यपि नः स्वगतिं सूक्ष्मामिति", "न वेद स्वां गतिमिति च" "गोपानां स्वं लोकमिति" "कृष्णं" च तत्रेति" श्रीगोपाललोक एव विशेषाल्लभ्यते, तत्र छन्दोभिः स्तूयमानमिति तज्जन्मादिलीलावर्णिनीनां श्रुतिवरवर्णिनीनां साक्षिता तु तेषु गोपेषु तस्य कृष्णस्य प्रत्यभिज्ञापनार्थमेव, अत एवात्मान एव च तत्परिकरतया तैरनुभूता इति नान्ये वर्णिताः; तदेवमेव तदेकरुचीनां तेषां विस्मृतिः परमानन्दनिर्वृतिश्च घटते, तस्य स्वलोकतायामप्यवतारावसरे तेषामज्ञाने कारणं "जनो वा" इति सालोक्यसार्ष्टीत्यादिपद्यस्थजनशब्दवदत्रापि जनतस्तदीय स्वजन एवोच्यते तत्राप्यत्र परमस्वजनत्वं गम्यते। (१० ।२५ ।१८)—

तस्मान्मच्छरणं गोष्ठं मन्नाथं मत्परिग्रहम्।
गोपाये स्वात्मयोगेन सोऽयं मे व्रत आहितः।।

इति श्रीकृष्णस्य मनसि भावनादेव। ततश्च परमस्वजनोऽयं मम व्रजवासिलक्षणः प्रापंचिके लोके याः स्वाविद्यादिभिर्देवतिर्यगादिरूपा गतयस्तासु भ्रमंस्तस्मिन्निर्विशेषतयात्मानं मन्वानो दर्शयिष्यमानां स्वां गतिं न जानातीत्यर्थः; मदीयलोकवल्लीलावेशादेवेति भावः (भा० १० ।११ ।५८)—

"इति नन्दादयो गोपाः कृष्णरामकथां मुदा।
कुर्वन्तो रममाणाश्च नाविन्दन् भववेदना मित्यादेः"।।

(भा० १० ।१४ ।३५) "यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्त्वत्कृते" इत्यादेः, (भा० १० ।६५ ।६) "कृष्णे कमलपत्राक्षे संन्यस्ताखिलराधस" इत्यादेश्च। तदज्ञानादेव "नन्दस्त्वतीन्द्रिय' मित्यादिकं घटत इति, स एष एव श्रीवृन्दावनस्य प्रकाशविशेषः श्रीवाराहेऽप्युपलक्षितः—तद्यथा—

"तत्रापि महदाश्चर्यं पश्यन्ते पण्डिता नराः।
कालियहृदपूर्वेण कदम्बो महितो द्रुमः।।
शतशाखं विशालाक्षि ! पुण्यं सुरभिगन्धि च।
स च द्वादशमासातिमनोज्ञ—शुभशीतलः।।
पुष्पायति विशालाक्षि ! प्रभासन्ते दिशो दशेति"।
तथा—"तत्राश्चर्यं प्रवक्ष्यामि तच्छ्रणुत्वं वसुन्धरे !।
लभन्ते मनुजा सिद्धिं मम कर्णपरायणाः"।।
तस्य तत्रोत्तरे पार्श्वेऽशोकवृक्षः शितप्रभः।
वैशाखस्य तु मासस्य शुक्लपक्षस्य द्वादशीं।।
स पुष्पति च मध्याह्ने मम भक्तसुखावहः।
न कश्चिदपि जानाति विना भागवतं शुचिमिति"।।

अत्र तत्रापि महदाश्चर्यमित्यादिभिस्त्वया पृथिव्याऽपि न ज्ञायत इति बोध्यते, तस्य ब्रह्मकुण्डस्येत्यर्थः। तथाहि स्कान्दे–

"वृन्दावनं द्वादशमं वृन्दया परिरक्षितम्।
हरिणाधिष्ठितं तच्च ब्रह्मरुद्रादिसेवितमिति"।।

आदिवाराहे–"कृष्णक्रीडासेतुबन्धं महापातकनाशनम्।
वलभीं तत्र क्रीड़ार्थं कृत्वा देवो गदाधरः।।
गोपकैः सहितस्तत्र क्षणमेकं दिने दिने।
तत्रैव रमणार्थं हि नित्यं कालं स गच्छतीति" च।।

"वत्सैर्वत्सतरीभिश्चेत्यादि किन्तु" दर्शितमेव; तस्माद् "अक्के चेन्मधु विन्देत किदर्थं पर्वतं व्रजेदिति"–न्यायेन समीपे लब्धे दूरगमनप्रक्रिया संगोपनार्थमेव संभवति। तस्माद् वृन्दावनस्य प्रपंचागोचरप्रकाशविशेष एव तेषां प्रवेशः। तथा चोक्तं बृहद्गौतमीये स्वय भगवता–

"इदं वृन्दावनं रम्यं मम धामैव केवलम्।
तत्र ये पशवः पक्षि–मृगाः कीटा नरामराः।।
ये वसन्ति ममाधिष्ण्ये मृता यान्ति ममालयम्।
तत्र या गोपकन्याश्च निवसन्ति ममालये।।
योगिन्यस्ता मया नित्यं मम सेवापरायणाः।।
पंचयोजनमेवास्ति वनं मे देहरूपकम्।
कालिन्दीयं सुषुम्णाख्या परमामृतवाहिनी।।
अत्र देवाश्च भूतानि वर्तन्ते सूक्ष्मरूपतः।
सर्वदेवमयश्चाहं न त्यजामि वनं क्वचित्।।
आविर्भावस्तिरोभावो भवेन्मेऽत्र युगे युगे।
तेजोमयमिदं रम्यमदृश्यं चर्मचक्षुषेति"।।

श्रीगोपालोत्तरतापन्यां च श्रीमतीर्गोपीः प्रति दुर्वासयो वचनम्–जन्मजराभ्यां भिन्नः स्थाणुरयमच्छेद्योऽयं योऽसौ सौर्ये तिष्ठति योऽसौ गोपान् पालयति योऽसौ गोपेषु तिष्ठति योऽसौ सर्वेषु देवेषू तिष्ठति योऽसौ सर्वैर्वेदैर्गीयते योऽसौ सर्वेषु भूतेष्वाविश्य भूतानि विदधाति स वो हि स्वामीभवतीति", सौर्ये इति। सौरी यमुना, तददूरभवे देशे वृन्दावन इत्यर्थः, तस्मात्कंसादिकं दन्तवक्रान्तमसुरचक्रं संहृत्य व्रजमागत्य च वृन्दावन एव रहस्य–प्रकाशविशेषे सर्वव्रजवासिभिः सह श्रीमन्नन्दनन्दनेन नित्यावस्थितिः कृतेत्यवगतम्, अतएव वृन्दावन–लीलायां तस्य निहतकंसता च निर्दिष्टा पातालखण्डे–

अहो अभाग्यं लोकस्य न पीतं यमुनाजलम्।
गो–गोप–गोपिकासंगे यत्र क्रीडति कंसहा।।इति।।

बोधायन–कर्मविपाके च, गो–गोपावृतगोविन्दाराधने–"गोविन्दगोपीजन–वल्लभेश! कंसासुरघ्न! त्रिदशेन्द्रवन्द्येति" मन्त्रविशेषश्च, यदत्रैव वीररसे (४।३।१५) लीलायुद्धे वक्ष्यते। "प्रोत्साहयस्यतितरां किमिहाग्रहेण मां केशिसूदन! विदन्नपि भद्रसेनमिति", तच्चेत्यभिप्रायादेव केशिवधादधस्तात्तादृशलीला स्वाच्छन्द्यावान्तर–

कालासम्भवात्, किंचात्र ग्रन्थे लीलावर्णनास्त्रिविधाः–व्रजलीलामय्यो व्रजत्यागमय्यः पुरलीलामय्यश्चेति, श्रोतारश्च त्रिविधाः–व्रजजनानुगा पुरजनानुगास्तटस्थाश्च सर्वेषां सुखपोषार्थमेव च ता निर्दिष्टा तत्र तटस्थानां सर्वा एव सुखपोषिकाभवन्ति श्रीकृष्णमात्रतात्पर्यत्वात्, पुरजनानुगानां व्रजलीलाश्च सुखपोषिका भवन्ति "अस्मदीयः श्रीमदाकदुन्दुभिनन्दन स्तत्र व्रजे स्थित्वा विचित्र लीला विधाय पुरमागत्य तासामुपधारणया श्रीमदानकदुन्दुभ्यादीनां सुखपोषाय जात इति भावनया, तस्मादासातां तावदन्ये द्वे लीले, व्रजनानुगानां तु पुरसम्बन्धिन्यः सुखपोषिका न भवन्त्येव प्रत्युत दुःखपोषिकाः; पुनस्तस्य व्रजागमनानुट्टंकनात्, ततश्च व्रजलीलामय्यश्च दुःखदत्वेनैव पर्यवसिताः किमुत व्रजत्यागमय्यः, सर्वेषामेव च सुखं पोष्टुमिच्चद्भिर्ग्रन्थकृद्भिः सर्वा लीला वर्णिताः, विशेषतश्च–(२।५।१०८–१०)–

अलौकिकी त्वियं कृष्णरतिः सर्वाद्भुताद्भुता।
तत्रापि वल्लवाधीशनन्दनालम्बना रतिः।।
सान्द्रानन्दचमत्कार परमावधिरिष्यत।।

इति स्पष्टोक्तेर्व्रजजनानुगानामेव सर्वाधिकं सुखं पोष्टव्यम्, तस्मादुक्तरीत्या स्वयमेव संक्षेपभागवतामृते लिखितं श्रीकृष्णस्य पुनर्वजागमनपूर्वकं पुरगततत्तद्विजय श्रवणादपि दुष्टसखाः पुष्टसुखानां–व्रजजनानां मध्ये नित्यावस्थानमेव ग्रन्थकृतां हृद्गतं, तेन तत्तच्छ्रवणेन व्रजजनानुगा अपि पुष्टसुखाः स्युः, "परोक्षवादा ऋषयः परोक्षं च मम प्रियमितिवत्", प्रकटं तुं तन्न पठितमिति ज्ञेयम्, नित्यावस्थानं चात्र कैमुत्येन गत्यन्तरास्वीकारेण च श्रीमद्भागवते दर्शितं (भा० १०।१४।३५)–

एषां घोषनिवासिनामुत भवान् किं देवरातेति न–
श्चेतो विश्वफलात् फलं त्वदपरं कुत्राप्ययन् मुह्यति।
सद्वेषादिव पूतनापि सकुला त्वामेव देवापिता
यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्त्वत्कृते।। इति,

श्रीभा० (१०।६।४०) "तासामविरतं कृष्णे कुर्वतीनां सुतेक्षणम्।
न पुनः कल्पते राजन् संसारोऽज्ञानसम्भव।।

इति च। पूर्वत्र तस्य तेषु ऋणित्वप्राप्तेस्तत्प्राप्तेश्चानादिकल्पपरम्परा–प्राप्तत्वान्नित्यावस्थानमवगम्यते। सद्वेषादिव। सतां धात्रीजनानां वेषादित्यर्थः। उत्तरत्र च तत एवं व्याख्येयं–संसारः संसारित्वं, न पुनर्न तु कल्पते घटते, तत्र हेतुः–अविरतमाद्यन्तमध्यविच्छेदहीनं यथा स्यात्तथा कृष्णे सुतेक्षणं सुत इति प्रत्यक्षतां कुर्वतीनां तत्कृतितया सदा वर्त्तमानानामिति, अस्या नित्यावस्थितेः परिपाटीविशेष–स्तूत्तरगोपाल–चम्पूदृष्ट्या निष्टंक्यो, दिग्दर्शनंचेदं (३७।८३)–

मातुर्लालनमेत्य सम्मतिमितस्तातस्य च भ्रातृभिः
सार्द्ध धेनुगणाह्वनाय विपिनं गत्वा चरन् क्रीडितम्।
आगम्याथ गृहं समस्त सुहृदामीदृक् प्रतीतं भजत्येष
श्रीव्रजराजनन्दनवरः श्वासो न एषामिति।।

श्रीमथुराद्वारकयोर्नित्यावस्थितिश्च (भा० १०।१।२८)–मथुरा भगवान् यत्र नित्यं संनिहितो हरिरिति (भा० ११।३१।२४) नित्यं सन्निहितस्तत्र भगवान् मधुसूदन"–इति

दशमैकादशोर्द्रष्टव्या। विशेषजिज्ञासा चेत्वैष्णवतोषणी–कृष्णसन्दर्भ– गोपालचम्पूद्वय–लोचनरोचनीनामोज्ज्वलनीलमणिटीकाः (संयोग–वियोगस्थितिप्रकरणे) द्रष्टव्याः।।७६।।

● ***अनुवाद–स्थिति का उदाहरण;*** **(श्रीविदग्धमाधव नाटक में)–हे मुकुन्द ! आपके कमलसौरभयुक्त मुखचन्द्र की सौन्दर्य राशि में नयन विन्यस्त कर आपकी माता यशोदा अतिशय आनन्दपूर्वक कुच–कलस के ऊपरी वस्त्र को भिगोती हुई बार–बार दुग्धधारा वर्षण कर रही है।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–दन्तवक्र का वध करने के बाद जब श्रीकृष्ण व्रज में पधारे, श्रीयशोदा जी की उस समय की अवस्था इस श्लोक में वर्णन की गई है। वात्सल्य भक्तिरस की यह स्थिति नित्य विराजती है। श्रीकृष्ण अक्रूर जी के द्वारा ले जाए गए। मथुरा–लीला बाद आपकी द्वारका–लीला की अभिव्यक्ति है। दन्तवक्र को दतिया (मध्य–प्रदेश) में मारकर श्रीकृष्ण विश्राम घाट पर आए तथा पुनः अस्त्र न धारण करने की प्रतिज्ञा कर व्रजमण्डल में पधारे। श्रीमद्भागवत पुराण तथा अन्यान्य अनेक पुराण वचनों से श्रीकृष्ण का व्रज में पुनरागमन सिद्ध है। श्रीगोपालचम्पू में श्रीपाद जीवगोस्वामी ने अनेक वचनों का उल्लेख किया है। इस श्लोक की टीका में भी श्रीगोस्वामीपाद ने प्रसंग–वश श्रीकृष्ण के व्रज में प्रत्यागमन के अनेक शास्त्रीय प्रमाण उद्धृत किए हैं। ४४ वर्ष बाद व्रज में लौटने पर श्रीकृष्ण के मुखचन्द्र के दर्शन कर माता यशोदा के स्तनों से दुग्ध–धारा प्रवाहित होने लगी। वात्सल्यभक्तिरस की इस नित्य स्थिति को दिखाने के लिए इस श्लोक का उल्लेख किया गया है।

भगवान् श्रीकृष्ण की लीला का वर्णन, तीन प्रकार का है (१) व्रज–लीलामय, (२) व्रजत्यागमय तथा (३) पुर–लीलामय। इसी प्रकार श्रोता भी तीन प्रकार के हैं–व्रजजनानुग, (ब्रज परिकरों का आनुगत्य करने वाले) पुरजनानुग (मथुरा–द्वारका परिकरों का आनुगत्य करने वाले) तथा तटस्थ। इन तीनों प्रकार के समस्त लोगों का श्रीकृष्ण–लीला सुखपोषण करती है। तटस्थ लोगों का सुख श्रीकृष्ण सम्बन्धी होने से पोषण होता है। मथुरा–द्वारकावासी लोगों के सुख का पोषण करती है व्रजलीला। किन्तु द्वारका–लीला व्रजानुग परिकरों के सुख का पोषण नहीं करती; प्रत्युत दुःख को उत्पन्न करती है। व्रज में पुनः लौट आने के परम्परागत रूप से यह भी व्रजलीलामयी कही जा सकती है, परन्तु व्रजत्यागमयी होने से उसका पर्यवसान दुःखदायित्व में ही है। सबके सुखपोषण के लिए ही इस ग्रन्थ में श्रीकृष्ण की तीनों लीलाओं का वर्णन किया जाता है। विशेषतः व्रज में श्रीकृष्ण की प्रत्यागमन लीला व्रजजनानुगवृन्द का सर्वाधिक सुख पोषण करने वाली है। मथुरा–द्वारका लीला भी नित्य हैं। इस विषय की विशेष जानकारी के लिए वैष्णवतोषणी, क्रमसन्दर्भ, गोपालचम्पू तथा उज्ज्वलनीलमणि की लोचनरोचनी टीकाएँ द्रष्टव्य हैं।

२८–स्वीकुर्वते रसमिमं नाट्यज्ञा अपि केचन।।७७।।

तथाहुः, ५०–स्फुटंचमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः।

स्थायी वत्सलताऽस्येह पुत्राद्यालम्बनं मतम्।।७८।।

● *अनुवाद*—कोई कोई नाट्यशास्त्र के पण्डित लोग भी इस वत्सल को रस कहकर स्वीकार करते हैं।।७७।। जैसा कि कहा गया है, पण्डितगण स्पष्ट रूप से चमत्कारिता युक्त वात्सल्यभक्ति को भी रस कहते हैं। इस रस का स्थायीभाव वत्सलता है एवं इसके आलम्बन हैं पुत्रादि।।७८।।

किंच—

२६—अप्रतीतौ हरिरतेः प्रीतस्य स्यादपुष्टता।
प्रेयसस्तु तिरोभावो वत्सलस्यास्य न क्षतिः।।७६।।
३०—एषा रसत्रयी प्रोक्ता प्रीतादिः परमाद्भुता।
तत्र केषुचिदप्यस्या संकुलत्वमुदीर्यते।।८०।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*अप्रतीतौ अनिर्णये, हरिरतेः हरिकर्तृकरते।।७६।।*

● *अनुवाद—विशेष ज्ञातव्य*—यह है कि श्रीकृष्ण द्वारा की गई प्रीति में अप्रतीति होने पर अर्थात् श्रीकृष्ण को मुझमें प्रीति है कि नहीं—इसके निर्णय न कर सकने पर दास्यरति पुष्ट नहीं होती। सख्यरति का तो तिरोभाव हो जाता है, किन्तु वात्सल्यरति की बिन्दुमात्र भी क्षति नहीं होती।।७६।।

प्रीत (दास्य), प्रेया (सख्य) तथा वत्सल (वात्सल्य) रसमयी इन तीनों प्रकार की रति परमाद्भुत है। इन तीनों में फिर किन्हीं—किन्हीं भक्तों में तीनों रसों का मिश्रण भी कहा जाता है।।८०।।

३१—संकर्षणस्य सख्यं तु प्रीतिवात्सल्यसंगतम्।
युधिष्ठिरस्य वात्सल्यं प्रीत्या सख्येन चान्वितम्।।८१।।
३२—आहुकप्रभृतीनां तु प्रीतिर्वात्सल्यमिश्रिता।
जरदाभीरिकादीनां वात्सल्यं सख्यमिश्रितम्।।८२।।
३३—माद्रेयनारदादीनां सख्यं प्रीत्या करम्बितम्।
रुद्रताक्ष्योद्धवादीनां प्रीतिः सख्येन मिश्रिता।।८३।।
३४—अनिरुद्धादिनप्तृणामेवं केचिद्वभाषिरे।
एवं केषुचिदन्येषु विज्ञेयं भावमिश्रणम्।।८४।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—

संकर्षणस्येति। अत्र संकर्षणस्य सख्यं—(श्रीभा० १०।१५।१५)—
नृत्यतो गायतः क्वापि वल्गतो युध्यतो मिथः।
गृहीतहस्तौ गोपालान् हसन्तौ प्रशशंसतुः।।
वात्सल्यं यथा—(भा० १०।१५।१४)—
क्वचित्क्रीडापरिश्रान्तं गोपोत्संगोपबर्हणम्।
स्वयं विश्रमयत्यार्यं पादसंवाहनादिभिः।।
प्रीतिर्यथा—(भा० १०।१३।३७) "प्रायो मायास्तु मे भर्तुर्नान्या मेऽपि विमोहनी" ति तद्वाक्यम्, तदेवं पौराणिकदृष्ट्यान्यदान्यदपि ज्ञेयम्। जरदाभीरिकादीनां सख्यमत्र परिहासरूपांशेनैव ज्ञेयं, रुद्रस्य तु श्रीविष्णवजितादिरूपेण ज्ञेयम्। केचिदिति। गौड़देश्यानां पौत्रादिभिः किंचिद्विनोददर्शनादिति भावः।।८१—८४।।

● *अनुवाद*–श्रीबलदेव की सख्य रति (प्रधान) है किन्तु प्रीत तथा वात्सल्य युक्त है। श्रीयुधिष्ठिर की वात्सल्य रति (प्रधान) है, किन्तु प्रीत एवं सख्य मिश्रित है।।८१।।

उग्रसेन आदि की रति सख्य–वात्सल्य मिश्रित है। वृद्धा गोपरमणी मुखरा आदि की रति वात्सल्य–सख्यमिश्रित है।।८२।।

नकुल–सहदेव एवं नारदादि की सख्य–दास्य मिश्रित रति है। रुद्र, गरुड़ तथा उद्धव आदिक की रति दास्य–सख्यमिश्रित है।।८३।।

अनिरुद्ध आदि की रति को भी कोई–कोई दास्य–सख्यमिश्रित कहते हैं इस प्रकार किन्हीं–किन्हीं अन्यान्य भक्तों में भाव का मिश्रण जान लेना चाहिए।।८४।।

इति श्रीभक्तिरसामृतसिन्धौ पश्चिमविभागे मुख्यभक्तिरसनिरूपणे वत्सलभक्तिरसलहरी चतुर्थी।।४।।

● ● ●

पंचम-लहरी : मधुरभक्तिरसाख्या

१–आत्मोचितैर्विभावाद्यैः पुष्टिं नीता सतां हृदि
मधुराख्यो भवेद्भक्तिरसोऽसौ मधुरा रतिः।।१।।
२–निवृत्तानुपयोगित्वाद दुरूहत्वादयं रसः।
रहस्यत्वाच्च संक्षिप्य विततांगोऽपि लिख्यते।।२।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*सतां श्रीकृष्णविषयक–तत्कान्तारतिस्पृष्टचित्तानां सद्विशेषणाम्।।१।। निवृत्तेषु प्राकृतशृंगाररससाम्यदृष्ट्या भागवतादप्यस्माद्रसाद्विरक्तेषु, अनुपयोगित्वात् अयोग्यत्त्वात्।।२।।*

● *अनुवाद*–अपने अनुरूप विभावादिक के द्वारा सद्–भक्तों अर्थात् जिनको श्रीकृष्णविषयक कान्ता–रति का स्पर्श प्राप्त हुआ है, उनके हृदय में पुष्टि को प्राप्त कर मधुरा–रति 'मधुर–भक्तिरस' नाम से कही जाती है।।१।।

विरक्त व्यक्तियों के उपयोगी न होने से, एवं दुरूह होने से तथा रहस्यमय होने के कारण, विस्तृत अंगोंयुक्त होते हुए भी मधुर–भक्तिरस का यहाँ संक्षेप से वर्णन करते हैं।।३।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–मधुरा–रति व्रजसुन्दरियों के हृदय अथवा कान्ता–भावमय रतियुक्त विशेष भक्तों के चित्त में ही अपने अनुरूप विभावादिक को प्राप्तकर 'मधुर भक्तिरस' कहलाती है। इस रति के अति संक्षेप से यहाँ वर्णन करने के तीन कारण हैं–१. जो विरक्त लोग हैं उनमें इसे ग्रहण करने की उपयोगिता नहीं है। प्राकृत शृंगार रस के साथ इसका साम्य होने से श्रीभगवत्

रस से विरक्त जनों के यह अनुपयोगी है। २. यह रस अति दुरुह है, इसके तत्त्व को समझना, उसमें प्रवेश करना अति कठिन है, तथा ३. यह रस अति गोप्य है, रहस्यमय है। सबके सामने प्रकाशित करने योग्य नहीं है। केवल विरले जन ही इसके अधिकारी हैं। यहाँ भक्तिरसामृतसिन्धु में श्रीपाद रूपगोस्वामी ने इसे संक्षेप में वर्णन किया है परन्तु इस ग्रन्थ के परिशिष्ट स्वरूप श्रीउज्ज्वलनीलमणि ग्रन्थ में इन्होंने अधिकारीजनों के लिए विस्तारपूर्वक भी वर्णन किया है।।

तत्रालम्बनाः—

३—अस्मिन्नालम्बनः कृष्णः प्रियास्तस्य च सुभ्रुवः।।३।।

तत्र कृष्णः—

४—असमानोर्ध्वसौन्दर्यलीलावैदग्ध्यसम्पदाम्।
आश्रयत्वेन मधुरे हरिरालम्बनो मतः।।४।।

यथा श्रीगीतगोविन्दे—

१—विश्वेषामनुरंजनेन जनयन्नानन्दमिन्दीवर—
श्रेणीश्यामलकोमलैरुपनयन्नंगैरनंगोत्सवम्।
स्वच्छन्दं व्रजसुन्दरीभिरभितः प्रत्यंगमालिंगितः
शृंगारः सखि मूर्तिमानिव मधौ मुग्धो हरिः क्रीडति।।५।।

● *अनुवाद—मधुर—भक्तिरस के आलम्बन;* इसके श्रीकृष्ण तथा उनकी व्रज सुन्दरियां विषयालम्बन हैं।।३।।

विषयालम्बन श्रीकृष्ण—इस मधुर रस के असमोदर्ध्व सौन्दर्य तथा लीला—वैदग्धी रूप सम्पदा के आश्रय होने से श्रीकृष्ण ही विषयालम्बन हैं।।४।।

उदाहरण—(श्रीगीतगोविन्द में)—हे सखि ! सबको अनुरक्त कर आनन्द प्रदान करते हुए, नीलकमलों से भी सुकोमल तथा श्यामल अंगों द्वारा उनका अनंगोत्सव—सम्पादन करते हुए तथा उन व्रजसुन्दरियों द्वारा प्रति अंग से स्वच्छन्दतापूर्वक आलिंगित होकर वह मनोज्ञ (ऐश्वर्यज्ञानशून्य) श्रीकृष्ण इस बसन्त मास में मूर्त्तिमान शृंगार की तरह क्रीड़ा कर रहे हैं।।५।।

अथ तस्य प्रेयस्यः—

२—नवनववरमाधुरीधुरीणाः प्रणयतरंगकरम्बितान्तरंगाः।
निजरमणतया हरिं भजन्तीः प्रणमत ताः परमाद्भुताः किशोरीः।।६।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*अन्तरित्यन्तःकरणं। प्रयणतरंगैः करम्बितानि मिश्रितान्यन्तःकरणस्यांगानि वृत्तयो यासां ताः।।६।।*

● *अनुवाद—श्रीकृष्ण की प्रेयसीवृन्द*—आश्रयालम्बन हैं व्रजसुन्दरियां जो नवनवायमान उत्कृष्ट अतिशय माधुर्य धाराएँ प्रवाहित करती हैं, जिनके अन्तःकरण की प्रत्येक वृत्ति ही प्रणय—तरंग द्वारा मिश्रित है, एवं जो श्रीकृष्ण का अपने पतिरूप में भजन करती हैं, उन परम अद्भुत किशोरीवृन्द को मैं प्रणाम करता हूँ।।६।।

५–प्रेयसीषु हरेरासु प्रवरा वार्षभानवी।।७।।

अस्या रूपम्–

३–मदचकुरचकोरीचारुताचोरदृष्टि–
र्वदनदमितराकारोहिणीकान्तकीर्त्तिः।
अविकलकलधौतोद्धूतिधौरेयक श्री–
र्मधुरिममधुपात्री राजते पश्य राधा।।८।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*मदेन चकुरा चपला या चकोरी, चकितेति पाठे लक्षणया स एवार्थः।।८।।*

● *अनुवाद*–श्रीकृष्ण की इन प्रेयसियों में वृषभानुनन्दिनी–श्रीराधिका ही सर्वश्रेष्ठा हैं।।७।।

श्रीराधिका का रूप–जिनके नेत्र मदमत्त चकोरी की चारुता की चोरी कर रहे हैं, जिनका मुख पूर्णिमा के चन्द्र की कीर्ति का दमन कर रहा है, जिनका अत्युत्कृष्ट सौन्दर्य विशुद्ध स्वर्ण की उज्ज्वलता को निन्दित कर रहा है। यह देखो, वह माधुर्य सिन्धु की पात्री श्रीराधा विराजमान हैं।।८।।

अस्या रतिः–

४–नर्मोक्तौ मम निर्मितोरुपरमानन्दोत्सवायामपि
श्रोत्रस्यान्ततटीमपि स्फुटमनाधाय स्थितोद्यन्मुखी।
राधा लाघवमप्यसादरगिरां भंगीभिरातन्वती
मैत्रीगौरवतोऽप्यसौ शतगुणां मत्प्रीतिमेवादधे।।६।।

अत्र कृष्णरतिर्यथा श्रीगीतगोविन्दे

५–कंसारिरपि संसारवासनाबद्धश्रृंखलाम्।
राधामाधाय हृदये तत्याज व्रजसुन्दरीः।।१०।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*स्फुटमित्यनेनालक्षिततया त्वाधाय स्थितेति व्यंजितम्, उद्यन्मुखी ऊर्ध्वदृष्टिः सप्रणयगर्वादिति भावः, नर्मोक्ताविव्यस्य लाघवमित्यनेनाप्यन्वयः, भंगीभिरिति व्यंजनावृत्त्या तु गौरवमेव व्यंजयन्तीति व्यंजितम्।।६।। वस्तुतस्तु सम्यक्सारः संसार इति भावः।।१०।।*

● *अनुवाद–श्रीराधा की रति*–(श्रीकृष्ण ने कहा–मेरी नर्मोक्ति से श्रीराधा परमानन्दिता हुई किन्तु उस पर उसने कान नहीं दिये (बाहरी दृष्टि से ऐसा लगता है, किन्तु अलक्षित भाव से उसमें मनोवेश करके) ऊँचा मुख करके रहीं आईं। (पक्षान्तर में–अनादर व्यंजक वाक्यभंगी द्वारा लघुता प्रकाशित करने पर भी मैत्री गौरव की अपेक्षा भी सौगुणा अधिक मेरी प्रीति विधान करने लगीं। (यहाँ सौभाग्य गर्व से विवेक प्रकाशित हुआ है)।।६।

श्रीराधा के प्रति श्रीकृष्ण की रति का वर्णन–(गीतगोविन्द में) समस्त लीलाओं में सारभूत सर्वश्रेष्ठ जो रासोत्सव है, उसकी वासना द्वारा बद्ध जो प्रेममय श्रृंखला स्वरूप है, उस श्रीराधा को हृदय पर स्थापित कर (साथ लेकर) श्रीकृष्ण ने अन्यान्य व्रज–सुन्दरियों का त्याग कर दिया।।१०।।

अथ उद्दीपनाः–

६–उद्दीपना इह प्रोक्ता मुरलीनिस्वनादयः।।११।।

यथा पद्यावल्यां–

६–गुरुजनगंजनमयशोगृहपतिचरितं च दारुणं किमपि।
विस्मारयति समस्तं शिव शिव मुरली मुराराते:।।१२।।

● *अनुवाद*–मुरली–ध्वनि आदि इस मधुररस में "उद्दीपन" हैं।। जैसा कि पद्यावली में वर्णित है–अहो ! गुरुजनों के कोप, अपयश, एवं गृहपतियों के अनिर्वचनीय व्यवहार आदि सबको श्रीकृष्ण की मुरली ध्वनि भुला देती है।।१२।।

अथनुभावाः–

७–अनुभावास्तु कथिता दृगन्तेक्षास्मितादयः।।१३।।

यथा ललितमाधवे–

७–कृष्णापांगतरंगितद्युमणिजासंभेदवेणीकृते
राधायाः स्मितचन्द्रिकासुरधुनीपूरे निपीयामृतम्।
अन्तस्तोषतुषारसंप्लवलवव्यालीढतापोद्गमाः
क्रान्त्वा सप्त जगन्ति संप्रति वयं सर्वोर्ध्वमध्यास्महे।।१४।।

अथ सात्त्विकाः, यथा पद्यावल्याम्–

८–कामं वपुः पुलकितं नयने धृतास्रे
वाचः सगद्गदपदाः सखि ! कम्पि वक्षः।
ज्ञातं मुकुन्दमुरलीरवमाधुरी ते
चेतः सुधांशुवदने ! तरलीकरोति।।१५।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*कृष्णापांगेत्यत्रान, पांगशब्दोऽपांगसमीपदेशवाचकः, सितापांगशब्दवद् "अपांगौ नेत्रयोरन्तावित्यत्र तत्समीपदेशोऽपि वाचयितुं शक्यते। नेत्रबहिर्भागस्यापि नेत्रान्तःपातात् यथोक्तं गोपालस्तवे "नीलेन्दीवरलोचनमिति", ततस्तत्समीपदेशतदेकदेशयोरैक्यात्स्यात्ततरंगितस्य द्युमणिजात्वेन रूपकं युक्तमेव ज्ञेयम्, तरंगितेति तु क्यङर्थक्किवन्तधातोर्भावे निष्ठा।।१४।। श्रूयमाणं मुरलीरवं लक्षीकृत्य काचिदाह–काममिति।।१५।।*

● *अनुवाद–मधुरस में अनुभाव;* कटाक्ष–दृष्टि तथा मृदु–मन्द मुसकानादि 'अनुभाव' होते हैं।।१३।।

उदाहरण–(ललितमाधव में)–श्रीकृष्ण के कटाक्षरूप यमुना के संगम प्रवाह से युक्त श्रीराधा की मन्द–मुसकान रूप गंगा के प्रवाह में अमृत (तुल्य जल) का पान करने से अन्तःकरण में उत्पन्न होने वाले सन्तोषरूप तुषार से हमारे सब सन्ताप दूर हो गये हैं। अतः अब हम सातों लोगों को अतिक्रम कर सर्वोपरि धाम में अवस्थान कर रहीं हैं।।१४।।

मधुर रसमें सात्तिक भाव का उदाहरण–(पद्यावली में)–हे चन्द्रमुखी सखि ! तुम्हारा शरीर पुलकित हो रहा है, नेत्रों में अश्रु, वाक्यों में गद्गदता,

वक्षस्थल में कम्प देखकर मैं समझती हूँ कि श्रीमुकुन्द की मुरली ध्वनि की माधुरी ने तेरे चित्त को चंचल कर दिया है।।१५।।

अथ व्यभिचारिणः–

८–आलस्यौग्रये विना सर्वे विज्ञेया व्यभिचारिणः।।१६।।

तत्र निर्वेदो यथा पद्यावल्याम्–

९–मा मुंच पंचशरं शरीरे मा सिंच सान्द्रमकरन्दरसेन वायो !।
अंगानि तत्प्रणयभंगविगर्हितानि नालम्बितुं कथमपि क्षमतेऽद्य जीवः।।१७।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*आलस्यौग्रये विनेति। यथाक्रमं सम्भोगान्तप्रियसंग–भंगकराभ्यामन्यत्र ज्ञेयम्।।१६।।*

● *अनुवाद–व्यभिचारि–भाव–*(सम्भोगान्त में होने वाले आलस्य तथा प्रियसंग भंग से होने वाली उग्रता को छोड़ कर) अन्य समस्त व्यभिचारि भाव मधुररस में होते हैं।।१६।।

निर्वेद का उदाहरण–(पद्यावली में)–किसी कलहान्तरिता नायिका ने कहा, हे कन्दर्प ! तुम पाँच बाण मुझ पर मत छोड़ना, हे वायो ! तुम गाढ़ पुष्परस से मुझे मत सींचना, क्योंकि श्रीकृष्ण के द्वारा किये जाने वाले प्रणयभंग के कारण विनिन्दित इन अंगों को ग्रहण करने के लिए आज जीवात्मा किसी प्रकार भी तैयार नहीं है।।१७।।

हर्षो, यथा दानकेलिकौमुद्यां–

१०–कुवलययुवतीनां लेहयन्नक्षिभृंगान् कुवलयदललक्ष्मीलंगिमाः स्वांगभासः।
मदकलकलभेन्द्रोल्लंघिलीलातरंगः कवलयति धृतिं मे क्षमाधरारण्यधूर्तः।।१८।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*कुवलयेति। प्रथमं कुवलयं भूमण्डलं, द्वितीयं नीलोत्पलम्। अत्र स्वांगभासां मधुत्वेन यद्रूपकं कृतम्, अतएव लेहयन्नित्यास्य पानार्थकास्वादार्थो न विवक्षितः, किन्त्वासक्तिमात्रार्थः, अतः प्रत्यवसानपर्य्याय पान भोजनार्थत्वा भावादप्यण्यन्त–कर्त्तृणामक्षिभृंगाणां ण्यन्तकर्मकत्वं न कृतं, क्षमाधरस्तत्र प्रकरणप्राप्तः श्रीगोवर्द्धनः, अतएव नायकस्यास्य श्रीकृष्णत्वं व्यक्तं, धूर्त्तपदमत्र नर्मणा प्रयुक्तमिति रसावहम्। यथा (भा० १०।३१।१६) 'कितव योषितः कस्त्यजेन्निशीत्यत्र कितवपदं प्रणयकोपोक्तमिति।।१८।।*

● *अनुवाद–हर्ष का उदाहरण–*(दानकेलि कौमुदी में)–गोवर्धनवन में विहार करने वाला यह धूर्त–श्रीकृष्ण भूमण्डल की समस्त युवतियों को नेत्रभंगी द्वारा नीलकमल दल की शोभा–माधुर्य शालिनी अपनी अंगकान्ति का आस्वादन कराकर एवं मदमत्त हाथी के शावक को निन्दित करने वाली लीला–तरंगों को उत्पन्न कर मेरे धैर्य को नाश कर रहा है।।१८।।

अथ स्थायी–

९–स्थायी भावो भवत्यत्र पूर्वोक्ता मधुरा रतिः।।१९।।

यथा पद्यावल्याम्–

११–भ्रूवल्लिताण्डवकला–मधुराननश्रीः कंकेल्लिकोरक–करम्बित–कर्णपूरः।
कोऽयं नवीननिकषोपलतुल्यवेषो वंशीरवेण सखि ! मामवशीकरोति।।२०।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*वल्लीशब्दस्य ह्रस्वान्तत्वं "नवनागवल्लिदलपूगरस" इति माघकाव्यदृष्ट्या 'मल्लीवल्लिचंचत्पराग' इति श्रीगीतगोविन्दादिदृष्टिपरम्परया च, भ्रूयुग्मेति वा पठनीयं, नवीननिकषेति। पीताम्बरत्वेन निकयोपलतुल्यवेष इत्यत्रः; मध्यपदलोपित्वाद्, वेशशब्दोऽत्र स्वर्णरेखास्थानीय–परिधानार्थः, अवशीकरोतीति। न विद्यते किंचिदपि वशं यस्यास्तादृशीकरोति; यद्वा अवशा स्वतन्त्रा तादृशीकरोति लंघितमर्यादीकरोतीत्यर्थः; अभूततद्भावे च्विप्रत्ययः, कंकेल्लिरशोकः।।२०।।*

● *अनुवाद–स्थायी भाव;* पहले (२।५।३६) कहे गए सब स्थायी भाव मधुरा रति में होते हैं।।१६।।

उदाहरण–(पद्यावली में)–हे सखि भ्रूलता (भ्रुकुटि) की नृत्यकला विस्तार करते हुए जिसकी मुख शोभा समधिक मधुर हो रही है, जिसके कर्णरन्ध्रों में अशोक की कलियाँ सुशोभित हैं, जो पीताम्बर धारण कर रहा है और वंशी ध्वनि से मुझे वशीभूत कर रहा है–यह कौन है ?।।२०।।

१०–राधामाधवयोरेव क्वापि भावैः कदाप्यसौ।
सजातीयविजातीयैर्नैव विच्छिद्यते रतिः।।२१।।

यथा, १२–इतोदूरे राज्ञी स्फुरति परितो मित्रपटली
दृशोरग्रे चन्द्रावलिरुपरि शैलस्य दनुजः।
असव्ये राधायां कुसुमितलतासंवृततना
दृगन्तश्रीर्लोला तडिदिव मुकुन्दस्य बलते।।२२।।

१३–घोरा खण्डितशंखचूड़मजिरं रुन्धे शिवा तामसी
ब्रह्मिष्ठश्वसनः शमस्तुति–कथाप्रालेयमासिंचति।
अग्रे रामःसुधारुचिर्विजयते कृष्णप्रमोदोचितं
राधायास्तदपि प्रफुल्लमभजन् म्लानिं न भावाम्बुजम्।।२३।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*राधामाधवयोरेव न तु प्रेयस्यन्तरमाधवयोः, रतिः सव्याजव्यति (परस्पर) दर्शनादिमयी, नैव विच्छिद्यते नावृता स्यात्। कैः सजातीयैस्तत्प्रेयस्यन्तर–व्यञ्जितैर्विजातीयैस्तद्वत्सलतादि–व्यञ्जितैर्भावैस्तद्विरोधि–समीहामयैः।।२१।। राज्ञी व्रजराज्ञी, दनुजोऽरिष्टः, शैलस्य शिलासमूहस्य व्रजद्वार्यास्थानीरूपतया चितस्य।।२२।। भावपक्षे खण्डितः शंखचूड़स्तदाख्यो यक्षो यत्र तादृशमजिरं क्रीडांगनं, तामसी तमोगुणमयी, शिवा श्रृगालजातिः, रुन्धे आवृणोति, अम्बुजपक्षे तत्प्रति अशिवा अमंगला; तामसी रात्रिः, एवमुभयत्र, ब्रह्मिष्ठो ब्रह्मनिष्ठो वर्गः स एव श्वसनः इत्यादि योज्यं, क्रमेण तद्भावविरोधिनो भयानक–शान्त–वत्सला दर्शिताः, अम्बुजविरोधिनश्च रात्रि–प्रालेयसुधारुचयः, तस्माद्यथान्यदम्बुजं तत्तत्सम्बन्धेन म्लानिं प्राप्नोति तथा तु तद्भावाम्बुज न प्राप्नोतीति विशेषोक्तिनामालंकारः।।२३।।*

● *अनुवाद*–श्रीराधा एवं श्रीकृष्ण की ही यह रति सजातीय अथवा विजातीय किसी प्रकार के भावों से कभी विच्छिन्न नहीं होती।।२१।।

***उदाहरण*–व्रजरानी श्रीयशोदा निकट बैठी हैं, मित्र–मण्डली चारों ओर दिखलाई दे रही है। आँखों के सामने चन्द्रावली भी दीख रही है, शिलाओं के ऊपर अरिष्टासुर विद्यमान है, (इन सबके होते हुए भी) दाहिनी ओर खिली हुई लताओं में छिपी हुई श्रीराधा के शरीर पर श्रीकृष्ण के विद्युत की भाँति चंचल कटाक्ष बार–बार पतित हो रहे हैं।।२२।।**

एक ओर प्रांगण में पड़े हुए मृतक शंखचूड़ यक्ष को घोरतर तमोगुणमयी श्रृंगाल जाति घेरे हुए है, दूसरी ओर वायु तुल्य ब्रह्मनिष्ठ योगीगण शमता सम्पन्न स्तुति–कथा रूप हिम का सेंचन कर रहे हैं, और सामने श्रीबलदेव रूप चन्द्रमा का उदय हो रहा है, तथापि श्रीराधा का श्रीकृष्ण के प्रति भाव रूप कमल मुरझाया नहीं–प्रफुल्लित ही हो रहा है।।२३।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–श्रीराधा की प्रीति अर्थात् परस्पर दर्शनादि मयी रति सजातीय भावों के अथवा विजातीय भावों के उपस्थित होने पर कभी भी विच्छेद को प्राप्त नहीं होती। किन्तु अन्य प्रेयसीवृन्द तथा श्रीकृष्ण की रति में ऐसी बात नहीं है। सजातीय से अन्य प्रेयसी के साथ संगमजनित भाव अभिप्रेत है तथा विजातीय से वात्सल्यादि रस जनित भाव अभिप्रेत हैं। वीभत्स स्थान पर तथा भयानक समय पर भी श्रीराधा–माधव रति अविच्छिन्न रहती है।

श्लोक सं० २२ में सजातीय तथा विजातीय दोनों प्रकार के भावों के उपस्थित रहने पर श्रीराधा–माधव रति की अविच्छिन्नता का उदाहरण दिया गया है। श्रीयशोदा की उपस्थिति वात्सल्य रस की, सखाओं की उपस्थिति सख्यरस की, चन्द्रावली की उपस्थिति श्रृंगार रस की और अरिष्टासुर की उपस्थिति भयानक रस की विद्यमानता प्रदर्शित करती है किन्तु सजातीय–विजातीय दोनों प्रकार के भावों के उपस्थित होने पर भी श्रीकृष्ण की श्रीराधा दर्शनमय रति का विच्छेद नहीं हुआ है–वे बराबर श्रीराधाजी का दर्शन कर रहे हैं।

इस प्रकार श्लोक सं० २३ में श्रृंगालों से आच्छादित शंखचूड़ का मृतकदेह पड़ा होना, भयानक या वीभत्स रस का व्यंजक है, ब्रह्मनिष्ठ योगीगण का शमतापूर्वक स्तुति–कथा कहना शान्तरस का तथा श्रीबलराम जी का उपस्थित होना वात्सल्य रस का व्यंजक है, अतः भयानक, शान्त तथा वात्सल्य जो मधुर रस के विरोधी या विजातीय भाव हैं, उनके विद्यमान होते हुए भी श्रीराधा जी का भाव श्रीकृष्ण के प्रति अक्षुण्ण ही दिखाया गया है।

इस श्लोक में श्लेष तथा रूपालंकार है। भाव को कमल कहा गया है। शिवा–तामसी का दूसरा अर्थ है अमंगलमय रात्रि तथा प्रालेय का अर्थ है हिम अर्थात् पाला और श्रीबलराम में सुधारुचि अर्थात् चन्द्र का आरोप किया गया है। कमल पक्ष में रात्रि, पाला तथा चन्द्र ये तीनों विरोधी हैं। कमल रात्रि में, पाले में तथा चाँदनी में म्लान हो जाता है, प्रफुल्लित नहीं रहता। किन्तु यहाँ श्रीराधाभाव

रूप—कमल इन तीनों की विद्यमानता में भी म्लानि को प्राप्त नहीं हुआ। क्योंकि श्रीराधा—माधव की परस्पर रति कभी भी विच्छिन्न नहीं होती।

११—स विप्रलम्भ—सम्भोगभेदेन द्विविधो मतः।।२४।।

तत्र विप्रलम्भः—

१२—स पूर्वरागो मानश्च प्रवासादिमयस्तथा।
विप्रलम्भो बहुविधो विद्वदभिरिह कथ्यते।।२५।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*स प्रथममुक्तो मधुराख्यो भक्तिरसः।।२४।।*

● *अनुवाद*—मधुर भक्तिरस के दो भेद हैं—१. विप्रलम्भ तथा २. सम्भोग। *विप्रलम्भ*—पूर्वराग, मान, प्रवासादि भेद से विप्रलम्भ को पण्डितजन अनेक प्रकार का कहकर वर्णन करते हैं।।२५।।

तत्र पूर्वरागः—

१३—प्रागसंगतयोर्भावः पूर्वरागो भवेद् द्वयोः।।२६।।

यथा पद्यावल्याम्—

१४—अकस्मादेकस्मिन् पथि सखि ! मया यामुनतटं
व्रजन्त्या दृष्टो यो नवजलधरश्यामलतनुः।
स दृग्भंगया किं वाऽकुरुत न हि जाने तत इदं
मनो में व्यालोलं क्वचन गृहकृत्ये न बलते।।२७।।

यथा वा श्रीदशमे (१०।५३।२)—

१५—यथा विनिद्रा मच्चित्ता रुक्मिणी कमलेक्षणा।
तथाहमपि तच्चित्तो निद्रां च न लभे निशि।
वेदाहं रुक्मिणा द्वेषान्ममोद्वाहो निवारितः।।२८।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*प्रागिति अत्र द्वयोरिति कान्तायाः पूर्वरागो भक्तिरसत्वेनोच्यते कान्तरस तु तदुद्दीपनत्वेन गम्यते, एवमुत्तरत्रापि।।२६।। व्रजदेवीषु श्रीकृष्णस्य पूर्वरागस्तु "जयति तेऽधिकं जन्मने" त्यध्याये (१०।३१) तासां मुखेनैव श्रीमन्मुनिना बहुशोऽपि 'शरदुदाशय' इत्यादिभिर्वर्णित एव इत्यभिप्रेत्य सकृदुक्तं श्रीरुक्मिण्यामेव तं दर्शयति—यथावेति।।२८।।*

● *अनुवाद—पूर्वराग;* प्रिय और प्रिया का मिलने से पहले जो भाव या अनुराग होता है, उसे 'पूर्वराग' कहते हैं। (प्रिया का पूर्वराग तो भक्ति रस है किन्तु प्रिय का पूर्वराग उद्दीपन ही समझना चाहिए)।।२६।।

उदाहरण—(पद्यावली में) हे सखि ! मैंने यमुना तट पर जाते समय अकस्मात् मार्ग में एक नव जलधर श्याम—शरीर पुरुष (श्रीकृष्ण) को देखा। उसने नयन—भंगी द्वारा न जाने मेरे ऊपर क्या कर दिया ? उसी समय से मेरा मन अति चंचल हो उठा है और घर के काम—काज में नहीं लगता।।२७।।

श्रीमद्भागवत (१०।५३।२) श्रीकृष्ण ने ब्राह्मण से कहा, हे द्विजवर ! मेरा मन भी रुक्मिणी में ऐसा निविष्ट हो रहा है कि रातभर नींद नहीं आती। मैं

जानता हूँ कि मेरे प्रति रुक्मि द्वेष करता है और उसने मेरे विवाह का विरोध किया है।।२८।।

अथ मानः–

१४–मानः प्रसिद्ध एवात्र।।२६।।

यथा श्रीगीतगोविन्दे–

१६–विहरति वने राधा साधारणप्रणये हरा
विगलितनिजोत्कर्षादीर्ष्यावशेन गतान्युतः।
क्वचिदपि लताकुंजे गुंजन्मधुव्रतमण्डली–
मुखर–शिखरे लीना दीनान्युवाच रहः सखीम्।।३०।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*विहरतीत्यर्द्धमेव मानोदाहरणं द्रष्टव्यम्।।३०।।*

● *अनुवाद*–मान–मधुरभक्ति रस में मान अर्थात् रूठ जाना तो प्रसिद्ध ही है।।२६।।

उदाहरण–(श्रीगीतगोविन्द में)–वन में श्रीकृष्ण को साधारण भाव से समस्त गोपियों के साथ विहार करता हुआ देखकर श्रीराधा अपने उत्कर्ष में लघुता जानकर ईर्ष्यावश अन्यत्र चली गईं एवं एक लता कुंज में, जिसकी लताओं का अग्रभाग मधुकरवृन्द के शब्द से गुंजारित हो रहा था, छिपकर बैठ गईं। वहाँ दुःखित चित्त होकर एकान्त में अपनी सखी से बोलीं।।३०।।

अथ प्रवासः–

१५–प्रवासः संगविच्युतिः।।३१।।

यथा पद्मावल्यां–

१७–हस्तोदरे विनिहितैक–कपोलपाले रश्रान्तलोचनजलस्नपिताननायाः।
प्रस्थानमंगलदिनावधि माधवस्य निद्रालवोऽपि कुत एव सरोरुहाक्ष्याः।।३२।।

तथा प्रह्लादसंहितायामुद्धववाक्यं–

१८–भगवानपि गोविन्दः कन्दर्पशरपीड़ितः।
न भुङ्क्ते न स्वपिति च चिन्तयन् वो ह्यहर्निशम्।।३३।।

● *अनुवाद–प्रवास*–संग; विच्युति अर्थात् संग छूट जाने का नाम 'प्रवास' है।।३१।।

उदाहरण–(पद्यावली में) जिस दिन से श्रीकृष्ण ने मथुरा की मंगल–यात्रा की, उसी दिन से लेकर कमलनयनी श्रीराधा हाथ पर कपोल धारण किए अविश्रान्त अश्रुधारा से अपने मुखमण्डल को भिगो रही हैं, उनको लेश भर भी नींद कहाँ आयी है?।।३२।।

प्रह्लाद संहिता में–श्रीउद्धव ने श्रीराधा जी से कहा, भगवान् श्रीगोविन्द भी कामबाण से पीड़ित होकर दिन–रात आपका चिन्तन करते रहते हैं, भोजन–शयन कुछ भी वे नहीं करते।।३३।।

अथ संभोग–

१६–द्वयोर्मिलितयोर्भोगः संभोग इति कीर्त्यते।।३४।।

यथा पद्यावल्यां–

१६–परमानुरागपरयाथ राधया परिरम्भ–कौशल–विकाशि–भावया।
स तया सह स्मर–सभाजनोत्सवं निरवाहयच्छिखिशिखण्डशेखरः।।३५।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*परमानुरागेति। अस्यान्ते नित्य–स्थितिस्तु व्रजदेवीनां पुरदेवीनां च युगपद् दर्शिता (भागवत १०।६।४७)–"जयति जननिवास" इत्यादिना।।३५।।*

● *अनुवाद–सम्भोग;* कान्त एवं कान्ता के मिलन में जो भोग है, उसे 'सम्भोग' कहते हैं।।३४।।

उदाहरण–(पद्यावली में) मोर–मुकुटधारी श्रीकृष्ण ने परमानुराग सीमा प्राप्त कर एवं आलिंगन–कौशल से निज भाव प्रकाशिका उन श्रीराधा जी के साथ मदन–महोत्सव सम्पन्न किया।।३५।।

१७–श्रीमद्भागवताद्यर्हशास्त्रदर्शितया दृशा।
इयमाविष्कृता मुख्य पंचभक्तिरसौ मया।।३६।।
१८–गोपालरूपशोभां दधदपि रघुनाथभावविस्तारी।
तुष्यतु सनातनात्मा पश्चिमभागे रसाम्बुनिधेः।।३७।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*श्रीमदिति। श्रीमद्भागवतादिलक्षणयोग्यशास्त्रप्रकाशितेन ज्ञानेनेत्यर्थः।।३६।।*

● *अनुवाद*–श्रीपाद रूपगोस्वामी कहते हैं–श्रीमद्भागवतादि लक्षण योग्य–शास्त्रों में प्रदर्शित ज्ञान द्वारा मैंने इस मुख्य पंचभक्तिरस को प्रकाशित किया है।।३६।।

श्रीगोपालस्वरूप से शोभित होकर भी जो श्रीरघुनाथ का भाव विस्तार करते हैं, वे सच्चिदानन्द श्रीकृष्ण इस श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु के पंचम विभाग से तुष्टि लाभ करें।। (१।४।२१ का अनुवाद द्रष्टव्य है)।।३७।।

इति श्रीभक्तिरसामृतसिन्धौ पश्चिमविभागे मुख्यभक्तिरसनिरूपणे मधुरभक्तिरसाख्या लहरी पंचमी।।५।।

● ● ●

गौणभक्तिरस–निरूपकः–उत्तर–विभागः

प्रथम-लहरी : हास्यभक्तिरसाख्या

१–भक्तिभरेण प्रीतिं कलयन्नुररीकृतव्रजासंगः।
तनुतां सनातनात्मा भगवान्मयि सर्वदा तुष्टिम्।।१।।
२–रसामृताब्धेर्भागेऽत्र तुरीये तूत्तराभिधे।
रसः सप्तविधो गौणो मैत्रीवैरस्थितिर्मिथः।।२।।
३–रसाभासाश्च तेनात्र लहर्यो नव कीर्तिताः।
प्रागत्रानियताधाराः कदाचित् क्वाप्युदित्वराः।।३।।
४–गौणा भक्तिरसाः सप्त लेख्या हास्यादयः क्रमात्।।४।।

● *अनुवाद*–जिन्होंने भक्तनिष्ठ भक्ति की अतिशयता के कारण प्रीतिपूर्वक व्रज में नित्य निवास करना स्वीकार किया है, वे नित्यविग्रह भगवान् श्रीकृष्ण मेरे प्रति सदैव संतोष विधान करें अर्थात् कृपा करें। (पक्षान्तर में) जिन्होंने अतिशय भक्ति के कारण प्रीतिपूर्वक व्रजवास में आसक्ति या अनुराग प्राप्त किया है, वे भगवान् श्रीसनातन विग्रह (श्रीपाद सनातन गोस्वामी) सर्वदा मेरे ऊपर सन्तुष्ट रहें।।१।।

श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु के इस चतुर्थ उत्तरविभाग में (प्रथम सात लहरियों में) सात प्रकार के गौणरसों का, (आठवीं लहरी में रसों की) परस्पर मित्रता तथा बैर की स्थिति का एवं (नवम लहरी में) रसाभासों का वर्णन किया गया है; इस प्रकार इस विभाग में नौ लहरियाँ हैं। पूर्वोक्त दास्यादि मुख्य–भक्तिरस जैसे दासादि भक्तों में ही नित्य उदित होता है, हास्यादि सात गौण भक्तिरस किन्तु इस प्रकार नहीं हैं, कभी भी किसी भी भक्त में उदित हुआ करते हैं। अब हास्यादि सप्त गौण भक्ति रसों का क्रमशः वर्णन करते हैं।।२–४।।

५–भक्तानां पंचधोक्तानामेषां मध्यत एव हि।
क्वाप्येकः क्वाप्यनेकश्च गौणेष्वालम्बनो मतः।।५।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*ननु शान्तादिवद्धास्याद्भुतादयोऽपि पृथक् स्युर्विदूषक–सेनान्यादिषु हास्यवीरादीनां स्थिरता–दर्शनात् तत्राह–भक्तानामिति। भक्तानां पंचधा रतिपंचकाश्रयत्वेनोक्तानां मध्यत एव, न तु तेभ्योऽन्य इत्यर्थः। अयं भावः–तत्तद्रतिविषयत्वेनोक्तस्य श्रीकृष्णस्य तत्तदाश्रयत्वेनात्तकस्य तत्तद्भक्तस्य च सर्वत्रोत्सर्गसिद्धतयास्त्येवालम्बनत्वं। किन्तु तत्तद्रतिसम्बन्धाद्रतित्वेनोपचर्य–माणहासादीनां प्राकृतरसशास्त्रानुसारेणैव स्थायित्वमुपचर्यते, तदनुसारेणैव च भयानकरसादौ दारुणादीनामालम्बनत्वमभ्युपगम्यते स्वमते तु–*

"विभाव्यते हि रत्यादिर्यत्र येन विभाव्यते।
विभावो नाम स द्वेधालम्बनोद्दीपनात्मक'–

इत्यार्ष–प्रमाणानुसारेण सप्तम्यर्थ एव–सर्वत्रालम्बनः, स चानुगताया रतेः सम्बन्धेन विषयाश्रयरूप एवेति।।५।।

● ***अनुवाद***–**हास्यादि सात प्रकार के गौणरसों में पूर्वोक्त पाँच प्रकार के शान्त, दास, सखा, माता–पितादिगुरुजन तथा कान्तावृन्द परिकर भक्त) ही नहीं आते; इनमें एक एवं कहीं अनेक भक्तगण आलम्बन–विभाव माने जाते हैं।।५।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि जिस प्रकार मुख्य भक्तिरस को उपलक्ष्य करके पाँच प्रकार के भक्त कहे गए हैं–शान्त–भक्त, दास्य–भक्त, सख्य–भक्त इत्यादि पृथक्–पृथक् उनकी संज्ञा है, क्या हास्यादि सात प्रकार के गौण भक्तिरस के भी पृथक्–पृथक् भक्त हैं ? हास्य–भक्त, करुण–भक्त इत्यादि पृथक् नामों से भक्त कहे जाते हैं क्या ?

इस प्रश्न का उत्तर उपरोक्त श्लोक में दिया गया है–शान्तादि पाँच प्रकार के भक्तों में ही कोई एक भक्त इन गौणरसों का आलम्बन हुआ करता है; कहीं करुणादि गौणरस में शान्त, दास्यादि अनेक भक्त भी आलम्बन होते हैं। शान्त–दास्यादि पाँच प्रकार के भक्तों को छोड़कर इन गौण रसों के आलम्बन होना सम्भव भी नहीं है। अतएव दास्यादि की भाँति हास्यादि गौणरस–विशिष्ट भक्त पृथक् नहीं होते, उनकी पृथक् संज्ञा भी उचित नहीं है।।६।।

तत्र हास्यभक्तिरस–

६–वक्ष्यमाणैर्विभावाद्यैः पुष्टिं हासरतिर्गता।
हास्यभक्तिरसो नाम बुधैरेष निगद्यते।।६।।

७–अस्मिन्नालम्बनः कृष्णस्तथाऽन्योपि तदन्वयी।
वृद्धाः शिशुमुखाः प्रायः प्रोक्ता धीरैस्तदाश्रयाः।
विभावनादि–वैशिष्ट्यात् प्रवराश्च क्वचिन्मताः।।७।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*परार्थाया रतेर्विषयत्वेन तद्व्यक्तीकृत–हासस्य हेतुत्वेन च कृष्णोऽस्मिन्नालम्बनः तदन्वयात् तस्य कृष्णस्यानुगतचेष्टश्च तद्रतेराश्रयत्वेन तादृश–हासहेतुत्वेन चालम्बनः, तस्य हासस्याश्रयास्तदाश्रयाः, हासस्य चेतोविकाशमात्ररूपत्वाद्विषयस्तु न विद्यते; न हि कमलादिविकाशः क्वचिद्विषयं करोति यमुद्दिश्य प्रवर्तते स एव हि विषयः, परिहासोपहासवाची तु यदा स्यात्तदा कंचिद्विषयमपि कुर्यान्नाम स तु नात्रोपादीयत इति भावः।।७।।*

● ***अनुवाद–हास्यभक्तिरस;*** **आगे कहे जाने वाले विभावादि के द्वारा हास–रति पुष्ट होकर पण्डितजनों द्वारा 'हास्यरस' नाम से कही जाती है।।६।।**

इस हास्यरस में श्रीकृष्ण तथा उनके आनुगत्य में चेष्टाशील अन्य व्यक्ति भी आश्रयालम्बन हो सकते हैं ! पण्डितजन वृद्ध तथा बालक प्रमुख व्यक्तियों

को ही प्रायः हासरति का आश्रय कहते हैं। विभावादि की विशेषता होने पर समय विशेष पर श्रेष्ठ व्यक्ति हासरति के आश्रय भी हो जाते हैं।।७।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–जैसा कि पहले (२।५।५ में) कहा जा चुका है परार्था रति के विषयरूप में तथा उस परार्था रति द्वारा प्रकाशित हास के हेतुरूप में श्रीकृष्ण इस हास्यभक्तिरस के विषयालम्बन होते हैं। और श्रीकृष्ण के अनुगत्य में रहने वाले इस रति के आश्रय रूप में तथा इस रति के हेतुरूप में आश्रय आलम्बन होते हैं। किन्तु श्रीपाद जीवगोस्वामी जी ने कहा है, हास चित्त का विलास मात्र है। अतः इसका विषयालम्बन नहीं है। जिसके उद्देश्य में रति प्रवर्तित होती है, वही इसका विषय है। हास शब्द परिहास एवं उपहास वाची होने से कदाचित् विषय रहने पर भी कुछ उपादेय नहीं है।

तत्र कृष्णो, यथा–

१–यास्याम्यस्य न भीषणस्य सविधं जीर्णस्य शीर्णाकृते–
र्मातर्नेष्यति मां पिधाय कपटादाधारिकायामसौ।
इत्युक्त्वा चकिताक्षमद्भुतशिशावुद्वीक्ष्यमाणे हरौ
हास्यं तस्य निरुन्धतोऽप्यतितरां व्यक्तं तदाप्यसीन्मुनेः।।८।।

● *अनुवाद–कृष्ण विषय–आलम्बन*–(माता–यशोदा से श्रीकृष्ण ने कहा)–हे **माता ! मैं इस गन्दे, भयानक आकृति बूढ़े बाबा के पास नहीं जाऊँगा। यह तो मुझे छलपूर्वक अपनी भिक्षा की झोली में डाल कर ले जाएगा। इस प्रकार कहकर अद्भुत बालक कृष्ण चकित नेत्रों से इधर–उधर देखने लगे। तब बहुत रोकने पर भी श्रीनारद मुनि अपनी हँसी को रोक न सके।।८।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–(यहाँ हास्यजनक वाक्य उच्चारणकारी तथा हास्यजनक आचरणकारी श्रीकृष्ण श्रीनारद मुनि के हास्य के विषयालम्बन हैं एवं श्रीनारद आश्रयालम्बन। श्रीकृष्ण के वाक्य एवं आचरण उद्दीपन हैं। होंठों–कपोलों का स्पन्दन अनुभाव है तथा हर्ष तथा हास्य सम्वरण चेष्टा अवहित्था नामक संचारी भाव है।

अथ तदन्वयी–

८–यच्चेष्टा कृष्णविषया प्रोक्तः सोऽत्र तदन्वयी।।६।।

यथा, २–ददामि दधि फाणितं विवृणु वक्त्रमित्यग्रतो
निशम्य जरतीगिरं विवृतकोमलौष्ठे स्थिते।
तया कुसुममर्पितं नवमवेत्य भुग्नानने
हरौ जहसुरुद्धुरं किमपि सुष्ठु गोष्ठार्भकाः।।१०।।

यथा वा, ३–अस्य प्रेक्ष्य करं शिशोर्मुनिपते ! श्यामस्य मे कथ्यतां
तथ्यं हन्त चिरायुरेष भविता किं धेनुकोटीश्वरः।
इत्युक्ते भगवन् ! मयाद्य परितश्चीरेण किं चारुणा
द्रागाविर्भवदुद्धुरस्मितमिदं वक्त्रं त्वया रुध्यते ?।।११।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*फाणितं खण्डविकृतिः, दधिमिश्रितं फाणितं दधिफाणितं, कोमलेति बाल्यं व्यञ्जितम्।।१०।।*

● *अनुवाद–तदन्वयी आश्रयालम्बन;* जिसकी चेष्टा कृष्ण–विषया हो, अर्थात् जिसकी चेष्टा श्रीकृष्ण के अनुगत होती है, उसे 'तदन्वयी' कहते हैं।।६।।

उदाहरण–किसी एक वृद्धा ने श्रीकृष्ण को कहा, कृष्ण ! मैं तुमको दधिमिश्रित बतासा दूँगी, मुख खोल। सामने खड़ी उस वृद्धा के वचन सुनकर श्रीकृष्ण ने अपने कोमल होठों को खोल दिया। उस वृद्धा ने उनके मुख में एक नवीन फूल दे दिया। श्रीकृष्ण को मुख सुकोड़ता देखकर पास खड़े व्रजबालकगण बड़े जोर से हँसने लगे।।१०।।

हे मुनिराज ! आप मेरे इस श्याम शिशु का हाथ देखकर सत्य बताइये कि यह दीर्घायु होकर कोटि धेनुओं का अधिपति होगा कि नहीं–मेरी इस बात को सुनकर आपने अपने हँसते मुख को मनोरम वस्त्र से ढक लिया है ?।।११।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–श्लोक सं० १० में वृद्धा विषयालम्बन है, व्रजबालकगण आश्रयालम्बन हैं। श्रीकृष्ण मुख की कुटिलता उद्दीपन है। हास्यजनित होंठ–कपोल आदि का स्पन्दन अनुभाव हैं एवं हर्ष संचारी भाव है। वृद्धा की चेष्टा, कृष्णविषया होने से वृद्धा 'तदन्वयी–आलम्बन' है।।

९–उद्दीपना हरेस्तादृग्वाग्वेषचरितादयः
अनुभावास्तु नासौष्ठगण्डनिष्पन्दनादयः।।१२।।
१०–हर्षालस्यावहित्थाद्या विज्ञेया व्यभिचारिणः।
सा हासरतिरेवात्र स्थायिभावतयोदिता।।१३।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*उद्दीपना इत्यत्र हरिरित्युपलक्षणं तदन्वयिनोऽपि ज्ञेयाः।।१२।।*

● *अनुवाद–उद्दीपन;* श्रीकृष्ण का उस प्रकार का वेष और चरित आदि हास्य के उद्दीपन–विभाव हैं नाक, होंठ तथा कपोलों का स्पन्दन आदि इस रस के अनुभाव हैं।।१२।।

हर्ष, आलस्य, अवहित्था (अकारण–गोपन) आदि हास्यरस के व्यभिचारि भाव समझने चाहिए। हासरति ही हास्यरस का स्थायी–भाव मानी गई है।।१३।।

११–षोढा हासरतिः स्यात् स्मितहसिते विहसितावहसिते च।
अपहसितातिहसितके ज्येष्ठादीनां क्रमाद् द्वे द्वे।।१४।।
१२–विभावनादिवैचित्र्यादुत्तमस्यापि कुत्रचित्।
भवेद्विहसिताद्यंच भावज्ञैरिति भण्यते।।१५।।

● *अनुवाद–छः प्रकार की हास्यरति;* स्मित, हसित, विहसित अवहसित, अपहसित एवं अति हसित–भेदों से हासरति छः प्रकार की है। ज्येष्ठ, मध्यम एवं कनिष्ठ भेद से दो–दो करके प्रकाशित होती है अर्थात् ज्येष्ठ व्यक्ति में स्मित एवं हसित, मध्यम व्यक्ति में विहसित तथा कनिष्ठ वयक्ति में अपहसित एवं अतिहसित रूप में प्रकाशित होती है।।१४।।

भावज्ञ लोगों का कहना है कि विभावनादि की वैचित्री के कारण कहीं–कहीं उत्तम व्यक्ति में भी विहसितादि हासरति प्रकाशित होती है।।१५।।

तत्र स्मितम्–

१३–स्मितं त्वलक्ष्यदशनं नेत्रगण्डविकाशकृत्।।१६।।

यथा, ४–क्व यामि जरती खला दधिहरं दिधीर्षन्त्यसो
प्रधावति जवेन मां सुबल ! मङ्क्षु रक्षां कुरु।
इति स्खलदुदीरिते द्रवति कान्दिशीके हरा
विकस्वरमुखाम्बुजं कुलमभून्मुनीनां दिवि।।१७।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*सुबल हे सुष्ठुबल ! इति किंचिद्बलिष्ठं ज्येष्ठभ्रातरं प्रति सम्बोधनं, न तु सुबलसंज्ञं तत्समवयस्कं प्रति, कान्दीशीके भयद्रुते, द्रवतीति द्रवस्यातिशय बोधनाय।।१७।।*

● *अनुवाद*–(छः प्रकार की हासरति होने के कारण हास्यरस भी छः प्रकार का है। प्रत्येक का सोदाहरण वर्णन करते हैं)।

स्मित–जिस हास्य में दाँत नहीं दीखते, किन्तु नेत्रों तथा कपोलों पर प्रफुल्लता दीखे, उसे स्मित (मन्दमुसकान) कहते हैं।।१६।।

उदाहरण; श्रीकृष्ण ने कहा, हे सुबल ! अर्थात् सुष्ठुबल विशिष्ट भ्राता हे बलराम ! मैंने दधि चुराया है, ऐसा जानकर दुष्ट स्वभाव यह वृद्धा मुझे पकड़ने के लिए मेरे पीछे अति वेगपूर्वक भागती आ रही है, मैं अब कहाँ जाऊँ ? आप मेरी शीघ्र रक्षा कीजिए, यह कहकर भय से भागते हुए श्रीकृष्ण को देखकर स्वर्गवासी मुनियों के मुख मन्द मुसकान से विकसित हो उठे।।१७।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–उपर्युक्त चेष्टा विशिष्ट श्रीकृष्ण यहाँ विषयालम्बन हैं, स्वर्गवासी ज्येष्ठ मुनिगण आश्रयालम्बन हैं। श्रीकृष्ण के वाक्य एवं आचरण उद्दीपन हैं, मुनियों के मन्द मुसकान के कारण नेत्र–कपोलों का स्पन्दन अनुभाव हैं। दन्तगोपन (अमुक्त) व्यभिचारि भाव है।

हसितम्–

१४–तदेव दरसंलक्ष्यदन्ताग्रं हसितं भवेत्।।१८।।

यथा–५–मद्वेषेण पुरः स्थितौ हरिरसौ पुत्रोऽहमेवास्मि ते
पश्येत्यच्युतजल्पविश्वसितया संरम्भरज्यद्दृशा।
मामेति स्खलदक्षरे जटिलया व्याक्रुश्य निष्कासित
पुत्रे प्रांगणतः सखीकुलमभूद्दन्तांशुधौताधरम्।।१६।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*मद्वेशेनेति दूरमायान्तमदृष्ट स्ववेशि–श्रीकृष्णं श्रीराधिकायाः पतिंमन्युं जटिलायाः पुत्रमभिमन्युं दृष्ट्वा तद्वेशेन तदगृहं गतस्य श्रीकृष्णस्य तां प्रति वचनं, निष्कासिते दूरत एव विद्राविते। तस्या वातुलतामाशङ्क्य स्वबन्धूनामानयनार्थं तस्य विद्रुतत्वात्।।१६।।*

● *अनुवाद–हसित;* जिस हास्य में दाँतों का अगला भाग थोड़ा सा दीखता है, 'उसे "हसित" कहते हैं।।१८।।

उदाहरण–(श्रीराधिका का पतिमन्य जटिला का पुत्र अभिमन्यु अपने घर आ रहा था) किन्तु श्रीकृष्ण पहले ही उसका वेश धारण कर उसके घर में आ चुके थे। अभिमन्यु को यह बात पता नहीं थी। अभिमन्यु को दूर से आता

देखकर अभिमन्यु–वेशधारी श्रीकृष्ण ने जटिला को कहा)–माँ ! मैं तुम्हारा पुत्र अभिमन्यु तुम्हारे पास बैठा हूँ, देख, मेरा वेश धारण कर कृष्ण सामने आ रहा है। यह बात सुनकर जटिला ने वैसा ही विश्वास कर क्रोध में भर कर 'माँ–माँ' कहते हुए अपने पुत्र अभिमन्यु को घर के प्रांगण से बाहर निकाल दिया। यह देखकर श्रीराधा की सखीगण के अधर दन्त–कान्ति से उज्ज्वल हो उठे। यह हसित का उदाहरण है)।।१६।।

विहसितम्–

१५–सस्वनं दृष्टदशनं भवेद्विहसितं तु तत्।।२०।।

यथा, ६–मुषाण दधि मेदुरं विफलमन्तराशंकसे
सनिःश्वसितडम्बरं जटिलायाऽत्र निद्रायते।
इति ब्रुवति केशवे प्रकटशीर्णदन्तस्थलं
कृतं हसितमुत्स्वनं कपटसुप्तया वृद्धया।।२१।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*कपटसुप्तयेत्यनेन तयेति पूर्वोक्त स्वारस्याल्लभ्यते, सुप्तयाऽप्येतयेति वा पाठः।।२१।।*

● *अनुवाद*–विहसित; जिस हास्य में हँसने की आवाज भी सुनी जाती है एवं दाँत दीखते हैं, उसे 'विहसित' कहते हैं।।२०।।

उदाहरण; श्रीकृष्ण ने सुबल से कहा, सखे ! जा स्निग्ध दधि चुरा ला, घर में घुसने में कोई भय नहीं करना। जटिला उत्कट निश्वास भरते हुए–खर्राटे लेते हुए नींद में पड़ी है। श्रीकृष्ण की यह बात सुनकर कपट कर सोई जटिला दाँत खोलकर जोर से हँसने लगी।।२१।।

अवहसितम्–

१६–तच्चावहसितं फुल्लनासं कुंचितलोचनम्।।२२।।

था, ७–लग्नस्ते नितरां दृशोरपि युगे किं धातुरागो घनः
प्रातः पुत्र ! बलस्य वा किमसितं वासस्त्वयांगे धृतम्।
इत्याकर्ण्य परो व्रजेशगृहिणीवाचं स्फुरन्नासिका
दूती संकुचदीक्षणावहसितं जाता न रोद्धुं क्षमा।।२३।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*लग्नस्त इत्यादौ पुत्रेत्यत्र मित्रेति व्रजेशगृहिणी–वाचमित्यत्र च धृतार्जव–सुहृद्वाचमिति वा पाठान्तरं ज्ञेयम्।।२३।।*

● *अनुवाद–अवहसित,* जिस हास्य में नासिका प्रफुल्लित और नेत्र कुंचित हो जाते हैं, उसे 'अवहसित' कहते हैं।।२२।।

उदाहरण–(श्रीकृष्ण प्रातःकाल केलि निकुंज से जब घर में लौटे, तो देखकर माता यशोदा ने कहा)–हे पुत्र ! तुम्हारे नेत्रों में क्या यह गाढ़ा धातुराग लग रहा है ? तुमने क्या बलराम का नीलाम्बर धारण कर रखा है ? व्रजेश्वरी की यह बात सुनकर दूती की नासिका प्रफुल्लित हो उठी और नेत्र कुंचित हो गए तथा वह अपनी अवहसित (हाँसी) छिपा न सकी।।२३।।

अपहसितम्–

१७–तच्चापहसितं साश्रुलोचनं कम्पितांसकम्।।२४।।

यथा, ८— उदस्त्रं देवर्षिर्दिवि दरतरंगद्भुजशिरा
यदभ्राण्युद्दण्डो दशनरुचिभिः पाण्डुरयति।
स्फुटं ब्रह्मादीनां नटयितरि दिव्ये व्रजशिशौ
जरत्याः प्रस्तोभान्नटति तदनैषीद् दृशमसौ।।२५।।

● *अनुवाद—अपहसित;* जिस हास्य में नत्रों में अश्रु भर आते हैं और कन्धे काम्पने लगते हैं, उसे 'अपहसित' कहते हैं।।२४।।

उदाहरण; जो स्पष्टरूप से ब्रह्मादि देवताओं को भी नचाने वाला है, वही दिव्य—सच्चिदानन्द व्रजबालक श्रीकृष्ण (कन्हैया ! नाच तुमको माखन दूँगी'—इस प्रकार के) वृद्धा गोपियों के प्रलोभन वचनों में मुग्ध होकर नृत्य कर रहा है, यह देखकर हाँसी के मारे स्वर्ग स्थित देवर्षि श्रीनारद की दोनों भुजाएँ एवं मस्तक झूमने लगे, स्कन्ध काँपने लगे उनके नेत्रों में प्रेमाश्रु भर आए, हँसने के कारण चमकते हुए दाँतों की उज्ज्वल ज्योति से मेघ भी शुभ्रवर्ण के हो उठे। श्रीनारद ने अपने उन सजल नेत्रों से नृत्य परायण श्रीकृष्ण के दर्शन किये।।२५।।

अतिहसितम्—

१८—सहस्ततालं क्षिप्तांगं तच्चातिहसितं विदुः।।२६।।

यथा, ६—वृद्धे ! त्वं वलिताननासि बलिभिः प्रेक्ष्य स्वयोग्यामत
स्त्वामुद्वोढुमसौ बलीमुखवरो मां साधयत्युत्सुकः।
आभिर्विप्लुतधीर्वृणे न हि परं त्वत्तो बलिध्वंसना—
दित्युच्चैर्मुखरागिरा विजहसुः सोत्तलिका बालिकाः।।२७।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*वलिः कुंचितचर्म, बलीमुखो वानरः, साधयति साधनाय प्रेरयतीति द्विर्णिचप्रत्ययात् आभिर्बलिभिर्विप्लुता उपप्लुता धीर्यस्याः बलिन— स्तृणावर्त्तपूतनादयस्तेषां ध्वंस कर्तुः।।२७।।*

● *अनुवाद—अतिहसित;* ताली बजाकर हाथ—पैर फैंकते हुए हँसने को विद्वान् 'अतिहसित' कहते हैं।।२६।।

उदाहरण—(श्रीकृष्ण ने मुखरा से कहा)—हे वृद्धे ! तुम वलितानन हो रही हो, अर्थात् मुख पर झुर्रियाँ पड़ जाने से तुम बन्दरी जैसी लग रही हो, यह वानरराज तुम्हें अपने योग्य देखकर तुम्हारे साथ विवाह करने को उत्सुक हो रहा है और (तुम्हें सम्मत करने के लिए) मेरी साधना कर रहा है। श्रीकृष्ण के यह वचन सुनकर मुखरा बोली—मैं इस बानर द्वारा अधीर बुद्धि हो रही हूँ अथवा झुर्रियों के कारण मेरी बुद्धि बिगड़ रही है, अतः बलिध्वंसी, पूतना— तृणावर्तादि के ध्वंसकर्ता तुम्हें छोड़ कर और किसी के साथ मैं विवाह नहीं करूँगी; वृद्धा की यह बात सुनकर समीपवर्ती समस्त बालिकाएँ ताली बजाकर जोर से हँसने लगीं।।२७।।

१६—यस्य हासः स चेत् क्वापि साक्षान्नैव निबध्यते।
तथाप्येष विभावादिसामर्थ्यादुपलभ्यते।।२८।।

यथा, १०—शिम्बीलम्बिकुचासि दर्दुरवधूविस्पर्धिनासाकृति—
स्त्वं जीर्यद्‌दुलिदृष्टिरोष्ठतुलितांगारा मृदंगोदरी।
का त्वत्तः कुटिले ! परास्ति जटिलापुत्रि ! क्षितौ सुन्दरी
पुण्येन व्रजसुभ्रुवां तव धृत्तिं हर्त्तुं न वंशी क्षमा।।२६।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*दुलिः कमठी।।२६।।*

● *अनुवाद*—जिसका हास है, उसका यदि कभी स्पष्ट रूप से वर्णन न किया जाए, तो भी विभावादि की सामर्थ्य से उसकी प्रतीति हो ही जाती है।।२८।।

उदाहरण—हे कुटिले जटिला—पुत्रि ! तेरे स्तन लौकी की भाँती लटक गए हैं, नाक की आकृति में मेंढ़की के समान दीखती है। तेरी दृष्टि वृद्ध कच्छवी के समान और होंठ कोयले के समान काले हैं। तेरा पेट मृदंग के समान है। इसलिए, हे जटिलापुत्रि ! संसार में तुमसे बढ़कर और सुन्दरी कौन हो सकती है ? किन्तु व्रजसुन्दरियों के सौभाग्य से श्रीकृष्ण की वंशीध्वनि तुम्हें मोहित नहीं कर सकी, (वरना वे श्रीकृष्ण व्रजसुन्दरियों को थोड़े ही पूछते, तुम्हारे पीछे ही लगे घूमते)। यहाँ स्पष्ट हँसना नहीं किन्तु कुटिला जो हास्य का विषय है यह बात सहज में समझी जा सकती है।।२६।।

२०—एष हास्यरसस्तत्र कैशिकीवृत्तिविस्तृता
श्रृंगारादिरसोद्भेदो बहुधैव प्रपंचितः।।३०।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*तत्र भरतादिनिबन्धे स्वकृतनाटकलक्षणे च।।३०।।*

● *अनुवाद*—यह हास्यरस भरत—नाट्य शास्त्रादि में कैशिकी वृत्ति के विस्तार में श्रृंगारादि रसों के सम्बन्ध में अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है।।३०।।

इति श्रीभक्तिरसामृतसिन्धौवुत्तरविभागे गौणभक्तिरस निरूपणे हास्यभक्तिरस लहरी प्रथम।।१।।

● ● ●

द्वितीय-लहरी : अद्‌भुतभक्तिरसाख्या

१—आत्मोचितैर्विभावाद्यैः स्वाद्यत्वं भक्तचेतसि।
सा विस्मयरतिर्नीताद्‌भुतभक्तिरसो भवेत्।।१।।
२—भक्तः सर्वविधोऽप्यत्र घटते विस्मयाश्रयः।
लोकोत्तरक्रियाहेतुर्विषयस्तत्र केशवः।।२।।
३—तस्य चेष्टाविशेषाद्यास्तस्मिन्नुद्दीपना मताः।
क्रियास्तु नेत्रविस्तारस्तम्भाश्रुपुलकादयः।।३।।
४—आवेगहर्षजाड्याद्यास्तत्र स्युर्व्यभिचारिणः।
स्थायी स्याद्विस्मयरतिः सा लोकोत्तरकर्मतः
साक्षादनुमितं चेति तच्च द्विविधमुच्यते।।४।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*भक्त इति सार्द्धत्रयेणाद्भुतस्य परिकरानाह— विस्मयाश्रयो विस्मयरतेराश्रय इत्यर्थः, विषयस्तस्या एव विषय इत्यर्थः, विस्मयश्चेदं कथं जातमिति हेत्वसम्भावनामयी बुद्धिः, एताभ्यां द्वयोरप्यालम्बनविभावत्वं दर्शितं, विषय इत्यत्र विभव इति पाठो लिखनभ्रमात्।।२।। लोकोत्तरकर्मत इत्युपलक्षणं तादृशरूपगुणाभ्यां च, किन्तु लोकोत्तर तत्प्रेमहेतुर्भूतश्चेत्तदा सोऽपि तद्वज्ज्ञेयः; यथा–(भा० १०।६।२०) "नेमं विरिञ्चो न भव "इत्यादौ, (भा० १०।१२।११) "इत्थं सतां ब्रह्मसुखेत्यादौ" (भा० १०।४७।६०) "नायं श्रियोऽङ्गेत्यादौ च"।।४।।*

● *अनुवाद*—अपने योग्य विभावादि के द्वारा विस्मयरति यदि भक्त के चित्त में आस्वाद्यता को प्राप्त करती है, तो उसे 'अद्भुत भक्तिरस' कहते हैं।।१।।

सब प्रकार के भक्त अद्भुत—भक्तिरस के आश्रयालम्बन हैं और लोकातीत लीलाओं के कारण श्रीकृष्ण इस भक्तिरस के विषयालम्बन हैं।।२।।

श्रीकृष्ण की विशेष चेष्टाएँ इस रस में उद्दीपन होती हैं। नेत्रविस्तार, स्तम्भ, अश्रु एवं पुलकादि इसमें क्रियाएँ या अनुभाव होते हैं।।३।।

आवेग, हर्ष, जड़तादि व्यभिचारि भाव हैं तथा लोकातीत क्रियाओं का कारण विस्मयरति इस रस का स्थायीभाव है। साक्षात् और अनुमान भेद से विस्मयरति दो प्रकार की है।।४।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—लोकोत्तर—क्रिया का उल्लेख यहाँ उपलक्षण है। लोकातीत रूप, गुणादि से भी विस्मय—रति उदित होती है। असम्भावनामयी बुद्धि से विस्मय का उदय होता है। जो क्रिया लौकिक जगत् में नहीं दीखती, जो रूप एवं गुण इस जगत् में कहीं भी नहीं देखे जाते उस प्रकार के क्रिया, रूप एवं गुणों को देखकर मन में प्रश्न उठता है—यह कैसे सम्भव हो सकता है ? इस प्रश्न का जब कुछ भी समाधान नहीं होता, तब विस्मय का उदय होता है। श्रीकृष्ण के इस प्रकार के क्रिया, रूप एवं गुणों को देखकर जो विस्मय उदित होता है, वही अद्भुत भक्तिरस का स्थायी भाव है। विस्मयरति दो प्रकार की है। १. साक्षात् एवं २. अनुमानित। इनका आगे वर्णन करते हैं—

तत्र साक्षात्, यथा—

५—साक्षादैन्द्रियकं दृष्टश्रुतसंकीर्तितादिकम्।।५।।

तत्र दृष्टं, यथा—

१—एकमेव विविधोद्यमभाजं मन्दिरेषु युगपन्निखिलेषु।
द्वारकामभि समीक्ष्य मुकुन्दं स्पन्दनोज्झिततनुर्मुनिरासीत्।।६।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*एकमिति। एकवपुषमेव सन्तमित्यर्थ, तस्मान्मुनिरत्र श्रीनारदः, अतएव कायव्यूहसमर्थानामपि तद्विधानां विस्मयः।।६।।*

● *अनुवाद—साक्षात् विस्मयरति;* इन्द्रियों से पैदा होने वाले ज्ञान को 'साक्षात्' कहते हैं। वह तीन प्रकार का है—नेत्रों से देखा हुआ, कानों से सुना हुआ एवं वाणी द्वारा कहा हुआ इत्यादि।—इस प्रकार के इन्द्रियजन्य ज्ञान से जो विस्मय—रति होती है, उसे 'साक्षात्—विस्मयरति' कहते हैं।।५।।

दृष्ट–विस्मयरति का उदाहरण; **द्वारका में प्रत्येक महिषी के मन्दिर में एक ही वपु से श्रीकृष्ण की विविध चेष्टाओं में लगा देखकर श्रीनारद मुनि का शरीर (विस्मय के कारण) स्पन्दरहित–जड़ता को प्राप्त हो गया है।।६।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–नरकासुर के वध के पश्चात् श्रीकृष्ण सोलह हजार राजकन्याओं को द्वारका ले आए एवं एक ही शरीर से एक ही समय पृथक्–पृथक् भाव से उन्होंने विवाह किया। यह सुनकर श्रीनारद जी विस्मित हो उठे–यह कैसी अद्‌भुत बात, द्वारका में श्रीनारद जी आए और एक–एक महिषी के महल में गए। प्रत्येक महल में श्रीकृष्ण को देखा और हर महल में भिन्न–भिन्न कार्य करते देखा–कहीं रानी द्वारा सेवित हो रहे हैं, कहीं पाशा खेल रहे हैं, कहीं छोटे शिशुओं को खिला रहे हैं। कहीं हवन–यज्ञ कर रहे हैं–इत्यादि। श्रीनारद जी के विस्मय की सीमा न रही और उनका शरीर स्तम्भित हो गया। उनके विस्मय का कारण था एक ही श्रीकृष्ण का एक ही वपु से भिन्न स्थानों पर भिन्न–भिन्न क्रियाओं में रत होना। यह श्रीनारद के लिए भी अद्‌भुत व्यापार था। वैसे तो योगी–सौभरादि मुनि लोग, स्वयं श्रीनारद भी अपने कायव्यूह रचने में समर्थ हैं; एक समय में अनेक देह धारण कर सकते हैं, परन्तु कायव्यूह में क्रियाएँ भिन्न–भिन्न नहीं होती। वहाँ क्रिया एक सी रहती है। श्रीकृष्ण के वे सब वपु उनका कायव्यूह नहीं थे किन्तु उनकी प्रकाश–मूर्तियाँ थीं। अतः श्रीनारद में इस अद्‌भुत क्रिया को देखकर असम्भावना बुद्धि पैदा होकर विस्मय उदय हुआ और उस विस्मयजात अद्‌भुत–भक्तिरस का उन्होंने आस्वादन किया।

यथोक्तं श्रीनारदेन श्रीदशमे–(१० ।६९ २)–

२–चित्रं वतैतदेकेन वपुषा युगपत्पृथक्।
गृहेषु द्वयष्टसाहस्रं स्त्रिय एक उदावहत्।।७।।

यथा वा,–३–क्व स्तन्यगन्धिवदनेन्दुरसौ शिशुस्त
गोवर्द्धनः शिखररुद्धघनः क्व चायम्।
भोः पश्य सव्यकर–कन्दुकिताचलेन्द्रः
खेलन्निव स्फुरति हन्त किमिन्द्रजालम्।।८।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*स्तन्यगन्धीति अत्राल्पाख्यायां समासान्त इत्प्रत्ययः अचलेन्द्रः पूर्वोक्त एव गोवर्द्धनः प्रकृतत्वात्, कन्दुकितं तमद्रिं कुवन्मुदं वहतीति वा पाठः।।८।।*

● *अनुवाद–दृष्ट, विस्मयरति के दो और उदाहरण*–**श्रीमद्भागवत (१० ।६९ ।२) में श्रीनारद ने कहा है–कैसा आश्चर्य है कि श्रीकृष्ण ने एक ही वपु से एक ही समय पृथक्–पृथक् महलों में सोलह हजार राजकन्याओं से विवाह किया।।७।।**

एक गोपी ने कहा; यशोदे ! देखो तो, कहाँ तो यह तुम्हारा स्तन्यदूध पान करने वाला शिशु कृष्ण, और कहाँ यह गोवर्द्धन पर्वत, जिसकी चेष्टाओं से मेघ रुक जाते हैं, कैसा है इन्द्रजाल की भांति यह आश्चर्य, इस बालक के बायें हाथ पर वह गिरिराज गेंद के समान शोभित हो रहा है।।८।।

श्रुतं यथा–

४–यान्यक्षिपन्प्रहरणानि भटाः स देवः प्रत्येकमच्छिनदमुनि शरत्रयेण।
इत्याकलय्य युधि कंसरिपोः प्रभाव स्फारेक्षणः क्षितिपतिः पुलकी तदासीत्।।६।।

संकीर्तितं, यथा–

५–डिम्भाः स्वर्णनिभाम्बरा घनरुचो जाताश्चतुर्बाहवा
वत्साश्चेति वदन् कृतोऽस्मि विवशः स्तम्भश्रिया पश्यत।
आश्चर्यं कथयामि वः शृणुत भोः प्रत्येकमेकैकशः
स्तूयन्ते जगदण्डवद्भिरभितस्ते हन्त पद्मासनैः।।१०।।

अनुमितं, यथा–

६–उन्मील्य व्रजशिशवो दृशं पुरस्ताद्भाण्डीरं पुनरतुल्य विलोकयन्तः।
सात्मानं पशुपटलीं च तत्र दावादुन्मुक्तां मनसि चमत्क्रियामवापुः।।११।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*भटा नरकस्यैकादशाक्षौहिणीसंख्याः; क्षितिपतिः श्रीपरीक्षित्।।६।। डिम्भा इति सत्यलोकसभायां श्रीब्रह्मवाक्यं, स्तम्भश्रिया पश्यतेत्येव पाठस्त्वेषामिष्टः, स्तूयन्त इति "वर्त्तमानसामीप्ये वर्त्तमानवद्वेति" न्यायेनाविलम्बदृष्टत्वं सूचयति।।१०।।*

● *अनुवाद–श्रुत विस्मयरति का उदाहरण;* नरकासुर की एकादश अक्षौहिणी सेना के सैनिकों ने जितने अस्त्र फैंके, श्रीकृष्ण ने केवल तीन बाणों से उन्हें काट फैलाया। युद्ध में श्रीकृष्ण के ऐसे अद्भुत प्रभाव को सुनकर महाराज परीक्षित् के दोनों नेत्र खुले से रह गये और वे पुलकित हो उठे।।६।।

संकीर्तित–विस्मयरति का उदाहरण–सत्य लोक में श्रीब्रह्मा ने कहा, सब बालक पीतवस्त्र धारण कर रहे हैं, घनश्याम एवं चतुर्भुज हैं एवं समस्त बछड़े भी उसी प्रकार सुसज्जित हो रहे हैं–यह बात कहते–कहते मैं स्तम्भ सम्पत्ति द्वारा विवशता को प्राप्त हो गया। देखो, अहो ! और एक आश्चर्य आपको सुनाऊँ, मैंने देखा कि उन सब पीतवसनधारी, घनश्याम व चतुर्भुज रूपधारी बालक–बछड़ों में हर एक की एक–एक पद्मासन जगदण्डनाथ ब्रह्मा चारों ओर से स्तुति कर रहे हैं। (ब्रह्म–मोहन लीला में श्रीब्रह्मा ने जो कुछ देखा, उसे सुनाते–सुनाते उनमें विस्मय–रति का उदय हुआ और वह अद्भुतरस में परिणत हो गई)।।१०।।

अनुमित–विस्मय रति का उदाहरण; फिर श्रीगोपबालकों ने जब नेत्रों खोले तो देखा कि उनके सामने ही भाण्डीरवन है, अर्थात् वे पुनः भाण्डीरवन में लौट आये हैं, यह भी देखा कि हम और समस्त गौएँ दावानल से बच गये हैं; इससे उनके मन में अतिशय विस्मय होने लगा।।११।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–एक बार श्रीकृष्ण–बलराम सखाओं के साथ गौएँ चराते हुए भाण्डरीवन में खेल रहे थे। गोएँ तृण चरती हुई कुछ दूर खाबड़ में चली गईं। अचानक चारों ओर से दावाग्नि लग गई। गौएँ अपनी जगह पर इधर–उधर भागने लगीं और गोप–बालक भयभीत होकर चीत्कार करते–करते भाण्डीरवन से दूर भाग निकले। किन्तु वहाँ तो चारों ओर से अग्नि लग रही थी।

श्रीकृष्ण से जब गोपबालकों ने रक्षा की प्रार्थना की तो उन्होंने कहा—सब अपने नेत्र बन्द करो। सबके नेत्र बन्द करने पर श्रीकृष्ण ने उस दावानल का पान कर लिया। आँखें खोलने पर सबने अपने को भाण्डीरवन में गौओं सहित पाया। गोपबालकों ने इस प्रकार अपनी एवं गौओं की रक्षा देखकर श्रीकृष्ण में लोकातीत शक्ति का अनुमान किया, जिससे विस्मयरति उदित हुई और उन्होंने उससे उत्पन्न हुई अद्भुत भक्तिरस का आस्वादन किया।

६—अप्रियादेः क्रिया कुर्यान्नालौकिक्यापि विस्मयम्।
असाधारण्यपि मनाक् करोत्येव प्रियस्य सा।।१२।।
७—प्रियात् प्रियस्य किमुत सर्वलोकोत्तरोत्तरा।
इत्यत्र विस्मये प्रोक्ता रत्यनुग्रहमाधुरी।।१३।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*श्रीकृष्णे एवाद्भुतो रसः समुद्भूतः स्यादिति कथयन् सर्वमपि रसं विस्मयरतावेव प्रतिष्ठापयति, अप्रियादेरिति द्वयने। तदुक्तं "रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्रापीष्येते बुधैः। तस्मात् अद्भुतमेवाह कृति नारायणो रसमिति" मनागप्यसाधारणीति योज्यम्।।१२।।*

● **अनुवाद**—*उपसंहार* **करते हुए श्रीग्रन्थकार कहते हैं—जिसके प्रति—प्रीति नहीं है प्रत्युत द्वेष वर्तमान है उस अप्रिय व्यक्ति की अलौकिकी क्रिया भी विस्मय उत्पन्न नहीं करती। जिसके प्रति—प्रीति होती है, उस प्रिय व्यक्ति की अति थोड़ी सी असाधारणी क्रिया भी विस्मय का उदय करती है। सर्वत्र ऐसी रीति है। इसलिए प्रिय वस्तुओं की अपेक्षा सर्वप्रिय जो श्रीकृष्ण हैं, उनकी सर्वलोकोत्तरोत्तरा क्रिया जो विस्मय उत्पन्न करती, इसमें और क्या कहना ? इसलिए यहाँ विस्मयरस में रति—अनुग्रह माधुरी की बात का अर्थात् शान्तादिरति के अनुग्रह प्राप्त करने वाले विस्मयरस की माधुरी का वर्णन किया गया है।।१२—१३।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—श्रीपाद जीवगोस्वामी ने प्रीति—सन्दर्भ में लिखा है कि उन लोगों में भी विस्मयादि भाव एवं भगवत् प्रीतिमय रस देखा जाता है, जिनकी प्रीति श्रीकृष्ण में नहीं है। परन्तु वे लोग भाव प्रकटन में तथा रसास्वादन में केवल अनुकरण करने वाले हैं, अर्थात् वे दूसरों के भावोद्गम एवं रसास्वादन को देखकर उनका अनुकरण मात्र करने वाले हैं। वास्तविक उनमें भाव तथा रस का उदय नहीं होता, क्योंकि प्रीति ही भावोद्गम का तथा रसास्वादन का मुख्य कारण है। प्रीति के आविर्भाव के बिना भावोद्गम एवं प्रीतिमय रसास्वादन असम्भव है।

इति श्रीभक्तिरसामृतसिन्धावुत्तरविभागे गौणभक्ति निरूपणे अद्भुतभक्तिरस लहरी द्वितीया।।२।।

● ● ●

तृतीय-लहरी : वीरभक्तिरसाख्या

१–सैवोत्साहरतिः स्थायी विभावाद्यैर्निजोचितैः।
आनीयमाना स्वाद्यत्वं वीरभक्तिरसो भवेत्।।१।।
२–युद्ध–दान–दया–धर्मैश्चतुर्धा वीर उच्यते।
आलम्बन इह प्रोक्त एष एव चतुर्विधः।।२।।
३–उत्साहस्त्वेष भक्तानां सर्वेषामेव सम्भवेत्।।३।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*उत्साहः उत्साहरतिः, सर्वेषामिति कस्याचित् कश्चिदुत्साहभेदः स्यादित्यभिप्रायेण।।३।।*

● *अनुवाद*–स्थायी–भाव उत्साह रति जब अपने योग्य विभावादि के द्वारा आस्वादनीयता को प्राप्त होती है, तब उसे 'वीरभक्तिरस' कहते हैं।।१।।

वीर चार प्रकार के हैं–१. युद्धवीर, २. दानवीर, ३. दयावीर एवं ४. धर्मवीर। इस वीरभक्तिरस में ये चारों प्रकार के वीर ही आश्रयालम्बन हैं।।२।।

समस्त भक्तों में यह उत्साह सम्भव है।।३।। (आगे चारों प्रकार के वीरों तथा वीरभक्तिरस का सोदाहरण वर्णन करते हैं)–

तत्र युद्धवीरः–

४–परितोषाय कृष्णस्य दधदुसाहमाहवे।
सखा बन्धुविशेषो वा युद्धवीर इहोच्यते।।४।।
५–प्रतियोद्धा मुकुन्दो वा तस्मिन्वा प्रेक्षके स्थिते ।
तदीयेच्छावशेनात्र भवेदन्यः सुहृद्वरः।।५।।

तत्र कृष्णो, यथा–

१–अपराजितमानिनं हठाच्चटुलं त्वामभिभूय माधव !
धिनुयामधुना सुहृद्गणं यदि न त्वं समरात्पराञ्चसि।।६।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*यदि न त्वमिति यदि समरं त्यक्तुं छलेन सरात् परामुखो न भवसीत्यर्थः, स यदि त्वं समरं समंचसीति वा पाठः।।६।।*

● *अनुवाद–युद्धवीर;* श्रीकृष्ण के परितोष के लिए युद्ध में उत्साह रखने वाले सखा को तथा बन्धुविशेष को यहाँ 'युद्धवीर' कहा गया है।।४।।

प्रतियोद्धा श्रीकृष्ण हो, अथवा श्रीकृष्ण यदि दर्शक बन कर रहें, तब उनकी इच्छानुसार दूसरा भी कोई एक मित्र प्रतियोद्धा हुआ करता है।।५।।

प्रतियोद्धा–श्रीकृष्ण का उदाहरण; (किसी सखा ने कहा)–हे माधव ! तुम अति चंचल हो, क्योंकि ऐसा मानते हो कि तुम्हें कोई पराजित नहीं कर सकता। तुम यदि छलपूर्वक युद्ध से विमुख न होओ तो तुम्हें आज पराजित कर मैं सखाओं को परितुष्ट करूँगा।।६।।

यथा वा, २–संरम्भप्रकटीकृतप्रतिभटारम्भश्रियोः साद्भुतं
कालिन्दीपुलिने वयस्यनिकरैरालोक्यमानस्तदा।
अव्युत्थापितसख्योरपि वराहंकारविस्फूर्जितः
श्रीदाम्नश्च बकीद्विषश्च समराटोपः पटीयानभूत्।।७।।

सुहृद्वरो,

यथा–३–सखिप्रकरमार्गणानगणितान् क्षिपन् सर्वत–
स्तथाद्य लगुडं क्रमाद् भ्रमयति स्म दामा कृती।
अमंस्त रचितस्तुतिर्व्रजपतेस्तनुजोऽप्यमुं
समृद्धपुलको यथा लगुड़पंजरान्तः स्थितम्।।८।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*संरम्भेण कोपेनैव प्रकटीकृता प्रतिभटस्य प्रतियोद्–धुरारम्भश्रीर्याभ्यां, वस्तुतस्त्वव्युत्थापित–सख्ययोरविरोधितमैत्रयोरपि, श्रीदाम्नश्च बकीद्विषश्चेति श्रीदाम–बकीद्विषोर्द्वयोरित्यर्थः, एतदर्थवशादेव विशेषणानां द्वित्वम्। एतदुक्तं भवति चार्थः खलु चतुर्विधः–समुच्चयन्वाचयेतरेतरयोग–समाहारभेदेन, तत्र समुच्चयार्थश्चशब्दस्तत्तदर्थानां पृथक्–पृथक्ता व्यंजकः–यथा श्रीदामा च बकीद्विट् चागत इत्यत्रागतस्य पृथक्–पृथक् सम्बन्धः, अन्वाचयार्थश्च तथा, यथा बकीद्विषमानय यदि पश्यसि श्रीदामानं च; किन्तूत्तरनिर्द्दिष्टेनात्याग्रहं व्यंजयति–यथा श्रीकृष्णश्च लोकश्च दृश्यतामिति; तस्मात्समर्थशब्दोक्तपरस्परसम्बन्धार्थत्वाभावादनयोर्न द्वन्द्वसमासः कियते किन्तु तद्भावादुत्तरयोरेव, तत्र समाहारे समर्थत्वे सत्यपि मिलनमात्रवाचित्वेन तद्वतामवाचित्वात्प्रतिविशेषणान्वयित्वं स्यादेव। यथा पदकक्रमकव्यवहितमित्यादि, तद्वति वृत्तिस्त्वत्रोपचारादेव। अथेतरेतरयोगार्थश्च– शब्दस्तत्तत्प्रत्येकसंख्यासमुदयेन यावती तेषां संख्या स्यात्तावत्संख्यान्वितताव्यञ्जकः, तत्र च द्वन्द्वे श्रीदाम–बकीद्विषावागतावित्यत्र श्रीदामा च बकीद्विट् चेति द्वावागतावित्यर्थः, समुच्चयादस्यायमेव भेदः–यदि च समासे तथार्थः स्यात्तदा तद्विग्रहेऽपि स्याद् यमावलम्ब्यैव समासानामर्थः प्रवर्त्तते, द्वन्द्वसमासस्य च वैकल्पिकत्वात्केवलविग्रहोऽपि प्रयुज्यते ततश्च श्रीदामा च बकीद्विट् चागतावित्यपि स्यात्, यथा स च त्वं चाहं च पचाम इत्यत्र, "विप्रतिषेधे परं कार्यमिति" पाणिने "र्युगपद्वचने परः पुरुषाणामिति" सर्ववर्मणश्च न्यायेनोत्तमपुरुषेऽपि प्राप्ते बहुवचनं पूर्ववदेव स्यादिति साधु व्याख्यातं श्रीदामबकीद्विषोर्द्वयोरित्यादि।।७।। मार्गणा अत्र तूणपूर्णचर्मफलकबाणाः।।८।।*

● *अनुवाद*–(दूसरा उदाहरण) श्रीदाम एवं श्रीकृष्ण दोनों में अविरोधी मित्रता रहते हुए भी, वे दोनों क्रोधावेश के कारण प्रतियोद्धाओं की शोभा अर्थात् अपना–अपना विक्रम, अति शक्तिशीलता कालिन्दी पुलिन में प्रकाशित करने लगे। सखागण उसे अद्भुत भाव में देखने लगे। वे दोनों अहंकार पूर्वक गर्जन–तर्जन करते हुए महान् युद्ध करने लगे।।७।।

सखा के प्रतियोद्धा होने का उदाहरण; (एक बार सखागण खेल में परस्पर युद्ध करने लगे श्रीकृष्ण के परितोष के लिए)–चारों ओर से सब सखा रूई से भरे चमड़े के फर वाले विशेष प्रकार के अगणित बाण श्रीदाम पर छोड़ने लगे। तब श्रीदामा ने भी आज इस प्रकार लाठी घुमाई कि सब बाणों

को दूर फैंक दिया। देखकर व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण भी पुलकित होकर "धन्य–धन्य श्रीदामा" कहते हुए उसकी प्रशंसा करने लगे। श्रीकृष्ण ने ऐसा देखा मानो श्रीदाम लाठी के पिंजरे में सुरक्षित होकर अवस्थित हैं।। (यहाँ श्रीकृष्ण दर्शक हैं और उनकी इच्छानुसार सखागण योद्धा और श्रीदामा प्रतियोद्धा होकर क्रीड़ा कर रहे हैं।।८।।

६–प्रायः प्रकृतशूराणां स्वपक्षैरपि कर्हिचित्।
युद्धकेलिसमुत्साहो जायते परमाद्भुतः।।६।।

तथा च श्रीहरिवंशे–

४–तथा गाण्डीवधन्वानं विक्रीड़न्मधुसूदनः।
जिगाय भरतश्रेष्ठं कुन्त्याः प्रमुखतो विभुः।।१०।।इति।।

● *अनुवाद*–स्वभाव सिद्ध वीर व्यक्तियों में प्रायः कहीं–कहीं स्वपक्षियों, अपने जनों के साथ भी युद्ध क्रीड़ा का उत्साह पैदा होता है।।६।।

उदाहरण–(श्रीहरिवंश में)–क्रीड़ा करते–करते मधुसूदन श्रीकृष्ण ने कुन्तीदेवी के सामने भरत–श्रेष्ठ गाण्डीवधारी अर्जुन को पराजित कर दिया।।१०।।

७–कत्थितास्फोटविस्पर्धाविक्रमास्त्रग्रहादयः।
प्रतियोधस्थिताः सन्तो भवन्त्युद्दीपना इह।।११।।

तत्र कत्थिम् यथा–

५–पिण्डीशूर ! त्वमिह सुबलं कैतवेनाबलांगं
जित्वा दामोदर ! युधि वृथा मा कृथाः कत्थितानि।
माद्यन्नेष त्वदलघुभुजासर्प–दर्पापहारी
मन्द्रध्वानो नटति निकटे स्तोककृष्णः कलापी।।१२।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*पिण्डीशूरः भोजनमात्रपटुः, अबलांगमपि कैतवेन जित्वेत्यर्थः, कलापी तूणवान् सभूषणो वा पक्षे मयूरः।।१२।।*

● *अनुवाद*–प्रतियोद्धा के सामने आने पर अथवा उसके कथन द्वारा उसको प्रतियोद्धा जान लेने पर युद्धवीर रस में आत्मश्लाघा, ताल ठोकना, स्पर्द्धा (बराबरी) करना, विक्रम, अस्त्र धारण करना आदि उद्दीपन–विभाव हुआ करते हैं।।११।।

आत्मश्लाघा का उदाहरण– (कृष्ण का सखा स्तोक श्रीकृष्ण को कहने लगा)–ओ दामोदर ! तुम केवल भोजनमात्र में चतुर हो, छलपूर्वक सुबल को तुमने युद्ध में पराजित कर दिया है, और अधिक वृथा आत्मश्लाघा मत करो, तुम्हारे विशाल भुजा रूपी सर्प का दर्प हरण करने वाला गम्भीर–गर्जनकारी तनुधारी स्तोककृष्ण युद्ध के लिए उन्मत्त होकर तुम्हारे सामने ताल ठोक रहा है।।१२।।

८–कत्थिताद्याः स्वसंस्थाश्चेदनुभावाः प्रकीर्त्तिताः।
तथैवाहोपुरुषिकाक्ष्वेडिताक्रोशवल्गनम्।।१३।।

६–असहायेऽपि युद्धेच्छा समरादपलायनम्।
भीताभयप्रदानाद्या विज्ञेयाश्चापरे बुधैः।।१४।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*आहोपुरुषिका दर्पाद्या स्यात्सम्भावनात्मनि, क्ष्वेडितं सिंहनादः आक्रोशः साटोपवचनं, बल्गनं युद्धार्थो गतिविशेषः, युद्धेच्छा युद्धोद्यमः।।१४।।*

● *अनुवाद*–पूर्वोल्लिखित तालठोकनादि यदि स्वनिष्ठ हों अर्थात् प्रतियोद्धा के वाक्यों के बिना यदि अपने ज्ञान के विषय हों, तभी उन समस्त को अनुभाव कहा जाता है। और अपने पौरुष का अभिमान या अहंकारवश अपनी बहादुरी को प्रकाशित करना, सिंह की भाँति गर्जना, क्रोधयुक्त वचन, युद्ध के लिए गति विशेष अर्थात् पैंतरे बदलना, अकेले होने पर भी युद्ध के लिए उत्सुक होना, युद्ध से पीछे नहीं हटना तथा डरे हुए व्यक्ति को अभय प्रदान करना आदि युद्ध–वीररस के अनुभाव विद्वानों ने वर्णन किए हैं।।१४।।

तत्र कत्थितम् ६–

प्रोत्साहयतितरां किमिवाग्रहेण मां केशिसूदन ! विदन्नपि भद्रसेनम्।
योद्धुं बलेन सममत्र सुदुर्बलेन दिव्यार्गला प्रतिभटस्त्रपते भुजो मे।।१५।।

आहोपुरुषिका, यथा, ७–

धृताटोपे गोपेश्वरजलधिचन्द्रे परिकर
निबध्नत्युल्लासाद् भुजसमरचर्य्यासमुचितम्।
सरोमांचं क्ष्वेडानिबिडमुखबिम्बस्य नटतः
सुदाम्नः सोत्कण्ठं जयति मुहुराहोपुरुषिका।।१६।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*सरोमांचं सोत्कण्ठं च यथा स्यात्तथा नटत इति योज्यम्।।१६।।*

● *अनुवाद–अनुभाव रूप में कत्थित का उदाहरण;* हे केशिसूदन कृष्ण ! मैं भद्रसेन हूँ, यह (मेरे बल–वीर्य को) जानकर भी तुम किस लिए सुदुर्बल बलदेव के साथ युद्ध कराने के लिए मुझे बार–बार उत्साहित कर रहे हो ? इसके प्रतियोद्धा रूप में (अर्थात् बलदेव से युद्ध करने में) दिव्य अर्गल के समान मेरी ये भुजाएँ लज्जित हो रही हैं।।१५।।

अनुभावरूप में आहोपुरुषिका का उदाहरण; 'मैं ही सर्वोत्कृष्ट योद्धा हूँ'' –''इस प्रकार की दम्भोक्ति द्वारा श्रीनन्दराज रूप समुद्र से उत्पन्न चन्द्र–श्रीकृष्ण जब उल्लास पूर्वक बाहु युद्ध के उपयोगी भाव में अपने कमर के वस्त्र को कसने लगे, तब सिंहनाद द्वारा परिव्याप्त मुखमण्डल वाला सुदामा, पुलकित एवं नाचते हुए बारम्बार यह कहने लगा कि मैं ही सर्वोत्तम योद्धा हूँ, मेरे समान कोई भी नहीं है''–उसकी यह आहोपुरुषिका जययुक्त हो।।१६।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–श्रीबलदेव जी के साथ युद्धक्रीड़ा के लिए श्रीकृष्ण ने ही भद्रसेन को प्रेरणा दी। प्रतियोद्धा श्रीबलदेव जी ने कोई भी वचन नहीं कहा। अतः भद्रसेन की उपरोक्त (श्लोक सं० १५) गर्जना स्वनिष्ठ है, भद्रसेन की अपनी इच्छा से ही इसका उदय है। अतः यह स्वनिष्ठ गर्जना यहाँ अनुभाव

है श्लोक सं० १६ में सुदामा के वचन आहोपुरुषिका मय हैं अर्थात् अहंकार युक्त अपनी बहादुरी को प्रकाशित करने वाले होने से अनुभाव कहे गए हैं।।

१०—चतुष्टयेऽपि वीराणां निखिला एव सात्विकाः।
गर्वावेगधृतिव्रीडामतिहर्षावहित्थिकाः।
अमर्षोत्सुकताऽसूयास्मृत्याद्या व्यभिचारिणः।।१७।।
११—युद्धोत्साहरतिस्त्वस्मिन् स्थायिभावतयोदिता।
या स्वशक्तिसहायाद्यैराहार्या सहजापि वा।
जिगीषा स्थेयसी युद्धे सा युद्धोत्साह ईर्यते।।१८।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*यदत्र जिगीषेत्यादिभिर्युद्धोत्साहादयो लक्ष्यन्ते तच्च (२।५।५७) सत्वरा मानसी शक्तिरुत्साह इति पूर्वोक्तसामान्यलक्षणान्तर्गतमेव तत्रापि गाढेच्छामात्रस्य विवक्षितत्वात्।।१८।।*

● *अनुवाद*—युद्धवीर, दानवीर, दयावीर एवं धर्मवीर—इन चारों प्रकार के वीररस में अश्रु—कम्पादि समस्त भाव प्रकाशित होते हैं। गर्व, आवेग, धृति, लज्जा, मति, हर्ष, अवहित्था, अमर्ष, उत्सुकता, असूया एवं स्मृति आदि युद्धवीर रस के 'व्यभिचारि—भाव' हैं।।१७।।

स्वशक्ति द्वारा आहार्या, स्वशक्ति द्वारा सहजात, सहाय के द्वारा आहार्य तथा सहाय के द्वारा सहजात—ये जो युद्ध विषय में चार प्रकार की अत्यन्त स्थिर जय की इच्छा है, उसे 'युद्धोत्साह' कहते हैं—यही युद्धोत्साह—रति ही युद्धवीररस का स्थायी—भाव है।।१८।।

तत्र स्वशक्त्या आहार्योत्साहरतिर्यथा—

८—स्वताতशिष्ट्या स्फुटमप्यनिच्छन्नाहूयमानः पुरुषोत्तमेन।
स स्तोककृष्णो धृतयुद्धतृष्णः प्रोद्यम्य दण्डं भ्रमयांचकार।।१६।।

स्वशक्त्या सहजोत्साहरतिर्यथा—

६—शुण्डाकारं प्रेक्ष्य मे बाहुदण्डं मा त्वं भैषीः क्षुद्र ! रे भद्रसेन !
हेलारम्भेणाद्य निर्जित्य रामं श्रीदामाहं कृष्णमेवाह्वयेय।।२०।।
यथा वा, १०—बलस्य बलिनो बलात्सुहृदनीकमालोडयन्
पयोधिमिव मन्दरः कृतमुकुन्दपक्षग्रहः।
जनं विकटगर्जितैर्बधिरयन् स धीरस्वरो
हरेः प्रमदमेककः समिति भद्रसेनो व्यधात्।।२१।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*स्वस्य तातस्य शिष्ट्या 'हन्त त्वं सर्वजीवनेन युध्यसे धिक् त्वामिति' शासनेन, स्फुटमनिच्छन्नित्यर्थः, पाठान्तरं त्यक्तम्।।१६।। आह्वयेयेति स्पर्द्धायामात्मनेपदम्।।२०।। एकक "एकादाकिन् चासहाय" इति पाणिनिसूत्रात् कन् "एकाकीत्वेक एकक" इत्यमरः, एकल इति लेखक प्रमादात्।।२१।।*

● ***अनुवाद—स्वशक्ति द्वारा आहार्या उत्साहरति का उदाहरण***—(सारा जीवन तू युद्ध ही करते रहना—धिक्कार है)—इस प्रकार पिता द्वारा शासित होने पर स्तोककृष्ण युद्ध से स्पष्ट अनिच्छुक हो गया। किन्तु पुरुषोत्तम कृष्ण

ने जब उसे युद्ध के लिए ललकारा तब स्तोककृष्ण युद्ध करने के लिए तैयार हो गया और लाठी घुमाने लगा पिता के शासन द्वारा अनिच्छुक होते हुए भी (यहाँ स्तोककृष्ण ने अपनी शक्ति से ही युद्ध–उत्साह को प्रकाशित किया)।।१६।।

स्वशक्ति द्वारा सहजात उत्साह रति का उदाहरण; अरे नीच भद्रसेन ! मैं श्रीदामा हूँ, हाथी की सूण्ड के समान मेरी भुजाओं को देखकर तुम डरो मत। आज मैं खेल–खेल में बलराम को पराजित करने के पश्चात् श्रीकृष्ण को युद्ध के लिए ललकारूँगा। (यहाँ श्रीदामा का उत्साह सहजात है)।।२०।।

दूसरा उदाहरण–मन्दराचल पर्वत ने जैसे समुद्र का मन्थन किया था, उसी प्रकार श्रीबलदाऊ, बलराम–साथियों की सेना को बलपूर्वक मन्थन करते हुए श्रीकृष्ण–पक्षपाती उस भद्रसेन ने धीरस्वर (धीमे–धीमे बोलने वाला) होकर भी युद्ध में विकट गर्जना कर सखा–मण्डली को बहराकर दिया। इस प्रकार अकेले ही उसने श्रीकृष्ण का आनन्द विधान किया।।२१।।

सहायेनाहार्योत्साहरतिर्यथा–

११–मयि बल्गति भीमविक्रमे भज भंगं न हि संगरादितः।
इति मित्रगिरा वरूथपः सविरूपं विरुवन् हरिं ययौ।।२२।।

सहायेन सहजोत्साहरतिर्यथा–

१२–संग्रामकामुकभुजः स्वयमेव कामं
दामोदरस्य विजयाय कृती सुदामा।
साहाय्यमत्र सुबलः कुरुते बलि चे–
ज्जातो मणिः सुजटितो वरहाटकेन।।२३।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*सुजटित इति। जट झट संघात इत्यस्य क्तान्तप्रत्यय रूपं, जटिलित इति पाठास्तु नेष्टः, जटिलो हि पिच्छादित्वादिलश्च जटावाने–वाभिधीयते।।२३।।*

● *अनुवाद–सहायक के द्वारा आहार्य उत्साहरति का उदाहरण*–'अरे वरूथप ! मैं भयानक विक्रम के साथ युद्धक्षेत्र में कूद रहा हूँ, तुम डर कर युद्ध से भाग मत जाना''–इस प्रकार मित्र के वचन सुनकर वरूथप चिल्लाता हुआ युद्ध के लिए श्रीकृष्ण के पास गया।'' (यहाँ वरूथप ने अपने मित्र–सहायक के वचनों से ही उत्साह–रति प्राप्त की है)।।२२।।

दामोदर श्रीकृष्ण को युद्ध में पराजित करने के लिए संग्राम में उत्सुक भुजाओं वाला कृती सुदामा आप ही पर्याप्त है, उस पर भी बलवान् सुबल यदि सहायता करे तो कहना ही क्या ? मणि फिर स्वर्ण में जड़ित हो तो सर्वश्रेष्ठ है ही। (यहाँ श्रीदाम का उत्साह स्वाभाविक है। सुबल की सहायता से वह और भी उत्कर्ष को प्राप्त हुआ है)।

१२–सुहृदेव प्रतिभटो वीरे कृष्णस्य न त्वरिः।
स भक्तक्षोभकारित्वाद्रौद्रे त्वालम्बनो रसे।
स्वभावो दृगादीनां रौद्रादस्य विभेदकः।।२४।।

● *अनुवाद*–(आलम्बन–विभाव) युद्ध वीररस में श्रीकृष्ण के सुहृद ही प्रतियोद्धा होते हैं। श्रीकृष्ण के शत्रु कभी वीररस में प्रतियोद्धा नहीं हो सकते। भक्तों को क्षोभ देने वाले होने से रोद्ररस में ही शत्रुओं का आलम्बनत्व हुआ करता है। रौद्ररस तथा युद्ध–वीररस में यही भेद है कि रौद्ररस में क्रोधावेश के कारण नेत्रों में लाली उतर आती है, किन्तु युद्ध–वीररस में क्रोध नहीं रहता, इसलिए नेत्र में लाली भी नहीं आती।।२४।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–आलम्बन विभाव के सम्बन्ध में प्रीति–संदर्भ कहता है कि भवगत् प्रीतिमय युद्धवीर रस में योद्धा होते हैं श्रीभगवान् के प्रियतम भक्त। श्रीकृष्ण प्रियभक्तों के युद्धोत्साह से भगवत्–प्रीतिमय युद्ध की प्रवृत्ति होने से उस क्रीड़ामूलक युद्ध वीररस में योद्धा होते हैं श्रीभगवान् के प्रियतम भक्त। श्रीकृष्णप्रियभक्तों के युद्धोत्साह से भगवत्–प्रीतिमय युद्ध की प्रवृत्ति होने से उस क्रीड़ामूलक युद्ध में प्रति योद्धा या विपक्षी होते हैं श्रीकृष्ण। अथवा श्रीकृष्ण के सामने होते हैं श्रीकृष्ण के ही मित्रगण। वास्तव युद्ध में प्रतियोद्धा होते हैं श्रीकृष्ण के शत्रु। क्रीड़ायुद्ध में प्रति पक्ष के साथ श्रीकृष्ण जब प्रतियोद्धा होते हैं, तब भक्तों के कृष्ण–प्रीतिमय प्रबल युद्ध–इच्छा रूप उत्साह के विषय आलम्बन श्रीकृष्ण ही होते हैं। श्रीकृष्णप्रिय–व्यक्ति को छोड़कर और किसी के श्रीकृष्ण का प्रतियोद्धा होने पर (हास्यरस की भाँति) युद्ध वीररस श्रीकृष्ण–प्रीतिमय होने से उसमें भी श्रीकृष्ण ही मूल आलम्बन हुआ करते हैं। उनका प्रतिपक्ष युद्ध की इच्छा अंश में केवल बाहरी आलम्बन मात्र होता है; अर्थात् श्रीकृष्ण को कोई भी अप्रिय व्यक्ति यदि कभी भी हास्य का विषय हो, तो उसमें श्रीकृष्ण की अप्रियता का सम्बन्ध मानते हुए जैसे भक्त उस हास्यरस का आस्वादन करते हैं, उसी प्रकार युद्ध वीररस में भी श्रीकृष्ण का प्रतियोद्धा यदि श्रीकृष्ण का शत्रु मान करके ही भक्त युद्धवीर रस का आस्वादन करते हैं 'यह प्रतियोद्धा श्रीकृष्ण का वैरी है'–इस विश्वास में ही वह बैरी प्रतिपक्ष युद्ध वीररस का आलम्बन होते हुए भी श्रीकृष्ण ही मूल आलम्बन होते हैं और वैरी प्रतिपक्ष केवल युद्ध की इच्छा–अंश में बाहरी आलम्बन मात्र होता है। श्रीकृष्ण–प्रीतिमय युद्ध वीररस में, क्रीड़ारूप युद्ध में योद्धा अर्थात् विषयालम्बन एवं आश्रयालम्बन दोनों ही परस्पर मित्र होते हैं। सखा की सखा के साथ या मित्र की मित्र के साथ ही वह क्रीड़ा मात्र है।

अथ दानवीरः–

१३–द्विविधो दानवीरः स्यादेकस्तत्र बहुप्रदः।
उपस्थितदुरापार्थत्यागी चापर उच्यते।।२५।।

तत्र बहुप्रदः–

१४–सहसा दीयते येन स्वयं सर्वस्वमप्युत्।
दामोदरस्य सौख्याय प्रोच्यते स बहुप्रदः।।२६।।

● *अनुवाद*–दानवीर; दानवीर दो प्रकार के हैं–१. बहुप्रद (बहुत दान करने वाले) तथा २. उपस्थित दुर्लभ अर्थ या वस्तु का परित्याग करने वाले।।२५।।

बहुप्रद; जो श्रीकृष्ण के सन्तोष के लिए सहज में सर्वस्व पर्यन्त भी दान कर देते हैं, उन्हें 'बहुप्रद–दानवीर' कहा जाता है।।२६।।

१५–संप्रदानस्य वीक्षाद्या अस्मिन्नुद्दीपना मताः।
वाञ्छिताधिकदातृत्वं स्मितपूर्वाभिभाषणम्।।२७।।
१६–स्थैर्यदाक्षिण्यधैर्याद्या अनुभावा इहोदिताः।
वितर्कौत्सुक्यहर्षाद्या विज्ञेया व्यभिचारिणः।।२८।।
१७–दानोत्साहरतिस्त्वत्र स्थायिभावतयोदिता।
प्रगाढा स्थेयसी दित्सा दानोत्साह इतीर्यते।।२९।।

● *अनुवाद*–दानवीररस में सत्पात्र का दर्शन आदि उद्दीपन है। वांछित से भी अधिक दान देना, हास्यपूर्वक सम्भाषण, स्थिरता, चतुरता तथा धैर्यादि अनुभाव हैं। वितर्क, उत्सुकता तथा हर्ष आदि व्यभिचारि भाव होते हैं। दानोत्साह रति इस रस का स्थायीभाव है। स्थिरता एवं प्रगाढ़ दान–इच्छा का नाम है दान–उत्साह।।२७–२९।। (यहाँ दानी आश्रयालम्बन हैं, विभाव हैं, जिनको या जिसके कल्याणहित दान किया जाता है, वे श्रीकृष्ण हैं विषयालम्बन–विभाव)।

१८–द्विधा बहुप्रदोऽप्येष विद्वद्भिरिह कथ्यते।
यादाभ्युदयिकस्त्वेकः परस्तत्संप्रदानकः।।३०।।

तत्र आभ्युदयिकः–

१९–कृष्णस्याभ्युदयार्थं तु येन सर्वस्वमर्प्यते।
अर्थिभ्यो ब्राह्मणादिभ्यः स आभ्युदयिको भवेत्।।३१।।

यथा, १३–व्रजपतिरिह सूनोर्जातकार्थं तथासौ
व्यतरदमलचेताः संचयं नैचिकीनाम्।
पृथुरपि नृगकोर्तिः साम्प्रतं संवृत्तासी–
दिति निजगदुरुच्चैर्भूसुरा येन तृप्ताः।।३२।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*नृगकीर्तिः संवृतत्वे हेतुः–अमलचेताः, पुत्रस्वरूप–श्रीकृष्णस्योदयमात्रतत्परताया न तद्वल्लोकद्वयगतलाभ–प्रतिष्ठाकामनादोषयुक्त इत्यर्थः।।३।।*

● *अनुवाद*–बहुप्रद दानवीर फिर दो प्रकार के हैं–आभ्युदयिक तथा तत् सम्प्रदानक।।३०।।

आभ्युदयिक; श्रीकृष्ण के अभ्युदय अर्थात् कल्याण के लिए जो प्रार्थी ब्राह्मणादिक को अपना र्स्वस्व तक दान कर देते हैं; उन्हें 'आभ्युदयिक बहुप्रद–दानवीर' कहते हैं।।३१।।

उदाहरण; स्वीय पुत्र श्रीकृष्ण के जन्म लेने पर व्रजराज श्रीनन्द जी ने अमल चित्त से अर्थात् केवल मात्र श्रीकृष्ण कल्याण के लिए–अन्य कोई भी कामना न रखकर जातक के लिए अर्थात् सन्तान के कल्याण–उद्देश्य से समस्त उत्तम गौओं को ब्राह्मणों को दान कर दिया। उस दान से तृप्त होकर

ब्राह्मणगण उच्चस्वर से बोले—अब नन्दराज के इस दान से नृगराज की विस्तृत कीर्ति विलुप्त हो गई है।। (क्योंकि नृगराज असंख्य गौओं को दान करते थे इह लोक तथा परलोक के सुख—प्रतिष्ठा की कामना रख कर; किन्तु श्रीनन्दराज ने केवल श्रीकृष्ण के कल्याण के लिए ही ऐसा दान किया है)।।३२।।

अथ तत्संप्रदानकः—

२०—ज्ञातये हरये स्वीयमहन्ताममतास्पदम्।
सर्वस्वं दीयते येन स स्यात्तत्संप्रदानकः।।३३।।
२१—तद्दानं प्रीतिपूजाभ्यां भवेदित्युदितं द्विधा।।३४।।

● *अनुवाद—तत्सम्प्रदानक*—श्रीहरि की महिमा जान कर जो अहंता—ममता के आधार स्वरूप सर्वस्व को श्रीहरि को दान कर देते हैं, उन्हें 'तत्सम्प्रदानक बहुप्रद—दानवीर' कहते हैं। तत्सम्प्रदानक दान दो प्रकार के हैं—१. प्रीति—दान तथा २. पूजादान।।३३—३४।।

तत्र प्रीतिदानम्ः—

२२—प्रीतिदानं तु तस्मै यद्दद्याद बन्ध्वादिरूपिणे।।३५।।

यथा, १४—चार्चिक्यं वैजयन्तीं पटमुरुपुरटोद्भासुरं भूषणाना
श्रेणिं माणिक्यभाजं गजरथतुरगान् कर्बुरान्कर्बुरेण।
दत्वा राज्यं कुटुम्बं स्वमपि भगवते दित्सुरप्यन्यदुच्चै—
र्देयं कुत्राप्यदृष्ट्वा मखसदसि तदा व्याकुलः पाण्डवोऽभूत्।।३६।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*कुर्बुरेण सुवर्णेन, कर्बुरान्, मिश्रान् मखसदसि तदेति। अग्रयपूजावसर इति न व्याख्येयं; किन्तु सर्वविधिपूर्त्त्यनन्तर इत्येव, पूर्वस्य पूजान्तर्गतत्वाद्।।३६।।*

● *अनुवाद—प्रीतिदान*—बन्धुरूपी श्रीकृष्ण को जो दान करना है, उसका नाम 'प्रीति—दान' है।।३५।।

उदाहरण; राजसूय—यज्ञसभा में अग्र—पूजा के समय भगवान् श्रीकृष्ण को चन्दन—लेप, वैजन्ती (पंचवर्ण की जानु पर्यन्त लम्बी पुष्पमाला), सुनहरी कढ़ाई किए हुए रेशमी उत्कृष्ट वस्त्र, मणि—माणिक्य जटित भूषण, सोने के भूषणों से सुसज्जित हाथी, रथ, एवं घोड़े प्रदान करके राज्य, कुटुम्ब तथा आत्मपर्यन्त दान करने के इच्छुक होकर जब उनसे भी बढ़कर उत्कृष्ट कोई वस्तु देने योग्य न देख पाये तब राजा युधिष्ठिर अत्यन्त व्याकुल हो उठे।।३६।।

पूजादानम्ः—

२३—पूजादानं तु तस्मै यद्विप्ररूपाय दीयते।।३७।।

यथाऽष्टमे (८।२०।११)—

१५—यजन्ति यज्ञं क्रतुभिर्यमादृता भवन्त आम्नायविधानकोविदाः।
स एष विष्णुर्वरदोऽस्तु वा परो दास्याम्यमुष्मै क्षितिमीप्सितां मुने।।३८।।

यथा वा, दशरूपके–

१६–लक्ष्मीपयोधरोत्संगकुंकमारुणितो हरेः।
बलिनैव स येनास्य भिक्षापात्रीकृतः करः।।३६।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*उत्तरत्रापि विप्ररूपायेत्युपलक्षणं विप्रदेवभगवद्रू–पायेत्यस्य विवक्षितत्वात्।।३७।। येन बलिनेत्यस्य पूरकस्तच्छब्दस्तु तत्प्रकरण एव लभ्यः।।३६।।*

● *अनुवाद–पूजादान;* ब्राह्मण रूपी श्रीभगवान् को जो दान करना है, उसे 'पूजा–दान' कहते हैं।।३७।।

उदाहरण; (श्रीमद्भागवत ८।२०।११ में–श्रीबलि महाराज ने शुक्राचार्य को कहा)–हे मुने ! आप वेद–विधान विषय में अति निपुण हैं, आदरपूर्वक याग–यज्ञ द्वारा आप जिनकी अर्चना करते हैं, यह ब्रह्मचारी रूपी वामनदेव वही वरद विष्णु ही हों अथवा मेरे शत्रु ही हों, इनके द्वारा माँगी गई पृथ्वी मैं इनको दान करूँगा।।३८।।

दशरूपक में और उदाहरण; भगवान् श्रीहरि का जो हाथ लक्ष्मीदेवी के कुच–कुंकुम द्वारा लाल रंग में रंजित हुआ था, उसी हाथ को महाराज बलि ने भिक्षा–पात्र किया–उस हाथ में भिक्षा प्रदान की।।३६।।

अथोपस्थितदुरापार्थत्यागी–

२४–उपस्थित दुरापार्थत्याग्यसौ येन नेष्यते।
हरिणा दीयमानोऽपि साष्ट्र्यादिस्तुष्यता वरः।।४०।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*उपस्थितेति यद्यपि सिद्धसाधकभेदेन द्विविधोऽयं सम्भवति तथापि यत्किंचिज्जातरुचिर्दृढाग्रहः साधक एवात्र लक्ष्यते न तु सम्यग्भगवन्माधुर्यानुभवसिद्धः; न ह्यमृतास्वादे लब्धे गुडादित्यागी तथा प्रशस्यते, तस्य तस्यापि भक्त्येकाग्रहदृष्ट्या तुष्टः श्रीहरिस्तदाग्रहव्यक्त्यर्थं कदाचित्तं दातुमिव प्रोत्साहयतीति, वर इति अन्यैर्व्रियमाणोऽपीत्यर्थः।।४०।।*

● *अनुवाद–उपस्थित–दुरापार्थत्यागो–दानवीर;* भगवान् श्रीहरि के परितुष्ट होकर सार्ष्टि सालोक्यादि पाँच प्रकार की मुक्ति रूप वर देने की इच्छा करने पर भी जो उसे ग्रहण नहीं करते उनको 'उपस्थित–दुरापार्थत्यागी दानवीर' कहते हैं; अर्थात् पंचविधा मुक्ति उनके सामने उपस्थित है और वह मुक्ति दुरापा अति दुर्लभ है, किन्तु वे उसका भी त्याग कर देते हैं।।४०।।

२५–पूर्वतोऽत्र विपर्यस्तकारकत्वं द्वयोर्भवेत्।
अस्मिन्नुद्दीपनाः कृष्णकृपालाप–स्मितादयः।।४१।।
२६–अनुभावास्तदुत्कर्षवर्णनद्रढ़िमादयः।
अत्र संचारिता भूम्ना धृतेरेव समीक्ष्यते।।४२।।
२७–त्यागोत्साहरतिर्धीरैः स्थायी भाव इहोदितः।
त्यागेच्छा तादृशी प्रौढा त्यागोत्साह उदीर्यते।।४३।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*विपर्य्यस्तकारकत्वं हरेरपादानत्वं भक्तस्य तु सम्प्रदान–त्वमित्येव, भूम्ना अतिशयेन समीक्ष्यते।।४१-४२।। तादृशी साष्ट्र्याद्यनिच्छामयी।।४३।।*

● *अनुवाद*–उपरोक्त दानवीरों में पहले वर्णित दानवीरों की अपेक्षा कारक का विपर्यय है अर्थात् पूर्वोल्लिखित दानवीरों के उदाहरणों में भक्त दाता थे–दान देने वाले थे। अतः भक्त अपादान कारक थे और भगवान् दान लेने वाले थे, अतः वे सम्प्रदान कारक थे। किन्तु उपस्थित–दुरापार्थ–त्यागी दान वीरों में उसके विपरीत बात है। श्रीभगवान् दुरापार्थ रूप मुक्ति के दानी होने से अपादान–कारक हैं और भक्तों को दान देना चाहते हैं, अतः भक्त सम्प्रदान–कारक हैं। इस प्रकार के दानवीररस में कृष्ण–कृपा, आलाप तथा हास्यादि *'उद्दीपन–विभाव'* हैं। श्रीभगवान् का उत्कर्ष वर्णन करने में दृढ़ता आदि का होना इसके *अनुभाव* हैं। अतिशय धृति इस रस का संचारीभाव है। त्याग में उत्साहरति इसका *स्थायीभाव* है। दुर्लभ पंचविधामुक्ति पर्यन्त के प्रति भी जो बलवती अनिच्छा है, उसको *'त्यागोत्साह'* कहते हैं।।४१–४३।।

यथा हरिभक्तिसुधोदये–

१७–स्थानाभिलाषीतपसि स्थितोऽहं त्वां प्राप्तवान् देवमुनीन्द्रगुह्यम्।
काचं विचिन्वन्नपि दिव्यरत्नं स्वामिन् ! कृतार्थोऽस्मि वरं न याचे।।४४।।

यथा वा तृतीये (३।१५।४८)–

१८–नात्यन्तिकं विगणयन्त्यपि ते प्रसादं
किम्वन्यदर्पितभयं भ्रुव उन्नयैस्ते।
येऽङ्ग त्वदङ्घ्रिशरणा भवतः कथायाः
कीर्तन्यतीर्थयशसः कुशला रसज्ञाः।।४५।।

२८–*अयमेव भवन्नुच्चैः प्रौढ़भावविशेषभाक्।*
धुर्यादीनां तृतीयस्य वीरस्य पदवी व्रजेत्।।४६।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*स्थानेति श्रीध्रुववाक्यम्, तदिदमपि न सम्यङ्माधुर्यानुभवमयं, श्रीभागवते हि पाँचजन्यस्पर्शादेव तेन तत्तदुक्तं किन्तु क्रमादेवानुभूतमिति व्यक्तम्।।४४।। नात्यन्तिकमित्यादिनापि तादृशसाधका एव विवक्षिताः, कुशला इत्यनेनोक्तानां भक्तिरसशास्त्रानुसारेण विवेकिनामेवात्रोदाह्रियमाणत्वं न तु कैमुत्येनोत्तरप्रोक्तानां रसज्ञानामिति, ते तव, भ्रुव उन्नयैः विक्षेपरूपैः कालैः।।४५।। प्रौढ़भावविशेषभाक् कश्चिदेवेत्यर्थः, विशेषशब्दो ह्यत्र तादृशदास्यपर्यवसानार्थः, अन्याभिलाषिताशून्यमित्यादिभिरसकृदेव सर्वस्यापि भक्तस्य तादृशतया प्राप्तत्वात्।।४६।।*

● ***अनुवाद*–*हरिभक्तिसुधोदय में श्रीध्रुव का उदाहरण;*** **श्रीध्रुव जी ने कहा, हे स्वामिन् ! मैं राज–सिंहासन का अभिलाषी होकर तपस्या में लगा हुआ था, किन्तु आपकी कृपा से देव–मुनियों के लिए भी अलभ्य आपको मैंने प्राप्त किया है। कांच को ढूँढ़ते–मैंने मानो दिव्यरत्न की प्राप्ति की है। मैं कृतार्थ हो गया हूँ अब और वर मुझे कुछ नहीं चाहिए। (वर रूप में पितृसिंहासनादि अनन्त भोग तथा अभीष्टभोग भी ध्रुव जी के लिए उपस्थित थे, किन्तु उन्होंने उनका त्याग कर दिया) ध्रुव जी की यहाँ त्यागोत्साह–रति सूचित होती है।।४४।।**

श्रीमद्भागवत (३।१५।४८ में) कहा गया है—श्रीसनकादिक मुनियों ने श्रीभगवान् से कहा, हे भगवन् ! आपका यश परम रमणीय एवं अतिशय पवित्र होने से कीर्तनीय और तीर्थस्वरूप है। हे अंग ! आपके चरणाश्रित जो कुशल व्यक्ति आपकी कथा के रसज्ञ हैं, आपके आत्यन्तिक प्रसादरूप मोक्षपद को भी वे कुछ नहीं गिनते हैं। इन्द्रादि पद, जो आपके भ्रुभंग मात्र से भयभीत हो उठता है, उसके विषय में तो कहना ही क्या ?।।४५।।

इस प्रकार के उपस्थित दुरापार्थत्यागी—जन ही अतिशयरूप में शूरवीर एवं वीर (३।२।४८ से ५३ द्रष्टव्य) दास्य भावमय पार्षदों का प्रौढ़ दास्य—भाव विशेष प्राप्त कर दयावीरों का स्थान प्राप्त करते हैं।।४६।।

अथ दयावीरः—

२९—कृपार्द्रहृदयत्वेन खण्डशो देहमर्पयन्।
कृष्णयाच्छन्नरूपाय दयावीर इहोच्यते।।४७।।
३०—उद्दीपना इह प्रोक्तास्तदार्तिव्यंजनादयः।
निजप्राणव्ययेनापि विपन्नत्राणशीलता।।४८।।
३१—आश्वासनोक्तयः स्थैर्यमित्याद्यास्तत्र विक्रियाः।
औत्सुक्यमतिहर्षाद्या ज्ञेयाः संचारिणो बुधैः।।४९।।
३२—दयोत्साहरतिस्त्वत्र स्थायिभाव उदीर्यते।
दयोद्रेकभृदुत्साहो दयोत्साह इहोदितः।।५०।।

● *अनुवाद—दयावीर;* कृपा के कारण चित्त की द्रवता—वश जो प्रच्छन्न रूप श्रीकृष्ण को अपना शरीर खण्ड—खण्ड कर भी अर्पण करते हैं, उन्हें *'दयावीर'* कहते हैं।।४७।।

इस दानवीर रस में—जिसके प्रति दया करनी होती है, उसकी दुःख प्रकाशक वस्तु *'उद्दीपन'* होती है। अपने प्राण देकर भी विपद—ग्रस्त व्यक्ति की रक्षा शीलता, आश्वास—वचन, स्थिरता आदि *'विक्रया'* या *'अनुभाव'* होते हैं। उत्सुकता, मति एवं हर्षादि *संचारी—भाव'* होते हैं। दया—उत्साह रति होती है। *'स्थायी—भाव'* दया उद्रेककारी उत्साह को यहाँ दयोत्साह कहा गया है।।४८—५०।।

यथा, १९—वन्दे कुड्मलितांजलिर्मुहुरहं वीरं मयूरध्वज
येनार्द्धं कपटद्विजाय वपुषः कंसद्विषे दित्सता।
कष्टं गद्गदिकाकुलोऽस्मि कथनारम्भादहो धीमता
सोल्लासं क्रकचेन दारितमभूत्पत्नीसुताभ्यां शिरः।।५१।।

३३—हरेश्चेत्तत्त्वविज्ञानं नैवास्य घटते दया।
तदभावे त्वसौ दानवीरेऽन्तर्भवति स्फुटम्।।५२।।
३४—वैष्णवत्वाद्रतिः कृष्णे क्रियतेऽनेन सर्वदा।
कृताऽत्र द्विजरूपे च भक्तिस्तेनास्य भक्तता।।५३।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*वन्दे इत्यादौ कष्टमित्यादिगर्भितत्वदोषोऽपि*

चमत्कारपोषकत्वाद्गुणः, यथा साहित्यदर्पणादौ (७।२७) 'दिङ्मातंगघटे' त्यादि पद्यानिदर्शितानि, गर्भितत्वं च यद्वाक्यान्तरमध्यं वाक्यान्तरं प्रविशतीति, एवमन्यत्रापि समाधेयम्।।५१।। हरेरिति। ततश्च तदभावे, तस्या दयाया अभाव इत्यर्थः, ।।५२।। वैष्णवत्वादिति। विष्णुर्भजनीयोऽस्येति वैष्णवः, स च "भक्तिरित्यनेन" सूत्रेण शैषिकाण्विधानात्, ततश्च वैष्णवत्वादविष्णुभक्तियुक्तत्वादित्यर्थः।।५३।।

● *अनुवाद*–कपट–ब्राह्मण रूपधारी श्रीकृष्ण को अपने आधे शरीर को दान करने की इच्छा से जिन धीमान् मोरध्वज ने उल्लास सहित स्त्री एवं पुत्रों द्वारा आरे से अपना मस्तक चिरवा दिया था, हाथ जोड़कर मैं बारम्बार उन श्रीमोरध्वज की वन्दना करता हूँ। अहो ! कैसा कष्ट ! उनकी चेष्टा की बात कहते ही मैं कण्ठ अवरुद्ध होकर व्याकुल हो रहा हूँ।।५१।।

श्रीमोरध्वज को यदि श्रीहरि के सम्बन्ध में तत्त्व ज्ञान रहता अर्थात् यह ब्राह्मण नहीं है किन्तु श्रीभगवान् हैं, तो उसमें दया का उदय न होता। उस दया के अभाव में वे दानवीर नहीं माने जाते। वे वैष्णव थे–विष्णु भक्ति युक्त थे, इसलिए सर्वदा श्रीकृष्णरति को पोषण करते थे। यहाँ भी उन्होंने द्विजरूप श्रीकृष्ण के प्रति भक्ति का प्रदर्शन किया है। इससे उनकी भक्ति जानी जाती है।।५२–५३।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–श्रीपाद जीवगोस्वामी ने उपर्युक्त दो श्लोकों द्वारा दानवीर तथा दयावीरों के पार्थक्य को दिखाया है। श्रीकृष्ण के तत्त्व को जानकर अर्थात् छिपाये हुये वेश ये श्रीकृष्ण हैं–ऐसा जानकर जो श्रीकृष्ण की प्रीति या कल्याणादि की कामना से दान करते हैं, यहाँ तक कि दुर्लभ वस्तु का भी त्याग कर देते हैं, वे हैं 'दानवीर'। बलि महाराज ने पहले वामनदेव को नहीं पहिचाना। फिर शुक्राचार्य के बताने पर वे जान गऐ कि यह ब्रह्मचारी श्रीविष्णु हैं। अतः बलि महाराज ने श्रीहरि का तत्त्व जानकर उनको अपना सर्वस्व दान कर दिया, इसलिए श्रीग्रन्थकार ने उस दान को *'सम्प्रदान'* कहा है। अतः जो भगवान् के तत्त्व को जानकर दान करते हैं वे तो हैं *'दानवीर'*।

किन्तु श्रीभगवान् के छद्मवेश में उपस्थिति होने पर उनके तत्त्व को न जानकर भी कृपा से द्रवीभूत चित्त होकर जो दान करते हैं वे *'दयावीर'* हैं। ये दयावीर विद्यमान दुर्लभ वस्तु के परित्यागी होते हैं एवं श्रीकृष्ण में प्रौढ़ दास्य–भाव विशेष युक्त होते हैं। श्रीकृष्ण में उनकी ऐसी अतुलनीय प्रीति होती है कि श्रीकृष्ण के अपने वेश को छिपाने पर भी, आत्म–परिचय गोपन करने पर भी ऐसे भक्तों की प्रीति उनकी ओर धावित होती है जैसे मिट्टी में छिपे चुम्बक की ओर लौह–खण्ड की, उसी प्रकार उनकी यह प्रीति प्रकाशित होती है दया के रूप में। छद्मवेशधारी यदि श्रीकृष्ण उनके निकट आकर अपनी आर्ति या दुःख प्रकट करते हैं तो उस दुःख को दूर करने के लिए भक्तों के चित्त में दया का उद्रेक होता है। श्रीकृष्ण–प्रीति ही दयारूप में अभिव्यक्त होती है। क्योंकि यह दया श्रीकृष्ण प्रीतिमय है। इसलिए इसे, 'दयावीर–रस' कहा जाता है। अन्य–विषया यदि यह दया हो तो उसे 'दयावीर–रस' नहीं कहा जा सकता, श्रीकृष्ण–तत्त्व

जानकर भक्त के चित्त में दया का उद्रेक नहीं होता, क्योंकि दास्यभावमय भक्तों की श्रीभगवान् के प्रति दया कैसी ? कभी सम्भव भी नहीं हो सकती। अतः श्रीकृष्ण–तत्त्व को न जानकर कृपा द्वारा आर्द्रचित्त होकर जो दान करने वाले हैं उनको 'दयावीर' कहा जाता है।

इस पार्थक्य को जो नहीं समझ पाते, दयावीर के विशेष लक्षणों के प्रति जिनका चित्त आकृष्ट नहीं होता और दान के साधारण लक्षण ही जिनके चित्त में समाये हुए हैं, वे दयावीर–रस को दानवीर–रस के अन्तर्भुक्त मानते हैं। अतः वे युद्धवीर, दानवीर, दयावीर एवं धर्मवीर–इन चार वीर रसों को न मानकर युद्धवीर, दानवीर तथा धर्मवीर–ये तीन प्रकार के रस ही मानते हैं। इस बात को श्रीपाद रूपगोस्वामी दयावीर–रस के उपसंहार में अगले श्लोक में कहते हैं–

३५–अन्तर्भावं वदन्तोऽस्य दानवीरे दयात्मनः।
वोपदेवादयो धीरा वीरमाचक्षते त्रिधा।।५४।।

● *अनुवाद*–(उपसंहार) बोपदेवादि पण्डित इस दयावीर रस को दानवीर रस के अन्तर्भुक्त कहते हैं। इसलिए उनके मत में वीर तीन प्रकार के हैं–(वे दयावीर तथा दानवीर के पार्थक्य को नहीं समझ पाते)।।५४।।

अथ धर्मवीरः–

३६–कृष्णैकतोषणे धर्मे यः सदा परिनिष्ठितः।
प्रायेण धीरशान्तस्तु धर्मवीरः स उच्यते।।५५।।
३७–उद्दीपना इह प्रोक्ताः सच्छास्त्रश्रवणादयः।
अनुभावा नयास्तिक्यसहिष्णुत्वयमादयः।
मतिस्मृतिप्रभृतयो विज्ञेया व्यभिचारिणः।।५६।।
३८–धर्मोत्साहरतिर्धीरैः स्थायी भाव इहोच्यते।
धर्मैकाभिनिवेशस्तु धर्मोत्साहो मतः सताम्।।५७।।

● *अनुवाद*–श्रीकृष्ण के परितोषण रूप धर्म में जो सर्वदा तत्पर रहते हैं, उन्हें *'धर्मवीर'* कहा जाता है, किन्तु प्रायशः धीर शान्त–भक्त ही धर्मवीर हुआ करते हैं।।५५।।

इस धर्मवीर रस में सत्–शास्त्र श्रवणादि *'उद्दीपन'* होता है। नीति, आस्तिक्य, सहिष्णुता एवं यमादि (इन्द्रियों का निग्रह) *'अनुभाव'* होते हैं। मति, स्मृति आदि *'व्यभिचारि–भाव'* होते हैं। धर्मोत्साह–रति इसका *'स्थायी–भाव'* है। केवल धर्म विषय में ही अभिनिवेश को *'धर्मोत्साह'* कहते हैं।।५६–५७।।

यथा, २०–भवदभिरतिहेतून् कुर्वता सप्ततन्तून्
पुरमभि पुरुहूते नित्यमेवोपहूते।
दनुजदमन ! तस्याः पाण्डुपुत्रेण गण्डः
सुचिरमरचि शच्याः सव्यहस्तांकशायी।।५८।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*सप्ततन्तून् यज्ञान्।।५८।।*

● *अनुवाद*–(उदाहरण); हे दनुजदमन कृष्ण ! आप में रति उदित होगी, यह जानकर पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर यज्ञानुष्ठान करते हुए नित्य ही इन्द्र को

अपने नगर में आह्वान करते हैं। इसलिए सुदीर्घ काल के लिए इन्द्रपत्नि शचीदेवी अपने कपोल को अपनी बाँयीं हथेलीरूपी शय्या पर सुला देती थीं; अर्थात् यज्ञ–भाग को लेने के लिए इन्द्र को नित्य महाराज युधिष्ठिर के नगर में जाना पड़ता था। इसलिए शची इन्द्र के विरह में कातरा होकर अपने बाँये हाथ पर कपोल धारण किये शोक में मग्न रहती थीं।।५८।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–यहाँ एक प्रश्न उठता है–राजा युधिष्ठिर महाभागवतोत्तम थे एवं श्रीकृष्ण में उनकी अत्यन्त प्रीति थी। वे इन्द्र की पूजा के लिए यज्ञादि का अनुष्ठान किया करते थे ? फिर इन्द्र की पूजा को श्रीकृष्णतोषणमय धर्म कैसे कहा जा सकता है ? यदि ये दोनों बात नहीं हैं तो फिर धर्मवीरों के उदाहरण में राजा युधिष्ठिर का उदाहरण क्यों दिया गया है ? इन प्रश्नों का समाधान अगली कारिकाओं में करते हैं–

३९–यज्ञः पूजाविशेषोऽस्य भुजाद्यंगानि वैष्णवः।
ध्यात्वेन्द्राद्याश्रयत्वेन यदेष्वाहुतिरर्प्यते।।५९।।
४०–अयं तु साक्षात्तस्यैव निदेशात्कुरुते मखान्।
युधिष्ठिरोऽम्बुधिः प्रेम्णां महाभागवतोत्तमः।।६०।।

● *अनुवाद*–**यज्ञ एक पूजा विशेष है। इन्द्रादि के आश्रयत्व रूप में श्रीकृष्ण के भुजादि अंगों का ध्यान करके वैष्णवगण उस यज्ञ में श्रीकृष्ण के भुजादि अंगों में ही आहूति प्रदान किया करते हैं, किन्तु पाण्डुनन्दन श्रीयुधिष्ठिर तो प्रेम का समुद्र हैं एवं भक्तों में उत्तम भक्त हैं, श्रीकृष्ण के साक्षात् निर्देश से ही वे यज्ञ करते हैं।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–श्रीभगवान् के भुजादि अंग इन्द्रादि लोकपालों के आश्रय हैं। वे श्रीभगवान् के अंगों की विभूति हैं, स्वतन्त्र देवता नहीं हैं। जो वैष्णव इन्द्रादि देवताओं की पूजा रूप यज्ञ करते हैं, वे स्वतन्त्रदेवता–बुद्धि से इन्द्रादि की पूजा नहीं करते। उन्हें श्रीभगवान् की विभूति जान कर ही पूजा करते हैं। ध्यान काल में वे इन्द्रादि का ध्यान नहीं करते, श्रीकृष्ण की विभूति रूप में उन अंगों का ध्यान करते हुए उन अंगों को आहूति प्रदान करते हैं। प्रेमी महाभागवतगण किन्तु इस भाव से भी इन्द्रादि की पूजा नहीं करते। वे केवल श्रीकृष्ण की पूजा नहीं मानते,। क्योंकि मूल को सींचने से जैसे सब पत्ते–शाखादिक का सिंचन हो जाता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण पूजा में समस्त देवी–देवताओं की पूजा वे मानते हैं। श्रीयुधिष्ठिर जी तो प्रेम के सिन्धु हैं–प्रेमी महाभागवतों में भी श्रेष्ठ भागवत हैं। अतः उनके पक्ष में इन्द्रादि–देवताओं की पूजा सम्भव ही नहीं है, तथापि उन्होंने जो इन्द्रादि–देवताओं की पूजा की, वह केवल साक्षात् श्रीकृष्ण के आदेश से लोक–संग्रहादि के लिए की। अतः श्रीयुधिष्ठिर का श्रीकृष्ण–आदेशपालन करने में श्रीकृष्ण का ही सन्तोष विधान होता है। न तो युधिष्ठिर इन्द्र–प्रीति के लिए यज्ञ करते थे, न उनके पक्ष में इन्द्रपूजा श्रीकृष्णतोषण ही था। किन्तु कृष्ण–आदेश पालन ही उनका श्रीकृष्ण–सन्तोषण धर्म सिद्ध होता है। अतः उन्हें धर्मवीरों मे गिना गया है।

४१—दानादित्रिविधं वीरं वर्णयन्तः परिस्फुटम्।
धर्मवीरं न मन्यन्ते कतिचिद्धनिकादयः।।६१।।

● *अनुवाद*—धनिकादि कुछ पण्डितगण धर्मवीर को स्वीकार नहीं करते। युद्धवीर, दानवीर एवं दयावीर, केवल इन तीन प्रकार के वीरों की कथा उन्होंने स्पष्ट वर्णन की है।।६१।

इति श्रीभक्तिरसामृतसिन्धावुत्तरविभागे गौणभक्तिरस निरूपणे वीरभक्तिरस लहरी तृतीया।।३।।

● ● ●

चतुर्थ-लहरी : करुणभक्तिरसाख्या

१—आत्मोचितैर्विभावाद्यै र्नीता पुष्टिं सतां हृदि।
भवेच्छोकरतिर्भक्तिरसो हि करुणाभिधः।।१।।

● *अनुवाद*—भक्तों के हृदय में शोकरति यदि आत्मोचित विभावादि द्वारा पुष्टि लाभ कर आस्वाद्यत्व को लाभ करे, तो उसे *"करुण—भक्तिरस"* कहते हैं।।१।।

२—अव्युच्छिन्नमहानन्दोऽप्येष प्रेमविशेषतः।
अनिष्टाप्तेः पदतया वेद्यः कृष्णोऽस्य च प्रियः।।२।।
३—तथाऽनवाप्ततद्भक्तिसौख्यश्च स्वप्रियो जनः।
इत्यस्य विषयत्वेन ज्ञेय आलम्बनस्त्रिधा।।३।।

● *अनुवाद—करुण*—भक्तिरस के विषयालम्बन तीन प्रकार के हैं—१. श्रीकृष्ण; श्रीकृष्ण अविच्छिन्न महानन्द स्वरूप हैं, अतः उनमें अनिष्ट की सम्भावना नहीं है, फिर भी प्रेम विशेष के कारण अनिष्ट—प्राप्ति आस्वादन रूप में ज्ञात होकर वे करुणारस के विषय हुआ करते हैं। २. *श्रीकृष्ण प्रियजन;* वे भी करुणरस के विषय होते हैं तथा ३. *भगवद्भक्त के पिता—पुत्रादि बन्धुवर्ग;* वैष्णवता के अभाव में भगवद्भक्ति सुख रहित होने पर वे करुणरस के विषय होते हैं।।२—३।।

४—तत्तद्वेदी च तद्भक्त आश्रयत्वेन च त्रिधा।
सोऽप्यौचित्येन विज्ञेयः प्रायः शान्तादिवर्जितः।
तत्कर्मगुणरूपाद्या भवन्त्युद्दीपना इह।।४।।
५—अनुभावा मुखे शोषो विलापः स्रस्तगात्रता।
श्वासक्रोशनभूपातघातोरस्ताडनादयः।।५।।
६—अत्राष्टौ सात्त्विका जाड्यनिर्वेदग्लानिदीनताः।
चिन्ता—विषाद—औत्सुक्यचापलोन्मादमृत्यवः।
आलस्यापस्मृतिव्याधिमोहाद्या व्यभिचारिणः।।६।।

७–हृदि शोकतयांऽशेन गता परिणतिं रतिः।
उक्ता शोकरतिः सैव स्थायी भाव इहोच्यते।।७।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*तत्तद्वेदी तादृश–कृष्णादित्रयानुभविता।।४।। अनुभावा इति। भुवि पातः भुवि घातश्च हस्तेन भूताडनमिति द्वयं ज्ञेयम्।।५।। अंशेन अनिष्टाप्तिप्रतीतिरूपेण निजविशेषणेन।।७।।*

● *अनुवाद*–उपरोक्त तीन प्रकार के विषयालम्बन जनों के अनुभव कर्ता तीन प्रकार के भक्तजन इस रस के *'आश्रयालम्बन'* होते हैं। ये तीन प्रकार के आश्रयालम्बन भक्त औचित्य के कारण प्रायशः शान्तादि वर्जित होते हैं; अर्थात् शान्त भक्त एवं अधिकृत शरण्यभक्तों में प्रायशः करुण रस उदय नहीं होता। करुणरस के उद्दीपन हैं श्रीकृष्ण के कर्म, गुण तथा रूपादि। मुख सूखना, विलाप, अंगों का स्खलन, श्वास, चीत्कार, पृथ्वी पर गिरना, हाथों से पृथ्वी पर आघात करना एवं हाथों से छाती पीटना आदि इस रस के *अनुभाव* हैं। इस रस में अश्रु–कम्पादि आठों *सात्विकभाव* प्रकाशित होते हैं। जड़ता निर्वेद, ग्लानि, दैन्य, चिन्ता, विषाद, उत्सुकता, उन्माद, *मृत्यु,* आलस्य, अपस्मृति, व्याधि तथा मोह आदि इसके *व्यभिचारि–भाव* हैं। हृदय में रति जब शोक के अंश को प्राप्त करती है अर्थात् अनिष्ट–प्राप्ति की प्रतीति होती है, तब उसे *'शोकरति'* कहते हैं और यही शोकरति ही करुणरस का *स्थायी–भाव* है।।४–७।।

तत्र कृष्णो, यथा श्रीदशमे (१० ।१६ ।१०)

१–तं नागभोगपरिवीतमदृष्टचेष्टमालोक्य तत्प्रियसखाः पशुपा भृशार्ताः।
कृष्णेऽर्पितात्मसुहृदर्थकलत्रकामा दुःखाभिशोकभयमूढधियो निपेतुः।।८।।

यथा वा, २–

फणिह्रदमवगाढ़े दारुणं पिंछचूड स्खलदशिशिरलवाष्पस्तोमधौतोत्तरीया।
निखिलकरणवृत्तिस्तम्भिनीमाललम्बे विषमगतिमवस्थां गोष्ठराजस्य राज्ञी।।६।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*तत्प्रियसखाश्च पशुपाश्चान्ये गोपाः।।८।। फणिह्रदमिति, गोष्ठराजस्य पत्नीति पाठान्तरम्।।६।।*

● *अनुवाद–कृष्णालम्बनात्मक का उदाहरण;* श्रीमद्भागवत (१० ।१६ ।१०) में श्रीशुकदेव जी ने कहा, हे परीक्षित् ! श्रीकृष्ण के कालियनाग द्वारा परिवेष्टित होने पर उनके शरीर में कुछ भी चेष्टा न दीख रही थी। उन्हें इस अवस्था में देख कर प्रिय सखागण एवं गोपगण अत्यन्त व्याकुल, दुःखी, अति शोकयुक्त एवं भयभीत होकर पृथ्वी पर गिर पड़े। क्योंकि उन्होंने अपने आत्मा, सुहृत्, अर्थ–सम्पति कलत्र समस्त कामनायें श्रीकृष्ण को ही अर्पण कर दी थीं। (यहाँ श्रीकृष्ण इस करुणरस के *विषयालम्बन* हैं तथा उनके प्रिय सखागण तथा गोपगण *आश्रयालम्बन।।८।।*

दूसरा उदाहरण; श्रीकृष्ण के दारुण कालियह्रद में कूद जाने पर माता यशोदा निरन्तर अश्रुधारा से अपने दुपट्टा को भिगो रही थीं एवं सर्वेन्द्रिय वृत्ति को स्तम्भकारिणी एक विषम अवस्था को प्राप्त हो गईं।।६।।

तस्य प्रियजनो, यथा–

३–कृष्णप्रियाणामाकर्षे शंखचूडेन निर्मिते।
नीलाम्बरस्य वक्त्रेन्दुर्नीलिमानं मुहुर्दधे।।१०।।

स्वप्रियो, यथा हंसदूते–

४–विराजन्ते यस्य व्रजशिशुकुलस्तेयविकल
स्वयम्भूचूडाऽग्रैर्लुलितशिखराः पादनखराः।
क्षणं यानालोक्य प्रकटपरमानन्दविवशः
स देवर्षिर्मुक्तानपि मुनिगणान् शोचति भृशम्।।११।।

यथा वा–

५–मातर्माद्रि ! गता कुतस्त्वमधुना हा क्वासि पाण्डो पितः
सान्द्रानन्दसुधाऽब्धिरेष युवयोर्नाभूद् दृशां गोचरः।
इत्युच्चैर्नकुलानुजो विलपति प्रेक्ष्य प्रमोदाकुलो
गोविन्दस्य पदारविन्दयुगलप्रोद्दामकान्तिच्छटाम्।।१२।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*विराजन्त इति। लुलित लुलितत्वं विमर्दितत्वं लुल विमर्द्दन इत्यस्य निष्ठायां प्रयोगात्, अत्र त्वत्यन्तसंस्पर्शतातपर्यकत्वेनार्थान्तर–संक्रमितत्वमेव ज्ञेयं, तनुभृत इत्यत्र मुनिगणानिति पाठः, स्वप्रियत्वेन युक्तः।।११।।*

● *अनुवाद–कृष्णप्रिय–जनालम्बनात्मक;* जब शंखचूड़ श्रीकृष्ण की प्रेयसियों को आकर्षण करने लगा, तब नीलाम्बर–श्रीबलराम जी का मुखचन्द्र बार–बार नीलिमा धारण करने लगा। (यहाँ कृष्ण प्रेयसीगण विषयालम्बन हैं तथा श्रीबलराम जी आश्रयालम्बन)।।१०।।

स्वप्रियजनालम्बनात्मक; (हंसदूत से) (व्रजगोपीवृन्द ने दूतरूपी हंस से कहा)–हे हंस ! व्रज–बालकों के अपहरण जनित अपराध के भय से व्याकुल–चित्त होकर ब्रह्मा ने अपने मुकुटों को जिनके चरण–नखों में बार–बार रगड़ा था, और थोड़ी देर के लिए जिनके पदनखों का दर्शन प्राप्त कर देवर्षि नारद ने परमानन्द में विभोर होकर विवशता प्राप्त की थी और संसार से मुक्त मुनिगणों के लिए अत्यन्त शोक किया था' (उनके पास तुम चले जाओ)।।११।।

अथवा; नकुल के छोटे भाई सहदेव ने श्रीगोविन्द के चरणारविन्द की अत्युज्ज्वल कान्ति छटा का दर्शन कर परमानन्द में व्याकुल–चित्त होकर कहा, हे माता माद्रि ! तुम अब कहाँ हो ? हे पिता पाण्डो ! तुम अब कहाँ चले गये ? इस निबिड़ आनन्द सुधासमुद्र को आप लोग न देख सके। यह कह कर सहदेव उच्च स्वर में विलाप करने लगा।।१२।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–श्लोक सं० ११ में श्रीनारद मुनि ने जिन संसार से मुक्त मुनियों के लिए शोक किया–वे हैं सायुज्यमुक्ति प्राप्त मुनिगण। वे भक्तिसुख से वंचित हैं; परन्तु मुनि होने के कारण श्रीनारद के सजातीय प्रियजन हैं। भक्तिसुख वचित होने से वे श्रीकृष्णदर्शन–जनित परमानन्द से वंचित हैं। इसलिए श्रीनारदजी के लिए शोकरति उदित हुई। यहाँ श्रीकृष्ण–भक्त नारद हैं करुणरस के आश्रय आलम्बन और मुक्त–मुनिगण उसके विषय–आलम्बन।

श्रीपाद जीवगोस्वामी प्रीतिसन्दर्भ में लिखते हैं– *"प्रीतिमतो जनस्य च यद्यन्योऽपि तत्कृपाहीनो जनः शोचनीयो भवति, तदा तत्रापि तन्मय करुणः स्यात्"* ।–यदि भगवत्– कृपाहीन और कोई भी व्यक्ति भगवत् प्रीतिमान भक्त के लिए शोचनीय हो अर्थात् भक्त उसके लिए शोक करे तो उस प्रीतिमान् भक्त में भगवत्–प्रीति करुणरस का उदय होता है। जैसे श्रीप्रह्लाद जी ने गुरुपुत्र को कहा था (भा० ७।५।३१)–जो लोग विषय–सुख को ही पुरुषार्थ मानते हैं, वे दुराशय व्यक्तिगण यह नहीं जानते कि पुरुषार्थ बुद्धि सम्पन्न व्यक्तियों के लिए श्रीभगवान् ही एकमात्र गति हैं। उन श्रीभगवान् को वे नहीं जानते। अन्धे को ले जाने वाले अन्धे व्यक्ति की भाँति ब्राह्मणादि अभिमान में ग्रस्त होकर वे कर्म–पाश में बँध जाते हैं। यहाँ श्रीप्रह्लादजी भगवद् बहिर्मुख व्यक्तियों के लिए शोक कर रहे हैं। अतः श्रीप्रह्लाद यहाँ करुणरस के आश्रय–आलम्बन हैं और भगवद्–कृपा विहीन लोग इस रस के विषयालम्बन।

श्लोक सं० १२ में–"मेरे माता–पिता श्रीकृष्ण–चरण के दर्शन जनित परमानन्द से वंचित हो गये हैं"–यह सोचकर श्रीकृष्णभक्त–सहदेव यहाँ करुणरस का आश्रयालम्बन है एवं उसके माता–पिता इस रस के विषयालम्बन।

८–रतिं विनापि घटते हासादेरुद्‌गमः क्वचित्।
कदाचिदपि शोकस्य नास्य सम्भावना भवेत्।।१३।।
९–रतेर्भूम्ना क्रुशिम्ना च शोको भूयान् कृशश्च सः।
रत्या सहाविनाभावात्काप्येतस्य विशिष्टता।।१४।।

● *अनुवाद*–रति के बिना भी कहीं–कहीं हास्यादि तो उदित होते हैं, किन्तु रति के बिना शोक की सम्भावना कभी भी नहीं रहती।।१३।।

रति की अधिकता के अनुसार शोक की अधिकता एवं रति के अल्प होने पर शोक की भी अल्पता होती है। रति के साथ भाव सम्बन्ध न होने से अर्थात् रति के बिना शोक के उदित न होने से शोकरति की यह एक अद्‌भुत विशेषता है। (रति के बिना हास्यादि का उदय होता है परन्तु रति के बिना शोक के उदित होने की सम्भाना नहीं, यही विशिष्टता है)।।१४।।

अपि च–

१०–कृष्णैश्वर्याद्यविज्ञानं कृतं नैषामविद्यया।
किन्तु प्रेमोत्तररसविशेषेणैव तत्कृतम्।।१५।।
११–अतः प्रादुर्भवन् शोको लब्ध्वाप्युद्भटतां मुहुः।
दुरूहामेव तनुते गतिं सौख्यस्य कामपि।।१६।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*कृष्णैश्वर्येति। एतदुक्तं भवति–भगवन्नाम स्वरूपभूतभगवत्ताविशिष्टः परमानन्दस्वरूपः। तदुक्तं चतुर्थे–(४।११।३०)–"त्वं प्रत्यगात्मनि तदा भगवत्यनन्त आनन्दमात्र उपपन्नसमस्तशक्ताविति", विष्णुपुराणे–*
"ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः।
भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः।

भगवत्ता तु षड् विधत्वेऽपि सामान्यतो द्विविधा—परमैश्वर्यरूपा परममाधुर्यरूपा चेति। तत्रैश्वर्यं नाम प्रभावेन वशीकर्तृत्वं यदनुभवेन तस्माद्भयसम्भ्रमादि स्यात्, माधुर्यं तु रूपगुणलीलानां रोचकत्वं, यदनुभवेन तस्मिन्प्रेम स्यात्, केवलं स्वरूपं तु स्वानन्दमात्रसमर्पकं। तत्र माधुर्यानुभवस्तु तद्द्वयस्याप्यनुभवमावृणोति, यथा (भा० ३।१५।४३)—

तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्दकिञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दवायुः।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोइतिः,
श्रीसनकादिभिस्तद्दर्शने। यथा (भा० १०।३।२६)—

जन्म ते मय्यसौ पापो मा विद्यान्मधुसूदन !
समुद्विजे भवद्धेतोः कंसादहमधीरधीः।।इति

अत्र श्रीदेवक्यादिवाक्ये। स च माधुर्यानुभवो माधुर्यभावनात्मकसाधनोत्पन्न—प्रेमविशेषलब्धरसपर्यायास्वादविशेषः, तस्मात्तेन यदैश्वर्याद्यनु—भवावरणं तत्सर्वोत्तमविद्यामयमेवेति ब्रह्मज्ञानादर्वाचीना त्वऽविद्या कथं तत्रावकाशं लभताम् ? यथा श्रीबलदेवस्यापि तन्मंगलार्थः प्रयत्नः श्रूयते—(भा० १०।५३।२०)—

श्रुत्वैतद्भगवान् रामो विपक्षीयनृपोद्यमम्।
कृष्णं चैकं गतं हर्तुंकन्यां कलहशंकितः।।
बलेन महता सार्द्धं भ्रातृस्नेहपरिप्लुतः।
त्वरितः कुण्डिनं प्रागाद्गजाश्वरथपत्तिभिरिति।।

श्रीयुधिष्ठिरस्यापि यथा (भा० १।१०।३२)—

अजातशत्रुः पृतनां गोपीनाथाय मधुद्विषः।
परेभ्यः शंकितः स्नेहान्युङ्क्त चतुरंगिणीम्।।इति

यस्मादेवमतस्तदानीमपि प्रेमानन्दमयकृष्णानन्दस्फुरणात्, तदुपलक्षितात् तादृशप्रेमस्वभावेन कथंचित्सम्भावनेन वा प्रत्याशानुगमात् पर्यवसानेऽपि तत्सुखस्यैवाभ्युदयादसौ सौख्यस्य गतिमेव तनुते। किन्तु दुरूहामागन्तुक—दुःखानुभवेनावृताम्, अतएव कामप्यनिर्वचनीयामित्यर्थः, तस्मादस्त्येव करुणेऽपि सुखमयत्वमिति भावः।।१५—१६।।

● *अनुवाद*—शोक रति के आश्रय जो कृष्ण—भक्त हैं, उनका श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य के विषय में जो अज्ञान है, वह अविद्या—जनित नहीं है। वह प्रेमोत्तर—रसविशेष के द्वारा अर्थात् श्रीकृष्ण—माधुर्य के अनुभव के द्वारा ही ऐसा अज्ञान घटित होता है।।१५।।

इसलिए शोकरति उत्पन्न होकर बार—बार तीव्रता को प्राप्त होकर भी सुख की किसी एक अनिर्वचनीय दुरूहा अर्थात् आगन्तुक दुखानुभव के द्वारा आवृत अवस्था का विस्तार करती रहती है।।१६।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—परब्रह्म स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण मंगल स्वरूप, परमानन्द स्वरूप एवं षडैश्वर्यपूर्ण हैं, अतः उनको किसी भी प्रकार का अमंगल या अनिष्ट स्पर्श तक भी नहीं कर सकता। जो लोग श्रीकृष्ण के इस तत्त्व को जानते हैं, उनके मन में श्रीकृष्ण के विषय में किसी भी अनिष्ट की आशंका भी

जाग्रत नहीं हो सकती। इस अवस्था में श्रीकृष्ण कैसे शोकरति के विषय हो सकते हैं ? किन्तु श्रीकृष्ण की अनिष्ट की आशंका से ही भक्तों के चित्त में रहने वाली रति शोक–रति में परिणत होती है। इससे समझा जा सकता है कि जिन भक्तों के चित्त में शोकरति उदित होती है, श्रीकृष्ण के ऐश्वर्यादि का ज्ञान उनको नहीं रहता। श्रीकृष्ण–तत्त्व के सम्बन्ध में उनके अज्ञान का कारण क्या है ? माया कवलित संसारी जीव तो अविद्या के प्रभाव से श्रीकृष्ण के तत्त्व को नहीं जान पाते। वे मायाकवलित जीव श्रीकृष्ण को साधारण मनुष्य मात्र ही जानते हैं– *"अवजानन्ति मां मूढ़ा मानुषं तनुमाश्रितम्"*।।श्रीगीता।। शोकरति के आश्रय जो कृष्णभक्त हैं, क्या वे भी अविद्या के प्रभाव से श्रीकृष्ण–तत्त्व को नहीं जानते ? इसी प्रश्न का उत्तर श्लोक नं० १५ में श्रीपाद गोस्वामी ने दिया है। वे कृष्ण–भक्त श्रीकृष्णमाधुर्यानुभव रस विशेष में डूबे रहते हैं, अतः उन्हें श्रीकृष्ण के ऐश्वर्यात्मक स्वरूप का ज्ञान नहीं रहता।

श्रीपाद जीव गोस्वामी ने कहा है–श्रीभगवान् की भगवत्ता छः प्रकार की है–ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य तथा तेज। किन्तु सामान्यतः वह भगवत्ता दो प्रकार की है–परम ऐश्वर्य रूपा तथा परम माधुर्यरूपा। परम–ऐश्वर्यरूपा भगवत्ता अपने प्रभाव द्वारा सबको वशी करने वाली है। उसके अनुभव से भय एवं सम्भ्रमादि पैदा होते हैं। और परम माधुर्यरूपा भगवत्ता में है रूप–गुण–लीला का रोचकत्व। इसके अनुभव से श्रीभगवान् में प्रेम उदित होता है। किन्तु केवल स्वरूप तो है स्वानन्द मात्र का प्रदाता। माधुर्य का अनुभव ऐश्वर्य और स्वरूप, इन दोनों के अनुभव को ढक देता है। कंस के कारागार में श्रीभगवान् चतुर्भुज रूप से परम ऐश्वर्य प्रकाशित करते हुए आविर्भूत हुए। परन्तु माता देवकी की उनके प्रति पुत्रबुद्धि होने से वह कंस से श्रीकृष्ण के मारे जाने की आशंका करते हुए अत्यन्त व्याकुल हो उठीं। यदि उस समय उसे श्रीकृष्ण के स्वरूप तथा ऐश्वर्य का ज्ञान रहता तो कंस से उसे कृष्ण की विपदा की कोई भी आशंका न उठती। अतः पुत्रबुद्धि से वात्सल्य रति का उदय हुआ। उससे श्रीकृष्ण का माधुर्य उसे अनुभव हुआ और उस अनुभव ने श्रीकृष्ण के स्वरूप एवं ऐश्वर्य के ज्ञान को आवृत्त कर दिया। ऐसा माधुर्य भावनात्मक साधनोत्पन्न प्रेमविशेष लब्ध रसपर्याय आस्वादन विशेष है। इस माधुर्यानुभव के द्वारा जो ऐश्वर्यादि के अनुभव का आवृत होना है, वह सर्वोत्तम विद्यामय है न कि अविद्यामय। ब्रह्मज्ञान होते हुए अविद्या का फिर अवकाश कहाँ ? श्रीकृष्ण के स्वरूप एवं ऐश्वर्य का अनुभव करके ही तो माता देवकी ने उनकी स्तुति आरम्भ की थी। किन्तु वात्सल्य के उदय होने पर माधुर्य के अनुभव ने ही उस स्वरूप एवं ऐश्वर्य के अनुभव को ढक दिया। इसी प्रकार श्रीबलराम जी श्रीकृष्ण के प्रभाव को अच्छी तरह जानते थे, किन्तु जब उन्होंने सुना कि श्रीकृष्ण रुक्मिणी को वरण करने के लिए अकेले कुण्डनपुर गए हैं तो वे विरोधियों की शक्ति–सामर्थ्य को स्मरण कर आशंकित हो उठे और भ्रातृस्नेह में भर कर अनेक सेना लेकर वहाँ जा पहुँचे। श्रीबलदेव जी के भ्रातृप्रेम ने श्रीकृष्ण के

ऐश्वर्य ज्ञान को आवृत कर दिया। इस प्रकार अनेक उदाहरण मिलते हैं।

अतएव निष्कर्ष यह है कि श्रीकृष्ण विषयक–प्रेम से श्रीकृष्ण–माधुर्य का आस्वादन रूप जो रस विशेष है या प्रेमोत्तर रस विशेष जो उदय होता है, वह ही श्रीकृष्ण के ऐश्वर्यादि के विषय में अज्ञान जन्मा देता है। यह अज्ञान कदाचित् अविद्या जनित नहीं है।

रस है अतिशय–सुखमय वस्तु विशेष। तब करुणरस भी अतिशय सुखमय होना चाहिए। किन्तु दुखात्मिका शोकरति से उत्पन्न होने वाला करुणरस कैसे सुख प्राचुर्यमय हो सकता है ?–इस प्रश्न का उत्तर दिया है श्लोक सं० १६ में। श्रीपाद गोस्वामी ने। कहा है, कि–श्रीदेवकी, श्रीबलराम जी के उदाहरण से सिद्ध है कि प्रेमोत्तर रस विशेष के द्वारा श्रीकृष्ण के ऐश्वर्यादि ढक जाते हैं, उसी के फलस्वरूप ही श्रीकृष्ण के अनिष्ट की आशंका भी उठ खड़ी होती है। इस प्रकार की आशंका के उत्पन्न होने पर ही भक्तों की कृष्णरति शोकरति में परिणत हो जाती है। इस अवस्था में उनकी कृष्णरति दुःखानुभव के द्वारा आवृत होती है। किन्तु उस दुःख की आशंका तथा दुःख का अनुभव होता है आगन्तुक। वह कृष्णरति को ढकने वाला बाहरी आवरण मात्र होता है; किन्तु उस अवस्था में भी अर्थात् दुःखानुभव द्वारा आवृत होने पर भी कृष्णरति विलुप्त नहीं होती। विलुप्त न होने के कारण उस अवस्था में भी भक्तों के चित्त में प्रेमानन्दमय कृष्णानन्द का स्फुरण होता है, क्योंकि रतिरूप प्रेम आनन्द–स्वरूप है और उस रति के प्रभाव से अनुभूत श्रीकृष्ण भी आनन्दस्वरूप हैं। भक्तों के चित्त में दोनों प्रकार के आनन्द की स्फूर्ति होती है। किसी पात्र में यदि अग्नि हो, उसे किसी दूसरे पात्र से ढक दिया जाये तो उस दूसरे पात्र में भी अग्नि का ताप संचारित हो जाता है। उसी प्रकार भक्तों के चित्त में आनन्द स्वरूप कृष्णरति के विद्यमान रहने पर यदि अनिष्ट आशंका का आवरण उनके चित्त को ढकता भी है तो चित्तस्थित आनन्द उस अनिष्ट–आशंका में संचारित हो जाता है। उस प्रकार के प्रेम–स्वभाव से भक्तचित्त में श्रीकृष्ण की अनिष्ट आशंका भी बार–बार उदित होती है, क्रमशः तीव्र भी हो उठती है, दूसरी ओर अपनी चेष्टा द्वारा आशंकित अनिष्ट को दूर करने की प्रत्याशा भी जाग उठती है। इस स्थिति में तीव्रता प्राप्त शोक भी एक अनिर्वचनीय सुख गति को विस्तारित करता है। एक ओर प्रेमानन्दमय कृष्ण–आनन्द का अनुभव, और दूसरी ओर अनिष्ट की आशंका से उदित दुःख का अनुभव। आगन्तुक दुःखानुभव प्रेमानन्दमय कृष्णानन्द के अनुभव को उत्कर्षमय कर देता है, जैसा थोड़ा सा नीबू का रस चीनी के शर्बत के माधुर्य को चमत्कारितामय कर देता है। उसी प्रकार प्रेमानन्द में आगन्तुक दुःखानुभवानन्द एक विशेष रस उत्पन्न कर देता है।

अतः शोकरति से उत्पन्न होने वाला करुणरस भी सुखमय है, अतिशय सुखदायी है।

इति श्रीभक्तिरसामृतसिन्धावुत्तरविभागे गौणभक्तिरस निरूपणे करुणभक्तिरस लहरी चतुर्थी।।४।।

• • •

पंचम-लहरी : रौद्रभक्तिरसाख्या

१–नीता क्रोधरतिः पुष्टिं विभावाद्यैर्निजोचितैः।
हृदि भक्तजनस्यासौ रौद्रभक्तिरसो भवेत्।।१।।
२–कृष्णो हितोहितश्चेति क्रोधस्य विषयस्त्रिधा।
कृष्णे सखीजरत्याद्याः क्रोधस्याश्रयतां गताः।
भक्ताः सर्वविधा एव हिते चैवाहिते तथा।।२।।

● *अनुवाद*–क्रोधरति अपने उचित विभावादि द्वारा भक्तचित्त में पुष्टि प्राप्त कर रौद्ररस में परिणत हो जाती है।।१।।

क्रोध के विषयालम्बन तीन प्रकार के हैं–१. *श्रीकृष्ण,* २. *हित* एवं ३. *अहित*। श्रीकृष्ण जब क्रोध के विषयालम्बन होते हैं तो सखी एवं जरती (जटिलादि) आदि क्रोध की अश्रयालम्बन होती हैं। जब हित और अहित क्रोध के विषय होते हैं तो सब प्रकार के ही क्रोध के आश्रयालम्बन भक्तजन हुआ करते हैं।।२।।

तत्र कृष्णे सख्याः क्रोध–

३–सखीक्रोधे भवेत्सख्याः कृष्णादत्याहिते सति।।३।।

यथा विदग्धमाधवे–

१–अन्तः क्लेशकलंकिंताः किल वयं यामोऽद्य याम्यां पुरं
नायं वंचनसंचयप्रणयिनं हासं तथाप्युज्झति।
अस्मिन्संपुटिते गभीरकपटैराभीरपल्लीविटे
हा मेधाविनि राधिके ! तव कथं प्रेमां गरीयानभूत्।।४।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*अत्याहितं महाभीतिः, कृष्णादित्यपादानं 'भीत्रार्थानाम् भयहेतु' रिति स्मरणात्।।३।। अन्तःक्लेश–कलंकिता इत्यस्य प्रकरणे परीक्षार्थं कृतौदासीन्यप्रायात् श्रीकृष्णात् राधाया अत्याहितं जातमिति ज्ञेयम्।।४।।*

● *अनुवाद–श्रीकृष्ण के प्रति सखी का क्रोध;* अपनी यूथेश्वरी के प्रति श्रीकृष्ण से अति अनिष्ट देखकर सखी का श्रीकृष्ण के प्रति क्रोध होता है।।३।।

उदाहरण; श्रीविदग्धमाधव नाटक में वर्णित है–(श्रीराधा के प्रेम की परीक्षा के लिए श्रीकृष्ण ने उनके प्रति उदासीनता प्रकाश की। उससे श्रीराधा का अत्यन्त अहित जानकर श्रीललिता श्रीकृष्ण के प्रति अति क्रोधित होकर श्रीराधा के पास जाकर बोलीं)–राधिके ! हम आन्तरिक क्लेश से कलंकित हो गई हैं, आज हम यमपुर (मृत्यु) को जा रही हैं, तथापि यह श्रीकृष्ण कपटतापूर्ण हास्य का परित्याग नहीं कर रहे। हे मेधाविनि राधे ! गोप–रमणियों के प्रति कामुक इस श्रीकृष्ण के महा कपटतापूर्ण प्रेम–चक्कर में तुम कैसे फँस गईं ?।।४।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–यहाँ श्रीकृष्ण रौद्ररस के विषय हैं, आश्रय हैं ललितादि सखीगण। उद्दीपन है श्रीकृष्ण की उदासीनता; अनुभाव हैं मरण की इच्छा एवं श्रीकृष्ण का कपटता प्रकाश करना; व्यभिचारि–भाव है–आवेग।

तत्र जरत्याः क्रोधः—

४—क्रोधो जरत्या वध्वादिसम्बन्धे प्रेक्षिते हरौ।।५।।

यथा—२—अरे युवतितस्कर ! प्रकटमेव वध्वाः पट
स्तवोरसि निरीक्ष्यते बत न नेति किं जल्पसि।
अहो व्रजनिवासिनः श्रृणुत किं न विक्रोशनं
व्रजेश्वरसुतेन मे सुतगृहेऽग्निरुत्थापितः।।६।।

● *अनुवाद—श्रीकृष्ण का जरती आदि के क्रोध का विषय होना;* श्रीकृष्ण का वधूओं के साथ सम्बन्ध देखकर वृद्धा—स्त्रियों का श्रीकृष्ण के प्रति क्रोध पैदा होता है।।५।।

उदाहरण—(श्रीकृष्ण के प्रति क्रोध प्रकाशित करते हुए एक वृद्धा ने कहा)—अरे युवति—तस्कर ! तुम्हारे वक्षःस्थल पर स्पष्ट रूप से मेरी पुत्रवधू का वस्त्र दीख रहा है, कितने दुःख की बात है कि तू ना—ना किये जा रहा है, ऐसा क्यों ? हे व्रजवासियो ! आप लोग मेरे चिल्लाने को नहीं सुनते हो ? व्रजेश्वर के पुत्र ने मेरी पुत्रवधू को फंसाकर मेरे घर में आग लगा रखी है।।६।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—श्रीपाद जीव गोस्वामी ने प्रीति—सन्दर्भ में कहा है, रौद्ररस में स्थायी—भाव है कृष्णप्रीतिमय क्रोध। जो वृद्धा अपनी पुत्रवधू आदि के साथ श्रीकृष्ण के संगम को जानकर क्रोधित होती हैं, उनका क्रोध भी श्रीकृष्ण—प्रीतिमय है। क्योंकि श्रीकृष्ण के प्रति समस्त व्रजवासियों की स्वाभाविकी प्रीति है। अतः व्रजवासिनी वृद्धा भी श्रीकृष्ण—प्रीति से अन्दर—बाहर भरपूर हैं। जब वे श्रीकृष्ण के प्रति क्रोधित होती हैं तब भी उनके क्रोध के अन्तराल में रहती है उनकी श्रीकृष्ण विषयिणी स्वाभाविकी प्रीति। श्रीकृष्ण की मंगल—कामना के लिए ही उनका क्रोध प्रकाशित होता है। पर—वधू के साथ मिलन में इस लोक में श्रीकृष्ण का अपयश होगा, परलोक में होगा अधर्म; इससे श्रीकृष्ण का अमंगल होगा; इसलिए वे श्रीकृष्ण के प्रति क्रोध करती हैं।

५—गोवर्द्धनं महामल्लं विनाऽन्येषां व्रजौकसाम्।
सर्वेषामेव गोविन्दे रतिः प्रौढा विराजते।।७।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*ननु जरत्याः क्रोधः कृष्णे कथं स्याद् (भा० १० ।१४ ।३२) "अहो भाग्यमहो भाग्यमित्यादिश्रीभागवतनिर्णयशतरीत्या व्रजवासिजीवमात्रानां सर्वातिक्रमेण सर्वसमर्पणेन च तदेकहितानां नासौ स्वार्थः संभवतीति? तत्राह—गोवर्द्धनमिति। सोऽयं चन्द्रावल्याः पतिंमन्यः कंसस्य कश्चिद्गोपः आगन्तुकतया कृतव्रजवास इति क्वचित्प्रसिद्धिः, तस्मात् तं विनान्येषामित्यादि योज्यम्, तदेवमपि तस्मिंस्तस्याः क्रोधस्तन्मंगलेच्छयैव मुख्यमुद्यममावहति न तु रत्यभावेनेति पूर्वं दर्शितमस्ति, तथा जनेष्वश्रृण्वत्स्वेव तथा क्रोशनं न तु श्रृण्वत्स्वपीति भावः।।७।।*

● *अनुवाद*—**गोवर्द्धन महामल्ल को छोड़कर अन्य समस्त व्रजवासियों में ही श्रीगोविन्द के प्रति प्रौढ़ा रति विद्यमान है।।७।।**

हरिकृपा–बोधिनी टीका–गोवर्द्धन मल्ल कंस का पक्षपाती गोप था, जो अपने को चन्द्रावली का पति मानता था योगमाया के प्रभाव से। यह किसी अन्य स्थान से आकर व्रज में बस गया था, अतः इसे व्रजजनों में नहीं गिना गया है।

अथ हितः–

६–हितस्त्रिधानवहितः साहसी चेटर्युरित्यपि।।८।।

तत्र अनवहितः–

७–कृष्णपालनकर्तापि तत्कर्माभिनिवेशतः।
क्वचित्तत्र प्रमत्तो यः प्रोक्तोऽनवहितोऽत्र सः।।६।।

यथा, ३–उत्तिष्ठ मूढ़े ! कुरु मा विलम्ब वृथैव धिक् पण्डितमानिनी त्वम्।
त्रुट्यत्पलाशिद्वयमन्तरा ते बद्धः सुतोऽसौ सखि ! बम्भ्रमीति।।१०।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*तत्र कृष्णपालने, क्वचित्तत्सम्बन्धिभावान्तरेण वैचित्त्ये सति प्रमत्तः तत्तपरमहानिकरीमपि तदवस्थामवधातुमसमर्थो यः सोऽनवहितः प्रोक्तः।।६।। पण्डितमानिनी पुत्रशिक्षाविज्ञमानिनी, त्रुट्यादिति भूतेऽपि 'वर्त्तमानसामीप्ये वर्त्तमानवद्वा' तदिदं प्रायस्तस्मिन् दिने तूपनन्दाद्येकतरगृहे निमन्त्रणया सपुत्रं गतायास्त्रुट्यद्वृक्षगर्जितादागतायाः श्रीदामोदरनिकटे श्रीव्रजेश्वराद्यागमनं वीक्ष्य गृह एव प्रविष्टायाः श्रीरोहिण्यास्तच्छब्दकृतभयमूर्च्छात उत्थितप्रायां श्रीव्रजेश्वरी प्रति वाक्यम्।।१०।।*

● *अनुवाद–हितकारी तीन प्रकार के हैं*–१. अनवहित, २. *साहसी* तथा ३. ईर्ष्यु।।८।।

अनवहित; श्रीकृष्ण के पालनकर्ता होकर भी कृष्ण–सम्बन्धी अन्य कर्म अर्थात् भोजनादि सामग्री जुटाने में अभिनिवेश के कारण श्रीकृष्ण के रक्षण कार्य में जो असावधान रहते हैं, उन्हें 'अनवहित' कहते हैं।।६।।

उदाहरण; रोहिणीदेवी ने श्रीयशोदा जी से कहा, अरी मूर्ख उठ–उठ, देर न कर। तुम्हें धिक्कार है, वृथा ही तू अपने को पुत्र को शिक्षा देने में चतुर–सयानी समझती है। सखि ! ऊखल से बन्धा हुआ तुम्हारा पुत्र कृष्ण गिरे हुए दोनों वृक्षों के बीच फंस रहा है। (यहाँ श्रीयशोदाजी को अनवहित हितकारी रूप में उद्धृत किया गया है)।।१०।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–यह वचन उस समय के हैं जब श्रीकृष्ण को ऊखल से बाँधकर श्रीयशोदा जी अपने गृह में भोजनादि बनाने में लग गईं और इधर यमलार्जुन के वृक्ष ऊखल से बन्धे श्रीकृष्ण ने गिरा दिये। उपनन्द जी के घर से वृक्षों का शब्द सुनकर रोहिणी जी भागती हुई आईं और यशोदा जी को मूर्च्छित देखा, तब उन्होंने क्रोध भरे उक्त वचन, कहे। श्रीयशोदा जी भोजनादि के कार्य में अभिनिविष्ट होने से श्रीकृष्ण की रक्षा विषय में असावधान हो गईं थीं।

अथ साहसी–

८–यः प्रेरको भयस्थाने साहसी स निगद्यते।।११।।

यथा, ४–गोविन्दः प्रियसुहृदां गिरैव यातस्तालानां विपिनमिति स्फुटं निशम्य।
भ्रूभेदस्थपुटितदृष्टिरास्यमेषा डिम्भानां व्रजपतिगेहिनी ददर्श।।१२।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*स्थपुटितं विषमीकृतं, स्थपुटं विषममिति त्रिकाण्डशेषः, विषमन्तु नतोन्नतमिति ज्ञेयम्।।१२।।*

अनुवाद-साहसी; जो श्रीकृष्ण को भयपूर्ण स्थान पर जाने की प्रेरणा करते हैं, उनको 'साहसी' कहते हैं।।११।।

उदाहरण—प्रिय सुहृदगण के कहने पर ही श्रीकृष्ण (धेनुकासुर द्वारा आक्रान्त) तालवन में गये, यह बात स्पष्ट रूप से सुनकर श्रीनन्दराज—पत्नि यशोदा भौंह टेढ़ी कर नेत्रों से बालकों को देखने लगीं। (यहाँ प्रियसुहृद् सखा साहसी—हितकारी हैं)

अत्र ईर्ष्यु—

६—ईर्ष्युर्मानधना प्रोक्ता प्रौढेर्ष्या—क्रान्तमानसाः।।१३।।

यथा, ५—दुर्मानमन्थमथिते ! कथयामि किं त
दूरं प्रयाहि सविधे तव जाज्वलीमि।
हा धिक् प्रियेण चिकुरांचितपिंछकोट्या।
निर्मञ्छिताग्रचरणाप्य रुषोद्धरासीः।।१४।।

अनुवाद-ईर्ष्यं; जिन रमणियों का केवल मान मात्र ही धन है अर्थात् सदा मानिनी रहती हैं और प्रबल ईर्ष्या जिनके मन को घेरे रहती है, उन्हें 'ईर्ष्यु—हितकारी' कहते हैं।।१३।।

श्रीललिता ने कहा, हे अनुचित मान द्वारा मथित सखि ! तुम्हें और क्या कहूँ ! तुम्हारे पास रहना ही मुझे जला रहा है, तुम मुझसे दूर हट जाओ। हाय ! कैसा दुःख तुम्हें धिक्कार ! तुम्हारे प्रिय श्रीकृष्ण अपने मुकुट के मोरपुच्छ से तुम्हारे चरण—नखों को जब मार्जन करते रहे थे, चरणों में पड़कर तुम्हें मना रहे थे, उस समय तो तू क्रोध में ऐंठी रही; (अब मुझसे उन्हें बुलाने की प्रार्थना कर रही है)।।१४।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—श्रीराधाजी मानिनी हो गईं। श्रीकृष्ण ने उन्हें अतिशय अनुनय—विनयपूर्वक मनाने का यत्न किया, सखियों ने भी मान त्यागने के लिए बहुत प्रार्थना की, किन्तु श्रीराधाजी का मान भंग न हुआ। अन्त में श्रीकृष्ण खिन्न—मन होकर वहाँ से चले गए। श्रीकृष्ण के चले जाने पर श्रीराधाजी का मन अनुताप करते हुए अति दुःखी हो उठा, मान भंग हो गया। अब वह श्रीकृष्ण को ले आने के लिए ललिताजी को प्रार्थना करने लगीं। तब ललिताजी ने क्रोधित होकर उपर्युक्त वचन श्रीराधाजी के प्रति कहे। यहाँ श्रीराधा ईर्ष्यु—हितकारी हैं और ललिता के क्रोध की विषय हैं।

अथ अहितः

१०—अहितः स्याद् द्विधा स्वस्य हरेश्चेति प्रभेदतः।।१५।।

तत्र स्वस्याहितः—

११—अहितः स्वस्य स स्याद्यः कृष्णसम्बन्धबाधकः।।१६।।

यथोद्धवसंदेशे–

६–कृष्णं मुष्णन्नकरुण ! बलाद्गोष्ठतो निष्ठुरस्त्वं
मा मर्यादां यदुकुलभुवां भिन्धि रे गान्दिनेय !
पश्याभ्यर्णे त्वयि रथमधिष्ठाय यात्रां विधित्सौ
स्त्रीणां प्राणैरपि नियुतशो हन्त यात्रा व्यधायि।।१७।।

अनुवाद-अहितकारियों का विषयालम्बनत्व; अहितकारी दो प्रकार के हैं–१. निज अहितकारी तथा २. श्रीकृष्ण के अहितकारी।।१५।।

निज अहितकारी; अपने साथ श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में जो बाधा डालता है, उसे 'निज–अहितकारी' कहते हैं।१६।।

उदाहरण–(उद्धव–सन्देश में) अक्रूर जब श्रीकृष्ण को मथुरा ले जाने लगे तो व्रजगोपियों ने कहा, अकरुण अक्रूर ! तू अत्यन्त निष्ठुर है; तू बलपूर्वक इस व्रज से श्रीकृष्ण को ले जा रहा है। देख, श्रीकृष्ण के साथ रथ पर चढ़कर चलते ही कोटि–कोटि हम व्रजगोपियों के प्राणों को भी साथ लेकर तुम्हें यात्रा करनी होगी। इसलिए हे निष्ठुर अक्रूर ! यदकुल की रमणियों की मर्यादा नष्ट मत कर।।१७।।

अथ हरेरहितः–

१२–अहितस्तु हरेस्तस्य वैरिपक्षो निगद्यते।।१८।।

यथा, ७–हरौश्रुतिशिरःशिखामणिमरीचिनीराजित–
स्फुरच्चरणपंकजेऽप्यवमतिं व्यनक्त्यत्र यः।
अयं क्षिपति पाण्डवः शमनदण्डघोरं हठात्
त्रिरस्य मुकुटोपरि स्फुटमुदीर्य सव्यं पदम्।।१६।।

अनुवाद-श्रीकृष्ण का अहित; श्रीकृष्ण के शत्रुपक्ष को उनका अहित या अहितकारी कहा गया है।।१८।।

उदाहरण; श्रुतियों के शिरोभाग–स्वरूप उपनिषत् समूह की मुकुटमणि रूप मीरीचिका में जिनके उज्ज्वल चरण–कमल निर्मञ्छित होते हैं, उन श्रीकृष्ण के प्रति शिशुपाल जब अवज्ञा प्रकाशित कर रहा था, श्रीभीम–पाण्डव ने स्पष्ट बात कहते हुए उसके मुकुट पर यमदण्ड से भी अधिक घोरतर बायें चरण की तीन बार ठोकर लगाई। (यहाँ शिशुपाल श्रीकृष्ण का वैरी–अहितकारी है और श्रीभीम के प्रीतिमय क्रोध का विषय है)।।१६।।

१३–सोल्लुण्ठहासवक्रोक्तिकटाक्षानादरादयः।
कृष्णाहितहितस्थाः स्युरमी उद्दीपना इह।।२०।।
१४–हस्तनिष्पेषणं दन्तघट्टनं रक्तनेत्रता।
दष्टौष्ठताऽतिभ्रुकुटी भुजास्फालनताड़नाः।।२१।।
१५–तूष्णीकता नतास्यत्वं निश्वासो भुग्नदृष्टिता।
भर्त्सनं मूर्द्धविधूतिर्दृगन्ते पाटलच्छविः।।२२।।

१६–भ्रूभेदाधरकम्पाद्या अनुभावा इहोदिताः।
अत्र स्तम्भादयः सर्वे प्राकट्यं यान्ति सात्विकाः।।२३।।
१७–आवेगो जड़ता गर्वो निर्वेदो मोहचापले।
असूयौग्रयं तथामर्षश्रमाद्या व्यभिचारिणः।।२४।।

● *अनुवाद*–श्रीकृष्ण के हित एवं अहित व्यक्तियों में व्यंग वचन कहकर या चुटकी लेते हुए हँसना, टेढ़े–वचन, कटाक्ष, अनादर आदि रौद्ररस में उद्दीपन होते हैं।।२०।।

हाथ पटकना, दान्त पीसना, नेत्रों का लाल हो जाना, होंठ फड़कना, भौंह चढ़ाना, बाँहे उछालना, ताड़ना, चुपचाप रहना, मुँह झुकाना, निश्वास, टेढ़ी–दृष्टि, भर्त्सन, सिर हिलाना, नेत्र प्रान्तों का लाल होना, भ्रुकुटि–भंग तथा अधरों का काँपना इसके 'अनुभाव' हैं। रौद्ररस में स्तम्भादि समस्त सात्त्विक–भाव प्रकटित होते हैं।।

आवेग, जड़ता, गर्व, निर्वेद, मोह, चापल, असूया, उग्रता, अमर्ष तथा श्रमादि इस रस के व्यभिचारि–भाव हैं।।२४।।

१८–अत्र क्रोधरतिः स्थायी स तु क्रोधस्त्रिधा मतः।
कोपो मन्युस्तथा रोषस्तत्र कोपस्तु शत्रुगः।।२५।।
१६–मन्युर्बन्धुषु ते पूज्य–सम–न्यूनास्त्रिधोदिताः।
रोषस्तु दयिते स्त्रीणामतो व्यभिचरत्यसौ।।२६।।
२०–हस्तपेषादयः कोपे मन्यौ तूष्णीकतादयः
दृगन्तपाटलत्वाद्या रोषे तु कथिताः क्रियाः।।२७।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*व्यभिचरति आद्ये रसे व्यभिचारितां प्राप्नोति, जरतीसख्यादीनां कोपमन्युवन्नामूषां रोषः स्थायिता–मायातीत्यर्थः, तदेवं पूर्वमुक्ता आवेगादयश्च व्यभिचारिणः। औग्र्यप्रधानाः शत्रु विषयाः, अमर्ष प्रधाना बन्धुविषयाः, असूयाप्रधाना दयित विषया ज्ञेयाः।।२६।।*

● *अनुवाद*–रौद्ररस में क्रोधरति स्थायी भाव है। क्रोध तीन प्रकार का है–१. *कोप*, २. *मन्यु* तथा ३. *रोष*। इनमें शत्रु के प्रति जो क्रोध होता है उसे *'कोप'* कहते हैं। जो क्रोध बन्धुओं के प्रति होता है उसे *'मन्यु'* कहते हैं। यह मन्यु फिर, पूज्य, समान तथा छोटे बन्धुओं के भेद से तीन प्रकार का है। प्रिय व्यक्ति तथा स्त्रियों के प्रति जो क्रोध होता है उसे *''रोष''* कहते हैं। यह रोष कभी–कभी व्यभिचारि भी होता है। 'कोप' में हस्त मलना या काँपना, 'मन्यु में चुप रह जाना एवं 'रोष' में आँखों के किनारे लाल हो जाना अनुभाव हैं।।२५–२७।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–श्रीपाद जीवगोस्वामी ने कहा है, शृंगार–रस में रोष व्यभिचारिता को प्राप्त होता है। वृद्धाओं के एवं सखियों के मन्यु की भाँति कान्ताओं का रोष स्थायिता प्राप्त नहीं करता। उसी प्रकार पूर्वोक्त आवेगादि, व्यभिचारि भावों में औग्र्य प्रधान व्यभिचारि भाव शत्रु विषयक हाते हैं, अमर्ष प्रधान भाव बन्धु विषयक और असूया प्रधान भाव प्रियाओं के प्रति व्यभिचारि भाव हैं।

तत्र वैरिणि, यथा–

८–निरुध्य पुरमुन्मदे हरिमगाधसत्वाश्रयं
मृधे मगधभूपतौ किमपि वक्रमाक्रोशति।
दृशं कवलितद्विषद्विसरजांगले लांगले
नुनोद दहदिंगलप्रबलपिंगलां लांगली।।२८।।

पूज्ये, यथा विदग्धमाधवे–

९–क्रोशन्त्यां करपल्लवेन बलवान्सद्यः पिधते मुखं
धावन्त्यां भयभाजि विस्तृत–भुजो रुन्धे पुरः पद्धतिम्।
पादान्ते बिलुठत्यसौ मयि मुहुर्दष्टाधरायां रुषा
मातश्चण्डि ! मया शिखण्डमुकुटादात्माऽभिरक्ष्यः कथम्।।२९।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*द्विषद्विसरजांगलं शत्रुसमूहमांसम्, इंगलोऽगारः।।२८।। क्रोशन्त्यामिति भावं परीक्षामाणायां पौर्णमास्यां कृष्णस्फूर्त्तिमयं चरितं साक्षाद्रूपमिव श्रीराधया कथितम्।।२९।।*

● *अनुवाद–श्रीकृष्ण–शत्रु के प्रति क्रोध;* मगधदेश के राजा उन्मत्त जरासन्ध ने जब मथुरा को घेरकर युद्ध क्षेत्र में अगाध सम्पत्तिशाली श्रीकृष्ण को वक्रभाव से ललकारा, तो हलधर श्रीबलदेव ने शत्रुओं के समस्त मांस ग्रासकारी अपने हल को जलते हुए अँगारे की तरह प्रबल लाल क्रोध भरे नेत्रों से देखा। (श्रीकृष्ण–शत्रु जरासन्ध के प्रति बलराम का कोप–नामक क्रोध दिखाया गया है।)।।२८।।

पूज्य बन्धु के प्रति मन्यु–नामक क्रोध का उदाहरण; श्रीविदग्धमाधव नाटक में–(श्रीराधा की प्रेम–परीक्षा के लिए पौर्णमासी देवी ने श्रीराधा को जब पतिव्रत्यधर्म का उपदेश किया तो श्रीराधा ने मन्यु–क्रोध सहित पौर्णमासी को कहा)–माता ! मैं क्या करूँ ? यदि मैं शोर मचाती हूँ ता बलवान् मोरमुकुटधारी उसी क्षण अपने हाथों से मेरे मुँह को ढक देता है; यदि मैं डरकर भागती हूँ तो वह अपनी भुजाओं को पसार कर मेरे सामने आकर मेरा रास्ता रोक लेता है; (रास्ता छोड़ देने के लिए) जब मैं उसके चरणों में पड़ती हूँ, तो वह रोषपूर्वक बार–बार मेरे अधरों को दंशन करने लगता है। कोपिनि–चण्डि ! अब तुम ही बताओ मैं कैसे उस मोरपुच्छधारी से अपनी रक्षा करूँ ? (पौर्णमासी श्रीराधा की हितैषिणी एवं पूज्या बान्धवी हैं। श्रीराधा के इस क्रोध को मन्यु कहा गया है)।।२९।।

समे, यथा–

१०–ज्वलति दुर्मुखि ! मर्मणि मुर्मुरस्तव गिरा जटिले ! निटिले च मे।
गिरिधरः स्पृशति स्म कदा मदाद दुहितरं दुहितुर्मम पामरि !।।३०।।

न्यूने, यथा–

११–हन्त स्वकीयकुचमूर्ध्नि मनोहरोऽयं
हारश्चकास्ति हरिकण्ठतटीचरिष्णुः।
भोः ! पश्यत स्वकुलकज्जलमंजरीयं
कूटेन मां तदपि वंचयते वधूटी।।३१।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका— *ज्वलतीति। जटिलामुखरयोर्निभृतकलहः, मुर्मुरस्तुषाग्निः, निटिले शिरसि।।३०।। कदाचिन्निजांगाज्झटिति श्रीराधिकयाऽवतारितं हरिहारं वीक्ष्य तस्याः सखीः प्रति जटिला–वचनं–हन्तेति।।३१।।*

● *अनुवाद–समान के प्रति मन्यु;* (श्रीराधा की नानी मुखरा तथा श्रीराधा की सास जटिला एकान्त कलह कर रहीं थीं। जटिला ने कहा, श्रीकृष्ण मेरी पुत्रवधू राधा के कुलधर्म का नाश करता है। तब मुखरा ने क्रोधित होकर कहा, हे दुर्मुखि जटिले ! तुम्हारे कटुवचन मेरे हृदय को तुषानल की तरह जला रहे हैं। हे नीचनि ! बता तो सही, गिरधर ने मदोन्मत्त होकर कभी मेरी दोहित्री का स्पर्श भी किया है ? (यहाँ मुखरा एवं जटिला बन्धु भी हैं अैर समान भी। समान के प्रति क्रोध रूप मन्यु के उदाहरण रूप में इसे लिया गया है)।।३०।।

छोटे के प्रति मन्यु का उदाहरण; (एक दिन निकुंज से घर लौटते समय जल्दी के कारण तथा भ्रमवश श्रीकृष्ण का हार जो श्रीराधा जी ने अपने गले में डाल रखा था, श्रीकृष्ण को नहीं लौटाया और अपने गलेमें डालकर घर आ पहुँची। घर पर आकर जब उनकी दृष्टि उस हार पर पड़ी तो उसे उतार कर फैंक दिया। जटिला यह सब देख रही थी, उसने वह हार उठा लिया। और श्रीराधा की सखियों को बुलाकर क्रोध–पूर्वक कहने लगी)–अरी ओ मेरी वधू की सखियो ! देखो, यह मनोहर हार हरि के कण्ठ में लटक रहा था, यही हार मेरी वधू के कुच–प्रान्त पर शोभित हो रहा था। हाय ! हाय !! कितना कष्ट है ? तथापि यह अपने कुल की कज्जल मंजरी (कालिमा) छोटी सी वधूटी बहाने बनाकर मुझे वंचित करती है। (यहाँ जटिला का क्रोध अपने से छोटी श्रीराधा के प्रति है। श्रीराधा बन्धुस्थानीया तो है ही। अतः यह क्रोध मन्यु माना गया है)

२१–अस्मिन्न तादृशो मन्यौ वर्त्तते रत्यनुग्रहः।
उदाहरणमात्राय तथाऽप्येष निदर्शितः।।३२।।
२२–क्रोधाश्रयाणां शत्रूणां चैद्यादीनां स्वभावतः।
क्रोधो रतिविनाभावान्न भक्तिरसतां व्रजेत्।।३३।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका– *न तादृश इति। न स्पष्ट इत्यर्थः, गोवर्द्धनं विना मल्लमित्याद्युक्तत्वात्।।३२।।*

● *अनुवाद*–इस मन्यु में रसयोग्य रति–अनुग्रह नहीं है अर्थात् पहले कहा जा चुका है कि गोवर्द्धन मल्ल को छोड़कर और समस्त व्रजजनों में श्रीकृष्ण के प्रति प्रौढ़ा रति है। इसलिए जटिला में भी श्रीकृष्णविषया प्रौढ़ा रति विद्यमान है। किन्तु इस उदाहरण में जटिला की कृष्णविषया प्रौढ़ा रति रसोपयोगिनी रूप में स्पष्ट नहीं, तथापि केवल छोटे के प्रति मन्यु के उदाहरण रूप में इसका उल्लेख किया गया है।।३२।।

क्रोध के आश्रयस्वरूप चेदिपति शिशुपाल आदि कृष्ण–शत्रुओं में जो स्वभाव–सिद्ध क्रोध है, वह कृष्णरति से उदभूत नहीं है। अतः वह भक्तिरसता को प्राप्त नहीं हो सकता।।३३।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–रौद्ररस के सम्बन्ध में यहाँ तक जो समस्त उदाहरण दिए गए हैं, उन समस्त का सर्वदा स्थायी–भाव है श्रीकृष्ण–प्रीतिमय क्रोध। श्रीकृष्ण भी इस प्रकार के विषय हो सकते हैं। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि जो श्रीकृष्ण के शत्रु हैं, उनका भी तो कृष्ण के प्रति क्रोध रहता है, वह क्रोध रौद्रभक्तिरस में परिणत हो सकता है कि नहीं ? इसके उत्तर में उपर्युक्त कारिका कही गई है। वास्तव में कृष्णविषया रति या प्रीति जब क्रोध के द्वारा आवृत होती है, तभी क्रोधरति कहलाती है। रति ही आस्वादनीय है, क्रोध नहीं। जहाँ रति नहीं है, वहाँ कुछ भी आस्वादनीय वस्तु नहीं रह सकती। अतः वहाँ रस की उत्पत्ति का भी कोई प्रश्न नहीं उठता। शिशुपालादिक का क्रोध कृष्णरतिशून्य है। अतः रौद्रभक्तिरस में वह परिणत नहीं हो सकता। उनका श्रीकृष्ण में शत्रुभाव है। उससे उदय होता है उनका क्रोध और वह क्रोध भी उनका स्वाभाविक है।

इति श्रीभक्तिरसामृतसिन्धावुत्तरविभागान्तर्गत गौणभक्तिरस निरूपणे रौद्रभक्तिरस लहरी पंचमी।।५।।

● ● ●

षष्ठ लहरी : भयानकभक्तिरसाख्या

१–वक्ष्यमाणैर्विभावाद्यैः पुष्टिं भयरतिर्गता।
भयानकाभिधौ भक्तिरसो धीरैरुदीर्यते।।१।।
२–कृष्णश्च दारुणाश्चेति तस्मिन्नालम्बना द्विधा।
अनुकम्प्येषु सागस्सु कृष्णस्तस्य च बन्धुषु।।२।।
३–दारुणाः स्नेहतः शश्वत्तदनिष्टाप्तिदर्शिषु।
दर्शनाच्छ्रवणाच्चेति स्मरणाच्च प्रकीर्तिताः।।३।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*तद्भक्ताश्चेति वक्तव्ये दारुणाश्चेत्युक्तिः प्राकृतरसविन्मतानुसारेण। स्वमतानुसारेण तु पंचम्यर्थानां तेषामालम्बनत्वं न सम्भवति, सामान्ये विशेषेषु च सप्तम्यर्थस्यैवालम्बनत्वेन स्वीकृतत्वात्, प्राकृतरस–विन्मतानुवादमयमेतत् प्रकरणमिति स्वयं लिखिष्यते (४।७।१७)–*

हास्यादीनां रसत्वं यद्गौणत्वेनापि कीर्तितम्।
प्राचां मतानुसारेण तद्विज्ञेयं मनीषिभिरिति।।

स्वमते तु प्रथमपक्षेऽनुकम्प्या एव भयस्य विषयत्वेनाश्रयत्वेन चालम्बनाः कृष्णस्तु हेतुमात्रं, तद्द्वितीयपक्षे कृष्णो विषयत्वेन, बन्धवः आश्रयत्वेनालम्बनाः, दारुणास्तु हेतुमात्रमिति ज्ञेयं, रतिस्तु यथायथमस्त्येव।।२।।

● **अनुवाद–भयरति आगे कहे जाने वाले विभावादिक के द्वारा जब पुष्टि प्राप्त करती है, तब उसे पण्डितजन '*भयानक–भक्तिरस*' कहते हैं।।१।।**

भयानक–भक्तिरस में विषयालम्बन दो प्रकार के हैं–१. *श्रीकृष्ण* तथा २. *दारुण–असुरादि*। उनमें अपराधकारी अनुकम्पा योग्य भक्त यदि आश्रयालम्बन हों तब श्रीकृष्ण होते हैं विषयालम्बन। और जो श्रीकृष्ण के बन्धु हैं और

स्नेहवश सर्वदा श्रीकृष्ण के अनिष्ट की आशंका करते रहते हैं, वे यदि आश्रयालम्बन होते हैं तो जिन असुरादि दारुण व्यक्तियों के देखने–सुनने तथा स्मरण करने से भय उदय होता है, वे असुरगण ही उसके विषयालम्बन होते हैं।।२–३।।

तत्र अनुकम्प्येषु कृष्णो, यथा–

१–किं शुष्यद्वदनोऽसि मुञ्च खचितं चित्ते पृथुं वेपथुं
विश्रम्य प्रकृतिं भजस्व न मनागप्यस्ति मन्तुस्तव।
ऊष्मम्रक्षितमृक्षराज ! रभसाद्विस्तीर्यं त्वया
पृथ्वी प्रत्युत युद्धकौतुकमयी सेवैव मे निर्मिता।।४।।

यथा वा, २–मुरमथन ! पुरस्ते को भुजंगस्तपस्वी
लघुरहमिति कार्षीर्मा स्म दीनाय मन्युम्।
गुरुरयमपराधस्तथ्यमज्ञानतोऽभू–
दशरणमतिमूढं रक्ष रक्ष प्रसीद।।५।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*ऊष्मा क्रोधसन्तापः, पृथ्वी पृथुतरा।।४।। कालियस्य वाक्यं, तपस्वी वराकः, मन्यु क्रोधः।।५।।*

● *अनुवाद*–अनुकम्प्य सापराध भक्त के आश्रय आलम्बन होने पर श्रीकृष्ण के विषयालम्बन का उदाहरण–(जाम्बवन्त को श्रीकृष्ण ने कहा), हे ऋक्षराज ! तुम्हारा मुख क्यों सूख रहा है ? तुम्हारे हृदय में जो कम्पन हो रही है उसका त्याग कर दो। तुम्हारा ज़रा भी अपराध नहीं है। कुछ विश्राम करके अपने स्वभाव का तू अनुगमन कर। क्रोध–सन्ताप युक्त शक्ति को प्रकाशित कर तुमने तो युद्ध कौतुकमयी मेरी महान् सेवा की है।।४।। (जाम्बवन्त ने श्रीकृष्ण के साथ युद्ध करने को अपराध जाना, और भयभीत हो उठा, किन्तु वह श्रीकृष्ण कृपापात्र था)।।४।।

दूसरा उदाहरण; (श्रीकृष्ण का तत्त्व जानने के बाद उनके शरणापन्न होकर कालियनाग ने कहा)–हे मुरनाशक ! आपके आगे मुझ जैसे क्षुद्र सर्प की क्या चले ? अति क्षुद्र हूँ मैं, यही विचार कर आप मुझ दीन के प्रति रुष्ट न हों। आपके स्वरूप को न जानकर ही मैंने आपके प्रति बहुत बड़ा अपराध किया है। मुझ आश्रयहीन अति मूर्ख की आप रक्षा करो–रक्षा करो ! मेरे प्रति प्रसन्न होओ।।५।।

बन्धुषु, दारुणा दर्शनादयथा–

३–हा किं करोमि तरलं भवनान्तराल गोपेन्द्र ! गोपय बलादुपरुध्य बालम्।
क्ष्मामण्डलेन सह चंचलयन्मनो मे शृंगाणि लङ्घयति पश्य तुरगदैत्यः।।६।।

श्रवणाद्यथा–

४–शृण्वती तुरगदानवं रुषा गोकुलं किल विशन्तमुद्धुरम्।
द्रागभूत्तनयरक्षणाकुला शुष्यदास्यजलजा व्रजेश्वरी।।७।।

स्मरणाद्यथा–

५–विरम विरम मातः पूतनायाः प्रसंगा–
त्तनुमियमधुनाऽपि स्मर्यमाणा धुनोति।
कबलयितुमिवांगीकृत्य बालं घुरन्ती
वपुरतिपुरुषं या घोरमाविश्चकार।।८।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*शृंगाणि वृक्षादीनामग्रभागान्।।६।। विरमेति। किंचिद् दूरादागतामज्ञातवृत्तां प्रति श्रीव्रजेश्वरीवाक्यं, ततः कवलयितुमित्यानुवाददोषोऽपि न स्यात्, घुरन्ती भीमशब्दं कुर्वन्ती, "घुर भीमार्त्तशब्दयो" रित्यस्य रूपम्।।८।।*

● *अनुवाद–असुरों के दर्शन से बन्धुओं में भय का उदाहरण*–(श्रीनन्दराज के प्रति श्रीयशोदा जी ने कहा, हाय ! मैं क्या करूँ ? हे गोपेन्द्र ! इस चंचल बालक–कृष्ण को बलपूर्वक कमरे में ही बन्द करके रखो, वह अश्वाकृति केशी दैत्य वृक्षों को उल्लंघन करता हुआ भूमण्डल तथा मेरे मन को भयभीत कर रहा है। (केशी असुर है, उसे देखकर श्रीकृष्ण की अनिष्ट की आशंका से माता यशोदा भयभीत हो रही है। भय की आश्रय है यशोदा जी। विषय है दारुण केशी दैत्य। किन्तु प्रीति–सन्दर्भ के मतानुसार मूल विषय हैं, श्रीकृष्ण और उद्दीपन है केशी दैत्य।।६।।

श्रवण के प्रति भय का उदाहरण; केशी नामक भयानक दानव क्रोधित होकर गोकुल में प्रवेश कर रहा है, यह बात सुनकर व्रजेश्वरी यशोदा सहसा अपने बाल–कृष्ण की रक्षा के लिए व्याकुल–चित्त हो उठीं एवं उसका मुख–कमल सूख गया।।७।।

स्मरण–जन्य भय का उदाहरण–(किसी दूर देश से आई हुई एक स्त्री श्रीयशोदा से पूतना के सम्बन्ध में जानकारी करने लगी, तब यशोदा जी ने कहा)–अरी माँ ! चुप रहो, पूतना की बात फिर मत चलाओ। उसकी याद आते ही अब भी मेरा शरीर काँपने लगता है। मेरे बालक को कवलित करने के लिए उस पूतना ने मेरे बालक को अपनी गोद में उठा लिया था और भयानक शब्द करते हुए उसने कठिन भयानक शरीर धारण कर लिया।।८।।

४–विभावस्य भ्रुकुट्याद्यास्तस्मिन्नुद्दीपना मताः।
मुखशोषणमुच्छ्वासः परावृत्य विलोकनम्।।६।।
५–स्वसंगोपनमुद्घूर्णा शरणान्वेषणं तथा।
क्रोशनाद्याः क्रियाश्चात्र सात्त्विकाश्चाश्रुवर्ज्जिताः।।१०।।
६–इह सन्त्रास–मरण–चापलावेगदीनताः
विषाद–मोहापस्मार–शंकाद्या व्यभिचारिणः।।११।।

● *अनुवाद*–भयानक रस में विषयालम्बन के विभावों के भ्रुकुटि आदि *'उद्दीपन'* होते हैं। मुँह सूखना, उच्छ्वास, पीछे की ओर देखना, अपने को छिपाना, उद्घूर्णा, किसी का आश्रय लेना तथा चिल्लाना इसके *'अनुभाव'* हैं। अश्रु को छोड़कर सब *'सात्त्विक भाव'* होते हैं। सन्त्रास, मरण, चापल, आवेग, दैन्य, विषाद, मोह, अपस्मार तथा शंकादि इस रसके *'व्यभिचारि–भाव'* हैं।।६–११।।

७—अस्मिन् भयरति स्थायी भावः स्यादपराधितः।
भीषणेभ्यश्च तत्र स्यादबहुधैवापराधिता।।१२।।
८—तज्जा भीर्नापरत्र स्यादनुग्राह्यजनान् विना।
आकृत्या ये प्रकृत्या ये ये प्रभावेण भीषणाः।।१३।।
९—एतदालम्बना भीतिः केवलप्रेमशालिषु।
नारीबालादिषु तथा प्रायेणात्रोपजायते।।१४।।

● *अनुवाद*—भयानक रस में *स्थायीभाव* है भयरति। अपराध से एवं भयानक असुरों से ऐसा भय पैदा होता है। अपराध—जनित भय केवल अनुग्राह्य भक्तों में ही पैदा होता है। जो आकृति से, किंवा स्वभाव से, अथवा प्रभाव से भयानक हैं, वे जिस भय के विषयालम्बन होते हैं, वह भय केवल प्रेमी भक्तों में 'एवं' प्रायशः स्त्रियों और बालकों में पैदा होता है।।१२।१४।।

१०—आकृत्या पूतनाद्याः स्युः प्रकृत्या दुष्टभूभुजः।
भीषणास्तु प्रभावेण सुरेन्द्र—गिरिशादयः।।१५।।
११—सदा भगवतो भीतिं गता आत्यन्तिकीमपि।
कंसाद्या रतिशून्यत्वादत्र नालम्बना मताः।।१६।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*दुष्टभूभुजः शिशुपालादयः।।१५।।*

● *अनुवाद*—पूतनादि आकृति से भयानक हैं। शिशुपालादि दुष्ट राजागण प्रकृति या स्वभाव से भयानक थे एवं इन्द्र तथा शंकरादि प्रभाव से भयानक हैं।।१५।। सदा श्रीकृष्ण से आत्यन्तिक भयभीत होते हुए भी कंसादि इस रस के आलम्बन नहीं हो सकते क्योंकि ये श्रीकृष्ण—रतिशून्य हैं।।१६।।

इति श्रीभक्तिरसामृतसिन्धावुत्तरविभागे गौणभक्तिरस निरूपणे भयानकभक्तिरसलहरी षष्ठी।।६।।

● ● ●

सप्तम-लहरी : वीभत्सभक्तिरसाख्या

१—पुष्टिं निजविभावाद्यैर्जुगुप्सा—रतिरागता।
असौ भक्तिरसो धीरैर्वीभत्साख्य इतीर्यते।।१।।
२—अस्मिन्नाश्रितशान्ताद्या धीरैरालम्बना मताः।।२।।

यथा, १—पाण्डित्यं रतहिण्डकाध्वनि गतो यः कामदीक्षाव्रती
कुर्वन्पूर्वमशेषषिड्गनगरी साम्राज्यचर्यामभूत्।
चित्रं सोऽयमुदीरयन् हरिगुणानुद्वाष्पदृष्टिर्जना
दृष्टे स्त्रीवदने विकूणितमुखो विष्टभ्य निष्ठीवति।।३।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*अत्र वीभत्सितस्यैवालम्बनत्वेऽप्याश्रितशान्ता—दीनामालम्बनत्वं रत्यंशेन, शान्तोऽत्र तपस्विरूप एव, आद्यग्रहणात् अप्राप्त—भगवत्सान्निध्याः सर्व एव।।२।। रतहिण्डको रतचौरः, विकूणितमुखोः वक्रितवदनः, विष्टभ्य विशेषेण स्तब्धो भूत्वा।।३।।*

● *अनुवाद*—जुगुप्सा रति यदि आत्मोचित विभावादि द्वारा पुष्टि प्राप्त करे, तब उसे पण्डितजन *'वीभत्सरस'* नाम से पुकारते हैं।।१।। इस वीभत्सरस में आश्रित—शान्तादि व्यक्तिगण *'आलम्बन विभाव'* होते हैं।।२।।

उदाहरण, चौर्यरति के मार्ग में निपुणता प्राप्तकर समस्त स्त्रीलम्पटों की नगरी में स्वच्छन्द आचरण करते हुए जो काम—दीक्षा का व्रत धारण करता था, कैसा आश्चर्य है ! कि वह हरिगुण कीर्तन करते—करते नेत्रों से प्रेम अश्रुओं की धारा प्रवाहित कर रहा है। स्त्री का मुख दीख जाने पर मुख सिकोड़ लेता है और स्तब्ध होकर थूकने लगता है।।३।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—श्लोक सं० २ की टीका में श्रीपाद जीवगोस्वामी का कहना है कि आश्रित—शान्त आदिकों का जो आलम्बनत्व है वह केवल रति अंश में है। यहाँ शान्त से तपस्वीगण ही हैं। 'आदि'—शब्द से वे लोग अभिप्रेत हैं जिनको भगवत्—सान्निध्य प्राप्त नहीं हुआ।

प्रीतिसन्दर्भ में कहा गया है कि दूसरों के प्रति जो जुगुप्सा या घृणा है, वह भी भगवत्—प्रीतिमय है। श्रीकृष्ण ही प्रीति के विषय होने से श्रीकृष्ण ही जुगुप्सा रति के मूल आलम्बन हैं। कृष्ण—भक्त उसके आश्रय हैं। जगुप्सा के अंश मात्र के विषय जो अन्य व्यक्ति हैं, वे बहिरंग आलम्बन हैं।

अतः वीभत्स—भक्तिरस में श्रीकृष्ण हैं मूल विषयालम्बन—विभाव; जिन दूसरे व्यक्तियों के प्रति जुगुप्सा पैदा होती है, वे हैं बहिरंग विषयालम्बन—विभाव। आश्रयालम्बन विभाव हैं श्रीकृष्णभक्त।

३—अत्र निष्ठीवनं वक्त्रकूणनं घ्राणसंवृतिः।
धावनं कम्पपुलकप्रस्वेदाद्याश्च विक्रियाः।।४।।
४—इह ग्लानिश्रमोन्माद—मोह—निर्वेद—दीनताः।
विषाद—चापलावेग—जाड्याद्या व्यभिचारिणः।।५।।
५—जुगुप्सारतिरत्र स्यात्स्थायी सा च विवेकजा।
प्रायिकी चेति कथिता जुगुप्सा द्विविधा बुधैः।।६।।

● *अनुवाद*—थूकना, मुंह सिकोड़ना, नाक ढँकना, भागना, कम्प, पुलक एवं स्वेद आदि इस रस के *अनुभाव* हैं।।४।। ग्लानि, श्रम, उन्माद, मोह, निर्वेद, दीनता, विषाद, चापल, आवेग तथा जड़ता आदि इसके *'व्यभिचारी—भाव'* हैं।।५।। भगवत्—प्रीतिमयी जुगुप्सा—रति दो प्रकार की है १. *विवेकजा* और *प्रायिकी*।।६।।

तत्र विवेकजा—

६—जातकृष्णरतेर्भक्तविशेषस्य तु कस्यचित्।
विवेकोत्था तु देहादौ जुगुप्सा स्याद्विवेकजा।।७।।

यथा, २—घनरुधिरमये त्वचा पिनद्धे पिशितविमिश्रितविस्रगन्धभाजि।
कथमिह रमतां बुधः शरीरे भगवति हन्त रतेर्लवेऽप्युदीर्णे।।८।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*पिशितं मांसं, 'विस्रं स्यादामगन्धि यत्'* तस्माद्विस्रस्य

यो गन्धस्तद्वाजीत्यर्थः, उदीर्ण इति क्रैयादिकस्य 'ऋ' गतावित्यस्य दीर्घस्य निष्ठायां रूपम्, उदित इत्यर्थः ।।८।।

● *अनुवाद—विवेकजा जुगुप्सा—रति* किसी जातरति कृष्णभक्त विशेष में विवेक पैदा हो जाने से शरीर आदि के प्रति जो जुगुप्सा या घृणा उदित होती है, उसे 'विवेकजा' कहते हैं।।७।।

उदाहरण; हाय ! श्रीभगवान् में तनिक मात्र भी यदि प्रीति उत्पन्न हो उठे, फिर पण्डित व्यक्ति क्यों मांसमय, आँवगन्ध से मेरे प्रचुर रुधिरमय, चमड़े से आवृत इस शरीर में आनन्द अनुभव करेगा ?

अथ प्रायिकी—

७—अमेध्यपूत्यनुभवात्सर्वेषामेव सर्वतः।
या प्रायो जायते सेयं जुगुप्सा प्रायिकी मता।।६।।

यथा, ३—असृङ्मूत्राकीर्णे घनशमलपंकव्यतिकरे
वसन्नेष क्लिन्नो जडतनुरहं मातुरुदरे।
लभे चेतःक्षोभं तव भजनकर्माक्षमतया
तदस्मिन्कंसारे ! कुरु मयि कृपासागर ! कृपाम्।।१०।।

यथा वा, ४—घ्राणोद्घूर्णकपूतिगन्धविकटे कीटाकुले देहली
स्रस्तव्याधितयूथघटनानिर्द्धूतनेत्रायुषि।
कारानामनि हन्त मागधयमेनामी वयं नारके
क्षिप्तास्ते स्मृतिमाकलय्य नरकध्वंसिन्निह प्राणिमः।।११।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—*भजनकर्माक्षमतयोपलक्षिते मयि, न तु तथा हेतुना भजनकर्माक्षमतयेति, सप्तम्यन्तो वा पाठः, अन्यथा वीभत्सस्याविमृष्टत्वं स्यादिति।।१०।।नारके नरकसमूहे।।११।।*

● *अनुवाद—प्रायिकी;* अपवित्र वस्तु तथा दुर्गन्ध के अनुभव होने से प्रायः सबको (अर्थात् पाँच प्रकार के भक्तों को) ही सर्वतोभाव से जो घृणा होती है, उसे *'प्रायिकी'* कहते हैं।।६।।

उदाहरण; (माता के गर्भ स्थित किसी भक्त—जीव ने श्रीभगवान् की स्तुति करते हुए कहा)—हे कंसारे ! यहाँ रक्त एवं मूत्र एवं मल से पूर्ण माता के गर्भ में पड़ा हुआ मैं अति दुःखित हो रहा हूँ, आपके भजन में असमर्थ होने के कारण क्षुभित हो रहा हूँ, हे करुणासागर ! मुझ पर आप कृपा कीजिए।।१०।।

दूसरा उदाहरण; हे नरकासुर—विनाशक ! नाक बन्द करा देने वाली दुर्गन्ध के कारण अत्यन्त विकट कीड़ों से भरे हुए, तथा दरवाजे पर पड़े हुए रोगियों के समुदाय के कारण नेत्रों की दृष्टि भी नष्ट होने से अन्धकार के मारे जहाँ कुछ दिखाई नहीं देता, ऐसे कारागार रूप नरक में जरासन्ध रूप यमराज ने हमको डाल रखा है। हम केवल आपका स्मरण करके ही जैसे—तैसे जीवन धारण कर रहे हैं।।११।।

८—लब्धकृष्णरतेरेव सुष्ठु पूतं मनस्सदा।
क्षुभ्यत्यह्यलेशेऽपि ततोऽस्या रत्यनुग्रहः।।१२।।

९—हास्यादीनां रसत्वं यद् गौणत्वेनापि कीर्त्तितम्।
प्राचां मतानुसारेण तद्विज्ञेयं मनीषिभिः।।१३।।
१०—अमी पंचैव शान्ताद्या हरेर्भक्तिरसा मताः।
एषु हासादयः प्रायो बिभ्रति व्यभिचारिताम्।।१४।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*रत्यनुग्रहः रत्या कर्त्र्या पोषणम्।।१२।।*

● *अनुवाद*—(हास्यादि गौणभक्ति रसों के वर्णन के उपसंहार में श्रीपाद रूपगोस्वामी लिखते हैं—(जिनको श्रीकृष्ण—रति प्राप्त हो गई है, उनके मन सर्वदा पूर्णरूप से निर्मल रहते हैं, घृणित वस्तु के लेशमात्र से भी उनका मन क्षुभित हो जाता है। इसलिए इस जुगुप्सा—रति को मुख्या—रति से अनुगृहीत समझना चाहिए अर्थात् जुगुप्सारति भक्तों के चित्त में रहने वाली मुख्यारति के द्वारा पुष्ट होकर ही आस्वाद्य होती है। हास्यादि का रसत्व गौणरूप से जो यहाँ वर्णित हुआ है, वह केवल प्राचीन—प्राकृत रसवेत्ताओं के मतानुसार ही वर्णन किया गया है, बुद्धिमान व्यक्ति ऐसा समझें। शान्तादि पाँच कृष्णभक्तिरस हैं। इन शान्तादिरसों में हास्यादि प्रायशः व्यभिचारि रूप में ही गिने जाते हैं।।१२—१४।।

इति श्रीभक्तिरसामृतसिन्धावुत्तरविभागे गौणभक्तिरस निरूपणे वीभत्सभक्तिरस लहरी सप्तमी।।७।।

● ● ●

अष्टम-लहरी : रसानां मैत्री-वैर स्थिति-नाम्नी

१—अथामीषां क्रमेणैव शान्तादीनां परस्परम्।
मित्रत्वं शास्त्रवत्वं च रसानामभिधीयते।।१।।
२—शान्तस्य प्रीतवीभत्सधर्मवीराः सुहृद्वराः।
अद्भुतश्चैष विज्ञेयः प्रीतादिषु चतुर्ष्वपि।।२।।
३—द्विषन्नस्य शुचिर्युद्धवीरो रौद्रो भयानकः।।३।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*अत्र स्वयमंगिरसानुभवी श्रीकृष्णभक्तः श्रीकृष्णस्तद्भक्तान्तरं तदुदासीनस्तद्विरोधि चेति पंचविधगतत्वेन भावा लक्ष्यन्ते, तत्रांगिनो रसस्य केन—चिदनुचितेनांगेन मिलने सति रसविघातः स्यादुचितमिलने तु तत्पोष इति वक्तव्ये शान्तस्य तौ दर्शयितुं तावदाह—शान्तस्येति। वीभत्सधर्मवीरावत्र तपस्विशान्तस्य सुहृदौ ज्ञेयो, तदुदासीनतद्विरोधिनोर्वीभत्सितताभावनया श्रीकृष्णतद्भक्तयोर्धार्मिकता—पर्यालोचनया च तदीयरसोदयात्, आत्मारामशान्तस्य च तत्तदनवधानेऽपि तदंगत्वेन कविना वर्णनायां दोष एव स्यात्, अद्भुतश्च शान्तस्य सुहृद्वरः, एषोऽद्भुतः प्रीतप्रेयोवत्सलमधुरेष्वपि सुहृद्वरो विज्ञेयः, किन्तु शान्तस्य शान्तप्रायतपस्विनोऽपि द्विधा श्रीभगवति चमत्कारो जायते। ब्रह्मानुभवानन्दादपि तन्माधुर्यानुभवानन्देन क्वच्छित्रुपक्षनिग्रहादिलीलाया अप्याश्चर्ण्यत्वेन, यथा (भा० ३।१५।४३) "तस्यारविन्दनयनस्य" त्यादि, यथा च—(भा०—१०।५०।३०) "न तस्य*

चित्रं परपक्षनिग्रहस्तथापि मर्त्यानुविधस्य वर्ण्यते–इत्यादि, मर्त्याननुविधत्तेऽनुकरोति मर्त्यलीलोचितामेव शक्तिं व्यंजयति नाधिकां तथापि तन्निग्रहादिकं करोत्येव यस्तस्येत्यर्थः, ।।२।। अस्य शान्तस्य द्विविधस्यापि, शुचिरत्र सम्प्रति टीकोक्तपंचविधां गतोऽपि द्विषन्, तथा युद्धवीरश्च, रौद्रभयानकौ त्वात्मारामशान्तस्यैव शत्रु, तपस्विशान्तस्य तु यमादीनामौग्र्यदर्शनान्निज– संसारभयोत्पत्तौ शान्तिपुष्टेः, तस्य तु रौद्रः स्वगतो द्वेष्यः ।।३।।

● *अनुवाद*–इन शान्तादि रसों के क्रमशः परस्पर मित्र एवं शत्रु रसों का अब वर्णन करते हैं। (कौन–कौनसा रस किस–किस रस का मित्र है अर्थात् अनुकूल है और कौन–कौनसा रस किस–किस रस का वैरी या विरोधी है, आगे की कारिकाओं में इसका वर्णन करते हैं।।

शान्तरस–के प्रीति (दास्य), वीभत्स, (वीररस के चार भेदों में धर्मवीर रस) एवं अद्‌भुत, ये सुहृदवर या मित्र हैं। वीभत्स, धर्मवीर एवं अद्‌भुत ये दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा मधुर इन चारों रसों के भी मित्र जानने चाहिए। शुचि (मधुर), युद्धवीर, रौद्र तथा भयानक ये शान्तरस के शत्रु या विरोधी हैं।।२–३।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–रसों की मित्रता तथा शत्रुता, १. मुख्य अंगी रस का अनुभव करने वाले कृष्णभक्तगण में, २. स्वयं श्रीकृष्ण में, ३. प्रथम कहे कृष्ण–भक्तों के मित्र दूसरे भक्तों में, ४. शत्रु तथा ५. उदासीन व्यक्तियों को लेकर जाननी चाहिये। इनमें से मुख्य अंगीरस का किसी अनुचित व शत्रु रूप के साथ मिलने से उसकी प्रीति में विघात उत्पन्न होता है और अनुकूल मित्ररस के साथ मिलने से उसका परिपोष होता है। इसलिए इस मैत्री का तथा शत्रुता का विशेष महत्त्व है। यहाँ शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा मधुर भक्तिरसों के क्रमशः मित्र तथा वैरी रसों का निरूपण किया जा रहा है।

४–सुहृत्प्रीतस्य वीभत्सः शान्तो वीरद्वयं तथा।
वैरी शुचिर्युद्धवीरो रौद्रश्चैकविभावकः।।४।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*सुहृत्प्रीतस्य वीभत्स इत्युदासीनादिद्वये वीभत्सतया तस्यैव पुष्यमाणत्वाद्, एवं तत उपरत्या शान्तोऽपि तथा, प्रथमत्रयगतं वीरद्वयंधर्म–दानवीराख्यं, युद्धवीरो रौद्रश्च–एक–विभावकः कृष्णविभावकः साक्षात्कृष्णसम्बन्धा–दुत्पन्नः, स च स चात्र कृष्णेन सह स्वकर्त्तृकयुद्धमयः, कृष्णं प्रति स्वकोपमय इत्यर्थः, तदेतदुपलक्षणत्वेनान्यत्रानुक्तमपि यथायथं तत्तद्‌गतत्वेन व्याख्यास्यते।।४।।*

● *अनुवाद–दास्यरस* के वीभत्स, शान्त तथा धर्मवीर एवं दानवीर मित्र हैं। और मधुर, तथा कृष्णविभावक अर्थात् साक्षात् कृष्णसम्बन्ध से उत्पन्न युद्धवीर तथा रौद्र दास्यरस के शत्रु हैं।।४।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–कृष्णविभावक जो युद्धवीर हैं, उनका भाव रहता है–"मैं कृष्ण के साथ युद्ध करूँगा"। और कृष्णविभावक रौद्र का श्रीकृष्ण के प्रति कोपमय भाव रहता है। ये दोनों दास्यरस के विरोधी हैं। यहाँ जिन समस्त रसों की बात नहीं कही गई है, उन रसों के विषय में भी इसी रीति से व्याख्या करनी चाहिए।

५–प्रेयसस्तु शुचिर्हास्यो युद्धवीरः सुहृद्वराः।
द्विषो वत्सलवीभत्सरौद्रा भीष्मश्च पूर्ववत्।।५।।
६–वत्सलस्य सुहृद्धास्यः करुणो भीष्मभित्तथा।
शत्रुः शुचिर्युद्धवीरः प्रीतो रौद्रश्च पूर्ववत्।।६।।
७–शुचेर्हास्यस्तथा प्रेयान् सुहृदस्य प्रकीर्त्तितः।
द्विषो वत्सल–वीभत्स–शान्त–रौद्र–भयानकाः।
प्राहुरेकेऽस्य सुहृदं वीरयुग्मं परे रिपुम्।।७।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*प्रेयसस्त्विति। शुचिरत्र कृष्णगतः, हास्यस्तद्भक्त–द्वयगतश्च, युद्धवीरस्तुदासीनादन्यत्र गतः, पूर्ववत्कृष्णविभावकः, स चात्र कृष्णविषयाश्रयतामय इत्यर्थः।।५।। वत्सलस्येति। हास्यकरुणावत्र प्रथमत्रयगतौ भीष्मभिद्विरोधिहेतुकभयानकभेदः, शुचिः सर्वगतः, युद्धवीररौद्रौ कृष्णेन सह पारस्परिकौ, प्रीतो वत्सलस्य कृष्णविषयकः; अतः पूर्ववदित्युपलक्षणम्।।६।। शुचेरिति। हास्यप्रेयः शान्ताः प्रथमद्वयगताः, हास्यप्रेयांसौ तु कवचित्सखीलक्षणभक्तान्तरगतौ च, वत्सलः प्रथमत्रयगतः वीभत्सः सर्वगतः रौद्रभयानकौ प्रायः सर्व गतौ, वीरयुग्मं युद्धधर्मवीररूपं, तच्च प्रथमत्रयगतं, पर इति तदिदं न स्वमतमित्यभिप्रेतम्।।७।।*

● *अनुवाद–सख्यरस* में मधुर, हास्य एवं (कृष्ण विषयाश्रयतामय) युद्धवीर मित्र हैं। और वत्सल, वीभत्स एवं पूर्ववत् (कृष्णविभावक) रौद्र और भयानक शत्रु हैं।।५।।

वात्सल्य रस में हास्य, करुण, एवं असुर–विषय भयानक सुहृत् हैं और मधुर, वत्सल के कृष्णविषयक दास्य एवं पूर्ववत् कृष्णविभावक युद्धवीर तथा रौद्र शत्रु हैं।।६।।

मधुररस में हास्य तथा सख्य मित्र हैं, और वात्सल्य, वीभत्स, शान्त और भयानक शत्रु हैं। कोई–कोई कहते हैं–मधुररस में एक मात्र युद्धवीर तथा धर्मवीर–दोनों मित्र हैं। इनके अतिरिक्त सब ही शत्रु हैं–(किन्तु यह मत श्रीपाद रूपगोस्वामी का नहीं है)।।७।।

८–मित्रं हास्यस्य वीभत्सः शुचिः प्रेयान्सवत्सलः।
प्रतिपक्षस्तु करुणस्तथा प्रोक्तो भयानकः।।८।।
९–अद्भुतस्य सुहृद्वीरः पंच शान्तादयस्तथा।
प्रतिपक्षो भवेदस्य रौद्रो वीभत्स एव च।।९।।
१०–वीरस्य त्वद्भुतो हास्यः प्रेयान् प्रीतस्तथा सुहृत्।
भयानको विपक्षोऽस्य कस्यचिच्छान्त एव च।।१०।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*मित्रिमिति। वीभत्सोऽत्र कृतवीभत्सितवेशविदूषका–दिलक्षणभक्तान्तरदर्शनात्प्रथमगतत्वेन ज्ञेयः, न त्वत्यन्तवीभत्सितदौर्गन्ध्यादिदर्शनात्, तदेवं परपरत्र तत्तद्धेतुत्वं तत्तद्गतत्वं च स्वयमुन्नेयम्।।८।। अद्भुतस्येति। अलौकिकवस्त्वन्तरानुभवजातचमत्कारस्य भीषणवीभत्सयोरनुभवेन विघातः स्यादित्येव विवक्षितम्, अतस्तयोः स्वतश्चमत्कारकरत्वं तु न निषिध्यते "रसे सारश्चमत्कार"*

इत्यस्य विरोधात्।।६।। वीरस्येति। श्रीबलदेवादाविव युद्धवीरादेः श्रीव्रजेश्वरादाविव दानवीरादेर्वत्सलश्च क्वचित्सुहृद् दृश्यते, भयानकः शान्तश्च कस्यचिद्युद्धवीरस्य विपक्षः, दानवीरादेर्भयानकश्च ज्ञेयः।।१०।।

● *अनुवाद*–हास्यरस में वीभत्स, मधुर एवं वात्सल्य मित्र हैं और करुण तथा भयानक शत्रु हैं। (यहाँ वीभत्स–शब्द से किसी भक्त के वीभत्सित वेश धारण करने पर तथा विदूषकादि लक्षणों को उसमें देखकर जो वीभत्स उत्पन्न होता है, वही अभिप्रेत है। अत्यन्त वीभत्सित–दुर्गन्धमय वस्तु के देखने से जो वीभत्स (घृणा) उत्पन्न होती है, वह अभिप्रेत नहीं है)।।८।।

अद्भुतरस में वीर तथा शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुर–ये पाँचों मित्र हैं। तथा रौद्र और वीभत्स शत्रु हैं। (किसी अलौकिक वस्तु के चमत्कार से जो भयानक और वीभत्स का अनुभव होता है, उससे रस में विघ्न पड़ता है, इसलिए यहाँ रौद्र तथा वीभत्स को शत्रु कहा गया है। उन वस्तुओं के चमत्कार का निषेध यहाँ अभिप्रेत नहीं है, क्योंकि रस का सार ही है चमत्कार।।६।।

वीररस में अद्भुत, हास्य, सख्य एवं दास्य मित्र हैं। तथा भयानक शत्रु है। किसी–किसी के मत में शान्त भी वीररस में शत्रु है।।१०।।

११–करुणस्य सुहृद्रौद्रो वत्सलश्च विलोक्यते।
वैरी हास्योऽस्य सम्भोगश्रृंगारश्चाद्भुतस्तथा।।११।।
१२–रौद्रस्य करुणः प्रोक्तो वीरश्चापि सुहृद्वरः।
प्रतिपक्षस्तु हास्योऽस्य श्रृंगारो भीषणोऽपि च।।१२।।
१३–भयानकस्य वीभत्सः करुणश्च सुहृद्वरः।
द्विषस्तु वीरश्रृंगारहास्यरौद्राः प्रकीर्तिताः।।१३।।
१४–वीभत्सस्य भवेच्छान्तो हास्यः प्रीतस्तथा सुहृत्।
शत्रुः शुचिस्तथा प्रेयान् ज्ञेया युक्तया परे च ते।।१४।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*करुणस्येति। रौद्रो जातचर–स्वप्रियपीडन–तयानुस्मृतयात्र गृह्यते। वर्तमान–तादृशस्य भयमात्रजनकत्वात्।।११।। रौद्रस्येति। भीषणो भयानकः स्वगतः।।१२।। भयानकस्येति। अत्र करुणस्य तु सुहृत्त्वं भाविस्वप्रियवियोगस्मरणात्। वीरादयः स्वगताः।।१३।। वीभत्सस्येति। शान्तोऽत्र तापसालम्बनकः प्रीत आरब्धरतिभक्ताद्यालम्बनः, हास्यस्य सुहृत्त्वं विदूषकादिकृत कुवेशादौ ज्ञेयः न तु सर्वत्र।।१४।।*

● *अनुवाद–करुणरस* में रौद्र तथा वत्सल मित्र हैं और हास्य, अद्भुत तथा सम्भोगात्मक श्रृंगार इसमें शत्रु हैं। (यहाँ 'रौद्र' शब्द से पहले किसी समय अपने प्रियजन के दुःख को देखने से जिस रौद्र का उदय हुआ था, उसके स्मरण से अभिप्राय है। वर्तमान रौद्र नहीं समझना चाहिए, क्योंकि वह तो केवल भय मात्र पैदा करता है)।।११।।

रौद्ररस में करुणा तथा वीर मित्र हैं और हास्य, श्रृंगार तथा भयानक इसमें शत्रु हैं।।१२।।

भयानक रस में वीभत्स और करुण मित्र हैं और वीर, श्रृंगार, हास्य तथा रौद्र इसमें शत्रु हैं।।१३।।

वीभत्स रस में शान्त, हास्य एवं दास्य–मित्र हैं और मधुर तथा सख्य शत्रु हैं। युक्ति द्वारा अन्यान्य सब रसों की जो शत्रुता उपलब्ध होती है, वे भी वीभत्स के शत्रु हैं। (विदूषकादि जो वेश बनाते हैं, उनको देखकर जो हास्य उदय होता है, वही हास्य ही वीभत्स का मित्र है, सब प्रकार का हास्य नहीं।।१४।।

१५–कथितेभ्यः परे ये स्युस्ते तटस्थाः सतां मताः।।१५।।

तत्र सुहृत् कृत्यम्–

१६–सुहृदामिश्रणां सम्यगास्वाद्यं कुरुते रसम्।।१६।।
१७–द्वयोस्तु मिश्रणे साम्यं दुःशकं स्यात्तुलाधृतम्।
तस्मादंगांगिभावेन मेलनं विदुषां मतम्।।१७।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*कथितेभ्य इति साक्षादुक्तेभ्यो युक्त्या ज्ञातेभ्यश्चेत्यर्थः।।१५।। द्वयोस्त्वित्यर्द्धस्य परेणान्वयः तुलया धृतमत्यन्तं यथा स्यात्तथा दुःशकं भावयितुमशक्यमित्यर्थः, मेलनमेकदा भावनम्।।१७।।*

● *अनुवाद*–उपर्युक्त प्रसंग में विभिन्न रसों को कई रसों का मित्र कहा गया है और कईयों को रसों का शत्रु कहा गया है। उन समस्त मित्ररस तथा शत्रुरसों को छोड़कर अन्यान्य रस उन विशेष रसों के सम्पर्क में *"तटस्थ"* कहे जाते हैं। अर्थात् किसी रस के जो रस न मित्र हैं न शत्रु, वे रस के प्रति तटस्थ या उदासीन माने गए हैं।।१५।।

सुहृत्–कृत्य कोई भी रस अपने मित्र रस के साथ मिलने पर सम्यक् रूप से आस्वाद्य बन जाते हैं।।१६।।

दो रसों के मिल जाने पर, तराजू पर रखी वस्तु की तरह उनकी समता या नाप–तोल निर्णय करना मुश्किल होता है, इसलिए पण्डितजन अंग–अंगि भाव से ही उनकी एकत्र भावना करते हैं; अर्थात् जिन दो रसों का मिश्रण होता है, उनमें एक को अंगी–रस और दूसरे को अंग रस मान लिया जाता है। जो रस दूसरे रस के द्वारा पुष्टि प्राप्त करता है उसे तो अंगीरस और दूसरे को उसका अंग–रस माना जाता है।।१७।।

१८–भवेन्मुख्योऽथ वा गौणो रसोऽंगी किल यत्र यः।
कर्तव्यं तत्र तस्यांगं सुहृदेव रसो बुधैः।।१८।।
१९–अथांगित्वं प्रथमतो मुख्यानामिह लिख्यते।
यत्र सुहृदो मुख्या गौणाश्च विभ्रति।।१९।।

● *अनुवाद*–मुख्य हो अथवा गौण, जो रस जहाँ अंगी होगा, वहाँ उसी रस के सुहृद रस को ही पण्डितजनों द्वारा अंग माना गया है।।१८।।

पहले यहाँ मुख्यरसों के अंगित्व का उल्लेख करते हैं, जहाँ मुख्य तथा गौण दोनों प्रकार सुहृदरस ही अंगता धारण किया करते हैं।।१९।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–जो सब रस किसी मुख्य रस के सहृद हैं, वे मुख्यरस भी हो सकते हैं और गौणरस भी हो सकते हैं। मित्ररस में ही जब

अंगत्व रहता है, तब मुख्य रसका अंग मित्र मुख्यरस भी हो सकता है, गौणरस भी मित्र हो सकता है। कोई भी मित्ररस अंगी मुख्यरस का अंग नहीं हो सकता–ऐसी बात नहीं है। मुख्य शान्तरस के मित्र हैं–मुख्य दास्य, वीभत्स, धर्मवीर एवं अद्भुत। मुख्य शान्त जहाँ अंगी है, वहाँ ये समस्त मित्ररस उसके अंग ही होंगे। आगे क्रमशः इनके उदाहरण दिखाते हैं–

तत्र शान्तेऽगिनि प्रीतस्यांगता, यथा–

१–जीवस्फुलिंगवन्हेर्महसो घनचित्स्वरूपस्य।
तस्य पदाम्बुजयुगलं किं वा संवाहयिष्यामि।।२०।।
अत्र मुख्येऽगिनि मुख्यस्यांगता,

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*जीवस्फुलिंगवह्वेरिति श्रौतानुवादः, स च जीवेशयोरंशांशिताप्रामाण्याय, घनः श्रीविग्रहस्तदाकारा या चित् सच्चिदानन्दलक्षण परं ब्रह्म सैव स्वरूपं यस्य; तस्य तादृशत्वेन ममालम्बनस्येति तत्र स्वनिष्ठा दर्शिता, तस्माच्छान्तस्यांगित्वेऽपि तादृगुत्तमसुहृदालिंगितत्वेन प्रशस्तत्वमपि ध्वनितं; किन्त्वत्राप्यंगत्वे प्रीतस्य, शान्तस्य प्राबल्य, दध्नि सिताया इवास्वादाधिक्यादिति ज्ञेयम्, पादसंवाहनेच्छा च परमानन्दविग्रहस्य तस्य स्पर्शानन्दप्राप्तीच्छयैव न तु साहाय्येनानन्ददानेच्छया पूर्णानन्दत्वेन तस्य स्फुरणात्। एवमुत्तरत्रापि।।२०।।*

● ***अनुवाद–अंगी मुख्य शान्तरस में दास्यरस की अंगता का उदाहरण; परब्रह्म*** **चिद्घनस्वरूप एवं स्वप्रकाश है। जीव है अग्नि की चिंगारी की तरह अति क्षुद्र। ऐसा क्षुद्र जीव मैं क्या उस परब्रह्म के चरण–कमलों का सम्वाहन कर सकूँगा ?–यहाँ अंगी मुख्य शान्त रस है और उसका अंग है मुख्य दास्यरस।।२०।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–यहाँ जीव एवं ब्रह्म का अंशांशित्व दिखाया गया है। जीव अंश है ब्रह्म का, और अंशी का नित्य अविच्छेद्य सम्बन्ध होने से अंशी जैसे अंश का आलम्बन होता है, उसी प्रकार अंशी परब्रह्म उपर्युक्त श्लोक के कहने वाले जीव का आलम्बन है। वक्ता जीव अपने को अति क्षुद्र मानता है और परब्रह्म को सर्व बृहत्तम तत्त्व। अतः उसके चित्त में परब्रह्म के अपरिमित ऐश्वर्य का ज्ञान विद्यमान है। ऐश्वर्य ज्ञान के रहते हुए उसके मन में परब्रह्म में ममत्व–बुद्धि नहीं हो सकती। परब्रह्म को अपना आलम्बन जानता है–इससे उसकी निष्ठा सूचित होती है। किन्तु वह निष्ठा ऐश्वर्य प्रधान ज्ञानमयी है और ममत्व बुद्धिहीन। यही शान्त भाव का परिचय दे रही है। अर्थात् वक्ता में शान्तभाव विद्यमान है।

दूसरी ओर उसमें परब्रह्म के चरण–कमलों को सम्वाहन करने की वासना भी दीखती है, जिससे उसमें दास्यभाव का परिचय मिलता है क्योंकि चरण–सेवा दास्य भाव में ही रहती है। अतः यहाँ शान्तभाव के साथ दास्यभाव का मिश्रण है। दधि के साथ मिश्री मिलने से जैसे दधि का उत्कर्ष बढ़ जाता है, उसी प्रकार यहाँ शान्त के साथ दास्य के मिलने से शान्त का उत्कर्ष ही साधित हुआ है। वैसे तो शान्त में सेवा–वासना के जाग्रत होने का

कोई प्रश्न नहीं उठता, किन्तु यहाँ दास्य के मिलने से सेवा–वासना उदित हो उठी है। यहाँ शान्त का जो उत्कर्ष है, वह है दास्य के प्रभाव से। यहाँ शान्त की प्रधानता है या दास्य की ? अंगी कौन है और अंग कौन ?–इसका निर्णय "चरण–कमलों का सम्वाहन कर सकूँगा ?" इस वाक्य से किया जा सकता है। इस वाक्य से जाना जाता है कि सेवा–वासना के उद्‌बुद्ध होने पर भी वक्ता भी ऐश्वर्य–प्रधान ज्ञान–जनित संकोच दूर नहीं हुआ। संकोच शान्त का लक्षण है। शान्त के साथ दास्य के मिलने पर भी शान्त का संकोच नहीं मिल सका। अतः शान्त ही अंगी है और दास्य अंग। ममत्व–सिद्ध न होने के कारण पदसेवा–वासना का तात्पर्य है आनन्दस्वरूप परब्रह्म के चरणों के स्पर्श जनित आनन्द प्राप्ति की वासना। चरण–सम्वाहन के द्वारा परब्रह्म को आनन्दित करने का तात्पर्य नहीं है। जिसके प्रति ममत्व बुद्धि नहीं होती उसमें आनन्द विधान करने की वासना भी नहीं रह सकती।

अतः इस उदाहरण में देखा गया कि मित्र रूप में मुख्य दास्यरस भी यहाँ मुख्य शान्त रस का अंश है।

तत्रैव वीभत्सस्य, यथा–

२–अहमिह कफशुक्रशोणितानां पृथुकुतुपे कुतुकी रतः शरीरे।
शिव शिव परमात्मनो दुरात्मा सुखवपुषः स्मरणेऽपि मन्थरोऽस्मि।।२१।।

अत्र मुख्य एव गौणस्य,

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*कुतुपे स्वल्पचर्मपुटके, कुतुकी विचित्रविषयास्वादाय सोत्साहः, तत्रैव शान्ते।।२१।।*

● *अनुवाद–अंगी मुख्य शान्तरस में गौण वीभत्सरस की अंगता;* अहो ! चर्माच्छादित इस कफ–शुक्र–रक्तमय देह में विचित्र विषय सुख के आस्वादन के लिए मैं उत्सुक हो रहा हूँ ? शिव ! शिव !! मैं अत्यन्त दुरात्मा हूँ। सुखमय विग्रह परमात्मा के स्मरण करने में मैं आग्रहशून्य हो रहा हूँ। यहाँ मुख्य शान्त का अंग है गौण वीभत्स।।२२।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका–*यहाँ परब्रह्म आनन्द–विग्रह आलम्बन है। परमात्मा ज्ञान के कारण वक्ता की ममत्व बुद्धि नहीं है, जो शान्त भाव को सूचित करता है। इस शान्त में मिला है, कफ–शुक्र–शोणितमय देह सम्बन्धी वीभत्स। 'दुरात्मा'–अपने में अति हीनता–ज्ञान और परमात्मा के स्मरण में आलस्य से शान्त की ही प्रधानता सूचित हो रही है, अतः यहाँ मुख्य शान्त अंगी है और गौण वीभत्स उसका अंग है।

तत्रैव प्रीतस्याद्‌भुतवीभत्सयोश्च, यथा–

३–हित्वाऽस्मिन् पिशितोपनद्धरुधिरक्लिन्ने मुदं विग्रहे
प्रीत्युत्सिक्तमनाः कदाऽहमसकृद् दुस्तर्कचर्यास्पदम्।
आसीनं पुरटासनोपरि परं ब्रह्माम्बुदश्यामलं
सेविष्ये चलचारुचामरमरुत्संचारचातुर्यतः।।२२।।

अत्र मुख्य एव मुख्यस्य गौणयोश्च,

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*दुस्तर्कचर्यास्पदमित्यनेनाद्भुतरसः, संवाहनेच्छावत् सेविष्य इत्यादीच्छा च तत्सौरभ्याद्यतिशयानुभवार्था ज्ञेया; यथा "तस्यारविन्दनयनस्ये" त्यादिकं श्रीसनकादीनां श्रूयते तद्वत्।।२२।।*

● ***अनुवाद–अंगी मुख्य शान्तरस में मुख्य दास्य एवं गौण अद्भुत तथा वीभत्स रसों की अंगता;*** **मांस एवं रक्तमय शरीर में प्रीति परित्याग कर कब मैं प्रेमयुक्त एवं उत्कण्ठित होकर चामर को झुलाते हुए चतुरता–पूर्वक उन घनश्याम स्वरूप परब्रह्म की सेवा करूँगा, जिनकी लीला युक्तितर्क के अगोचर है और जो स्वर्ण सिंहासन पर विराजमान हैं।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–'परब्रह्म' शब्द से शान्तरस, 'दुस्तर्क्यचर्यास्पद'–युक्तितर्क से अगोचर शब्दों से अद्भुतरस "पिशितोपनन्दरुधिरक्लिन्ने विग्रहे"–मांस–रक्तमय शरीर से वीभत्सरस तथा 'चामर सेवा वासनाय'–चामर झुला कर सेवा की वासना से मुख्य दास्यरस सूचित हो रहा है।–यहाँ मुख्य शान्तरस अंगी है और मुख्य दास्य, गौण अद्भुत और गौण वीभत्स उसके अंग हैं।।२२।।।

अथ प्रीते शान्तस्य, यथा–

४–निरविद्यतया सपद्यहं निरवद्यः प्रतिपद्य माधुरीम्।
अरविन्दविलोचनं कदा प्रभुमिन्दीवरसुन्दरं भजे।।२३।।

अत्र मुख्ये मुख्यस्य,

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*निरविद्यतया अविद्यारहिततयेति शान्तिवासना।।२३।।*

***अनुवाद*-(मुख्य दास्यरस के मित्र हैं वीभत्स, शान्त, धर्मवीर एवं दानवीर; ये मुख्यरस के अंग हैं, इसका उदाहरण देते हैं)।**

अंगी मुख्य दास्यरस में मुख्य शान्तरस की अंगता का उदाहरण; **अविद्या से छूट जाने पर निर्मल होकर कब मैं स्वतः सिद्ध माधुरी–विशिष्ट कमल–लोचन नीलकमल द्युति प्रभु की सेवा करूँगा ?–यहाँ मुख्यदास्यरस अंगी है और मुख्यशान्त उसका अंग है।।२३।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–यहाँ 'निरविद्यतया' शब्द से शान्तरस और 'प्रतिपाद्य–माधुरी' 'अरविन्द–विलोचन' तथा 'इन्दीवर सुन्दर'–इन तीन शब्दों से आलम्बन रूप प्रभु के सौन्दर्य–माधुर्य की सूचना मिलती है। ऐश्वर्य ज्ञात नहीं होता। ऐसे माधुर्यमय प्रभु की सेवा ही प्रधानता रखने से दास्य की विद्यमानता है। शान्त यहाँ अंग है। ऐश्वर्यज्ञान न होने से ममत्वबुद्धि सूचित होती है। अतः सेवा का तात्पर्य भी यहाँ प्रभु की प्रीति विधान करना है।

तत्रैव वीभत्सस्य, यथा–

५–स्मरन् प्रभुपदाम्भोजं नटन्नटति वैष्णवः।
यस्तु दृष्ट्या पद्मिनीनामपि सुष्ठु ह्णीयते।।२४।।

अत्र मुख्ये गौणस्य,

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*स्मरन्निति। अटति भ्रमति, ह्णीयते घृणां करोति, पाठान्तरं त्यक्तम्।।२४।।*

अनुवाद-अंगी मुख्य दास्यरस में गौण वीभत्स की अंगता का उदाहरण–प्रभु के चरण–कमलों का स्मरण करते हुए वैष्णव व्यक्ति नृत्य करते–करते भ्रमण कर रहा है। सुन्दर–रमणियों के देखने में भी उसे अत्यन्त घृणा उदय हो रही है–(यहाँ मुख्य दास्य अंगी है और रमणियों से घृणा रूप गौण वीभत्स अंग हैं)।।२४।।

तत्रैव वीभत्सशान्तवराणां यथा–

६–तनोति मुखविक्रियां युवतिसंगरंगोदय
न तृप्यति न सर्वतः सुखमये समाधावपि।
न सिद्धिषु च लालसां वहति दीयमानास्वपि
प्रभो ! तव पदार्चने परमुर्पेति तृष्णां मनः।।२५।।

तत्र मुख्ये मुख्यस्य गौणयोश्च,

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*ब्रह्मसमाधावपि निमित्ते यत्सर्वं श्रवणमनादिकं तत्र न तृप्यति, अपितु तृप्यत्येव अलं बुद्धिं करोत्येवेत्यर्थः, दीयमानास्वित्यत्र त्वयेति गम्यं, सादरतयैव तदनुक्तिः, लभ्यमानास्वपीति पाठान्तरं स्पष्टम्।।२५।।*

● *अनुवाद–अंगी मुख्य दास्यरस में वीभत्स–शान्त–वीररसों की अंगता का उदाहरण;* हे प्रभो ! पहले मैं जो युवती–संग में आनन्द प्राप्त करता था, उस बात की याद आते ही मेरा मुख विकृत हो उठता है। सुखमय ब्रह्मसमाधि के लिए जो श्रवण–मननादि हैं, उनमें भी मेरा मन तृप्ति लाभ नहीं करता। उपस्थित सिद्धियों के लिए भी मेरे मन में कोई लालसा नहीं है। हे प्रभो ! केवल आपके चरणों की सेवा के लिए ही मेरे मन में तीव्र लालसा है।।२५।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–यहाँ 'चरणों की सेवा–लालसा से' दास्य 'युवती संग स्मरण–घृणा' से वीभत्स, 'सुखमय ब्रह्मसमाधि हेतु श्रवण–मननादि में अतृप्ति' द्वारा शान्त और 'उपस्थित सिद्धियों के परित्याग' द्वारा दानवीर रस की सूचना मिलती है। यहाँ दास्य की प्रधानता रहने से वह अंगी है और शान्त, वीभत्स तथा दानवीर उसके अंग हैं।

अथ प्रेयसि शुचेर्यथा–

७–धन्यानां किल मूर्द्धन्याः सुबलामूव्रजाबलाः।
अधरं पिंछचूलस्य चलाश्चुलकयन्ति याः।।२६।।

अत्र मुख्ये मुख्यस्य,

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*धन्यानामित्यनुमोदनात्मिकैवेयं शुचिभावना न तु संभोगेच्छामयात्मिका तेषां स्वस्वरूप एव नित्यस्थितेः।।*

● *अनुवाद–अंगी मुख्य सख्यरस के अंग रसों का उदाहरण*–(मुख्यरस के मित्र हैं मधुर, हास्य तथा युद्धवीर। इनकी अंगता का उदाहरण देते हैं)–हे सुबल ! जितनी धन्य या बड़भागिनी रमणियाँ हैं, उनमें वे समस्त व्रजबाला अग्रगण्य हैं जो मोरपुच्छ मुकुटधारी श्रीकृष्ण की अधर–सुधा का पान करती है। (यहाँ सुबल से सख्यरस और व्रज–रमणियों द्वारा मधुर रस सूचित हो रहा है। किन्तु यहाँ मधुररस का अनुमोदन ही किया गया है, सम्भोगेच्छा सूचित

नहीं होती। अतः सख्यरस को अंगि और मधुररस को उसका अंग माना गया है)।।२६।।

तत्रैव हास्यस्य, यथा–

८–दृशोस्तरलितैरलं व्रज निवृत्य मुग्धे ! व्रजं–
वितर्कयसि मां यथा न हि तथाऽस्मि किं भूरिणा।
इतीरयति माधवे नवविलासिनीं छद्मना
ददर्श सुबलो बलद्विकचदृष्टिरस्याननम्।।२७।।

अत्र मुख्ये गौणस्य,

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*दृशोरित्यत्र सत्यपि शुच्यंशे हास्यांशेनैवोदाहरणं दर्श्यते।।२७।।*

● *अनुवाद–अंगी मुख्य सख्यरस में गौण हास्य की अंगता का उदाहरण;* (किसी व्रजसुन्दरी के प्रति परिहास के साथ श्रीकृष्ण ने कहा)–हे मुग्धे ! नेत्रों को चंचल करने से क्या होगा ? लौटकर व्रज में चली जाओ। मुझे जो तुम समझ रही हो, वह मैं नहीं हूँ। और अधिक बात का क्या प्रयोजन ?–छलपूर्वक नवविलासिनी के प्रति श्रीकृष्ण के ये वचन सुनकर सुबल नेत्र विस्फारित कर हँसते हुए श्रीकृष्ण के मुख की ओर देखने लगा। (यहाँ मधुर रस सम्बन्धी बात सुनकर सख्यभावापन्न सुबल में हास्य का उदय हुआ है। अंगी है सख्यरस और हास्य उसका अंग है।।२७।।

तत्रैव शुचिहास्ययोर्यथा–

६–मिहिरदुहितुरुद्यद्वञ्जुलं मंजुतीरं
प्रविशति सुबलोऽयं राधिकावेषगूढः।
सरभसमभिपश्यन् कृष्णमभ्युत्थितं यः
स्मितविकशितगण्डं स्वीयमास्यं वृणोति।।२८।।

अत्र मुख्ये मुख्यगौणयोः,

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*वृणोति आवृणोति, प्राचीरं प्रान्ततो वृतिरित्यमरदर्शनात्।।२८।।*

● *अनुवाद–अंगी मुख्य सख्यरस में मुख्य मधुर की एवं गौण हास्य की अंगता का उदाहरण;* श्रीराधिका के वेश से अपने वेश को ढककर सुबल ने मनोहर अशोक वृक्षों से शोभित कालिन्दी तटस्थित कुंज में प्रवेश किया, यह देखकर श्रीकृष्ण हर्षपूर्वक जब वहाँ पहुँचे, तो सुबल ने हँसी भरे कपोलों युक्त मुख को आवृत्त कर लिया। (यहाँ मुख्य मधुर एवं गौण हास्य उसके अंग हैं।।२८।।

अथ वत्सले करुणस्य–

१०–निरातपत्रः कान्तारे सन्ततं मुक्तपादुकः।
वत्सानवति वत्सो मे हन्त सन्तप्यते मनः।।२६।।

अत्र मुख्ये गौणस्य,

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*निरातपत्र इति। अत्र अनिष्टाशंकीनीव बन्धुहृदयानीति*

शंकाचिन्तातिशयेन शोकं संभाव्य श्रीव्रजेश्वरीवचनात्करुणावकाशः।।२६।।

● *अनुवाद–अंगी मुख्य वत्सलरस के अंग–रसों के उदाहरण*–(मुख्य वत्सलरस के मित्र हैं हास्य, करुण तथा असुरविषयक भयानक–भेद; इनकी अंगता प्रदर्शित करते हैं)–माता यशोदा ने कहा, हाय ! छत्रहीन एवं पांव–नंगा मेरा बालक वन में सदा बछड़े चराता रहता है, इसलिए मेरा मन अत्यन्त सन्तप्त है। (यहाँ वात्सल्य के साथ करुण का मिश्रण है। मुख्य वात्सल्य है अंगी और गौण करुण उसका अंग है।।२६।।

तत्रैव हास्यस्य, यथा–

११–पुत्रस्ते नवनीतपिण्डमतनुं मुष्णन्ममान्तर्गृहाद्–
विन्यस्यापससार तस्य कणिकां निद्राणडिम्भानने।
इत्युक्ता कुलवृद्धया सुतमुखे दृष्टिं विभुग्नभ्रुणि
स्मेरां निक्षिपती सदा भवतु वः क्षेमाय गोष्ठेश्वरी।।३०।।

अत्रापि मुख्ये गौणस्य,

● *अनुवाद*–अंगी मुख्य वत्सल में गौण हास्य की अंगता का उदाहरण; किसी कुलवृद्धा ने यशोदा को कहा, यशोदे ! तुम्हारा पुत्र मेरे घर से बड़ा नवनीत–पिण्ड (माखन) चुरा लाया है। मेरे घर में सोये हुए बालक के मुख पर भी उस में से थोड़ा सा माखन लगाकर भाग आया है। यह सुनकर जिसने कुटिल भौंहें चढ़ाये हुए अपने पुत्र की ओर हँसते हुए देखा, वह गोष्ठेश्वरी यशोदा जी तुम्हारा कल्याण विधान करें।। (यहाँ यशोदा की असूयाभरी कुटिल भ्रुकुटि तथा उस में जो हास्य का उदय हुआ है, वह उसके वात्सल्य की ही पुष्टि करने वाले हैं। अतः मुख्य वात्सल्य अंगी है और गौण हास्य उसका अंग)।।३०।।

तत्रैव भयानकाद्भुतहास्यकरुणानां, यथा–

१२–कम्प्रास्वेदिनि चूर्णकुन्तलतटे स्फारेक्षणा तुंगिते
सव्ये दोष्णि विकाशिगण्डफलका लीलास्यभंगीशते।
विभ्राणस्य हरेर्गिरीन्द्रमुदयद्वाष्पा चिरोर्ध्वस्थितौ
पातु प्रस्नवसिच्यमानसिचया विश्वं व्रजाधीश्वरी।।३१।।

अत्र मुख्ये चतुर्णां गौणानाम्,

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*सव्ये दोष्णि गिरीन्द्रं विभ्राणस्य हरेश्चूर्णकुन्तलतटे स्वेदिनि सति कम्प्रेत्यादिकं योज्यम्।।३१।।*

● *अनुवाद–अंगी मुख्य वत्सल में गौण भयानक अदभुत, हास्य एवं करुण की अंगता का उदाहरण;* श्रीकृष्ण जब गोवर्द्धन धारण कर रहे थे तो उनकी अलकावली से पसीना बहता देखकर तथा कृष्ण के हाथ से कहीं गोवर्द्धन गिर न पड़े–इस आशंका से) यशोदा माता काँपने लगीं। फिर जब उसने देखा कि गोवर्द्धन को ऊँचा उठाने के लिए श्रीकृष्ण ने अपनी बायी भुजा उठाई है, तो सात वर्षीय बालक के ऐसे साहस को देखकर विस्मय से माता यशोदा के नयन चौड़ गए। फिर जब उसने यह भी देखा कि सहचर बालकों के साथ हास्य–परिहासादि

करते हुए श्रीकृष्ण के मुख पर खेल की भाँति अनेकविध मुसकान–भंगी प्रकाशित हो रही है, तब यशोदा जी भी हँसने लगीं और उसके कपोल प्रसन्नता से फूल उठे। फिर उसने यह देखा कि श्रीकृष्ण की बाँयी भुजा एक सप्ताह के चिरकाल पर्यन्त वैसे की वैसे ऊँची उठी हुई है, तब करुणावश उसके वस्त्र अश्रुओं की धाराओं से भीग गए–ऐसी व्रजेश्वरी यशोदा समस्त विश्व की रक्षा करे।।३१।।

२०–केवले वत्सले नास्ति मुख्यस्य खलु सौहृदम्।
अतोऽत्र वत्सले तस्य नितरां लिखिताऽंगता।।३२।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*केवले शुद्धे वत्सले तत्र नास्तीत्युपलक्षणं कुत्रचिदन्यत्राप्युन्नेयम्। तस्य मुखस्य।।३२।।*

● *अनुवाद*–शुद्ध वात्सल्य में सख्य रस का सौहृद्य नहीं है। इसलिए वत्सल रस में मुख्य रस की अंगता का उल्लेख नहीं किया गया है।।३२।।

अथोज्ज्वले प्रेयसो, यथा–

१३–मद्वेषशीलिततनोः सुबलस्य पश्य विन्यस्य मंजुभुजमूर्ध्नि भुजं मुकुन्दः।
रोमांचकंचुकजुषः स्फुटमस्य कणे सन्देशमर्पयति तन्वि ! मदर्थमेव !।।३३।।

अत्र मुख्ये मुख्यस्य,

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*मद्वेषेति। सुबलेन तद्वेशकरणमिदं नर्मणेति ज्ञेयम्।।३३।।*

● *अनुवाद–अंगी मुख्य मधुर रस में मुख्य सख्य की अंगता का उदाहरण;* श्रीराधाजी ने अपनी सखी से कहा, हे तन्वि ! मेरा वेश धारण कर सुबल पुलकित शरीर हो रहा है और श्रीकृष्ण उसके कन्धे पर भुजा रखे हुए उसके कान में मेरे लिए ही कोई सन्देश कह रहे हैं। (नर्म–सखा होने से सुबल ने श्रीराधा जी का वेश धारण कर रखा है, उसने श्रीराधा के मधुर रस की पुष्टिका साधन किया है, अतः मुख्य मधुर रस अंगी है और मुख्य सख्य उसका अंग)।।३३।।

तत्रैव हासस्य यथा–

१४–स्वसास्मि तव निर्दये ! परिचिनोषि न त्वं कुतः
कुरु प्रणयनिर्भरं मम कृष्णांगि ! कण्ठग्रहम्।
इति ब्रुवति पेशलं युवतिवेषगूढे हरौ
कृतं स्मितमभिज्ञया गुरुपुरस्तदा राधया।।३४।।

अत्र मुख्ये गौणस्य,

■ दुर्गमसंगमनी टीका– *"स्वसाऽस्मि तव निर्दये" इत्यर्द्धे–तवास्मि सवयश्चरी स्मरसि मां कठोरे ! न किम्। कुरु प्रणयनिर्भरं मम सुकण्ठि ! कण्ठग्रहमिति पाठान्तरम्।।३४।।*

● *अनुवाद–अंगी मुख्य मधुररस में गौण हास्य रस की अंगता का उदाहरण;* हे निर्दये ! मैं तुम्हारी बहिन हूँ, क्या तुम मुझे पहिचान नहीं पाई हो ? हे कृशांगि ! प्रेमपूर्वक मेरे गले तो लगो; युवती रमणी के वेशधारी श्रीकृष्ण ने आत्मगोपन करते हुए जब ये वचन कहे तो श्रीराधा जी यह जान गईं कि श्रीकृष्ण ही इस वेश में आए हैं। श्रीराधा जी गुरुजनों के सामने ही मुसकराने लगीं।।३४।।

तत्रैव प्रेयोवीरयोर्यथा–

१५–मुकुन्दोऽयं चन्द्रावलिवदनचन्द्र चटुलभ
स्मरस्मेरामाराद् दृशमसकलामर्पयति च।
भुजामंसे सख्युः पुलकिनि दधानः फणिनिभा–
मिभारिक्ष्वेडाभिर्वृषदनुजमद्योजयति च।।३५।।
अत्र मुख्ये मुख्यगौणयोः,

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*मुकुन्दोऽयमिति श्रीचन्द्रावलीसख्या भावना, सा च तयोर्मधुरां रतिमालम्ब्यैव प्रवृत्ता, प्रेयोवीरौ तु तदनुसंगिनौ विघायेति युक्तमुक्तं तत्रैव प्रेयोवीरयोर्यथेति, एवमन्यत्रापि ज्ञेयम्, इभानामरयो विद्राविका या क्ष्वेड़ा सिंहनादास्ताभिः।।३५।।*

● ***अनुवाद–अंगी मुख्य मधुर रस में मुख्य सख्य एवं गौण वीररस की अंगता का उदाहरण;*** **चन्द्रावली की सखी मन–मन में सोचने लगी, कैसा आश्चर्य ! दूर से चन्द्रावली के चंचल तारों युक्त मुखचन्द्र पर कन्दर्प–भाव प्रकाशक मुसकान भरी अधूरी दृष्टि डालते हुए श्रीकृष्ण ने अपने सखा के पुलकित कन्धे पर अपनी सर्पाकार भुजा रख दी है और सिंहनाद द्वारा वृषासुर को युद्ध के लिए ललकार रहा है।।३५।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–यहाँ मधुररस अंगी है। पुलकितांग सखा के कन्धे पर श्रीकृष्ण का भुजा–स्थापन करना सख्य को तथा सिंहनाद द्वारा वृषासुर को युद्ध के लिए ललकारना वीररस को प्रदर्शित करता है। अतः सख्य एवं वीर यहाँ मधुररस के अंग माने गए हैं।

श्रीपाद रूपगोस्वामी ने वीररस को मधुररस का मित्र नहीं माना है। अतः वीररस मधुर का अंग नहीं हो सकता। किन्तु यहाँ उसकी अंगता स्वीकार की गई है। श्रीपाद मुकुन्ददास गोस्वामी तथा दूसरों ने वीर की मधुर मित्रता स्वीकार की है। अतः यहाँ दूसरों के मतानुसार ही यह उदाहरण उद्धृत किया गया है–ऐसा समझना चाहिए।

यहाँ तक शान्तादि मुख्य रसों के अंगित्व का वर्णन किया गया है। अब आगे हास्यादि गौण रसों के अंगित्व का वर्णन करते हैं–

अथ गौणनामंगिता–

२१–हास्यादीनां तु गौणानां यदुदाहरणं कृतम्।
तेनैषामंगिता व्यक्ता मुख्यानां च तथाऽंगता।
तथाऽप्यल्पविशेषाय किंचिदेव विलिख्यते।।३६।।

● ***अनुवाद–हास्यादि गौणरसों के सब जो उदाहरण*** **दिखाए गए हैं, उनके अनुसार उनकी अंगिता और मुख्य रसों की अंगता व्यक्त किये जाने पर भी सामान्य विशेषता दिखाने के लिए कुछ और वर्णन करते हैं।।३६।।**

अथ हास्येऽगिनि शुचेरंगता यथा–

१६–मदनान्धतया त्रिवक्रया प्रसभं पीतपटांचले धृते।
अदधाद्विनतं जनाग्रतो हरिरुत्फुल्लकपोलमाननम्।।३७।।

अत्र गौणेऽगिनि मुख्यस्यांगता,

● *अनुवाद–अंगी गौण हास्यरस में मुख्य मधुररस की अंगता*–(गौण हास्यरस के मित्र हैं मधुर, वत्सल और वीभत्स। क्रमशः इनकी अंगता दिखाते हैं)–कामान्धा कुब्जा ने जनसमूह के सामने हठात् श्रीकृष्ण के पीताम्बर का अंचल पकड़ लिया, तब श्रीकृष्ण ने गालों को प्रफुल्लित करते हुए अपना मुख नीचे झुका लिया। (कामान्ध होकर सबके सामने श्रीकृष्ण का पीताम्बर पकड़ना हास्योत्पादक होने से इसे हास्यरस कहा गया है। कुब्जा की कामान्धता एवं श्रीकृष्ण का प्रफुल्लित मुख होना–इससे मधुररस सूचित होता है। अतः हास्य को यहाँ अंगी तथा मधुर को उसका अंग कहा गया है)

वीरे प्रेयसो, यथा–

१७–सेनान्यं विजितमवेक्ष्य भद्रसेनं मां योद्धुं मिलसि पुरः कथं विशाल !।
रामाणां शतमपि नोद्भटोग्रधामा श्रीदामा गणयति रे ! त्वमत्र कोऽसि।।३८।।

अत्रापि गौणेऽगिनि मुख्यस्य,

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*अत्रापीत्यत्र मुख्यस्येति श्रीदाम्नो रामप्रतियोद्धुः कृष्णपक्षप्रवेशेन तत्सख्ये स्पष्टतापत्तेः।।३८।।*

● *अनुवाद–अंगी गौण वीररस में मुख्य सख्यरस की अंगता का उदाहरण;* अरे विशाल ! भद्रसेन को पराजित देखकर युद्ध करने के लिए मेरे सामने तू क्यों आ रहा है ? अत्यन्त तेजस्वी यह श्रीदाम सौ–सौ बलरामों को भी कुछ नहीं गिनता, फिर तेरी तो गणना ही क्या ? (यहाँ वीररस ही अंगी है और श्रीकृष्ण के प्रति श्रीदामा का सख्य उसका अंग दिखाया गया है)।।३८।।

रौद्रे प्रेयोवीरयोर्यथा–

१८–यदुनन्दन निन्दनोद्धतं शिशुपालं समरे जिघांसुभिः।
अतिलोहितलोचनोत्पलैर्जगृहे पाण्डुसुतैर्वरायुधम्।।३६।।

अत्र गौणे मुख्यगौणयोः,

● *अनुवाद–गौण रौद्ररस में मुख्य सख्य एवं गौण वीररस की अंगता का उदाहरण;* हे यदुनन्दन ! आपकी निन्दा में उद्धत्त शिशुपाल को युद्ध में मारने के लिए क्रोध से लाल–लाल नेत्रों वाले पाण्डु पुत्रों ने बड़े–बड़े अस्त्र धारण कर लिए थे। (क्रोधपूर्वक लाल नेत्रों से रौद्र, अस्त्र धारण से वीररस सूचित हो रहा है) श्रीकृष्ण के प्रति पाण्डु पुत्रों का सख्य है। अतः गौण रौद्र तो अंगी है और मुख्य सख्य तथा वीररस उसके अंग हैं)।।३६।।

अद्भुते प्रेयोवीरहास्यानां यथा–

१६–मित्रानीकवृतं गदायुधि गुरुंमन्यं प्रलम्बद्विषं
यष्ट्या दुर्बलया विजित्यपुरतः सोल्लुण्ठमुद्गायतः।
श्रीदाम्नः किलवीक्ष्य केलिसमराटोपक्रमे पाटव
कृष्णः फुल्लकपोलकः पुलकवान् विस्फारदृष्टिर्वभौ।।४०।।

अत्र गौणे मुख्यस्य गौणयोश्च,

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*मित्रानीकमिति कस्यचिदन्यस्य सख्युर्वाक्यम्, अस्यैव चैते रसा उदाहार्या; न तु श्रीकृष्णस्य, भक्तिरसस्यैव प्रकृतत्वात्; दुर्बलया यष्ट्या*

विजित्येति शिक्षाविशेषाधिक्यमभिप्रेतं, सखित्वेनांगीकृतेषु सम्भवति च तत्तदिति। समराटोपक्र इत्येव पाठः।।

● ***अनुवाद–अंगी गौण अद्भुतरस में मुख्य सख्य की एवं गौण वीर और हास्य की अंगता;*** **मित्र मण्डली से परिवृत, गदायुद्ध में अति निपुण प्रलम्बासुर विनाशक श्रीबलदेव को दुर्बल लाठी द्वारा पराजित करके श्रीदाम आगे उछलता हुआ उच्च स्वर से गाने लगा। युद्ध लीला में श्रीदाम की पटुता देखकर श्रीकृष्ण प्रफुल्लित–कपोल हो उठे, पुलकित और विस्फारित–नेत्र होकर शोभित होने लगे।।४०।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–इस श्लोक में अन्य किसी सखा की उक्ति है। रसनिष्पत्ति भी वक्ता–सखा में ही है, श्रीकृष्ण में नहीं। क्योंकि प्रकरण है भक्तिरस–विषयक। भक्त में ही श्रीकृष्णविषयिणी रति या भक्ति रहती है, वही रति ही रस में परिणत होती है।

दुर्बल लाठी द्वारा मित्र मण्डली सहित, गदायुद्ध में विशारद महाबलशाली श्रीबलराम का पराजित हो जाना विस्मयोत्पादक होने से अद्भुतरस का परिचायक है, जिसने श्रीकृष्ण को विस्मित कर दिया। अतः अद्भुत रस यहाँ अंगी है। वक्ता–सखा का सख्यरस, श्रीदाम का उछलना–उच्च गान हास्य है एवं कृष्ण–सखा श्रीदाम की विजय वीररस है, जो वक्ता–सखा में भी संचारित हुआ है। अतः यहाँ सख्य, वीर एवं हास्य अद्भुत के अंग हैं।

२२–एवमन्यस्य गौणस्य ज्ञेया कविभिरंगिता।
तथाऽत्र मुख्यगौणानां रसानामंगताऽपि च।।४१।।
२३–सोऽंगी सर्वातिगो यः स्यान्मुख्यो गौणोऽथ वा रसः।
स एवांगं भवेदंगिपोषी संचारितां व्रजन्।।४२।।

तथा च नाट्याचार्याः पठन्ति–

२०–"एक एव भवेत्स्थायी रसा मुख्यतमो हि यः।
रसास्तदनुयायित्वादन्ये स्युर्व्यभिचारिणः"।।४३।।

श्रीविष्णुधर्मोत्तरे च–

२१–"रसानां समवेतानां यस्य रूप भवेद्बहु।
स मन्तव्यो रसः स्थायी शेषाः संचारिणो मता" इति।।४४।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*रूपं स्वरूपं, बहु अधिकं, "शेषाः संचारिणो मता" इति तन्मतेऽपि स्वस्वाधारादव्यभिचारिणौ शृंगारशान्तौ संचारिणाविव, स्वास्वाधारा–दव्यभिचारिणो हास्यादयस्तु संचारिण एवेति भेदांशे लब्धेऽपि यथा पोषकतांशेन सहयोगितांशेन भेदविवक्षा तथात्रापि (४।८।४२) स "एवांगमित्यादिनोक्तमिति दर्शितम्।।४४।।*

● ***अनुवाद***–**इस प्रकार कविगण अन्यान्य गौण रसों की भी अंगिता और उनमें मुख्य तथा गौण रसों की अंगता निर्णय कर लें।।४१।।**

अनेक रसों के मिलन–स्थान पर मुख्य एवं गौण, कोई भी रस क्यों न हो, वह यदि अन्यान्य रसों का अतिक्रम करता है अर्थात् सर्वापेक्षा आस्वादन

प्रदान करता है, वही 'अंगी' है और जो रस स्वयं संचारिता प्राप्त कर अंगी रस का पोषण करता है वह 'अंग' कहलाता है।।४२।।

नाट्याचार्यों ने भी कहा है, जो रस मुख्यतम होता है, वही केवल स्थायी है, अन्यान्य रस मुख्यरस के आनुगत्य में व्यभिचारि माने जाते हैं।।४३।।

श्रीविष्णु धर्मोत्तर में कहा गया है, समवेत रसों में जिसका स्वरूप सर्वातिशायी होता है, उसको "स्थायी" और अन्य दूसरे रसों को 'संचारी' कहा जाता है।।४४।।

२४–स्तोकाद्विभावनाज्जातः सम्प्राप्य व्यभिचारिताम्।
पुष्णान्निजप्रभुं मुख्यं गौणस्तत्रैव लीयते।।४५।।
२५–प्रोद्यन्विभावनोत्कर्षात्पुष्टिं मुख्येन लम्भितः।
कुंचता निजनाथेन गौणोऽप्यंगित्वमश्नुते।।४६।।

● *अनुवाद*–अनेक रसों के मिलन स्थान पर जो रस अति अल्प विभावन से उत्पन्न होता है; वह गौणता एवं व्यभिचारिता प्राप्ति–पूर्वक मुख्यरस का पोषण करते हुए उस मुख्य रस में ही लीन होकर रहता है।।४५।।

रस गौण होते हुए भी किन्तु विभावन की उत्कर्षता के कारण प्रकृष्ट रूप से उदित होने पर संकुचित अपने प्रभुरूप मुख्यरस द्वारा पुष्ट होकर फिर अंगित्व (अंगी रूपत्व) को प्राप्त करता है।।४६।।

२६–मुख्यस्त्वंगत्वमासाद्य पुष्णन्निन्द्रमुपेन्द्रवत्।
गौणमेवांगिनं कृत्वा निगूढ़निजवैभवः।।४७।।
२७–अनादिवासनोद्भासवासिते भक्तचेतसि।
भात्येव न तु लीनः स्यादेष संचारिगौणवत्।।४८।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*अनादीत्युपलक्षणं पूर्वसिद्धत्वे तात्पर्यं, संचारिगौणवदिति व्यतिरेके दृष्टान्तः यथा संचारिगौणो लीनो भवति, तथा न मुख्या लीनो भवतीत्यर्थः, संचारिवद्‌गौणवच्च नेत्यर्थः।।४८।।*

● *अनुवाद*–मुख्यरस अंगत्व प्राप्त करते हुए भी, जैसे भगवान् उपेन्द्र रूप में अपने वैभव को गोपन करते हुए इन्द्र का पोषण करते हैं, उसी प्रकार वह गौण अंगीरस को पुष्ट करता है, किन्तु वह मुख्यरस गौण तथा संचारी की तरह लीन न होकर पूर्वसिद्ध संस्कार के प्रकाश–विशिष्ट भक्तचित्त में परिस्फुरित–रूप से व्यक्त होता है।।४७–४८।।

२८–अंगी मुख्यः स्वमत्रांगैर्भावैस्तैरभिवर्द्धयन्।
सजातीयैर्विजातीयैः स्वतन्त्रः सन् विराजते।।४६।।
२६–यस्य मुख्यस्य यो भक्तो भवेन्नित्यनिजाश्रयः।
अंगी स एव तत्र स्यान्मुख्योऽप्यन्योऽगतां व्रजेत्।।५०।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*स्वमत्रांगैरित्येव पाठः। विजातीयैः शत्रुवर्जितैः, कैशिचत् पूर्वदर्शितैरन्यैरपि।।४६।। मुख्यस्येति। लीलाभेदेन प्रकटितनिज–मुख्यता–विशेषस्येत्यर्थः।।५०।।*

● *अनुवाद*–मुख्य अंगीरस अंगस्वरूप समान–जातीय एवं विजातीय भावों द्वारा अपने को वर्द्धित करते हुए स्वतन्त्र रूप से विराजता है।।४६।।

लीला–भेद से जो रस अपनी मुख्यता विशेष प्रकटित करता है, उस मुख्यरस का भक्त नित्य ही अपने रस का आश्रय रहता है। उसके सम्बन्ध में वही रस ही अंगी होता है और मुख्य रस भी अंगत्व प्राप्त करता है।।५०।।

किंच–

३०–आस्वादोद्रेकहेतुत्वमंगस्यांगत्वमंगिनि।
तद्विना तस्य सम्पातो वैफल्यायैव कल्पते।।५१।।
३१–यथा मृष्टरसालायं यवसादेः कथंचन।
तच्चर्वणे भवेदेव सतृणाभ्यवहारिता।।५२।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*अंगिनि यदंगस्यांगत्वं तत् खल्वास्वादोद्रेकहेतुत्वमेव नान्यदित्यर्थः, तदेव दर्शयति–तद्विनेति।।५१।।*

● *अनुवाद*–अधिकन्तु–अंगि रस में यदि अंग रस अतिशय आस्वादन का कारण हो, तभी ही उसका अंगत्व सिद्ध होता है; आस्वाद की अतिशयता का कारण न होने पर रसवर्णना में अंग रस का मिलन वृथा ही हो जाता है। जैसे सुन्दर रसमय ठण्डाई में दैवयोग से आ पड़े घास के तिनके को चबा लेने से ठण्डाई पीना निरस हो जाता है, उसी प्रकार अति उत्तम अंगी रस के आस्वादन के समय अंग रस की हेयता रसास्वादन में विघ्न ही डाल देती है।।५२।।

अथ वैरिकृत्यम्–

३२–जनयत्येव वैरस्यं रसानां वैरिणा युतिः।
सुमृष्टपानकादीनां क्षारतिक्तादिना यथा।।५३।।

तथा हि, २२–ब्रह्मिष्ठाया निष्फलम् मे व्यतीतः कालो भूयान् हा समाधिव्रतेन।
सान्द्रानन्दं तन्मया ब्रह्ममूर्तं कोणेनाक्ष्णः साचिसव्यस्य नैक्षि।।५४।।
अत्र शान्तस्योज्ज्वलेन वैरस्यम्,

● *अनुवाद–वैरी रस की फल; विरसता का उदाहरण*–(किसी मित्र रस के मिलन से तो रस विशेष पुष्ट होता है, किन्तु जब शत्रु या बैरी रस का मिलन होता है तो उसका फल क्या होता है ? उसे दिखाते हैं)–सुमधुर ठण्डाई के साथ नमक अथवा कोई कड़वी वस्तु मिल जाने से जैसे स्वाद मारा जाता है, उसी प्रकार वैरी या शत्रु रस के मिलने पर रसों में विरसता आ जाती है।।५३।।

उदाहरण; किसी रमणी ने कहा, हाय ! समाधि व्रत द्वारा ब्रह्म–निष्ठा में मेरा मन बहुत समय वृथा बीत गया। मैं उस सान्द्रानन्द–मूर्त ब्रह्म श्रीकृष्ण के दर्शन बाँयी आँख की कोर से भी न कर पाई। (यहाँ ज्ञान–निष्ठा की साधक–समाधि द्वारा शान्तरस और श्रीकृष्णदर्शन–लालसा द्वारा मधुर रस सूचित होता है। किन्तु शान्त का वैरी है मधुर। अतः यहाँ दोनों के मिलने से विरसता

उत्पन्न हुई है। शान्त का शान्तत्व नष्ट होकर ममत्वबुद्धि मूलक कान्तत्व का ज्ञान जाग उठा है)।।५४।।

२३–क्षणमपि पितृकोटिवत्सलं तं सुरमुनिवन्दितपादमिन्दिरेशम्।
अभिलषति वरांगनानखांकैः स्फुरिततनुम प्रभुमीक्षितुं मनो मे।।५५।।

अत्र प्रीतस्योज्ज्वलेनैव,

२४–दोर्भ्यामर्गलदीर्घाभ्यां सखे ! परिरंभस्व माम्।
शिरः कृष्ण ! तवाघ्राय विहरिष्ये ततस्त्वया।।५६।।

अत्र प्रेयसो वत्सलेन,

● *अनुवाद–दास्यरस में मधुर की वैरिता का उदाहरण,* जो कोटि–कोटि पिता की अपेक्षा भी अधिक वत्सल हैं, देव–मुनिगण जिनकी चरण वन्दना करते हैं, जो लक्ष्मीपति हैं (दास्यरस) एवं जिनका शरीर वरांगनाओं के नख–चिह्नों से सुशोभित है (मधुररस), उन प्रभु के एक क्षण भर दर्शन करने के लिए मेरा मन अभिलाषा करता है।।५५।।

सख्यरस में वात्सल्य रस की वैरिता का उदाहरण; सखे ! अर्गल सदृश अपनी दीर्घ भुजाओं द्वारा मुझे आलिंगन कर (सख्यरस)। हे कृष्ण ! तुम्हारा मस्तक सूँघकर (वात्सल्य) फिर तुम्हारे साथ खेलूँगा।।५६।।

२५–यं समस्तनिगमाः परमेशं सात्त्वतास्तु भगवन्तमुशन्ति।
तं सुतेति बत साहसिकीं त्वां व्याजिहीर्षतु कथं मम जिह्वा।।५७।।

अत्र वत्सलस्य प्रीतेन,

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*समस्तनिगमा इति। "तत्तु समन्वयादिति" न्यायेन समस्तं निगमयन्ति निगमार्थं समस्तं समन्वितं कुर्वन्ति ये ते वेदान्तिन इत्यर्थः, परमेशं परब्रह्मपर्यायं, सात्त्वताः पांचरात्रिकाः, भगवन्तं वासुदेवपर्यायम्।।५७।।*

● *अनुवाद–वत्सल रस में दास्य की वैरिता का उदाहरण;* समस्त निगमों के अर्थों के समन्वय–कर्ता वैदान्तिकगण जिनको परमेश्वर कहते हैं, पंचरात्र के अनुसरण करने वाले सात्वतगण जिन्हें भगवान् मानते हैं, (इन दोनों वाक्यों में दास्यरस सूचित होता है) ऐसे आपको 'पुत्र' कहकर पुकारने में (वत्सल रस) मेरी जिह्वा कैसे साहस कर सकती है ?।।५७।।

२६–तडिद्विलासतरला नवयौवनसम्पदः।
अद्यैव दूति ! तेन त्वं मया रमय माधवम्।।५८।।

अत्रोज्ज्वलस्य शान्तेन

२७–चिरं जीवेति संयुज्य काचिदाशीर्भिरच्युते।
कैलासस्था विलासेन कामुकी परिषष्वजे।।५९।।

अत्र शुचेर्वत्सलेन

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*चिरंजीवेत्युदाहरणाय कल्पनामात्रम्, एवमन्यत्रापि ज्ञेयम्।।५९।।*

● *अनुवाद–मधुररस में शान्त की वैरिता का उदाहरण;* हे दूति ! विद्युत–विलास की भाँति थोड़े काल के लिए रहने वाली है यह नव–यौवनसम्पति

(शान्त)। इसलिए आज ही तुम मेरे साथ माधव का मिलन कराओ (मधुर–रस)। (यहाँ शान्त द्वारा मधुर विरस हो गया है)।।५८।।

मधुररस में वात्सल्य की वैरिता का उदाहरण; कैलास–वासिनी किसी कामुकी रमणी ने "हे कृष्ण ! तुम चिरंजीव रहो" (वात्सल्य है)–ऐसा आशीर्वाद करते हुए विलासपूर्वक श्रीकृष्ण को आलिंगन किया (मधुर)। (वात्सल्य द्वारा मधुर रस यहाँ विरस हो गया है)।।५६।।

३३–शुचेः सम्बन्धगन्धोऽपि कथञ्चिद् यदि वत्सले।
क्वचिद्भवेत्ततः सुष्ठु वैरस्यायैव कल्पते।।६०।।

२८–पिशितास्रमयी नाहं सत्यमस्मि तवोचिता।
स्वापांगविद्धां श्यामांग ! कृपयाऽङ्गीकुरुष्व माम्।।६१।।
अत्र शुचेर्वीभत्सेन,

● *अनुवाद–मधुर की गन्धमात्र भी वत्सल में विरसता पैदा करती है;* शुद्ध वात्सल्य में यदि कभी भी मधुर रस–सम्बन्धी गन्ध रहे, तो वह वत्सल में पूरी तरह विरसता ला देती है।।६०।।

मधुर रस में वीभत्स की वैरिता; हे श्यामांग ! रक्त–मांसमयी मैं (वीभत्स) यद्यपि आपके योग्या नहीं हूँ, तथापि तुम्हारे नेत्रकटाक्षों से मैं घायल हो गई हूँ, (मधुर रस) कृपा कर मुझे अंगीकार कीजिए।।६१।।

३४–एवमन्यापि विज्ञेया प्राज्ञै रसविरोधिता।
प्रायेणेयं रसाभासकक्षायां पर्यवस्यति।।६२।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*प्रायेणेति केचिद्रसाभासादप्यधमकक्षाया पर्यवस्यन्तीत्यर्थः।।६२।।*

● *अनुवाद*–प्राज्ञ व्यक्ति इसी प्रकार अन्यान्य प्रकार की विरोधिता या विरसता को जान लेवें। यह रस विरोधिता–विरसता प्रायः रसाभास कक्षा में पर्यवसित होती है।।६२।।किंच,

३५–द्वयोरेकतरस्येह बाध्यत्वेनोपवर्णने।
स्मर्यमाणतयाप्युक्तौ साम्येन रचनेऽपि च।।६३।।
३६–रसान्तरेण व्यवधौ तटस्थेन प्रियेण वा।
विषयाश्रयभेदे च गौणेन द्विषता सह।
इत्यादिषु न वैरस्यं वैरिणोर्जनयेद्युतिः।।६४।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*बाध्यत्वं बाधयोग्यत्वम्, अयमत्र बाधयोग्या भवतीत्युपवर्णने, युक्तिसंवलिततया निरूपण इत्यर्थः, अतो बाधाया अयोगस्य तथा वर्णने तु वैरस्यमेवेति भावः, अपि–शब्दस्य सम्भववचनत्वात् हासादौ करुणस्मरणं वैरस्यायैवेति बोध्यम्, द्वितीयोऽप्यपिशब्दः पूर्ववत्। अतो वर्णनीयानां शृंगारादीनां वीभत्सादिभिः साम्यवचनमनुचितम्। अपिशब्दस्य द्विरुक्त्या रसान्तरेणेत्यादौ च व्यभिचारो द्रष्टव्यः, वत्सलादीनां वैरियोगे व्यवधानशतेनापि वैरस्याभावानुपपत्तेः, विषयाश्रयभेदेन च तत्र भक्तिरसिकाभीष्टस्य रसविशेषस्यान्यत्र समतां दर्शयद्भिरन्यैः प्रतीतोत्तमत्वेऽपि भक्तिरसिकै[illegible] ज्ञातोऽपीत्यादि ज्ञेयम्।।६४।।*

● *अनुवाद*–दो रसों में एक के बाधा योग्य रूप में युक्ति समन्वित निरूपण में, स्मरण की योग्यतारूप उक्ति में,साम्यवचन में, रसान्तर तटस्थ द्वारा या सुहृद द्वारा व्यवधान में, गौण वैरी रस के साथ विषय एवं आश्रय भेद आदि स्थलों पर संयोग विरसता नहीं उत्पन्न करता।।६३–६४।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–पहले यह कहा गया था कि कोई भी रस उसके वैरी रस के साथ मिलित होने पर उसमें विरसता ला देता है। किन्तु विशेष स्थलों पर व्यतिक्रम भी होता है अर्थात् विशेष स्थलों पर विरसता नहीं भी उत्पन्न होती। उन स्थल–विशेषों का नाम ऊपर वर्णन किया गया है। नीचे कई एक उदाहरण देकर विषय को स्पष्ट करते हैं।

तत्रैकतरस्य बाध्यत्वेन वर्णने, यथा विदग्धमाधवे–

२६–प्रत्याहृत्य मुनिः क्षणं विषयतो यस्मिन्मनो धित्सते
बालासौ विषयेषु धित्सति ततः प्रत्याहरन्ती मनः।
यस्य स्फूर्तिलवाय हन्त हृदये योगी समुत्कण्ठते
मुग्धेयं किल तस्य पश्य हृदयान्निष्क्रान्तिमाकांक्षति।।६५।।

३७–बाध्यत्वमत्र शान्तस्य शुचेरुत्कर्षवर्णनात्।।६६।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*प्रत्याहृत्येति, अत्र पूर्वार्द्धे मुनेर्बालायाश्च प्रथमा निष्ठा, उत्तरार्द्धे योगिनस्तस्याश्च स्फुटमुत्तरा।।६५।। बाध्यत्वमिति। पूर्वपद्ये श्रीराधा–माधवरहस्यसहायतया पौर्णमास्याख्यातपस्विन्या रसद्वयं भावितं, मुन्याद्यनुसारेण शान्तः, श्रीराधानुसारेण शुचिः, तत्र मुनियोगिनोर्योगबलेन प्रवर्त्त्यमानस्यापि मनसस्तत्राप्रवृत्तेः श्रीराधाया धर्मभयेन बाध्यमानस्यापि तस्य तस्मिन्प्रवृत्तेः पूर्वस्य निकर्षः परस्य तु प्रकर्षः स्पष्ट एवेति, किंत्वीदृग्वर्णनं वक्तृभेदेनैवादोषाय ज्ञेयं न तु सर्वत्र।।६६।।*

● ***अनुवाद*–*एकेतर का बाध्यत्व रूप में वर्णन श्रीविदग्धमाधव नाटक में*–(श्रीराधा जी के प्रेमोत्कर्ष को स्थापन करने के लिए पौर्णमासी देवी ने नान्दीमुखी से कहा), देख, कैसा आश्चर्य है ! मुनिगण मन को विषयों से हटाकर क्षण काल के लिए जिस श्रीकृष्ण को हृदय में धारण करने की इच्छा करते हैं (किन्तु धारण नहीं कर पाते), यह व्रजबाला राधिका तो अपने मन को उन श्रीकृष्ण से हटा कर विषय में लगाने की इच्छा करती है। हाय ! कितना दुःख ! योगीगण हृदय में जिनकी लेशमात्र स्फूर्त्ति प्राप्त करने के लिए समुत्कण्ठित रहते हैं, यह मुग्धा राधिका उन्हें हृदय से निकालने की अभिलाषा करती है।।६५।।**

यहाँ मधुररस के कथन करने के लिए मुनिगण तथा योगीगण की बाध्यत्व रूप में वर्णना की गई है। मधुररस का उत्कर्ष इससे साधित हुआ है, इसलिए वैरी शान्तरस (मुनि–योगीजन का शान्तरस) मिलने पर भी मधुर में विरसता नहीं आई है।।६६।।

स्मर्यमाणत्वे, यथा–

३०–स एष वैहासिकताविनोदै र्ब्रजस्य हासोद्गमसंविधाता।
फणीश्वरेणाद्य विकृष्णमाणः करोति हा नः परिदेवनानि।।६७।।

साम्येन वचने, यथा–

३१–विश्रान्तषोडशकला निर्विकल्पा निरावृत्तिः।
सुखात्मा भवति राधे ! ब्रह्मविद्येव राजते।।६८।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*स एष इति पद्यद्वयं केषांचित् क्षोदिष्ठदिविष्ठानां वचनं, यदिदमतिस्निग्ध–स्वभावानां नेति लक्ष्यते; व्रजस्थानां तु सुतरां, तदा वैहासिकादिशब्दानां प्रयोगानौचित्यात्, न चेदं ब्रह्मशिवादीनां; तेषां स्वयं–भगवत्त्वज्ञानात्।।६७।। विश्रान्ताः प्राप्तविश्रमाः, षोड़श–कला रचनाः शृंगारा यस्यां, पक्षे विश्रान्तं निरुद्यमं षोड़शकलं लिंगशरीरं यस्यां, निर्विकल्पा सुष्ठु प्रत्यक्षतया निर्णीता, पक्षे भेदरहिता, अत्र हेतुर्निरावृतिः लतादि व्यवधानरहिता, पक्षे गुणावरणशून्या ब्रह्मविद्या ब्रह्मानुभवः तदेतद्विधमपि वर्णनं नर्ममयमेव रसाय सम्पद्यत इति तथोदाहृतं, मुक्तिश्रीरिवेति पाठस्त्यक्तः।।६८।।*

● *अनुवाद–स्मर्यमाणत्व रूप में वर्णन का उदाहरण;* कालियनाग द्वारा लिपटे हुए श्रीकृष्ण को देखकर किसी गोप ने दुःखपूर्वक कहा, जो परिहास कौतुक द्वारा समस्त व्रजवासियों का हास्योत्पादन करते थे, हाय ! वही श्रीकृष्ण आज सर्पराज कालिय द्वारा आकृष्ट होकर हमें विलाप करवा रहे हैं।।६७।।

साम्य वचन रूप में वर्णन का उदाहरण; सुरतान्त में श्रीकृष्ण ने कहा, हे राधे ! तुम्हारा सोलह कलात्मक शृंगार विश्राम तो प्राप्त हुआ है। (ब्रह्मविद्या पक्ष में सोलह कलात्मक लिंग शरीर विश्राम को प्राप्त हुआ है अर्थात् निरुद्यम हो गया है); तुम निर्विकल्पा हो गई हो अर्थात् तुम श्रीराधा हो या कोई और, इसके विकल्प से रहित हो गई हो क्योंकि प्रत्यक्ष रूप से यह निर्णीत हो रहा है कि तुम श्रीराधा हो। (ब्रह्मविद्या पक्ष में–भेदरहिता हो गई हो प्रत्यक्षरूप से निर्णय के कारण); तुम निरावृता हो अर्थात् लतादि या वस्त्रों द्वारा आवृता नहीं हो, तुम्हारे समस्त अंग परिष्कार रूप से दिखाई दे रहे हैं, निर्भूल भाव से यह निर्णय हो रहा है कि तुम श्रीराधा हो। (ब्रह्मविद्या पक्ष में–ब्रह्मानुभव–प्राप्ता हो) इस प्रकार तुम ब्रह्मविद्या की तरह विराजित हो रही हो।।६८।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–श्रीपाद जीवगोस्वामी के मत में श्लोक सं० ६७ के वचन किसी साधारण देवता के हैं। असुरों द्वारा श्रीकृष्ण कभी पराजित नहीं होते। अतः उनके पराजित होने का विलाप भी असम्भव है। तथापि ऐश्वर्य–ज्ञान शून्य कृष्णनिष्ठ गोप के बन्धन–जनित स्नेहवश यहाँ विलाप को माना गया है। श्रीकृष्ण पहले व्रजवासियों को हँसाते–आनन्द प्रदान करते थे, उसे आज स्मरण कर करुणरस का उदय हुआ है। करुण के साथ हास्य का विरोध है। परन्तु यहाँ पूर्ववर्त्ती हास्य का स्मरण करते हुए भी करुण रस में विरसता नहीं आई।

ब्रह्मविद्या का अनुशीलन पुराण–साधक के आनन्द स्वरूप ब्रह्म का अनुभव

प्राप्त करने पर जैसे उसका षोड़शकलात्मक देह चेष्टाशून्य हो जाता है, उसका समस्त भेदज्ञान नष्ट हो जाता है, उसके लिए जैसे मायिक गुणों का कोई भी आवरण नहीं रह जाता, वह जैसे ब्रह्मानन्द अनुभव में अपने को आनन्दमग्न जानता है, उसी प्रकार श्रीराधा जी की अवस्था का वर्णन किया गया है श्लोक सं० ६८ में। यहाँ ब्रह्मानुभवी–जनों के शान्तरस के साथ श्रीराधा के मधुर रस के प्रभाव का साम्य या समानता वर्णन की गई है। शान्तरस मधुररस का वैरी होते हुए भी यहाँ मधुर रस में विरसता उत्पन्न नहीं कर रहा है। बल्कि शान्तरस अपने प्रभाव के साम्य द्वारा मधुररस के प्रभाव को पुष्ट कर रहा है।

यथा वा, ३२–राधा शान्तिरिवोन्निद्रं निर्निमेषेक्षणं च माम्।
कुर्वती ध्यानलग्नं च वासयत्यद्रिकन्दरे।।६६।।

● ***अनुवाद–साम्यरूप वर्णन का दूसरा उदाहरण;*** **श्रीराधा शान्ति (शान्तरस के साधकों) की तरह मुझे निद्रारहित निर्निमेष नेत्रों युक्त तथा ध्यान करते हुए पर्वत की कन्दरा में वास करा रही हैं।।६६।।**

रसान्तरेण व्यवधौ, यथा–

३३–त्वं कासि शान्ता किमिहान्तरिक्षे
द्रष्टुं परं ब्रह्म कुतस्तताक्षी।
अस्यातिरूपात् किमिवाकुलात्मा
रम्भे समारम्भि भिदा स्मरेण।।७०।।

अत्राद्भुतेन व्यवधिः,

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*त्वं काऽसीति। अत्र रूपस्यात्यद्भुततया तस्याः शान्तरतिमाच्छाद्य मधुररतिरुद्भाविता, व्यवधिशब्दस्याप्येतावानवधिः, साक्षात्स्मरोक्त्या तु यद्वैरस्यं तं खलु न निषिध्यते, किन्तु शान्तसंगेन यत्तदेवेतिभावः, एवमन्यत्रापि।।७०।।*

● ***अनुवाद–रसान्तर द्वारा व्यवधान होने पर विरसता पैदा नहीं होती, उदाहरण;*** **रम्भा नाम की अप्सरा ने किसी दूसरी अप्सरा से पूछा, कौन हो, तुम? उसने उत्तर दिया–'मैं (शान्ति रतिमति) हूँ। रम्भा ने पूछा, 'तुम यहाँ आकाश में कैसे ? उसने कहा, 'परब्रह्म श्रीकृष्ण के दर्शन करने के लिए।' रम्भा ने पूछा, 'तुम्हारे नयन क्यों प्रफुल्लित हो रहे हैं' ? उसने उत्तर दिया–'परब्रह्म श्रीकृष्ण के अतिशय रूप माधुर्य के दर्शन करके।' रम्भा ने पूछा–'तुम्हें मैं व्याकुल क्यों देख रही हूँ ?।'–उसने कहा–रम्भे ! भेदाभेद कर्ता कन्दर्प ने मुझे आकुलात्मा करना आरम्भ कर दिया है–अर्थात् इस श्रीकृष्ण के अनिर्वचनीय अद्भुत रूप का दर्शन कर आज से मुझमें कन्दर्प जागा है। (यहाँ अद्भुत–रस द्वारा मधुररस का व्यवधान है। श्रीकृष्ण रूप की अद्भुतता ने अप्सरा की शान्तिरति को आच्छादित कर मधुर–रति को उद्भावित कर दिया है। अतः यहाँ विरसता नहीं पैदा हुई)।।७०।।**

विषयभिन्नत्वे, यथा श्रीदशमे–(१०।६०।४५)–

३४–त्वक्श्मश्रुरोमनखकेशपिनद्धमन्तर्मांसास्थिरक्तकृमिविट्कफपित्तवातम्।
जीवच्छवं भजति कान्तमतिर्विमूढा या ते पदाब्जमकरन्दमजिघ्रती स्त्री।।७१।।

● *अनुवाद—विषय की भिन्नता के कारण विरसता नहीं पैदा होती, उदाहरण;* (श्रीमद्भागवत—१०—६०—४५)—श्रीरुक्मिणीदेवी ने श्रीकृष्ण से कहा, जिन स्त्रियों ने आपके चरण—कमलों की मकरन्द का आघ्राण नहीं किया है, वे अति विमूढ स्त्रियाँ ही बाहर से त्वक्, दाढ़ी—मूँछ, रोम—नख तथा केशों से आच्छादित और भीतर माँस—अस्थि, रक्त, कृमि, विष्ठा, कफ, पित्त तथा वायु द्वारा भरे हुए जीवन दशा में मुर्दे के समान शरीर को अपना पति मान कर सेवन करती हैं। (यहाँ श्रीरुक्मिणी जी का मधुर रस है और सामान्य स्त्रियों का प्राकृत पुरुषों के विषय में वीभत्स रस है। विषय भिन्न होने से यहाँ मधुर में कोई विरसता नहीं आई।।७१।।

यथा वा विदग्धमाधवे—

३५—तस्याः कान्तद्युतिनि वदने मंजुले चाक्षियुग्मे
तत्रास्माकं यदवधि सखे ! दृष्टिरेषा निविष्टा।
सत्यं ब्रूयस्तदवधि भवेदिन्दुमिन्दीवरं च
स्मारं स्मारं मुखकुटिलताकारिणीयं ह्रणीया।।७२।।

उभयत्र शुचिवीभत्सयोः,

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*स्मारं स्मारमिति ह्रणीयेति द्वयमप्यस्माकमित्यस्यैककर्तुः क्रियाद्वये चास्मिन् स्मृतिक्रियायाः पूर्वत्वान्णमुल युज्यते एव।।७२।।*

● *अनुवाद—विषय—भिन्नता विषयक दूसरा उदाहरण;* (श्रीविदग्धमाधव नाटक में)—श्रीकृष्ण ने कहा, हे सखे ! जब से मैंने उस श्रीराधा के मनोहर कान्ति—विशिष्ट मुख का और मनोहर नेत्रों का दर्शन किया है और मेरी दृष्टि उनमें जुड़ी है, तब से मैं तुम्हें सत्य कहता हूँ कि चन्द्र और कमल का स्मरण करते ही मुझे मुख विकृत करने वाली घृणा उत्पन्न हो आती है। (यहाँ भी मधुर एवं वीभत्स भिन्न विषय होने से कोई विरसता पैदा नहीं होती)।।७२।।

आश्रयभिन्नत्वे, यथा—

३६—विजयिनमजितं विलोक्य रंगस्थलभुवि सम्भृतसांयुगीनलीलम्।
पशुपसवयसां वपूंषि भेजुः पुलककुलं द्विषतां तु कालिमानम्।।७३।।

अत्र वीरभयानकयोः,

● *अनुवाद—(आश्रय की भिन्नता विरसता—जनक नहीं होती—*यदि दो रसों के आश्रय भिन्न हैं, तो एक रस दूसरे रस का वैरी होते हुए भी विरसता पैदा नहीं करता)।

उदाहरण; कंस के रंग—स्थल में सम्यक् रूप से युद्धलीला—परायण अजित श्रीकृष्ण को विजयी देखकर उनके सखा गोपबालकों के शरीर आनन्द से पुलकित हो उठे, किन्तु कंस पक्ष के कृष्ण—विरोधियों के शरीर भय से काले पड़ गये। (यहाँ श्रीकृष्ण सखाओं का वीररस है और विरोधियों का है भयानक रस। वीररस का वैरी है भयानक रस। वीररस के आश्रय हैं गोपबालक और भयानक रस के आश्रय हैं कृष्ण—विरोधी। दोनों रसों के आश्रय भिन्न होने से कोई विरसता नहीं पैदा होती)।।७३।।

३८–विषयाश्रयभेदेऽपि मुख्येन द्विषता सह।
संगतिः किल मुख्यस्य वैरस्यायैव जायते।।७४।।

● *अनुवाद*–दो मुख्यरसों में यदि एक रस दूसरे रस का वैरी हो, तो विषय की भिन्नता में भी विरसता पैदा होती है और आश्रय की भिन्नता में भी।।७४।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–पूर्वोल्लिखित श्लोक सं० ७१ में यह दिखाया गया था कि विषय भिन्न होने से मधुर रस वीभत्सरस के मिलन से भी विरसता प्राप्त नहीं करता। यहाँ मधुर रस है मुख्य तथा वैरी वीभत्सरस है गौण। विषय भिन्न होने से वहाँ विरसता उत्पन्न नहीं होती।

श्लोक सं० ७३ में यह दिखाया गया था कि आश्रय भिन्न होने पर वीररस अपने वैरी–भयानक रस के मिलने पर विरसता को प्राप्त नहीं होता। किन्तु उपर्युक्त श्लोक में यह दिखाया गया है कि दो मुख्य रसों में यदि एक रस दूसरे का वैरी है तो विषय अथवा आश्रय भिन्न होने पर भी विरसता पैदा होती है।

तत्र विषयभेदे, यथा–

३७–विमोचयार्गलाबन्धं विलम्बं तात ! नाचर।
यामि काश्यगृहं यूना मनः श्यामेन मे हृतम्।।७५।।
अत्र शुचेः प्रीतेन,

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*काश्यः सान्दीपनिः, प्रीतेन तस्याः पितृविषयेण, भावनाविशेषे त्वत्रापि न दोषः, यथा–*

"अहं त्रयीमयाज्जाता सात्त्वतानां पतिः स तु।
तस्मादन्यो वरः को वा ममालम्बाय कल्पताम्।।

त्रयीमयात् स्यात्।।७५।।

● ***अनुवाद–विषयभेद होने पर भी मुख्य के साथ मुख्य वैरी मिलने पर विरसता का उदाहरण;*** किसी एक मथुरा–वासिनी ने अपने पिता को कहा, हे पिताजी ! दरवाजे का अर्गल (कुन्दा) खोल दो, देर मत करो। मैं सान्दीपनि मुनि के घर जाऊँगी; वहाँ जो श्यामवर्ण युवक–श्रीकृष्ण रह रहा है, उसने मेरे मन को हरण कर लिया है। (यहाँ मथुरा–वासिनी की पिता के प्रति दास्य रति है और श्रीकृष्ण के प्रति मधुर रति। दोनों मुख्य रति हैं। मधुर दास्य का वैरी है। विषय भिन्न होते हुए भी दोनों मुख्य रतियाँ होने से विरसता है)।।७५।।

आश्रयभेदे, यथा–

३८–रुक्मिणीकुचकाश्मीरपंकिलोरःस्थलं कदा।
सदानन्दं परं ब्रह्म दृष्ट्या सेविष्यते मया।।७६।।
अत्र शान्तस्य शुचिना,

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*रुक्मिणीति। एषाऽत्र शुचेराश्रयः, वक्ता तु शान्तस्य, रुक्मिणीत्यादि भावनायां तु शुचेराश्रयः स्यादिति पक्षे तु सुतरामेव दोष इति भावः।।७६।।*

● *अनुवाद–आश्रय की भिन्नता में मुख्य के साथ मुख्य वैरी के मिलन में विरसता का उदाहरण;* जिनका वक्षःस्थल श्रीरुक्मिणी के कुचस्थ–केसर द्वारा लिप्त हो रहा है, उस सदानन्द परब्रह्म की कब मैं दृष्टि द्वारा सेवा करूँगा ?। (यहाँ रुक्मिणी मधुर रस की आश्रय है, वक्ता शान्तरस का आश्रय, दोनों रसों के भिन्न आश्रय हैं तथापि दोनों मुख्य होने से मधुर रस द्वारा शान्त रस में विरसता आ गई है)

३९–अनुरक्तधियो भक्ताः केचन ज्ञानवर्त्मनि।
शान्तस्याश्रयभिन्नत्वे वैरस्यं नानुमन्वते।।७७।।

● *अनुवाद*–ज्ञानमार्ग में अनुरक्त कई एक भक्त शान्तरस के आश्रय भिन्न होने पर भी विरसता स्वीकार नहीं करते हैं।।७७।। (जैसे श्लोक सं० ७६ में वर्णन की गई है। किन्तु श्रीपाद रूपगोस्वामी इसमें सहमत नहीं हैं) ।किंच, ४०–

४०–भृत्ययोर्नायकस्येव निसर्गद्वेषिणोरपि।
अंगयोरंगिनः पुष्टौ भवेदेकत्र संगतिः।।७८।।

यथा, ३९–कुमारस्ते मल्लीकुसुमसुकुमारः प्रियतमे !।७९।।
गरिष्ठोऽयं केशी गिरिवदिति मे वेल्लति मनः।
शिवं भूयात्पश्योन्नमितभुजमेधिर्मुहुरमुं
खलं क्षुन्दन् कुर्यां व्रजमतितरां शालिनमहम्।।७९।।
अत्र विद्विषौ वीरभयानकौ वत्सलं पुष्णीतः,

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*कुमार इत्यादौ विषयभेदोऽप्यपेक्ष्यते, शालिनं श्लाघिनं, शालृ श्लाघायां, धातुः, मेधिः, धान्यपलालपार्थक्याय भ्राम्यमाणबलीबर्द्दबन्धन स्तम्भः।।७९।।*

● *अनुवाद*–प्रभु की सेवा निमित्त स्वभावतः ही परस्पर विद्वेषी दो सेवकों का एकत्र मिलन जैसे संगत है, वैसे अंगि–रस की पुष्टि के लिए परस्पर दो वैरी अंग रसों का एकत्र मिलन भी संगत है, दोषयुक्त नहीं है।।७८।।

उदाहरण; श्रीनन्द महाराज ने यशोदा से कहा, हे प्रियतमे ! तुम्हारा पुत्र मल्लिका पुष्प की भाँति सुकोमल है, किन्तु यह केशी दानव पर्वत की भाँति अति कठोर है। इसलिए मेरा मन कम्पित हो रहा है (भय)। मंगल हो; देख, मैं अपनी स्तम्भ तुल्य भुजाओं को बार–बार उठाकर इस केशी को विचूर्णित कर व्रजमण्डल को सुस्थिर कर रहा हूँ (वीररस)। यहाँ श्रीनन्दमहाराज का श्रीकृष्ण–विषयक वात्सल्य रस अंगी है। भयानक और वीररस दोनों परस्पर विरोधी हैं। परन्तु अंगरूप से वात्सल्य की यहाँ पुष्टि ही कर रहे हैं, उसमें कोई विरसता नहीं है।।७९।।

यथा वा–

४०–"कम्प्रास्वेदिनि चूर्णकुन्तलतटे" इत्यादि,
अत्र हास्यकरुणौ वत्सलमेव पुष्णीतः, ।८०।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*कम्पेत्यादौ किंचित्काव्यभेदोऽपि दृश्यते।।८०।।*

● *अनुवाद*–इसी लहरी के कम्प्रा स्वेदिनि श्लोक सं० ३१ में भी हास्य तथा करुण दोनों विरोधी रस अंग हैं जो वात्सल्य रस अंगी को पुष्ट कर रहे हैं, वहाँ भी कोई विरसता नहीं हो रही है।।८०।।

अपि च, ४१–मिथो वैरावपि द्वौ यौ भावौ धर्मसुतादिषु।
कालादिभेदात्प्राकट्यं तौ विन्दन्तौ न दुष्यतः।।८१।।
४२–अधिरूढे महाभावे विरुद्धैर्विरसा युतिः।
न स्यादित्युज्ज्वले राधाकृष्णयोर्दर्शितं पुरा।।८२।।
४३–क्वाप्यचिन्त्यमहाशक्तौ महापुरुषशेखरे।
रसावलिसमावेशः स्वादायैवोपजायते।।८३।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*मिथो वैरावपीति। तद्भावयोग्येषु तेषु भावभेदस्य यथाकालमुदयात्, धर्मसुते हि प्रीत–वात्सल्यं सख्यं च दृश्यते, योग्यता च तदीश्वरताज्ञानित्वात् ज्येष्ठभ्रातृत्वात् न्नातिज्येष्ठभ्रातृत्वाच्च, यथा श्रीबलदेवस्य, दोषत्वं खल्वयोग्य एव विधीयते, तस्मान्न तेषु दोषः, किन्त्वन्यत्रैवेत्यर्थः, ये वा केचित्प्रयोगाः श्रीभागवते विरुद्धा इव दृश्यन्ते तत्समाधानं तु श्रीभागवतसन्दर्भस्य प्रीतिसन्दर्भे कृतमस्ति।।८१।। दर्शितं पुरेति। घोरा खण्डितशंखचूडमित्यादौ, (३।५।२३)।।८२।। क्वाप्यचिन्त्येति। विषयत्वेन प्राय स्वादो न विहन्यते; आश्रयत्वेऽपि स्वादायैव स्यादित्यर्थः।।८३।।*

● *अनुवाद*–धर्मपुत्र युधिष्ठिरादि में परस्पर वैरी दो भाव दीखते हैं, किन्तु वे कालभेद से अर्थात् यथाकाल प्रकाशित होते हैं, इसलिए दोषणीय नहीं हैं।।८१।।

अधिरूढ़ महाभाव में समस्त विरुद्ध भावों का मिलन होता है किन्तु वहाँ श्रीश्रीराधा–कृष्ण के मधुर रस में विरसता पैदा नहीं होती। यह पहले भी दिखाया गया है।।८२।।

कहीं–कहीं अचिन्त्य शक्ति सम्पन्न महापुरुष शिरोमणि में रस समूह का समावेश आस्वादन के लिए ही हुआ करता है।।८३।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–दो भाव यदि परस्पर वैरी हों, तो एक ही आश्रय में एक ही समय उदित होने पर विरसता होती है जैसे श्लोक सं० ५७ में वर्णन किया जा चुका है, किन्तु वैसे दो वैरी भाव यदि एक ही आश्रय में विभिन्न समय पर उदित होते हैं, तो विरसता उत्पन्न नहीं होती। जैसे श्लोक सं० ८१ में दिखाया गया है। राजा युधिष्ठिर में श्रीकृष्ण–विषयक दास्य, वात्सल्य तथा सख्य तीनों भाव रहते हैं। श्रीकृष्ण में ईश्वर बुद्धि होने से दास्यभाव, वयस में बड़े तथा बुआ के पुत्र होने से उनका श्रीकृष्ण में वात्सल्य है, श्रीबलराम के सम–वयस होने से श्रीकृष्ण में उनको सख्यभाव भी है। वात्सल्य सख्य का वैरी है। किन्तु तीनों भाव एक ही आश्रय श्रीयुधिष्ठिर में विभिन्न समय पर प्रकाशित होने से उनमें कोई विरसता नहीं आती।

अधिरूढ़ महाभाव में विरुद्ध भावों के मिलने पर भी श्रीश्रीराधा–कृष्ण के मधुर रस में कोई विरसता नहीं आती। इसका उदाहरण, पश्चिम–विभाग की मधुर

भक्तिरस लहरी श्लोक सं० २३ में मिलता है। उस श्लोक में भयानक, शान्त, वत्सल, तीनों भाव विद्यमान हैं, जो मधुर के विरोधी हैं, किन्तु वहाँ कोई विरसता उत्पन्न नहीं होती।

श्लोक सं० ८३ की टीका में श्रीपाद जीवगोस्वामी लिखते हैं कि श्रीकृष्ण जब समस्त रसों के विषय होते हैं, तब प्रायशः आस्वादन की हानि नहीं होती और जब वे समस्त रसों के आश्रय होते हैं, तब भी उन रसों का समावेश आस्वाद्य होता है। इसका उदाहरण आगे देते हैं—

तत्र रसानां विषयत्वे, यथा ललितमाधवे—

४१—दैत्याचार्यास्तदास्ये विकृतिमरुणतां मल्लवर्याः सखायो
गण्डौन्नत्यं खलेशाः प्रलयमृषिगणा ध्यानमुष्णास्रमम्बा।
रोमांचं सांयुगीनाः किमपि नवचमकारमन्तः सुरेशा
लास्यं दासाःकटाक्षं ययुरसितदृशः प्रेक्ष्य रंगे मुकुन्दम्।।८४।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका—***दैत्याचार्याः, कंसपुरोहिताः तदा, तदानीम् आस्ये मुखे विकृतिं कूणनादिकं ययुः गजरक्तमदादिलिप्तत्वं दृष्ट्वेति भावः, अनेन वीभत्सः, सखाय इत्यनेन हास्यः प्रेयांश्चेति रसद्वयं, प्रलयं भयेन नष्टचेष्टतां, ध्यानं ध्यानावस्थामेव साक्षाद्ययुः; अनेन शान्तः, अम्बाः देवक्यादयः; एतेन वत्सलः करुणश्च।।८४।।*

● *अनुवाद—श्रीकृष्ण का रस समूह में विषयत्व;* **श्रीकृष्ण जब कंस के रंग स्थल में पहुँचे तो उन्हें देखकर कंसादि दैत्यों के मुख विकृत हो उठे (वीभत्स); मल्लों के मुख लाल हो उठे (रौद्र); सखाओं के कपोल प्रफुल्लित हो उठे (हास्य); दुष्ट तो मानो मृत्यु को प्राप्त हो गए (भय); ऋषिगण ध्यान में निमग्न हो गए (शान्त); मातृगण गरम आँसू बहाने लगीं (वात्सल्य एवं करुण) योद्धाओं में रोमांच हो उठा (युद्धवीर); देवतागण अपने अन्तःकरण में एक अनिर्वचनीय नवायमान चमत्कार अनुभव करने लगे (अद्‌भुत); दासगण नाचने लगे (हास्य) तथा युवतीगण तो कटाक्ष ही करने लगीं (मधुर)। (इस प्रकार समस्त रसों के विषय यहाँ अचिन्त्य शक्ति महापुरुष शिरोमणि श्रीकृष्ण हैं। अतः रस—विरसता नहीं है।।८४।।**

आश्रयत्वे, यथा—

४२—स्वस्मिन् धुर्य्येऽप्यमानी शिशुषु गिरिधृतावुद्यतेषु स्मितास्य—
स्थूत्कारी दध्नि विस्रे प्रणयिषु विवृतप्रौढिरिन्द्रेऽरुणाक्षः।
गोष्ठे साश्रुविंदूने गुरुषु हरिमखं प्राप्य कम्प्रः स पाया—
दासारे स्फारदृष्टिर्युवतिषु पुलकी विभ्रदद्रि विभुर्वः।।८५।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका—***अमानीति निरहंकारतया शान्त उक्तः, कम्प्र इत्यनेन भयानकः, एवमन्येऽपि ज्ञेयाः, प्रास्य खण्डयित्वा।।८५।।*

● *अनुवाद—रससमूह में श्रीकृष्ण का आश्रयत्व;* **जिन्होंने गोवर्द्धन का भार उठाया है, वे सर्वश्रेठ हैं, फिर भी निरहंकार हैं (शान्त); गोप—बालकों के पर्वत धारण करने के लिए तैयार होने पर जिनके मुख पर मन्द हास्य दीखने**

लगी थी (हास्य), आमगन्धयुक्त दधि को जिन्होंने थूक दिया (वीभत्स); गोवर्द्धन धारण करने के लिए बल को प्रकाशित कर सखाओं में जो अपने शौर्य को प्रकाशित कर रहे थे (वीर); इन्द्र के प्रति जिनके नेत्र क्रोध से लाल हो रहे थे (रौद्र); इन्द्र द्वारा वात–वर्षा द्वारा व्रजमण्डल को दुःखी जानकर जो अश्रु प्रवाहित कर रहे थे (करुण); इन्द्र का यज्ञ भंग करके जिन्होंने गुरुवर्ग को कम्पायमान कर दिया (भयानक); जलधारा के प्रपात से जिनकी दृष्टि विस्फारित हो रही थी (अद्‌भुत) तथा जो रमणीसमूह को देखकर पुलकित हो रहे थे (मधुररस) वे गोवर्धनधारी विभु श्रीकृष्ण आपकी रक्षा करें। (यहाँ समस्त रसों के आश्रय हैं अचिन्त्य शक्ति–विशिष्ट महापुरुष शिरोमणि श्रीकृष्ण। यहाँ भी कोई विरसता नहीं उत्पन्न होती)।।८५।।

इति श्रीभक्तिरसामृतसिन्धावुत्तरविभागे रसानां मैत्री–वैर स्थितिनाम्नी लहरी अष्टम्।।८।।

• • •

नवम-लहरी : रसाभासाख्या

१–पूर्वमेवानुशिष्टेन विकलाः रसलक्ष्मणा।
रसा एव रसाभासा रसज्ञैरनुकीर्तिताः।।१।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*रसा इति रसत्वेनापाततः प्रतीयमाना अपीत्यर्थः, रसस्य लक्ष्मणा लक्षणेन, विकलाः विभावादिषु लक्षणहीनतया हीनाः।।१।।*

● ***अनुवाद*–पूर्वोल्लिखित रस–लक्षणों से जो रस अंगहीन होते हैं, रसज्ञजन उन्हें *'रसाभास'* कहते हैं।।१।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–जो दीखने में रस दीखता हो, किन्तु रस शास्त्र के कथित लक्षणों से यदि वह रहित है, तो वह वास्तविक रस नहीं कहा जाता, 'रसाभास' ही कहा जाता है। श्रीपाद श्रीचक्रवर्ती ने इसके साथ और भी कहा है कि स्थायी–भावादि की विरूपता के द्वारा अर्थात् अंग–हीनता द्वारा रसाभास होता है।

साहित्य–दर्पण में कहा है–

"अनौचित्य–प्रवृत्तत्त्वे आभासो रसभावयोः।।३।२१६।।–रस एवं भाव अनुचित भाव में प्रवृत्त होने पर *'रसाभास'* अथवा *'भावाभास'* कहे जाते हैं। श्रीभरत–मुनि आदि आचार्यों ने रसों के जो सब लक्षण और सामग्री का वर्णन किया है, यदि उनका अभाव–रहता है या कुछ अंश रहता है, तो वह रस–विषय में अनुचित है और यही रस स्थल पर रस न होकर ''रसाभास'' हो जाता है। इस अनौचित्य के उदाहरण भी साहित्य–दर्पण में दिए गए हैं; विवाहिता–नायिका की उपपति–विषया रति, नायक की मुनि–पत्नी अथवा गुरुपत्नी विषया रति, नायिका

की बहुनायक विषया रति, अनुभय–निष्ठा–रति अर्थात् नायक की जिस नायिका में रति है, उस नायिका की उस नायक में रति का न होना अथवा नायिका की जिस नायक के प्रति रति है उस नायक की उस नायिका के प्रति रति न होना। नायक की प्रतिपक्ष विषया रति, अधमपात्र में रति एवं तिर्यक्प्राणी–विषया रति–ये समस्त श्रृंगार रस में अनौचित्य है। इसी प्रकार गुरुजनों के प्रति क्रोध करना रौद्ररस में अनुचित है। हीनपात्र विषयक शम होना शान्तरस में, गुरुजन विषयक हास्य हास्यरस में, ब्राह्मणवध में, अथवा अधमपात्र–वध विषय में उत्साह होना वीररस में अनुचित है। उत्तम पात्र से भय भयानकरस में अनुचित है। इस प्रकार अनेक प्रकार का अनौचित्य है जो रसाभास कहलाता है। निर्लज्ज वेश्यादि के विषय में लज्जा होना 'भावाभास' कहलाता है।

श्रीपादजीवगोस्वामी के मतानुसार, जो आपाततः रसरूप में प्रतीयमान होता है, उसमें यदि विभावादि के शास्त्र–कथित लक्षण नहीं रहते तो वह 'रसाभास' ही है। स्थायीभाव–रति के साथ विभावादि का मिलन होने पर रसत्व हो सकता है, मिलन न होने पर रसत्व की सिद्धि नहीं हो सकती। रस सामग्री समूह में यदि किसी एक में भी शास्त्र कथित लक्षण न रहे, कोई भी यदि विरूपता रहे, तो स्थायीभाव के साथ अन्यान्य सामग्री मिलने पर ऐसा प्रतीत हो सकता है कि रति रसत्व को प्राप्त हुई है, परन्तु वह रस नहीं, 'रसाभास' ही होगा। किन्तु रति के साथ विभावादि की कोई भी यदि विरूपता प्राप्त होती है, तब उसके साथ भी, मिलन न होने पर रसरूप में प्रतीति भी पैदा नहीं हो सकती। पायस (खीर) की सामग्री है–चावल, दूध, चीनी, इलायची आदि। यदि ये सब सामग्री पृथक्–पृथक् रखी हो, तो उसे देखकर किसी को पायस की प्रतीति नहीं हो सकती। किन्तु सब सामग्री को एकत्र करने पर अग्नि पर पकाने से पायस की प्रतीति हो सकती है। किन्तु आस्वादन करने पर यदि देखा जाए कि दूध जल गया है और उसमें कड़वाहट आ गई है, तो आपात्–दृष्टि से पायस दीखते हुए भी वह पायस नहीं रहती; पायसाभास हो जाती है, आस्वादनीय रस रूप में नहीं रहती। इसी प्रकार रति एवं रस की अन्यान्य सामग्री में किसी एक में भी विरूपता आने पर, मिलन पर अथवा पृथक् रहने पर रसत्व तो हो नहीं सकता, वहाँ रसाभास भी नहीं कहा जा सकता।

रसाभास की विविध वैचित्री के सम्बन्ध में श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु की आलोचना साहित्य–दर्पण मत से भिन्न है। इसका कहना है कि विरसता भी प्रायशः रसाभास कक्षा में पर्यवसित होती है। विस्तृत आलोचना इस प्रकार है–

२–स्युस्त्रिधोपरसाश्चानुरसाश्चापरसाश्च ते।
उत्तमा मध्यमा प्रोक्ताः कनिष्ठाश्चेत्यमी क्रमात्।।२।।

● **अनुवाद**–**उत्तम, मध्यम एवं कनिष्ठ भेद से रसाभास तीन प्रकार का है–१. *उपरस* २. *अनुरस* ३. *अपरस*।।२।।**

तत्रोपरसाः–

३–प्राप्तैः स्थायिविभावानुभावाद्यैस्तु विरूपताम्।
शान्तादयो रसा एव द्वादशोपरसा मताः।।३।।

तत्र शान्तोपरसः—

४—ब्रह्मभावात्परब्रह्मण्यद्वैताधिक्ययोगतः।
तथा वीभत्सभूमादेः शान्तो ह्युपरसो भवेत्।।४।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**—परब्रह्मणि "ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहमि" त्यादिप्रतिपादिते श्रीभगवति ब्रह्मभावात् निर्विशेषतादृष्टेः, तथाद्वैताधिक्ययोगतः सर्वकारणेन तेन सह सर्वस्यात्यन्ताभेद इति मननात्। तथा वीभत्सभूमादेः निरन्तरं देहादौ जुगुप्साभावना, आदि ग्रहणाच्चिदचिद्विवेकाच्चेति ज्ञेयम्, इतः परमुदाहरणान्येकदेशदर्शनादेव ज्ञापनीयानि।।४।।

● ***अनुवाद—उपरस;*** **विरूपता को प्राप्त स्थायीभाव, विभाव एवं अनुभावादि द्वारा शान्तादि बारहों रस ही उपरस हो जाते हैं।।३।।**

शान्त—उपरस**—परब्रह्म (सच्चिदानन्द विग्रह) में ब्रह्मभाव (निर्विशेषता—दृष्टि), अद्वैताधिक्य योग (सर्व—कारण श्रीभगवान् के साथ समस्त का अत्यन्त अभेद—मनन) एवं वीभत्स—भूमादि (निरन्तर देहादि में घृणा भावना एवं चिदचिद् विवेक) से शान्तरस उपरस हो जाता है।।४।।**

▲ हरिकृपाबोधिनी टीका—श्रुति—स्मृति आदि के मतानुसार परब्रह्म हैं सच्चिदानन्दविग्रह, सविशेष, ऐश्वर्य—माधुर्याधिपति। निर्विशेष ब्रह्म का निदान या प्रतिष्ठा हैं सच्चिदानन्दविग्रह श्रीकृष्ण। अतः इस प्रकार के सविशेष परब्रह्म में निर्विशेष दृष्टि होना शान्त के उपरस होने का एक कारण है।

सच्चिदानन्द विग्रह श्रीकृष्ण जगत् आदि समस्त के कारण हैं और जगदादि है समस्त उनका कार्य। कार्य एवं कारण कभी भी सर्वतोभाव से एक नहीं हो सकते। जैसे घड़ा, घड़े का निमित्तकारण है कुम्हार और उपादान कारण है मृत्तिका। निमित्त कारण कुम्हार और उसका कार्य घड़ा एक वस्तु नहीं हैं। इस प्रकार घड़ा तथा उसका उपादान कारण मृत्तिका वस्तु—विचार से एक वस्तु होते हुए भी गुणों की दृष्टि से एक नहीं है। इस प्रकार जगत् आदि का निमित्त तथा उपादान कारण है परब्रह्म। परब्रह्म सच्चिदानन्द नित्य अविकारी एवं जड़ वर्जित है, जगतादि उसका कार्य चित्—जड़ मिश्रित एवं विकारी है, इसलिए सर्वतोभाव से दोनों एक नहीं हैं। इस अवस्था में जगतादि समस्त वस्तुओं का ब्रह्म के साथ आत्यन्तिक अभेद मानने से शान्त उपरस हो जाता है।

अत्र आद्यं, यथा—

१—विज्ञानसुषमाधौते समाधौ यदुदञ्चति।
सुखं दृष्टे तदेवाद्य पुराणपुरुषे त्वयि।।५।।

द्वितीयं, यथा—

२—यत्र यत्र विषये मम दृष्टिस्त्वं तमेव कलयामि भवन्तम्।
यन्निरंजन! परापरबीजं त्वां विना किमपि नापरमास्ति।।६।।

● ***अनुवाद—परब्रह्म में निर्विशेषता दृष्टि का उदाहरण;*** **विज्ञानशोभा के द्वारा निखरी हुई समाधि में जो सुख उदित होता है, हे पुराण—पुरुष! आज**

तुम्हारे दर्शन से भी वही सुख उदित हुआ है।।५।। जिस–जिस विषय में मेरी दृष्टि पड़ती है, उस–उस विषय को मैं तुम्हें–तुम्हारा रूप ही समझता हूँ। जो निरंजन एवं कार्य–कारण का बीज है, वह तुम ही हो, तुम्हें छोड़ कर और कोई अन्य वस्तु नहीं है।।६।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–(यह वचन निर्विशेष ब्रह्मानुसन्धित्सु के हैं। पुराण–पुरुष तो सच्चिदानन्दविग्रह सविशेष भगवान् हैं। समाधि अवस्था में निर्विशेष ब्रह्मानुभव के आनन्द को यहाँ पुराण–पुरुष के दर्शन आनन्द के समान कह दिया गया है। अतः परब्रह्म में निर्विशेषता दृष्टि वश शान्त रस में उपरसता आ गई है। शान्त का फल या अनुभाव है ब्रह्मानुभव, किन्तु यहाँ उसके अनुभाव में विरूपता आ गई है। श्लोक सं० ६ में दृश्यमान जगत् को परब्रह्म के साथ आत्यन्तिक रूप में अभिन्न माना गया है। यहाँ भी अनुभाव की विरूपता से शान्त उपरस हो गया है।

अथ प्रीतोपरसः–

५–कृष्णस्याग्रेऽतिधाष्ट्र्येन तद्भक्तेष्ववहेलया।
स्वाभीष्टदेवतोऽन्यत्र परमोत्कर्षवीक्षया।
मर्यादाऽतिक्रमाद्यैश्च प्रीतोपरसता मता।।७।।

तत्र आद्यं, यथा–

३–प्रथयन् वपुर्विवशतां सतां कुलैरवधीर्य्यमाणनटनोऽप्यनर्गलः।
विकिर प्रभो ! दृशमिहेत्यकुण्ठवाक् चटुलो बटुर्व्यवृणुतात्मनो रतिम्।।८।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–विवशतां प्रथयन् पृथुं कुर्वन्निति स्वल्पामपि तां पृथुतया दर्शयन्नित्यर्थः, प्रभो इति। श्रीकृष्णप्रतिमां प्रति संबोधनम्।।७–८।।

● *अनुवाद*–श्रीकृष्ण के आगे अतिधृष्टता, श्रीकृष्ण के प्रति अवहेलना, अपने अभीष्ट देवता से अन्य देवता में उत्कर्ष देखना तथा मर्यादा के अतिक्रमण से दास्य–रस उपरस हो जाता है।।७।।

धृष्टता का उदाहरण; कोई ब्राह्मण–बालक श्रीकृष्ण–प्रतिमा के आगे नृत्य कर रहा था। उसके नृत्य की साधुगण निन्दा कर रहे थे, नृत्य में उसका शरीर अत्यन्त विवश हो रहा था, फिर भी अत्यधिक विवशता दिखा कर वह निर्लज्ज होकर निरन्तर नाचे ही जा रहा था; और अकुण्ठित परिहास करते हुए वह श्रीविग्रह के प्रति कह रहा था–हे प्रभो ! मेरी ओर तो देखो।"–इस प्रकार वह अपनी हास्य रति को प्रकाशित कर रहा था। (यहाँ धृष्टता के द्वारा दास्यरस उपरस हो गया।।८।।

अथ प्रेय उपरसः–

६–एकस्मिन्नेव सख्येन हरिमित्राद्यवज्ञया।
युद्धभूमादिना चापि प्रेयानुपरसो भवेत्।।६।।

तत्राद्यं यथा–

४–सुहृदित्युदितो भिया चकम्पे छलितो नर्मगिरा स्तुतिं चकार।
सः नृपः परिरिप्सितो भुजाभ्यां हरिणा दण्डवदग्रतः पपात।।१०।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*एकस्मिन्नेव न तु मिथः ।।६ ।। स नृप इति श्रीहरेः पुत्र्याः पुत्रस्य वा कश्चिदित्यर्थः ।।१० ।।*

● *अनुवाद—सख्य उपरस; श्रीकृष्ण एवं दूसरे किसी व्यक्ति में परस्पर यदि सख्य न रहे, केवल एक में अर्थात् श्रीकृष्ण का उसमें सख्य रहे, तो दूसरे व्यक्ति का श्रीकृष्ण के मित्रादिकों से जो लड़ना—झगड़ना तथा अवज्ञा करना है, उससे सख्यरस उपरस में बदल जाता है क्योंकि सख्य भाव दो व्यक्तियों में समान रहने वाला भाव है। एक में रहने से विभावादि में विरूपता आ* जाना स्वाभाविक है। अतः वह सख्य उपरस हो जाता है। श्रीकृष्ण के मित्रों से द्वेष—युद्ध आदि कृष्णसख्य का उपरस रूप ही है।

एक जनावस्थित सख्य उपरस का उदाहरण; श्रीकृष्ण ने किसी एक राजा को सखा जानकर बुलाया, वह राजा भय से काँपने लगा; श्रीकृष्ण ने नर्मसूचक परिहास किया तो वह श्रीकृष्ण की स्तुति करने लगा। श्रीकृष्ण ने अपनी भुजाओं द्वारा आलिंगन करना चाहा तो वह पृथ्वी पर लेट कर उन्हें दण्डवत् प्रणाम करने लगा।।१०।।

अथ वत्सलोपरसः—

७—सामर्थ्याधिक्यविज्ञानाल्लालनाद्यप्रयत्नतः।
करुणस्यातिरेकादेस्तुर्य्यश्चोपरसो भवेत्।।११।।

तत्राद्यं, यथा—

५—मल्लानां यदवधि पर्वतोद्भटाना—
मुन्माथं सपदि तवात्मजादपश्यम्।
नोद्वेगं तदवधि यामि जामि ! तस्मिन्
द्राधिष्ठामपि समितिं प्रपद्यमाने।।१२।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका—*जामि हे भगिनि।।१२।।*

● *अनुवाद—वत्सल उपरस, सामर्थ्य का* अधिक ज्ञान पाल्य के विषय में हो जाने से लालनादि में अप्रयत्न तथा करुण की अतिशयता से वत्सल रस उपरस में परिणत होता है।।११।।

उदाहरण; माता देवकी की सपत्नी (श्रीवसुदेव जी की दूसरी पत्नी) ने कहा; हे भगिनि ! जब से मैंने तुम्हारे पुत्र श्रीकृष्ण के द्वारा पर्वतों जैसे उद्भट मल्लों का सहज में पराभव देखा है, तब से प्रबल युद्ध में भी अब मुझे कृष्ण के लिए कोई चिन्ता नहीं रही है। (देवकी सपत्नी का श्रीकृष्ण में वत्सलरस है, किन्तु श्रीकृष्ण की सामर्थ्य के महान् ज्ञान से वह वत्सलरस उपरस में बदल गया है)।।१२।।

अथ शृंगारोपरसः, तत्र स्थायिवैरूप्यं

८—द्वयोरेकतरस्यैव रतिर्या खलु दृश्यते।
याऽनेकत्र तथैकस्य स्थायिनः सा विरूपता।
विभावस्यैव वैरूप्यं स्थायिन्यत्रोपचर्य्यते।।१३।।

तत्रैकत्र रतिर्यथा ललितमाधवे–

६–मन्दस्मितं प्रकृतसिद्धमपि व्युदस्तं संगोपितश्च सहजोऽपि दृशोस्तरंगः।
धूमायिते द्विजवधूमदनार्तिवन्हा वन्हाय कापि गतिरंकुरितामयासीत्।।१४।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*विभावस्य–आलम्बनरूपस्यैवेति क्वचित्तद्देहस्य क्वचित्तदन्तःकरणस्येत्यर्थः, स्वरूपतः स्थायिनो वैरूप्यायोगात्, तत्रैकतररत्युदाहरणे यज्ञपत्नीषु देहस्यैव वैरूप्यं ज्ञेयं; ब्राह्मण–देहत्वात् तच्च तादृशीं रतिंविरूपयति, अनुचितेयमिति श्रीकृष्णरतिमपि नोद्गमयति, ततोऽन्यदोषस्यान्यत्र संक्रमणादुपचर्य्यते इत्युक्तम्, एकस्यानेकत्र रतिस्त्वन्तःकरणस्यैव वैरूप्यम् एकत्रानिष्ठितत्वात्, तदेतच्च नायिकागतमेव ज्ञेयम्, उत्तमानुत्तमयोस्तारतम्याभावे नायकगतंच।।१३–१४।।*

● *अनुवाद–मधुर उपरस,* (स्थायीभाव की विरूपता, एक में रति, अनेक में रति, विभाव की विरूपता, अनुभाव की विरूपता, ग्राम्यत्व, धृष्टता आदि से मधुररस–उपरस में बदल जाता है–(क्रमशः उदाहरणों का उल्लेख करते हैं)। नायक एवं नायिका इन दोनों में से केवल एक की रति होना, एक (नायिका) की बहुजनों में रति होना स्थायीभाव की विरूपता कहलाती है। इन सब स्थानों पर विभावों की विरूपता ही स्थायी में उपचारित होती है। (स्वरूपतः स्थायी में विरूपता का योग नहीं होता)। या तो आलम्बन विभाव की या आलम्बन विभाव के देह की विरूपता, कहीं उनके अन्तःकरण की विरूपता होती है।।१३।।

उदाहरण, ललितमाधव नाटक में एक जन की रति का इस प्रकार वर्णन है, याज्ञिक–ब्राह्मणियों की कन्दर्प–आर्तिरूप अग्नि के प्रज्जवलारम्भ को देखकर श्रीकृष्ण ने अपनी स्वभाव सिद्ध मन्द मुसकराहट को दूर कर दिया, और नेत्रों की सहज चंचलता को भी छिपा लिया। तत्क्षण उनके मन में कोई एक अनिर्वचनीय गति अंकुरित हो उठी।।१४।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–यहाँ मधुरा रति की आश्रय–आलम्बन हैं याज्ञिक–ब्राह्मणीवृन्द। उनके शरीर की विरूपता है, क्योंकि उनका ब्राह्मण–शरीर है। गोपनन्दन श्रीकृष्ण के साथ विवाह के अनुपयुक्त है। इस विरूपता ने उनकी मधुरारति को विरूपता दे दी। अनुपयुक्तता भी श्रीकृष्ण की रति को उद्बुद्ध नहीं कर सकी। अतः यहाँ मधुरा रति केवल ब्राह्मणियों में है, श्रीकृष्ण में नहीं। श्रीकृष्ण में उनकी स्वाभाविक मन्द मुसकान एवं नेत्र चंचलता नहीं रही, क्योंकि उनमें ब्राह्मणियों के प्रति मधुरा रति पैदा ही नहीं हुई ! इस विषय में और भी आगे कहते हैं–

६–अत्यन्ताभाव एवात्र रतेः खलु विवक्षितः।
एतस्याः प्रागभावे तु शुचिर्नोपरसो भवेत्।।१५।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*अत्यन्ताभावः त्रैकालिक्यसत्ता, अत्राति तासां ब्राह्मणदेहमधिकृत्येत्यर्थः।।१५।।*

● *अनुवाद*–उपर्युक्त ललितमाधव के श्लोक के उदाहरण में रति का आत्यन्तिक अभाव ही विवेचनीय है। प्रागभावमें तो मधुर उपरस नहीं होता है।।१५।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*—उक्त कारिका में 'अत्यन्ताभाव' शब्द का अर्थ है त्रैकालिकी—असत्ता अर्थात् जो पहिले नहीं था, वर्तमान में नहीं तथा भविष्यत में भी नहीं होगा। प्राग्भाव का अर्थ है जो पहिले न था। एक जन—विषयक रति में यह कहा गया है। किसी नायिका की यदि किसी नायक में रति रहे, किन्तु नायक में यदि उस नायिका के प्रति रति का त्रैकालिक अभाव हो तो वह मधुर रस के उपरस में परिणत होने का एक कारण है। किन्तु नायक में नायिका के प्रति रति पहले न रहने पर भी किसी कारण से यदि नायक में फिर रति जाग आवे तो एक जनविषयक—रतिरूप विरसता नहीं रह जायगी। इसलिए फिर उपरस भी नहीं होगा। किन्तु यहाँ यज्ञ—पत्नियों एवं श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में जो प्रागभाव कहा जाए तो ठीक नहीं होगा, क्योंकि गोपनन्दन श्रीकृष्ण में कभी भी ब्राह्मणियों के प्रति मधुरा रति पैदा हो ही नहीं सकती। उनमें इस रति का त्रैकालिक अभाव है। प्रागभाव कभी भी नहीं हो सकता। अवश्य, देहत्याग करने पर यज्ञपत्नियाँ यदि गोपी शरीर को प्राप्त करें तो उनके प्रति श्रीकृष्ण की रति पैदा हो सकती है। उस अवस्था में "प्राग्—अभाव" शब्द संगत हो सकता है।

एक बात और भी विवेचनीय है; उदाहरण में कहा गया है यज्ञपत्नियों में कृष्णविषया रति है, किन्तु श्रीकृष्ण में उनके पति रति का अभाव है। उद्धृत ललितमाधव श्लोक में रसाभास नहीं है, क्योंकि यज्ञपत्नियों की रति विषयालम्बन—विभाव के साथ मिलित नहीं हुई। श्रीकृष्ण उसे अंगीकार नहीं करते। अतः यहाँ रस की प्रतीति पैदा नहीं हो सकती और न ही रसाभास हो सकता है। यह श्लोक है ललितमाधव नाटक का। उसके रचयिता हैं श्रीपाद रूपगोस्वामी एवं श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु के भी वही रचयिता हैं। इस श्लोक में यदि रसाभास रहता तो वे इसे अपने नाटक में लिपिबद्ध न करते, लिपिबद्ध करके भी उसे रसाभास के उदाहरण में उल्लेख न करते। अतः यहाँ यह श्लोक केवल एक जन विषयक रति के उदाहरण रूप में लिया गया है न कि रसाभास के उदाहरण रूप में। इस प्रकार की रति विभावादि के साथ मिलित हो तो वह रसरूप में प्रतीत होते हुए भी रसाभास मानी जाएगी।

अनेकत्र रतिर्यथा—

७—गान्धर्वि ! कुर्वाणमवेक्ष्य लीलामग्रे धरण्यां सखि ! कामपालम्।
आकर्णयन्ती च मुकुन्दवेणुं भिन्नाऽद्य साध्वि ! स्मरतो द्विधाऽसि।।१६।।

● ***अनुवाद—अनेक में रति का उदाहरण;*** **हे गन्धर्वि ! हे साध्वि ! सामने पृथ्वी पर कामपाल को क्रीड़ा करते देखकर तथा मुकुन्द की वेणु सुनकर आज तुम कामदेव द्वारा दो भागों में बाँट दी गई हो।।१६।।**

▲ हरिकृपाबोधिनी टीका—*(यहाँ एक नायिका की रति एक तो कामपाल के प्रति, दूसरे मुकुन्द के प्रति देखी जाती है। यहाँ आश्रयालम्बन—विभाव की तथा अन्तःकरण की विरूपता है, क्योंकि उसकी रति एक के प्रति निष्ठा प्राप्त नहीं है। अतः यहाँ मधुर रस ही उपरस हो गया है। विभाव की विरूपता ही स्थायीभाव में उपचारित हो रही है।*

१०–केचित्तु नायकस्यापि सर्वथा तुल्यरागतः।
नायिकास्वप्यनेकासु वदन्त्युपरसं शुचिम्।।१७।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*केचिद्रसतत्त्वविदः, अनेकासु प्रेमतारतम्येन बहुविधासु।।१७।।*

● ***अनुवाद*–कोई–कोई कहते हैं कि एक नायक की अनेक नायिकाओं में समान रति रहने पर भी मधुर रस उपरस में परिणत हो जाता है।।१७।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–श्रीचक्रवर्तीपाद ने कहा है, प्रेमतारमत्य में उत्तम, मध्यम एवं कनिष्ठ भेद से अनेक नायिकाओं में, उनके प्रेम–तारतम्य के सम्बन्ध के जाने बिना, एक ही नायक का यदि समान अनुराग पैदा हो, तो किसी–किसी के मत में मधुररस–उपरस में परिणत हो जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि विभिन्न प्रेमवैचित्री विशिष्टा विभिन्न नायिकाओं के सम्बन्ध में नायक का अनुराग समान न होकर यदि नायिकाओं के प्रेमानुकूल भाव से विभिन्न है, तो वह उपरस नहीं होगा।

विभाववैरूप्यम्–

११–वैदग्ध्यौज्ज्वलविरहो विभावस्य विरूपता।
लता–पशु–पुलिन्दीषु वृद्धास्वपि स वर्तते।।१८।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*वैदग्ध्यादि विरह इत्युपक्षणं गुरुत्वादीनां, यथा यज्ञापत्न्यादिषु वैरूप्यं मतम्, लतापशुष्वत्र तत्सान्निध्यादिस्वभावेनानन्दमात्रमेव मधुररतितयोत्प्रेक्ष्यते, वृद्धासु हासमात्रार्थं तादृशत्वं च वर्ण्यते, तस्माद्वास्तव–तद्रत्याभावाद्रसाभासत्वम्, पुलिन्दीषु तु वास्तवरतित्वेऽपि जातिवैरूप्याद्यज्ञ–पत्नीवत्तदाभासत्वं ज्ञेयं, तत्र लतापशुषु वैदग्ध्यं नास्त्येव, वृद्धासु वैदग्ध्यप्रातिकूल्यं दृश्यते, पुलिन्दीषु च वैदग्ध्यं नातिसंभाव्यते, तस्मात्तद्विरह उद्दिष्टः, तथौज्ज्वल्यं नामाकृत्या जात्यादिना च योग्यत्वं तत्तद्योग्यताविरहश्च यथायोग्यं द्रष्टव्यम्, स व र्तत इति स वैदग्ध्यादिविरहो वर्त्तते।।१८।।*

● ***अनुवाद–विभाव–विरूपता जनित उपरस*–वैदग्धता (चतुरता)–उज्ज्वलता का अभाव ही विभाव की विरूपता है। लता, पशु, पुलिन्दी (भीलिनी) तथा वृद्धाओं में वैदग्धता–उज्ज्वलता का अभाव वर्तमान रहता है।।१८।।**

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–श्रीपाद जीवगोस्वामी तथा श्रीचक्रवर्तीपाद ने कहा है, वैदग्धतामय उज्ज्वलता का अभाव वहाँ उपलक्षण मात्र है, गुरुत्वादि ही ग्रहणीय है। जैसे यज्ञ–पत्नियों का वैरूप्य अर्थात् ब्राह्मण–पत्नी होने से गोपनन्दन श्रीकृष्ण की वे गुरुस्थानीया हैं, इसी गुरुत्ववश यज्ञपत्नियों का वैरूप्य सिद्ध हुआ है। लता समूह या पशुगण आनन्द स्वरूप श्रीकृष्ण के सान्निध्यादि के स्वरूपगत धर्मवश आनन्द मात्र अनुभव करते हैं। इस आनन्द मात्र को मधुरा रति कहकर उत्प्रेक्षा की गई है; इनका औज्ज्वल्य नहीं है। वृद्धागण वास्तव रतिमति होते हुए भी उनकी वयस–जनित विरूपता वश उनकी रति तो हास्यास्पद ही है। यहाँ भी वास्तव रति के अभाव में रति का आभास ही है। पुलिन्दीगण वास्तव रतिमति

होते हुए भी उनमें जातिगत वैरूप्य है। अतः उनका मधुररस भी आभासत्व में पर्यवसित होता है। लतादि में वैदग्ध्य नहीं है, वृद्धागण में वैदग्ध्य होना प्रतिकूल ही है। पुलिन्दीगण में अधिक वैदग्धता की सम्भावना ही नहीं है। इसलिए उनमें विरूपता है। लतादि मधुरा रति के आश्रयालम्बन–विभाव हैं। यहाँ आश्रयालम्बन विभाव की विरूपता से मधुररस उपरस में परिणत होता है। आगे क्रमशः उदाहरण देते हैं–

तत्र लता, यथा–

८–सखि ! मधु किरती निशम्य वंशीं मधुमथनेन कटाक्षिताथ मृद्वी।
मुकुलपुलकिता लतावलीयं रतिमिह पल्लवितां हृदि व्यनक्ति।।१६।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*सखि ! मध्वित्यत्र, समुकुलपुलका निशम्य वंशी नखलिखिता च हरिं प्रसज्य जाता। तदिह नववयाः प्रतानिनीयं लसति यथा भवती तथा वरांगी ! इति वा पाठः।।१६।।*

● ***अनुवाद–लतारूप–विभाव का वैरूप्य;*** **हे सखि ! श्रीकृष्ण द्वारा कटाक्ष करने पर यह लतावली उनकी वंशी–ध्वनि सुनकर मधु को बरसा रही हैं, मुकुलों द्वारा पुलकित हो रही हैं। इससे वे अपने हृदय में पल्लविता रति को ही प्रकाशित कर रही हैं।।१६।।**

पशुर्यथा–

९–पश्याद्भुतास्तुंगमुदः तुरंगीः पतंगकन्यापुलिनेऽद्य धन्याः।
याः केशवांगे तदपांगपूताः सानंगरंगां दृशमर्पयन्ति।।२०।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*पश्याद्भुता इत्यस्योत्तरार्द्धेयाः केशवांगं सखि ! संगमय्य स्वैरादपांगं भवतीर्जयन्ती" वा पाठः।।२०।।*

● ***अनुवाद–पशुरूप–विभाव का वैरूप्य;*** **हे सखि ! यमुनापुलिन में इन अद्भुत हरिणियों को तो देख, अति धन्य हैं ये। श्रीकृष्ण के नेत्र–कटाक्षों से पवित्र होकर अतिशय आनन्द–शालिनी हो रही हैं एवं श्रीकृष्ण के अंगों पर अनंग भरी दृष्टि डाल रही हैं।।२०।।**

पुलिन्दी, यथा–

१०–कालिन्दीपुलिने पश्य पुलिन्दी पुलकांचिता।
हरेर्दृक्चापलं प्रेक्ष्य सहजं या विघूर्णते।।२१।।

वृद्धा, यथा–

११–कज्जलेन कृतकेशकालिमा बिल्वयुग्मरचितोन्नतस्तनी।
पश्य गौरि ! किरती दृगंचलं स्मेरयत्यघहरं जरत्यसौ।।२२।।

● ***अनुवाद–पुलिन्दीरूप विभाव का वैरूप्य;*** **कालिन्दी पुलिन में पुलकावलीयुक्त इस पुलिन्दी को देख, यह श्रीकृष्ण के नयनों की स्वाभाविक चंचलता देखकर घूम रही है।।२१।।**

वृद्धारूप विभाव का वैरूप्य, **हे गौरि ! देख, इस वृद्धा ने कज्जल द्वारा अपने सफेद केशों को काला रंग रखा है, दो बिम्बफलों द्वारा अपने ऊँचे स्तन**

बना लिए हैं, ऐसी वृद्धा श्रीकृष्ण के प्रति नेत्रों से कटाक्ष करते हुए श्रीकृष्ण को हँसा रही है।।२२।।

उपरोक्त सब उदाहरणों में सबका श्रीकृष्ण के प्रति अनुराग है, किन्तु श्रीकृष्ण का उनके प्रति अनुराग नहीं है, जिससे मधुररस उपरस हो गया है।

१२–स्थायिनोऽत्र विरूपत्वमेकरागतयाऽपि चेत्।
घटेतासौ विभावस्य विरूपत्वेऽप्युदाहृतिः।।२३।।
१३–शुचित्वौज्ज्वल्यवैदग्ध्यात्सुवेषत्वाच्च कथ्यते।
श्रृंगारस्य विभावत्वमन्यत्राभासता ततः।।२४।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*वैदग्ध्येत्यादिना दर्शितमेव विवृण्वन्नुपसंहरति, शुचित्वेति। शुचित्वादिकमालम्बनस्य ज्ञेयं, विभावत्वं विशिष्टो भावः सत्त्वा स्थायी वा यत्र तद्रूपत्वम्, पावित्र्योज्ज्वल्यवैदग्ध्यसुवेषत्वैर्विभागैः। श्रृंगारः, पुष्टिमागच्छेदाभा–सत्वमतोऽन्यथेति पाठान्तरम्।।२४।।*

● *अनुवाद*–यहाँ यदि एक व्यक्ति में रति होने से स्थायीभाव का विरूपत्व घटित होता है, तथापि विभाव की विरूपता के सम्बन्ध में ये उदाहरण दिये गए हैं। (वस्तुतः स्थायीभाव की विरूपता भी वास्तविक विभाव की ही विरूपता है। विभाव की विरूपता ही स्थायीभाव में आरोपित है। अतः स्थायीभाव के एकरागता रूप वैरूपत्व का उदाहरण विभाव के विरूपत्व के उदाहरण रूप में प्रयुक्त होने में कोई दोष भी नहीं है।)।।२३।।

उपसंहार; श्रीपाद ग्रन्थकार कहते हैं–आश्रयालम्बन की वास्तव मधुर–रति है। उस रति का औज्ज्वल्य या परिस्फुटता है–विदग्धता तथा सुवेशत्व; अर्थात् वृद्धा की तरह बनावटी वेश नहीं। ये सब ही मधुररस के विभाव हैं अर्थात् सब ही श्रीकृष्णरति को उद्‌बुद्ध कर सकते हैं। इसलिए नायिका की रति को मधुररस में परिणत कर सकते हैं। इन समस्त का अभाव होने पर नायिका की मधुरारति वास्तव रस में परिणत नहीं होती, बल्कि उपरस या रसाभास में परिणत होती है।।२४।।

अथानुभाववैरूप्यम्–

१४–समयानां व्यतिक्रान्तिर्ग्राम्यत्वं धृष्टतापि च।
वैरूप्यमनुभावादेर्मनीषिभिरुदीरितम्।।२५।।

तत्र समयव्यतिक्रान्तिः–

१५–समयाः खण्डितादीनां प्रिये रोषोदितादयः।
पुंसः स्मितादयश्चात्र प्रियया ताड़नादिषु।
एतेषामन्यथाभावः समयानां व्यतिक्रमः।।२६।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*समयाः आचाराः।।२६।।*

● *अनुवाद–अनुभाव के वैरूप्य जनित उपरस*–समय के (आचार के) व्यतिक्रम, ग्राम्यत्व तथा धृष्टता को विद्वान्‌जन अनुभावादि का वैरूप्य कहते हैं।।२५।।

समय व्यतिक्रम जनित वैरूप्य–प्रिय नायक के प्रति रोष भरे वचनादि खण्डितादि नायिका का आचार होता है, प्रिया नायिका यदि नायक की ताड़नादि करे, तो मन्द हास्यादि होता है नायक का आचार। इन सबका अन्यथा भाव न होना समय या आचार का व्यतिक्रम होता है।।२६।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–श्लोकस्थ 'समय'–शब्द का अर्थ आचार किया गया है। 'अनुभावादि' शब्द में 'आदि' शब्द से व्यभिचारीभाव अभिप्रेत हैं। जिन समस्त कारणों से अनुभाव विरूपता को प्राप्त होते हैं, उन समस्त कारणों से व्यभिचारी भाव भी विरूपता को प्राप्त होते हैं। श्रीपादचक्रवर्ती का मन्तव्य है कि खण्डितादि 'नायिका का रोष–वचन प्रयोग करना तथा पुष्पादि नायक को मारना और नायक का हँस देना–रसशास्त्रोक्त आचरण है। किन्तु यदि इनके विपरीत आचरण हो–नायक का रोषयुक्त वचन प्रयोग करना, ताड़ना करना तथा नायिका का हँसना–यह आचार का व्यतिक्रम है। इस प्रकार अनुभाव–वैरूप्य अन्तर्गत समय व्यतिक्रम वैरूप्य माना गया है। इसका उदाहरण आगे देते हैं–

तत्राद्यं, यथा–

१२–कान्तानखांकितोऽप्यद्य परिह्रत्य हरे ह्रियम्।
कैलासवासिनीं दासीं कृपादृष्ट्या भजस्व माम्।।२७।।

● *अनुवाद*–कोई एक कैलासवासिनी रमणीयों ने श्रीकृष्ण को कहा; हे हरे! यदि आपके शरीर पर अन्य कान्ता के नखचिह्न दीख रहे हैं, तथापि उसके लिए आप लज्जा अनुभाव न करिये। मुझ कैलास–वासिनी इस दासी को आप कृपा–दृष्टिपूर्वक अंगीकार कीजिए। (अन्य कान्ता के साथ सम्भोग चिह्नों को देखकर नायिका–नायक के प्रति रोषोक्ति का प्रयोग करती है–यह स्वभाविक आचार है। किन्तु यहाँ यह नायिका श्रीकृष्ण की स्तुति कर रही है–यह आचार का व्यतिक्रम है। अतः कृष्णसंग–वासनारूप अनुभाव का यहाँ वैरूप्य होने से उसकी मधुरारति उपरस में परिणत हो गई है।।२७।।

अथ ग्राम्यत्वम्–

१६–बालशब्दाद्युपन्यासो विरसोक्तिप्रपंचनम्।
कटीकण्डूतिरित्याद्यं ग्राम्यत्त्वं कथितं बुधैः।।२८।।

तत्राद्यं, यथा–

१३–किं नः फणिकिशोरीणां त्वं पुष्करसदां सदा।
मुरलीध्वनिना नीविं गोपबाल ! विलुम्पसि।।२६।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*कैलासवासिनीनामिव पुराणान्तरकथितरीत्या फणिकिशोरीणामप्युदाहृतिमुपरस एवावज्ञया वर्णयति–किं न इति। पुष्करसदां कालियह्रदस्य जलवासिनीनाम्, अत्र श्रीकृष्णस्य तदा बाल्येऽपि मुरलीध्वनिविशेषेण कृतकैशोरभावस्य बालेति सम्बोधनं तासामवैदग्ध्यमेव ज्ञेयम्।।२६।।*

● ***अनुवाद–ग्राम्य जनित वैरूप्य;*** **बाल–शब्दादि का उपन्यास, विरसोक्ति का प्रपंचन एवं कटि को खुजाना आदि को पण्डितगण 'ग्राम्यत्व' कहते हैं।।२८।।**

उदाहरण; हे गोपबालक ! कालियहृद–वासिनी मैं सर्प–किशोरी हूँ, तुम किस लिए सदा मुरलीध्वनि द्वारा मेरी नीवी ढीली करते हो ? (यहाँ श्रीकृष्ण को गोपबालक–शब्द से पुकारा गया है, जिससे ग्राम्यत्व दोष आ गया है एवं उपरस हो गया है)।।२६।।

अथ धृष्टता–

१७–प्रकटप्रार्थनादिः स्यात्सम्भोगादेस्तु धृष्टता।।३०।।

यथा, १४–कान्तः कैलासकुंजोऽयं रम्याऽहं नवयौवना।
त्वं विदग्धोऽसि गोविन्द ! किंवा वाच्यमतः परम्।।३१।।

● *अनुवाद–धृष्टता–जनित वैरूप्य;* सम्भोगादि के लिए स्पष्ट रूप से प्रार्थनादि करने को धृष्टता 'कहते हैं।।३०।।

उदाहरण; हे गोविन्द ! यह कैलास कुंज है, मैं भी रमणीया एवं नवयौवना हूँ; तुम भी विदग्ध हो, इससे आगे मैं और क्या कहूँ ?–(यहाँ स्पष्टभाव से सम्भोगेच्छा–ज्ञापन के द्वारा अनुभाव का वैरूप्य उत्पन्न हुआ है। अतः उपरस हो गया है)।।३१।।

१८–एवमेव तु गौणानां हासादीनामपि स्वयम्।
विज्ञेयोपरसत्वस्य मनीषिभिरुदाहृतिः।।३२।।

● *अनुवाद–गौण–उपरस;* इसी प्रकार हासादि गौणरसों का भी उपरसत्व पण्डितगण स्वयं जान लेंगे; अर्थात् जिन समस्त कारणों से शान्तादि मुख्यरस उपरस में परिणत होते हैं उन समस्त कारणों से हास्यादि गौणरस भी उपरसों में परिणत हो जाते हैं।।३२।।

अथानुरसाः–

१६–भक्तादिभिर्विभावाद्यैः कृष्णसम्बन्धवर्जितैः।
रसा हास्यादयः सप्त शान्तश्चानुरसा मताः।।३३।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*भक्तादिभिरिति। भक्ता अत्र पंचविधाः शान्तस्तु रसशास्त्रान्तरप्रसिद्धो रूक्षः।।३३।।*

● *अनुवाद–अनुरस;* कृष्णसम्बन्ध वर्जित भक्तादि–विभावादि द्वारा हास्यादि सातों गौणरस तथा शान्तरस भी अनुरस में परिणत हो जाते हैं।।३३।।

तत्र हास्यानुरसः–

१५–ताण्डवं व्यधित हन्त कक्खटी मर्कटी भ्रुकुटिभिस्तथोद्धुरम्।
येन बल्लबकदम्बकं बभौ हासडम्बरकरम्बिताननम्।।३४।।

अथ अद्भुतानुरसः–

१६–भाडीरकक्षे बहुधा वितण्डां वेदान्ततन्त्रे शुकमण्डलस्य।
आकर्णयन्निर्निमिषाक्षिपक्ष्मा रोमांचितांगश्च सुरर्षिरासीत्।।३५।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*कक्खटीनाम्नी।।३४।। भाण्डीरकक्षे तदूर्ध्वग–लतासु, सौरभे च तृणे कक्षः शुष्ककाननवीरुधोरिति विश्वः। भाण्डीरवृक्ष इति पाठस्तु सुगमः।।३५।।*

● *अनुवाद–हास्य अनुरस;* कक्खटी नाम्नी बन्दरी के भौंह चलाते हुए उत्कट नृत्य करने पर गोपों के मुख हास्य से सुशोभित होने लगे। यहाँ आलम्बन विभाव बन्दरी के भ्रुकुटि तथा नृत्य हैं। इनमें किसी का श्रीकृष्ण के साथ सम्बन्ध नहीं है। उसका ऐसा नृत्य हास्य तो उत्पन्न कर रहा है, किन्तु कृष्ण–सम्बन्धहीन होने से अनुरस में परिणत हो रहा है।)।।३४।।

अद्भुत–अनुरस–भाण्डीर वट की ऊँची लता पर शुकपक्षीगण द्वारा वेदान्त शास्त्र विषय में अनेक प्रकार का वाद–विवाद सुनकर देवर्षि नारद अपलक–नेत्र एवं पुलकित देह हो उठे। (यहाँ शुक पक्षीगण कृष्ण–संबंधहीन हैं। वेदान्त विषय में वाद–विवाद एक आश्चर्य की बात है। यह अद्भुत रस न होकर अनुरस है।।३५।।

२०–एवमेवात्र विज्ञेया वीरादेरप्युदाहृतिः।।३६।।

२१–अष्टावमी तटस्थेषु प्राकट्यं यदि बिभ्रति।
कृष्णादिभिर्विभावाद्यैस्तदाप्यनुरसा मताः।।३७।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*अष्टाविति। शान्त एको हास्यादयश्च सप्तेत्यष्टौ।।३६।।*

● *अनुवाद*–वीरादि अन्यान्य गौणरस भी उल्लिखित कारणों से अनुरस में परिणत हो जाते हैं ऐसा जान लेना चाहिये।।३६।।

तटस्थ–भक्त्यालम्बन में प्रकटित हासादि का अनुरसत्व; उल्लिखित शान्त एवं हास्यादि–ये कुल आठ रस यदि कृष्णादि–द्वारा तटस्थ–भक्त्यालम्बनों में प्रकटित हों, तो भी अनुरस ही होते हैं।।३७।।

अथापरसः–

२२–कृष्णतत्प्रतिपक्षाश्चेद्विषयाश्रयतां गताः।
हासादीनां तदा तत्र प्राज्ञैरपरसा मताः।।३८।।

तत्र हास्यापरसः–

१७–पलायमानमुद्वीक्ष्य चपलायतलोचनम्।
कृष्णमाराज्जरासन्धः सोल्लुण्ठमहसीन्मुहुः।।३६।।

■ दुर्गमसंगमनी टीका–*पलायेति। अत्र जरासन्धस्य हासस्तावदपरस एव, कस्यचित्तद्वदासुरभावस्यापि तदनुगतो हासश्चेत्तदा सोऽप्यपरसः। कस्यचिद् भक्तस्य तदुपहासमयहासश्चेत्तदा शुद्ध एव हास्यरसः।।३६।।*

● *अनुवाद–अपरस;* श्रीकृष्ण एवं श्रीकृष्ण के विपक्षीगण यदि हास्यादि की विषय–आश्रयता प्राप्त करें, तो विद्वान् लोग उन हास्यादिक को 'अपरस' कहते हैं।।३८।।

हास्य–अपरस का उदाहरण; जरासन्ध दूर से चंचल–लोचन श्रीकृष्ण को दौड़ता हुआ देखकर परिहास करता हुआ बारम्बार हँसने लगा। (यहाँ कृष्ण–विपक्षी विरोधी जरासन्ध की हाँसी अपरस है। इसी प्रकार जरासन्ध के पक्षपाती या असुर–भावापन्न यदि हँसे तो भी अपरस होगा। किन्तु उन लोगों के प्रति यदि कोई भक्त उपहास करे, तो वह शुद्ध हास्यरस कहलायेगा।।३६।।

२३–एवमन्येऽपि विज्ञेयास्तेऽद्‌भुतापरसादयः
उत्तमास्तु रसाभासाः कैश्चिद्रसतयोदिताः।।४०।।

तथा हि, १८–भावाः सर्वे तदाभासा रसाभासाश्च केचन्।
अमी प्रोक्ता रसाभिज्ञैः सर्वेऽपि रसनाद्रसाः।।४१।।

२४–भारत्याद्याश्चतस्रस्तु रसावस्थानसूचिकाः।
वृत्तयो नाट्‌यमातृत्वादुक्ता नाटकलक्षणे।।४२।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*एवमिति अत्र सर्वप्रकरणार्थः समस्य विन्यस्यते। विभावाद्या मिथो योग्याः सम्पद्यन्ते रसाय ते। वैरस्यायान्यथा, सा तु योग्यता लोकविश्रुता।।४१।। नाट्यमातृत्वात् नाट्य एवोपयुक्तत्वादित्यर्थः, नाटकलक्षणे नाटकचन्द्रिकाख्ये स्वकृते इति ज्ञेयम्।।४२।।*

● ***अनुवाद***–**ऐसे ही अन्य अद्‌भुतादि अपरस जान लेने चाहिएँ। किन्हीं आचार्यों ने रसाभासों को रसता के कारण उत्तम कहा है।।४०।।**

जैसा कि–सम्पूर्ण भाव तथा भावाभास एवं रसाभास–ये सब ही आस्वादनीयता के कारण रसज्ञों द्वारा रस ही कहे गए हैं।।४१।।

रसावस्थान सूचक भारती आदि वृत्ति–चतुष्टय नाटक शास्त्र के उपयोगी होने के कारण स्वरचित 'नाटक–चन्द्रिका' ग्रन्थ में कही गयी हैं।।४२।।

▲ *हरिकृपाबोधिनी टीका*–रसाभासों के विषय में साहित्यशास्त्र में दो मत देखे जाते हैं। एक मत तो यह है कि जैसे सद्‌हेतुता और हेतु–आभासता एक ही हेतु में नहीं रह सकते, वैसे ही रस एवं रसाभास एक स्थान पर नहीं रह सकते। रसाभास पृथक्–पृथक् होते हैं। रस निर्मल होता है, और रसाभास में अनुचितता रहती है।

दूसरा मत यह है कि जैसे घोड़े में अनुचित दोषादि रहने पर भी उसके स्वरूप का नाश नहीं होता, वह घोड़ा ही रहता है, वैसे दोष होने पर या आभास रहने पर भी रस ही रहता है।

श्रीपाद रूपगोस्वामी जी ने इन दोनों मतों का दिग्दर्शन इस लहरी में कराया है। इस लहरी की प्रथम कारिका में उन्होंने रसाभासों का जो लक्षण किया है, उससे रस विरस होते हैं–यह स्पष्ट है। अतः द्वितीय मत ग्रहणीय नहीं है।

दृश्य काव्य में भारती, आरभटी, सात्वती एवं कैशिकी–ये चार वृत्तियाँ रस की अवस्थिति की सूचक मानी गई हैं। इनका निरूपण श्रीपाद रूपगोस्वामी ने अपने 'नाटक–चन्द्रिका' नामक ग्रन्थ में किया है। अतः यहाँ उनका वर्णन नहीं किया है। विशेषतः ये केवल नाट्यमात्र में ही उपयोगी होती हैं।

१–ग्रन्थस्य गौरवभयादस्या भक्तिरसश्रियः।
समाहृतिः समासेन मया सेयं विनिर्मिता।।१।।
२–गोपालरूपशोभां दधदपि रघुनाथभावविस्तारी।
तुष्यतु सनातनोऽस्मिन्नुत्तरभागे रसामृताम्भोधेः।।२।।

● ***अनुवाद***–**श्रीपाद ग्रन्थकार कहते हैं। ग्रन्थ के विस्तार–भय से मैंने भक्तिरस–साम्राज्य का संक्षेप संग्रहमात्र इस ग्रन्थ में किया गया है।।१।।**

श्रीगोपाल स्वरूप से शोभा धारण करते हुए भी जो श्रीरघुनाथ का भाव–विस्तार करते हैं, वे सच्चिदानन्द श्रीकृष्ण इस भक्तिरसामृतसिन्धु के इस चतुर्थ उत्तर–विभाग से तुष्टि लाभ करें।।२।।

श्लेष–पक्ष में श्रीगोपाल–भट्ट एवं ग्रन्थकार श्रीरूप की शोभा इच्छा के पोषणकारी तथा श्रीरघुनाथदास के भाव–(श्रीकृष्ण–प्रेम) का विस्तार करने वाले श्रीसनातन गोस्वामिपाद इस श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु के चतुर्थ–उत्तरविभाग से परितुष्ट हों, यही प्रार्थना है।

रामांगशक्र गणिते शाके गोकुलमधिष्ठितेनायम्।।
भक्तिरसामृतसिन्धु–र्विटंकितः क्षुद्ररूपेण।।३।।

■ **दुर्गमसंगमनी टीका**–*रामांगेति। शालिवाहनस्य संवत्सरगणनया विक्रमादित्यस्यापि सा ज्ञेया। अंकस्य वामा गतिरिति प्रसिद्ध्या त्रिषष्ट्यधिक–चतुर्द्दशशतीगणित इत्यर्थः। विक्रमादित्यस्य त्वष्टनवत्यधिकपंचदशशतीगणि इति ज्ञेयम्। विटंकितः उट्टंकितः, सुष्ठु रूपेणेत्येव पठितव्यं, तेषां दीनं मन्यतामयपाठेऽपि तदसहिष्णुः सरस्वती क्षुद्रं सूक्ष्मं दुर्ज्ञेयं रूपं स्वरूपं यस्येति गत्यन्तरास्पदं पदं स्फोरयन्ती समाहितवती।*

श्रीकृष्णः सर्वपूर्णः स चरति विपुले गोकुले व्यक्ततत्–
न्माधुर्य्यैश्वर्य्यः स च पशुपसुतानन्तलक्ष्मीभिरिष्टः।
श्रीराधावर्गमध्ये स च मधुरगुणः श्रीधुराधामधारी
त्यस्मिन् ग्रन्थे रसाब्धावभिमतमहिमा धारसारप्रचारः।।
यदपि च नातिविशुद्धा तदपि च सद्भिः कदाऽप्युरीकार्य्या।
दुर्गमसंगमनी नौकैवास्यामृताम्भोधेः।।
समाप्ता चेयं टीका, तेषामेव प्रीततये भवतु।।३।।

● *अनुवाद*–शकाब्द १४६३ अर्थात् विक्रम संवत् १५६८ में गोकुल में निवास करते समय मुझ क्षुद्र रूप द्वारा यह श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु ग्रन्थ लिखा गया। (श्रीग्रन्थकार ने अपने दैन्य को प्रकाशित करते हुए अपने को 'क्षुद्र–रूप' कहकर लिखा है, किन्तु सरस्वती देवी ने क्षुद्र रूप का अर्थ सूक्ष्म एवं दुर्ज्ञेय स्वरूप माना है अर्थात् दुर्ज्ञेयरूप श्रीपाद रूपगोस्वामी ने इस ग्रन्थ की रचना की)।।३।।

इति श्रीभक्तिरसामृतसिन्धावुत्तरविभागे रसाभास लहरी नवमी।।९।।

इति चतुर्थो विभागः समाप्तः।।

इस प्रकार श्रीमन्नित्यानन्द–वंशावतंस प्रभुपाद गोस्वामी श्रीश्रीदेवकीनन्दन प्रभु–चरणाश्रित श्रीश्यामदास द्वारा श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु ग्रन्थ हरिकृपाबोधिनी टीका सहित श्रीकृष्ण–जन्माष्टमी संवत् २०३३ (१९–८–१९७६) बुधवार को आरम्भ होकर अक्षय नवमी संवत् २०३७ रविवार (१६–११–८०) को सम्पूर्ण हुआ।

।। श्रीकृष्णप्रीत्यर्थे कृष्णार्पणमस्तु।।

● ● ●

जैसे एक बड़ी कम्पनी अपने यश के लिये एक विज्ञापन बजट बनाती है, वैसे ही हमारे भगवान् श्री कृष्ण को भी अपना यश, गुण, लीलाऐं अति पसन्द हैं। वे भी पुस्तक-प्रकाशन के लिये कहीं न कहीं से एक बजट या धनराशि अवश्य उपलब्ध कराते हैं। निश्छल ग्रन्थ सेवा हेतु वे धन की कमी नहीं होने देते, उनके पास भी इसका एक पृथक् बजट है।

व्रजविभूति श्रीश्यामदासजी का भक्ति साहित्य

1• ब्रज के सन्त : चैतन्य भक्तगाथा रु. 250

श्रीमहाप्रभु के गुरुजन, परिकर, छः गोस्वामी एवं अन्य कृपा–पात्र भक्तों का चमत्कारी–परिचय

2• ब्रज के भजन : भक्तभाव संग्रह रु. 100

श्रीभक्तभावसंग्रह के स्तोत्र, भजन, रसिया, कवित्त, सवैया, गज़ल, आरती, आदि का वर्षोत्सव के पदों सहित अद्भुत रसीला विशद संग्रह एवं श्रीश्यामदास जी की समस्त पद्यात्मक रचनाएँ

3• ब्रज की पाठ–पूजा : नित्यपाठ गुटका रु. 100

श्रीनिकुंजरहस्यस्तव : श्रीकृष्णनामाष्टक
श्रीउपदेशामृत : मनः शिक्षा
स्वनियम दशकम : स्मरण मंगल
श्रीदामोदराष्टक : श्रीशिक्षाष्टक
श्रीभगवत् करपदयुगल चिह्न : चतुःश्लोकी गीता
आपकी दिनचर्या : महत्कृपातत्त्व
रासलीला रहस्य : नामापराध : श्रीगरुदेवाष्टकम
श्रीराधाकृष्णकृपाकटाक्ष स्तोत्र एवं श्रीराधाकृष्ण कवच

4• लघुभागवतामृतम् रु. 100

श्रीरूपगोस्वामि विरचित उपास्यउपासक, स्वरूप निर्णायक अनुपम ग्रन्थ

5• श्रीचैतन्यचरितामृत रु. 1000

श्रीमद्वैष्णव सिद्धान्तरत्न संग्रह

कविराज श्रीकृष्णदास गोस्वामी रचित महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्य देव का जीवन–वृत्त एवं चैतन्य–सम्प्रदाय का सिद्धान्त–दर्शन (तीनों खण्ड)

6• ब्रज की तुलसी रु. 100

श्रीरासपंचाध्यायी–श्रीगोपीगीत

तुलसी, तिलक, एकादशी, संकीर्तन एवं अन्य विषयों पर बाबा श्रीश्यामारमणदासजी द्वारा प्रामाणिक प्रस्तुति

7• ब्रज के परिकर : श्रीगौरगणोद्देश दीपिका रु. 100

श्रीकृष्ण या श्रीरामलीला के पात्र श्रीचैतन्य महाप्रभु लीला में किस रूप– नाम से आविर्भूत हुए उनके दोनों लीलाओं के चमत्कारी जीवन–चरित्र

8• ब्रज की चंद्रिका : प्रेमभक्ति चंद्रिका रु. 100

नरोत्तम प्रार्थना : नरोत्तम चरित्र
श्रीनिवासाचार्य एवं श्रीश्यामानन्द प्रभुचरित्र
श्रीचैतन्य चन्द्रामृत : श्रील प्रबोधानन्द सरस्वतिपाद विरचित
नवधा भक्ति : नामापराध–वर्णन
(आदि उपयोगी ग्रंथों का संकलन)

9• श्रीचैतन्य चन्द्रोदय रु. 100

श्रील कवि कर्णपूर विरचित महाप्रभु श्रीचैतन्य का आनंदमय जीवनपरिचय

10• ब्रज के छह गोस्वामी – सप्त देवालय रु.60

श्रीरूप, श्रीसनातन, श्रीरघुनाथभट्ट, श्रीजीव, श्रीगोपालभट्ट, श्रीरघुनाथ–दास गोस्वामिपाद एवं श्री नित्यानन्द प्रभु गुरु गद्दी श्री शृंगारवट एवं श्रीवृन्दावन के प्राचीनतम सप्तदेवालयों का संक्षिप्त परिचय

11• ब्रज की दानलीला : दानकेलिकौमुदी रु. 100

उपदेशामृत, मनःशिक्षा, नारायण कवच, गजेन्द्र मोक्ष

12• श्रीचैतन्य भागवत रु.600

श्रीवृन्दावन दास रचित महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव की लीलाओं का सरस वर्णन, आदि–मध्य–अन्त्य तीनों खण्ड, मूल अनुवाद व टीका

13• श्रीचैतन्यप्रेमसागर–सातों खण्ड रु. 700

महाप्रभु श्रीचैतन्य की सम्पूर्ण लीला कथा सरल भाषा में श्रीरामानन्द शर्मा लिखित। सातों भाग।

14• श्रीचैतन्यचरितामृत–संक्षिप्त रु. 300

कविराज श्रीकृष्णदास विरचित मूल का केवल–हिन्दी सार

15• श्रीआनन्दवृन्दावन चम्पू रु.250

कविकर्णपूर कृत श्रीकृष्णलीला एवं व्रजलीलाओं का अद्भुत दर्शन

16• श्रीगीतगोविन्द : कविराज श्रीजयदेव विरचित **रु. 100**

श्रीकृष्णकर्णामृत एवंश्रीगोविन्द दामोदर स्तोत्र

लीलाशुक श्रीबिल्बमंगल विरचित

17• ब्रज की भक्ति : नारद भक्ति सूत्र रु. 200

८४ सूत्रों की रागानुगाभक्ति परक प्रामाणिक व्याख्या

18• ब्रज की अष्टयाम लीला : श्रीगोविन्दलीलामृत रु.300

श्रीकृष्णदास कविराज विरचित वृन्दावनीय अष्टयाम मानसी सेवा का अनुपम ग्रन्थ, मूल–सानुवाद

19• श्रीचैतन्य चन्द्रामृत रु. 10

श्रीप्रबोधानन्द सरस्वतीपाद कृत प्रार्थना ग्रन्थ मूल एवं हिन्दी अनुवाद सहित

20• श्रीनिताईचाँद रु. 100

श्रीमन्नित्यानन्दप्रभु का सर्वांगीण अध्ययन, अनेक भक्तों के चमत्कारी चरित्र

21• श्रीशिक्षाष्टक रु. 15

महाप्रभु श्रीचैतन्य द्वारा रचित सभी रचनाएँ मूल एवं अनुवाद सहित

22• श्रीमद्भागवतमहापुराण (१–२ स्कन्ध) रु.150

23• श्रीमद्भागवतमहापुराण (१० पूर्वार्द्ध) रु. 200

24• श्रीमद्भागवतमहापुराण (१० उत्तरार्ध) रु. 200

श्रीश्रीधर स्वामी, श्रीपाद सनातन, श्रीजीव गोस्वामी एवं श्रीविश्वनाथ–चक्रवर्तीपाद कृत संस्कृत टीकाओं पर आधारित श्रीजीवविश्व–कृपानुगा हिन्दी टीका, अनुवाद एवं मूल सहित

25• श्रीगोपाल चम्पू रु. 500

श्रीजीवगोस्वामी द्वारा रचित भगवान् श्रीकृष्ण की वृन्दावनीय लीलाएँ

26• श्रीविदग्धमाधव नाटक रु. 100

श्रीरूपगोस्वामी रचित नाटक **'वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति'** की अवधारणा पर व्रजलीला की समाप्ति व्रज में ही लुप्त रूप से लीला चलती रहती है

ग्रन्थों का जितना अधिक प्रचार होगा उतना ही क्लेश, दुख, अशांति से छुटकारा मिलेगा।

•

कलियुग में ग्रन्थ ही सत्संग का एक विशुद्ध माध्यम हैं। अधिक संग करने पर जहां सन्तों में दोष-दृष्टि दीखने लगती हैं वहां ग्रन्थों की कृपा-वृष्टि होने लगती है।

•

मन्दिर बनाना अच्छी बात है लेकिन मंदिर हजार-पांच सौ साल में खण्डहर बन जायेगा ग्रन्थ हजारों साल तक मानव जीवन का मार्ग दर्शन करता रहेगा। हजारों वर्ष पुराने 'वेद' की उपलब्धता इस बात का साक्षात् प्रमाण है।

ग्रन्थ प्रभु के विग्रह हैं, इनकी सेवा, इनका अध्ययन, इनका पूजन, साक्षात् प्रभु सेवा ही है।

•

व्रजविभूति श्रीश्यामदास जी ने कहा था- शरीर है-एक न एक दिन तो यह जायेगा ही। मैं रहूँ न रहूँ - लेकिन प्रयास करके भगवद्लीला गुणानुवाद से भरे ग्रन्थों के प्रकाशन को गंभीरता से चालू रखना

27• श्रीललितमाधव नाटक रु. 100
श्रीरूपगोस्वामी रचित आश्चर्यपूर्ण, आनन्दमय नाटक, इसमें सभी व्रजवासी श्रीकृष्ण से मिलने द्वारका जाते हैं और विरह शान्त करते हैं

28• भक्त भक्ति भगवन्त गुरु रु. 100
परमभागवत सिद्ध सन्तों के संगृहीत अनमोल वाक्य रत्न

29• श्रीराधारससुधानिधि रु. 300
श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती रचित, श्रीराधादास्यनिष्ठा प्रकाशक अद्भुत रसोपासना ग्रन्थरत्न

30• श्रीमानसी–सेवा रु. 100
श्रीश्रीगौरांग (नवद्वीप–व्रज), गोविन्द अष्टयाम लीला–स्मरण गुटका (मानसिक सेवोपासना)

31• श्रीचैतन्य–सम्प्रदाय रु. 30
माध्व, माध्वगौड़ेश्वर, चैतन्य आदि सम्प्रदायों का वर्गीकरण–कारक एवं भ्रमनिवारक ग्रन्थ

32• श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुबिन्दु रु. 100
भक्तिपथ पथिकों के अनेक संशयों का समाधानकारक ग्रन्थ। गुरु कैसा हो, नामजप कैसे, क्यों करें, मूर्तिपूजा, नामापराध, तिलकधारण मंत्र आदि के विषय में श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती की सुबोध रचना

33• श्रीवृन्दावनमहिमामृत (सम्पूर्ण) रु. 250
श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती रचित धामनिष्ठा विषयक अद्भुत प्रामाणिक ग्रन्थ, मूल–अनुवाद सहित

34• श्रीबृहद्भागवतामृत रु. 300
श्रीसनातन गोस्वामी रचित, विभिन्न साधनों द्वारा किन–किन साध्यों या लोकों की प्राप्ति होती है, उन साध्यों की प्राप्ति से कैसा अनुभव होता है? जीव का परम साध्य और साधन क्या है? गूढ़ विषय की बोधगम्य आख्यानात्मक सरस रचना।

35• महाभावस्वरूपा श्रीराधानाम रु. 10
श्रीमद्भागवत में 'श्रीराधा' नाम के उल्लेख वाले श्लोकों का श्रीनित्यानन्द जी भट्ट द्वारा सानुवाद संकलन

36• ब्रज के सन्त (छोटा) रु. 15
केवल ब्रज–सन्तों की चमत्कारी जीवन–गाथाएँ

37• श्रीकृष्णकर्णामृत : श्रीगोविन्ददामोदर स्तोत्र रु. 15
लीलाशुक श्रीबिल्वमंगल की चमत्कारिक जीवनी सहित लीला–स्वादक प्रार्थनाग्रन्थ, सानुवाद

38• श्रीकृष्ण भक्ति रु. 15
भक्तिका सर्वांगीण अध्ययन, स्वरूप लक्षण, प्रकार–भेदादि, श्रुति–स्मृति सम्मत विवेचन

39• नवधाभक्ति रु. 10
नवधा भक्ति के विषय में श्रीजीव गोस्वामी कृत विस्तृत आलोचना

40• श्रीमुक्ताचरित्र रु. 25
श्रीपाद रघुनाथदास विरचित श्रृंगाररस–विषयक चमत्कारी ग्रन्थ रत्न

41• परब्रह्म स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण रु. 40
श्रीकृष्ण ही स्वयं भगवान् हैं और परमब्रह्म हैं।

42• श्रीरासलीला रहस्य रु. 5
श्रीरासलीला पर रहस्योद्घाटन

43• ब्रजलीला के १०८ प्रणाम श्रीकृष्णलीलास्तव, जीवतत्त्व रु. 100
श्रीसनातन गोस्वामीपाद विरचित १०८ प्रणामयुक्त दशम–चरित्र : श्रीकृष्ण लीला स्तव। श्रीराधागोविन्दनाथ लिखित प्रस्थानत्रय से अनुमोदित श्रीजीवतत्त्व का विवेचन–अध्ययन।

44• श्रीनरोत्तम प्रार्थना रु. 100
ब्रज की चन्द्रिका ग्रन्थ में समाहित

45• महत्कृपातत्त्व रु. 5
सन्तजन कृपा का महत्वपूर्ण विवेचन

46• श्रीतत्त्वसन्दर्भ : १ रु. 225
47• श्रीभगवत्सन्दर्भ : २ रु. 450
48• श्रीपरमात्मसन्दर्भ : ३ रु. 225
49• श्रीकृष्णसन्दर्भ : ४ रु. 300
50• श्रीभक्तिसन्दर्भ : ५ रु. 450
51• श्रीप्रीतिसंदर्भ : ६ रु. 450
श्रीजीवगोस्वामी रचित अनुपम दर्शन–शास्त्र, श्रीभागवतसन्दर्भ, मूल, अनुवाद, टीका सहित

52• श्रीमद्भगवद्गीता रु. 200
श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती रचित संस्कृत टीका तथा श्रीबलदेव विद्या भूषण–टीका सहित

53• श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु रु. 500
श्रीरूपगोस्वामी रचित, भक्तिरस प्रस्थान ग्रन्थ, मूल अनुवाद एवं टीकाओं सहित

54• श्रीमाधुर्यकादम्बिनी रु. 100
श्रीपादविश्वनाथ चक्रवर्ती कृत भक्ति के विकास क्रम का वर्णन एवं साधक के विभिन्न स्तरों की स्थितियों का परिचायक

55• साध्य साधन निर्णय रु. 100
(श्रीमन्महाप्रभु तथा रायरामानंद के संवाद पर आधारित)

56• श्रीहरिभक्तिविलास रु. 100
वैष्णव–आचरण का संविधान ग्रन्थ रत्न

57• श्रीब्रह्मसंहिता रु. 30
श्रीब्रह्माजी द्वारा भगवान् श्रीगोविन्द का स्तुतिमय सर्वशास्त्र सिद्धान्त सार ग्रन्थ

58• श्रीउज्ज्वलनीलमणि रु. 300
शृंगाररस विषयक अनुपम ग्रन्थ, प्रियाप्रियतम की निकुंज–लीलाओं के उद्धरणों सहित, श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु का परिशिष्ट।

59• श्रीगौरांगलीला रु. 10
महाप्रभु श्रीगौरांग का संक्षिप्त जीवनलीला परिचय (बहुरंगा श्रीनिताई–गौर चित्र सहित)

60• श्रीचैतन्य चिंतन रु. 200
श्रीचैतन्य महाप्रभु के सम्प्रदाय तथा दार्शनिक तत्त्वों का सम्पूर्ण परिचय। शोधार्थियों हेतु परम उपयोगी। डॉ. भागवतकृष्ण के शोध प्रबन्ध का ग्रन्थ रूपान्तरण।

61• श्रीहंसदूत रु. 30
व्रजगोपियों ने अपनी विरह–वेदना एक हंस के द्वारा मथुरा में श्रीकृष्ण के पास प्रेषित की थी, उसका वर्णन।

62• श्रीउद्धव सन्देश रु. 30
श्रीरूपगोस्वामी रचित। भगवान श्रीकृष्ण ने श्रीउद्धव को दूत बनाकर व्रजगोपियों के पास भेजा, उसका वर्णन।

63• श्रीविलापकुसुमांजलि रु. 30
श्रीरघुनाथदास गोस्वामी रचित अनुपम प्रार्थना ग्रन्थ, मूल, अनुवाद व टीकासहित

64• श्रीब्रजदर्शन रु. 100
श्रीवृन्दावन के प्राचीन एवं अर्वाचीन मन्दिरों का ऐतिहासिक प्रामाणिक परिचय

65• श्रीब्रजधाम रु. 25
श्रीनन्दगाँव, श्रीबरसाना, श्रीगोवर्धन, श्रीराधाकुण्ड, ब्रज–चौरासी कोस परिक्रमा का ऐतिहासिक एवं प्रामाणिक परिचय

66• ब्रज के स्तोत्र रु. 100
श्रीराधासहस्रनाम
श्रीगोपालसहस्रनाम
श्रीविष्णुसहस्रनाम
श्री चैतन्य सहस्रनाम
श्रीराधा–कृष्णकृपाकटाक्षस्तव
श्रीराधाचालीसा एवं अन्य अनेक चालीसा सहित

67• श्रीराधाकृष्ण कृपाकटाक्ष स्तोत्र रु. 10

68• सिक्स गोस्वामीज़ (अंग्रेजी) रु. 60

69• श्रीमाधव महोत्सव रू. 100

श्रीराधाजी का श्रीवृन्दावन की अधीश्वरी के रूप में राज्याभिषेक वर्णन। मूल व अनुवाद

70• श्रीवेदान्तदर्शन–ब्रह्मसूत्रगोविन्दभाष्य रू. 400

जयपुर में विराजमान ठा. श्रीगोविन्ददेवजी द्वारा लिखवाया गया श्रीबलदेवविद्याभूषण कृत श्रीगोविन्दभाष्य।

71• गम्भीरा में श्रीविष्णुप्रिया रू. 700

गौरशून्य शचीगृहरूपी गम्भीरा में श्रीगौर–वल्लभा श्रीविष्णुप्रिया जी की पाषाणभेदी करुण–क्रन्दनात्मक श्रीगौरांग ध्यान–चिन्तनोपासना पद्धति का अनुपम ग्रन्थ

72• व्रजविभूति श्रीश्याम–स्मृति रू. 250

व्रजविभूति श्रीश्यामदासजी द्वारा लिखित स्वयं के जीवन में अद्भुत भगवत्कृपा–दर्शन–अनुभव (आत्मकथा) एवं उनकी पद्यात्मक रचनाएँ, संस्मरण एवं चारित्रिक विशेषताएँ

73• बैठ्यो पलोटत राधिका पायन रू. 250
श्रीजगन्नाथवल्लभ नाटक

व्रजविभूति श्रीश्यामदासजी द्वारा लिखित विभिन्न शोधपूर्ण निबन्ध–एवं श्रीलरायरामानन्द विरचित प्रियाप्रीतम की निकुंजलीला का अद्वितीय नाटक–ग्रन्थ, श्रीमहाप्रभुजी जिसके आस्वादक थे

74• श्रीअद्वैतप्रकाश रू.40

महाप्रभु श्रीचैतन्य के निजसेवक श्रीईशान कृत–श्रीअद्वैत प्रभु का दिव्य जीवनवृत्त, मूल–अनुवाद सहित

75• श्रीमद्भागवतीय श्रीकृष्णस्तव

श्रीमद्भागवत में वर्णित समस्त श्रीकृष्ण–स्तुतियाँ, मूल, अनुवाद एवं सुबोध टीका सहित

76• ब्रज की रासलीला
श्रीदम्पति विलास एवं श्रीकिशोरीकरुणाकटाक्ष

श्रीललितलड़ैतीजी विरचित ब्रज की रासलीलाओं में गाये जाने वाले पद, लीलाएँ, निकुंजलीला, अष्टयामसेवा का संकलन

78• महाप्रभु श्रीगौरांग रू.300

श्रीमन्महाप्रभु श्रीचैतन्य की आविर्भाव–पंचशताब्दी पर प्रकाशित ग्रन्थरत्न • अनेक विद्वानों के सारगर्भित लेख

79• श्रीगौरकरुणावैशिष्ट्य

भगवान् श्री राम–कृष्ण–चैतन्य में से महाप्रभु श्रीचैतन्य की जीवों पर की गयी विशेष करुणा का श्रीगणेशदास चुघ द्वारा प्रस्तुत अपूर्व प्रस्तुतिकरण सरल हिन्दी में

81• ब्रज की चर्चा रू. 100

भक्ति–भजन–साधन–आचरण सम्बन्धी विषयों पर रोचक प्रस्तुति

82• श्रीश्रीनिताई–गौर चालीसा रू.10

नित्य पठनीय, भावानुवाद सहित श्रीनिताई–गौर का जीवन चरित्र

83• ब्रज की उपासना रू. 100

99• ब्रज की खोजDVD रू.250

श्रीचैतन्यमहाप्रभु, ब्रज के पावन स्थान एवं6 गोस्वामिगण से सम्बन्धित परमवैष्णव श्रीदयावीर दासजी द्वारा प्रस्तुत130 मि. की भक्ति फिल्म

100• गीता–व्याख्याCD रू.50

101• दासाभास–व्याख्यानCDX2 रू.100

व्रजविभूति श्रीश्यामदासजी की गुरु-परम्परा

•

श्रीनारायण जिनके अंश के अंश हैं उन श्रीकृष्ण व श्रीराधा के मिलित स्वरूप स्वयं अवतारी श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु

|

श्रीनित्यानन्द प्रभु

श्री जाह्नवा माता

|

श्री सुभद्रा ठाकुरानी

|

श्री हरिदेव गोस्वामी

|

श्री पंचानन्द गोस्वामी

|

श्री अन्नपूर्णा गोस्वामी

|

श्रीउदयचन्द्र गोस्वामी

|

श्रीदेवयानी गोस्वामी

|

श्रीनन्दरानी गोस्वामी

|

श्रीराधामणि गोस्वामी

|

श्रीपद्ममुखी गोस्वामी

|

श्री देवकीनन्दन गोस्वामी प्रभुपाद (श्रीशृंगारवट)

|

श्रीश्यामदासजी
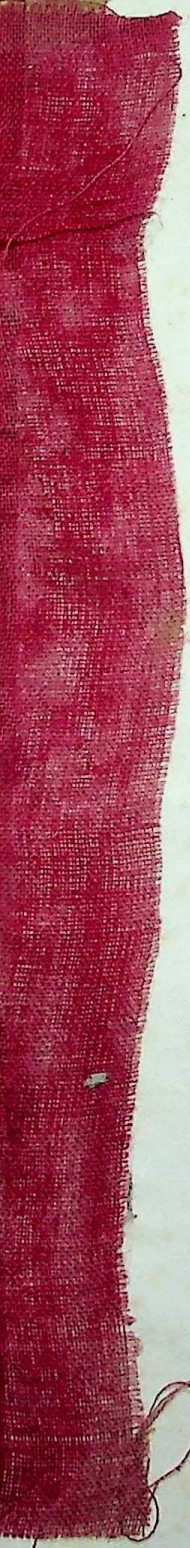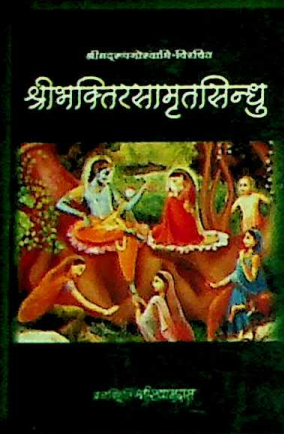
ISBN: 978-81-927887-8-4

अपनी छोटी-छोटी कामनाओं की पूर्ति के लिये, या अपनी सुख-समृद्धि की आशा के लिये भगवान् की पाठ-पूजा, दर्शन, बंगला, झाँकी भी भगवान् की भक्ति है अवश्य

लेकिन यह विशुद्ध भक्ति यानि शत-प्रतिशत भक्ति, उत्तमा भक्ति नहीं है।

अनपढ़ होने से पाँच कक्षा पढ़ा होना अच्छा है लेकिन पाँच कक्षा पढ़े व्यक्ति को क्या सम्पूर्ण रूप से पढ़ा लिखा [illegible] जा सकता है ? नहीं न !

तो फिर वह सम्पूर्ण भक्ति, शतप्रति[illegible] भक्ति, उत्तमा भक्ति क्या है - कैसे [illegible] इसका वर्णन श्रीरूप गोस्वामीपाद ने इस ग्रन्थ में किया है।

जो बिना किसी अन्य अभिलाषा के, ज्ञान या कर्म के फल को प्राप्त करने के लिए नहीं, एकमात्र भगवान् श्रीकृष्ण की अनुकूलतामयी सेवा के लिए की गयी हो- वह उत्तमा भक्ति है।

भक्ति को विश्व में सर्वप्रथम रस रूप में प्रतिष्ठापित करने के साथ-साथ भक्ति के विभिन्न प्रकार, स्तर, भाव आदि का विशुद्ध विवेचन यानि भक्ति सम्बन्धी सम्पूर्ण परिचय इस ग्रन्थ में समाहित है - कहीं और जाने की आवश्यकता नहीं होगी।

— दासाभास डॉ गिरिराज

M053

वैष्णव साहित्य प्रचार-प्रसार में संलग्न अव्यावसायिक संस्थान

श्रीहरिनाम संकीर्तन मण्डल, श्रीधाम वृन्दावन